भारतवर्ष
का
सरल इतिहास

(दोनों प्रश्नपत्रों के निमित्त)

[नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार हाईस्कूल कक्षाओं के निमित्त]

लेखक
भारतीय संविधान और नागरिक जीवन
नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त, भारतीय-
अर्थशास्त्र का विवेचन, सरल-
नागरिक शास्त्र और भारतीय
शासन आदि के रचयिता

ओम प्रकाश केला
और
प्रभाकर ठाकुर

प्रकाशक

भारतीय प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद

१९५५]

[मूल्य चौदह रुपया

प्रकाशक—
भारतीय प्रकाशन,
धारागंज, इलाहाबाद.

मुद्रक—
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स
२, क्लाइव रोड
इलाहाबाद

भूमिका

मानव जाति के उत्थान और पतन की कहानी का नाम ही इतिहास है। इतिहास के पृष्ठों पर ही मानव जाति के सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं कला सम्बन्धी विचारों और रीति रिवाजों के विकास का वर्णन अंकित रहता है। इतिहास ही हमें बतलाता है कि किस प्रकार परिस्थितियों द्वारा बाध्य होकर मनुष्य, समुदायों में संगठित हुआ, किस प्रकार व्यक्ति विशेष की महत्वाकांक्षाओं के कारण मनुष्य जाति को समय समय पर कष्ट सहने पड़े, किस प्रकार समाज की उदासीनता एवं दुर्बलता के कारण समाज के कितने ही अंगों का नाश हो गया। उपरोक्त घटनाओं एवं तथ्यों के साथ ही साथ इतिहास ही हमें बतलाता है कि विकास की कितनी सीढ़ियों को पार करके हम वर्तमान अवस्था पर पहुँच पाये हैं।

सभ्यता के प्रारंभिक काल में समस्त विश्व हजारों भागों में बँटा था। छोटे-छोटे भू प्रदेश और मनुष्यों का लघु समुदाय एक विशिष्ट राज्य एवं समाज की रचना के लिए पर्याप्त थे। दूरस्थ देशों के बारे में न तो किसी को विशेष ज्ञान था और न उन प्रदेशों में घटित घटनाओं का कोई प्रभाव। सभ्यता एवं विज्ञान की उन्नति के साथ समाज के संघटन एवं राज्यों का रूप बदला। एक देश की घटनाओं का प्रभाव दूसरे देशों पर पड़ने लगा। विचारों का आदान प्रदान भी होने लगा। धीरे धीरे आज तो यह स्थिति आ पहुँची है कि सारा विश्व सिमिट कर बहुत छोटा हो गया है। एक देश में उत्पन्न हुए विचार एवं घटित घटनाओं से संसार का कोई भी देश अछूता नहीं रह पाता। अब हमें अपने देश का इतिहास पढ़ते हुए अन्य देशों के समकालीन इतिहास का ज्ञान होना भी आवश्यक हो गया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इसमें भारतीय इतिहास प्रधान है और विश्व इतिहास गौण।

उत्तर प्रदेशीय हाईस्कूल एवं इन्टरमीडिएट बोर्ड ने भी इस वर्ष से निश्चय किया है कि विद्यार्थियों को भारतीय इतिहास के साथ ही साथ विश्व

इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं एवं उनके भारतीय इतिहास पर पड़े प्रभावों को जानना चाहिए। इसी दृष्टि को रखकर उसने नवीन पाठ्यक्रम का निर्माण किया है।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखते समय उत्तर प्रदेशीय हाईस्कूल एवं इन्टरमीडिएट बोर्ड के द्वारा निश्चित पाठ्यक्रम का भी पूर्ण रूपेण ध्यान रखा गया है और पाठ्यक्रम का कोई भी अंश छूट नहीं पाया है। समस्त सामग्री सरल एवं सुबोध भाषा में दी गई है।

इतिहास के विद्वान अध्यापकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ें एवं बाजार में हाईस्कूल कक्षाओं के निमित्त लिखी गई पुस्तकों में श्रेष्ठतम पाने पर अपने विद्यार्थियों के लिए स्वीकृत करने की कृपा करें।

लेखक

विषय-सूची

भारतवर्ष
का
सरल इतिहास

पहला परिच्छेद

भारत की प्राकृतिक दशा और इतिहास पर उसका प्रभाव

"मनुष्य और प्रकृति ये दो ही मानव इतिहास की प्रेरक शक्तियाँ हैं; इन दोनों के पारस्परिक क्रिया और प्रतिक्रिया का विवरण ही मनुष्य का इतिहास है।" मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि से परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करता है। वह सदा अपने विचारों और अपनी इच्छाओं के अनुसार काम करना चाहता है। परन्तु उस पर उसकी प्राकृतिक परिस्थितियाँ अपना प्रभाव डालती हैं। उसकी शक्ति, बुद्धि, कार्य करने का ढंग और उसके कार्य प्राकृतिक अवस्थाओं से परिमित और प्रभावित होते हैं। किसी देश के इतिहास की अधिकांश घटनाओं के उतार-चढ़ाव के मूल में उस देश की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक परिस्थितियाँ विशेष रूप से अपना असर डालती हैं। उनकी व्याख्या भौगोलिक कारणों के आसानी से समझी जा सकती है। कभी मानव विकास की कहानी में मनुष्य प्राकृतिक परिस्थितियों से दब गया है और कभी मनुष्य ने अपने प्रयत्न से प्रकृति पर विजय प्राप्त की है। अतः यह बात सच है कि किसी देश के इतिहास को समझने के लिए उस देश के मनुष्यों की विचारधारा और वहाँ की प्राकृतिक अवस्था को साथ-साथ समझना अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों शक्तियों को साथ-साथ रख कर इतिहास की घटनाओं का वास्तविक स्वरूप समझना और उनसे निष्कर्ष निकालना बहुत कुछ ठीक और सत्य होता है। भारत के इतिहास में यह बात और भी निर्विवाद रूप से निखरती है क्योंकि इस देश के इतिहास की अनेक प्रमुख घटनाओं को एक विशेष धारा में ले जाने के काम में हमारी प्राकृतिक परिस्थितियों का बहुत अधिक हाथ रहा है। अतः भारतीय इतिहास का अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी को इस देश की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक शक्तियों का उचित परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

सीमा—प्रकृति ने भारत की सीमा बड़ी सुन्दर और दृढ़ बनायी है।

इसके उत्तर में हिमालय की अभेद्य शृंखलाएँ हैं। यह ऊँचा पर्वत इस देश के उत्तर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक लगभग १५०० मील की लम्बाई में फैला हुआ है। इस विशाल ऊतुंग पर्वत का काम सन्तरी बन कर केवल मध्य एशिया के महात्वाकांक्षी राजाओं और लूटपाट करने वाले गिरोहों को अपने देश में प्रवेश करने से रोकना ही नहीं रहा है, बल्कि इस पर्वत ने समुद्री हवा को रोक कर पानी बरसाने और नदियों को सदा प्रवाहित होने के लिए बर्फ का अपरिमित भण्डार इकट्ठा कर इस देश के पूरे उत्तरी भाग को जीवन-दान दिया है। यदि हिमालय भारत के उत्तर में न होता, तो उत्तरी भारत का उपजाऊ मैदान अफ्रीका के उत्तरी भाग में स्थित 'सहारा' रेगिस्तान का रूप धारण कर लिया होता। हिमालय की एक शृंखला भारत के पश्चिमी भाग को भी घेरे हुए थी। आज वह खण्ड पाकिस्तान का एक भाग बन गया है। इस पश्चिमोत्तर सीमा में दो-चार ऐसे मार्ग हैं जो पहाड़ियों को काटते हुए अफगानिस्तान की ओर से भारत के मैदानों तक पहुँचने के लिए प्रवेश-द्वार का काम करते हैं। यदि ये तंग सँकरे दर्रे न होते तो इस देश के इतिहास का रूप ही बिलकुल दूसरा होता। यूनानी, शक, शिथियन, हूण, अरब और तुर्क एवं मुगल इस देश में न आये होते और न पाकिस्तान की माँग करने वाले और देश को विभाजित करने वालों का कहीं नाम-निशान होता। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसी मार्ग से आर्य भी भारत में आये थे। इन्हीं रास्तों से चीन में सर्व प्रथम बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता पहुँची और इन्हीं मार्गों से फाह्यान और ह्वेनसांग आदि जिज्ञासु चीनी यात्री भारत पहुँचते रहे।

भारत के दक्षिण में हिन्द महासागर और अरब सागर स्थित हैं। समुद्री किनारे का यह सिलसिला भी बहुत लम्बा है। इसकी पूरी लम्बाई लगभग ३५०० मील है। आसाम, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन, बम्बई और गुजरात प्रदेश इस विस्तृत समुद्री किनारे के सम्पर्क में हैं। इस समुद्र से मौसम और वर्षा पर जो प्रभाव होता है, वह तो स्पष्ट है। इस सीमा ने हमें सोलहवीं शताब्दी तक उस ओर से विदेशी आक्रमणकारियों से निश्चिन्त रक्खा है। भारत अपनी उन्नति के दिनों में इसी समुद्री किनारों के द्वारा सुदूर पूर्व के देशों से अपना राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ रहा। लगभग एक हजार वर्ष तक भारतीय

महासागर से होकर भारत के नाविक, व्यापारी, प्रचारक और उपदेशक जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, हिन्द चीन आदि देशों में आते-जाते रहे। आठवीं शताब्दी तक इस समुद्र पर भारतवासियों का पूरा प्रभुत्व था। उसके बाद भारत राज्य पर मुर्दनी छा गयी और तब क्रमशः अरबों, पुर्तगालियों तथा अन्य यूरोपीय जातियों का प्रवेश हुआ। फिर इसी समुद्री शक्ति से सम्पन्न देश इंगलैण्ड भारत को लगभग दो सौ वर्षों तक अपने अधीन रखने में समर्थ रहा। समय ने पलटा खाया, मनुष्य की बुद्धि और प्राकृतिक परिस्थितियों ने पासा पटल दिया और पश्चिमोत्तर प्रान्त के दर्रों का जो सामरिक महत्व पहले था, वैसा ही महत्व इस देश के लिए बम्बई, कराँची, मद्रास और कलकत्ता का हो गया। इतिहास पर प्राकृतिक सीमा का जितना स्पष्ट प्रभाव इस देश में दीख पड़ता है, उतना शायद ही अन्यत्र मिले। द्वितीय महायुद्ध में जिस द्रुत गति से जापान ने बर्मा तक बढ़कर अधिकार जमाया था, उसकी वह गति आसाम के घने जंगलों और पर्वत श्रेणियों के समक्ष धीमी पड़ गयी थी।

भारत के प्राकृतिक भाग—(१) **हिमालय**—भारत के किसी प्राकृतिक नकशे को ध्यान से देखिये, आप को ज्ञात होगा कि उस पर समुद्र की सतह की ऊंचाई के अनुसार भिन्न-भिन्न रंग दिखाये गये हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि भारत के उत्तरी सिरे पर जहाँ हिमालय का हिस्सा है, सबसे गहरा रंग है। यह भाग ऊँचे ऊँचे पहाड़ों से बना है। बिलोचिस्तान से लेकर बर्मा के आगे तक हिमालय पर्वत-माला के अन्तर्गत अनेक समानान्तर श्रेणियाँ फैली हुई हैं। यही हिमालय भारत को शेष एशिया से पृथक करता है। इसमें बीच-बीच में कुछ दुर्गम और ऊँचे-नीचे मार्ग हैं जिनसे होकर तिब्बत तथा अन्य मध्य एशियाई देशों के साथ कुछ व्यापार होता है। कांचन जंघा, गौरीशंकर, धौलागिरि, नन्दादेवी, नंगापर्वत और एवरेस्ट की सर्वोच्च चोटी इस हिमालय के प्रसिद्ध अंग हैं। हिमालय की दक्षिणी तराई और उसकी घाटियों में काश्मीर, लद्दाख, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश का पर्वतीय भाग (नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल आदि) नैपाल, भूटान और आसाम के उत्तरी भाग इस देश की उत्तरी सीमा बनाते हैं। इन पहाड़ी इलाका के रहने वालों की रहन-सहन, वेशभूषा, खानपान इस देश के अन्य भागों के निवासियों से सर्वथा भिन्न है। इनके सामाजिक संगठन पर भी स्थान की

विशेष प्रभाव पड़ा है। देश में समय समय पर घटित होने वाली राजनैतिक घटनाओं का प्रभाव भी सिन्धु-गंगा के मैदान के प्रदेशों की अपेक्षा बहुत बाद में वहाँ तक पहुँच पाया और कभी कभी ये पहाड़ी भाग कुछ विशेष घटनाओं के प्रभावों से बिलकुल अछूते बच गये।

हिमालय के पश्चिमी भाग में भारत और अफगानिस्तान को मिलाने वाले कई दर्रे हैं। बिलोचिस्तान के दक्षिणी किनारे पर मेकरान का एक रेगिस्तानी भाग है। सिकन्दर ने अपनी सेना का एक भाग इसी मार्ग से वापस भेजा था। सातवीं आठवीं सदी में अरब आक्रमणकारी भी इसी मार्ग से भारत में आये थे। खैबर का प्रसिद्ध दर्रा पेशावर और काबुल को मिलाता है। प्राचीनकाल से आज तक इधर से आने जाने का मुख्य द्वार यही दर्रा रहा है। ब्रिटिश शासन काल में भी इन दर्रों के आस-पास सरकार को सुदृढ़ और आधुनिक ढंग के फौजी अड्डे बनाने पड़े थे। क्वेटा के पास बोलन का दर्रा भी व्यापारिक और सैनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रहा है। इनके अतिरिक्त खैबर के दक्षिण में कुर्रम का दर्रा, टोची की घाटी जो बन्नू से गजनी के दक्षिणी भाग को जाती है, और गोमल नदी का मार्ग भी इस भाग में स्थित हैं। परन्तु ये मार्ग अपेक्षाकृत अधिक दुर्गम और कष्टसाध्य हैं और साल के अधिकांश दिनों में ये बन्द रहते हैं। बीच बीच में सघन जंगल पड़ते हैं। भारत की यह सीमा सन् १९४७ तक मान्य थी। पर विभाजन के बाद पश्चिमी पाकिस्तान बन जाने से इस ओर हमारी यह सीमा अब अप्राकृतिक हो गयी है। लाहौर तक का इलाका भारत से पृथक कर दिया गया है। ऐतिहासिक घटनाओं ने हमारी इस प्राकृतिक सीमा के स्थान पर एक कृत्रिम सीमा को जन्म दिया है। सिन्ध और पंजाब की ओर से भारत को मिलाने वाली यह कृत्रिम सीमा भविष्य में इस देश के सामने नित नयी समस्याओं और उलझनों को पैदा करेगी, यह बात निर्विवाद है।

हिमालय की प्रधान श्रेणियों पर सदा बर्फ जमी रहती है। इसीलिए इसी से उत्तरी भारत की सभी प्रधान नदियाँ निकलती हैं। इसकी प्रधान शृंखला के उत्तरी ढाल से सिन्ध और उसी के पास से घाघरा और ब्रह्मपुत्र निकलती हैं। मानसरोवर झील भी उसी स्थान पर स्थित है। पास ही से चिनाब और व्यास का स्रोत चलता है। गंगा हिमालय की मध्यवर्ती

श्रेणी के एक भाग गंगोत्री से निकलती है। यमुना की मुख्य धारा यमुनोत्री से प्रारंभ होती है। हिमालय के ठीक मध्य में अलखनन्दा की दो धाराएँ—धौली गंगा तथा विष्णु गंगा हैं, जहाँ श्री शंकराचार्य द्वारा स्थापित प्रसिद्ध बदरिकाश्रम का मन्दिर है। रामगंगा, कोसी, घाघरा, राप्ती, गण्डक, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों का उद्गम स्थान यही हिमालय है। इसलिए हिमालय उत्तरी भारत का प्राण है। पानी के अतिरिक्त इसमें जड़ी-बूटी, लड़की और खनिज पदार्थ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। भारतीय इतिहास और समाज को हिमालय ने जिस प्रकार प्रभावित किया है, उस प्रकार का कोई अन्य उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन ही है।

(२) सिन्धु-गंगा और ब्रह्मपुत्र का मैदान—यह भाग उत्तर भारत का एक विस्तृत समतल मैदान है। इसमें सिंध, पंजाब (तथा पश्चिमी पाकिस्तान) उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा आसाम शामिल हैं। इस मैदान की उर्वर भूमि हिमालय से निकली नदियों के जल के साथ आयी मिट्टी से बनी है। इस मैदान की ऊँचाई समुद्र की की सतह से लगभग १००० से १२०० फीट तक है। इस विस्तृत मैदान के दो मुख्य भाग हैं। एक भाग सिंध-पंजाब का और दूसरा गंगा-यमुना का मैदान है। मैदान की चौड़ाई औसतन १०० मील के लगभग है। बीच में दिल्ली के समीप इसकी ऊँचाई लगभग २००० फीट है। ऊँची भूमि के कारण सिंधु और उसकी अन्य सहायक नदियाँ दक्षिण-पश्चिम वाहिनी होकर अरब सागर में गिरती हैं। गंगा और उसकी सहायक नदियाँ पूरब की ओर दौड़कर बंगाल की खाड़ी में जा मिलती हैं। इस विस्तृत मैदान में राजनैतिक और सैनिक महत्व की दृष्टि से दिल्ली के आस पास का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यही वह पुराना कुरुक्षेत्र है जहाँ महाभारत का प्रसिद्ध भाग्य-निर्णायक युद्ध हुआ था। तब से आज तक इस भूमि पर अनेक बार भारत के राजनैतिक भाग्य का निपटारा हुआ है! यहीं से राजपूताना, मध्यभारत, दक्षिण भारत, मध्य और पूर्वी भारत को मार्ग निकलते हैं। इस दृष्टि से इस क्षेत्र को भारत का मर्म-स्थल कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस स्थान को जिसने अपने अधिकार में रक्खा, वह भारत में सार्वभौम शासक बनने में दूसरों की अपेक्षा अधिक भाग्यशाली हुआ।

पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी ने भाग्य निर्णायक संग्राम में तरावड़ी की रक्त-रंजित भूमि को इतना प्रसिद्ध कर दिया है कि आज भी कुरुक्षेत्र के जाट किसी के खफ़ा होते हैं तो उसे तरावड़ी के घाट उतारने की धमकी देते हैं। बाबर के भाग्य का पहला फैसला हुआ फिर उसी तरावड़ी से तीस मील दक्खिन पानीपत की भूमि में और दूसरा मथुरा से कुछ ही दक्खिन खानवा में।" इसी प्रकार अकबर तथा बालाजी बाजीराव ने इसी क्षेत्र में अपने अपने भाग्य की परीक्षा की थी। यही कारण है कि दिल्ली, आगरा, फतेहपुर सीकरी, भरत-पुर आदि स्थानों पर विभिन्न समय में किलेबन्दी की आवश्यकता पड़ी थी।

इस विस्तृत मैदान में नदियों का जाल बिछा हुआ है। पंजाब में सिंधु लग-भग १८०० मील चल कर अपनी सहायक नदियों का पानी लेकर अरब सागर में और गंगा इसी प्रकार १५०० मील की दूरी तय कर बंगाल की खाड़ी में जा मिलती है। गंगा आरम्भ में भागीरथी है, टेहरी के पास अलखनन्दा इसमें मिलती है; हरिद्वार के पास गंगा इसका नामकरण होता है। यहीं से यह मैदान में प्रवेश करती है। इसका मार्ग पूरब की ओर होता है, लेकिन राजमहल की पहाड़ियों से वह दक्षिण की ओर मुड़ती है। ग्वालंदो के (बंगाल में) पास इसकी एक शाखा पद्मा ब्रह्मपुत्र से मिलती है। उसके पश्चात् गंगा की अनेक धारायें हो जाती हैं जो सुन्दर वन का डेल्टा बनाती हैं। हुगली इसीमें से एक मुख्य धारा है जिसके किनारे हवड़ा और कलकत्ता बसा है। इस नदी में बक्सर तक और ब्रह्मपुत्र में भी काफी दूर तक स्टीमरें चलती हैं। रेल की लाइनों के निर्माण और आविष्कार के पूर्व गोरे शासक इसी स्टीमर-मार्ग से सैनिक ले इस मैदान में दूर तक अपना दबदबा स्थापित करने में सफल हुए थे। प्राचीन काल में भी इन्हीं नदियों के किनारे बड़े बड़े नगर, व्यापार-केन्द्र और राज-धानियाँ बसायी गयी थीं। हरिद्वार, कन्नौज, कानपुर, प्रयाग, चुनार, काशी, पाटलिपुत्र, अयोध्या, मथुरा, आगरा आदि स्थान इन्हीं नदियों के किनारे बसाये गये थे। इसी मैदान में भारत में सर्व प्रथम आर्य-संस्कृति का जन्म और विकास हुआ। अति प्राचीन समय से ही इन विस्तृत, समतल और शस्य-श्यामल प्रदेशों में असंख्य जनता ने आकर अपना निवास-स्थान बनाया। भारत को 'सोने की चिड़िया' बनाने का श्रेय इन्हीं नदियों को था। इसके धन वैभव तथा समृद्धि को देख अनेक आक्रमणकारी समय-समय पर यहाँ आते रहे।

इस रत्न-गर्भा वसुन्धरा को विदेशी लोग अपनी लोलुप आँखों से देख अपने को नहीं रोक सके। इन्हीं नदियों की तलेटी की सम्पन्न भूमि में भारतवासियों ने अपना जीवन निश्चिन्त और सन्तोषी बनाया था। इन्हीं के तट पर रहने वाले ऋषि-मुनियों ने अपने तपोवनों में भारतीय दर्शन और धर्म-शास्त्र को जन्म दिया था। 'नदी-सभ्यता' के उदय तथा विकास क्षेत्रों में इस मैदान का सर्व प्रमुख स्थान है। वेद की ऋचाएँ यहीं रची गयी थीं। यह कहना अति-शयोक्ति न होगी कि भारतीय संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, कला और कौशल का क्रीड़ाक्षेत्र भारत का यही भाग है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा कि—

अयि भुवन-मन मोहिनी!
प्रथम प्रभात उदय तव गगने
प्रथम साम-रव तव तप बने।
प्रथम प्रचारित तव वन भवने
ज्ञान, धर्म कत काव्य काहिनी॥

इसी मैदान ने इस देश की राज-शक्ति के उथल-पथल को देखा है। वैदिक कालीन राज्य, कौरव-पाण्डवों के राज्य, अयोध्या-मिथिला के राज्य, काशी, कौशाम्बी, कन्नौज, मगध के राज्य, पठानों और मुगलों के साम्राज्य इसी मैदान में पनपे, फैले और विलीन हुए। अतः भारत के इतिहास में इस विस्तृत मैदान का अपना एक बेजोड़ स्थान है, इसकी एक वर्णनातीत देन है और इसीलिए भारत देश का नाम इसी मैदान के नाम से विख्यात हो गया। यह विस्तृत समतल भूमि "आर्यावर्त"* कहलायी। इस प्रदेश की सम्पन्न भूमि में देश की अधिकतर जन-संख्या निवास करती है। आबादी का बोझ या घनत्व भी इस प्रदेश में सब से अधिक है। कहीं कहीं तो प्रति वर्गमील औसत आबादी १००० से भी अधिक हो गयी है। आबादी का प्रतिशत औसत दिल्ली, कानपुर, पूर्वी उत्तर प्रदेश, उत्तरी और मध्य बिहार और बंगाल में अधिक है। ये प्रदेश संसार के अत्यन्त घने आबाद प्रदेशों में अपना स्थान रखते हैं।

---

* आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरे गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ मनुस्मृति
आर्यावर्त गंगासागर से सिन्धु तक और हिमालय से विन्ध्याचल तक फैला हुआ है।

इनकी भौगोलिक या प्राकृतिक विशेषता ने उन्हें इतना घना आबाद स्थल बनाया और इस घनी आबादी ने अन्य कई समस्याओं को जन्म दिया। इन्हीं कारणों से इस प्रदेश में समय समय पर अनेक यातायात के मार्ग निर्मित किये गये। पेशावर से कलकत्ते तक के राजमार्ग (ग्रैण्ड ट्रंक रोड) को शेरशाह ने बनवाया; आजकल भी इसी विशेषता के कारण दिल्ली, प्रयाग, (बमरौली) कलकत्ता (दमदम) के वायुयान-विश्राम-स्थल अत्यन्त प्रधान और महत्वपूर्ण हो गये हैं।

(३) दक्षिण भारत का पठार—भारत के उत्तरी समतल मैदान और दक्षिणी भाग को विन्ध्य मेखला पृथक करती है। दक्षिण का पठार एक प्रायद्वीप के आकार का है। इसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से २००० फुट है। यह पठार पूरब से पश्चिम की ओर ढालू है। पूर्वीघाट, पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ और विन्ध्य तथा सतपुड़ा की पर्वत-श्रेणियाँ इस पठार को चारों तरफ से घेरे हुए हैं। पश्चिमी घाट का पूरा नाम सह्याद्रि है। पश्चिमी घाट की पर्वत-श्रेणियाँ पूर्वी घाट की पहाड़ियों से कुछ ऊँची हैं। इस पश्चिमी घाट में महाराष्ट्र स्थित है। सह्याद्रि के पश्चिम में स्थित इलाके को 'कोंकण' कहा जाता है और पहाड़ी ढाल के खुले मैदान को 'देश' कहा जाता है। सह्याद्रि में तीन रास्ते हैं। पहला थाल घाट जिससे होकर बम्बई और दिल्ली का रेल-पथ बना है। दूसरा भोर घाट जिसके द्वारा बम्बई से मद्रास को रेल जाती है। तीसरा पाल घाट है जिससे होकर कालीकट से मद्रास की ओर जाने का मार्ग है। सह्याद्रि की पहाड़ियों और उनके बीच के मार्गों से मराठा इतिहास का घनिष्ट संबन्ध है। सह्याद्रि की पहाड़ियाँ सीधे खड़ी हैं अतः उनसे होकर आर-पार जाना अति कठिन काम है। शिवाजी ने यहाँ इन्हीं मार्गों पर अधिकार कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और वे अन्त तक अपने को शत्रुओं से सुरक्षित रखने में समर्थ हुए थे। सह्याद्रि का दक्खिनी भाग मलाबार कहलाता है। मराठों का प्रान्त और उनकी आबादी डामन से नागपुर तक और नागपुर से करवार तक है।

विन्ध्य मेखला के मुख्य दो भाग हैं। राजपूताना से मालवा तक के पहाड़ तथा भारनेड़, पन्ना और कैमोर-शृंखलाएँ एक भाग में आती हैं और

सातपुड़ा, गवालगढ़, महादेव, मेकल, हराजीबाग तथा राजमहल की शृंख-लाएँ दूसरे भाग में सम्मिलित हैं। विंध्याचल बम्बई प्रान्त से शुरू होता है और मध्यप्रान्त, बघेलखण्ड, उत्तर प्रदेश के दक्खिनी भाग से होता हुआ बिहार, उड़ीसा प्रान्त में सोन-घाटी को पार करता पूरब की ओर बढ़ता जाता है। नर्मदा की घाटी विंध्याचल को सतपुड़ा पहाड़ से पृथक करती है। सतपुड़ा के दक्षिण ताप्ती नदी है। इन दोनों के कछारों ने एक मैदान का रूप बना लिया है। जबलपुर से हरदा तक का नर्मदा का मैदान लगभग २०० मील लम्बा हो गया है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ नदी घाटियाँ नीची हो गयी है, वहाँ-वहाँ कुछ समतल भूमि निकल आयी है।

जिस प्रकार सह्यद्रि पर्वत की श्रेणियाँ पठार के पश्चिमी घाट में हैं, उसी प्रकार पूर्व में पूर्वी घाट की पहाड़िया हैं। पर पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ अपेक्षाकृत कुछ नीची हैं। पूर्वी घाट और समुद्र के बीच का समुद्री किनारा पश्चिमी किनारे से कुछ अधिक चौड़ा भी है। दक्षिण की प्राय: सभी नदियाँ पूर्वी घाट की पहाड़ियों को काटती हुई बंगाल की खाड़ी की ओर समुद्र में गिरती हैं। इसलिए पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ स्थान-स्थान पर नदियों के कारण कट गयी हैं। उत्तर में पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ छोटा नागपुर और उड़ीसा की पहाड़ियों से मिलती हैं और दक्षिणी सिरे पर नीलगिरि के पहाड़ से मिलती हैं। सुदूर दक्षिण में इस पठार का वह भाग है जो 'अना मलाई' पहाड़ कहलाता है।

इस दक्षिणी पठार के दोनों तरफ समुद्री किनारे पड़ते हैं। पूर्वी किनारे का यह समुद्री तट 'कारो मण्डल' तट कहलाता है। पश्चिमी किनारे के समुद्री तट को मलाबार तट कहा जाता है। इन्हीं किनारों पर पुरी, मछली पट्टम, मद्रास, पाण्डेचेरी, कारीकल, विजगापट्टम तथा सूरत, बम्बई, गोआ, कालीकट, कोचीन आदि नगर बसे हैं।

इस पठार की दो नदियाँ—नर्मदा और ताप्ती विन्ध्याचल के मध्य भाग (अमर कंटक) से निकल कर पश्चिम की ओर बहती हैं और अरब सागर में गिरती हैं। शेष सब नदियाँ—महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, तुंगभद्रा पश्चिमी घाट से निकलकर पूर्व की ओर बहती हैं।

कृषि के विषय में दक्षिण भारत उत्तरी मैदान की बराबरी नहीं कर सकता है। पर खनिज पदार्थ में वह सदा से प्रसिद्ध रहा है। वहाँ की काली मिट्टी कपास के लिए अति उत्तम भूमि है। गोलकुण्डा प्राचीनकाल से ही हीरे की खानों के लिए प्रसिद्ध था। मैसूर में सोने की खान है। वहाँ के जंगलों में चन्दन की लकड़ी भी बहुतायत से पायी जाती है। नीलगिरि पर्वत के आस-पास चाय और कहवा की अच्छी पैदावार होती है। पश्चिमी समुद्री तट पर धान की खेती होती है। नारियल और सुपारी भी वहाँ पैदा होती है। पहाड़ों पर सागौन और रबड़ के पेड़ भी हैं।

दक्षिण की इस प्राकृतिक अवस्था ने वहाँ के इतिहास पर बहुत प्रभाव डाला है। विन्ध्य और सतपुड़ा की पहाड़ियों ने आर्य सभ्यता को दक्षिणी भारत में जाने से बहुत दिनों तक रोक रक्खा था। पठानों के वंशजों ने भी अलाउद्दीन के पहले उधर प्रवेश पाने में सफलता नहीं प्राप्त की थी। पश्चिमी घाट के सघन जंगलों, दुर्गम रास्तों और ऊँची पहाड़ियों ने मराठा देश को दुर्जेय बना रक्खा था। स्थान की विशेषता के कारण ही शिवाजी ने गुरिल्ला (guerilla) युद्ध-प्रणाली का आश्रय लिया था। इस भौगोलिक तथ्य की उपेक्षा करने से शिवा जी के बाद के मराठा सरदारों को अपने दुश्मनों के समक्ष झुकना पड़ा। विन्ध्याचल के कारण उत्तरी भारत से यातयात और सम्पर्क कम होने से दाक्षिणात्य लोगों के खान-पान, वेशभूषा और आचार-विचार उत्तरी भारत के लोगों से बहुत भिन्न हो गये।

जो मार्ग उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत को जाते हैं, उनका सामरिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। सिंध के मैदान से सीधे दक्षिण, स्थलमार्ग से यदि कोई जाना चाहे तो थर का रेगिस्तान बीच में पड़ता है। इस कारण वह रास्ता बहुत दुर्गम है। उत्तर भारत से दक्षिण भारत जाने वाला पहला मुख्य मार्ग दिल्ली या आगरा से राजपूताना लाँघ कर गुजरात पहुँचता है। बीच में अजमेर इस रास्ते की कुंजी है। वहीं से मालवा को भी रास्ता जाता है। अतः अजमेर को अंग्रेज ने बड़ी दृढ़ता से अपने अधिकार में रक्खा था। दूसरा मुख्य द्वार मथुरा-आगरा से मालवा होता हुआ बम्बई तक पहुँचता है। यह प्राचीन काल से उत्तर और दक्षिण भारत के बीच राजपथ रहा है। यही कारण

है कि मालवा के नगर अति प्राचीन काल से सामरिक महत्व के स्थान समझे जाते थे। काशी के आगे पूरब के मैदान से दक्षिण जाने के लिए कोई सुगम मार्ग नहीं है। अतः इधर से आने जाने वालों के लिए घूमकर बंगाल के तट का मार्ग ही सुगम होता था।

(४) भारत का रेगिस्तान—भारतीय इतिहास में राजपूताना और राजपूत राजाओं की परम्परा का अपना एक विशेष स्थान है। यह राजपूताना मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित है। अर्वली के उत्तर का भाग रेगिस्तान है। इसके पूरब और दक्षिण की भूमि उपजाऊ है। इसी में मालवा का प्रदेश स्थित है। अर्वली पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी माउन्ट आबू है। इस रेगिस्तानी भूमि में हर्ष के बाद अनेक राजपूत राज्यों का उदय हुआ। इनमें बीकानेर, जैसलमेर, उदयपुर, जोधपुर, बूँदी, अलवर, कोटा, जयपुर आदि प्रसिद्ध थे। राजपूत लोग अपने किलों में मरुप्रदेश के बीच सुरक्षित रहते थे। शाही फौजों को जो बाहर से जाती थीं, पानी, भोजन और साया की कमी के कारण छठी का दूध याद आ जाता था। वे आपस में सदा युद्ध किया करते थे, फिर भी दुश्मन को उन्हें पराजित करना कठिन था। कुछ मुसलमान बादशाहों ने उन्हें जीत लिया, पर इसके बाद भी वे अपना शासन चलाने में पर्याप्त स्वतंत्र रहते थे। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अकबर और औरंगजेब के समय में भी वे मुगल सत्ता की दृढ़ प्रभुता के सामने अपना सिर झुकाने के लिए बाध्य न किये जा सके। अपनी विशेष परिस्थिति के कारण वे अपने को दूसरों से पृथक रक्खा करते थे और इस पार्थक्य के कारण ही उनमें एक संकुचित दायरे के अन्दर रहकर अपने को गौरवान्वित समझने की एक टेव-सी पड़ गयी थी। यही कारण था कि उनमें स्थानीय ममता (Local Patriotism) का अत्यधिक जोर बढ़ गया था। उनके रहन-सहन का ढंग, उनकी मान्यताएँ और विचार-धारा में एक विशेष प्रकार का निरालापन पाया जाता है। आज भी उनको भारत के शेष भागों में रहने वालों के स्तर पर अपने को लाने में एक प्रकार की दुविधा और असमंजस का सामना करना पड़ रहा है।

का विशेष प्रभाव पड़ा है। इस देश की प्राकृतिक सीमा ने इसे एक अपना पृथक् अस्तित्व दिया है, इसे एक अपनी निराली आत्मा मिली है जो अपनी संस्कृति और सभ्यता का चोला पहन सदियों से समय के प्रवाह को पार करते आज भी अपना निरालापन बनाये हुए है। प्रकृति ने इसे धन-धान्य से सम्पन्न बनाया है, अतः इस पर संसार के भिन्न-भिन्न देशों के सम्राटों की लोलुप आँखें लगा करती थी। फिर भी अपनी रीढ़ की दृढ़ता के कारण इस प्राचीन देश ने आक्रमणकारियों और साम्राज्य स्थापित करने वाले सम्राटों को अपने में पचा लिया क्योंकि प्रकृति ने इसे इतना आत्मबल दिया था। यह नदियों का देश है, अतः मिस्र, ईरान, चीन की तरह इस देश में भी सभ्यता का प्रादुर्भाव उस प्रागैतिहासिक युग में हुआ था जब संसार के अधिकांश भागों में मनुष्य जंगली जीवन व्यतीत करने की अवस्था में था। प्रकृति ने इसे सम्पन्नता, सौंदर्य और शान्ति प्रदान की थी, अतः अति प्राचीन काल में यहाँ के ऋषियों ने प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का उद्बोधन कर वेद की ऋचाएँ रचीं और इनके नियामक ईश्वर की सत्ता को भी समझने का अलौकिक प्रयास किया। भारत के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ अपनी प्राकृतिक और भौगोलिक परिस्थिति की छाप लिए इस बात की सत्यता सिद्ध कर रहा है कि किसी देश और समाज के ऐतिहासिक विकास में मनुष्य और प्रकृति दोनों का समान हाथ होता है।

भारत इस देश का नाम क्यों पड़ा ?—अति प्राचीन काल में जब से हमारे पुरखे इस देश में संगठित जीवन व्यतीत करते हुए रहते थे, उस समय के इतिहास का अधिकांश भाग भी बहुत धुँधला है क्योंकि आधुनिक प्रणाली से इतिहास लिखने की पद्धति उन दिनों नहीं चल पायी थी। इतना मालूम है कि मनु के वंशज इस देश में राज्य करते थे। इसके बाद चंद्र वंश, पुनः उशीनर और शिवि का राज्य इस देश के उपजाऊ मैदानों में रहा। हमारे ये पुरखे अपने को आर्य कहते थे और अपने देश को **आर्यावर्त्त**। इस देश का प्राचीन नाम यही है। बाद में यहाँ दुष्यन्त के पुत्र भरत एक पराक्रमी राजा हुए। उन्हीं के नाम पर इसका नया नाम 'भारत' या भरत का देश पड़ा। आज भी हमारी स्वतंत्र सरकार ने इस देश के लिए

यही भारत नाम स्वीकार किया है। बीच में हमने इसे हिन्दुस्तान के नाम से पुकारना शुरू किया था। यह नाम इरानियों ने दिया था। इरानियों ने सिंधु नदी का नाम बदलकर 'हिन्दु' रख दिया। इस नदी के आस-पास रहने वालों का देश 'हिन्दुस्तान' कहलाया। यूनानियों ने इसी सिन्धु को 'इंडोस' और देश को 'इण्डिया' कहना शुरू किया। मुसलमानों ने अपने को पृथक रखने के लिए यहाँ के आर्य निवासियों को हिन्दू और देश को हिन्दुस्तान के नाम से पुकारा। चूँकि आर्य सभ्यता और वैदिक धर्म प्राचीन काल से ही पूरे देश में फैल चुका था, अतः पूरे देश का नाम हिन्दुस्तान पड़ गया। पर आज इसका मान्य और उचित नाम भारत ही स्वीकृत किया गया। भरत नाम के एक और राजा थे जो वैदिक कालीन राजा ऋषभ के पुत्र थे। उन्होंने इस देश में एक बड़ा राज्य स्थापित कथा था। यह भी कहा जाता है कि उनके नाम से ही इस देश का नाम करण 'भारत' हुआ है। पर अधिक लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत को ही 'भारत' नामकरण का श्रेय देते हैं। हमारे नये संविधान में भी यही नाम स्वीकार किया गया है।

सीमा, क्षेत्रफल और जन-संख्या—भारतीय राष्ट्र की सीमा का संकेत ऊपर किया गया है। सन् १९४७ के बाद उस सीमा में कुछ परिवर्तन हो हुआ। पश्चिम में सिंध, पश्चिमोत्तर प्रान्त और पंजाब का अधिकांश भाग हमसे पृथक हो गया है। आज इस ओर से हमारी पश्चिमी सीमा गुजरात, काठियावाड़-सौराष्ट्र, जैसलमेर, बीकानेर तथा अमृतसर के पास से होते हुए काश्मीर तक पहुँचती है। उत्तर और दक्षिण की सीमा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पूरब में हमारा देश आसाम तक है। पर बीच में बंगाल का पूर्वी भाग और आसाम का कुछ हिस्सा हमसे पृथक हो गया है। फिर भी हमारा सिलसिला आसाम तक हिमालय की तराई से होकर क्रम पूर्वक लगा हुआ है। विभाजन अर्थात् अगस्त सन् १९४७ के पूर्व भारत की सीमा जिस प्राकृतिक घेरे में सजायी गयी थी, उसमें अब फाँक पड़ गयी है। सामरिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अब हमारी पश्चिम की सीमा-पंक्ति उतनी सुरक्षित नहीं है जितनी पहिले थी। अतः इसकी रक्षा के लिए हमारी सरकार को अधिक व्यय करना पड़ेगा और साथ ही यह काम कष्ट-साध्य भी होगा।

नवीन भारत का क्षेत्रफल लगभग ११ लाख ७६ हजार वर्ग मील है। क्षेत्रफल के हिसाब से संसार के राष्ट्रों में भारत का स्थान सातवाँ है। सन् १९५१ की जन गणना के अनुसार इस देश की आबादी ३५६८२९४८५ है। गत १० वर्षों में हमारी आबादी में १३.४ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। संख्या में यह वृद्धि लगभग ४ करोड़ २० लाख होती है। इस देश में प्रति १००० पुरुष पर ९४७ स्त्रियाँ हैं। हमारी पूरी आबादी के ८३ प्रतिशत मनुष्य गाँवों में रहते हैं और शेष नगरों में हैं। पूरे देश की जन-संख्या का ७० प्रतिशत कृषि करने वालों का है और शेष ३० प्रतिशत में अन्य सब धन्धे करने वाले शामिल हैं। इस देश में ५ करोड़ १३ लाख व्यक्ति हरिजन-वर्ग के हैं। इस समय भारत में मुसलमानों की संख्या पूरी आबादी के १० प्रतिशत है, अर्थात् इस देश में लगभग ३½ करोड़ मुसलमान विभाजन के बाद भी हैं। इसके बाद ईसाई २.३ प्रतिशत और सिक्ख १.७४ प्रतिशत हैं। भारत की आबादी उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के सब देशों की आबादी के बराबर है। इंगलैण्ड की जनसंख्या के सात गुने नर-नारी इसमें निवास करते हैं। चीन के अतिरिक्त संसार में किसी एक देश की आबादी भारत की आबादी से अधिक नहीं है। इस देश में कुछ अनुसूचित आदिम-जातियाँ भी हैं जिनका उल्लेखनीय स्थान आसाम की पहाड़ियाँ, जंगल, और उड़ीसा के कुछ पहाड़ी भाग हैं। इनकी समस्या भी इस देश की एक निराली समस्या रही है। आज भी भारत के नवीन संविधान में इन आदिम-जातियों के प्रशासन के लिए पृथक अनुच्छेद रक्खे गये हैं।

भारत की मौलिक एकता

कुछ यूरोपीय विद्वानों का मत है कि भारत में जाति, धर्म, आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान के विषय में जैसी विभिन्नता पायी जाती है, वैसी संसार के किसी अन्य देश में नहीं है। इस देश का एक अविकल इतिहास लिखना सम्भव नहीं है। उन लोगों का आक्षेप है कि "इस बृहत्काय और जनाकीर्ण देश के इतिहास में न तो कोई विकास-क्रम देखने में आता है, न इसकी युग-परम्परा में कोई शृंखला पायी जाती है और न किसी समान

संस्कृति के सूत्र में यह सारा देश कभी संग्रथित हुआ मालूम पड़ता है। भारत अनेक देशों का एक समूह है। दो हजार मील लम्बे चौड़े पृथ्वी के इतने बड़े टुकड़े को एक देश मानने के लिए सहसा बुद्धि तैयार नहीं होती है। सतह भी इसकी सम नहीं हैं। कहीं गगन भेदी पर्वत हैं, कहीं नीचा समुद्र तट, कहीं नदियों का विस्तृत मैदान। यही दशा जलवायु की भी है। कहीं अत्यधिक शीत है, कहीं असह्य गर्मी। कहीं जल-वृष्टि की अधिकता है, कहीं वह नहीं के बराबर है। रंग-विरंगे पशु-पक्षी भी असंख्य प्रकार के हैं। सबसे अधिक विभिन्नता तो भारत के मनुष्यों में दिखाई देती है। संसार की जन-संख्या का पाँचवाँ भाग भारत में पाया जाता है। उनकी विभिन्न भाषाएँ, भिन्न-भिन्न रस्म-रिवाज, विभिन्न जातियाँ, विभिन्न धर्म की बात तो एक अजीब परेशानी का विषय बन जाता है। अतः यह खासा बड़ा एक अजायब घर है।"

ऊपर जिस प्रकार की विभिन्नता का संकेत किया गया है, उसमें सत्यता है। पर यूरोप के विद्वान भारत की इस बाह्य विभिन्नता को देखकर चकित हो गये और अपना अधकचरा निष्कर्ष निकाल सन्तोष कर बैठे। उन्होंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता की वास्तविक और मौलिक एकता एवं समानता की ओर ध्यान नहीं या उसे समझने का प्रयास नहीं किया। प्राचीन काल से ही इस पूरे देश को भारत का नाम दिया गया था। हिमालय से कन्याकुमारी तक और आसाम से पेशावर तक इसको एक भौगोलिक इकाई के रूप में सब ने स्वीकार किया था। हमारे पूर्वज प्राचीन काल में ही इस देश के प्रत्येक भाग से परिचित थे। कालिदास के ग्रन्थों में देश के प्रत्येक प्राकृतिक भाग का उल्लेख मिलता है। अशोक के शिलालेख और स्तूप-लेख देश के हर भाग में आज भी पाये जाते हैं। अशोक को कर देने वाले राज्यों में कम्बोज (अफगानिस्तान का पूर्वी-उत्तरी भाग और काश्मीर के बीच का भाग) तथा दक्षिण के आन्ध्र, पुलिन और चोल राज्यों का उल्लेख है। समुद्र गुप्त की विजय-गाथा में उत्तर और दक्षिण सब प्रदेशों के नाम गिनाये गये हैं। पठान और मुगल शासकों की आकांक्षा सदा यही बनी रही कि वे पूरे देश के मालिक हों। बृटिश शासन के समय भी भारत की इस राजनैतिक एकता का रूप और निखरता हुआ प्रतीत हुआ। विष्णु पुराण में भारत के एक होने की स्पष्ट उक्ति मिलती है—

"जो समुद्र के उत्तर और हिमालय से दक्षिण देश है, वही भार... है। उसकी सन्तति भारती या भारतवासी है।"*

निसंदेह ये बातें भारत की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक एकत... पक्ष में प्रमाण हैं।

धार्मिक, सांस्कृतिक और सभ्यता की दृष्टि से भी भारत की एकता स्प... रूप से निखरती है। पूरे देश में समान देवी-देवताओं के मन्दिर पाये जाते... ब्रह्मा, विष्णु और शिव के उपासक सर्वत्र पाये जाते हैं। सबके मन में एक दू... के लिए समान भाव रहता है। हम सब इन सब देवताओं के समक्ष समान रू... नत मस्तक होते हैं, सब की अर्चना करते हैं, किसी के प्रति द्वेष या अविश्... का भाव मन में नहीं रखते। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन इस देश... विशाल प्रांगण में फैले हुए हैं। सब में एक समानता है, एकता है जो ... भी दर्शक या खोज करने वाले को थोड़े प्रयास के बाद ही स्पष्ट हो ... है। सब का विश्वास वेदों तथा उपनिषदों पर है। सब महाभारत, रामायण, गीता को अपना पथ-प्रदर्शक समझते हैं। गंगा, यमुना, नर्मदा सबके ... पवित्र नदियाँ हैं जिनमें स्नान करना धार्मिक कृत्य माना जाता है। अयो... वृन्दावन, काशी, प्रयाग, रामेश्वरम् समान रूप से सब भारतवासियों के ... पवित्र तीर्थ स्थान के रूप में मान्य हैं। प्रतिदिन स्नान करते समय ... भारतीय के मुख से भी यह प्रार्थना सुनी जा सकती है—

> गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
> नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् संन्निधिं कुरु॥
> महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वताः।
> विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुल पर्वताः॥

इससे अधिक स्पष्ट और सीधा प्रमाण भारत की मौलिक एकता का ... क्या हो सकता है? इसी भावना को और अधिक मूर्तरूप देने के लि... शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी में भारत के चारों छोरों पर चार मुख्य ... की स्थापना की। प्रतिवर्ष हजारों हिन्दू इन मठों (धामों) की परिक्रमा ... हैं और इस देश की विशालता में एकता का सत्य सार्थक करते हैं...

* उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥ विष्णु पुराण

बदरिकाश्रम, द्वारिका, रामेश्वरम् और जगन्नाथपुरी सदियों से इस देश की एकता के प्रतीक हैं। प्रत्येक हिन्दू के जीवन में यह अन्तिम अभिलाषा होती है कि वह इन चार तीर्थों का दर्शन-पूजन कर अपने जन्म को सार्थक बनावे।

राजनीतिक एकता भी इस देश का एक ध्येय रहा है। प्राचीन काल से इतिहास की घटनाएँ हमें बतलाती हैं कि कभी हम एक राजनीतिक सूत्र में बँधे थे और कभी उसके लिए प्रयत्नशील रहते थे। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में अनेक चक्रवर्ती राजाओं का वर्णन आया है। एकराट्, सम्राट्, सार्वभौम, राजाधिराज आदि उपाधियाँ क्रमशः बड़े और प्रतापशाली राजा धारण करते थे। सम्राट् की स्थिति में आने के लिए अश्वमेघ यज्ञ करने की प्रथा थी। कौटिल्य के शब्दों में हिमालय से समुद्र पर्यन्त विस्तृत राज्याधिकारी ("हिमवत्समुद्रान्तरं चक्रवर्ति क्षेत्रम्)" चक्रवर्ती राजा कहलाता था। अलाउद्दीन खिलजी, अकबर और ब्रिटिश शासक पूरे देश को एक सूत्र में रखने के प्रयास में सफल हुए थे। यह सत्य है कि ब्रिटिश आधिपत्य के बहुत पूर्व भी समय समय पर यहाँ के शासकों ने भारत की राजनैतिक एकता की आवश्यकता को और महत्व को समझा था।

रीति-रिवाज, परिपाटियाँ, सामाजिक व्यवहार और धार्मिक कृत्य की दृष्टि से भी भारत की मौलिक एकता का रूप निखरता है। वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव भारत के प्रत्येक कोने में रहने वाले हिन्दू के जीवन में दीख पड़ता है। वैदिक संस्कारों की मान्यता सर्व स्वीकृत है। स्नान, ध्यान, पूजा-पाठ और शिखा-सूत्र का प्रचलन सर्वत्र है। तीर्थाटन में छोटे-बड़े सब विश्वास करते हैं और उनका दर्शन मोक्ष का साधन समझते हैं*। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानुज, सूर, तुलसी, मीरा, गाँधी की गाथाएँ समान रूप से सब को प्रिय हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु के संस्कार प्रायः पूरे देश में समान हैं। जन्म, मृत्यु, ईश्वर और कर्म तथा पुनर्जन्म के विषय में प्रायः सब हिन्दुओं में एक समान धारणाएँ एवं मान्यताएँ पायी जाती हैं। पारिवारिक

---

*अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायकाः॥

संस्कृत और मान्यताओं के विषय में भी हमारी विचार-धारा में पर्याप्त समान है।

भाषा के विषय में भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर भाषा सम्बन्धी अनेकत्व और विभिन्नता की बात खोखली सिद्ध हो जाती है। दूसरे पक्ष वालों (अनेकत्ववादियों) का कहना है कि भारत में सैकड़ों भाषाएँ हैं। मुख्य रूप से वर्तमान भारत में प्रचलित भाषाओं को दो प्रधान वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में अन्दर आर्य-परिवार की भाषाएँ आती हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। बंगला, हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि भाषाएँ आर्य-परिवार की भाषाएं हैं। इनका उद्गम स्थान एक है। इनकी लिपि, साहित्य और विषय-विन्यास में केवल समानता ही नहीं है, बल्कि एकरूपता भी है। अतः बाहरी विभिन्नता के अन्दर इन सब भाषाओं की आत्मा एक ही है। दूसरे वर्ग की भाषा में द्राविड़ परिवार की भाषाएँ आती हैं। उनमें तामिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम मुख्य हैं। इनमें तेलुगू और कन्नड़ की अलग अलग लिपियाँ हैं, पर परस्पर वैसी ही सादृश्यता है जैसी नागरी और गुजराती में। इसी प्रकार तामिल और मलयालम की लिपि में भी गहरी समानता है। एक और मार्के की बात है। उत्तर और दक्षिण की सब भाषाओं की वर्णमाला एक ही समान है। आर्य परिवार की भाषाओं के वर्णमाला को दक्षिण भारत की भाषाओं ने भी अपना लिया है। इसी प्रकार सब के साहित्य का विषय भी समान है। इस प्रकार यदि हम भारतीय भाषाओं के साहित्य और वाङ्मय की समानता की ओर ध्यान दें तो निश्चित ही यह बात स्पष्ट होगी कि "समूचे भारत का साहित्य और वाङ्मय लगभग एक ही है। उसके विषयों का विस्तार और उसकी विचार-पद्धतियाँ सब समान हैं।"

ऊपर की बातों को विचार-पूर्वक देखने से हम निस्संकोच कह सकते हैं कि समूचे देश की अन्तरात्मा एक है। मुसलमानों की विजय के बाद ही इस देश में एक ऐसा वर्ग बन गया जिसने आचार-विचार-धर्म में अपने को भारतवासियों से पृथक रखने की कोशिश की। आज उनकी संख्या इस देश में लगभग ३६ करोड़ है। स्वतन्त्र भारत की सरकार की धर्म-निरपेक्ष नीति के कारण उनके मन में बैठाई गयी कटुता कम होती जा रही है। हमारी मौलिक

एकता में इस वर्ग ने कुछ दिनों लिए बहकावे में आकर एक दरार डालने का प्रयास किया था। पर इस फोड़े पर मरहम-पट्टी हो चुकी है और आशा है इस देश की मौलिक एकता सदा की भाँति अक्षुण्य बनी रहेगी। इस देश में मुख्यतः आर्य सभ्यता का गहरा रंग सर्वत्र फैला है। द्रविड़ नस्ल के व्यक्ति इस देश की पूरी आबादी के लगभग २० प्रतिशत हैं, पर उनकी भाषा, साहित्य, रहन-सहन, और जीवन पर आर्य सभ्यता और संस्कृति का अमिट रंग चढ़ा हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि से ये दोनों जातियाँ एक ही साँचे में ढल चुकी हैं। इस देश के सब नागरिक भारत को अपनी "स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि" (स्वर्ग से भी महान जन्मभूमि) मानते हैं। यहाँ निवास करते हुए उन्होंने अनेक युग बिता दिये हैं। निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि "इस देश में विभिन्न वंश, जाति और धर्म के लोग रहते हैं, यह बात स्पष्ट है, किन्तु इन सब विभिन्नताओं के होते हुए भी इसमें एक मौलिक एकता है जिसे कोई इतिहासकार अस्वीकार नहीं कर सकता।"

भारतीय इतिहास की जानकारी प्राप्त करने के साधन

भारत के इतिहास को क्रम-बद्ध करने के लिए समय-समय पर अनेक विद्वानों और खोज करने वालों ने अथक परिश्रम किया है। इस काम में इतिहासकारों को कुछ विशेष प्रयास और परिश्रम करना पड़ा है क्योंकि इस देश का इतिहास अपेक्षाकृत पुराना है। हमारी सभ्यता और संस्कृति का स्रोत उस समय चल निकला था जिस समय अन्य देश के लोग अभी जंगली अवस्था में थे और शिकार तथा कन्द-मूल पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी बात यह थी कि इस देश की प्राचीन ऐतिहासिक परंपरा अन्य देशों की अपेक्षा भिन्न थी और आधुनिक ढंग पर इतिहास लिखने की प्रथा नहीं थी। कथा-कहानियों, आख्यायिकाओं और काव्य तथा प्रशस्तियों द्वारा सम-सामयिक घटनाओं का सांकेतिक उल्लेख कर दिया जाता था। उनमें मन-गढ़न्त बातों का अंश अधिक होता था। अतः उनके बीच से ऐतिहासिक सामग्री की छानबीन करना और उनको सिलसिले में लिपि-बद्ध करना कठिन काम हो गया है। तीसरी बात इस विषय में ध्यान देने की यह है कि हमारे प्राचीन लेखों और इमारतों और स्तूपों आदि पर समय के प्रवाह

ने अपना इतना कठोर एवं प्रतिकूल प्रभाव डाला कि उनमें से अधिकांश ध्वस्त या जीर्ण-शीर्ण हो गये। अतः उनके आधार पर ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करना श्रम-साध्य काम हो गया है और उनका ठीक समझना दुष्कर बन गया है। चौथी कठिनाई का संबन्ध विदेशी यात्रियों से है। निसन्देह भारत के वेदान्त, धर्म और इसकी संस्कृति विदेशियों के आकर्षण का कारण रही है, पर उन दिनों पैदल चलकर सब प्रकार की बातों और घटना-चक्र को समझना आज की तरह आसान नहीं था। अतः कहीं कहीं उन यात्रियों के वर्णन में कल्पना, अतिशयोक्ति या एक पक्षीय बातों का अनुपात अधिक हो गया। वे उद्धरण अपने मूल रूप में कम मिलते भी हैं। उनमें से अधिकांश अलभ्य भी हो चुके हैं। अतः भारतीय इतिहास को प्रकाश में लाने के साधन कष्ट-साध्य हैं। ब्रिटिश शासन काल में अधिकांश यूरोपीय लेखकों ने ऐतिहासिक घटनाओं को तोड़ मरोड़कर अपने हित एवं स्वार्थ के अनुकूल बनाने का प्रयास किया है। फिर भी इन कठिनाइयों के होते हुए भारतीय इतिहास को एक क्रम बद्ध साँचे में ढालने का उपक्रम विशेष जोश, उमंग और विवेक के साथ कुछ भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने किया है। उन्होंने जिस सामग्री को अपना साधन बनाया और उसके अंग-प्रत्यंग को शोधकर, बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी की है, उन्हें इस श्रेणियों में रक्खा जा सकता है :—

(१) प्राचीन ब्राह्मण, जैन और बौद्ध साहित्य।
(२) पुरातत्व-विज्ञान जिसमें प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र, और मुद्रा विशेष उल्लेखनीय हैं।
(३) विदेशी यात्रियों का वर्णन जो प्राचीन काल से वर्तमान समय तक यहाँ आते रहे हैं।
(४) समसामयिक साहित्य।
(५) प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन इमारतें, मन्दिर, मस्जिद, राज-प्रासाद एवं अन्य वास्तु कला की चीजें।
(६) कम्पनी और ब्रिटिश शासन काल के सरकारी प्रपत्र, सरकुलर एवं राजकीय पत्र-व्यवहार आदि।

प्राचीन ब्राह्मण, जैन और बौद्ध सामग्री के अन्तर्गत बहुत सामग्री शामिल

है। इनका क्षेत्र और विषय व्यापक है। पर इनसे ऐतिहासिक सामग्री काल-क्रम के अनुसार पिरोने में अधिक कठिनाई पड़ती है। उनमें विशेष उल्लेख-नीय वेद, उपनिषद्, पुराण (१८ पुराणों में मत्स्य, वायु, विष्णु, तथा भागवत में राजाओं की वंशावली पायी जाती है) त्रिपिटक (बौद्ध धर्म-ग्रंथ) आदि हैं।

पुरातत्व सामग्री में अशोक के शिलालेख, स्तूपलेख, समुद्र गुप्त के समय के स्तूप लेख, राजपूत काल के राजाओं के दानपत्र, प्रशस्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुगलकाल के इतिहास पर भी इस सामग्री ने विशेष प्रकाश डाला है। प्राचीन मुद्राओं में जो समय-समय पर खुदाई के बाद प्राप्त हुए हैं, तत्कालीन राजाओं के नाम, समय और अन्य बातों पर प्रकाश डाला गया है। काल, यवन, पार्थिव, शक और राजपूत राजाओं के इतिहास जानने में इन मुद्राओं से विशेष सहायता मिली है।

विदेशी यात्रियों के वर्णन से भी भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। उन्होंने यहाँ की राजनीति, धर्म, समाज में प्रचलित रीति-रिवाज और अन्य बातों का सजीव विवरण दिया है। इनमें यूनान, अफ्रीका, चीन और इस्लामी देशों के यात्री हैं। यूनानी लेखक हिरोडोटस, टिशियस, स्ट्रैबो, प्लिनी,मेगस्थनीज आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। चीनी यात्रियों में फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिंग अधिक उल्लेखनीय हैं। मुसलमान यात्रियों में अलबरूनी की पुस्तक (तहक़ीक-ए-हिन्द) भारतीय इतिहास जानने के लिए अधिक उपयोगी मानी जाती है। वह महमूद गजनी के साथ भारत आया था। सच तो यह है कि फाहयान, ह्वेनसांग, इत्सिंग और अलबरूनी के यात्रा-वर्णन हमें उपलब्ध न होते, तो प्राचीन भारत के कुछ युगों का इतिहास बहुत ही अपूर्ण और धुँधला होता। इस सम्बन्ध में इब्न बतूता तथा अब्दुलरज्जाक के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। मुगल काल में अनेक यूरोपीय यात्री धर्म-प्रचार और भ्रमण के निमित्त इस देश में आये और उन्होंने यहाँ की तत्कालीन राजनैतिक, और सामाजिक स्थिति पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

समसामयिक सामग्री के अन्दर सर्व प्रथम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का नाम लिया जा सकता है जिससे तत्कालीन राजनीति और शासन प्रबंध के

विषय में वैज्ञानिक व्याख्या की रूप रेखा ज्ञात होती है। महाभारत के अनेक स्थल भी इस दृष्टि से अत्यधिक उपादेय हैं। वाणभट्ट लिखित 'हर्षचरित' कल्हण-रचित 'राजतरंगिणी' और बिल्हण का 'विक्रमांक चरित' तथा संध्याकर-नंदिन् का 'रामचरित' अपने अपने समय की अच्छी ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन सब में ऐतिहासिक दृष्टि से 'राजतरंगिणी' का स्थान सबसे ऊँचा है। इस पुस्तक में काश्मीर का बारहवीं शताब्दी तक का इतिहास अच्छे ढंग से लिखा है। बारहवीं से अठारहवीं सदी तक के इतिहास का ज्ञान मुसलमान इतिहासकारों के ग्रन्थों द्वारा ज्ञात होता है। उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं का बड़ी बारीकी से वर्णन किया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'बाबर-नामा' अबुलफज्ल की 'आईन-अकबरी' बदाऊनी की 'मुन्तखब-उत्-तवारीख' 'तुजुक जहाँगीरी' अधिक प्रसिद्ध हैं। वर्तमान भारत के विषय में अनेक सरकारी और गैर-सरकारी लेख, पत्र और गजेटियर प्राप्य हैं जिनसे इतिहास का एक अच्छा स्वरूप बनाया गया है।

इनके अतिरिक्त कला, धर्म-संस्कृति, और सभ्यता आदि के ज्ञान के लिए बहुत सामग्री इस देश के प्रांगण में इधर-उधर बिखरी पड़ी है। यह सामग्री हमारी कला, संस्कृति और निर्माण-क्रिया की जीवित साक्षी है। अजन्ता, एलौरा के चित्र, सिंधु घाटी की सभ्यता की प्रतीक-सामग्रियाँ जो जमीन के नीचे से निकाली गयी हैं; सिक्के, किले, मकबरे एवं मन्दिर, मसजिद तथा अनेक स्थानों पर भग्नावशेष रूप में प्राप्त हुई मूर्तियाँ तथा अन्य सामग्रियाँ भारतीय इतिहास को पूर्ण स्वरूप देने में अपना अनमोल स्थान रखती हैं। इनसे इस प्राचीन देश की शानदार सभ्यता और कला-कौशल का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। पुरातत्व-वेत्ताओं ने इस प्रकार की सब सामग्रियों को संग्रह करने, सुर-क्षित रखने तथा उनसे ऐतिहासिक ज्ञान को क्रमबद्ध करने में अथक परिश्रम किया है। इन सब बिखरी बातों और विभिन्न साधनों को खोजकर, शोधकर और उनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित कर इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास का एक सांगोपांग रूप खड़ा किया है जिससे हम अपने राष्ट्र और समाज का सच्चा स्वरूप पहचानने में सफल हो सकते हैं।

दूसरा परिच्छेद

पूर्व ऐतिहासिक भारत

पाषाण कालीन सभ्यता

आज हम जिस मानव सभ्यता की विशाल ज्योति सारे विश्व में चमकती हुई देख रहे हैं, उसका प्रारम्भ सहस्राब्दियों पूर्व सुदूर अतीत में हुआ था। मनुष्य कब और कैसे इस पृथ्वी पर आया, यह प्रश्न आज भी विवाद पूर्ण बना हुआ है। पर यह सत्य है कि जब से मानव के आदि पूर्वज का प्रादुर्भाव इस संसार में हुआ, तब से आज तक मनुष्य के विकास का अटूट स्रोत आगे बढ़ता चला आ रहा है। मानव की प्रगति की यह कहानी बड़ी ही रोचक है। इसके संरक्षण और संवर्धन में इस पृथ्वी के विभिन्न भागों में रहने वाली जातियों ने अपना-अपना योग दिया है। यह सच है कि बहुत दिनों तक मनुष्य को अपने ही विकास की कहानी के प्रारंभिक काल का कोई ज्ञान नहीं था; किन्तु उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में ज्ञान के पिपासु और उत्साही उत्खनन-कर्त्ताओं के अथक परिश्रम के फल-स्वरूप हमारे सामने उस प्रारंभिक युग का एक साधारण चित्र सामने आया। इस प्रकार के प्रयास संसार के अन्य भागों की भाँति भारत में भी किये गये। विद्वानों ने सुविधा के विचार से उस प्रागैतिहासिक युग को तीन मोटे भागों में विभाजित है और उनको (१) प्रारम्भिक पाषाण-युग, (२) पूर्व पाषाण-युग, और (३) उत्तर पाषाण-युग का नाम दिया है। प्रत्येक युग के हथियारों और औजारों के आधार पर ही उस युग का नामकरण किया गया है, क्योंकि ये ही उस युग के इतिहास जानने के प्रधान साधन हैं और उन्हीं के सहारे उस युग के मनुष्य का भरण-पोषण होता था।

प्रारम्भिक पाषाण युग—भारत के आदिनिवासी कौन थे? इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना कठिन है, क्योंकि उस अतीत का ज्ञान हमें

नदी के बराबर है। भूगर्भ विद्या-विशारदों का कथन है कि सभ्यता के आदि काल में दक्षिण भारत अफ्रिका से मिला हुआ था और दक्षिण ही में वहाँ के मूल निवासी रहते थे। धीरे धीरे पृथ्वी की शकल बदल गयी, हिमालय की शृंखलाएँ ऊँची उठती गयीं और उत्तरी भारत का मैदान अपने इस रूप में उठ पड़ा। इस देश में अन्य कुछ स्थानों की तरह ही सब से पहले ऐसे मनुष्य रहते थे जो सख्त पत्थर को काट कर या उसके टुकड़े को लेकर अपना हथियार बनाते थे। इस युग के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही सीमित है। इस युग के लोग नाना प्रकार की लकड़ी के हथियारों का भी प्रयोग करते रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जाता है। लेकिन लकड़ी के कोई औजार अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। इस युग के लोग गुफाओं में, पेड़ों के नीचे या कन्दराओं में रक्षा करते थे। वे अधिकांश समय शिकार करने और एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने में व्यतीत करते थे। वे किसी नदी या जलाशय के निकट रहना पसन्द करते थे क्योंकि पानी रखने वाले पात्र का बनाना उन्होंने नहीं सीखा था। उनका सङ्गठन बहुत छोटे गिरोहों में था।

पूर्व पाषाण युग—इस युग की सभ्यता के कुछ चिन्ह मद्रास के कुछ इलाकों में पाये गये हैं। प्रारम्भिक पाषाण-युग के हथियारों से इनके हथियार कुछ अच्छे होते थे। ये अब मुट्ठीवाली कुल्हाड़ी बनाना सीख गये थे। बाद में हड्डियों और पशुओं की सींग से भी औजार बनाने लगे थे। लकड़ी और हड्डियों से माला बनाने का काम भी उन्होंने सीख लिया था।

इस युग के लोगों ने अपनी कलात्मक प्रकृति का भी परिचय दिया है। वे पशुओं के सजीव चित्र बना लेते थे। गुफाओं की दीवालों पर उनके द्वारा अंकित विचित्र पशुओं के चित्र प्राप्त हुए हैं। उनके चित्रों में पशुओं के शरीर में भाले चुभे हुये दिखाये गये हैं।

उस युग के मनुष्य अपने मृतकों को जमीन के नीचे गाड़ता था और कब्र में बहुधा आभूषण, हथियार और भोज्य पदार्थों को भी मृतक के साथ रख देता था। मृतक के शरीर को एक प्रकार के रंग से रंगने की प्रथा थी। इस प्रकार के रंगीन चित्र फ्रान्स और स्पेन की गुफाओं की दीवारों पर आज भी पाये जाते हैं। उनकी पोशाक चमड़े, पत्तियाँ और पेड़ों के छिलके होते थे।

आग का प्रयोग वे करते थे। पर अभी तक मिट्टी का बर्तन बनाना उन्होंने नहीं सीखा था। वे अपने लिए मकान बनाना भी नहीं जानते थे। पेड़ों की पत्तियों या घास-फूस के कुछ टेढ़े-मेढ़े झोंपड़े बनाये जाते थे। इस युग के लोगों के अभी तक किसी प्रकार का अन्न पैदा करना नहीं सीखा था। केवल कैस्पियन सागर के आस-पास के लोगों ने धनुष-बाण का प्रयोग करना सीख लिया था, अन्यत्र इसका प्रयोग नहीं होता था। विद्वानों का मत है कि इन लोगों के वंशज इस समय अन्दमान-निकोबार, मलाया प्रायद्वीप, फिलिपाइन्स और आस्ट्रेलिया के जंगलों और पहाड़ियों पर बहुत कम संख्या में मिलते हैं। विद्वानों की राय है कि पूर्व पाषाण-काल के लोग भारत के आदिम निवासी थे और वे द्रविड़ जाति के लोगों से पहले इस देश में रहते थे। मानव सभ्यता का यह प्रथम चरण था जहाँ मनुष्य का जीवन प्रायः पशुओं ही जैसा था। इस युग के लोगों का रंग बिल्कुल काला और कद छोटा होता था। उनके बदन पर काले सघन बाल होते थे। कुछ लोग अफ्रीका के हबशियों को उनकी ही सन्तान मानते हैं।

उत्तर पाषाण-युग—प्रथम युग के बाद सभ्यता के विकास के क्रम में मनुष्य एक कदम और आगे बढ़ा। कुछ लोगों की धारणा है कि 'उत्तर पाषाण युग' के मनुष्य पूर्व पाषाण युग के लोगों की सन्तान नहीं थे। इन दोनों युगों के विकास में अनेक सदियों का अन्तर था, पर इस विषय पर विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस युग के लोगों की सभ्यता और कला के चिन्हों के भग्नावशेष मद्रास के बेल्लारी जिले में पाये गये हैं। भारत के अन्य भागों में [illegible] नों की राय है कि इस युग के मनुष्य भारत में बाहर से आये और उन्होंने इससे पूर्व युग के मनुष्यों को पराजित कर अपना सिक्का यहाँ जमाया। मध्य प्रदेश के संथाल, कोल और मुण्डा जाती के लोग तथा अन्दमान द्वीप समूह के निवासी उन्हीं की सन्तान हैं। ये अभी तक जंगली अवस्था में ही रहते हैं। इस देश में ये दो जत्थों में आये। प्रथम दल कोल, भील, संथाल जाति के लोगों का था और दूसरे दल में वे लोग थे जिनकी संतान अन्दमान द्वीप-समूह, और आसाम के खासी जाति के मनुष्य हैं।

इस युग की दो विशेषताएँ थीं: (१) कृषि का ज्ञान होना और

(२) धनुष बाण के प्रयोग की जानकारी। इस युग में कृषि का प्रारम्भ और बीज का प्रयोग होने लगा था। साथ ही आखेट का भी पर्याप्त प्रचार था। धनुष-बाण के ज्ञान से उस युग के मनुष्य को अपने दुश्मनों और हिंसक पशुओं को मार भगाने तथा शिकार करने में अधिक सुविधा होने लगी थी। इसके अतिरिक्त उत्तर पाषाण काल के मनुष्य चमकदार औजार बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना, सोने-चाँदी का मुलम्मा चढ़ाना सीख गया था। पशु-पालन के लाभ से भी अब मनुष्य जानकार हो गया था और कुत्ता, भेड़, बकरी, सुअर तथा घोड़ा पालने की प्रथा चल पड़ी थी। दक्षिण भारत में इस युग के लोगों द्वारा बनाये मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं जिनसे मालूम होता है कि वे चाक का प्रयोग करना जानते थे। चिंगिलपुट, नील्लौर, तथा अर्काट के जिलों में पकी हुई कुछ ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो बगदाद में उसी समय की प्राप्त मूर्तियों के समान हैं। इससे अनुमान लगाया जाता है कि उस युग में भी भारत और बेबीलोन एवं असीरिया की सभ्यता में पर्याप्त समानता थी और उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध था। इनके पत्थर के हथियार भी अपेक्षाकृत अधिक चुस्त, तेज, कलात्मक और सुन्दर होते थे।

भोजन के लिए इस युग का मनुष्य केवल प्रकृति के सहारे ही नहीं रहता था। कृषि होती थी, यह निश्चित है; पर धातु के हल के प्रयोग होने का प्रमाण अभी तक हमें नहीं मिला है। लकड़ी के हल चलाये जाते थे और उसमें बैलों या घोड़ों का प्रयोग होता था। पूर्व पाषाण युग में मनुष्य इन पशुओं का शिकार करता था, और उन्हें अपना दुश्मन समझता था। पर इस युग में उसने यह अनुभव कर लिया कि ये पशु उनके सहायक मित्र और आज्ञाकारी अनुचर हो सकते हैं। मानव सभ्यता के विकास में यह अनुभव अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे युग-परिवर्तन को बहुत प्रोत्साहन मिला होगा।

इस युग की सभ्यता और जीवन-क्रम की मुख्य बातों में मछलियाँ पकड़ना, जलाशयों के किनारे रहना, आग की सहायता से भोजन पकाना, साधारण वस्त्र बुनना और पहनना, शृंगार करना और प्रकृति की पूजा करना मुख्य हैं। मिर्जापुर जिले में कुछ भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे अनुमान लगाया जाता है कि इस युग में लोग शव को गाड़ते थे और उन पर स्मारक बनाते थे।

कुछ शव-भस्म-पात्र भी उपलब्ध हुए हैं", जिससे यह कहा जा सकता है इस काल के उत्तरार्द्ध में शव जलाने की प्रथा भी चल निकली थी।

ये प्रकृति के उपासक थे। पत्थर, वृक्ष, सूर्य आदि की पूजा करते थे। उनमें उत्सव और धार्मिक संस्कार की प्रथा भी शुरू हुई थी और ऐसे अवसरों पर वे एक स्थान पर एकत्र होकर सामूहिक उत्सव मनाया करते थे। खेती करने के कारण उन्हें एक स्थान पर रहना पड़ता था जिससे उनमें सामाजिकता की भावना पैदा हो गयी थी। इसीलिए उन्होंने अपने पूर्वजों की पूजा भी शुरू कर दी थी। इस प्रकार के संगठित सामाजिक जीवन ने एक राजनैतिक संगठन को भी जन्म दिया और प्रत्येक कबीला अपने सर्दार की अध्यक्षता और नियंत्रण में रहकर अपनी रक्षा और दुश्मनों का सामना करना सीख गया था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं यह युग हमारी वर्तमान सभ्यता का बीज-स्वरूप था। "उन्होंने स्थायी जीवन का महत्व पर्याप्त मात्रा में समझ लिया था। कृषि, पशुपालन, बुनाई, मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, घर निर्माण की कला, धार्मिक विश्वास, मनोरंजन के उपाय के प्रयोग की विधि जिन्हें सभ्यता का प्रमुख अंग कहा जा सकता है, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पैदा हो चुके थे।" उन्हें धातुओं, लेखन कला तथा आधुनिक अर्थ में राज्य का ज्ञान नहीं था। यह सत्य है कि इन बातों के आविष्कार के अभाव में सभ्यता को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया था कि मनुष्य को अपनी परिस्थियों और प्रकृति को अपने अनुकूल बनाना है और इस मार्ग पर चलने से ही वह अपेक्षाकृत अधिक सुखी और शक्तिशाली हो सकता है। उसने आगे आनेवाली पीढ़ियों को यह सन्देश दिया कि उसे अपने विकास के लिए प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहना है, बल्कि उसको स्वयं भी प्रयास करना जरूरी है। मनुष्य ने कितने शताब्दियों में एक युग से दूसरे युग में प्रवेश किया होगा या एक युग की अवधि कितनी रही होगी, इसका तो केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

धातु-युग

पाषाण युग के उपरान्त एक नवीन सभ्यता के युग का उदय हुआ जो

'धातु-युग' के नाम से विख्यात है। विद्वानों का मत है कि पाषाण काल की अनेक सदियों के बाद इस युग का प्रारम्भ हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि इस युग के मनुष्य 'उत्तर पाषाण काल' के मनुष्यों की सन्तान हैं और कुछ अन्य विद्वान यह कहते हैं कि धातु युग के मनुष्यों ने भारत में उत्तर पश्चिम के रास्ते से प्रवेश किया और वे यहाँ में फैल गये। प्रथम विचार धारा के मानने वालों का दावा है कि उत्तर पाषाण काल की सभ्यता ने धीरे-धीरे विकास करके धातु काल की सभ्यता का रूप धारण कर लिया। अतः यह नवीन कदम पुरानी सभ्यता का रूपान्तर मात्र है।

धातु युग को तीन भागों में विभाजित गया है। प्रथम ताम्र काल, दूसरा कांस-काल और तीसरा लौह-काल है। भारत में द्वितीय काल का प्रादुर्भाव नहीं हुआ और प्रथम तथा तृतीय काल के ही चिन्ह यहाँ उपलब्ध हैं। इसमें भी दक्षिणी भारत एक कदम आगे रहा। वहाँ केवल लौह-काल ही की सभ्यता के चिन्ह प्राप्त होते हैं। पर उत्तरी भारत में पाषाण-काल के बाद के ताँबे के बने हुए कुल्हाड़ा, तलवार, भाले आदि मिले हैं। "मध्य भारत के गुनगेरिया नामक स्थान में, कानपुर, फतेहगढ़, मैनपुरी तथा मथुरा में ताँबे की तलवारें तथा भाले प्राप्त हुए हैं; अतएव यह स्पष्ट है कि उत्तरी भारत में पाषाण काल के उपरान्त ताम्रयुग का प्रारम्भ हुआ।" इसके बाद बहुत दिनों पश्चात यहाँ के लोगों ने लोहे का प्रयोग करना सीखा। अनुमानतः आज के लगभग पाँच या छः हजार वर्ष पूर्व इस युग का समय आँका जा सकता है।

"धातुओं का प्रचलन सभ्यता के विकास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम था क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य ने अपनी सृजनात्मक चिन्तन शक्ति का परिचय दिया। उन्हें पत्थर के औज़ारों को बनाने में किसी विशेष सोच विचार की आवश्यकता नहीं थी, यद्यपि ये औजार भी काफी महत्वपूर्ण थे, लेकिन धातुओं के औजार बनाने में उसे धातुओं के पिघलाने और औजारों का आकार निश्चित करने के लिए पहले से ही सोचना पड़ता था।" लोहे का प्रयोग सर्व प्रथम हिट्टाइट लोगों ने ही संसार को सिखाया। बाद में एसीरिया से लोहे का प्रयोग एशिया में फैल गया। लोहे के प्रयोग की उपयोगिता और उसका महत्व आज की दुनियाँ में भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। अतः धातु कालीन सभ्यता को ही इन आधुनिक सभ्यता का श्रीगणेश काल कह सकते हैं।

धातुयुग के मनुष्य कौन थे ? कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि इस युग के लोग उसी वंश के थे जिस वंश के मनुष्य दक्षिण के द्रविण और मेसोपोटामिया के सुमेरियन थे। इन लोगों ने लगभग आज से ६ हजार वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम के मार्गों से भारत में प्रवेश किया और पहले सिन्धु की घाटी में बस गये। इसके विपरीत कुछ अन्य इतिहासकारों का कहना है कि इस युग के मनुष्य दक्षिण से आये और धीरे धीरे उत्तरी भारत में फैल गये। इस सम्बन्ध में अभी तक अन्तिम रूप से कोई निश्चित मत नहीं बन पाया है। भाषा की समानता को आधार बना कर कुछ इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि या तो धातुयुग के मनुष्य और द्रविड़ सभ्यता के मूल संचालकों में कोई अन्तर नहीं था और ये दोनों एक ही मानव वंश के वंशज थे या एक दूसरा अनुमान यह भी है कि धातु युग के मनुष्यों को द्रविड़ वंश के लोगों ने जीत लिया हो और अपनी श्रेष्ठतर सभ्यता में धातुयुग के मनुष्य को समेटकर अपने में मिला लिया हो। यह सच है कि आज कुछ ऐसे लोग भी द्रविड़ भाषाओं को अपनाये हुए हैं जो वास्तव में उस जाति के नहीं हैं।

कोल वंश

भारतीय आर्यों को इस देश पर अधिकार करने के लिए जिन जातियों के साथ युद्ध करना पड़ा था, उनमें दो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उनमें से एक का नाम कोल और दूसरी का नाम द्रविड़ है। कुछ विद्वानों की राय में 'कोल' भारत के मूल निवासी हैं। वे कहीं बाहर से नहीं आये। पर अधिकांश विद्वानों का अनुमान है कि कोल जाति के लोग भारत में हिमालय के उत्तर-पूर्व के दर्रों से आये थे। उनके रीति-रिवाज और मार्ग के चिन्हों से यही प्रमाण मिलता है कि ये बाहर से आकर उस देश में बस गये। इनके बाद द्रविड़ जाति के लोग यहाँ आये और कोल वंश के लोगों को पहाड़ों, जंगलों एवं अन्य दुर्गम स्थानों में मार भगाया।

कोल जाति के लोग अनेक वर्गों और शाखाओं में विभाजित थे। उनमें से कुछ नितान्त बर्बर और जंगली थे और कुछ सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था की ओर अग्रसर हो रहे थे। "दक्षिणी मद्रास में अनामली के पहाड़ी प्रदेश के निवासी, मालाबार के पानियन और आसाम के अकास तथा उड़ीसा की

पहाड़ियों में रहने वाले असभ्य लोग इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी तुलना में बंगाल के संथाल और उड़ीसा के गोंड लोग अधिक सभ्य और उन्नत हैं।" प्रथम वर्ग के लोग अपना शरीर पेड़ों की पत्तियों से ढकते हैं। ये कद में नाटे और रंग में काले होते थे। इनकी नाक चिपटी होती थी।

कोल जाति के वंशज जो आज इस देश में पाये जाते हैं, सभ्यता और प्रगति की दृष्टि से अपने पूर्व पुरुषों से कुछ भी आगे नहीं बढ़ सके हैं। उनकी प्रथाएँ, रीति-रिवाज, तथा सामाजिक संगठन अतीत काल से ज्यों का त्यों बना हुआ है। ये गाँवों में गिरोह बना कर रहते थे। सब मिलकर साथ-साथ शिकार और भोजन करते थे। व्यवस्था के लिए उन्होंने अपने तथा गिरोह के लिए नियम या कानून बनाये। किसी व्यक्ति को बड़े अपराध के लिए गाँव के बाहर निकालने का दण्ड दिया जाता था। छोटे अपराधों के लिए जुर्माना करने की व्यवस्था थी। उस जुर्माना से गाँव में सबको दावत दी जाती थी। वे भूत-प्रेत की पूजा करते थे। प्रत्येक बिरादरी और समूह का एक अपना देवता होता था। पूजा में वे अपने देवता को रोटी, दूध, शहद और छोटे पशु चढ़ाते थे। उनका विश्वास था कि भूत-प्रेत और उनके इष्टदेव देवता बड़े और पुराने पेड़ों पर रहते हैं। आज भी ये एकान्त-प्रिय जीवन व्यतीत करना पसन्द करते हैं। अपरिचित व्यक्तियों से ये दूर रहना चाहते हैं।

इनकी भाषा 'मुण्डा' है। यह भाषा 'आस्ट्रिक परिवार' की है और आर्य परिवार की भाषाओं से सर्वथा भिन्न है। इस भाषा के बोलने वाले अधिकतर पश्चिमी बंगाल की पहाड़ियों में, मध्य प्रान्त तथा छोटा नागपुर में पाये जाते हैं। बिहार, बंगाल, उड़ीसा के आधुनिक संथाल इनकी संतान हैं। आज कल इनकी संख्या लगभग ३० लाख है। "आज भारत के इतिहास में इनका स्थान भले ही गौण हो, पर इस देश के पिछले इतिहास में उनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था।" इस बिरादरी के अन्य कुछ लोग सिंहल, निकोबार, आसाम, जावा-सुमात्रा और बर्मा में पाये जाते हैं।

भारतीय कोल जाति के लोगों से ईसाई पादरियों ने बहुत दिनों से अपना सम्पर्क बना रक्खा है। उन्होंने उनके क्षेत्रों में बहुत काम किया है। अधिकांश

बस्तियों में जाकर ईसाइयों ने उन्हें अपने धर्म में दीक्षित कर लिया है। इस कार्य से आधुनिक भारत में एक पेचीदी राजनीतिक समस्या पैदा होने की आशंका हो रही है।

द्रविड़ जाति और उनकी सभ्यता

द्रविड़ कौन थे?—धातु कालीन सभ्यता के युग में एक जाति जो द्रविड़ नाम से विख्यात है, बड़ी सभ्य और सुसंस्कृत थी। "द्रविड़ सम्भवतः भारत की प्राचीनतम सभ्य जाति के थे।" आज दक्षिण भारत में आंध्र, मद्रास, हैदराबाद के कुछ हिस्से और ट्रावनकोर-कोचीन में लगभग ७ करोड़ व्यक्ति रहते हैं। ये सब द्रविड़ जाति के वंशज हैं। भारत में आर्यों के वंशजों के बाद संख्या में द्रविड़ों ही का स्थान है। आर्यों के आगमन के पूर्व इस देश में द्रविड़ लोगों का प्रभाव था। वे उस समय भारत के प्रायः हर भाग के फैले हुए थे। आजकल देश में दक्षिणी भाग पर इसकी आबादी है। उनकी प्रधानता के कारण उस भाग को द्राविड़ देश भी कहा है।

द्रविड़ों का मूल स्थान—द्रविड़ जाति के मूल पुरुषों के मूल स्थान के विषय में अभी तक विद्वानों ने एक निश्चित मत स्थिर नहीं किया है। विद्वानों का एक समुदाय कहता है कि "द्रविड़ भारत के ही प्राचीन निवासियों की सन्तान हैं जो कालान्तर में सभ्यता की ऊँची चोटी पर पहुँच गये।" इस मत के अनुसार इनका मूल स्थान दक्षिण भारत ही था। वहीं से ये उत्तरी भारत में फैले थे। बाद को आर्यों ने इन्हें पुनः दबा कर दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। परन्तु एक दूसरा मत भी इतना ही प्रबल है। इस दल के विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि द्रविड़ों ने पश्चिमी एशिया से भारत में उत्तर-पश्चिम के मार्ग से प्रवेश किया। बिलोचिस्तान में एक 'ब्राहूई' बोली अब तक प्रचलित है जो द्रविड़ भाषाओं से बहुत मिलती जुलती है। अतः इस वर्ग के विद्वान कहते हैं कि द्रविड़ पश्चिमी एशिया के सुमेर जाति के वंशज हैं और वहीं से बिलोचिस्तान होते हुए उन्होंने लगभग ई० पू० ३००० से भी पहले भारत से प्रवेश किया। पर यह भी दलील दी जा सकती है कि द्रविड़ों की कोई शाखा किसी कारण से बिलोचिस्तान की ओर

बढ़कर आबाद हो गयी हो। इस प्रकार द्रविड़ों के मूल स्थान के विषय में आज भी मतभेद बना हुआ है। जो भी हो, यह बात निर्विवाद है कि दक्षिण और उत्तर भारत में दोनों ही भागों में एक समय उनकी संख्या अधिक थी और आज वे दक्षिण भारत में ही सीमित रह गये हैं।

द्रविड़-सभ्यता—कहा जाता है कि द्रविड़-सभ्यता आर्यों की सभ्यता से भी बढ़ी-चढ़ी थी। आर्य-ग्रंथों में द्रविड़ों के लिए बड़े भद्दे शब्दों के प्रयोग किये गये हैं। उन्हें 'दस्यु, राक्षस और दानव' कह कर पुकारा गया है। उन्हें 'काले वर्ण' और 'चपटी नाक' वाला बता कर घृणा के भाव से सम्बोधित किया गया है। काला वर्ण और बदसूरत होने पर भी द्रविड़ सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में आर्यों से पीछे नहीं थे। "आर्यों के द्रविड़ों का इतनी घृणा और उपेक्षा के साथ वर्णन करने का कारण सम्भवतः यही है कि उन्हें द्रविड़ों से निरन्तर कदम-कदम पर संघर्ष करना पड़ता था। गहरे संघर्ष के बाद ही आर्य आगे बढ़ पाते थे।" आर्यों ने इन्हें परास्त किया और ये दक्षिण की ओर बढ़कर एकत्रित हो गये।

द्रविड़-सभ्यता बहुत ऊँची थी। वे धातुओं का प्रयोग करना जानते थे। उनके बर्तन बहुत सुन्दर और कलात्मक होते थे। भारत में सर्व प्रथम इन्होंने ही सिंचाई करना सीखा था। उनके खेती करने का ढंग भी बहुत अच्छा था। सभ्यता के इतिहास में सम्भवतः द्रविड़ पहली जाति थी जिन्होंने नदियों पर बाँध बनाकर सिंचाई की व्यवस्था की थी। ये व्यापार में भी कुशल थे। नावों में ये सागौन, टीक, चावल, बारीक कपड़े, मोर लेकर फारस, मैसोपोटामिया तथा एशिया माइनर को जाते थे। आस-पास के द्वीपों में इन्होंने अपने उपनिवेश बसाये थे।

अधिकांश व्यक्ति गावों में रहते थे। शहर बसाना भी उन्हें मालूम था। धीरे धीरे उन्होंने अपना जीवन शहरी रंग-ढंग पर मोड़ लिया था। प्रारम्भ से ही द्रविड़ शान्ति-प्रिय थे। इसलिए उन्हें आर्यों के सामने झुकना पड़ा। पर सभ्यता में अधिक प्रगतिशील होने के कारण द्रविड़ सभ्यता का आर्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा। द्रविड़ों में कोई जाति-प्रथा नहीं थी। धर्म-शिक्षा, गुरु बनाने का प्रचार, एक ईश्वर में विश्वास और जाति-भेद आदि

बातों को द्रविड़ों ने आर्यों से प्रभावित होकर अपनाया था। ये सब बातें मूलतः उनकी सभ्यता में नहीं थी। आर्यों के ऋग्वेद में इसका उल्लेख मिलता है कि द्रविड़ 'शिश्नदेवा' थे अर्थात् लिंग और शेष (नाग) की पूजा करते थे। नाग-पूजा के विषय में विद्वानों ने पक्ष-विपक्ष में बहुत तर्क-वितर्क किये हैं। लेकिन इधर जो खोज हुई है उससे इस विचार की पुष्टि होती है कि द्रविड़ नाग-पूजक थे। उन्हीं से आर्यों में भी नाग-पूजा की प्रथा चल पड़ी। उनका समाज मा-तृ-प्रधान (मातृक) था। सम्पत्ति और उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम स्त्रियों के पक्ष में थे। "उनमें चचेरे भाई बहन में विवाह हो सकता था, यह प्रथा इनमें अब भी प्रचलित है।" इनकी राजनैतिक व्यवस्था राजतंत्र थी। इनकी भाषा और लिपि अपनी थी। द्रविड़ों की भाषा का निश्चित नाता-रिश्ता भारत के बाहर किसी भाषा से अभी तक प्रामाणिक रूप से निश्चित नहीं हो पाया है। आजकल मुख्य रूप से तामिल, कन्नड़, मलयालम और तेलुगु भाषाएँ इस परिवार में अन्तर्गत आती हैं। इनकी भाषा, साहित्य और लिपि विकसित और पृथक थी। द्रविड़-भाषाओं की लिपि सेमेटिक भाषा की लिपि से सम्बन्धित है और आर्य भाषा की लिपि (नागरी लिपि) से इसका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। बाद को द्रविड़-साहित्य पर आर्य-साहित्य का प्रभाव पड़ा और उन्होंने आर्यों की साहित्य सामग्री अपनायी। द्रविड़ लोगों ने इस देश में सब से पहले सोना, मोती तथा सूती कपड़े का प्रयोग करना सीखा था।

द्रविड़ों के अस्त्र-शस्त्र आर्यों से अच्छे नहीं थे। इसीलिए वे आर्यों द्वारा पराजित हुए। आर्यों से वे अनेक मामलों में भिन्न थे। आर्य लम्बे, गोरे और सुन्दर थे; द्रविड़ काले, भद्दे और चपटी नाक वाले थे। द्रविड़ समाज मातृक था और आर्य समाज पैतृक था। दोनों के सामाजिक नियम भी भिन्न थे। आर्यों में वर्ण-व्यवस्था थी, पर द्रविड़ इससे अनभिज्ञ थे। आज भी उनमें क्षत्रिय और वैश्य वर्ण नहीं हैं। दोनों की भाषा और लिपि भी एक-दूसरे से भिन्न थी। द्रविड़ लोग धर्म में भी आर्यों से भिन्न थे। वे भूत-प्रेत, नाग की पूजा करते थे और आर्य कल्याणकारी सर्वशक्तिमान परमात्मा में विश्वास रखते थे। आर्य भूमि पर निवास करना अधिक पसन्द थे और द्रविड़ों को समुद्री जीवन अधिक प्रिय था। द्रविड़ों को लिखने की कला आर्यों से पहले मालूम थी। इन

विभिन्नताओं के होते हुए भी आर्यों और द्रविड़ों का सम्पर्क बढ़ा। पहले युद्ध में और पुनः सांस्कृतिक क्षेत्र में इनका आमना-सामना हुआ।

दो सभ्यताओं के पारस्परिक सहयोग और सम्पर्क का जैसा अच्छा उदाहरण यहाँ मिलता है, वैसा स्पष्ट आदान-प्रदान अन्यत्र कम देखने में आता है। फिर भी दोनों में अभी पर्याप्त विभेद और पार्थक्य है। स्वतंत्र भारत को इस पार्थक्य को समक्ष रखकर बहुत सतर्कता से भारतीय राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट करने की समस्या हल करनी है।

तीसरा परिच्छेद

सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा अन्य समकालीन सभ्यताएँ

कुछ दिनों पूर्व तक भारत का क्रमबद्ध प्राचीन इतिहास में अधिक से अधिक वैदिक काल तक ही माना जाताथा। उसके पूर्व का इतिहास अन्धकारमय था और अन्य कतिपय देशों की ऐतिहासिक घटानाओं की विकास-शृङ्खला को देखने और समीक्षा करने पर भारत के इतिहास की एक कड़ी टूटी हुई जान पड़ती थी। ईरान में दजला तथा फरात नदियों की घाटी की सभ्यता, मिश्र में नील नदी की घाटी की प्राचीन सभ्यता और बेबीलोनिया तथा असीरिया की प्राचीन सभ्यता की जो कड़ी मानव-विकास की प्रगति के चिन्ह के रूप में पायी गयी थी, उसका अभाव भारतीय सभ्यता के इतिहास में एक पहेली-सी बनी थी। पर सन १९२१ में पुरातत्व विज्ञान के कुछ विद्वानों ने प्रयास कर सिन्ध प्रान्त में हड़प्पा और मोहन्जोदारो के प्राचीन स्थानों की खुदाई करायी और सौभाग्य के उनका प्रयास सफल हुआ। सभ्यता और सामाजिक जीवन का ऊषा काल नदियों की घाटियों में ही प्रारम्भ हुआ क्योंकि मनुष्य ने सर्व प्रथम अपने स्थायी निवास के लिए नदी का किनारा ही चुना। उस अतीत काल में नदी के किनारे जो सुविधाएँ प्राप्त थीं, उनका उपलब्ध होना अन्यत्र सम्भव नहीं था। वहाँ उनके जीवन की आवश्यकताएँ सरलता से पूरी हो सकती थीं। उनको अपने लिए तथा पशुओं के लिए चारा, पानी, अन्न तथा विस्तृत मैदान नदियों के किनारे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। वहाँ, नौकाओं द्वारा उन्हें यातायात और व्यापार की सुविधा मिली। इसीलिए मनुष्य ने शिकारियों का जीवन त्यागकर, पहाड़ियों तथा गुफाओं में रहना छोड़कर नदियों के किनारे रहना पसन्द किया। वहीं उनके व्यवस्थित सामाजिक जीवन का सूत्रपात हुआ। इन्हीं स्थानों पर पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ने लगी और मनुष्य के सभ्य जीवन का श्री गणेश

हुआ। यही कारण था कि विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ दजला, फरात, नील, सिन्धु और यांगटीसीक्यांग तथा ह्वांगहो की घाटियों में उत्पन्न हुई और फलीं फूलीं।

सिंधु घाटी की सभ्यता का स्थान—उत्तर भारत की तीन प्रसिद्ध बड़ी नदियों में एक सिन्धु नदी है। यह नदी हिमालय से निकलकर काश्मीर और पंजाब में बहती हुई सिंध प्रान्त में पहुँचती है। सिन्ध में इसी नदी के किनारे लारकाना जिले में मोहेनजोदड़ो का प्राचीन स्थान है। हड़प्पा मांटगोमरी पंजाब में जिले में एक रेलवे स्टेशन है। मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा के बीच लगभग ४०० मील की दूरी है। इसी के आस-पास कुछ उपयुक्त स्थानों पर खुदाई हुई और उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पंजाब की नदियों की घाटियाँ एक समय अति प्राचीनकाल में सभ्यता की जननी थी। सन् १६२२ ई० में स्वर्गीय श्री राखाल दास बनर्जी* की देखरेख में इन स्थानों की खुदाई शुरू हुई थी। कुछ ही दिनों के बाद वहाँ जो भग्नावशेष के रूप में सामग्रियाँ प्राप्त हुईं, उनकी परीक्षा के पश्चात इतिहासकार और पुरातत्व विशारद चकित हो गये और खुदाई का काम और तत्परता तथा तेजी से आगे बढ़ाया गया। अन्य स्थानों की खुदाई से यही मालूम पड़ता है कि इस सभ्यता का क्षेत्र विस्तृत था और उसके दायरे में पंजाब, सिंध तथा बलूचिस्तान का अधिकांश भाग शामिल था। विद्वानों का मत था कि भारत की प्राचीनतम सभ्यता वैदिक आर्यों की सभ्यता थी। उस सभ्यता का समय ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व माना जाता है। पर अब सिन्धु नदी की घाटी के इन प्राचीन स्थानों के खण्डहरों की खुदाई के बाद भारतीय सभ्यता का काल ईसा से लगभग ५००० वर्ष पूर्व सिद्ध हो गया है। डाक्टर दीक्षित के मतानुसार यह सभ्यता केवल एक दो नगरों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि यह राजपूताना, काठियावाड़, पंजाब और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तक फैली थी। इस सभ्यता के खण्डहर अधिकतर सिन्धु नदी के घाटी में मिले हैं, अतः इस सिन्धु नदी की घाटी भी सभ्यता (सैंधव सभ्यता) का नाम दिया गया है।

---

*भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के तत्कालीन सुपरिन्टेन्डेन्ट।

मोहनजोदड़ो के भग्नावशेष—"मोहिनजो-दड़ो को वहाँ के निवासी सदियों से इस नाम से ही जानते हैं। मोहेनजो-देड़ो का अर्थ है—"शवों की ढेरी।" वहाँ के रहने वालों को क्या पता था कि मोहेन-जो-देड़ो वास्तव में शवों की ढेरी है और उसके टीले एक अद्भुत सभ्यता के पर्यावसान पर समाधि की भाँति खड़े हैं। सभ्यता की चहल-पहल से थिरकता हुआ यह नगर कब और क्यों ध्वस्त हुआ, यह समझना आज भी कठिन है।" भूकम्प, बाढ़, सिन्धु नदी की धारा का परिवर्तित होना, जल वायु का परिवर्तन, भयानक विदेशी आक्रमण या इसी प्रकार का कोई अन्य कारण इस सभ्यता के विनाश का कारण रहा होगा। पर पुरातत्व विभाग की देखरेख में खुदाई होने के बाद यह पता चलता है कि इस स्थान में सैकड़ों वर्षों तक आबादी रही है। यहाँ कभी एक समृद्ध नगर रहा है, वहाँ राजमार्ग, चौड़ी सड़कें, कई मंजिले मकान, खिड़कियाँ, रोशनदान, स्नानगार, कुएँ, नालियाँ तथा सभ्य और समुन्नत जीवन के लिए अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं।

नगर-निर्माण की कला—मोहेनजो-दड़ो और उससे सम्बन्धित अन्य स्थानों की खुदाई से पता चलता है कि सिन्धु नदी की घाटी की सभ्यता नगरों की सभ्यता थी। इस सभ्यता का मुख्य केन्द्र-स्थल एक विशाल नगर था। उसके भग्नावशेष की जाँच से अनुमान लगाया जाता है कि उस युग में भी विशाल और अर्वाचीन पद्धति के नगर-निर्माण की कला से मनुष्य अवगत थे। उनका नागरिक जीवन बड़ा ही भव्य और समृद्ध था। सारे नगर में लम्बी चौड़ी सड़कें थीं। सड़कें तथा गलियाँ एक दूसरे को सीधी काटती थीं। सड़कों के किनारे सुन्दर नालियाँ थीं और उसके बाद विशाल भवन निर्मित थे। नागरिकों की सुविधा के लिए एक विशाल स्नानगार का खाका भी खुदाई में मिला है। यह स्नानगार की बनावट चौकोर थी और उसके चारों ओर बरामदे और कमरे बने थे। एक स्नानगार की लम्बाई ३९ फीट, चौड़ाई २३ फीट और गहराई ८ फीट थी। इस कुण्ड में नल द्वारा पानी पहुँचाने और उससे बहार निकाने की अच्छी व्यवस्था थी। एक बड़े स्नानगार की लम्बाई १८० फीट और चौड़ाई १०८ फीट पायी गयी थी। उसकी बाहरी दीवाल लगभग ८ फीट मोटी थी।

मकानों का निर्माण भी सम्भवतः **योजनानुसार** होता था। मकान ईंट से बनते थे। बीच में एक आँगन (court yard) होता था। कूड़ा रखने के स्थान भी प्रत्येक मकान में बने थे। मकानों की एक भी खिड़की या दरवाजा प्रमुख सड़क की ओर नहीं खुलता था। सार्वजनिक स्नानगार को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि उस समय के लोग विशेष स्वच्छता के प्रेमी थे या उनके लिए स्नान करना एक धार्मिक कृत्य माना गया था। मकान अच्छी पकी ईंटों के बनाये जाते थे। पकाई हुई ईंटों का प्रयोग शायद प्रथम बार इसी सभ्यता के युग के लोगों ने किया था, अन्यत्र नहीं। इन सब बातों की समीक्षा करते हुए प्रसिद्ध विद्वान गार्डन चाइल्ड ने लिखा है कि "गलियों की सुन्दर पंक्तियाँ और नलियों का उत्तम प्रबन्ध और उनकी सतत् सफाई इस बात का संकेत करती है कि यहाँ एक निश्चित नगर-शासन की व्यवस्था थी और उसका काम बड़ी सावधानी से होता था *।"

व्यवसाय—मोहनजोदड़ो नगर के खण्डहर इस बात के द्योतक हैं कि वहाँ के लोग धनी थे और उनका जीवन सुखी था। वह स्थान आज-कल की तरह शुष्क और रेतीला नहीं था। वहाँ अच्छी वर्षा होती थी, इसके प्रमाण वहाँ की नलियाँ हैं। वर्षा की सुविधा के कारण उस प्रदेश में अच्छी खेती होती रही होगी। वहाँ गेहूँ और जौ की पैदावार अच्छी थी। इसके नमूने वहाँ की खुदाई में मिले हैं। खेती के लिए हल का प्रयोग होता था या नहीं, इसका प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। इनके बर्तनों और चित्रों में बने हुए पशुओं की आकृति देखने से पता चलता है कि ये बैल, गाय, हाथी, सूअर, घोड़े, भेड़, कुत्ते पालते थे। इनके घरों में भेड़ों, चिड़ियों और मछलियों की अधजली हड्डियाँ पायी गयी हैं। अन्य चित्रों से यह भी पता चलता है कि ये लोग गेंडा, चीता, भालू, बन्दर और खरगोस आदि पशुओं से परिचित थे। अतः यह निश्चित है ये लोग **खेती और पशुपालन** का काम करते थे।

कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त वहाँ के लोग **व्यापार** भी अधिक करते थे। प्रो० मार्शल की राय है कि सोना, चाँदी और शीशा तथा ताम्बा आदि

***What Happened in History,* Page 127, *by* V. Gordorn Childe.

धातुएँ या तो खानों से निकाली जाती थीं या ये चीजें अफगानिस्तान और फारस मँगायी जाती थीं। सड़कों और गलियों के किनारे बने मकानों से पता चलता है कि उनमें दुकानें थीं और व्यापार का काम होता था। ये लोग दूर देशों के साथ व्यापार भी करते थे। प्रोफेसर चाल्इड का कहना है कि "सिन्धु घाटी की नगरों की बनी हुई वस्तुएँ दजला और फरात नदियों की घाटी के बजारों में बिकती थीं और उधर सुमेरीय तथा मैसोपोटामिया के शृङ्गार सामान और मुहरों की नकल सिन्धु घाटी के लोगों ने किया। व्यापार विलास और शृङ्गार की वस्तुओं तक ही सीमित नहीं था। अरब सागर के तटों से लायी गई मछलियाँ मोहेन-जो-देड़ों के निवासियों की भोज्य-वस्तुओं में शामिल थीं। इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट हो जाता है कि सिन्धु घाटी के प्राचीन नगरों में शिल्पी बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे।" इनके बड़े गोदामों के खण्डहर इस बात के द्योतक हैं कि यहाँ व्यापार बड़े पैमाने पर होता था।

व्यापार के अतिरिक्त अन्य उद्योग-धन्धे भी होते थे। तरह तरह के विलास तथा शृङ्गार के सामान यहाँ तैयार करते थे। आभूषण का निर्माण, बर्तन तैयार करने का काम, राजगिरी का काम, बढ़ई तथा लुहार का काम, कपड़ा बुनने, सूत कातने, पत्थर काटने, चित्र बनाने का काम, अस्त्र-शस्त्र तैयार करना, मूर्ति बनाना आदि उस युग के मनुष्य अच्छी तरह जानते थे।

इन बातों से स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी के लोग उस सुदूर अतीत काल में व्यस्त जीवन व्यतीत करते थे। मोहेनजो-देड़ों कभी सम्पन्न और समृद्ध नगर था। लोगों की प्रतिभा और कार्य-क्षेत्र बहुमुखी था और जीवन साधन-सम्पन्न था।

कला—इस युग की कला के विषय में तत्कालीन सामग्री के उत्खनन से पता चलता है कि उन्होंने अपने मकानों को सुडौल और सुन्दर बनाया था। यहाँ मूर्तियाँ कम संख्या में मिली हैं पर वे सब सुन्दर और कलात्मक ढंग से बनायी गयी हैं। सर जान मार्शल की राय है कि इन मूर्तियों की बनावट पर "चौथी सदी का यूनान भी अभिमान किये होता।" इस युग की मूर्तियों में

भारतीय भावाभिव्यक्ति और आध्यात्मिकता का अच्छा प्रदर्शन तथा समावेश किया गया है। "यहाँ एक नर्तकी की मूर्त्ति नृत्य-मुद्रा में है। यह नर्तन करने के लिए त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी है और पद-प्रक्षेप करना चाहती है। इस मूर्ति की सजीवता और कलात्मक भाव सराहनीय है।" मुहरों और खिलौनों पर अंकित मूर्तियाँ भी पुष्ट तथा स्पष्ट हैं। यहाँ की चीनी मिट्टी की बनी पशुओं की मूर्तियाँ, बैलों की नक्काशी का सुडौलपन तथा निर्माण-कौशल निराला है। उस समय की अन्य किसी सभ्यता में यह कौशल दृष्टिगोचर नहीं होता है। मूर्तियों से यह भी पता चलता है कि उस समय के लोग संगीत का भी शौक रखते थे। छोटी सींग और कूबड़ वाले साँड़ की मूर्ति अपनी कलात्मक क्षेत्र में अद्वितीय समझी जाती है। "सिन्धु घाटी के निवासी (उस अतीत युग में) रेखा और वर्ग की चातुरी तथा अवयव रेखांकन में अपना सानी नहीं रखते थे। आश्चर्य है कि सभ्यता के आरम्भ में ही तक्षण और रेखांकन में इतनी सिद्धि किस प्रकार सैन्धवों को प्राप्त हो गयी!"

भोजन, वस्त्र और आभूषण—सिन्धु घाटी की सभ्यता के मनुष्यों ने अन्न और माँस दोनों का समावेश अपने भोजन में किया था। गेहूँ और जौ के नमूने तो वहाँ प्राप्त हैं और मृतकों के साथ कब्र में रखे हुए सामान के साथ ऐसी चीजें मिली हैं जो प्रमाणित करती हैं कि वे माँस भी खाते थे। खजूर तथा कुछ अन्य सूखे मेवे का भी प्रयोग होता था। उस समय के चित्रों में बैलों तथा साँड़ों की अधिकता है, अतः यह मालूम होता है कि गाय के दूध का भी प्रयोग होता था।

पुरुष वर्ग में एक लम्बे शाल या चादर के प्रयोग की प्रथा थी जिसे वे बाँयें कंधे के ऊपर और दाहिनी भुजा के नीचे रख कर पहनते थे। सूती वस्त्र का प्रयोग अधिक होता था क्योंकि मोहेनजो-देड़ो के घर-घर में सूत लपेटने-वाली चीजें प्राप्त हुई हैं। बालों को सवारने के लिए उन दिनों कंघी का भी प्रयोग होता था। स्त्रियों के वस्त्र के विषय में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है।

सिन्धु घाटी के निवासियों में आभूषण-प्रेम अधिक दीख पड़ता है। स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। गले के हार, कान के गहने, पैर में कड़े

और करधनी की प्रथा अधिक थी। धनी अपने आभूषण सोने-चाँदी, हाथी दाँत, पन्ना आदि के बनवाते थे और गरीब ताँबे तथा अन्य सस्ती चीजों से अपने आभूषण बनवाते थे।

अस्त्र-शस्त्र—उत्खनन के फल-स्वरूप प्राप्त हथियारों में गदा, फरसा, कटार, भाला, धनुषबाण, और पत्थर फेंकने वालों फन्दों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पर धनुष-बाण के भग्न चिन्ह बहुत कम मिले हैं। तलवार का कोई चिन्ह अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। ढाल, कवच आदि के भी कोई संकेत नहीं प्राप्त हुए हैं। इससे मालूम होता है कि इस घाटी के मनुष्य इन हथियारों का प्रयोग शिकार के लिए या आक्रमण के लिए ही करते थे क्योंकि रक्षा के हथियारों का प्रायः अभाव ही है।

लेखन कला—इस युग की प्राप्त सामग्री में अभी तक कोई ऐसी चीज नहीं प्राप्त हुई है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वहाँ के निवासी लिखने की कला से भिज्ञ थे। उनकी मुहरों, पात्रों तथा चित्रों में केवल पशु की तथा अन्य प्रकार की आकृतियाँ ही देखने को मिलती हैं। लगभग ५०० मुहरें (सील) प्राप्त हुई हैं जिन पर कुछ चित्रवत लिखा हुआ है। हो सकता है कि उस समय के लोगों के लिखने का ढंग कुछ इसी प्रकार का हो। पर अभी तक किसी ने इन्हें पढ़ने और समझने में सफलता नहीं प्राप्त की है। इसने विद्वानों के समक्ष एक कठिन पहेली उपस्थित कर दी है। कुछ लोगों का मत है कि इनमें पहली पंक्ति में लिखावट दाहिनी ओर से बायीं ओर है और दूसरी पंक्ति में बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखी गयी है। आगे इसी प्रकार क्रम बदलता गया है। पर यह तो निश्चित है कि इस लिखावट का आर्य लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं था।

मृतक संस्कार—शव विसर्जन का ढंग इस सभ्यता के लोगों में एक-सा नहीं था। उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि कभी कभी वे मृतक को जमीन के नीचे गाड़ देते थे, कभी उसे फेंक देते थे और पशु-पक्षियों के खाने के बाद जो अस्थि-पंजर बच जाता था, उसे जलाते थे और कभी कभी शव को जलाकर राख को जमीन में गाड़ देते थे। अतः

अनुमान किया जाता है कि उस समय मृतक संस्कार के लिए तीन प्रकार की विधियाँ प्रचलित थीं। मोहनजो-दड़ो में क़ब्र की तरह कोई निशानी नहीं मिली है, पर हड़प्पा में ऐसी चीज़ें प्राप्त हुई हैं जिनसे अनुमान किया जाता है कि वहाँ क़ब्र में मृतक को गाड़ने की प्रथा थी। विद्वानों का अनुमान है कि सिंधु सभ्यता के दिनों में शव को जलाकर भस्म को दफनाने की प्रथा अधिक प्रचलित थी। "भस्म, अस्थि और कोयले से भरे समाधि-कलश" इस प्रथा के प्रचलित होने के प्रमाण हैं।

धर्म—उस समय की मूर्तियों, सीलों (मुहरों) और चित्रों को देखकर तत्कालीन धर्म के विषय में अनुमान लगाया जाता है कि इस घाटी के लोगों में मातृ-देवी या प्रकृति देवी की पूजा की प्रथा प्रचलित थी। साथ ही एक ऐसी मूर्ति प्राप्त हुई है जो पुरुष की है और उसे 'त्रिमुखी लाक्षणिक मूर्ति' कह सकते हैं। यह देवता योग-मुद्रा में बैठा है। इसके दोनों ओर पशुओं के चित्र हैं। अनुमान किया जाता है कि यही आज के शिव का प्रारूप था और उसे 'पशुपति' कह सकते हैं। कुछ प्राप्त सामग्री के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उस युग में लिंग और योनि प्रतिमाओं की पूजा होती थी। इसके अतिरिक्त वृक्ष-पूजा और पशु-पूजा के चिन्ह भी प्राप्त हुए हैं। यदि ये सब अनुमान ठीक हैं तो निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म की अनेक प्रथाओं का मूल सिंधु-घाटी की सभ्यता से ही शुरू होता है। और हमारी आज की बहुत-सी प्रथाएँ और रीति रिवाज उसी सभ्यता की देन के रूप में हैं।

सिंधु-घाटी की सभ्यता के निर्माता कौन थे?—मोहनजो-दड़ो और उसी सभ्यता से पले अन्य स्थानों में जो अस्थियाँ और मानव चित्र प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन हो जाता है कि इस सभ्यता के निर्माता कौन थे। इस सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। कुछ इन्हें आर्यों के ही पूर्वज मानते हैं पर अब उस मत का अच्छी तरह खण्डन हो चुका है। कुछ अन्य विद्वानों का अनुमान है कि ये सुमेर-निवासियों के जाति के हैं। सिंधु-घाटी और सुमेर-निवासियों की अनेक वस्तुओं की समानता दिखाकर इस विचार के पक्ष में दलील दी जाती है। पर यह मत

भी निश्चयात्मक नहीं है। अभी तक यह मत अधिक दृढ़ माना जाता है कि इस सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे और आर्यों ने इन्हें नष्ट किया था। किस प्रकार इस सभ्यता का अन्त हुआ, इस प्रश्न के उत्तर में अभी अनेक प्रकार की अटकलबाजियाँ लगायी जाती हैं।

यह बात विशेष रूप से विचारणीय है कि आर्य सभ्यता प्रारंभ में ग्रामीण सभ्यता थी, पर सिंधु घाटी की सभ्यता नगरों की सभ्यता थी। ये लोग पक्की ईंटों से विशाल मकान तथा पूर्व नियोजित नगर का निर्माण करते थे। अस्त्र-शस्त्र में भी इन दोनों सभ्यताओं में अन्तर था। वैदिक आर्य स्व-रक्षार्थ हथियारों (शिरस्त्राण और कवच आदि) का प्रयोग करते थे, किन्तु सिन्धु-घाटी के लोग ऐसे हथियारों का प्रयोग करना नहीं जानते थे। वैदिककाल में गाय की पूजा होती थी और उसकी प्रधानता थी, पर सिन्धु घाटी के लोग बैल को अधिक महत्व देते थे। वैदिक काल के लोग घोड़े और कुत्ते को पालते थे, पर सिन्ध घाटी की सभ्यता के युग में इन पशुओं का संकेत नहीं मिलता है। सिन्धु घाटी के लोग शक्ति और शिव के उपासक थे, और शिवलिंग की पूजा करते थे, पर वैदिक काल में शिव की पूजा का प्रचार नहीं था। वैदिक आर्य मूर्ति-पूजक-नहीं थे, पर सिन्ध घाटी के लोग मूर्ति की पूजा करते थे। वैदिक कालीन आर्यों में अग्नि की पूजा का प्रचार था, पर सैन्धव सभ्यता में अग्नि पूजा का कोई प्रमाण नहीं मिला है। सिंधु सभ्यता के युग में लेखन-कला का प्रचार हो गया था (पर अभी तक उसे पढ़ा जा नहीं सका है), लेकिन वैदिक आर्य प्रारम्भिक युग में लिखने की कला से भिज्ञ नहीं थे। अतः इन दोनों सभ्यताओं को समकालीन नहीं माना जा सकता है। यह भी निश्चित-सा हो गया है कि आर्य सभ्यता के पहले सिंध पंजाब, बिलोचिस्तान और दिल्ली के आस-पास सिंधु घाटी की सभ्यता फली फूली थी। या तो आर्यों ने आकर इस सभ्यता को आच्छादित कर लिया हो या अन्य किसी प्राकृतिक कारण वश इस सभ्यता का आवसान हो, गया हो यह ठीक नहीं कहा जा सकता।

इस सभ्यता का समय—यह उन्नत और सम्पन्न सभ्यता कब फली-फूली, इस विषय में भी अभी अटकल मात्र ही लगाया जाता है। मोहेनजोदड़ो के भवनों और स्तरों से यह अनुमान लगाया जाता है कि

इस सभ्यता का आरम्भ ईसा से लगभग ५००० वर्ष हुआ होगा। "सभ्यता का पिछला छोर लगभग २७५० ई० पू० के आस-पास रहा होगा" जब आर्यों ने इसे पराजित किया था।

समकालीन अन्य सभ्यताएँ

इसी अध्याय के प्रारम्भ में इस बात का संकेत किया जा चुका है कि इस पृथ्वी पर सर्व प्रथम सुगठित समाज और स्थायी सभ्यता का प्रारम्भ संसार की कुछ प्रसिद्ध नदियों की घाटियों में हुआ था। संसार की सब से प्राचीन सभ्यताएँ दजला, फरात, नील, सिंधु और यांगटीसीक्यांग तथा ह्वांगहो की घाटियों में उत्पन्न हुई और फली फूली। इन सभ्यताओं में मिस्र, सुमेर, बेबीलोन, असीरिया और सिंधु की सभ्यताओं के नाम प्रमुख हैं। इनमें से सिंधु-घाटी की सभ्यता का परिचय दिया जा चुका है। संसार में सभ्यता के विकास की प्रगति किस प्रकार हुई और सिंधु-घाटी की सभ्यता के समकालीन अन्य कौन-कौन सभ्यताएँ फली फूलीं तथा इन सब ने एक दूसरे पर क्या प्रभाव डाला और किस प्रकार सामाजिक संगठन, धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज तथा अन्य बातों में पारस्परिक सम्बन्ध रहा, इन बातों पर संक्षेप में विचार कर लेना अप्रासांगिक नहीं होगा।

नील-घाटी की सभ्यता

मिस्र (Egypt) की प्राचीन सभ्यता का उद्‌भव नील नदी की घाटी में हुआ था। यह नदी सूडान के पहाड़ों से निकलकर मिस्र के पूर्वीय-प्रदेश में बहती हुई भूमध्य सागर में गिरती है। मिस्र का गौरव, उसकी सभ्यता का केन्द्र, उसकी महानता और समृद्धि का कारण यही नदी है। इसीलिए 'मिस्र को नील नदी का वरदान' कहा गया। मिस्र अफ्रीका के उत्तरी पूर्वी भाग में स्थित है और एक ओर भूमध्य सागर से घिरा हुआ है। अतः इस देश की सभ्यता का विकास अन्य देशों की अपेक्षा बाह्य आक्रमणों से कम त्रसित हुआ और सभ्यता निर्विघ्न रूप में यहाँ विकासित हुई।

सिंधु घाटी की सभ्यता वाले लोगों की तरह ही मिस्र के प्राचीन निवासियों की नस्ल के विषय में ठीक ठीक जानकारी नहीं है। विद्वानों का अनुमान है

कि नील नदी की घाटी के निवासियों में कई जातियों का मिश्रण हुआ है। इस सभ्यता का काल भी लगभग वही माना जाता है जो सिंधु घाटी की सभ्यता का अनुमान किया जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि मिस्र के प्राचीन निवासी भारत से ही वहाँ जाकर बस गये।

नील-घाटी की सभ्यता का इतिहास सिंधु की सभ्यता से अधिक स्पष्ट है। यह तो निर्विवाद है कि वहाँ निरंकुश राजतंत्र का उदय हुआ था और राजाओं ने अपनी शानशौकत में प्रजा से अधिक द्रव्य और श्रम लिया था। राजा मिस्र वासियों का सब से बड़ा पुरोहित भी था, वह सर्वोच्च सेनापति भी होता था और वही मिस्र की सब भूमि का मालिक भी होता था।

मिस्र में खेती वहाँ के निवासियों का प्रधान पेशा था। सिंधु घाटी में भी अच्छी खेती होती थी। पर मिस्र में कृषकों की सामाजिक स्थिति अपेक्षा-कृत असन्तोषजनक थी। उन्हें बहुत कर देना पड़ता था और बेगार करनी पड़ती थी। मिस्र में दास-प्रथा भी थी। वहाँ कृषि के अतिरिक्त मिट्टी के सुन्दर बर्तन, धातुओं के बर्तन और अन्य सामान बनाने, आभूषण, लकड़ी, नौका, कुर्सी, चारपाइयाँ, तरकस, ढाल, ईंट, सीमेण्ट के समान, ईंटों को जोड़ने के पदार्थ, कागज, रस्सियाँ, चटाइयाँ, कपड़े, चित्र, आदि बनाने का काम होता था। व्यापार भी वहाँ अच्छा होता था। भारत से भी मसाले, रंग तथा सुगंधित लकड़ियाँ मिस्र में मँगायी जाती थीं।

मिस्र में उस समय सिंधु घाटी के समाज की अपेक्षा स्त्रियों की स्थिति अधिक अच्छी थी। उन्हें वहाँ राजनैतिक और सामाजिक अधिकार पुरुषों के समान थे। सिंधु घाटी की तरह वहाँ पितृ-प्रधान समाज नहीं था। मातृ-प्रधान समाज के कारण स्त्रियों का स्थान कुछ मामलों में पुरुषों से भी ऊँचा था।

मिस्र के निवासी पशु-पूजा करते थे। वे जादू टोना में भी विश्वास करते थे। उनके धर्म में प्रकृति-पूजा का भी मुख्य स्थान था। समाज में सूर्य की पूजा का प्राधान्य था। वे नील नदी की भी पूजा करते थे। सिंधु घाटी के निवासी भी प्रकृति पूजा करते थे, पर उनमें प्रधानता पृथ्वी देवी और शंकर की पूजा की थी। मिस्र में मन्दिर थे पर सिंधु-घाटी की सभ्यता के युग में मन्दिरों के होने में सन्देह है।

मिस्र सभ्यता की तीन बातें अद्भुत और बेजोड़ हैं। सर्व प्रथम उनके पिरामिड इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। ये पिरामिड उनके कब्रों के ऊपर निर्मित विशाल स्तूप हैं जो आज भी अपनी स्थापत्यकला और परिश्रम के मूर्त रूप बन कर संसार को आश्चर्य चकित किये हुये हैं। अधिकांश 'पिरामिड' नील नदी के बायें तट पर गिजा नामक (काहिरा से कुछ ही मील दूर स्थित) स्थान पर हैं। उनमें से सब से बड़ा पिरामिड की ऊँचाई ४५० फीट, आधार की भुजाएँ ७४६ फीट और क्षेत्रफल १३ एकड़ है। इस प्रकार की कोई विशाल इमारत या स्तूप सिंधु सभ्यता के क्षेत्र में अभी तक नहीं प्राप्त हुआ है। इसके पास ही विशाल मन्दिरों का क्रम है जो अपनी बनावट और कला के लिए आज भी दर्शकों के आकर्षण के केन्द्र बने हुये हैं। मन्दिरों में स्थापित मूर्तियाँ पत्थरों या धातुओं की होती थीं। मन्दिरों की बनावट किसी एक सुनिश्चित गणना और योजना के अनुसार बनायी गयी है जिससे मन्दिर के मध्य में स्थापित मूर्ति पर उदय होते सूर्य की किरणें पड़ सकें। इस प्रकार की कोई कारीगरी सिंधु घाटी की सभ्यता के क्षेत्र में अब तक नहीं ज्ञात हो सकी है।

दूसरी विशेष महत्व की चीज पिरामिडों में रक्खी हुई 'ममी' (Mummies) हैं। ममी मृतक के शरीर की उस स्थिति को कहते हैं जो मिस्र वाले किसी वैज्ञानिक रीति से मृत शरीर को कुछ मसाले लगा कर स्थायी बना लेते थे। राजाओं के शव को सड़ने गलने से बचाने और तद्वत रखने के लिये उनकी यह पद्धति बड़ी आश्चर्य जनक है। उस 'ममी' के चारों ओर मृतक की प्रिय वस्तुओं को भी रक्खा जाता था। मिस्र की प्राचीन सभ्यता के इतिहास को आज तक सुरक्षित रखने में इन पिरामिडों और ममी ने अद्भुत योग प्रदान किया है।

मिस्र की उस युग की सभ्यता की देन के रूप में उनका पंचांग, घड़ी का आविष्कार, दशमलव-विधि, तारों की गति जानने का यंत्र और लेखन कला की पद्धति का जन्म आदि कुछ ऐसी चीजें हैं, जिसके लिए आगे आने वाली पीढ़ियाँ उनकी ऋणी हैं। सौर-पंचांग और जलयान प्राचीन मिस्र की बहुत बड़ी देन हैं। ई० पू० ४२३६ में ही उन्होंने एक पंचांग का निर्माण किया था। "लेखन कला के क्षेत्र में भी उनकी देन महत्वपूर्ण है। उन्होंने लिखने में कागज, कलम, और स्याही का प्रयोग करना सीखा था। यह कला दूसरों ने

मिस्र वालों से ही सीखी। अतः यह बात सभी इतिहासकार मानते हैं कि "इतिहास के उषाकाल के मिस्र में जो कुछ किया, इसकी स्मृति या उसका प्रभाव प्रत्येक युग में मानव सभ्यता के ऊपर रहा है और रहेगा।"

सिंधु घाटी सभ्यता के अन्त का कारण केवल अनुमान का विषय बना हुआ है, पर मिस्र की प्राचीन सभ्यता के विकास और उन्नति तथा पतन के कारण इतिहासकारों की ज्ञान की परिधि में हैं। इतिहास लिखने वालों को इस सम्बन्ध में अटकलबाजी नहीं करनी पड़ती है। पर सिंधु घाटी की सभ्यता का अन्त कैसे हुआ, यह प्रश्न आज भी रहस्यात्मक बना हुआ है।

सुमेरीय सभ्यता

विश्व की प्राचीनतम नदी-घाटी की सभ्यताओं में पश्चिमी एशिया के मैसौ-पोटामिया प्रदेश का विशिष्ट स्थान है। यह प्रदेश दजला और फरात नदियों से प्लावित भूखण्ड है। मैसोपोटामिया शब्द का अर्थ ही होता है 'दो नदियों के मध्य भी भूमि।' आजकल इस प्रदेश को ईराक कहते हैं। सभ्यता के आदि काल में मिस्र की तरह यहाँ भी एक सभ्यता का उद्‌भव हुआ था। लगातार खुदाई के प्रयास-स्वरूप यहाँ किश, सूसा, उर, बेबीलोनिया तथा निनेवेह के अति प्राचीन नगरों का पता चला जिससे इस क्षेत्र में आदि काल में सभ्यता के फलने-फूलने का प्रमाण मिला। फारस की खाड़ी में दो नदियों के बीच की यह उपजाऊ भूमि अनेक प्राचीन सभ्यताओं की जननी रही है। इस प्रदेश की सब से प्राचीन सभ्यता को सुमेरीय सभ्यता कहते हैं। सुमेर शब्द एक स्थान का द्योतक है जिससे शिनार नामक मैदान का बोध होता है जो उस समय नदियों के मुहानों पर फारस की खाड़ी के निकट स्थित था।

यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि सुमेरीय लोग कहाँ से इस प्रदेश में आये। अनुमान है कि वे कदाचित ईसा से ५००० वर्ष पूर्व ईरान के उस पार मध्य एशिया से अथवा भारत से सुमेर के मैदान में पहुँचे होंगे। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी, नील घाटी और सुमेरीय सभ्यताओं में कौन सभ्यता पहले विकसित हुई। अनुमान लगाया जाता है कि अपनी सुविकसित अवस्थाओं में ये सब सभ्यताएँ समकालीन थीं और

उनमें परस्पर सांस्कृतिक और व्यापारिक आदान-प्रदान भी होता रहता था।

सुमेरीय सभ्यता के लोग "कष्ट-सहिष्णु, लम्बे और भूरे रंग के थे।" सिन्धु घाटी की सभ्यता वाले लोगों की तरह यहाँ भी नगर बसाने की प्रथा थी। इनकी शासन पद्धति को 'नगर राज्य-व्यवस्था' का नाम दिया जा सकता है। प्रत्येक नगर का शासक मुख्य पुरोहित होता था। विभिन्न नगर राज्यों में प्रायः युद्ध होता था। पराजित लोगों को गुलाम बनाने की प्रथा थी। सिन्ध और नील घाटी के लोगों की तरह ये शान्ति-प्रिय जीवन नहीं व्यतीत करते थे।

सुमेरीय लोग कृषि के काम में दक्ष थे। सिंचाई की व्यवस्था करना वे अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने नहरों का निर्माण किया था। वे हल का भी प्रयोग करते थे। सिन्धु घाटी में कृषि होती थी, पर अभी तक यह पता नहीं चला है कि वे हल का प्रयोग करते थे या नहीं। सुमेरीय क्षेत्र की मुख्य उपज गेहूँ, जौ, दाल और खजूर थी। कृषि के अतिरिक्त सिन्धु घाटी के निवासियों की तरह वे पशु-पालन भी करते थे। उनके पशुओं में गाय, भेंड़, बकरे, सुअर तथा कुत्ते मुख्य थे। उन्हें सूती और ऊनी कपड़े तैयार करने की कला भी मालूम थी। सोने, चाँदी के सुन्दर बर्तन भी वहाँ खुदाई में प्राप्त हुए हैं।

सुमेरिया के लोग धूप में सुखाई ईंटों से अपने मकान बनाते थे। अभी तक पक्की ईंटों का पता वहाँ नहीं लगा है। सिन्धु घाटी में पक्की ईंटों का प्रयोग होता था। सुमेरिया के लोग नगर के चारों ओर दीवाल बनाते थे और बीच में उनका मन्दिर होता था। वहीं मीनारें भी बनायी जाती थीं। "मेहराब, गुम्बज और खम्भों का निर्माण सर्व प्रथम सुमेरिया में ही हुआ।" मन्दिरों के भग्नावशेष अभी तक सिन्धु घाटी में नहीं उपलब्ध हो सके हैं। पर सिन्धु घाटी के क्षेत्र में निर्मित सुन्दर मकानों की तरह सुमेरीय क्षेत्र के भवन सुन्दर और कलात्मक नहीं हैं। यहाँ की स्थापत्य कला अपेक्षाकृत निम्न स्तर की है।

धार्मिक मामलों में सुमेरीय लोग सिन्धु घाटी की सभ्यता वालों से कुछ भिन्न थे। वे पहिले एकेश्वर वादी थे, बाद को अनेक देवी देवताओं में विश्वास करने लगे थे। वे प्रकृति की कल्याणकारिणी शक्तियों की पूजा देवी-देवताओं के रूप में करते थे।

विज्ञान के क्षेत्र में सुमेरीय लोगों ने अच्छी प्रगति की थी। वे ६० संख्या

द्वारा गणना किया करते थे। उनकी गणना में ६० सेकण्ड का एक मिनट, और ६० मिनट का एक घंटा होता था। उन्होंने ही सर्व प्रथम वृत को ३६० (अंशों) में विभाजित करना सीखा था। उनका पंचांग चन्द्रमा पर आश्रित था और वे महीना २९ या ३० दिन का मानते थे। अतः कुछ वर्षों के बाद सूर्य की वार्षिक गति के बराबर इसे बनाने के लिए वे एक महीना अधिक जोड़ देते थे। यही पद्धति आज कल भारत में भी है। प्रति तीन वर्ष के बाद एक महीना अधिक जोड़ना पड़ता है जिसे 'मल मास' या 'पुरुषोत्तम मास' कहते हैं। नक्षत्रों और ग्रहों की गति की गणना भी उन्होंने की और यह भी बतलाया कि उन विभिन्न ग्रहों का मनुष्य के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है।

इस उन्नतिशील सभ्य जाति को लगभग ३००० ई० पू० सेमेटिक जाति की एक शाखा ने (जो अक्काद कहलाते थे) पराजित किया। आज से लगभग ७५ वर्ष पूर्व तब यह पता नहीं था कि दजला-फरात की घाटी में कभी ऐसी सभ्यता का क्रीड़ा-क्षेत्र था। परन्तु पुरातत्व विज्ञान के परिश्रमी विद्वानों की खोज और खुदाई के फल-स्वरूप मानव-विकास की उस कड़ी का ज्ञान सबको उपलब्ध हो सका है। बाद के संसार ने इस सुमेरियन सभ्यता की देन को कई प्रकार से अपनाया। समय की गति को घंटे, मिनट और सेकण्ड की मात्रा में विभाजित करना, ग्रहों और नक्षत्रों का ज्ञान, चन्द्रमा की गति पर आधारित पंचांग और मेहराब, गुम्बज तथा खम्भों के निर्माण की कला इस सभ्यता की अनुपम देन हैं जिनके लिए प्रगतिशील मानव उनका सदा ऋणी रहेगा।

बेबीलोनियाँ की सभ्यता

सुमेरियन सभ्यता का अवसान लगभग ई० पू० ३००० में हुआ। अक्कादी जाति ने उत्तर की ओर से आक्रमण कर सुमेरों के प्रमुख नगरों को जीत लिया। अक्कादी सेमेटिक जाति (race) की एक शाखा थी। इस शाखा के राजाओं ने दजला-फरात की घाटी की दक्षिणी भूमि में बेबीलोनिया का नवीन नगर बसाया जिससे कालान्तर में आस-पास के सभी प्राचीन नगरों की श्री छीन ली। बेबीलोनिया का नाम उसके बृहत मन्दिर और प्रसिद्ध देवी बैबीली नाम पर पड़ा। इस वंश का प्रसिद्ध राजा हम्मु-राबी 'महान' (ई० पू० २१२३—२०८१) था। सन् १८९७ ई० में सूसा के

निकट खुदाई के समय पुरातत्व वेत्ताओं के हाथ एक स्तम्भ लगा जिस पर उत्कीर्ण अभिलेख के रूप में एक व्यवहार-संहिता (Code of Laws) प्राप्त हुई। यह संहिता हम्मुराबी की अक्षय कृति है और इसे संसार की प्राचीनतम व्यवहार-संहिता मानी जा सकती है। हम्मुराबी के बाद एक हजार वर्ष तक बेबीलोनिया राज्य की धाक रही और लगभग ११०० ई० पू० में उसके प्रभुत्व का अन्त हो गया।

हम्मुराबी की व्यवहार संहिता (Code of Laws) से उस समय के समाज और शासन के विषय में बहुत प्रकाश पड़ता है। उस समय मुकदमों का निर्णय करने के लिए न्यायाधीश और मजिस्ट्रेट नियुक्त किये जाते थे। दण्ड कड़ा दिया जाता था। समाज में तीन श्रेणी के लोग थे। अन्तिम श्रेणी दासों की होती थी। समाज में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी थी और उन्हें बहुत स्वतंत्रता तथा अधिकार प्राप्त थे। "बेबीलोनिया के समाज में विवाहिता स्त्रियों न केवल प्राचीन समाज में अद्वितीय थी, वरन् उसकी तुलना स्वतंत्रता और समानता के सम्बन्ध में आधुनिक यूरोप के बहुत से देशों के नारी-वर्ग की स्थिति से की जा सकती है।"

उस समय कृषि की दशा पर्याप्त विकासित थी और बेबीलोनिया के समाज की आर्थिक स्थिति की वही रीढ़ थी। सींचाई का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था। सिंधु घाटी में पैदा होने वाले अन्नों के अतिरिक्त अंगूर और जैतून सर्व प्रथम वहीं पैदा किये गये। खजूर की खेती अधिक होती थी। इसके अतिरिक्त भूमि से वहाँ के निवासी तेल, ताँबा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोना निकालते थे। इनसे हथियार और आभूषण बनाये जाते थे। सूती कपड़े बनाने का काम होता था। भारत से व्यापार होता था। व्यापार में विनिमय से ही काम चलाया जाता था, अभी सिक्कों का प्रयोग नहीं होता था।

बेबीलोनिया के लोग अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करते थे। वे मन्दिरों में देवता को प्रसन्न करने के लिए बलि चढ़ाते थे। देवता की पूजा के लिए मन्दिर बनाये गये और पुजारी या पुरोहित वर्ग का उदय हुआ। वे और अपने इस जीवन को अधिक से अधिक सुखी बनाना चाहते थे।

बेबीलोनिया-निवासियों ने सुमेरियों की लिपि को अपनाया और उसे सुधार कर उसे ध्वन्यात्मक बनाया। पर अभी तक उन्होंने वर्ण माला की व्यवस्था

नहीं की थी। उस समय ३०० शब्द खंड थे और उन्हें लिखने का अभ्यास कराया जाता था। (यह प्रथम सभ्यता है जिसे महाकाव्य लिखने की रीति को जन्म देने का गौरव प्राप्त है।)इनके महाकाव्य को 'गिलगेमिश' कहा जाता है जिसमें १२ अध्याय हैं। इन्होंने गणित और ज्योतिष को जन्म दिया, ग्रहों की गति-विध पर उनका ज्ञान अच्छा था। गुणा, भाग, घन, आधा, तिहाई, चौथाई आदि का उन्हें ज्ञान था। सूर्योदय से दिन का प्रारम्भ माना जाता था और उसकी गणना भी आधीरात्री से नहीं, बल्कि सूर्योदय से ही होती थी। वास्तु कला में इस समय इतनी उन्नति नहीं हुई थी जितनी मिस्र या सिंधु घाटी के लोगों में थी। सिंधु घाटी की प्राप्त मूर्तियों की तरह उनमें वैचित्र्य और व्यंजना नहीं थी। बेबीलोन के प्राचीन भवन प्रायः नष्ट हो चुके हैं, अतः उनके विषय में हमें कम ज्ञान है।

इस सभ्यता से हमें अनेक प्रकार की देन मिली है। यूनान ने इससे बहुत सीखा है। बेबीलोनिया वालों ने लम्बाई, समय, तोल, जोड़, बाकी का ज्ञान विश्व को दिया। महीने का चार सप्ताहों में, दिन का बारह घंटों में विभाजन करना हमने बेबीलोन से ही सीखा है। महाकाव्य का श्री गणेश वहीं हुआ, संगीत और बाजे की जानकारी भी उस युग के लोगों को थी।

असीरिया की सभ्यता

असीरिया के लोग सेमेटिक जाति के थे। दजला नदी के तट पर असुर नामक एक नगर है और इसी नगर के नाम पर असीरिया राज्य और जाति का नाम पड़ा। इस राज्य की स्थापना ई० पू० ३००० में ही हो चुकी थी। पर बाद को इस जाति के राजा का साम्राज्य पश्चिमी एशिया तक फैल गया और ये उस भूखण्ड में सबसे अधिक शक्तिशाली बन बैठे। इन्होंने युद्ध में लोहे के हथियार और घोड़े की सहायता से समस्त पश्चिमी एशिया को भयभीत कर दिया और यह अपने समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य बन गया। इनकी राजधानी निनवे नामक नगर में थी जो शक्ति, ललितकला और वास्तुकला का सर्वोत्तम केन्द्र बन गयी थी। "असीरियनों के पूर्व किसी अन्य जाति का इतना जाग्रत सैनिक प्रभुत्व, युद्ध कला, तथा सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन व्यवस्था तथा प्रजा की शक्ति का नियमन एक साथ देखने में नहीं आता।" उनका

वैभव काल ई० पू० ७२२ से ६०६ तक चोटी पर था। इस जाति के राजाओं ने बेबीलोन नगर को ध्वस्त कर एक नया नगर (निनवे) बसाया। इसी नये नगर में उनके सम्राट ने एक विशाल महल बनवाया जिसके भग्नावशेष के आधार पर आज इस जाति के इतिहास की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझायी जा रही हैं।

असीरी लोगों की सभ्यता सामरिक थी। इनसे पूर्व इतनी बड़ी सेना किसी राजा या जाति के पास नहीं थी। "प्राचीन आर्य साहित्य पर असुर शक्ति की स्मृतियों की गहरी छाप है। आर्य साहित्य में उनके प्रताप और तेजका बराबर बखान हुआ है।" इस सामारिक सभ्यता के प्रणेता विद्वानों का भी आदर करते थे। उनके प्रसिद्ध राजा असुर बनिपाल ने प्राचीन साहित्य का एक विशाल संग्रहालय निर्माण कराया। संसार के इतिहास का यह सर्व प्रथम संग्रहालय था। "इस पुस्तकालय की बाइस हजार तख्तियाँ लन्दन के ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित हैं।"

उस युग के खण्डहरों को देखने से पता चलता है कि "उनके नगरों के सिंह द्वार के सिंह और साँड़ अशोक के स्तम्भों के सिंहों और साँड़ों से बहुत मिलते हैं।"

सैनिक कला में असीरिया-निवासियों की देन महत्वपूर्ण है। घोड़े और लोह के प्रयोग ने तत्कालीन युद्ध-कला में उन्होंने एक क्रान्ति पैदा कर दी। उन्होंने कवच-ढाल आदि रक्षात्मक हथियार तैयार किये। पुस्तकालय और संग्रहालय निर्माण में भी वे सबसे प्रथम रहे। पर युद्ध में शत्रु के साथ उनका व्यवहार बड़ा ही क्रूर था। वे युद्ध के समय शवों की ढेर लगा देते थे और रक्त की नदी बहाने में ही अपने को गौरवान्वित समझते थे। इसी कारण जब ६१२ ई० पू० में उनकी राजधानी निनवे का पतन हुआ है, तो चारों ओर प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी और सबने सन्तोष की साँस ली।

युग की विशेषताएँ—पिछले पृष्ठों में इस पृथ्वी पर मानव-विकास की प्रगति के उस प्राचीनतम अध्याय का संकेत किया गया है जिसे "नदी-घाटी की सभ्यता" का युग कहा जाता है। इस सभ्यता के प्रधान केन्द्र मिस्र में नील नदी की घाटी, मैसोपोटामिया में दजला-फरात की घाटी और भारत में सिन्धु की घाटी के क्षेत्र रहे हैं। इनमें से कौन सभ्यता प्राचीनतम है, यह कहना कठिन है क्योंकि

इन सभ्यताओं के विषय में जानकारी प्राप्त करने के साधन बहुत ही कम हैं और जो कुछ भी उपलब्ध हैं, वे समय और प्रकृति के चक्रव्यूह में पड़कर ध्वस्त हो चुके हैं और अपने वास्तविक स्वरूप खो चुके हैं। फिर भी इतना निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि इन विभिन्न केन्द्रों की सभ्यताएँ अपने विकास, उत्थान और पतन के क्रम में कभी न कभी एक दूसरे की समकालीन रही हैं। इनका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा है और समय, सुविधा तथा आवश्यकता के अनुरूप इन्होंने एक दूसरे से सीखा है और आपस में उनमें लेन-देन का क्रम भी रहा है। यदि हम मानव इतिहास एवं सभ्यता का अवलोकन करें तो विदित होगा कि मैसोपोटामिया की सभ्यता हमारे न्याय-विधान, हमारे ज्योतिष, हमारे पञ्चांग, हमारे समय-तिथि-विभाजन, हमारे बाँट तथा हमारी दर्जन और दशमलव सम्बन्धी गणना में अब भी विद्यमान है। युद्ध कला में भी हमने उनसे बहुत कुछ पाया है। स्वरक्षात्मक और आक्रमणकारी अस्त्र-शस्त्रों तथा घोड़ों के प्रयोग को भी हमने उनसे ही अपनाया है। मानव ने संसार के विभिन्न भूभागों में सभ्यता में क्रमिक विकास को कैसे आगे बढ़ाया, उसकी भूमिका इन कुछ पृष्ठों भी दे गयी है। विभिन्न जातियों में सभ्यता-विकास की विभिन्नता उनके भौगोलिक वातावरण और परिस्थिति में पैदा हुई, पर उन सब में एक स्थायी समानता भी रही, यह सत्य भुलाया नहीं जा सकता। यह बात विशेषरूप से ध्यान में रखने योग्य है कि नदी घाटी की सब सभ्यताओं ने कृषि को ही अपना प्रमुख धन्धा बनाया, पर सब में नगर-निर्माण की कला भी चरम सीमा की ओर अग्रसर होती दीख पड़ी है। दूसरी विशेष बात ध्यान देने की यह है कि इन सब में यातायात की कठिनाई होते हुए भी आपस का व्यापारिक सम्बन्ध चलता रहा। उस युग में भी मनुष्य कूप मण्डूक बन कर रहना नहीं पसन्द करता था, उसे अपने आस-पड़ोस से ही सन्तोष नहीं था, अतः वह अपने को संकट में रख कर दूर दूर आता जाता था, व्यापार करता था, वस्तुओं का आदान-प्रदान करता था और विचारों तथा सभ्यता के क्षेत्र में भी अपने ही को श्रेष्ठ और अन्तिम सत्य मान हाथ पर हाथ रख बैठना नहीं जानता था। सब नदी-घाटी की सभ्यताएँ इस बात का संकेत करती हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धि-सामर्थ्य से अपनी परिस्थिति का स्वामी बनने का सतत् प्रयास करता था। सर्वत्र उसने अपनी

मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय निकाले, और तत्पश्चात् उन्होंने धर्म, विज्ञान, साहित्य, भाषा, वास्तुकला, मनोरंजन, शासन और समाज-व्यवस्था की उन्नति में अपनी बुद्धि और शक्ति लगायी एवं अपनी नियति का स्वामी बनने का उपक्रम किया। इस काम में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली।

चौथा परिच्छेद

आर्य: प्रसार और सभ्यता

आर्य कौन थे ?—उत्तर और मध्य भारत के आज के अधिकांश निवासियों के पूर्वज आर्य थे जिनकी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार पूरे भारत में हुआ था और जिनके नाम पर यह देश 'आर्यावर्त' के रूप में प्रसिद्ध हुआ था। आर्य संसार की चार प्रमुख जातियों* (races) में से एक जाति है जिसकी सन्तान आज यूरोप और पश्चिमी एशिया के अधिकांश देशों में फैली हुई है। आर्यों की जो शाखा भारत में आयी, वह भारतीय आर्य (इण्डो आर्यन) कहलायी। "आर्य का कद लम्बा और शरीर मजबूत होता था। इनका वर्ण गौर और नाक तोते की तरह सुन्दर तथा नुकीली होती थी।" इसी जाति ने उत्तर और मध्य भारत से द्राविणों को परास्त कर दक्षिण की ओर खदेड़ा और पुनः वे समूचे भारत में फैल गये।

आर्यों का मूल स्थान—आर्यों के मूल स्थान के विषय में अभी तक विद्वानों में मतभेद है और समय समय पर इस सम्बन्ध में विभिन्न मत-मतान्तरों के विषय में विद्वानों में काफी वाद-विवाद चल पड़ता है। इस बात से बहुत विद्वान सहमत हैं कि आर्यों की एक शाखा ने उत्तरी-पश्चिमी दर्रों से भारत में प्रवेश किया और ये भारतीय आर्य उसी मूल आर्य जाति की एक शाखा के वंशज हैं जो अति प्राचीन काल में फारस, यूनान, इटली, फ्रान्स, जर्मनी तथा इंगलैंड में जाकर बस गयी थी। इन सब देशों के निवासियों की भाषाओं में आज भी ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जो उच्चारण तथा अर्थ में समान हैं। इस आधार पर विद्वानों की राय है कि एक समय ऐसा था जब इन भिन्न-भिन्न शाखाओं के पूर्वज एक ही स्थान पर रहते थे और वहीं से परिस्थितियों तथा आवश्य-कताओं से प्रेरित हो भिन्न-भिन्न देशों की ओर चल पड़े। विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि आर्यों का मूल स्थान वर्तमान आस्ट्रिया-हंगेरी था। वहाँ

* १ काकेशियन या आर्य, २ सेमेटिक, ३ मंगोल ४ हब्शी।

से एशिया माइनर, ईरान, अफगानिस्तान होते हुये ये लोग भारत आये। कुछ अन्य विद्वान आर्यों का मूल स्थान रूस के दक्षिणी भाग में स्थित स्टेप्स या घास के मैदानों को मानते हैं। कुछ विद्वानों की राय में "पामीर प्रदेश आर्यों का आदि देश था।" प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने मध्य एशिया को ही आर्यों का आदि देश माना है। जन संख्या की वृद्धि और भोजन की कमी के कारण उन्हें अपना मूल स्थान छोड़ना पड़ा होगा। यहाँ उनके विषय में खुदे हुए लेख लगभग २५०० ई० पू० के पाये जाते हैं। "घोड़ों की सौदागरी करने के लिए वे मध्य एशिया से एशियाई कोचक में आये। यहाँ एशियाई कोचक तथा मेसोपोटामिया को जीत कर उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया। बेबीलोनिया के इतिहास में वे 'मिटन्नी' नाम से प्रसिद्ध हैं।" वहाँ से एक शाखा यूरोप की ओर गयी और दूसरी भारत की ओर अग्रसर हुई। जर्मनी में बोगज़ कोई नामक स्थान पर खुदाई के फल-स्वरूप प्राप्त हुये लेखों में ऐसे लेख उपलब्ध हुये हैं जिनमें इन्द्र, वरुण, सूर्य मरुत आदि देवताओं का उल्लेख है जिनका वर्णन भारतीय आर्य ग्रन्थों में भी है। मेसोपोटामिया के तत्कालीन राजाओं तथा देवी-देवताओं के नाम तथा भारतीय आर्यों के नामों में काफी सादृश्य है। इन नामों के सादृश्य के आधार पर एक मत यह चल पड़ा कि आर्य मूलतः यूरोप के किसी भाग में रहते थे और सम्भवतः वह स्थान वर्तमान आस्ट्रिया-हंगेरी का एक भाग था जहाँ से इधर-उधर चल पड़े। इसी आधार पर दूसरा मत यह भी है कि उनका मूल स्थान मध्य एशिया ही था जैसा ऊपर संकेत किया गया। मेसोपोटामिया तक आर्य मिल जुल कर रहे। कुछ दिनों बाद उनकी दो शाखाएँ हुईं। एक भारतीय आर्य और दूसरी ईरानी आर्य कहलायी। वहीं से एक तीसरी शाखा यूरोप की ओर भी गयी। भारतीय आर्यों का धर्म-ग्रंथ 'वेद' और ईरान आर्यों का धर्म ग्रन्थ 'अवेस्ता' है। इन ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय और ईरानी आर्य बहुत दिनों तक साथ-साथ रहे हैं।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋगवेद में वर्णित प्राकृतिक दृश्यों और संकेतों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आर्य लोग मूलतः ध्रुव प्रदेश में रहते थे और "वहाँ हिम प्रलय होने से क्रमशः धीरे-धीरे भारत वर्ष में पहुँचे।" तिलक जी के इस सिद्धान्त को

अभी बहुत कम विद्वानों ने स्वीकार किया है। आर्यों के मूल स्थान के विषय में ऊपर जिन मतों का संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त दो विचार-धाराएँ इस सम्बन्ध में और हैं। विद्वानों का एक वर्ग जिसमें डाक्टर अविनाश चन्द्र दास और श्री सम्पूर्णानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं, यह कहता है कि आर्यों की आदि भूमि 'सप्त सिन्धु' अर्थात पंजाब और सीमान्त हैं। इसमें काश्मीर, गांधार, काबुल भी सम्मिलित थे। ऋग्वेद में इस प्रदेश में स्थित अनेक भौगोलिक स्थानों, नदियों तथा अन्य विषयों का वर्णन मिलता है। पर यूरोप के विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। ऐसा ही एक वर्ग और है जो आर्यों का मूल स्थान 'मध्य देश' (वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार) को ही मानता है। उनके अनुसार प्राचीन भारतीय साहित्य वेद, पुराण आदि के अनुसार आर्य इसी देश के मूल निवासी थे। उनके मुख्य केन्द्र अयोध्या, प्रतिष्ठान (प्रयाग के पास स्थित झूसी) थे। यहीं से ये लोग भारत के विभिन्न भागों में फैले। यहीं से बढ़ती हुई एक शाखा भारत के बाहर भी गयी और ईरानी आर्य कहलायी। "सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में एक भी संकेत नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारतीय आर्य कहीं बाहर से आये। भारतीय साहित्य और अनुश्रुति की इस साख को असंगत या झूठ मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। इस विचार धारा के अनुसार आज से लगभग छः हजार वर्ष पूर्व उत्तर भारत के बीच (मध्य देश) में मनु और उनके वंशजों का उदय हुआ। मनु इस देश के प्रथम राजा थे जिन्होंने राज-संस्था स्थापित की और राज्य के संचालन के लिए नियम बनाया।"

ऊपर की बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्यों के मूल स्थान के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। इस सम्बन्ध में अब तक अनेक ग्रंथ तथा लेख प्रकाशित हो चुके हैं, पर अभी तक यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि आर्यों का मूल निवास-स्थान कहाँ था। यह निश्चित है कि वेदों की रचना करने वाले आर्य उत्तर-प्रदेश, पंजाब और अफगानिस्तान में फैले हुये थे। ऋग्वेद में सप्त-सिन्धु का प्राधान्य है। उन दिनों इस प्रदेश में सात प्रमुख नदियाँ बहती थीं। इन नदियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) सिन्धु (सिन्धु), (२) वितस्ता (झेलम), (३) अस्किनी (चिनाब), (४) परुष्णी (रावी), (५) विपाक (व्यास) (६) शुतुद्री (सतलज) और (७) सरस्वती। सप्त सिन्धु को

आर्यों ने बहुत दिनों तक अपना निवास स्थान रक्खा । इस प्रदेश का गुणगान आर्यों ने वेदों में सविस्तार किया है ।

फारस में आर्यों का प्रवेश और विस्तार—पिछले अध्याय में यह लिखा जा चुका है कि दजला-फरात नदियों की घाटी में सेमेटिक जाति के लोगों की सभ्यता फली फूली थी । उनके प्रतिनिधि सुमेर, बेबीलोनियन और असिरियन थे । जिस प्रकार मोहेन-जो-दड़ो तथा द्रविड़ों की सभ्यता का विध्वंस भारतीय आर्यों ने किया था, उसी प्रकार ईरानी आर्यों ने सेमेटिक जाति की विभिन्न शाखाओं की सभ्यता का अन्त किया और उस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किया । ईरान को आजकल फारस कहते हैं । यह प्रदेश दजला-फरात नदी-घाटी के पूर्व में फारस की खाड़ी के उत्तर स्थित है । आर्यों के मूल स्थान के विषय में तो गहरा मतभेद है, पर इस बात से सब विद्वान सहमत हैं कि आर्यों की एक शाखा ने ठीक उसी समय उत्तर पश्चिम की ओर से ईरान में प्रवेश किया जिस समय उनकी दूसरी शाखा भारत में और तीसरी ग्रीस में घुस पड़ी । इसके पूर्व आर्यों की एकशाखा तुर्की में काले सागर के बीच बस गयी थी जिसे अरमानी आय कहा जाता है । आर्यों की दूसरी शाखा कैस्पियन सागर के पश्चिमी दक्षिणी भाग में बसी थी जिसे मिडिया कहते थे और जो अनेक कुलों में विभक्त थी । उन्होंने कबीलों का जीवन छोड़ कर एक राष्ट्र का रूप धारण कर लिया । इन्होंने ही ईरान में प्रवेश किया और इनका नाम ईरानी आर्य पड़ा । ये मिडी आर्य परिश्रमी और मजबूत जाति थी । इन आर्यों को ईरान और आस-पास के स्थानों पर अधिकार करने लिए वहाँ के राजाओं तथा विभिन्न जातियों से बहुत लोहा लेना था । च्प्पे-च्प्पे भूमि के लिए इन्हें युद्ध करना पड़ा था । असीरिया और बेबीलोनिया (असुर और बाबुली) पर ईरानी आर्यों ने आक्रमण किया । असिरिया ईराक के उत्तरी भाग में है । बेबीलोनिया भी फरात नदी के तट पर उस समय तक प्रसिद्ध राज्य तथा नगर था । यह प्रदेश उस समय आसीरिया का एक सूबा था । उस राज्य का प्रसिद्ध नगर निनवे उत्तरी भाग में स्थित था । आर्यों की मीडी शाखा ने इन प्रदेशों को एक-एक कर जीत लिया और उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया । धीरे धीरे ये आगे बढ़ते गये और एलम निवासियों को जीत कर सूसा पर अपना अधिकार कर लिया और आगे

बढ़कर मीडीज के नेता (साइजेरस) ने आरमीनिया तक चढ़ाई की और एशिया माइनर के आधे पूर्वी भाग को अपने राज्य का एक अंग बना दिया। उत्तर में पार्थिया को भी उन्होंने अपने अधीन कर लिया। साथ ही फारस (ईरान) के एक हिस्से में आर्यों की एक दूसरी शाखा अपना पैर जमा चुकी थी। पर मीडी आर्य कुल के एक राजा साइरस ने इन दोनों शाखाओं को एक कर अपना साम्राज्य अफगानिस्तान तक फैला लिया। ईरानी आर्यों ने केम्बरीज बादशाह के नेतृत्व में ईरानी साम्राज्य की सीमा दूर दूर तक फैला दी। उसकी मृत्यु के समय ईरानी साम्राज्य में मिस्र, सीरिया, एशिया माइनर, मैसोपोटामिया और ईरान (फारस) सम्मिलित थे। इसी का उत्तराधिकारी दारा था जिनसे अपने साम्राज्य को दृढ बनाने की कोशिश की, पर यूनानी आर्य शक्ति के सम्मुख उसे घुटने टेक देने पड़े। इन बातों से यह स्पष्ट है कि ईरानी आर्यों ने और एक बहुत बड़ा साम्राज्य भारत और भूमध्य सागर के बीच स्थापित किया।

यूनान में आर्यों का प्रवेश और विस्तार—आर्यों की एक शाखा ने अपना मूल स्थान छोड़ने के बाद ई० पू० २००० के लगभग ग्रीस (यूनान) में प्रवेश किया। जब ये इजियन सागर के तट पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ एक प्राचीन सभ्यता के नगर खड़े हैं। ठीक यही अनुभव आर्यों को मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा के नगरों को देखकर हुआ होगा। उस समय आर्य अनेक दलों (कबीलों) में विभाजित थे। उनके प्रथम दल ने जो **एकीयन्स** (Achaeans) के नाम से प्रसिद्ध है, यूनान में उत्तर की ओर से प्रवेश किया। उनके बाद **डोरियन** शाखा के लोग आये जिन्होंने क्रीट, ट्राय आदि स्थानों पर अपना प्रभुत्व जमाया। इन आर्यों ने वहाँ की पूर्ववर्ती सभ्यता को अपनी सभ्यता से ऊँची पाया। मकीनी, ट्राय, क्रीटन और फिनीशी सभ्यता आर्यों की सभ्यता से अच्छी थी। "ग्रीक आर्य अब अपने पत्थर के फरसे लिए उनसे भिड़े तो उन्होंने देखा कि धातु के अस्त्रों का प्रयोग करने वाले ईजियन सभ्यता के उन नगरों पराजित करना कठिन है, परन्तु उन्होंने अपना धीरज नहीं छोड़ा। वे पास ही अपना गाँव बनाकर बस गये और अपने प्रतिद्वंदियों से ही कला, व्यापार और धातुओं का

प्रयोग सीखने लगे।" धीरे धीरे आर्यों के दलों ने ईजियन द्वीप समूह, ट्राय, क्रीट और सम्पूर्ण यूनान को अपने अधिकार में कर लिया। पहले इन झोपड़ों में रहने वाले और पशुओं को चराने वाले आर्यों को देखकर वहाँ के मूल निवासी हँसते थे। पर शीघ्र ही उन्हें उन आर्यों का लोहा मानना पड़ा और देखते देखते उन आर्यों ने वहाँ के मूल निवासियों के बड़े बड़े गढ़ों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ग्रीक आर्यों ने उनके सबसे बड़े गढ़ और नगर 'ट्राय' को भी नष्ट कर दिया जिसका बड़ा ही सजीव वर्णन होमर के महाकाव्य 'ईलियड' में लिखा है। बाहर से आने वाले आर्यों ने ग्रीस-विजय के साथ साथ अपने अभिमान और विजयोल्लास को छोड़कर विजित जातियों की बढ़ी-चढ़ी सभ्यता तथा संस्कृति को अपनाया। वे उनमें घुल मिल गये और उन्होंने अपना एक नया नाम भी स्वीकार कर लिया। यह नई शाखा 'आयोनियन' कहलाई। इनमें से कुछ एथेन्स के आस-पास बस गये और कुछ ग्रीस में इधर-उधर फैल गये। आर्यों द्वारा ग्रीस के इस विजय और विस्तार में लगभग छः-सात शताब्दियों का समय लगा होगा। भौगोलिक और प्राकृतिक बनावट की विशेषता एवं स्वतन्त्रता-प्रेमी होने के कारण ग्रीक आर्यों ने यूनान में अनेक छोटे-छोटे नगर-राज्यों की प्रथा चलाई। इनमें से स्पार्टा, एथेन्स, मैसेडोनिया, कोरिन्थ, थीब्स आदि प्रमुख नगर-राज्य थे। इनकी शासन व्यवस्था, सामाजिक संगठन, कला-साहित्य-दर्शन-विज्ञान आदि के विषय में यथास्थान आगे संकेत किया जायगा। "ये यूनानी आर्य साहित्य, वास्तुकला, दर्शन, राजनीति और नाट्य शास्त्र में आधुनिक यूरोप के अग्रज हैं और उनकी देन की छाप यूरोप के आमूल जीवन के चप्पे-चप्पे में निहित है।"

वैदिक आर्य और उनका भारत में विस्तार—आर्यों के प्राचीनतम साहित्य 'वेद' से यह तो पता नहीं चलता है कि आर्य भारत में कहाँ से आये, पर इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि ऋग्वेद की रचना के समय आर्य किस क्षेत्र में रहते थे। ऋग्वेद में कुभ (काबुल), सुवस्तु (स्वात), क्रुमु कुर्रम और गोमती (गुमल) नदियों का उल्लेख है। पंजाब की नदियों के नाम भी वेदों में आये हैं। परुष्णी (रावी) नदी के किनारे दस राजाओं का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था जिसका विस्तृत वर्णन वेद में लिखा गया है। ऋग्वेद की प्रमुख

ऐतिहासिक घटनाओं में से एक यह युद्ध मुख्य था जिसमें भरतों के राजा सुदास ने महर्षि विश्वामित्र की मंत्रणा से लड़ने वाले दस राजाओं के संघ को हराया था। सुदास ने अपने आर्य प्रतिद्विन्दी राजाओं को हराने के बाद एक और संकट का सामना सफलतापूर्वक किया। पूर्व की ओर बसने वाले अनार्य सुदास के ऊपर चढ़ आये, पर सुदास ने उन्हें यमुना के किनारे ध्वस्त किया। ऋग्वेद के समय के आर्य कई 'जनों' में विभक्त थे, उनमें से मुख्य भरत, मत्स्य, द्रुह्यु, तुर्वसु, यदु तथा पुरु थे। ये विभिन्न दल पंजाब, दिल्ली तथा आस-पास के भाग में बसे थे। इनका प्रमुख स्थान सरस्वती के दोनों किनारों पर था। वेद को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि आर्य सप्तसिन्धु से रावी और सरस्वती की ओर बढ़े। तत्पश्चात वे कुरुक्षेत्र की ओर आये। इस प्रदेश को वे 'ब्रह्मावर्त' कहते थे। वे पुनः आगे बढ़े और इस नये प्रदेश का नाम उन्होंने 'ब्रह्मर्षि' रक्खा। यहाँ इनके कुरु, मत्स्य, पांचाल, सूरसेन राज्य थे। इन राज्यों में आधुनिक थानेश्वर, उत्तरी राजपूताना, गंगा-यमुना द्वाबा, तथा मथुरा के आस-पास के इलाके शामिल थे। धीरे-धीरे ये प्रयाग (प्रतिष्ठान) तक पहुँचे। कालान्तर में आर्यों ने अंग (बिहार), बंग (बंगाल), पुंड (उत्तर बंगाल) कलिंग पर अधिकार किया। फिर उनका आधिपत्य दक्षिण और सुदूर दक्षिण तक फैल गया। इस प्रकार आर्य संस्कृति, सभ्यता और राजदण्ड का प्रभाव तथा प्रसार भारत के कोने-कोने में हो गया।

आर्यों का इस देश में प्रसार एक कटु संघर्ष की कहानी है। उनका पारस्परिक जीवन भी काफी संघर्षमय था और यहाँ की अनार्य जातियों से भी उन्हें लोहा लेना पड़ा था। एक बड़े पारस्परिक संघर्ष की चर्चा ऊपर की गयी है। सुदास भरत दल का राजा था और उसका राज्य पांचाल में था। उसके पुरोहित महर्षि विश्वामित्र थे। कुछ दिनों के बाद विश्वामित्र को पुरोहित-पद से पृथक कर दिया गया। विश्वामित्र ने इस अपमान का बदला लेने का उपक्रम किया। उसने उत्तर-पश्चिम के दस आर्य-दलों के राजाओं को मिलाया और सुदास को पराजित और पदच्युत करना चाहा। पर सुदास ने स्थिति का सामना किया और एक दोनों दलों में घमासान युद्ध हुआ। विजय-श्री सुदास के हाथ लगी और सुदास की धाक जम गयी। इस 'दाशराज्ञ युद्ध' का विस्तृत वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। इसी प्रकार के अनेक पारस्परिक

युद्धों का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है। साथ ही आर्यों को अनार्यों से भी लड़ना पड़ता था। ऋग्वेद में अनार्य जातियों का वर्णन आया है। "आर्य लोग पारस्परिक युद्ध से कहीं अधिक भयानक संघर्ष इन अनार्य जातियों के साथ बहुत काल तक करते रहे।" वे अनार्यों को 'दस्यु', 'दास', 'अनासाः' (छोटी और चिपटी नाक होने के कारण), 'शिश्नदेवा :' (लिंग के आकार के किसी देवता के पूजन करने वाले) आदि शब्दों से सम्बोधित करते थे। इस प्रकार आर्यों का भारत में प्रसार एक दुर्धर्ष युद्ध और संघर्ष की कहानी है।

आर्य ग्रन्थ और साहित्य—भारतीय आर्यों के विषय में हर प्रकार की जानकारी का प्रमुख साधन वैदिक साहित्य है। आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ 'वेद' हैं। वेद 'विद' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'जानना' अर्थात ज्ञान। वेद चार हैं। उनके नाम चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वेद। इनमें से प्रमुख प्रथम तीन वेद हैं जिन्हें 'त्रयी' भी कहते हैं। इन्हें 'संहिता' भी कहा जाता है। संहिता का अर्थ होता है संग्रह किया हुआ। वेदों का अधिकांश भाग पद्य में है। एक-एक पद्य को 'ऋचा' कहते हैं। ऋचाओं को मंत्र भी कहा जाता है। वेदों के द्रष्टा और रचयिताकारों को 'ऋषि' कहते हैं।

वेदों में सबसे प्रमुख 'ऋग्वेद' है। यही वेद प्रचीनतम भी है। ऋग्वेद में १०२८ सूक्त हैं। सूक्त का मतलब है अच्छी उक्ति। एक एक सूक्त कुछ मंत्रों के संग्रह हैं। हिन्दू समाज वेदों को अपौरुषेय और ईश्वरकृत मानता है। परन्तु वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक तर्क इसी पक्ष में है कि वेदों के रचयिता विभिन्न ऋषि हैं। इसके अधिकांश सूक्त देवताओं की स्तुति में कहे गये हैं। उनके मुख्य देवता सूर्य, वायु, अग्नि थे। कुछ सूक्तों में तत्कालीन युद्धों का वर्णन है। कुछ तत्कालीन सामाजिक आचार-विचार के विषय को लेकर लिखे गये हैं। ये सूक्त तत्कालीन समाज के दर्पण हैं। अन्य ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में ऋग्वेद के मंत्रों का ऐतिहासिक महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। ऋग्वेद की रचना का क्या समय है, इस विषय में बहुत मतभेद है। "संसार के साहित्य में शायद ही कोई प्रसंग हो जिसके तिथि-निर्णय के सम्बन्ध में इतने विरोधी मत हों, जितने ऋग्वेद के सम्बन्ध में हैं।" लगभग २५००० ई० पू० से लेकर ५०० ई० पू० तक इसका समय आँका गया है। पर सब प्रकार के तर्कों की छानबीन

करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद का रचना-काल ३००० ई० पू० और १५०० ई० पू० के बीच में रहा होगा।

यजुर्वेद कर्म काण्ड प्रधान है। इसकी रचना कुरुक्षेत्र में हुई थी, ऐसा मालूम होता था। इसी में सर्व प्रथम जाति-व्यवस्था का संकेत मिलता है। यह शुक्ल और कृष्ण दो भागों में विभाजित है। पुनः **सामवेद** का स्थान आता है। इसमें अधिकांश ऋग्वेद के ही मंत्र हैं। सब मंत्र गेय हैं। **अथर्वेद** में ४० अध्याय हैं। इसमें आर्यों के पारिवारिक जीवन की अच्छी झाँकी मिलती है।

वेदों के अतिरिक्त तत्कालीन आर्यों के इतिहास पर प्रकाश डालने के लिये अन्य साहित्यिक सामग्रियाँ भी हैं जिनमें **'ब्राह्मण'** प्रमुख हैं। इनमें वेदों की व्याख्या की गयी है। इनमें वैदिक यज्ञों का वर्णन है। ब्राह्मण ग्रंथों का दूसरा भाग **आरण्यक** कहलाता है। इस ग्रन्थों से यह पता चलता है कि आर्य धीरे-धीरे पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ते जा रहे थे और उनके राजकीय तथा समाजिक जीवन में ऋग्वेद के समय के आर्यों से भिन्नता आ चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग **उपनिषद्** हैं। इनमें 'ईश' 'केन', 'कठ', तैत्तिरीय, छान्दोग्य और 'बृहदारण्यक प्रसिद्ध हैं। "आर्य जाति के तत्व-चिन्तन का पूर्ण विकास उपनिषद ग्रंथों में ही दीख पड़ता है।।" इनसे से पता चलता है कि उस सुदूर अतीत में यहाँ १० बड़े बड़े राज्य* थे। इससे यह भी मालूम होता है इस समय तक लगभग पूरे उत्तरी भारत में आर्यों के पैर अच्छी प्रकार जम चुके थे। वेदों को समझने के लिए तथा उनके उचित और सम्यक् ज्ञान के निमित्त छः **वेदांगों** की रचना की गयी थी। शिक्षा, कल्प (यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान की रीति), व्याकरण, ज्योतिष, छन्द तथा निरुक्त—ये वेदों के छः अंग हैं। प्रत्येक को लेकर पण्डितों ने गहन विवेचना द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना समय समय पर की। उन उद्‌भट विद्वानों में पाणिनि, पातंजलि, भास्कराचार्य, आर्यभट्ट, वराह मिहिर और ब्रह्मगुप्त के नाम प्रमुख हैं।

---

* १—गांधार, २—केकय, ३—मद्र, ४—उशीनगर, ५—मत्स्य, ६—कुरु, ७—पांचाल, ८—काशी, ९—कोसल १०—विदेह।

वैदिक साहित्य के आकार की वृद्धि के साथ साथ उनको कंठाग्र करने की समस्या उठ खड़ी हुई। इसीलिए शास्त्रों को संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में लिखने की कला का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं परम संक्षिप्त लेखों को 'सूत्र' का नाम दिया गया। इस प्रणाली का अधिक प्रयोग ई० पू० ८०० से ई० पू० २०० तक होता रहा। इन सूत्र-ग्रंथों से आर्यों के मानसिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस सूत्र-साहित्य के तीन भाग हैं—(१) श्रौत-सूत्र जो वैदिक यज्ञों की विधियों पर प्रकाश डालता है। (२) धर्म-सूत्र में सामाजिक तथा व्यवहार-सम्बन्धी (civil) नियमों का वर्णन है और (३) गृह्य-सूत्र में गृहस्थों के धार्मिक कृत्यों और उनके दिन चर्या का वर्णन है। धर्म-सूत्रों की व्याख्या के लिए ऋषियों ने **स्मृति-ग्रंथों** की रचना की। स्मृतियों के तीन भाग हैं—१. आचार, २. व्यवहार और ३. प्रायश्चित। स्मृति शास्त्र के रचयिता मनु, हारीत, याज्ञवल्क्य, यम, कात्यायन बृहस्पति, पराशर, व्यास, गौतम, वशिष्ठ आदि २० आचार्य हैं।

भारतीय आर्यों के ऋग्वेद और उत्तर वैदिक काल की सभ्यता तथा संस्कृति का विवरण तथा उनके राजनैतिक ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की जानकारी प्राप्त करने के लिए यह साहित्य-भण्डार अपने तरह की निराली और अमूल्य निधि है। इसके अभाव में हमारे इतिहास और प्रगति के ज्ञान का मूल अध्याय ऐसे अंधकार में पड़ जाता कि हमारे लिए और हमारे आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए अपने स्वरूप और मूल को पहचाना असम्भव हो जाता और हमारे ऋषियों, मुनियों तथा द्रष्टाओं के कृतियों पर अनेक प्रकार के काल्पनिक तर्क-वितर्क का जाल-सा फैल जाता।

ऋग्वेद-काल की सभ्यता

ऋग्वैदिक कालीन राजनैतिक व्यवस्था—भारत के प्राचीनतम इतिहासकाल को दो मोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है; (१) ऋग्वैदिक काल और (२) उत्तर वैदिक काल। यह काल पुराणों के अनुसार पंचानवे पीढ़ियों अथवा लगभग दो हजार वर्षों का है। इसका प्रथम चरण ऋग्वैदिक काल है, जब आर्य लोग सप्त सिंधु प्रदेश में निवास करते थे। इनका मुख्य केन्द्र-स्थान इस समय सरस्वती नदी के दोनों किनारों पर था। यह पवित्र

नदी जिसकी प्रशस्ति में आर्य ऋषियों ने अनेक मंत्रों को लिखा और जिसके तट पर अनेक यज्ञों का अनुष्ठान हुआ है, आज विलीन हो चुकी है। यह नदी सतलज और थानेश्वर के बीच बहती थी।

ऋग्वैदिक काल में राजनैतिक व्यवस्था की प्रारम्भिक इकाई कुटुम्ब था। आर्य कुटुम्ब पितृ-प्रधान थे। परिवार के बड़े बूढ़े का या पिता का अपने परिवार पर पूरा अधिकार होता था। कई कुटुम्ब या कुल मिलकर एक गाँव होता था और उसके प्रधान को ग्रामणी कहा जाता था। ऋग्वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान थी। कई गावों को मिलाकर एक 'विश' बनता था और उसका प्रधान विशपति कहलाता था। विशों के समूह को 'जन' कहते थे। 'जन' का प्रधान 'राजा' होता था। राजा को गोप भी कहते थे। 'जन' ही शासन का वास्तविक दायरा था और राजा जनता का वास्तविक रक्षक होता था। प्रारम्भिक काल में राजा को साधारण जनता चुनती थी, पर कालान्तर में राजपद प्रायः वंशागत बन चुका था। राजा शत्रुओं का नाश करनेवाला समझा जाता था। उसका स्थान सर्वोच्च माना जाता था और उसका निवास-स्थान सुसज्जित तथा अलंकृत होता था। राजा युद्ध में अपने 'जन' का नेतृत्व करता था और शान्ति के समय उनकी रक्षा करता था। प्रजा की रक्षा करना, शत्रुओं से युद्ध करना तथा यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना राजा के मुख्य कर्त्तव्य थे। राजा सेना का मालिक था पर उसकी सहायता के लिए सेनानी भी होता था जो राजा की सेना का प्रबन्ध करता था। राजा की सहायता ग्रामणी भी करते थे। राजकाज में पुरोहित का बहुत हाथ होता था। राजा के बाद पुरोहित ही प्रभावशाली व्यक्ति होता था। वह राजा का धर्म गुरू और परामर्शदाता होता था। "वैदिक काल के पुरोहित को उस ब्राह्मण राजनीतिज्ञ वर्ग का अग्रणी समझना चाहिए जिससे भारतीय राजनीति में समय समय पर अपूर्व योग्यता और बुद्धि प्रदर्शित किया और राजकाज में अपना प्रभाव दिखाया।" यह पुरोहित का कार्य भी वंशानुगत होता था पर समय समय राजा की अप्रसन्नता के कारण पुरोहित बदला भी जा सकता था। वैदिक साहित्य के विश्वामित्र और वशिष्ठ का पुरोहित-कुल इतिहास-प्रसिद्ध हो चुका है। उस समय भी राजा स्वेच्छाचारी नहीं था। उसको राय और मंत्रणा देने के लिए 'सभा' और 'समिति' नाम की दो संस्थाएँ थी। इनमें 'सभा' अधिक प्रभावशाली थी

और उसमें जन-वृद्धों की संख्या अधिक थी। 'सभा' और 'समिति' के संगठन, कार्य तथा अधिकार के विषय में विद्वान एक मत नहीं हैं। 'सभा' तथा 'समिति' राज्य कार्य में राजा को निर्देश देती थी और उसे निरंकुश होने से रोक सकती थीं। वेदों में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि समिति की बैठकों में राजा स्वयं उपस्थित रहता था।

ऋग्वैदिक काल में राज्य छोटे-छोटे होते थे। पर आवश्यकता पड़ने पर एक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली राजा की अध्यक्षता में अन्य राजा एकत्रित और संगठित हो जाते थे। सुदास के विरुद्ध विश्वामित्र द्वारा उत्तेजित दस राजाओं ने संगठित होकर युद्ध किया था। युद्ध का कारण सुदास के पुरोहित विश्वामित्र का क्रुद्ध होना था। सुदास ने विश्वामित्र को पुरोहित-पद से हटाकर दिया था और उसके स्थान पर वशिष्ठ कुल का एक अन्य ब्राह्मण पुरोहित बनाया था। विश्वामित्र ने अपने अपमान का बदला लेने के लिए पंजाब के दस राज्यों का एक संघ बनाया और रावी (परुष्णी) के तट पर घमासान युद्ध हुआ जिसमें विश्वामित्र को मात खानी पड़ी और सुदास विजयी हुआ। इस विजय के उपलक्ष में वशिष्ठ कुल के पुरोहित ने प्रशंसा-सूक्त गाये। ऋग्वैदिक काल में आर्य कई 'जनों' में विभक्त थे, उनमें मुख्य 'पंच जन्य' थे। उनके नाम अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वस और पुरु थे। इसके अतिरिक्त 'भरत', क्रिवि आदि अन्य राज्य या 'जन' भी थे।

आर्य राजाओं के पारस्परिक युद्ध के वर्णन वेदों में मिलते हैं। पर साथ ही उनको अनार्यों से भी युद्ध करने पड़ते थे। आर्य अनार्यों को 'दस्यु' और 'दास' कहते थे। अनार्य अपनी भूमि और सम्पत्ति के लिए जी जान से युद्ध करते थे और परास्त होने पर पहाड़ों तथा जंगलों में शरण लेते थे। जो न भाग सके, उनको आर्यों ने दास बनाया। दास समाज में निम्नतम श्रेणी में रक्खे जाते थे। युद्ध में आर्य कवच, शिरस्त्राण, बाहुरक्षक, धनुष-बाण, भाला, तलवार, ध्वजा, पताका आदि का प्रयोग करते थे। राजा के पास गुप्तचर और दूत भी होते हैं।

सामाजिक व्यवस्था—ऋग्वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार भी कुटुम्ब ही था। यों तो पिता दया और प्रेम की मूर्ति होता

था, पर समाज और नीति विरोधी कार्य पर वह अपने परिवार वालों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार करता था। अपने परिवार के विषय में पिता का अधिकार विस्तृत और कड़ा था। पिता कर्मनिष्ठ व्यक्ति होता था और परिवार के लोग उसके संरक्षण और अधिकार में रहते थे। परिवार में पुत्र का महत्व अधिक था और पुत्र जन्म के समय परिवार में बड़ा आनन्द एवं उत्सव मनाया जाता था। पर पुत्री का पालन-पोषण भी बड़ी मुस्तैदी और ध्यान के साथ किया जाता था। लड़कियों को भाई के साथ सम्पत्ति में भाग मिलता था। उनकी शिक्षा दीक्षा का भी समुचित प्रबन्ध था। विश्ववारा, घोषा, अपाला आदि स्त्रियाँ इतनी सुशिक्षिता थीं कि वे वैदिक सूक्तियों की रचना कर सकती थीं।

घर में पत्नी का सादर होता था। यज्ञादि कर्मों में वह पति के साथ समान भाग लेती थीं। विवाह कम अवस्था में नहीं होते थे। विवाह में वर-कन्या की राय का मूल्य होता था। एक विवाह की प्रथा ही अधिक प्रचलित थी, बहुविवाह अपवाद था। विधवा विवाह तथा नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। पर्दा प्रथा का रिवाज नहीं था। सभा और समिति में स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं।

ऋग्वैदिक काल का समाज आर्य और आर्येतरों से मिलकर बना हुआ था। जाति के आधार पर समाज में पहले दो ही वर्ग थे, एक आर्य और दूसरा आर्येतर। पर आर्थिक और सामाजिक जीवन के विकास के साथ साथ कई जातियों का जन्म हो गया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य), वैश्य और शूद्र जातियों का वर्णन अलंकारिक ढंग से किया गया है। विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, उसकी बाहुओं से राजन्य, उसकी जंघाओं से वैश्य और पाँवों से शूद्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार समाज रूपी एक ही विराट शरीर से इन चार वर्णों का जन्म हुआ। कुछ दिनों तक प्रारम्भ में जाति का निर्णय जन्म से नहीं, व्यवसाय से ही होता रहा, पर यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल पायी। समाज की जटिलता और कठोरता ने इस जाति-प्रथा को कठोर बना दिया।

भोजन तथा पेय—ऋग्वैदिक काल में सामिष भोजन का प्रचार था। जौ का प्रयोग अधिक होता था। फलों और तरकारियों का प्रयोग अधिक

होता था। दूध भोजन का प्रधान अंग था। शहद का भी प्रयोग अधिक होता था। माँस भी आर्य लोग खाते थे। गाय अपने आर्थिक महत्व के कारण 'न मारने योग्य' (अघ्न्या) कही गयी है किन्तु विवाह, आदरणीय अतिथि के आगमन के अवसर पर कुछ जानवर मांस के लिए मारे जाते थे।

दूध और जल के अतिरिक्त सुरा और सोम का प्रयोग भी पेय सामग्री में होता था। आर्य आसव-पेयी थे। 'सोम' पान धार्मिक कृत्यों और उत्सवों के अवसर पर आवश्यक समझा जाता था। ऋग्वेद का एक पूरा (नवाँ) मण्डल सोम की प्रशंसा में ही लिखा गया है। ऋषियों ने अति सुरा-पान को वर्जित कहा है क्योंकि अत्यधिक मादकता का फल समाज में अनाचार का कारण होता था।

आमोद-प्रमोद के साधन—ऋग्वैदिक काल में आर्यों का जीवन सुखी था। वे प्रसन्न चित्त रहते थे। जीवन के प्रति लोगों में उदासीनता नहीं थी। उत्सव और मेलों का पर्याप्त आयोजन होता था। नाच और गान का भी खूब प्रचार था। घुड़सवारी की प्रथा अधिक हो रही थी। घुड़दौड़ और रथदौड़ की प्रथा थी। वेदों में जुआ की निन्दा की गयी थी, फिर भी लोगों में इसकी लत थी। ऋग्वेद में द्यूत (जूआ) के सम्बन्ध में एक करुण सूक्त कहा गया है जिसमें एक जुआरी दाव पर अपने स्त्री रखकर हार गया है। दुंदुभि, बाँसुरी (कर्करि) वीणा, शंख, शृंग आदि बाजे बजते थे। सामवेद के गानों का विकास ऋग्वैदिक संगीत का ही फल था। संगीत प्रायः आनन्दमय होता था। इस युग में आखेट भी एक मनोविनोद का साधन था। लोग हाथी, सिंह, मृग, सूअर, भैंसे तथा पक्षियों का शिकार करते थे।

पहनावा एवं शृंगार—वेद में ऐसे अनेक स्थान भी हैं जहाँ शृंगार, आभूषण और वस्त्रों का वर्णन आया है। ऋग्वेद-काल के लोग अपने को अलंकृत करते थे। अपने शरीर को वे तीन वस्त्रों से ढकते थे। इनमें से एक **नीवी** (धोती या साड़ी जिसे अधो वस्त्र भी कहते हैं), दूसरा **अधिवास** (उत्तरीय या चादर) और तीसरा **पेशस्** (काम किया हुआ अंगरखा या चोली) था। पुरुष पगड़ी भी बाँधते थे। कुछ वस्त्रों पर सोने

चाँदी का काम होता था जिसे विशेष अवसर पर पहना जाता था। उस समय सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र तैयार करने की विधि ज्ञात थी।

स्त्री और पुरुष दोनों ही शृंगार करते थे। दोनों में आभूषण पहनने की प्रथा थी। स्त्रियाँ बालों को कंघी से सँवार कर वेणी (चोटी) करती थीं। कर्ण शोभन, निष्कग्रीव (कंठहार), कंगन, हार आदि गहनों का प्रयोग होता था। कभी-कभी मृगचर्म का भी प्रयोग होता था। कुछ दाढ़ी (श्मश्रु) रखते थे और कुछ उस्तरे से बाल कटवाते थे।

आर्थिक जीवन और पेशा—आर्यों को भारत में पहले युद्ध अत्यधिक करना पड़ा था। अधिकांश लोगों का पेशा ही युद्ध हो चला था। साथ साथ युद्ध में विजयी होने के लिए तरह तरह के हथियारों का निर्माण भी उनका एक मुख्य पेशा बन गया था। साथ ही पशु-पालन की प्रथा अधिक थी और तरह तरह के पशुओं को पालने की कला में वे निपुण हो चुके थे। भारत में आकर उन्हें कृषि का चसका लगा और उन्होंने इस पेशे को अधिक प्रधानता देना शुरू किया। साँड़ या बैल से खेती होती थी और आवश्यकतानुसार नालियों द्वारा खेतों में पानी पहुँचाया जाता था। आर्य अधिकतर जौ और तिल की खेती करते थे, बाद को गेहूँ भी बोया जाने लगा। जमीन परिवार की मुख्य सम्पति समझी जाती थी।

पशुओं में गाय, बैल, घोड़े, बकरे, कुत्ते और गदहे पाले जाते थे। पशुओं का व्यापार होता था और अधिक समय तक ये पशु ही विनिमय के साधन बने रहे।

खेती के साथ-साथ अन्य सहयोगी पेशे भी बढ़ते गये। उनमें बढ़ई का काम अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। बढ़ई के कौशल की समता सूक्त रचने की चातुरी से की गयी है। वैदिक समाज में उसका महत्व इसलिये अधिक था क्योंकि वह युद्ध सामग्री और रथ एवं कृषि की चीजों का निर्माण करता था। इसके बाद कलावन्त थे जो धातु के सामान बनाते थे। सुनार आभूषण बनाते थे। चमड़े के काम करने वालों और कपड़ा बुनने वालों का पेशा भी उस समय होता था। किसी पेशा को नीच नहीं समझा जाता था।

इसके अलावे व्यापार भी उस युग में होता था। व्यापार के मार्ग, व्या-

पारी, विनिमय, मोलभाव, सिक्के तथा व्याज आदि की चर्चा तत्कालीन साहित्य में मिलती है। सिक्के का प्रचार कम था। 'निष्क' नाम का एक सिक्का प्रचलित था, पर विद्वानों में मतभेद है कि निष्क सिक्का था या नहीं। मुद्रा के अभाव में वस्तुओं का अदान-प्रदान होता था, पर कभी कभी गाय विनिमय का माध्यम होती थी।

कला-विज्ञान—ऋग्वेद काल में काव्य-कला का अच्छा विकास हुआ था। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र धार्मिक गीत-काव्य हैं। लेखन कला से अनभिज्ञ होते हुए भी उस समय के ऋषि उत्कृष्ठ छन्द और रचना करते थे। प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों की कल्पना, वर्णन और विवेचना में भावुकता, विश्लेषण एवं विचारों को प्रकट करने की पद्धति में उच्चकोटि की सफलता उन्हें मिली थी। संगीत और नृत्यकला का भी विकास उत्तरोत्तर होता जा रहा था।

ऋग्वेद काल में गृह-निर्माण की कला मालूम थी। बड़े बड़े मकान और नगर निर्माण की प्रथा उस समय तक नहीं चली थी। पर बाँस तथा फूस से बड़े बड़े घर बनाये जाते थे। लकड़ी का भी अच्छा प्रयोग गृह-निर्माण के लिए होता था।

धर्म—ऋग्वेद-काल में धर्म सरल था, पर देवी-देवताओं की प्रचुरता थी। उनकी देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियाँ थीं। ऋग्वेद में देवताओं के नाम इस प्रकार बताये गये हैं—पृथ्वी, सोम, अग्नि, इन्द्र, वायु, मरुत, पर्जन्य, वरुण, सूर्य, सवितृ, मित्र, विष्णु आदि। इन देवताओं में वरुण का स्थान अति उच्च था। वरुण आकाश का देवता था। उसके बाद इन्द्र का महत्व था। इनकी स्तुति में सैकड़ों मंत्र लिखे गये हैं। धीरे धीरे इन्द्र का महत्व अधिक होता गया। देवियों में 'ऊषा' प्रधान थी। उसके प्रति ऋग्वेद में सर्वोत्तम सूक्त गाये गये हैं। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए आर्य स्तुति करते थे और उनके लिए दूध, घी, मांस, अन्न का हवन करते थे। इस बात का भी संकेत मिलता है कि आर्यों को विश्वास था कि ये सब देवता एक ही प्रकृति के विभिन्न रूप हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि "ईश्वर एक है, वही सत् है जिसे विद्वान बहुत प्रकार से कहते हैं।" ऋग्वेद काल के देवता कल्याणकारी, शुभ और

सत् हैं। "वेदों में आर्य जाति की उन्मेष-शालिनी प्रतिभा का स्वच्छ प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। ऋषियों के धार्मिक विचार उनकी गम्भीर तत्व-जिज्ञासा और भक्ति भाव से उत्पन्न हुए थे। प्रकृति की पूजा करते करते ऋषि प्रकृति के नियन्ता एक अनादि, अनन्त परमात्मा की उपासना करने लगे। सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, ऊषा, अग्नि आदि इस प्रकृति के अद्भुत और सुन्दर पदार्थों में परमेश्वर का वास है, यह भावना ऋषियों के मन में दृढ़ हो गयी थी। वे प्रकृति के इन भिन्न भिन्न दृश्यों को सगुण और चेतनायुक्त मानते थे और उनकी स्तुति करते थे। धीरे धीरे प्रकृति के इन भिन्न रूपों में एक ही अखण्ड और चेतन सत्ता का अनुभव ऋषियों को होने लगा।" इस दृष्टि से ऋग्वेद-काल के आर्य अपने समवर्ती अन्य लोगों से अधिक प्रौढ़ और अग्रगामी थे।

उसी समय आर्यों में यह भी विश्वास पैदा हो गया था कि इस भौतिक शरीर के विनाश के बाद जीव का अन्त नहीं होता है, मृत्यु के बाद जीव इस शरीर को त्यागकर पितृ लोक या यमलोक जाता है। इस यात्रा और उन लोक का सजीव वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। स्वर्ग-नरक की कल्पना का भी सूत्रपात हो गया था और परलोक के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी चल पड़ा था।

उत्तर वैदिक काल की सभ्यता

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि ऋग्वेद काल में आर्य लोग सप्तसिन्धु के प्रदेश में रहते थे पर उसके बाद वे पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ने लगे। उनका मुख्य केन्द्र-स्थान कुरुक्षेत्र हो गया। इस नये युग को 'उत्तर वैदिक काल' कहते हैं और इसका समय लगभग १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना जाता है। इस युग में यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा स्मृति ग्रन्थों की रचना हुई। इन ग्रंथों के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि "आर्यों की सत्ता सुदूर पूर्व और दक्षिण के प्रदेशों में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।' आर्य संस्कृति का केन्द्र सप्तसिन्धु के प्रदेश से हटकर कुरुक्षेत्र, गंगा यमुना का अन्तर्वेद (द्वाबा) अथवा मध्य देश हो गया था। यहीं अब आर्य संस्कृति और सभ्यता फल-फूल रही थी। कोशल, काशी, विदेह

(उत्तर बिहार), आंध्र, बंग, अंग, उड़ीसा, मध्यप्रान्त अब आर्यों के नवीन केन्द्र बन गये थे।

तत्कालीन राज्य—ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों से उत्तरी भारत के राज्यों के विषय में हमें ज्ञान प्राप्त होता है। उस अतीत युग में यहाँ दस मुख्य राज्य थे। (१) **गांधार** का राज्य वर्तमान रावलपिण्डी और पेशावर के आस पास था। यह प्रदेश सिंधु नदी के दोनों ओर था। तक्षशिला और पुष्कलावती (पेशावर) उस समय के दो प्रसिद्ध नगर इस राज्य में थे। (२) **केकय** का राज्य पंजाब में गान्धार से व्यास नदी तक फैला था। उपनिषद् काल में इस राज्य का एक प्रसिद्ध राजा अश्वपति था। उसकी बहन का नाम कैकेयी था जिसका विवाह दशरथ से हुआ था। अश्वपति का यह दावा था कि उसके राज्य में "न चोर हैं, न कायर हैं, न अधम हैं, न कोई अविद्वान, और न कोई स्त्री पुरुष व्यभिचारी है।" (३) **मद्र** का राज्य स्यालकोट से रावी तक था। मद्र के राजा की पुत्री सावित्री भारतीय इतिहास में आर्य-नारीत्व के अनुपम आदर्श के रूप में प्रसिद्ध है। (४) **उशीनगर** का राज्य वर्तमान हरद्वार के पास था। (५) **मत्स्य** का राज्य अलवर, जयपुर और भरतपुर के इलाके में था। यहाँ के एक राजा का नाम विराट था जिसके राज्य में पांडवों ने अज्ञातवास किया था। (६) **कुरु** वर्तमान दिल्ली के आस पास का प्रदेश था। यहाँ के राजा परीक्षित और जनमेजय थे। उनकी राजधानी आसन्दीवन्त (वर्तमान हस्तिनापुर) थी। इन्होंने एक बार तक्षशिला तक का प्रदेश जीत लिया था। इसी वंश के एक राजा निचक्षु ने हस्तिनापुर के बाढ़ से बह जाने के कारण कौशाम्बी (प्रयाग से लगभग ३० मील पश्चिम) अपनी राजधानी बनायी थी। (७) **पांचाल** का राज्य वर्तमान रुहेलखण्ड में था। इसकी राजधानी काम्पिल्य थी। इसका एक राजा द्रुपद था जिसकी लड़की द्रौपदी पाण्डवों की पत्नी थी। पान्चाल दार्शनिक ज्ञान का एक अग्रणी क्षेत्र था। (८) **काशी** भी उस समय का एक प्रसिद्ध राज्य था और यहाँ का एक राजा अजातशत्रु था। यह मिथिला के राजा जनक का समकालीन था। कोसल का राज्य वर्तमान अवध में था। यहाँ रामचन्द्र के पूर्वज राज्य करते थे। इसकी राजधानी अयोध्या थी। (१०) **विदेह** का राज्य तिरहुत में था। यहाँ के राजा जनक के दरबार में बड़े बड़े तत्ववेत्ता और दार्शनिक रहते थे। इनके

अतिरिक्त मगध, अंग, आंध्र आदि का वर्णन भी इस युग के साहित्य में मिलता है। पर अभी इस ओर आर्यों का प्रभुत्व अच्छी प्रकार नहीं जम पाया था। धीरे धीरे आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रसार इन दिशाओं में हो रहा था। इस युग के अन्तिम चरण में दक्षिणापथ भी आर्य प्रभुत्व तथा प्रभाव-क्षेत्र में आ गया था।

उत्तर वैदिक काल की राजनीतिक दशा—ऋग्वेद के समय के जनपदों या राज्यों की सीमाएँ छोटी थीं पर उत्तर वैदिक युग में बड़े बड़े राज्य बन गये। ऋग्वेद काल के भरत वंश की शक्ति का ह्रास हो चुका था और उसके स्थान पर कुरु तथा पंचाल के राज्य महत्वपूर्ण बन गये थे। आदर्श राजा, आदर्श समाज और आदर्श व्यवहार के अच्छे उदाहरण कुरु और पंचाल के ही राज्य समझे जाते थे। अब राजन के स्थान पर 'सम्राट्', 'सार्वभौम' और 'चक्रवर्ती' उपाधि का प्रयोग राजाओं के लिए होने लगा था। इस युग के राजा राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। शक्ति, गौरव और समृद्धि में अब के राज्य ऋग्वेद काल के राज्य से बढे चढ़े थे। बड़े राजाओं की उपाधियाँ अधिराज, राजाधिराज, सम्राट, विराट, एकराट और सार्वभौम थीं। यज्ञों की परम्परा के साथ साथ राजाओं के यहाँ आडम्बर भी बढ़ने लगा। पुरोहित की शक्ति भी बढ़ गयी। राज्याभिषेक में अब बहुत तड़क भड़क आ गयी। इसमें पुरोहित, राजन्य, महिषी, सूत, सेनानी, ग्रामणी, कोषाध्यक्ष आदि भाग लेने लगे थे। राजा की बढ़ती हुई शक्ति और गौरव के साथ साथ सभा तथा समिति का महत्व भी क्षीण होने लगा। फिर भी राजा पर अभी प्रजा का प्रभाव था और राजा बिलकुल मनमानी नहीं कर सकता था। राजा अब रणक्षेत्र में कम जाता था और उसने अपने सेनानी को फौज का काम सौंप दिया था। सेनानी का पद धीरे धीरे महत्वपूर्ण होता जा रहा था। पर न्याय का सर्वोपरि अधिकारी अभी राजा ही होता था।

सामाजिक व्यवस्था—सामाजिक व्यवस्था में ऋग्वेद काल की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। वेश भूषा, गृह-निर्माण, पहिनावा आदि में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन इस युग में नहीं हुआ, इस युग में रेशमी वस्त्र का प्रयोग कुछ अधिक होने लगा था। भोजन में माँस का स्थान अब

निम्न स्तर का हो गया। अथर्ववेद की एक सूक्त में यह बताया गया है कि माँस खाना और सुरापान करना पाप है। मनोविनोद के साधनों में संगीत, नृत्य और वाद्य के साथ साथ नाटक का प्रचार अधिक हो गया।

इस युग में स्त्रियों की दशा में अधिक परिवर्तन हुआ। राजवंशों और अन्य धनी घरों में अब बहु विवाह की प्रथा चल पड़ी थी। पुत्री का पैदा होना अब पहले की तरह उल्लास का कारण नहीं समझा जाता था। इस काल में स्त्रियाँ 'सभा' में नहीं भाग लेती थीं। पर अभी तक स्त्रियों के लिए ज्ञानार्जन की सुविधा थी। गार्गी, मैत्रेयी आदि के उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं। गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य को जनक की सभा में शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था।

उत्तरकालीन वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था अधिक दृढ़ हो गयी थी। विभिन्न जातियों के बीच पार्थक्य की रेखा अधिक गहरी और स्पष्ट हो रही थी। अब जाति-प्रथा का आधार कर्म न रह कर जन्म बन गया था। फिर भी अभी कभी कभी विभिन्न वर्णों में वैवाहिक सम्बन्ध हो जाया करता था। ब्रह्मर्षि च्यवन ने एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया था। क्षत्रिय भी दर्शन और वेद के अध्ययन में रुचि रखते थे। जनक, अजात शत्रु, जैवलि, और केकय के राजा अश्वपति प्रसिद्ध दार्शनिक तत्व-चिन्तन करने वाले थे। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस युग में विभिन्न वर्णों के लिए अपने अपने आचार-विचार के नियम, अनुशासन के विधान और काम निश्चित हो चुके थे और उनमें काफी कठोरपन आने लगा था।

इस युग में चार आश्रमों की प्रथा भी दृढ़ हो गयी थी। प्रत्येक द्विज का जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में विभाजित किया जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदाध्ययन; गृहस्थाश्रम में धनोपार्जन, सन्तानोत्पत्ति और समाज का पालन-पोषण; वानप्रस्थ आश्रम में मुनियों का जीवन और सन्यास आश्रम में संसार से विरक्ति लेने का काम निश्चित था। मानव जीवन का यह परिष्कृत और वैज्ञानिक विभाजन संसार की किसी अन्य सभ्यता में देखने-सुनने को नहीं मिलता है, इसीलिए प्रसिद्ध जर्मन विद्वान ड्यूसन ने इस प्रथा की मुक्त कंठ से सराहना की है।

उत्तरकालीन वैदिक युग में शूद्रों की स्थिति और अधिक बिगड़ गयी थी।

इस काल में आर्यों का शूद्र स्त्रियों के साथ विवाह विवर्जित था और निम्न समझा जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण ने एक स्थान पर लिखा है कि "शूद्र अन्यों के भृत्य हैं, और स्वेच्छा से रखे और निकाले जा सकते हैं। उनका वध तक सम्भव है।"

पेशा की वृद्धि के साथ साथ उपजातियों की भी वृद्धि होती जा रही थी। अनार्यों के मेल से शूद्र वर्ण में अनेक नई जातियाँ बन गयी थीं। निषाद तथा व्रात्य ऐसी ही नई जातियाँ थीं।

आर्थिक जीवन--आर्यों के आगे बढ़ने के साथ-साथ उनमें नये धंधे बढ़ते जाते थे। कृषि पर अधिक जोर दिया जाने लगा था। पशु पालन की अपेक्षा यही पेशा आर्यों का मुख्य धन्धा हो गया। जंगल काट कर बड़े खेत बनाये गए। बड़े बड़े हलों का प्रचार हुआ। खाद का प्रयोग अधिक होने लगा था।। गेहूँ, चावल, दाल की खेती को महत्व दिया जाता था। साथ ही अन्य पेशे भी चल पड़े। सूत कातना, कपड़ा बुनना, सुनारी करना, धोबी, रंगसाज, लुहार, कुम्हार, गायक, नर्तक आदि वर्ग और पेशे उठ खड़े हुये। इस काल में सीसा, टिन, लोहा, ताँबा का प्रयोग अधिक बढ़ गया। इस युग में सिक्के की प्रथा चल पड़ी थी। देश में बड़ बड़े भूमिपति हो गये थे। व्यापार की भी वृद्धि हुई, अतः व्यापारी वर्ग का स्थान समाज में विशिष्ट हो चला। व्यापारियों के संगठन भी बनने लगे।

धर्म और दर्शन—उत्तर वैदिक काल के धार्मिक विश्वास और दार्शनिक विचार-धारा में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ देवी-देवता जो ऋग्वेद के समय में प्रधान थे, अब समय के प्रवाह के साथ गौण बन गये और कुछ अन्य जो गौण थे, अब उनका प्राधान्य हो गया। रुद्र और विष्णु की प्रधानता हो गयी। रुद्र को अब 'महादेव' कहा जाने लगा और शिव को आर्यों ने एक कल्याणकारी देवता के रूप में स्वीकार किया।

इस काल में ब्राह्मणों का प्राधान्य हो गया। वेद, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान अधिकांश ब्राह्मण वर्ग ही तक सीमित होने लगा। वे ही अब मंत्रों, सूक्तों और ऋचाओं के जानकार समझे जाते थे। धीरे धीरे उनका गौरव और उनकी प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गयी और वे 'भूदेव' के नाम से सम्बोधित

हो गये। यज्ञ, अनुष्ठान में विविध प्रकार के आडम्बरों और क्रियाओं का प्रचलन चल पड़ा। समाज में ब्राह्मण-वर्ग के भीतर भी एक कर्मकाण्डी दल बन गया जिसका महत्व समाज में बढ़ गया। पर साथ-साथ एक दूसरा दल भी जागरूक हो चला जिसकी प्रवृत्ति चिन्तनशील और दार्शनिक क्षेत्र में अधिक मुखरित हुई। इस धारा के प्रमुख जनक, जैवलि, अश्वपति आदि राजन्य थे। याज्ञवल्क्य उस समय के प्रधान दार्शनिक थे। आत्मा-परमात्मा की विषद् व्याख्या का इस युग में प्राधान्य रहा। यही उपनिषद्-विद्या का प्राण था, इस वर्ग ने ज्ञान पर अत्यधिक जोर दिया। वेदान्त के प्रसिद्ध वाक्य "तत् त्वं असि" का खूब प्रचार हुआ। पुनर्जन्म, कर्म सिद्धान्त, ज्ञान और आत्मा की विषद् व्याख्या की गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में कर्म काण्ड और ज्ञान या वेदान्त दो विरोधी विचार-धाराओं को साथ-साथ बल मिला। शास्त्रों के पठन-पाठन में अनेक बारीकियाँ निकाली गयी और शब्द शास्त्र (निरुक्त), ज्योतिष, व्याकरण तथा सूत्र ग्रंथों की रचना हुई। इस नवीन साहित्यिक पद्धति में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात रखने की कला चरम सीमा पर पहुँच गयी, अतः इन ग्रंथों की भाषा बड़ी दुरूह हो गयी।

ज्ञान की प्रधानता की परम्परा हमें अरण्यक और उपनिषद् ग्रंथों में दीख पड़ती है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक में जोर दिया गया है कि जिसने ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह मृत्यु के उपरान्त ब्रह्ममय हो जाता है और आवागमन से भी मुक्त हो जाता है। इसी युग से यह विचार चल पड़ा कि मनुष्य का जन्म उसके कर्मों के अनुसार होता है। पर यह भी सच है कि यह ज्ञान कुछ अधिक अध्ययन तथा चिन्तनशील व्यक्तियों तक ही सीमित रह गया और साधारण जन-समूह साहित्यिक दुरूहता एवं कठिन शैली के कारण वेद, वेदांग के अध्ययन से वंचित होने लगा। लोगों में अन्ध विश्वास, भूत-प्रेत और जादू-टोने में विश्वास जोर पकड़ने लगा।

इस युग के अन्तिम चरण में सूत्र साहित्य का प्रचार हुआ। सूत्रों की विशेषता सूक्ष्म होने में है ताकि आसानी से मंत्रों, नियमों तथा अन्य बातों को कण्ठाग्र किया जा सके। इस शैली के अनेक ग्रन्थ लिखे गये। साधारणतया सूत्र-काल ई० पू० ५०० से ईसा की दूसरी शताब्दी तक माना जाता है। इसी युग में व्याकरण के प्रसिद्ध विद्वान पाणिनी हुए थे। उनकी लिखी 'अष्टाध्यायी'

अपने तरह की बेजोड़ पुस्तक है। सूत्र-ग्रन्थों में (१) श्रौत सूत्र, (२) गृह्य सूत्र और (३) धर्मसूत्र हैं। ये सूत्र ग्रंथ सामाजिक और व्यक्तिगत सभी प्रकार के आचार-विचार के नियमों के संग्रह और निर्देशक हैं। भारतीय आचार-विचार, परम्परा और रीति-रिवाज की सारी भित्ति इन्हीं ग्रंथों पर बनी है। सूत्र-ग्रन्थों की तरह धर्म-शास्त्र के ग्रंथ में इस युग की विशेष देन हैं। इनमें मानव धर्म शास्त्र (मनुस्मृति) विष्णु-धर्म-शास्त्र, याज्ञवल्क्यस्मृति और नारदस्मृति प्रधान हैं। इन्हीं धार्मिक ग्रंथों ने हमारे वर्णाश्रम व्यवस्था का आधुनिक रूप दिया। इनमें प्रत्येक वर्ण के लिए जन्म से ही कर्म निश्चित किये गये। स्त्रियों के लिए, राजाओं के लिए और न्याय व्यवस्था के लिए भी इन ग्रंथों में विशिष्ठ नियम लिखे गये हैं।

आर्य सभ्यता और संस्कृति के इस प्रवाह पर विचार करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्य जाति का मस्तिष्क ज्ञानार्जन में सदा संलग्न रहा और उनकी चिन्तन एवं विचार-शक्ति सदा अकुंठित रही। साथ ही भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होते रहने के साथ-साथ आर्य-समाज में अनेक युगान्तरकारी चढ़ाव-उतार हुए जिनकी अमिट छाप आज भी हमारे जीवन में स्पष्ट दीख पड़ती है।

ईरानी आर्य और यूनानी आर्य

ईरानी आर्य—पहले संकेत किया जा चुका है कि आर्यों की एक शाखा ने ईरान में और दूसरी शाखा ने ग्रीस (यूनान) में अपना पड़ाव डाला और वे वहीं जम गये। ईरान में आर्यों ने ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व प्रवेश कर। वहाँ के बेबीलोनिया और असिरिया वंश के राजाओं को परास्त किया और उनकी जगह पर पैर जमा लिये।

जिस प्रकार आर्यों को भारत में चप्पे-चप्पे भूमि के लिए अनार्यों से युद्ध करना पड़ा, उसी प्रकार ईरान में भी वहाँ आर्य-टोलियों को काफी डट कर ईरान के पूर्ववर्ती राजाओं का सामना करना पड़ा। असीरिया (असुर वंश) के राजाओं को ध्वस्त करने का काम आर्य वंश के मिडिया कुल के राजाओं ने किया। ईरान में आर्य कुल के राजाओं के प्रवेश करने के पूर्व वहाँ असुर

वंश प्रतिष्ठित था। इन असुर राजाओं को नष्ट करके मीडिज राजाओं ने कुछ समय तक ईरान में राज्य किया। "मीडिज राजाओं ने ईरान (फारस) को आर्य भाषा और छत्तीस अक्षरों की वर्णमाला दी। भवन निर्माण की कला में सुन्दर स्तम्भों का निर्माण इन्हों ने शुरू किया। पितृ-प्रधान परिवार और बहुविवाह की प्रथा ये लोग अपने साथ लाये। एकेश्वरवादी जरथुस्त्र (जोरोस्तर) का धर्म जिसमें अहुर-मज्द (आहुरा-माज़दा) की पूजा होती थी, इन्हीं के देन है।" जोरोस्तर के उपदेश जिस ग्रंथ में लिखे हैं, उसे "आवेस्ता" कहते हैं। यही ग्रंथ पारसियों का धर्म-ग्रंथ है।

ईरान में आर्य वंश के अनेक वीर और पराक्रमी राजा हुए। काइरस, कैम्बिसिज़ और दारा (डेरियस) के नाम ईरान या प्राचीन फारस के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने आस-पास के सब राज्यों को जीत कर नील नदी से एशिया माइनर और अफगानिस्तान तक अपने अधिकार में कर लिया था। अन्त में सिकन्दर ने ३३० ई० पू० में फारस को जीत कर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

भारतीय और ईरानी आर्यों के राज्य विस्तार और संगठन में प्रारम्भिक काल में अवश्य समानता थी, पर कुछ ही दिनों बाद ईरानी आर्यों ने बड़े बड़े साम्राज्य स्थापित किये और उनकी रक्षा और गौरव के लिए बड़ी सेना का भी संगठन किया। भारत के आर्यों को ऐसे साम्राज्य स्थापित करने का चसका नहीं था। उन्होंने इस देश के बाहर साम्राज्य स्थापित करने की बात कभी नहीं सोची। पर ईरानी राजाओं ने मिस्र, यूनान, तुर्की, सीरिया, एशिया माइनर आदि को जीतकर उन देशों पर शासन किया। चूँकी उनका साम्राज्य सुदूर देशों तक फैला था, अतः अपने प्रान्तों में उन्होंने गवर्नर (क्षत्रप) नियुक्त किये जो राजा की ओर से उन देशों का शासन करते थे। साम्राज्य की व्यवस्था, प्रशासन और रक्षा के लिए ईरानी राजाओं ने लम्बी-चौड़ी सड़कों का निर्माण किया था। उन्होंने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ वर्षों तक सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी थी। उन्होंने एक जल-सेना का भी निर्माण किया था। राजा राज्य का सार्वभौम प्रधान होता था, पर बड़े लोगों की एक समिति उसे परामर्श देने के लिए होती थी। दण्ड विधान बहुत कठोर था। इस बातों में ईरानी आर्य अपने समकालीन भारतीय राजाओं से भिन्न थे।

ईरान ने धर्म के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति की । वे अपने पूर्वजों, पृथ्वी, सूर्य आदि की पूजा करते थे । भारतीय प्राचीन धर्म के प्रचारकों तथा प्रणेताओं में अनेक स्रष्टा-द्रष्टा थे, पर ईरानी धर्म के मूल में सर्वप्रधान एक ही महात्मा जरथुस्त्र का नाम लिया जाता है । वैदिक पुरोहितों की तरह वहाँ भी 'मग' नाम का एक पुरोहित-वर्ग होता था । पर जरथुस्त्र के बाद एकेश्वरवाद और नीति धर्म का प्रचार बढ़ा । उनका ईश्वर 'अहुर-मज्द' था जो दया, धर्म, पवित्रता न्याय आदि गुणों की मूर्ति था । इनका विश्वास था कि संसार में सत्, असत् का द्वन्द्व चलता है और अन्त में सत की विजय होती है । जरथुस्त्र के उपदेशों का संग्रह 'अवेस्ता' में है । इसमें और वेदों में भाषा की दृष्टि से बहुत समानता पायी जाती है । ईरान की प्राचीन भाषा में वैदिक शब्द सत, यज्ञ, मित्र, सोम आदि कुछ हेर-फेर के साथ पाये जाते हैं । इस समानता के आधार पर विद्वानों का कहना है कि वेद और 'अवेस्ता' की भाषा का स्रोत एक रहा होगा और एक समय ईरान तथा भारत के आर्य साथ-साथ रहते थे । ईरानी भी प्राचीन आर्यों की तरह मूर्ति-पूजा नहीं करते थे । ईरानी मृत शरीर को कोई महत्व नहीं देते थे और मरने पर शव को पशु-पक्षियों के खाने के लिये फेंक देते थे । कालान्तर में वहाँ भी पुरोहित वर्ग का प्राधान्य हो गया और लोगों में अन्ध विश्वास फैल गया ।

ईरान साहित्य उतना उच्चकोटि का न हो सका जितना भारतीय आर्य-साहित्य था । उनके गीतों में वह प्रभावोत्पादक भावना, कल्पना, मनोवेग और सौष्ठव नहीं पाया जाता जो आर्यों की प्रार्थना-गीतों में है ।

भारतीय आर्यों की तरह ईरान में भी स्त्रियों को पहले पुरुषों के समान ही स्वतंत्रता तथा अधिकार प्राप्त थे । बाद में पुत्र का स्थान पुत्री से श्रेष्ठ माना जाने लगा । पुत्र पैदा होने पर परिवार में प्रसन्नता प्रकट की जाती थी और पुत्री के जन्म से कुछ उदासी छा जाती थी ।

साम्राज्य लिप्सा के कारण ईरान में उस समय कलात्मक प्रवृत्ति का विकास नहीं हो सका । सजावट और कलात्मक चीजों को वे बाहर से मँगा लेते थे । केवल वास्तु-कला में उन्होंने अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की । राजभवन, समाधि, स्तम्भ, सड़क, नहर तथा पुल के निर्माण में ईरानी भारतीय आर्यों से बढ़े-चढ़े थे । पर भारतीय दर्शन, वेदान्त तथा साहित्य की बारीकी की बराबरी

तत्कालीन ईरानी आर्य नहीं कर सके। संसार के इतिहास में ईरानी आर्य वह पहली जाति थी जिसने सफलता पूर्वक सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों को एक साथ ही एक ही केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत रक्खा और सब धर्मों तथा सभ्यताओं के प्रति एक अपूर्व स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता का भाव दिखाया।

यूनानी आर्य—ईरान की तरह आर्यों की एक शाखा ने यूनान (ग्रीस) में अपना राज्य स्थापित किया। यूनान में ई० पू० २००० के लगभग विभिन्न आर्य जातियों ने उत्तर की ओर से प्रवेश किया और धीरे धीरे समस्त यूनान पर अधिकार कर लिया। इन आर्यों की दो प्रधान शाखाएँ थीं। एक का नाम था एकियन जिसने एथेन्स की संस्कृति का विकास किया, और दूसरी का नाम डोरियन था जिसने स्पार्टा में नेतृत्व कर ख्याति प्राप्त की थी। इन आर्यों ने एजियन सभ्यता का विनाश कर अपना प्रभुत्व एशिया माइनर तक फैलाया। प्राचीन समय में ग्रीस को हेलाज (Hellas) कहा जाता था क्योंकि सर्वप्रथम हेलाज नामक जिले में ही वहाँ के निवासियों के पूर्वजों ने बस्ती बसायी थी।

यूनान का प्राचीन इतिहास वीरगाथा काल था। उस युग के दो बड़े वीरों एकिलीज (Achilles) और युलिसीज (Ulysses) के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। होमर के महाकाव्य* में इन्हीं वीरों की गाथाएँ लिखी गयी हैं। उसके बाद ऐतिहासिक युग में ड्रैको (Draco), मिल्टाइडीज़ (Miltiades), पेरीक्लीज (Pericles) और सिकन्दर आदि राजाओं के नाम आते हैं जिनके समय में यूनान ने जीवन के हर क्षेत्र में अतीव प्रगति की और संसार के समक्ष भविष्य के लिए अनेक देन दिये। भौगोलिक, राजनैतिक तथा प्राकृतिक विशेषताओं के कारण यूनान की आर्य जाति का जीवन भारतीय आर्यों के जीवन से भिन्न था। ग्रीक आर्यों के प्रारम्भिक जीवन का ज्ञान हमें होमर के महाकाव्यों से मिलता है। उस समय आर्य छोटे-छोटे गिरोहों में विभाजित थे। प्रत्येक गिरोह का एक राजा होता था। उसका अधिकार दैवी समझा जाता था। राजा ही प्रधान सेनापति, प्रधान पुरोहित और प्रधान न्यायाधीश होता था। सरदारों की एक सभा उसे राय देती थी। भारत में उस समय राजा को मंत्रणा देने के लिए पृथक मंत्री होता था और

---

*होमर के दो अमर महाकाव्य : Iliad (इलियड) और Odysey (ओडिसी)

उस काम को उसका ब्राह्मण पुरोहित ही करता था। इस दृष्टि से सप्तसैंधव आर्यों की परम्परा से ग्रीक आर्यों की यह प्रथा भिन्न थी। उस समय ग्रीक आर्यों का मुख्य धंधा पशुपालन और खेती था। वे फलों से मदिरा भी तैयार करते थे। उनमें शिकार करने की भी प्रथा थी। वैदिक आर्यों में समुद्री व्यापार की प्रथा नहीं थी, पर ग्रीक आर्य खूब व्यापार करते थे। "होमर के समाज में स्त्रियों का स्थान जितना सम्मानपूर्ण था, उतना अन्यत्र कहीं नहीं रहा।" आतिथि-सत्कार की प्रथा उनमें खूब थी। व्यापारी जहाजों को लूटना उनके समाज में बुरा नहीं समझा जाता था, और इससे कुछ लोगों की जीविका चलती थी। भारतीय आर्यों की तरह होमर के समय के ग्रीक आर्य भी प्रकृति की शक्तियों को देवी-देवता मान कर पूजा करते थे।

होमर के बाद ग्रीस की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन हुए। भौगोलिक परिस्थिति और विभिन्न कबीलों के कारण ग्रीस में 'नगर-राज्य' की प्रथा दृढ़ हो गयी। इस सम्बन्ध में वे भारतीय आर्यों से बिलकुल भिन्न थे। उन नगर-राज्यों को ग्रीक भाषा में पोलिस (Polis) कहते हैं। *एथन्स, स्पार्टा, कोरिन्थ आदि अनेक नगर-राज्य ग्रीस में संगठित हुए और* फले फूले। "पोलिस से अभिप्राय पहले तो एक घिरे हुए नगर से था किन्तु बाद में एक सर्व-सत्ता-सम्पन्न राज्य समझा जाने लगा। इस नगर-राज्य में नगर, एक दुर्ग तथा नगर के समीप का कुछ भाग सम्मिलित होता था।" प्रत्येक नगर राज्य का अपना पृथक अस्तित्व होता था, अपनी शासन व्यवस्था होती थी, अपना देवता होता था और पृथक धार्मिक कृत्य होते थे।

इन नगर-राज्यों में प्रायः आपस में युद्ध होते रहते थे। यह पारस्परिक कलह उनकी अपनी विशेषता और कमजोरी थी। बाह्य आक्रमण के समय वे मिल-जुल कर काम करते थे और किसी एक शक्तिशाली नगर-राज्य के साथ मिलजुल कर दुश्मन का सामना करते थे। ईरान के बादशाह दारा के समय में यूनानी नगर राज्यों ने स्पार्टा की अधीनता में साम्राज्यवादी दारा की फौजों का डटकर मुकाबिला किया और उन्हें पछाड़ दिया। यह आपस का द्वन्द्व बहुत दिनों तक चला और अन्त में ईरान के साम्राज्य को यूनान के स्वतंत्रता-प्रिय नगर-राज्यों के सामने घुटने टेक देने पड़े। विदेशी आक्रमण का भय दूर होने के बाद उन नगर-राज्यों में आपस में झगड़े होने लगे। इस

पारस्परिक युद्ध में स्पार्टा और एथेन्स नगर-राज्यों का संघर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। इसी संघर्ष ने ग्रीस के नगर-राज्यों का अन्त कर दिया।

स्पार्टा—यह राज्य यूनान के दक्षिणी भाग में था। इस भाग में आर्यों की डोरियन शाखा राज्य करती थी। स्पार्टा मूलतः एक सैनिक राज्य था, जहाँ शासन का पूरा अधिकार कुछ विशेष वयोवृद्ध पुरुषों की एक समिति के हाथ में रहता था। यहाँ समिति राज्य और नागरिकों की संरक्षिता थी। इस राज्य में सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। स्पार्टा में साहसी वीर, राजभक्त तथा कुशल सैनिक बनाना शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य था। माताएँ अपने पुत्रों को रण-क्षेत्र में भेजते समय विजयी होने या वीरगति को प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया करती थीं। इस कठोर सैनिक वातावरण में मानवोचित अन्य कलात्मक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में स्पार्टा निवासी अपने अन्य साथियों से पीछे रह गये।

स्पार्टा के उत्तर में एथेन्स नगर राज्य था। एथेन्स का नगर-राज्य स्पार्टा के विपरीत पूरी तरह प्रजातन्त्रात्मक राज्य था। इस राज्य के नेतृत्व में यूनान के और छोटे छोटे नगर-राज्यों ने एक संघ बना लिया था जिसका नाम 'डेलियन-संघ था। एथेन्स के इतिहास में पेरीक्लीज (Pericles) बादशाह का शासन-काल यूनान के इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है। पेरीक्लीज अपने समय का विख्यात राजनीतिज्ञ और महान् प्रजातन्त्रवादी था। जहाँ स्पार्टा की प्रमुख विशेषता उसका सैनिकतन्त्र था, वहाँ एथेन्स की अपनी विशेषता प्रजा-तन्त्रवाद रहा। सरकारी पद सभी नागरिकों के लिये सुलभ थे। सेना प्रधान भी जनता द्वारा निर्वाचित होता था। एथेन्स का नाम उसकी प्रजातन्त्रात्मक पद्धति और कलात्मक प्रगति के कारण विश्व में अमर हो गया। इन नगर-राज्यों में नागरिक की परिभाषा अपेक्षाकृत कुछ संकुचित थी। दासों और अना-गरिकों को राजकाज में भाग लेने का अधिकार नहीं था।

ऊपर लिखी बातों से यह स्पष्ट है कि भारतीय आर्यों और ग्रीक आर्यों के जीवन में अनेक प्रकार की समानताएँ एवं असमानताएँ साथ-साथ थीं। यह सत्य है कि भारतीय आर्यों की तरह यूनानी आर्य भी अपने प्रारम्भिक काल में विभिन्न कबीलों में विभक्त थे, पर उनकी पारस्परिक विभिन्नता आर्यों की अपेक्षा अधिक तीव्र और उग्र हो गयी और अन्त में अनेक विशिष्ठ और अनूठे नगर-राज्यों की पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। सप्त सैंधव आर्यों के भी

छोटे छोटे राज्य थे, पर उनके संगठन, उद्देश्य और कार्य-प्रणाली में वह अनूठापन नहीं था, जो यूनानी नगर-राज्यों में था और जिसके लिये संसार में उन नगर-राज्यों ने एक विचित्र उदाहरण के रूप में इतिहास के पृष्ठों में अपना विशेष स्थान बना लिया है। स्पार्टा की सैनिक शासन-प्रणाली और एथेन्स का विचित्र स्वातन्त्र-प्रेम तथा प्रजा तंत्रात्मक शासन पद्धति भी प्राचीन भारतीय आर्यों के इतिहास में नहीं दीख पड़ती है। पर भारतीय आर्यों में यूनानी आर्यों की अपेक्षा स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। वहाँ स्त्रियों को पर्दे में रहना पड़ता था। एक प्रसिद्ध नाटककार के शब्दों में 'अच्छे आचारवाली स्त्री वह है जो घर के द्वार से गली में न झाँके।' उन पर पुरुषवर्ग का अधिकार अपेक्षाकृत अधिक था।

यूनान में और विशेषकर एथेन्स में आमोद-प्रमोद, खेल-कूद की प्रथा अधिक थी। नियमित रूप से खेल कूद में भाग लेना, इसके लिये प्रतियोगिताओं का संगठन करना उनके सामाजिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता थी। प्रत्येक चौथे वर्ष ओलम्पिया में वे एक खेल की प्रतियोगिता का आयोजन करते थे जिसमें यूनान के प्रायः सब नगर-राज्य सम्मिलित होते थे। विजयी टीम का खूब सम्मान होता था। ये प्रतियोगिताएँ यूनान के विभिन्न राज्यों में एकता का भाव संचारित करने में अपूर्व सहयोग देती थीं। इन खेलों के अतिरिक्त धार्मिक और अन्य उत्सवों के अवसर पर नाच, गाना, नाटक का खूब आयोजन किया जाता था और उनमें एथेन्स तथा अन्य राज्यों के नागरिक बड़े उत्साह के साथ सामूहिक रूप में शामिल होते थे। इस प्रकार के सक्रिय प्रदर्शन, आयोजन एवं उत्साह में यूनानी वैदिक आर्यों से आगे बढ़े थे।

साहित्य, कला एवं समाज-शास्त्र तथा वास्तुकला के क्षेत्र में भी एथेन्स की देन ने संसार में अपना अद्वितीय स्थान बना लिया है। उनका साहित्य प्रचुरता, प्रौढ़ता एवं उत्कृष्टता में अपना सानी नहीं रखता है। होमर के महाकाव्य इलियड और ओडिसी का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसकी तुलना हमारे आदि कवि बाल्मीकि से अच्छी तरह की जा सकती है। होमर में वह कला प्रचुर मात्रा में थी जिससे वह अपने पात्रों और चरित्र-नायकों के लिए पाठकों में सहानुभूति एवं आत्मीयता पैदा कर देती है। होमर मानव हृदय की भावनाओं एवं मस्तिष्क की कल्पनाओं की अभिव्यक्ति में बड़ा कुशल था। यूनान

के महान पिन्डार (Pindar) ने सुन्दर गीतकाव्यों की रचना की। यूनान ने नाटकों की रचना में पूर्ण परिपक्वता प्राप्त की। उसके दुखान्त नाटक विश्व के लिए एक अनुपम देन हैं। एसकाइलस, सोफोक्लीज, एरिस्टफेनीज आदि यूनानी नाट्यकारों ने अपनी कृतियों से विश्व साहित्य में अपने को अमर बना लिया है। इतिहास लेखक हेरोडोटस को इतिहास लेखन कला का जन्मदाता माना जाता है। उसीने ईरान के ऊपर यूनान की विजय का इतिहास लिखा है। दार्शनिक, राजनीतिक एवं सामाजिक साहित्य में भी यूनानियों की प्रतिभा मुखरित हुई थी। साक्रेटीज (सुकरात) अपने समय का यूनान का सबसे बड़ा बुद्धिमान और न्यायप्रिय व्यक्ति समझा जाता था। असत्य का निवारण कर सत्य को ग्रहण और उसका प्रचार करना उसके जीवन का ध्येय था। इसी धुन में उसे विष-पान करना पड़ा और उसने प्रसन्नता, सन्तोष एवं स्थिरता से मृत्यु का आलिङ्गन किया। उसका प्रमुख शिष्य प्लेटो (अफलातून) हुआ जो यूरोपीय दर्शनशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। उसके प्रसिद्ध ग्रंथ 'रिपब्लिक' और 'लाज' आज भी संसार के विवेक शील व्यक्तियों के अध्ययन के विषय बने हुए हैं। उसका योग्यतम शिष्य अरिस्टाटिल (अरस्तू) अपनी बहुमुखी प्रतिभा के लिए आज भी विश्व विख्यात है। इसे आधुनिक विज्ञान का जन्मदाता कहा समझा जाता है। अरस्तू सिकन्दर महान का गुरु था।

अतः यह स्पष्ट है कि इन क्षेत्रों में यूनानी वैदिक तथा उसके बाद के साहित्यिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों में भारतीय आर्यों से किसी दशा में पीछे नहीं थे।

यूनानी बड़े सक्रिय कलानुरागी थे। वे कलाकारों का सम्मान करना जानते थे। यूनानी कलाकारों ने मन्दिरों, भवनों, चित्रों एवं संगीत के क्षेत्र में अपनी प्रबल सौन्दर्यानुभूति की मौलिकता बड़ी सफलता से प्रदर्शित की है। वास्तु-कला में उन्होंने सफल संतुलित, आकर्षक और अलंकृत शैली का प्रारम्भ किया। उनकी वास्तुकला की उत्कृष्टता के नमूने आज भी संसार के पारखियों के लिए अध्ययन और प्रशंसा के केन्द्र बने हुए हैं। अकरोपोलिस पर्वत पर एथीना का प्रसिद्ध मन्दिर (प्रसिद्ध कलाकार फ़िडियास द्वारा निर्मित)

ओलम्पिया में ज्यूस की मूर्ति उनकी अमर कृतियाँ हैं। यही कला आजतक यूरोपीय वास्तुकला को अनुप्राणित करती आ रही है। इस दृष्टि से यूनानी कलाकार भारतीय आर्यों से अधिक सफल एवं आगे थे।

यूनान में दार्शनिकों का एक वर्ग 'सोफिस्ट' कहलाता था। उन्हें देवताओं के अस्तित्व में विश्वास नहीं था। वे प्रत्येक वस्तु को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। दूसरा वर्ग 'स्टोइक' कहलाता था और यह वर्ग इच्छाओं का दमन, दुख पर आत्मा की पूर्ण विजय एवं कर्तव्य पालन में विश्वास रखता था। एक तीसरा वर्ग भी यूनान में था जो 'एपिक्यूरियन' या भोगवादी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बुद्धिमानी और पवित्रता के साथ साथ आनन्द का उपभोग इस वर्ग का सिद्धान्त था। गणित-ज्योतिष एवं चिकित्सा-शास्त्र में भी यूनान पथ-प्रदर्शक रहा।

यूनानी नगर-राज्यों के अवसान की कथा भी कुछ कम रोचक नहीं है। जिन नगर-राज्यों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्र में संसार को अनेक प्रकार की देन दी है, उनका पारस्परिक राजनैतिक इतिहास ईर्ष्या, कलह एवं द्वन्द से भरा हुआ है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि यूनानी नगर-राज्य ईरान के सम्राट दारा को पराप्त करने के बाद आपस में एक दूसरे के प्रतियोगी एवं शत्रु बन गये। स्पार्टा और एथेन्स के पारस्परिक युद्ध में ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के लगभग एथेन्स की हार हुई और स्पार्टा शक्तिशाली बन गया; कुछ दिनों तक स्पार्टा यूनान में सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य रहा। पर पराजित एथेन्स के नेतृत्व में अन्य राज्यों ने सङ्गठित हो पुनः स्पार्टा को मात दिया। इस प्रकार लगातार होने वाले आपसी झगड़ों के कारण यूनानी नगर-राज्यों की रीढ़ दुर्बल हो गयी। आन्तरिक संघर्ष उनकी स्थायी दुर्बलता थी। जब ई० पू० चौथी शताब्दी में मैसिडोनिया में जो यूनान के उत्तर में एक नगर राज्य था, फिलिप का शासन प्रारम्भ हुआ, तो इस देश में पुनः एक नई शक्ति आयी। इसने एक विशाल सेना का सङ्गठन किया और पूरे यूनान पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसके बाद उसका सुयोग्य पुत्र सिकन्दर उसका उत्तरधिकारी हुआ, जिसने यूनान के ही नहीं, बल्कि मिस्र और भारत के बीच सब राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार यूनानी

के नगर-राज्यों की परम्परा का अन्त हो गया। पर इन ग्रीक आर्यों ने अपने बाद के इतिहास पर जितनी गहरी छाप छोड़ी है, उतनी शायद और किसी जाति ने नहीं। विद्वानों का मत है कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा कला के विभिन्न क्षेत्रों में जितनी सफलता आज हम देख रहे हैं, उन सब का प्रारम्भिक बीज उसी प्राचीन ग्रीस में अंकुरित हुआ था। जिस प्रकार पूरे भारत की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, दर्शन एवं अन्य क्षेत्रों में वैदिक आर्यों की अनुपम एवं गहरी छाप है, ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण यूरोप वासियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ग्रीक संस्कृति, विचार-धारा और चिन्तन का अद्भुत और अमिट प्रभाव दीख पड़ता है।

पाँचवाँ परिच्छेद

रामायण, महाभारत और इतिहास-पुराण

"जन-प्रिय साहित्य की दृष्टि से भारतीय साहित्य में रामायण और महाभारत का महत्वपूर्ण स्थान है। संसार के किसी देश में और किसी युग में जन-साधारण के हृदय और मस्तिष्क को किसी अन्य साहित्य ने इतना आविर्भूत नहीं किया जितना रामायण और महाभारत ने।" वैदिक साहित्य में भी इतिहास-पुराण का हवाला दिया गया है। हमारी प्राचीन गाथाओं, आख्यानों और प्रशस्तियों के विकसित रूप ने इन महाकाव्यों का रूप ले लिया। हमारा प्राचीनतम महाकाव्य रामायण है जिसमें मूल रूप से दशरथ के पुत्र राम के चरित्र का वर्णन है, पर साथ ही इस मुख्य घटना के अतिरिक्त इसमें अन्य कथाएँ भी लिखी गयी हैं। दूसरा महाकाव्य महाभारत है। "यह एक अत्यन्त वृहदग्रंथ है, जिसमें भारत युद्ध के अतिरिक्त कालान्तर में घटित अन्य सैकड़ों कथाएँ दी हुई हैं। इनमें नल-दमयन्ती, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि ऐतिहासिक उपाख्यान वर्णित हैं।"

रामायण

पिछले अध्याय में यह लिखा जा चुका है कि उत्तर वैदिक काल में आर्य सप्त-सिन्धु के प्रदेश से और आगे बढ़े और उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने राज्य स्थापित किये। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार हमारे देश में सर्व प्रथम राजा मनु वैवस्वत थे। कहा जाता है कि मनु के नौ या दस पुत्र थे और मनु ने सारे भारत-राज्य को अपने बेटों में बाँट दिया। उनमें से सबसे बड़े लड़के इक्ष्वाकु को मध्य देश का राज्य मिला जिसकी राजधानी अयोध्या थी। ये अपने को सूर्यवंशी कहते हैं। इसी कुल में एक राजा दशरथ हुए, जिनके पुत्र रामचन्द्र के चरित्र का वर्णन **रामायण** नामक प्रथम महाकाव्य में है। उस समय यह राज्य **कोशल** कहलाता था। रामचन्द्र के उपाख्यान से कौन भारतीय

परिचित नहीं है ? दशरथ की तीन रानियाँ, उनके चार पुत्र, राम का सीता से विवाह, कैकेयी के कहने से राम का १४ वर्ष तक बनवास, दशरथ की मृत्यु, सीता का रावण द्वारा हरण, रावण तथा अन्य राक्षसों के साथ राम का युद्ध और राक्षसों का वध आदि मुख्य घटनाएँ रामायण में वर्णित हैं। दक्षिण भारत में रामचन्द्र ने प्रथम बार साहसिक प्रयास कर आर्य-संस्कृति और सभ्यता के लिए उधर का मार्ग खोल दिया। चौदह वर्ष बाद रामचन्द्र अयोध्या लौटे और पुनः उन्होंने दीर्घकाल तक कोशल में राज्य किया। वे अपने समय के चक्रवर्ती राजा थे। रामायण में यह कथा बड़े सुन्दर और ओजपूर्ण भाषा में लिखी है। यह महाकाव्य आदर्श आचरणों का भण्डार है जिससे भारतीय जनता का सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन आज भी अनुप्राणित एवं परिष्कृत होता रहता है।

रामायण की रचना वाल्मीकि ने की थी। उनकी यह रचना संस्कृत भाषा की अनुपम कृति है। उनके बाद के कवियों पर वाल्मीकीय रामायण ने अत्यधिक प्रभाव डाला है। कवि ने इस महाकाव्य में पात्रों का ऐसा सजीव पुनीत एवं आदर्श चरित्र-चित्रण किया है कि वे चरित्र हिन्दू समाज में सदा के लिए आराध्य बन गये हैं। हिन्दू इसे कोरी ऐतिहासिक बातों की जानकारी के लिए नहीं पढ़ते, बल्कि वे इससे अपने धर्म के सनातन तथ्य जानने की कोशिश करते हैं। रामायण भारतीय वाङ्मय का प्रथम महाकाव्य है और भारतीय संस्कृति का अमूल्य रत्न है।

रचना-काल—रामायण एक बृहत् महाकाव्य है। कुछ विद्वानों की राय है कि पूरा रामायण एक व्यक्ति का लिखा हुआ नहीं है। मूल रामायण में केवल पाँच ही काण्ड थे। इतना ही वाल्मीकि ने लिखा था। शेष दो काण्ड (प्रथम और सप्तम) बाद को जोड़ दिये गये। यह सच है कि मूल रामायण का रचना-काल महाभारत से पूर्व है क्योंकि रामायण के श्लोक और भाव महाभारत में स्थान-स्थान पर मिलते हैं किन्तु इस प्रकार की कोई बात रामायण में महाभारत के विषय में नहीं पायी जाती है। रामायण की रचना बुद्ध के पहले हो चुकी थी। अनुमान है कि इस ग्रन्थ का मूल स्वरूप ई० पू० ५०० के लगभग लिखा गया था और बाद को लगभग ई० पू० २०० के पूर्व ही उसके अन्य दो काण्ड भी मूल पुस्तक में जोड़े जा चुके थे।

रामायण की ऐतिहासिकता—कुछ पाश्चात्य विद्वान इस राय के हैं कि रामायण की कथा ऐतिहासिक नहीं है, यह केवल कपोलकल्पित है। "उनकी राय में रामायण आर्यों की दक्षिण विजय की रूपात्मक कहानी है।" पर भारतीय विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। पुराणों में दिये हुए वंश-वृक्ष से यह स्पष्ट होता है कि अयोध्या में सूर्यवंशी क्षत्रिय कुल में दशरथ और राम राजा थे। विद्वानों की राय है कि राम का समय १७५० ई० पू० के लगभग रहा होगा। यदि राम का देवत्व रूप और अवतारवाद की कहानी रामायण की कथा से पृथक कर दी जाय तो इक्ष्वाकुवंशीय राजा की हैसियत से अयोध्या में राम का राज्य करना भारतीय परम्परा के अनुसार सत्य प्रतीत होता है।

महाभारत

भारतीय वाङ्मय का सबसे बड़ा महाकाव्य महाभारत है जिसमें लगभग एक लाख श्लोक हैं। इसी कारण इसे "शत साहस्री संहिता' भी कहते हैं। यह ग्रंथ अठारह पर्वों में विभाजित है। इसमें महाभारत के युद्ध के अतिरिक्त अनेक प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक कथाएँ, भगवतगीता आदि सम्मिलित हैं। इसके रचयिता होने का श्रेय महर्षि द्वैपायन व्यास को है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार प्राचीनकाल में इसे 'जय' कहते थे। इसके बाद इसका नाम "भारत" पड़ा और पुनः अन्त में यह ग्रन्थ "महाभारत" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रचना-काल—प्रायः सब विद्वान इस बात से सहमत हैं कि "महाभारत की रचना किसी एक कवि ने एक समय में नहीं की है। इसका रूप भिन्न भिन्न कवियों ने समय-समय पर परिवर्धित किया है, इसके मूल आख्यान में लगभग बीस सहस्त्र श्लोक थे।" महाभारत की भाषा कहीं कहीं बहुत पुरानी है और ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों से मिलती है। मूलकथा की रचना महर्षि व्यास ने की थी जो महाभारत युद्ध के समकालीन थे। अनुमान है कि वह युद्ध ई० पू० १४०० के लगभग हुआ था। पर महाभारत के अन्य भाग दूसरी शताब्दी ई० पू० तक लिखे गये।

महाभारत की कथा—महाभारत की मुख्य कथा में धृतराष्ट्र के सौ और पाण्डु के पाँच पुत्रों के महायुद्ध का वर्णन है। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव

और पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाये। कुरु वंश के आर्य हस्तिनापुर में राज्य करते थे। "विचित्रवीर्य (हस्तिनापुर के राजा) की मृत्यु के बाद उनका कनिष्ठ पुत्र पाण्डु राजा हुआ। धृतराष्ट्र के बड़े होने पर भी अन्धे होने के कारण उन्हें गद्दी नहीं मिली। पाण्डु की अकाल मृत्यु के बाद धृतराष्ट्र ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली। पाण्डु के बड़े लड़के युधिष्ठिर बड़े सत्यवादी और योग्य थे। उनके गुणों के कारण उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इसलिए धृतराष्ट्र ने उन्हें अपना युवराज बनाया। इससे उसका बड़ा लड़का दुर्योधन, जो स्वयं राजा होना चाहता था। अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और अनेक प्रकार के धूर्त आचरणों से उसने पाण्डवों को उनकी माँ कुन्ती के साथ वन जाने पर विवश किया। इधर उधर घूमते हुए पाण्डव लोग पँचाल (गंगा का उत्तरी भाग वाला इलाका-रुहेलखण्ड) के राजा द्रुपद की राजधानी में पहुँचे, जहाँ द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। उस स्वयंवर में अर्जुन ने अपनी धनुर्विद्या से विवाह की शर्तों को पूरा कर द्रौपदी से विवाह किया। द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हुआ। राजा द्रुपद के बीच में पड़ने से धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को हस्तिनापुर का राज दिया और पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का। परन्तु फिर भी दुर्योधन ने उनको चैन न लेने दिया। पाण्डवों का बढ़ता हुआ ऐश्वर्य उससे देखा न गया और उसने छल से जुए में युधिष्ठिर से उनका सारा राज-पाट और उनकी पत्नी द्रौपदी तक जीत ली। साथ ही पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का एकान्तवास भी मिला। इसके बाद पाण्डवों ने फिर अपना हक माँगा, परन्तु दुर्योधन ने उसे ठुकरा दिया। वासुदेव ने बीच-बीचावकर परिस्थिति सँभालनी चाही, परन्तु दुर्योधन के स्वार्थ के आगे कुछ भी न हो सका। फिर कौरव पाण्डवों में युद्ध छिड़ गया और कुरुक्षेत्र का यह घनघोर युद्ध अट्ठारह दिन चला जिसमें अगणित नर-हत्या हुई और भीष्म, द्रोण, दुर्योधनादि मारे गये। कृष्ण की सहायता से युद्ध जीत कर युधिष्ठिर ने कुछ काल तक शान्ति और गौरव से राज किया। फिर वे अर्जुन के प्रतापी पौत्र परीक्षित को राज देकर अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ हिमालय की ओर गये।" इस मूल कथा के अतिरिक्त अनेक दूसरे आख्यान इस बृहत् ग्रंथ में शामिल हैं। यह संसार का सबसे बड़ा ग्रंथ है। "यदि हम इसे हिन्दू धर्म का बृहत् कोष अथवा धर्म शास्त्र कहें तो अनुचित न होगा।" मूल कथा के

अतिरिक्त इसमें समय समय पर अनेक वीर-कथाएँ, सुन्दर उपाख्यान, धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों की व्याख्यात्मक रचनाएँ जोड़ दी गयी हैं।

महाभारत की ऐतिहासिकता—संस्कृत साहित्य में महाभारत को 'इतिहास-पुराण' कहा गया है। पुराणों में वर्णित राजाओं की वंशावलि से ज्ञात होता है कि महाभारत के चरित्र-नायकों का ऐतिहासिक अस्तित्व था। कुरु राज्य का नाम उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में आया है और अर्जुन परीक्षित, जनमेजय का कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। इस प्रकार महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। उन ऐतिहासिक घटनाओं में बहुत सी कथाएँ और आख्यान परवर्ती युगों में जोड़ दिये गये जिनमें से कुछ कपोलकल्पित काव्यशैली के कारण इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरते हैं। पर उनका मूल आधार इतिहास ही था। भारत युद्ध का मूल कारण घरेलू था और उससे तत्कालीन प्रथाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पर उस युद्ध में दूर-दूर के राजाओं ने भाग लिया। इस युद्ध में पाण्डवों की ओर पंञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कामरूप, मगध, काशी-कोशल और गुजरात के यादव थे और कौरवों की ओर पूरब (बिहार, बङ्गाल और उड़ीसा), पंजाब और मलावा के राजा थे। युद्ध में वर्णनातीत नर-संहार हुआ, पाण्डव विजयी हुए और वे भारत के सम्राट बने। "इस युद्ध के बाद हमारे इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित हो गया।"

इतिहास-पुराण

रामायण और महाभारत के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में पुराणों का स्थान है। सब १८ पुराण हैं जिनमें मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत और भविष्य पुराण अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन भारत के भूगोल और इतिहास के ज्ञान के साधन ये पुराण हैं। इनमें प्राचीन राज्यों के राजवंश का क्रम दिया गया है जिनका कीर्तन चारण-भाट आदि यज्ञ, अभिषेक, उत्सव के अवसरों पर किया करते थे। इन पुराणों को समय-समय पर संकलित और परिनिर्मित किया गया है। महाभारत युद्ध के बाद इन पुराणों से पुरु, इक्ष्वाकु और मगध के राजवंशों के नामावली ज्ञात होती है। पुरु वंश में भारत युद्ध

के बाद २६ राजा हुए। इनकी राजधानी हस्तिनापुर थी, पर वह नगर एक समय बाढ़ के कारण बर्बाद हो गया और तत्पश्चात् पुरु बादशाहों ने प्रयाग के समीप कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनायी। इस वंश में बुद्ध के समकालीन राजा उदयन थे। इक्ष्वाकु वंशीय राजा कोशल में थे। अयोध्या उनकी राजधानी थी। इस वंश का अन्तिम राजा सुमित्र था। इस वंश के एक राजा प्रसेनजित थे जो बुद्ध के समाकालीन थे। पुराणों में मगध के राजाओं का वर्णन सविस्तार दिया गया है। भारत-युद्ध के समय मगध का शक्तिशाली राजा जरासन्ध था। महाभारत में उसके ऐश्वर्य और शक्ति का वर्णन मिलता है। इस वंश के पतन के बाद मगध के इस भाग में शिशुनाग वंश की स्थापना हुई जिसकी राजधानी राजगृह थी। इस प्रकार ये पुराण प्राचीन भारत के इतिहास-निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, पर उनका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए क्योंकि उनमें पाठ-भेद और पारस्परिक विरोधी बातों की भी कमी नहीं है।

इस काल की सभ्यता एवं सामाजिक जीवन

राजनीतिक व्यवस्था—महाकाव्यों तथा पुराणों के युग में आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार पूरे भारतवर्ष में हो चुका था। उस समय वैदिक कालीन छोटे छोटे राज्यों के स्थान पर पांचाल, कौशाम्बी, कोशल, काशी, विदेह, मगध के बड़े बड़े राज्य स्थापित हो चुके थे। जो राजा दूसरे राजाओं को परास्त कर शक्तिशाली बन जाते थे, वे राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करते थे। राम और युधिष्टिर ने भी यज्ञ किये थे। सामन्त प्रथा चल पड़ी थी और सामन्त अपने राजा के लिए प्राण तक देने को तैयार रहते थे। राजा अपनी रुचि के अनुसार अपने किसी प्रिय को सामन्त बना देता था। राजाओं में सैनिक शक्ति बढ़ाने की होड़ थी। राजा को विशाल सेना की आवश्यकता पड़ती थी। सेना में पैदल, घोड़े, रथ और हाथी के पृथक-पृथक विभाग होते थे। इन चारों विभागों से पूर्ण सेना 'चतुरंगिणी सेना" कहलाती थी। इसके अतिरिक्त सेना में जल सेना, गुप्तचर, श्रमिक, मार्गदर्शक आदि होते थे। युद्ध के समय व्यूह-रचना की प्रथा चल पड़ी थी। अर्जुन और

अभिमन्यु व्यूह-भेदन में बड़े प्रवीण थे। नवीन और संहारकारी शस्त्रों का प्रयोग चल पड़ा था जिससे एक साथ सैकड़ों व्यक्ति मारे जा सकते थे।

राज्य और शासन का प्रधान राजा होता था। राजा की मदद के लिए एक मंत्रि-परिषद् होती थी। "महाभारत के अनुसार मंत्रि-परिषद् में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत जाति का सदस्य होता था।" राजा की मदद के लिये मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी होते थे जिनमें पुरोहित, द्वारपाल, धर्माध्यक्ष, दण्डपाल, नगराध्यक्ष, दुर्गपाल और कारागार-अध्यक्ष प्रमुख थे। राजा का प्रभाव अत्यधिक था, पर वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे प्रजा की रुचि, मंत्रियों की राय और कुल की मर्यादा का ध्यान रख काम करना पड़ता था। महाकाव्यों में लिखा है कि यदि राजा प्रजा के हित का ध्यान न रखे और स्वार्थी बन जाय तो वह पागल कुत्ते की भाँति मारा जा सकता है। राज्य का अधिकारी साधारणतया जेष्ठ पुत्र होता था, पर किसी दोष के कारण जेष्ठ पुत्र के स्थान पर कनिष्ठ पुत्र गद्दी का अधिकारी होता था। महाभारत के अनुसार विचित्र वीर्य के बाद जेष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र के जमान्ध होने के कारण छोटे पुत्र पाण्डु को राजा बनाया गया। राज्याभिषेक का उत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया जाता था। यद्यपि सिद्धांत रूप में मंत्रियों की बड़ी महिमा बताई गयी है, पर कार्य रूप में राजा की ही इच्छा प्रधान होती थी। इस युग में 'सभा' और 'समिति' का प्रभाव भी बहुत कम हो गया। जिस समय भरी सभा में दुर्योधन ने द्रौपदी का चीर हरण कर अपमान किया, उस समय सभासद गण चुप रह गये और किसी ने इस अन्याय का विरोध नहीं किया। राम बनवास की कथा में भी दशरथ और कैकेयी की इच्छानुसार काम हुआ। इन बातों से राजा की शक्ति और प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। राजा और उसके परिवार के सदस्य बड़ी सजधज और आराम के साथ रहते थे। उनकी रक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जाता था। अतिथि-सत्कार, नृत्य, संगीत और शिकार तथा द्यूत का बहुत प्रचलन था। राजा के लिए युद्ध में मृत्यु प्राप्त करना सम्मान का काम समझा जाता था। राजा को कूट नीति में प्रवीण होना जरूरी था। दुश्मन को मारने के लिये कूट नीति और कपट का सहारा लेना बुरा नहीं माना जाता था। रामायण और महाभारत में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं

जिनसे यह स्पष्ट होता है कि दुश्मन को किसी प्रकार मृत्यु के घाट उतारना राज धर्म है। बालि और कर्ण-वध की कथा इसके प्रमाण हैं। लाक्षागृह का निर्माण कर पाण्डवों को मार डालने की योजना भी कुछ ऐसी ही थी। चक्र-व्यूह की रचना कर अभिमन्यु को भी कौरवों ने ऐसे ही मार डाला था।

राजा के लिये प्रजा को सुखी रखने की अनेक व्यवस्थाएँ महाकाव्यों तथा धर्मशास्त्रों में वर्णित हैं। अराजकता की कटु निन्दा इन ग्रंथों में की गयी है। राजा के कर्तव्य और उत्तरदायित्व पर अत्यधिक जोर दिया गया है, साथ ही प्रजा के लिये भी यह उपदेश है कि बालक राजा की भी अवहेलना करना पाप है। राजा द्वारा निर्णीत कर प्रजा को समय पर चुका देने के लिये जोर दिया गया है। राजा के व्यक्तिगत जीवन की अच्छाई पर भी अधिक जोर दिया गया है। राज कर किसानों, व्यापारियों, जंगलों और विजित राजाओं से मिलता था। किसानों को उपज का छठाँ भाग राजा को कर के रूप में देना पड़ता था।

ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई होती थी। ग्राम का प्रधान ग्रामणी कहलाता था। शासन के लिये दस, बीस, सौ और हजार गाँवों का क्रम से संगठन होता था। प्रत्येक इकाई के लिए एक पदाधिकारी होता था। उन पदाधिकारियों को राजा का कर इकट्ठा करना, अपराधों का पता लगाना, शांति तथा व्यवस्था में राजा की सहायता करनी पड़ती थी। न्याय के लिए राजा को विशेष सतर्क रहना पड़ता था। न्याय के लिये राजा सर्वोपरि न्यायाधीश था, पर न्याय करने वाले अन्य अधिकारी भी होते थे। अपराधों का पता लगाने के लिये जल या अग्नि परीक्षा भी काम में लायी जाती थी। ब्राह्मणों को साधा-रण दण्ड मिलता था। न्याय करते समय धर्मशास्त्र, मनुस्मृति आदि के नियमों, सामाजिक रीति-रिवाज और जाति-व्यवस्था का भी ध्यान रक्खा जाता था। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि मानव धर्मशास्त्र के रचयिताओं ने विभिन्न प्रकार के अपराध और उनके दण्ड की व्यवस्था दी है।

सामाजिक व्यवस्था—इस युग में भारत में वर्णाश्रम धर्म का पूरा जोर हो गया था। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य पुरोहिती, कर्मकाण्ड, राजाओं को मंत्रणा, क्षत्रियों को शिक्षा देना था। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मणों के छः कर्म नियत हैं—यज्ञ करना, दूसरों से यज्ञ कराना, अध्ययन करना, अध्ययन

कराना, दान लेना और दान देना। क्षत्रिय वर्ग का काम शासन करना, जनता की रक्षा करना, ज्ञान और सत्य की वृद्धि और रक्षा में धन व्यय करना, साहस और निर्भीकता के साथ युद्ध करना है। वैश्य वर्ग का काम पशु-पालन, यज्ञ करना, व्याज पर धन उधार देना, कृषि तथा व्यापार करना है। इसी प्रकार शूद्रों के काम भी नियत कर दिये गये गये थे। उन्हें अन्य वर्णों की सेवा करना अनिवार्य था। उनके अतिरिक्त अनार्य भी थे जिन्हें स्वपच, चाडाल, म्लेच्छ आदि नाम दिये गए थे और इन्हें शूद्रों से भी निम्न श्रेणी का समझा जाता था। क्षत्रियों और ब्राह्मणों में अपने वर्ण के लिये निश्चित दायरे के बाहर काम करने कीप्रथा के उदाहरण भी महाकाव्यों में हैं। विश्वामित्र क्षत्रिय थे, पर उन्होंने तपस्या के बल पर मुनीश्वर होने का प्रयास किया था और द्रोणाचार्य ने ब्राह्मण होते हुये भी क्षत्रिय-धर्म स्वीकार किया था। पर ये उदाहरण अपवाद के रूप में ही जान पड़ते हैं, क्योंकि तत्कालीन ग्रन्थों में वर्णाश्रम धर्म के पालन पर जोर दिया गया है। प्रथम तीन वर्ण के लोगों को द्विज कहा जाता था और उनके लिये चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास—की व्यवस्था थी।

वैश्य समाज का प्रभाव भी दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। उनका मुख्य काम कृषि और व्यापार था। व्यापारी प्रायः बड़े बड़े नगरों में रहते थे। विभिन्न व्यवसायों के अनुसार व्यापारियों ने अपने को श्रेणियों में संगठित कर रक्खा था। अठारह प्रमुख दस्तकारी में लगे लोगों ने अपनी अपनी श्रेणियाँ संगठित की थी। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रमुख होता था। उसे श्रेष्ठिन कहते थे।

स्त्रियों की दशा वैदिक युग की तरह नहीं थी। उन्हें उतना सम्मान और स्वतन्त्रता के साथ नहीं रक्खा जाता था। उनके साथ अनादर और सम्मान दोनों प्रकार के व्यवहार के उदाहरण मिलते हैं। द्रौपदी का चीर-हरण कौरवों की भरी सभा में हुआ था। पर रावण ने सीता को अकेला रख कर भी कभी दुर्व्यवहार नहीं किया। पर्दे की प्रथा नहीं थी। उनकी शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाता था। विवाह में उनको काफी स्वतन्त्रता थी। रामायण और महाभारत में स्वयम्वर के उदाहरण मिलते हैं। राजदरबार में बहुविवाह की प्रथा थी। दशरथ के तीन और पाण्डु के दो रानियाँ थीं। महाभारत में द्रौपदी का

एक उदाहरण यह भी है कि इसके पाँच पति थे। पर यह अकेला ही उदाहरण है। कहीं कहीं सती होने के भी कथाएँ हैं। सतीत्व पर अधिक जोर दिया जाता था और समाज में इसका आदर होता था। सीता, सावित्री, दमयन्ती की कथाएँ हमारा ऊँचे सतीत्व के गौरवमय उदाहरण हैं जिससे आज भी भारतीय समाज को प्रेरणा मिलती है।

धर्म शास्त्रों और पुराणों के युग में स्त्रियों के विषय में बदलती हुई भावनाओं का संकेत मिलता है। एक स्थान पर मनु ने कहा है कि "नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" अर्थात् जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं। आगे मनु ने लिखा है कि 'यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया।' अर्थात् जहाँ स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहाँ सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं। परन्तु अन्यत्र मनु ने यह भी लिखा है कि स्त्रियों का ऐसा स्वभाव है कि वे पुरुष को बुराइयों में लगा देती हैं। स्त्रियों को स्वतंत्रता देने के पक्ष में धर्म-शास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं। मनु बालविवाह के भी पक्ष में थे। ज्ञात होता है कि महाकाव्यों के युग की स्त्रियों की स्वतंत्रता और अधिकार इस युग में बहुत कम हो चले थे और उनका जीवन पुरुषों पर अपेक्षित और अवलम्बित बन गया था। स्त्रियों के क्रय-विक्रय के उदाहरण भी इस युग के अन्तिम चरण में मिलते हैं।

महाकाव्यों के युग में शिक्षा की व्यवस्था अच्छी थी। प्रत्येक द्विज को २५ वर्ष तक विद्याध्ययन करना पड़ता था। शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी और विद्यार्थी को गुरु के घर या आश्रम में रहकर अध्ययन करना पड़ता था। अध्यापकों को वेतन नहीं मिलता था और उनकी जीविका दान और भेंट से चलती थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय तथा अन्य वर्ण के बच्चों को पृथक-पृथक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विद्यालय प्रायः नगर से बाहर जंगल में होते थे। राजकुमारों को विशेष प्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था थी। शिक्षा में आचरण और स्वास्थ्य पर विशेष जोर दिया जाता था। गुरु और शिष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था और गुरु के लिए विद्यार्थियों में असीम आदर तथा सम्मान की भावना होती थी।

धार्मिक दशा—महाकाव्यों के समय में ब्राह्मण धर्म का बोलबाला था। समाज में कर्मकाण्ड का अधिक जोर दिया जाता था। वैदिक देवताओं

की पूजा तो होती थी, पर प्रकृति-पूजा का लोप हो गया था। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी थी। अन्य देवताओं का भी प्राधान्य हो गया था। सूर्य, गणेश, दुर्गा अब पूजे जाने लगे थे। अवतारवाद में लोगों का विश्वास बढ़ता जा रहा था। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाता था, लोगों में यह धारणा दृढ़ हो गयी थी कि जब जब धर्म की वृद्धि होती है तब तक भगवान का अवतार होता है। कर्मवाद और पुनर्जन्म में विश्वास दृढ़ हो गया था। धीरे धीरे अन्ध विश्वास का भी रंग समाज में गहरा होता जा रहा था। जातिवाद की नींव भी काफी गहरी जा चुकी थी। फिर भी दो चार ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें जाति-परिवर्तन की ओर संकेत हैं। शूद्रों के साथ भी अच्छे व्यवहार के उदाहरण रामायण में मिलते हैं। राम और निषाद की मैत्री, राम के प्रति शबरी की भक्ति और शबरी द्वारा मुनियों की सेवा इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय जातिवाद के दृढ़ के होने के बाद भी शूद्रों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। पर यह भी सच है कि जन-साधारण में इस प्रकार की बात नहीं थी और शूद्रों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था।

छठवाँ परिच्छेद

बुद्धकालीन भारत—जैन धर्म और बौद्ध धर्म

एक नया युग—भारतीय इतिहास की उन घटनाओं का क्रम जो ई० पू० छठी शताब्दी के पहले घटित हुईं, श्रृङ्खलाबद्ध नहीं है और तब तक के इतिहास की कुछ बड़ी-बड़ी घटनाओं को ही हम जानते हैं। उस समय और उसके पूर्व के इतिहास की जानकारी का मुख्य साधन साहित्यिक ग्रंथ ही हैं। उन ग्रंथों में काव्यात्मक शैली का अनुसरण किया गया है और कल्पना का सहारा ले अनेक बातें ऐसी लिख दी गयी हैं जिनसे ऐतिहासिक सत्य धूमिल हो गया है। पर ई० पू० छठी शताब्दी के बाद इस दिशा में भारतीय इतिहास का एक नवीन युग आरम्भ होता है क्योंकि इस युग और उसके बाद के भारतीय इतिहास के ज्ञान के प्रचुर तथा विभिन्न साधन हमें प्राप्त हैं जिनके आधार पर विद्वानों ने इस देश की ऐतिहासिक घटनाओं को सिलसिलेवार लिखा है। भारतीय इतिहास में इसी समय से वैदिक विचारधारा और चिंतनशैली में भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ जिसे हम जैन और बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के रूप में देखते हैं। इस नये युग में 'वेदवाद' का विरोध सक्रिय रूप में सर्व प्रथम देखने को मिलता है। उत्तरवैदिक काल में ज्ञान और कर्मकाण्ड का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण वर्ग ही समझा जाता था। पर इस नवीन युग में सुधारवाद के प्रणेता क्षत्रिय वर्ग से आये जिनमें महावीर और गौतम बुद्ध प्रसिद्ध हुए। इस भारतीय इतिहास का यह नवीन प्रकरण एक नवीन कलेवर में हमारे समक्ष आता है जिसकी ऐतिहासिक जानकारी के साधन अधिक प्रामाणिक और प्रचुर हैं और जिसकी देन ने भारतीय विचार धारा और संस्कृति को एक नवीन दिशा में मोड़ने का प्रयास किया। इसी युग की देन ने भारत और एशिया के अन्य कतिपय देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करने का ऐसा माध्यम दिया जिससे हमारा सांस्कृतिक जीवन अनुप्राणित होता रहा है और जिसे स्मरण कर हम आज भी अपने को गौरवा-

न्वित समझते हैं। इसी युग की अनुपम देन बुद्ध के उपदेश थे जिनके अकृत्रिम तथा मानवीय होने के कारण रक्त और लूट के नाम पर टूट पड़ने वाली मध्य एशिया की कतिपय बर्बर जातियाँ भी मानवीय सुधा से अभिसिंचित हो गयी थीं।

वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया

उत्तर वैदिक काल के बाद पुराणों और श्रुतियों एवं स्मृतियों के समय में धर्म का स्वरूप बहुत कुछ बाहरी, दिखावटी, जटिल एवं दुरूह हो गया था; धर्म और धार्मिक जीवन का आधार ज्ञान एवं बुद्धि के स्थान पर परम्परा और लोकचार हो गया था। "मनुष्य की स्वभाविक प्रतिभा एवं परिवर्तन-शीलता प्रामाणिक वेदवाक्य से टकरा कर कुंठित हो जाती थी और उसके स्वाभाविक प्रगति एवं विकास का मार्ग अवरुद्ध हो चला था। ऐसी स्थिति में प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मन में असन्तोष की धारा का श्रोत फूट निकलना आवश्यक हो गया।"

उत्तर वैदिक काल में और उसके बाद यज्ञों का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था। इस युग में ईश्वर की आराधना और पूजा जन-साधारण के वश की बात नहीं रह गयी थी। कर्मकाण्ड के दाव-पेंच से बोझिल यज्ञों को सम्पन्न करना कुछ इने-गिने ब्राह्मण-पुरोहितों का ही अधिकार बन गया था। शेष सारी जनता को उनकी ही दया का अवलम्ब था। कुछ यज्ञ बारह वर्षों में पूरा होते थे। उनमें अधिक व्यय होता था जिनका अनुष्ठान राजा, महाराजा तथा सामन्त लोग ही कर सकते थे। इन यज्ञों में निरपराध पशुओं की बलि का भी जोर बढ़ गया था। इस प्रकार ये यज्ञ तो कर्मकाण्ड से परिपूर्ण, व्ययसाध्य, घृणास्पद एवं जटिल बन गये थे। "वास्तव में धर्म की आत्मा इनके नीचे दब गयी थी और नैतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया। ऐसे धर्म के विरोध में एक सीधे-साधे, स्वाभाविक और सर्व-सुलभ धर्म की खोज स्वभावतः चल पड़ी।" घोर कर्मकाण्ड, रूढ़िवादिता और अन्ध विश्वास के कारण समाज का चिन्तनशील वर्ग आध्यात्मिक अशान्ति का अनुभव करने लगा था और मानव-मस्तिष्क में नवीन विचारों का पैदा होना स्वाभाविक-सा हो गया था। आवश्यकता थी कुछ ऐसे पुरुषों की जो आर्य-धर्म में नया जीवन फूँक सकें, जो जन्म-जरा-मरण

आदि कष्टों से मुक्ति का मार्ग साधारण जन को बता सकें और उसे अनुप्राणित कर सकें। ऐसे ही दो महापुरुष महावीर और बुद्धदेव ईसा के पूर्व छठीं सदी में भारत में पैदा हुए।

महावीर स्वामी और जैन धर्म

जैन धर्म के जन्म के विषय में विद्वानों में मतभेद है। यद्यपि महावीर स्वामी इस धर्म के जन्मदाता माने जाते हैं, पर जैन ग्रंथों के अनुसार महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर थे और उनके पूर्व २३ तीर्थङ्कर और हो चुके थे। इनके प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव माने जाते हैं जिनके विषय में कथा प्रचलित है कि उन्होंने संसार से विरक्त हो अपने पुत्र को राजपाट देकर सन्यास धारण किया था। ऋषभदेव का ठीक ठीक समय ज्ञात नहीं है। जैनियों के २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे जो महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पहले हुए थे। पार्श्वनाथ काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। पार्श्वनाथ के अनुसार जैन धर्म के चार स्तम्भ थे—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (चोरी न करना), (४) अपरिग्रह (संग्रह का त्याग)। पर इस धर्म का सङ्गठित प्रचार महावीर स्वामी ने किया।

महावीर—आपका जन्म वैशाली में हुआ था। वे एक सम्भ्रान्त क्षत्रिय कुल में पैदा हुए थे और उनका घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य कई राजकुलों से था। तीस वर्ष की अवस्था में आप ने सन्यास ग्रहण किया और १२ वर्ष तक कठोर तपस्या की। ४८ वर्ष की अवस्था में आप को उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ और लगभग ३० वर्ष तक धर्मोपदेश करने के बाद आप ने निर्वाण प्राप्त किया। उन्होंने मगध, अंग और कोसल राज्यों में भ्रमण कर धर्म-प्रचार का कार्य किया। आप बुद्ध और अजात शत्रु के समकालीन थे। महावीर का निर्वाण पटना के निकट पावा * पुरी में लगभग ५२७ ई० पू० में हुआ। पर यह निर्वाण-तिथि केवल अनुमान के आधार पर ही निश्चित की गयी है और विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतभेद है।

---

* पावा को कुछ विद्वान देवरिया जिले में कुशीनगर के पास स्थित बताते हैं।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त—"जैन" शब्द 'जिन' शब्द से बना है। इसका अर्थ विजेता अर्थात् "संसार रूपी मोह के गढ़ का जीतने वाला है। तपस्या और आत्म संयम द्वारा देवपद प्राप्त करने वाले महात्मा को 'जिन' कहते हैं। जैन अपने धर्म के महापुरुषों को तीर्थङ्कर कहते हैं क्योंकि वे उन्हें संसार-रूपी नदी के पार करने के साधनों का आविष्कारक मानते हैं।" संसार का प्रत्येक जीव बंधन में है, वह तीर्थङ्करों का मार्ग अनुसरण कर सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो सकता है।

जैन तीर्थङ्करों के वचन और उपदेश जैनियों के लिए प्रमाण माने जाते हैं। उनके लिए उन उपदेशों का वही महत्व है जो ब्राह्मण धर्मावलम्बियों के लिए वेदवाक्यों का है। महावीर स्वामी वेदों के प्रमाण में विश्वास नहीं रखते थे, पर उनका आत्मा में विश्वास था। आत्मा अपने कर्मों से प्रायः अपना शुद्ध रूप भूल जाता है और संसार-चक्र (जीवन-मरण के चक्कर) में पड़ जाता है। जब वह अपनी साधना और तपस्या से ज्ञान प्राप्त कर उचित मार्ग पर चलता है तो इस संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है। ऐसा ही कैवल्य-प्राप्त (मोक्ष-प्राप्त) आत्मा तीर्थङ्कर होता है और ऐश्वर्य से युक्त समझा जाता है। जैन धर्म में छः प्रकार के जीव (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रण अर्थात् प्राणी) माने गये हैं और इन्हीं के उद्धार के लिए तीर्थङ्करों के उपदेश माने जाते हैं। साधना या विनय के मार्ग में मोक्ष की प्राप्ति के लिए महावीर स्वामी ने तीन साधन बतलाये हैं। वे हैं—(१) सम्यग् ज्ञान (२) सम्यग् दर्शन और (३) सम्यग् चरित्र, जिनको 'त्रिरत्न' कहा जाता है। "सम्यग् ज्ञान का अर्थ है सच्चा और पूरा ज्ञान जो सर्वज्ञ तीर्थङ्करों के उपदेशों को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से प्राप्त होता है। सम्यग् दर्शन का अर्थ तीर्थङ्करों में पूर्ण विश्वास है। सम्यग् चरित्र का मतलब सदाचारमय नैतिक जीवन से है।"* केवल ज्ञान और श्रद्धा व्यर्थ है यदि उनका उपयोग जीवन में न हो। अतः सम्यग् चरित्र के लिए चार महा व्रत* पर जैन धर्म में अधिक जोर दिया गया है। महावीर स्वामी ने इसी में एक और व्रत भी जोड़ दिया है। वह है ब्रह्मचर्य। आत्म को पाप से बचाने के लिए जैन धर्म में इन पाँच महाव्रतों पर अधिक

---

* १—चार महाव्रत हैं—(१) अहिंसा, (२) [illegible], (३ अस्तेय और (४) अपरिग्रह।

जोर दिया गया है। आत्मा को शुद्ध करने के लिए बाह्य और आन्तरिक तपस्या पर भी अधिक जोर दिया गया है।

जैन धर्म में अहिंसा को भी प्रधान स्थान प्राप्त है। जैन जीवधारी और जड़ दोनों के प्रति अहिंसा का उपदेश देते हैं। अहिंसा का क्षेत्र केवल कर्म तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जैनी विचार और दर्शन में भी अहिंसा को प्रमुख स्थान देते हैं।

जैन धर्म सत्य की जानकारी के लिए वेद को प्रमाण नहीं मानते। वे कर्म पर आत्यधिक जोर देते हैं। इसी से जीव को मुक्ति मिल सकती है। जैन धर्म यह दावा नहीं करता कि सत्य को प्राप्त करने का कोई एक ही मार्ग है। उनका कहना है कि कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसीका विचार सही है और दूसरों का गलत है। यह सिद्धान्त उनकी बौद्धिक उदारता का परिचायक है। ईश्वर को जैन सृष्टि का कर्ता नहीं मानते हैं। इस धर्म में तपस्या का प्रमुख स्थान है। मन, वाणी और कर्म की पवित्रता, अहिंसा, दया, तृष्णा-त्याग, कठोर आत्म-संयम आदि नियमों का पालन करने से मनुष्य आवागमन से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जैन धर्म का प्रचार—महावीर स्वामी ने जैन धर्म के प्रचार की पूरी कोशिश की। उन्होंने स्वयं मगध और अंग के विभिन्न भागों का भ्रमण किया। वे प्रायः चम्पा, मिथिला, श्रावस्ती, वैशाली तथा राजगृह में निवास करते थे। उनके सहयोगियों और आदर करने वालों में बिम्बिसार, अजातशत्रु तथा गण-राज्यों के शासक थे। महावीर स्वामी अपने आलोचकों और विरोधियों से प्रायः वादविवाद किया करते थे और अपनी वाग्पटुता तथा सम्यग् चरित्र से उन्हें प्रभावित करते थे। महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद भी जैन धर्म का प्रचार होता रहा। ई० पू० दूसरी शताब्दी में कलिङ्ग के राजा खारवेल के जैन धर्म स्वीकार करने का प्रमाण मिलता है। मथुरा के पास कुशन काल के शिलालेखों से पता चलता है वहाँ जैन सम्प्रदाय का काफी जोर था। जैन परम्परा में कथा प्रचलित है कि प्राचीन काल में दक्षिण बिहार में एक भयङ्कर अकाल पड़ा। बहुत से जैन बिहार छोड़ कर दक्षिण भारत में जा बसे। गुजरात की ओर भी इस धर्म का प्रचार हुआ। आज भी गुजरात में

अधिक जैनी पाये जाते हैं। जैन धर्म के सिद्धान्तों को स्थिर करने और लिपि-बद्ध करने के लिए गुजरात में एक बार एक बृहत् सम्मेलन हुआ था।

दिगम्बर और श्वेताम्बर—मौर्यकाल में जैन धर्म में दो दल हो गये। एक दल कट्टरपंथी है और कठोर व्रत, संयम तथा तप आदि में विश्वास रखता है। यह दल दिगम्बर कहलाया। इनका कहना है कि संयासी को सब कुछ त्याग देना चाहिये। इस दल के साधु वस्त्र भी नहीं धारण करते हैं। दिगम्बर तीर्थङ्करों की नग्न प्रतिमा की पूजा करते हैं। दूसरा दल अपने तीर्थ-ङ्करों पर पुष्प, धूप, वस्त्र, आभूषण आदि चढ़ाते हैं। यह दल श्वेताम्बर कह-लाया। इस दल के लोग श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। श्वेताम्बर दल के लोग अधिक यथार्थवादी हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि समाज में नंगा रहने का प्रचार विस्तृत क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता है।

बौद्ध धर्म और महात्मा गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध—नैपाल की तराई में ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में शाक्य वंश के राजा शुद्धोदन राज्य करते थे। उनकी राजधानी आजकल के बस्ती जिले के पूर्वोत्तर सीमा पर कपिलवस्तु नामक नगर में थी। शाक्य राज्य एक गण राज्य था और शुद्धोदन उस गण राज्य के गण-मुख्य थे। उनकी रानी माया थीं जो एक समीपवर्ती गण-मुख्य की पुत्री थीं। ई० पू० ५६२ में मायादेवी कपिलवस्तु से अपने मायके जा रही थी, मार्ग में लुम्बिनीवन (आधुनिक रुम्मिनदेई) में उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ। माया देवी ने ऐसे पुत्र को पैदा किया जिसने संसार के अधिकांश भाग में दया, अहिंसा और प्रकाश का प्रचार किया और कोटि प्राणियों के मन से निराशा एवं अंधकार को दूर हटाया। पर मायादेवी पुत्र-प्राप्ति के केवल सात दिन बाद ही इस संसार से चल बसीं। अतः उस नवजात शिशु का लालन-पालन दूसरी रानी प्रजावतीदेवी ने किया। बालक का नाम सिद्धार्थ रक्खा गया।

सिद्धार्थ बचपन से ही गम्भीर, एकान्तप्रिय, चिन्तनशील, कोमल स्वभाव के थे। वे प्रायः लड़कपन में ही गम्भीर विचार में मौन देखे जाते थे। अतः पिता शुद्धोदन ने पुत्र के भविष्य की चिन्ता में उसका विवाह सोलह वर्ष की

अवस्था में ही रामग्राम के कोलिय गण की राजकुमारी यशोधरा के साथ कर दिया। यशोधरा अतीव सुन्दरी थी। फिर भी सिद्धार्थ की चिन्तनशील प्रवृति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। संसार के दुख उनकी आँखों से ओझल न हो सके। माता-पिता के प्रति श्रद्धा और शील के कारण लगभग १२ वर्ष तक उन्होंने गार्हस्थ जीवन व्यतीत किया। उन्हें 'राहुल' नाम का एक पुत्र भी हुआ। पर उसके जन्म का समाचार सुन सिद्धार्थ ने कातर स्वर में कहा कि "आज मेरे बन्धन की शृङ्खला की एक कड़ी और गढ़ी गयी।" संसार के सब सुख-साधन से सम्पन्न होते हुए भी उन्हें जीवन, मरण, जरा, व्याधि के दृश्य विकल कर दिया करते थे। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि भोग, विलास और आराम का जीवन त्याग कर संसार में पाये जाने वाले दुखों को दूर करने का उपाय ढूढ़ना चाहिये। उन्होंने ममता पर विजय प्राप्त की और एक रात यशोधरा और राहुल को सोते छोड़ नगर के बाहर निकल गये और जंगल की ओर प्रस्थान किया। बौद्ध साहित्य में इस घटना को "महाभिनिष्क्रमण" कहते हैं।

सिद्धार्थ ने अपने बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों को भिखारी को दे डाला और स्वयं तपस्वी का भेष धारण किया। फिर वे ज्ञान की खोज में पण्डितों, पुजारियों, विद्वानों और सन्यासियों के चक्कर में भ्रमण करते रहे। अनेक बार दार्शनिक शास्त्रार्थ हुये, पर सिद्धार्थ की आत्मा को सन्तोष नहीं हुआ। अतः उन्होंने कठोर साधना का मार्ग पकड़ा। गया के पास उन्होंने छः वर्षों तक कठिन तपस्या कर अपने शरीर को गला दिया। पर उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त हुई। अतः उन्होंने इस प्रकार के तप के मार्ग को त्याग दिया। इसके लिए उन्हें ताना सुनना पड़ा, लोगों ने उन्हें पथ भ्रष्ट समझा। पर वे सत्य एवं ज्ञान की खोज में आगे बढ़ते गये। एक दिन एक पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न बैठे थे, अचानक उन्हें सच्चे ज्ञान का प्रकाश मिला। उस वृक्ष को "बोधि वृक्ष" होने का श्रेय मिला और सिद्धार्थ "बुद्ध" (जागृत) पद को प्राप्त हुए। इसीलिए उनके अनुयायी बौद्ध कहलाते।

गौतम बुद्ध करुणा के अवतार थे। आप स्वयं प्रकाश पा सन्तुष्ट नहीं हुए। "मैं तो जागा, किन्तु जब मैं जगत को जगाऊँ, तभी मेरा जागना सार्थक है।" इस विचार को ले वे काशी की ओर चल पड़े। सारनाथ में उनके पाँच

पूर्व-शिष्यों ने उनका तिरस्कार किया, पर बाद में गौतम बुद्ध के दर्शन से उन्हें शान्ति मिली और वे उनके शिष्य हो गये। सबसे पहले गौतम ने इन्हीं को धर्म का उपदेश किया। इस घटना को "धर्म-चक्र-प्रवर्तन" कहते हैं। जगत के कल्याण के निमित्त बौद्ध धर्म का चक्र यहीं से चालू हुआ।

इस घटना के बाद बुद्ध ने जगत को शान्ति देने और कष्ट से बचाने के लिए ४५ वर्षों तक अथक प्रयास किया। स्थान-स्थान पर भ्रमण कर उन्होंने सब को अपनाया, राजा-रंक सब के लिए उनका दरवाजा खुला था। कोशल का राजा प्रसेनजित उनके शिष्य बने। गया, राजगृह, कपिल वस्तु, वत्स, अंग, सूरसेन आदि स्थानों तथा जन पदों में भ्रमण कर धर्म का उपदेश किया। अस्सी वर्ष की अवस्था में (लगभग ई० पू० ५४३ में) कुशीनगर में आप का निर्वाण हुआ। शिष्यों ने उनके शरीर की राख आठ भाग में विभाजित कर उनकी स्मृति में स्तूप बनवाये। बुद्ध के निर्वाण के बाद भी उनके उपदेश लाखों करोड़ों व्यक्तियों को इस सांसारिक कष्ट के सागर से पार उतारने का मंत्र देते रहे हैं। आज भी वे अपने ज्ञान-प्रकाश से त्रस्त मानव को सत् मार्ग पर चलने के लिए उद्बोधित करते रहते हैं।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त—बुद्ध के नैतिक उपदेशों को "आर्य-सत्य-चतुष्टय" (चार आर्य सत्य) कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

दुख—संसार में दुख ही दुख है। जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग ये सब दुख ही हैं। मिलन और वियोग भी दुख है। इच्छाओं का पूरा न होना भी दुख ही है।

समुदय—समुदय का अर्थ दुखों के कारण से है। बुद्ध ने संसार के समक्ष दुख ही नहीं बतलाया, पर उनका कारण भी उन्हें समझाया। बुद्ध ने एक अनुभवी और चतुर वैद्य की तरह दुख रूपी महा रोग का निदान किया और उसका कारण ढूढ़ निकाला। उन्होंने बताया कि इस दुख का कारण तृष्णा (न बुझने वाली विषयों के प्रति प्यास) है। इसी तृष्णा से ममता, अंहकार, राग, द्वेष आदि विकार पैदा होते हैं।

निरोध—दुख के कारण समझ लेने के बाद उनको हटाना भी आवश्यक है। बुद्ध का कहना था कि तृष्णा के नाश से जन्म-मरण, जरा-व्याधि का भी

अन्त हो जाता है। सम्पूर्ण तृष्णा-क्षय और दुःख-रहित अवस्था का ही नाम निर्वाण है।

मार्ग—दुःख के निरोध और तृष्णा के क्षय के लिए आठ साधन हैं। बुद्ध इन्हें 'अष्टांग' कहते थे। वे हैं—१—सम्यक् दृष्टि, २—सम्यक् संकल्प, ३—सम्यक् वाक्, ४—सम्यक् कर्मान्त, ५—सम्यक् जीविका, ६—सम्यक् व्यायाम, ७—सम्यक् स्मृति और ८—सम्यक् समाधि। यह मार्ग मध्यम मार्ग है। इसमें अति का सर्वत्र विरोध है। जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म कठोर व्रत, तप आदि पर जोर नहीं देता है।

इस मध्यम मार्ग के साथ-साथ बुद्ध ने नैतिक शील पर भी अधिक जोर दिया। उनके अनुसार दस शील का पालन करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है। वे शील (१) अहिंसा, (२) अस्तेय, (३) सत्य, (४) अपरिग्रह, (५) ब्रह्मचर्य (६) नृत्यगान का त्याग, (७) सुगंधित पदार्थों का त्याग, (८) असमय में भोजन का त्याग, (९) कोमल शय्या का त्याग और (१०) कामिनी-कांचन का त्याग करना है। इनमें से प्रथम पाँच शील गृहस्थ उपासकों और अन्तिम पाँच भिक्षुओं के लिए आवश्यक बताये गये हैं।

बुद्ध अनीश्वरवादी थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते थे। उनका कहना था कि कार्य-कारण-शृङ्खला से यह संसार चलता है। साथ ही वे अनात्मवादी थे। शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व वे नहीं स्वीकार करते थे। पर बुद्ध ईश्वर और आत्मा को न मानते हुए भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। पुनर्जन्म कर्म-सिद्धान्त के अनुसार संचालित होता है, ऐसा उनका कहना था। वासना और तृष्णा से रहित हो जाने पर मनुष्य का जन्म पुनः संसार में नहीं होता है। जिस प्रकार तेल और बत्ती के जल जाने से दीपक अपने आप बुझ कर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार वासना तथा अहंकार के मिट जाने पर मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त होता है और वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसी पद को प्राप्त करने के लिए १० शील और ८ मध्यम मार्ग का उपदेश बुद्ध ने दिया था।

बुद्ध ने वैदिक हिंसात्मक यज्ञों का परित्याग किया था। वैदिक ज्ञान के बहुत बड़े अंश को उन्होंने अपनाया था, पर कर्म काण्ड का उन्होंने विरोध किया। "नीतिमय बुद्धिवाद ही उनके धर्म का मर्म था। वे निष्काम कर्म-

योगी थे और दार्शनिक तर्क-वितर्क की उपेक्षा कर शीलमय जीवन की महिमा का उपदेश देते थे।"

बौद्ध धर्म का प्रचार—बुद्ध के उपदेशों और शिक्षाओं का बड़ी तेजी से प्रचार हुआ। बुद्ध ने स्वयं ४५ वर्षों तक अपने विचारों का प्रचार बड़ी लगन और दृढ़ता के साथ किया। उनके अनवरत परिश्रम और करुणा-पूर्ण विचार-धारा का स्रोत बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ा। उत्तरी भारत के सभी प्रमुख राज्यों और राजाओं पर उनका प्रभाव पड़ा। उन्होंने मगध, कोशल, शाक्य और लिच्छवी राज्यों में स्वयं जाकर अपने मत का प्रचार किया। "उनकी मधुरमूर्ति में इतना आकर्षण था और उनके धर्म-प्रवचन में इतना प्रभाव था कि राजा, रंक, साधु, असाधु ब्राह्मण और शूद्र सभी उनके उपदेश पर धीरे-धीरे मुग्ध होने लगे। कोसल का राजा प्रसेनजित बुद्ध के शिष्य बन गये। मगध के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु ने बौद्ध मत को स्वीकार किया। अनाथपिण्डक नामक एक नामी सेठ ने उनका शिष्यत्व स्वीकृत किया। आम्रपाली नाम की वेश्या तक ने बुद्ध के उपदेशामृत से अपना जीवन सुधार लिया। उन्होंने अन्त्यज, गणिका, अधम, पापी सब श्रेणी के मनुष्यों को अपने आश्रय में स्थान दिया।" अतः बौद्ध धर्म के प्रचार में स्वयं बुद्ध का श्रेय बहुत कुछ है। उनका लोकोत्तर निष्कलंक जीवन, उनकी शान्त और तेजमयी आकृति, उनकी लोक सेवा और सार्वजनिक कल्पना की भावना बौद्ध धर्म की नींव को दृढ़ता के साथ स्थिर करने के लिए पर्याप्त थी। उन्होंने अपने जीवन-काल में ही 'संघ' स्थापना की परम्परा को चलाया और इस परम्परा ने उनके धर्म के प्रचार में बहुत अधिक योग दिया। 'संघ' में सम्मिलित होने वालों में एक जोश, दृढ़ता और मनोवैज्ञानिक स्फूर्ति पैदा हो जाती थी जिससे बौद्ध भिक्षु निस्पृह भाव से अपने को धर्म-प्रचार में खपा देते थे। स्वयं बुद्ध ने अपने शिष्यों को संघ में संगठित करके सर्वत्र धर्म-प्रचार के लिए यह कह कर भेजा कि—"हे भिक्षुओ, तुम लोग संसार के कल्याण और उपकार के लिए भ्रमण करो। तुममें से कोई दो भी एक मार्ग से न जाय।" यह भिक्षु-संघ धार्मिक इतिहास में अपने तरह की बेजोड़ संस्था थी।

बौद्ध धर्म के सफल प्रचार का एक कारण यह भी था कि इस धर्म के संरक्षक और प्रचारक बड़े-बड़े राजा हुए। ऐसे अनेक राजाओं का वर्णन

पाकर यह धर्म बहुत शीघ्र आगे बढ़ा। अशोक, हर्ष जैसे राजाओं ने इसे राज-धर्म बनाया और इसके प्रचार का अथक प्रयास किया। उन्होंने इस धर्म के सिद्धान्तों को भारत की सीमा के बाहर अपनी राज्य-शक्ति के प्रभाव से प्रचारित किया। लंका, बर्मा तथा अन्य देशों में उनके प्रभावशाली प्रचारक गये। स्थान-स्थान पर स्तूप और शिला लेख खुदवाये गये और उनकी रक्षा और व्याख्या के लिए राज्य-कर्मचारी नियुक्त किये गये।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के शीघ्र और सहज प्रचार के और भी अनेक कारण थे। यह धर्म बड़ा सरल, नैतिक और व्यावहरिक था। वैदिक कर्मकाण्ड की दुरूह व्यवस्था से ऊबी हुई जनता ने इसका स्वागत किया। साथ ही बुद्ध ने अपना दरवाजा मानव मात्र के लिए समान सुविधा के साथ खोल रक्खा था। उनके पास वर्ण, जाति, ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं था। बुद्ध का स्वयं अपना चरित्र भी बहुत पवित्र और सरल था। अतः जनता उनकी ओर सहज-भाव से आकर्षित होती थी। उनके उपदेश का माध्यम भी जन-भाषा थी जो सभी को आसानी से समझ में आ जाती थी। बौद्ध धर्म के लोक-प्रिय होने का एक कारण यह भी था कि बुद्ध ने सदा मध्यम मार्ग के अनुसरण पर जोर दिया। उन्होंने अति का सर्वत्र विरोध किया। इन्हीं कारणों से कुछ ही दिनों में बौद्ध धर्म सिंहल, बरमा, स्याम, चीन, जापान, मध्य एशिया, अनाम, कम्बोडिया आदि अनेक देशों में पहुँच गया जहाँ आज भी वह किसी-न-किसी रूप में जीवित है।

आश्चर्य की बात है कि बौद्ध धर्म अपने जन्म स्थान के देश में विलीन हो गया है और अब वह यहाँ केवल पुस्तकों की ही चर्चा-मात्र है। स्वदेश में इसके ह्रास और लोप हो जाने के अनेक कारण पैदा हो गये। ब्राह्मणों का कट्टर विरोध, आपसी फूट, संघ और मठ का पतन और बौद्ध भिक्षुओं का पापमय जीवन, अहिंसा की प्रवृत्ति और राजधर्म से उसका मेल न बैठना, विदेशियों के आक्रमण जिसमें सहस्त्रों भिक्षु और बौद्ध तलवार के घाट उतार दिये गये, ब्राह्मण धर्म की पुनः जागृति आदि ऐसे अनेक कारण उपस्थित होते गये जिनसे धीरे-धीरे इस धर्म का पैर इस देश से उखड़ गया। बाद में ब्राह्मण पण्डितों ने गौतम बुद्ध को ही अपना लिया और बुद्ध को एक अवतार मान लिया। इससे भी बौद्ध धर्म के पृथक् अस्तित्व का लोप हो गया।

महायन और हीनयान—कालान्तर में बौद्ध धर्म के दो सम्प्रदाय हो गये थे। एक महायान और दूसरा हीनयान कहलाया। **हीनयान** बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप को मानता है। वह बुद्ध को ईश्वर का रूप नहीं मानता है। इस सम्प्रदाय में कर्म को ही ईश्वर माना जाता है। बुद्ध के उपदेश, उनका अनुसरण मनुष्य को निर्वाण दिला सकता है। कुछ समय बाद बौद्ध धर्म के प्राचीन नियम कुछ ढीले पड़ गये। जिन लोगों ने इस नवीन मार्ग का अनुसरण किया और प्राचीन नियमों में कुछ परिवर्तन स्वीकार किये, वे **महायान** के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस सम्प्रदाय का आदर्श सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना है और उससे संसार के प्राणियों को दुःख से मुक्त करना है। इस सम्प्रदाय वालों ने बुद्ध को ईश्वर की तरह माना और पूजा किया। विदेशों में इस सम्प्रदाय के मानने वाले अधिक हैं।

जैन, बौद्ध और प्राचीन वैदिक धर्म का पारस्परिक संबंध—जैन और बौद्ध धर्म वैदिक कर्मकाण्ड और तत्कालीन अन्धविश्वास की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुये थे। दोनों ही ने वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया; हिंसा और यज्ञों का विरोध किया। दोनों ही धर्मों ने अहिंसा और सदाचार पर अधिक जोर दिया और कर्म को जीवन का प्रधान श्रोत और प्रेरक माना। दोनों धर्मों ने अपने अपने ढङ्ग से त्रिरत्न को अपनाया; जैन धर्म ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न माना और बौद्ध धर्म ने बुद्ध, सङ्घ और धर्म को अपना त्रिरत्न स्वीकार किया। जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों में भी पर्याप्त समानता थी। दोनों क्षत्रिय राजकुमार थे। दोनों ही ने धर्म के रहस्य को समझने के पूर्व घोर तप किया था और दोनों ही ने धर्म प्रचार का क्षेत्र मगध को बनाया था। इन दोनों धर्मों में साधु और गृहस्थ के लिए पृथक पृथक नियम हैं। दोनों ने अपने प्रचार का साधन संस्कृत को न बना कर पाली या प्राकृत अर्थात् जन-भाषाओं को ही बनाया। इन्होंने जाति पाँति के भेदभाव को नहीं माना।

पर इन समानताओं के साथ साथ इन दोनों धर्मों में कुछ विभिन्नताएँ भी थीं। मोक्ष या निर्वाण की कल्पना दोनों धर्मों में पृथक पृथक थी। जैन दुःख से पूर्ण मुक्ति को ही मोक्ष मानते थे और बौद्ध व्यक्तित्व की पूर्ण समाप्ति को निर्वाण

करते थे। जैन व्रत, तपस्या और उपवास को मोक्ष का साधन मानते थे पर बौद्ध मध्यम मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश देते थे और शरीर को अनावश्यक कष्ट देने में उनका विश्वास नहीं था। अहिंसा का व्यवहारिक पक्ष जैनियों में बौद्धों की अपेक्षा अधिक सक्रिय और व्यापक था। जैन धर्म हिन्दू धर्म से अधिक निकट रहा, पर बौद्ध हिन्दू धर्म से अपेक्षाकृत दूर हट गये। जैन धर्म का प्रचार भारत के बाहर न हो सका, पर बौद्ध धर्म अन्य देशों में फैला। पर जैनी आज भी भारत में हैं, बौद्ध अब यहाँ नहीं पाये जाते हैं। दोनों के धार्मिक ग्रन्थ पृथक-पृथक हैं। जैनों के धर्म ग्रन्थ 'आचारांग-सूत्र' और 'उपासक-दशा-सूत्र' हैं। बुद्ध के उपदेश 'सुत्त-पिटक', 'विनय-पिटक' और 'अभिधम्म-पिटक' में हैं। इन तीनों बौद्ध ग्रंथों को त्रिपिटक कहते हैं।

जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म से कभी अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया। जैनी ब्राह्मण-धर्म के वर्णाश्रम व्यवस्था को मानते हैं। वर्णाश्रम का आधार जन्म को न मानते हुये भी जैनियों ने जाति-व्यवस्था के मूलोच्छेदन की कोशिश कभी नहीं की। ईश्वर की सत्ता के विषय में जैन और ब्राह्मण धर्म एक मत नहीं थे। जैनी संसार को ईश्वर कृत हुआ नहीं मानते, यज्ञादि में भी उनका विश्वास नहीं है। हिन्दू देवताओं को जैनी भी मानते पूजते हैं। अतः जैन धर्म हिंदू धर्म का एक परिष्कृत रूप ही था।

बौद्ध धर्म के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। महात्मा बुद्ध ने कभी हिंदू धर्म की आलोचना और मखौल नहीं किया। इसे वैदिक काल का धार्मिक विचारधारा में एक सुधारवादी आंदोलन ही कहना चाहिये। जीवों के प्रति दया की भावना, सत्य, सदाचार आदि बातें हिंदू धर्म से ही ली गयीं थी। महात्मा बुद्ध ने लोगों के समक्ष इसे अपने प्रभावशाली ढङ्ग से रक्खा था अतः उसके प्रति एक नया आकर्षण मालूम होने लगा। कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि बातें हिंदू धर्म की अभिन्न भावनाएँ थीं और बुद्ध ने उसे ही अपना लिया था। दोनों के संगठन में अन्तर अवश्य था। एक वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखता था और दूसरा इसका विरोधी। बौद्ध धर्म में 'संघ' संगठन की परम्परा निराली थी। बौद्धों ने वेद को कभी प्रमाण नहीं माना। जाति पाँति के भेदभाव को भी बौद्ध धर्म ने कभी स्वीकार नहीं किया।

बौद्ध धर्म ने कालान्तर में हिंदू धर्म को प्रभावित किया। यज्ञों में होने वाले पशु-बलि का प्रायः लोप ही हो गया। भक्ति सम्प्रदाय के अभ्युदय के मूल में बौद्ध धर्म ही था। मूर्ति पूजा के लिये भी बौद्ध धर्म को ही कारण बताया जाता है क्योंकि भारत में सर्वप्रथम बुद्ध की ही मूर्तियों की पूजा की प्रथा चल पड़ी थी। भारतीय शिल्प और मूर्ति-कला के क्षेत्र में बौद्ध धर्म की देन अनुपम है। गुहा-मन्दिर के निर्माण की कला बौद्धों की देन है। कालान्तर में महात्मा बुद्ध को हिंदू अवतारवाद में एक स्थान मिला और हिंदू दृष्टि को व्यापक तथा उदार बनाने में बौद्ध धर्म ने अत्यधिक श्रेय प्राप्त किया है। वास्तव में आदि वैदिक धर्म और विचारधारा के ही दो श्रोत जैन और बौद्ध धर्म के रूप में निकले जिससे भारतीय संस्कृति और सभ्यता का रूप व्यापक बना और हमें प्रगति की ओर अग्रसर होने का अवसर मिला।

बुद्ध कालीन भारत—उस समय की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक दशा का ज्ञान हमें 'त्रिपिटक' और 'जातक' ग्रन्थों से होता है। इन ग्रन्थों से पता चलता है कि बुद्ध के जन्म के पूर्व उत्तरी भारत में १६ जनपद* थे। इनमें से कुछ राजतंत्र और कुछ गणतंत्र थे। **कोसल** भारत का एक शक्तिशाली राज्य था। इसकी राजधानी श्रावस्ती (राप्ती नदी के तट पर) थी। वहाँ का राजा प्रसेनजित था। वह बुद्ध का समकालीन था। मगध राज्य से इसकी शत्रुता थी और आपस में कई बार युद्ध हुए। बुद्ध के पश्चात् कोशल पर मगध का अधिकार हो गया। मगध दूसरा बड़ा था। इसकी राजधानी राजगृह थी। बुद्ध के समय यहा शिशुनाग वंश के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु राज्य करते थे। बिम्बिसार ने चम्पा (अंग की राजधानी) पर विजय प्राप्त की और उसे अपने राज्य में मिला लिया। बिम्बिसार ने कोशल के प्रसेनजित की बहन महाकोसला से विवाह किया और काशी का राज्य उसे दहेज में मिला। उसे अन्य राजाओं से भी मित्रता थी। उसका पुत्र अजात-

* १—अङ्ग (मुंगेर-भागलपुर), २—मगध (बिहार), ३—काशी (बनारस), ४—कोसल (अवध), ५—वज्जी (वैशाली) ६—मल्ल (कुशीनगर), ७—चेदि (बुन्देलखण्ड), ८—वंश (कौशाम्बी), ९—कुरु (इन्द्रप्रस्थ), १०—पांचाल (कुरु के पूर्व गङ्गा के किनारे), ११—मच्छ (अलवर-जयपुर), १२—सूर सेन (मथुरा), १३—अस्सम (गोदावरी के तट पर) १४—अवन्ती (मालवा), १५—गान्धार (तक्षशिला), १६—कम्बोज (सिन्ध के उत्तर-पश्चिम में)

शत्रु, उससे भी अधिक महत्वाकांक्षी था। उसके समय मगध बहुत शक्तिशाली बन गया। वत्स राज्य की राजधानी प्रयाग के लगभग ३८ मील पश्चिम कौशाम्बी थी। यह उत्तरी भारत का एक प्रमुख राज्य था। बुद्ध के समय वहाँ उदयन राज्य करता था। वह बुद्ध का भक्त था। उदयन और मगध के बिम्बिसार में मैत्री थी, पर अवन्ति के राजा के साथ उसकी दुश्मनी थी और उनमें आपस में युद्ध होता रहता था। उस समय चौथा प्रसिद्ध राज्य **अवन्ति** (मालवा) था। वहाँ का राजा प्रद्योत था जो अपनी सैनिक शक्ति और नीति के कारण 'चन्ड' कहलाता था। उसने शूरसेन जीत लिया और आगे बढ़ कर कौशाम्बी (वत्स) पर आक्रमण किया। वत्स के राजा उदयन को उसने एक बार कैद भी कर लिया था। ये चार प्रसिद्ध राजतंत्र उत्तरी भारत में उस समय थे। इनमें आपस में युद्ध होता रहता था। अन्त में इस शक्ति संचय की दौड़ में मगध ने सबको हराया और धीरे-धीरे उत्तरी भारत का सब से शक्तिशाली साम्राज्य बन गया।

प्राचीन बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि हिमालय की तलहटी और पूर्वी कोसल तथा पूर्व-उत्तर बिहार (अंग) तक गण-तंत्र राज्यों का सिलसिला था। उनमें से एक **शाक्य** गणतंत्र था जो आधुनिक बस्ती और गोरखपुर जिले के उत्तर में नैपाल की तराई में स्थित था। उनकी राजधानी कपिलवस्तु थी। भगवान बुद्ध का जन्म इसी गणराज्य में हुआ। शाक्यों के पूर्व **कोलिय** गण-राज्य था। यह राज्य सरयू नदी तक फैला था। रामग्राम (वर्तमान रामगढ़ ताल) जो गोरखपुर जिले में स्थित है, उनकी राजधानी थी। इसी प्रकार **मोरिय** नामक गणतंत्र भी उसी के पास था और उनकी राजधानी पिप्पली-वन थी। दूसरा गणराज्य **मल्लों** का था जिसकी राजधानी कुशीनगर थी। मल्लों की एक शाखा कुछ और पूरब की ओर वर्तमान देवरिया जिले में थी। **लिच्छवी** नाम का गणतंत्र आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले में था। मिथिला का **विदेह** राज्य में दरभंगा और भागलपुर जिले शामिल था। इनकी राजधानी मिथिला या जनकपुर थी।

इन गणतंत्र राज्यों का शासन लोकतांत्रिक था। गण पंचायती राज्य थे और वहाँ जनता के चुने हुए व्यक्ति को राजा ही कहा जाता था। राजा का चुनाव एक निश्चित काल के लिए होता था। कहीं

कहीं कुछ गणराज्यों को मिला कर एक सङ्घ बना लिया जाता था। मल्लों का एक सङ्घ इसी प्रकार का था। इनकी सैनिक शक्ति अच्छी थी, प्रायः सब नवयुवक आवश्यकता पड़ने पर सेना में काम करते थे। न्याय और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मूल्य समाज में अधिक था। न्याय के लिए अपील की व्यवस्था थी। राजकाज में प्रमुख को राय देने के लिए एक परिषद् होती थी जिसकी बैठक नियत स्थान और नियत समय पर होती थी। वादविवाद होता था और निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता था। वादविवाद के नियम बने थे और संस्थागार में उन नियमों का पालन होता था। बौद्ध धार्मिक सङ्घों में भी सङ्गठन और कार्य-प्रणाली का ढंग गणतंत्र की प्रणाली पर आश्रित था।

बुद्ध कालीन समाज—बुद्ध के पूर्व समाज में जाति-व्यवस्था का का खूब जोर था और ब्राह्मण तथा शूद्र वर्ग में अधिक खिंचाव तथा भेद पैदा हो गया था। ब्राह्मणों का अधिक आदर होता था, उनकी बातें प्रमाण समझी जाती थीं। बुद्ध के प्रभाव से पूर्वी और उत्तरी भारत के अधिकांश भाग में क्षत्रिय वर्ग का प्रभाव अधिक हो गया और ब्राह्मणों का अपेक्षाकृत कम। पर बुद्ध के उपदेश के बाद भी जाति-पाँति के बंधन में कुछ विशेष ढीलापन नहीं आया। बुद्ध के प्रभाव से शूद्रों में कुछ चेतना आयी और उनके जीवन में आशा का संचार हुआ।

विवाह अधिकतर माता-पिता की राय से होते थे। स्वयम्वर की प्रथा कम होती जा रही थी। कहीं कहीं सगोत्रीय विवाह की प्रथा भी थी। कभी-कभी स्त्रियों का पुनर्विवाह पति की मृत्यु के बाद होता था। स्त्रियों में पर्दा की प्रथा का प्रारम्भ नहीं हुआ था। बुद्ध के जीवन काल में स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने की प्रथा नहीं थी, पर आगे चलकर वे भी भिक्षुणी और परिव्राजका बनने लगीं। गणिका या वेश्या वर्ग का संकेत भी बौद्ध ग्रंथों में मिला है।

आर्थिक जीवन—बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि उस समय ग्रामीण जीवन अच्छा था, गाँवों में खूब चहल-पहल रहती थी। गाँवों में चारों ओर खेत, चरागाह और बाग होते थे। खेती ही का पेशा मुख्य रूप से होता था। किसान अपनी भूमि का मालिक होता था। राजा को पैदावार का दसवाँ भाग दिया जाता था। गाँव में ग्राम-भोजक प्रधान होता था और वह प्रभावशाली व्यक्ति था। राज्य का कर वही इकट्ठा करता था। गाँवों में भाईचारा और

समाज सेवा की भावना उच्चकोटि की थी। ग्रामों का जीवन स्वावलम्बी था। गाँवों में पंचायत की प्रथा थी और उनका प्रभाव भी अधिक होता था। बौद्ध काल में राजगृह, वाराणसी, वैशाली, उज्जैन, मथुरा श्रावस्ती आदि बड़े नगरों का उल्लेख किया गया है। प्रायः नगरों में किलेबन्दी होती थी। खेती के अतिरिक्त बढ़ई, लोहार, सुनार, चर्मकार, कुम्हार, जुलाहे, जौहरी, चित्रकार का पेशा होता था कुछ पेशों के लोग 'श्रेणी' में संगठित थे। उनके अपने नियम भी होते थे जिनका पालन कठोरता के साथ किया जाता था। ऐसी अनेक श्रेणियों का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है।

व्यापार काफी विकसित दशा में था। व्यापार निर्भीकतापूर्वक होता था। बाहरी देशों से भी अच्छा व्यापार होता था। देश के बाहर जाने वाली वस्तुओं में मलमल, रेशम, किनखाब, बेल-बूटे के सामान, औषधि, सुगंधित पदार्थ, बर्तन, हाथी दाँत, आभूषण, रत्न आदि चीजें मुख्य थीं। भड़ौच और सूरत अच्छे बन्दरगाह थे। व्यापार में मुद्रा का प्रयोग होता था पर अधिकतर व्यापारी हुण्डियों से काम लेते थे। देश में व्यापार के लिए अच्छे मार्गों की व्यवस्था थी और उन पर व्यापारियों की रक्षा का भी प्रबन्ध होता था। कभी-कभी अकाल, बाढ़ या अनावृष्टि से देश के कुछ भागों में आर्थिक स्थित खराब हो जाया करती थी, पर साधारणतया देश सुखी और सम्पन्न था। दान की प्रथा थी। बौद्ध भिक्षुओं और संघों को दान के रूप में अच्छी मदद मिलती थी।

संसार के अन्य देशों में समसामयिक धार्मिक सुधार की धारा

छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में धार्मिक क्षेत्र में जैसी सुधारवादी धारा भारत में प्रस्फुटित होकर जैन और बौद्ध धर्म के रूप में निखरती गयी, वैसी ही लहर संसार के कुछ अन्य देशों में भी उठी और आगे बढ़ी। यह युग संसार में एक असाधारण आध्यात्मिक और धार्मिक सुधार का काल बन गया। "ईरान, भारत, चीन, ग्रीस, बेबीलोनिया और जूडिया में सर्वत्र जन-धर्म-प्रवर्तकों और चिन्तन करने वालों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने राजशक्ति से अलग धर्म के विभिन्न रूपों का प्रचार किया। लगता है इस सदी में धार्मिक आन्दोलनों की एक सक्रिय धारा सभ्य संसार पर बह गयी थी। बुद्ध और महावीर की तरह ग्रीस में सुकरात और प्लेटो, ईरान में जरथुस्त्र और चीन में

कनफ्यूशियस जैसे विचारक और सुधारक पैदा हुए जिन्होंने अपने अपने समाज में अपनी विचार-पद्धति के कारण प्राचीन परम्परा में एक उथल-प्रथल पैदा कर दी और अतीत के पुराण-पंथी विचारों के विरुद्ध विद्रोह की आवाज उठायी जिससे कुछ पुराने जङ्ग की सफाई हुई और जनसाधारण की धार्मिक भावनाओं और परम्पराओं में एक नयापन का समावेश हुआ।"

चीन और कन्फ्यूशस—भारत की तरह चीन भी एक बड़ा और प्राचीन सभ्यता वाला देश है। इस प्राचीनता के साथ-साथ चीनी धर्म और समाज में कुछ दोष घुस गये थे और चीन का जन-जीवन गतिमय नहीं रह गया। अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और परम्परा का बोझ इतना भारी होता जा रहा था कि लोगों के जीवन में निष्क्रियता का पुट अधिक बढ़ गया। छठीं शताब्दी ई० पू० में भारत की तरह वहाँ भी दो महात्माओं एवं विचारकों का जन्म हुआ। उनके नाम लाओ-सी (जन्मकाल लगभग ५७० ई० पू०) और कन्फ्यूशस (जन्मकाल लगभग ५५१ ई० पू०) थे। लाओ-सी के जीवन के विषय में हमें अधिक ज्ञान नहीं है। वे रहस्यवादी दार्शनिक थे। उनकी शिक्षाएँ 'ताओवाद' (Taoism) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ताओ का तात्पर्य प्रेम और सन्यास के द्वारा सहभाव, सम लयता, एवं एकरसता उत्पन्न करने से है। ताओ-सी ने कहा है, "उनके लिए जो साधु और अच्छे हैं, मैं अच्छा हूँ; उनके लिए भी जो असाधु या बुरे हैं, मैं अच्छा हूँ।" लाओ-सी सबको प्रेममय देखना चाहते थे।

चीन में सब से अधिक स्थायी प्रभाव पैदा करने वाला व्यक्ति कन्फ्यूशस हुआ। वे लगभग बुद्ध के समकालीन थे। आप पहले अध्यापक और पुनः सरकारी नौकर हो गये। पुनः आप साधु बातों के प्रचारक हो गये। बुद्ध की तरह आप ने भी देवी-देवताओं की अर्चना नहीं की। कन्फ्यूशस का कहना था कि "जब तक मनुष्य मानव की सेवा नहीं कर सकेगा, तब तक देवी-देवताओं की पूजा उससे कैसे हो सकेगी।" आप सबके साथ दया और न्याय करने का उपदेश देते थे। उन्होंने (१) व्यक्तिगत आचरण के सुधार, (२) बड़े और योग्य व्यक्तियों का आदर करना, (३) बंधु-बान्धवों के प्रति प्रेम और श्रद्धा करना, (४) जन कल्याण की भावना में अपने को तदनुरूप बनाना, (५)

विदेशियों के प्रति आदर और स्नेह के भाव रखना का उपदेश दिया। कन्फ्यूशस की शिक्षाएँ बुद्ध की तरह उनके जीवन-काल में सफल न हो सकीं, पर चीन ने उसे उसकी मृत्यु के बाद पहचाना। उनकी ये शिक्षाएँ दो हजार वर्षों से चीनी मन को परिमार्जित करती आ रही हैं। जिस समय "चीन के साधारण लोग जादू-टोने की शक्ति पर विश्वास करते थे; उनकी धारणा थी कि वातावरण में ऐसी अनेक आत्माएँ निवास करती हैं जिनकी सहायता जादू मय कविताओं से प्राप्त की जा सकती है; जब वे कछुये की पीठ देखकर अपना भविष्य बतलाने के लिए रुपये दिया करते थे और जादूगरों की प्रार्थना और पूजा वर्षा या धूप के लिए करते थे, उस समय कन्फ्यूशस ने अपने बुद्धि-प्रधान उपदेशों से अन्ध विश्वास और जड़ता नष्ट करने का सफल प्रयत्न किया। बुद्ध की तरह कन्फ्यूशस धार्मिक उपदेशक, प्रचारक या प्रेरक नहीं थे। वे सुकरात की तरह अध्यापक थे। शिष्टाचार के नियमों पर वे विशेष जोर देते थे। प्रत्येक शिष्य की जिज्ञासा शान्त करना वे अपना धर्म समझते थे। कालान्तर में उनका यश एक धर्म-प्रचारक की भाँति फैल गया। अपने समय के समाज की बुराइयों को वे आचार और नैतिक अच्छाइयों से दूर करने की शिक्षा दिया करते थे। उनकी राय में श्रेष्ठ मानव में प्रतिभा साहस और दूसरों के प्रति कल्याण की भावना का होना आवश्यक है। वे सत्य पर अत्यधिक जोर देते थे। महात्मा बुद्ध की तरह कन्फ्यूशस का विचार था कि "मानव चरित्र की उत्कृष्ट आधार-शिला मानव मात्र के प्रति करुणामयी सहानुभूति की भावना ही है।"

भारत में महात्मा बुद्ध के दर्शन और सिद्धान्त को वैदिक धर्म ने कुछ समय बाद परास्त कर दिया और कुछ विशेष कारणों से वह धर्म अपने जन्म-स्थान से लुप्त हो गया, पर इसके विपरीत कन्फ्यूशस का प्रभाव आज तक चीन में दृढ़ता के साथ अपना स्थान बनाये हुये है। अनेक चीनी विद्वान अपने को उनका शिष्य बताने में गर्व का अनुभव करते हैं। "उसी प्रभाव से चीन ने सांमुहिक जीवन का, विद्या और ज्ञान के प्रति प्रशंसा की उत्साहमयी भावना एवं शांत तथा स्थायी संस्कृति का विकास किया।" चीन में कुटुम्ब के प्रति इतनी गहरी आस्था का होना भी उसी विचार धारा के प्रभाव के कारण बत-

लाया जाता है। धार्मिक सहिष्णुता और मेल का जैसा व्यवहारिक उदाहरण चीन में है, वैसा संसार के किसी अन्य देश में नहीं है।

ग्रीस में ई० पू० छठीं शताब्दी में सुधार-आन्दोलन—यूनानी विचार-धाराओं और सामाजिक अनुभूतियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय पाइथागोरस, जेनोफनीज, सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू जैसे विचारकों, प्रचारकों एवं सुधारकों को है। इनमें से प्रथम दो व्यक्ति ग्रीस के छठवीं शताब्दी ई० पू० के प्रमुख दार्शनिक थे। इनके हाथों में पड़कर दर्शन केवल जिज्ञासा शान्त करने की साधन नहीं रह गया, बल्कि वह 'जीवन का एक पथ' बन गया। इनके प्रयास से ग्रीस में एक प्रकार का नैतिक शुद्धीकरण हो गया। इनके ही कार्य को अन्तिम तीन दार्शनिकों ने आगे बढ़ाया और ग्रीस में धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण पैदा कर किया।

सुकरात (४७०-३९९ ई० पू०)—आपने यूनान के अन्धविश्वास तथा अज्ञान को दूर करने के प्रयास में अपने को बलिदान कर दिया। वह सम्यक् ज्ञान को ही सर्वोपरि मानता था। उन्होंने यह उपदेश दिया कि "अपने को पहचानिए।" यह भारतीय दर्शन के "आत्मानं विद" से कितना मिलता-जुलता है। सुकरात का कहना था कि सबके साथ मित्रवत व्यवहार करना चाहिये। उसके विचारों से पुराने पंथानुगामी बिगड़ खड़े हुये और उसे विष-पान द्वारा प्राणदण्ड की सजा मिली। सुकरात ने हत्या की साधना और प्रेम में हँसते-हँसते विष पान कर लिया और वे सत्य की आराधना में मर कर अमर हो गये। पर उनकी परम्परा आगे बढ़ती गयी और उनके बाद उनके शिष्य प्लेटो ने गुरू की शिक्षण-परम्परा को जारी रक्खा। प्लेटो का लिखा हुआ संसार प्रसिद्ध ग्रंथ "रिपब्लिक" आज भी मनन का विषय बना हुआ है। विचारों के अमरत्व में उसका अटूट विश्वास था। उन्होंने मानवीय सामाजिक सम्बन्धों को आदर्शमय बनाकर मानव जीवन को श्रेष्ठतर और ऊँचा बनाने का जीवन-पर्यन्त प्रयत्न किया। प्लेटो के बाद उनका एक उतना ही पटु शिष्य अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) हुआ। अरस्तू महान विजेता सिकन्दर का गुरू था। वह बहुमुखी प्रतिभावाला व्यक्ति था। इन्होंने अपने अगाढ़ पांडित्य का प्रदर्शन राजनीति, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में अपनी अमर लेखनी द्वारा

किया। उसका एक ग्रंथ "राजनीति" (Politics) विश्व के लिए अद्भुत देन है।

ईरान या फारस में धार्मिक सुधार-आन्दोलन—पिछले अध्यायों में संकेत किया गया है कि ईरान और भारत के वैदिक आर्य मूल में एक ही मानव शाखा के थे और विभिन्न स्थानों पर रहते हुये भी उनकी सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की समानताएँ पायी जाती हैं। छठवीं शताब्दी ई० पू० में यहाँ भी बुद्ध और महावीर की तरह जरथुस्त्र नामक एक धार्मिक सुधारक का आविर्भाव हुआ था जिनके प्रयास से फारस के धार्मिक विचारों और परम्पराओं में एक नया जीवन पैदा हो गया। दुर्भाग्य से उनके जीवन के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है, पर उनके विचारों और उपदेशों के प्रभाव हमें आज भी देखने को मिलते हैं। महात्मा बुद्ध की तरह आपने भी सत्य की खोज में अनेक कष्ट उठाये। मरु स्थान में सत्य और प्रकाश की खोज में भ्रमण करते हुये जरथुस्त्र को अचानक ज्ञान हुआ और आप पुनः अपने देशवासियों के उद्धार के निमित्त धर्म-प्रचार के लिए लौट पड़े। पहले आपकी बातों को सुनने वाला कोई नहीं था। पर धीरे धीरे सत्य की विजय हुई और दारा जैसा महान शासक उनका अनुयायी हो गया।

"आप के सदुपदेशों से अज्ञान से आच्छन्न ईरानी जीवन में ज्ञान रूपी आलोक की किरणें विकीर्ण होने लगीं।" जरथुस्त्र का कहना था कि संसार में सदा सत् तथा असत् (दैवी और आसुरी) शक्तियों में संघर्ष चलता रहता है। 'मजदा' दैवी शक्ति का द्योतक है। उसमें सात गुण—ज्योति, सुन्दर ज्ञान, सत्य, आधिपतित्व, पवित्रता, क्षेम और कल्याण—होते हैं। उनके दार्शनिक विचार "अहुनवैती" नामक ग्रंथ में संकलित हैं। उन्होंने कहा है कि मनुष्य को सदा अपने विवेक से काम लेना चाहिए। जीवन में विवेक और सत्य का स्थान सर्वोपरि है। अन्ध विश्वास उसे पीछे खींचनेवाला और अंधकार की ओर ले जाने वाला है। जीवन में उन्होंने निस्वार्थ सेवा, परोपकार, दया, उदारता, प्रेम, सहानुभूति को दैवी गुण माना है। उन्होंने यह भी कहा कि विपत्ति में ग्रसित व्यक्ति को सहायता देने से अधिक पुण्यकारी काम दूसरा कुछ नहीं हो सकता है। आप का विचार था कि इस जीवन तकही मनुष्य का

अस्तित्व नहीं है। मनुष्य का इस लोक का जीवन उसके भावी जीवन की रूप-रेखा निर्धारित करता है। यदि मनुष्य इस संसार में सदाचारमय जीवन व्यतीत करे, तो भविष्य में उसे सुख मिलेगा और अन्त में ऐसे ही मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति होती है।

जरथुस्त्र के उपदेशों का प्रभाव ईरानी जीवन और आचार-विचार पर पर्याप्त रूप से पड़ा। शताब्दियों तक ईरानी जनता के चरित्र और आदर्श को पवित्र और ऊँचा रखने का श्रेय इस उपदेश को रहा। जरथुस्त्र ने जादू-टोना, अन्धविश्वास और परम्परावाद का खण्डन किया था। उसने एक पत्निव्रत, सरल और संयमी जीवन तथा अतामसिक भोजन पर जोर दिया था। आपका कहना था कि पवित्र आचरण से ही अमरता प्राप्त होती है।

जरथुस्त्र ने वास्तव में पारसियों का जीवन सरल और भव्य बनाने का अथक प्रयत्न किया। पर कालान्तर में अन्धविश्वासी परम्परावादियों ने उनके सरल एवं पवित्र उपदेशों को असाधु आवरणों से ढँक दिया। सबसे अधिक कमजोर इसे पुरोहितवाद ने किया क्योंकि धीरे-धीरे पारसी समाज में पुरोहित वर्ग का जोर बढ़ गया। अन्त में इस्लाम धर्म के प्रचारकों ने इसे अन्तिम चोट दी और जरथुस्त्र के अनुयायियों को अपनी और अपने धर्म की रक्षा के लिए फारस छोड़कर भागना पड़ा। जिस प्रकार बौद्ध धर्म का लोप भारत से हुआ, उसी प्रकार इस धर्म का लोप उसके जन्म स्थान वाले देश से हो गया। इसके कुछ अनुयायियों ने भारत में आकर शरण ली।

सातवाँ परिच्छेद

फारस और यूनान के साम्राज्य
सिकन्दर की विजय

इस पुस्तक के चौथे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि मूल आर्य वंश की विभिन्न शाखाओं ने ग्रीस (यूनान) और ईरान (फारस) में भी जाकर अपने अपने पैर जमा लिये थे। पहले वे आर्य जातियाँ छोटे छोटे गिरोहों में विभक्त थीं। कालांतर में भारत की ही तरह उन छोटे राज्यों के स्थान पर अधिक शक्तिशाली और बड़े राज्य स्थापित हो गये। बुद्ध के बाद जिस प्रकार भारत में मगध साम्राज्य की शक्ति बढ़ती गयी और धीरे धीरे मगध अपने समय का सर्वप्रधान शक्तिशाली राज्य बन गया, उसी प्रकार फारस में **काइरस** (Cyrus) ने **एकेमेनिड वंश** की और ग्रीस में **मेसीडोनिया के राजा फिलिप** ने अपने राज्य की नींव मजबूत की। इन राजवंशों ने अपने अपने क्षेत्र में एक-एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की जो मगध की तरह क्रमशः फारस और ग्रीस में अपने साम्राज्य को शक्तिशाली बना अपने अपने क्षेत्र में सार्वभौम हो गये।

फारस का प्रथम साम्राज्य—पूर्ववर्ती अध्यायों में यह संकेत किया जा चुका है कि ई० पू० नवीं शताब्दी में फारस में मीडिस जाति का प्रभाव था। मिडिज़वंश का आधिपत्य पर्याप्त तेजी से आगे बढ़ा और इस वंश के राजाओं ने असीरिया, फारस और मिडिया को अपने प्रभुत्व के अन्दर कर लिया। पर मिडिज़ की यह सफलता स्थायी न हो सकी और फारस के एक सामन्त काइरस (Cyrus) ने मिडिज राज वंश का अन्त कर दिया। **काइरस** (५५०—५२८ ई० पू०) ईरानी साम्राज्य का जन्मदाता था। "काइरस स्वयं बहुत बड़ा सैनिक नेता और सिकन्दर के पूर्व संसार का प्रसिद्ध विजेता था। उसने एक विशाल सेना का संगठन किया और वह उल्का की तरह

सारे पश्चिमी एशिया पर छा गया।" देखते देखते ईरान की शक्ति ईराक, एशिया माइनर, नील की घाटी तक फैल गयी।

काइरस के बाद उसका लड़का कैम्बीसीज (Cambyses) सन् ५२८ ई० पू० राज्य का मालिक हुआ। इसने भी साम्राज्य-विस्तार का कार्य जारी रक्खा। उसने मिस्र पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। उसकी मृत्यु अचानक ५२१ ई० पू० हो गयी, फिर भी उसने अपनी मृत्यु तक ईरान के साम्राज्य में मिस्र, सीरिया, एशिया माइनर, मैसोपोटामिया तथा ईरान शामिल कर लिया था। उसके साम्राज्य की सीमाएँ नील नदी से फारस की खाड़ी, कैस्पियन तथा भूमध्य सागर से ओक्सस (Oxus) के मरुस्थलों तक फैली थीं।

सन् ५२१ ई० पू० कैम्बीसीज के बाद उसका पुत्र दारा या डेरियस (Darius) इस बड़े साम्राज्य का मालिक बना। दारा इस वंश का सबसे अधिक प्रसिद्ध सम्राट हुआ। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार भारत की सीमा से लेकर यूनान की सीमा तक किया। दारा का शासनकाल ५२१ से ४६५ ई० पू० तक था। उसके इस विस्तृत साम्राज्य में २० प्रांत थे। उसके प्रत्येक प्रांत को 'शत्रपी' कहते थे और प्रान्त के शासक को 'शत्रप' (गवर्नर) कहा जाता था। इस बड़े साम्राज्य को अच्छी तरह अधिकार में रखने के लिए दारा ने लम्बी शाही सड़कों का निर्माण कराया था। डाक और सराय की भी अच्छी व्यवस्था उसने करायी। उसने एक जहाजी बेड़े का भी निर्माण तथा संगठन कराया। दारा की राजधानी सूसा थी और वह उस समय का प्रसिद्ध नगर था। साम्राज्य के हर भाग से यह नगर अच्छी सड़कों द्वारा सम्बन्धित था।

दारा ने अपने शासनकाल में अनेक युद्ध किये। साम्राज्य के उत्तरपूर्व में दक्षिण रूस के एक भाग में उस समय सीथियन नाम की एक जाति रहती थी। यह जाति बड़ी लड़ाकू थी और प्रायः दारा के साम्राज्य की सीमा में घुस-कर लूटपाट किया करती थी। उन्हें दबाने के लिए दारा ने अनेक प्रयास किये। इस प्रयास में दारा को काफी नुकसान उठाना पड़ा। इसी समय एजि-यन सागर के तट पर रहने वालों यूनानियों ने विद्रोह किया और एथेन्स निवासियों ने उनकी मदद की। दारा ने यूनानियों तथा एथेन्स-वासियों को

दण्ड देने के लिए ग्रीस पर आक्रमण किया। दारा की फौजें पूरी तैयारी कर यूनान पर टूट पड़ीं। कई बार हमले हुये, पर ग्रीस में दारा को बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। माराथान नामक स्थान पर सन् ४९० ई० पू० में एथेन्स वासियों ने दारा के सैनिकों का डट कर मुकाबिला किया। युद्ध में एकता के सूत्र में बँधे एथेन्सवासियों ने इतने बड़े सम्राट की फौजों को बुरी तरह परास्त किया और दारा के लगभग ६५०० सैनिक मारे गये। दारा की अजेय समझी जाने वाली सेना के परास्त होने से सबको आश्चर्य हुआ। युद्ध सामग्री और खाद्य पदार्थ के ठीक तरह से न भेजे जाने तथा पैसे के लोभ से लड़नेवाली दारा की सेना स्वतन्त्रता-प्रेमी एवं संगठित यूनानी सेना के सामने टिक न सकी। पराजय के कारण टूटा हुआ दारा सन् ४८५ ई० पू० में इस संसार से चल बसा।

पिता की हार का बदला दारा के पुत्र जरसीन ने लिया। उसने अपने साम्राज्य के हर भाग से सैनिक इकट्ठे किये। १२०० जहाजों का एक जहाजी बेड़ा भी तैयार किया गया। सड़कें, पुल और युद्ध सामग्री तैयार की गयीं। सन् ४८० ई० पू० में फारस और ग्रीस की सेनाओं में मुठभेड़ हुई। स्पार्टा (ग्रीस का एक राज्य) के सैनिकों ने थर्मापोली स्थान पर फारस की फौजों का मुकबिला किया। घमासान युद्ध में स्पार्टा के राजा (लियोनिडाज) के सैनिकों ने वीरता और देश-प्रेम का एक अनूठा उदाहरण दुनियाँ के सामने रक्खा। पर अन्त में साम्राज्यवादी सेना के समक्ष वे टिक न सके। फारस के सैनिक उन्हें हराकर ग्रीस में घुस पड़े; देश को तहस-नहस कर डाला और दारा की पराजय के बदला लेने की भावना को शान्त की। पर फारस की यह विजय स्थायी न हो सकी। कुछ ही दिनों बाद ग्रीसवालों ने फारस के सैनिकों को परास्त किया। इस हार ने फारसवालों की प्रतिष्ठा उखाड़ दी और दारा के साम्राज्य का पतन शुरू हो गया। इसके अतिरिक्त फारस के साम्राज्य के पतन के और भी कारण उपस्थित हो गये। सैनिक, सरदार, राजा और अमीर विलासी हो गये थे। रनिवास के षडयंत्र से राज्य की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा था। इसी षड्यंत्र में जरसीन मारा गया और उसका उत्तराधिकारी एक अल्पवयस्क लड़का हुआ। केन्द्रीय शक्ति कमजोर होने से प्रान्तीय शत्रप मनमानी करने लगे। राज्य में अराजकता फैल गयी। सन् ३३१ ई० पू० में सिकन्दर ने फारस को

जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार फारस जैसे बड़े साम्राज्य का अन्त हुआ।

फारस (ईरानी) साम्राज्य की देन—ईरानी साम्राज्य संसार का सबसे प्रथम बड़ा साम्राज्य था। इसकी सैनिक शक्ति और संगठन का ढंग इस समय बेजोड़ माना जाता था। साम्राज्य-संगठन, वास्तुकला, भाषा तथा साहित्य के उत्थान से बढ़कर ईरानी साम्राज्य की देन जरथुस्त्र द्वारा प्रचारित धर्म के सिद्धांत हैं जिस पर पिछले अध्याय के अन्त में प्रकाश डाला गया है। उन्होंने प्रकृति पूजा और कर्मकाण्ड का विरोध किया, उसके स्थान पर एकेश्वरवाद तथा निराकार ईश्वर की शक्ति का प्रचार किया। उनका ईश्वर अहुर-मज्द (असुर महान) था। इस महान उपदेशक के उपदेशों का संग्रह जिस ग्रंथ में हुआ है, उसे 'अवेस्ता' कहते हैं जिसकी भाषा प्राचीन वैदिक भाषा से मिलती जुलती है। इस धर्म के कारण सूर्य की पूजा का खूब प्रचार हुआ, मूर्ति-पूजा की प्रथा बन्द हो गयी। इस्लाम के आक्रमण के पूर्व तक फारस में इसी धर्म का प्राधान्य था। 'अवेस्ता' और वेदों की समानता से इन पारसियों और वैदिक आर्यों के मूल स्थान और मूल वंश एक होने का एक बहुत प्रबल प्रमाण उपस्थित किया जाता है।

यूनानी राज्य

ईरान की तरह यूनान के प्राचीन इतिहास की ओर भी गत अध्यायों में संकेत किया गया है। ई० पू० २००० के लगभग उत्तर की ओर से आने वाली आर्य जाति की कुछ शाखाओं ने ग्रीस (यूनान) को अपना निवास-स्थान बनाया। इन आर्यों ने वहाँ की प्राचीन एजियन सभ्यता का नाश किया और अपनी सभ्यता का क्रीड़ास्थल इस देश को बनाया। कालान्तर में वहाँ 'नगर राज्यों' की प्रथा चल पड़ी जिससे अपनी शासन-पद्धति और राष्ट्रीयता की अनूठी भावना के लिए संसार के इतिहास में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। "**एथेन्स और स्पार्टा, कोरिन्थ और थीबीज, इफैसस और मिलैतस** आदि अनेक नगर अपनी-अपनी राजनीति अपने नागरिकों के सचेत संविधान से सँवारने लगे। विद्वानों का मत है कि मनुष्य के वैयक्तिक स्वतंत्रता और नागरिक अधिकारों का जितना मान यहाँ हुआ, उतना कभी कहीं नहीं हुआ।" इन नगरों में कहीं राजतंत्र था, कहीं

कुलीनतंत्र और कहीं जनतंत्र था। वास्तव में ये तीनों रूप प्रायः बारी-बारी से बनते बिगड़ते रहे। इनमें अनेक बार आपस में युद्ध हुए। जब ईरानी साम्राज्य की सीमा बढ़ रही थी तो छठवीं शताब्दी में ईरानी सम्राटों ने यूनान के कुछ भागों पर अपना अधिकार कर लिया। प्रसिद्ध ईरानी सम्राट डेरियस का आतंक दूर-दूर तक फैला था। उसकी सैन्य शक्ति सुसंगठित थी। अतः वह ग्रीस के कतिपय प्रसिद्ध प्रसिद्ध नगरों को रौंदता हुआ एथेन्स तक बढ़ता चला आया। सन् ४९० ई० पू० में जान पड़ता था कि ग्रीस की स्वाधीनता का अंत हो जायगा।

इस विषम स्थिति में ग्रीस के नगर-राज्यों ने साहस नहीं छोड़ा। आपस में एकता स्थापित करने का पूरा प्रयास किया। उन्होंने स्पार्टा जैसे पुराने शत्रु राज्य कोभी साम्राज्यवादी ईरानी फौजों के साथ मुकाबला करने के लिए आमंत्रित किया। "फारस की अतुल शक्ति से भयभीत परन्तु आत्मशक्ति में विश्वास रखने वाले ग्रीस निवासियों ने साहस तथा दृढ़ता से उनका सामना किया और उन्हें युद्ध में परास्त किया। पर फारस के दूसरे सम्राट ने अपने पिता की हार का बदला लिया और पुनः ४९० ई० पू० में जरसीन अपनी विशाल सेना लेकर ग्रीस पर टूट पड़ा। थर्मापोली नामक स्थान पर स्पार्टा के राजा लियोनिडाज के सैनिक तलवार के घाट उतार दिये गये। ग्रीक सेना पराजित हुई। पर उन्हें अपनी स्वतंत्रता में अटूट विश्वास था, अतः वे कभी निराश नहीं हुए। थर्मापोली युद्ध के १० वर्ष बाद पुनः भिड़न्त हुई। अन्त में सलामीज़ नामक स्थान पर विजय-श्री यूनान के पक्ष में रही। इस विजय से यूनान की स्वाधीनता अक्षुण्ण बनी रही और ग्रीस-इतिहास का नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ।

यूनानियों की इस विजय के पश्चात ग्रीक-इतिहास के स्वर्ण युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग का सर्वश्रेष्ठ काल एथेन्स के परिक्लिज (४६१-४२९ ई० पू०) का शासन काल था। पेरिक्लिज (Pericles) अपने समय के नगर-राज्यों में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। उसके नेतृत्व में ग्रीस ने विश्व संस्कृति के इतिहास में एक गौरवपूर्ण स्थान बना लिया। उसने एथेन्स की जनता में पुनः प्राण फूँक दिया और साहित्य, वस्तुकला, नाटक, विज्ञान, राजनीति तथा दर्शन के क्षेत्र में इस काल की देन के लिए संसार आज भी यूनानियों का ऋणी है।

एथेन्स और स्पार्टा का युद्ध—एथेन्स की गौरवमयी उन्नति स्पार्टा की आँखों में खटकने लगी। ईर्ष्या का रंग गहरा होता गया और उसका अंत पारस्परिक युद्ध में हुआ। ४२१ ई० पू० में स्पार्टा ने एथेन्स के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। यह युद्ध लगभग तीस साल तक चलता रहा। दोनों दलों के हजारों नवयुवकों की जानें गयीं। स्पार्टा विजयी हुआ, पर इस लम्बे युद्ध से ग्रीक राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। महत्वाकांक्षी राज्यों की आँखें ग्रीक राज्यों की ओर लगी थीं और ३७१ ई० पू० थीब्स नामक एक पड़ोसी राज्य ने स्पार्टा को हराकर उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

नगर राज्यों का अन्त : मकदूनिया का साम्राज्य

स्पार्टा को पराजित करने वाला पड़ोसी राज्य थीब्स का प्रभुत्व भी अधिक समय तक न रह सका। ३६२ ई० में थीब्स के एक प्रतापी राजा का देहान्त हो गया और उसी के साथ थीब्स के गौरव का भी अन्त हो गया। थीब्स के बाद ग्रीस में मकदूनिया राज्य का प्रभाव और प्रताप बढ़ा। मकदूनिया (मेसीडन) प्रारम्भ में एक पिछड़ा हुआ राज्य था। यह थेसली के उत्तर में स्थित था। ३५९ ई० पू० में फिलिप वहाँ का राजा हुआ। वह साहसी, रण-कुशल और विद्यानुरागी व्यक्ति था। उसने कुछ दिनों तक थीब्स में रहकर वहाँ की सैनिक पद्धति का अनुसरण किया। उसी के अनुसार फिलिप ने अपने पैदल और घुड़सवार सेना का संगठन किया। यूनान के अन्य नगर-राज्यों के आपसी झगड़ों से लाभ उठा कर फिलिप ने अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाना शुरू किया। धीरे धीरे उसने एथेन्स, थीब्स आदि राज्यों को जीत लिया और यूनान का स्वामी बन बैठा। ३३६ ई० पू० में फिलिप की हत्या हो गयी और उसके स्थान पर उससे अधिक महत्वाकांक्षी उसका पुत्र यूनान का राजा हुआ। उस व्यक्ति का नाम सिकन्दर था।

महान विजयी सिकन्दर

फिलिप की मृत्यु के बाद ३३६ ई० पू० में उसका पुत्र सिकन्दर (Alexander) मकदूनिया का सम्राट हुआ। उस समय वह २० वर्ष की अवस्था का तथा उत्साह से भरा युवक था। उसकी शिक्षा-दीक्षा प्रसिद्ध विद्वान

अरस्तू की देखरेख में हुई थी। पिता की तरह सिकन्दर भी एक महान विजेता बनना चाहता था। पिता से उसे एक बड़ा राज्य और सुसंगठित सेना मिली थी। युद्ध के अनुभव उसी समय उसे प्राप्त हुए थे। पिता के समय में एथेन्स और थीब्स के विरुद्ध युद्ध में वह अश्वरोही दल का नायक रह चुका था। गद्दी पर बैठते ही उसने राज्य में विद्रोही शक्ति को कुचल डाला।

साम्राज्य विस्तार—सन् ३३४ ई० पू० सिकन्दर लगभग ३१ हजार कुशल तथा वीर सैनिकों को लेकर अपने विश्व विजय के स्वप्न को पूरा करने निकल पड़ा। ११ वर्षों में उसने अद्भुत सफलता प्राप्त की और अपने साम्राज्य की सीमाओं को चारों ओर दूर दूर फैलाया। "एशिया माइनर जीतता, भूमध्य सागर के तटवर्ती देशों को रौंदता हुआ, फिनिशियों की शत्रुता का बदला लेता वह एकाएक मिस्र की नील नदी की घाटी में जा पहुँचा और मिस्र को जीत उसने वहाँ अपने नाम पर सिकन्दरिया नगर बसाया। फिर वह एशिया की ओर लौटा।"

एशिया में सर्वप्रथम उसकी मुठभेड़ फारस के सम्राट दारा से हुई। पहली बार दारा ने उसकी शक्ति देख उससे संधि करनी चाही, पर सिकन्दर जवानी और विजय के उल्लास में उसके संधि प्रस्ताव को ठुकरा दिया। सिकन्दर सीरिया होता हुआ बेबीलोन पहुँचा। उसे अधिकार में ला और आगे बढ़ा। दजला के तट पर अरावेला के मैदान में दारा और सिकन्दर की सेनाएँ आमने-सामने डट गयीं। दारा की फौज विभिन्न जातियों और देशों के अनिच्छुक सैनिकों से बनी थी, अतः सिकन्दर के चुने हुए घुड़सवारों के समक्ष वह नहीं टिक सकी। सिकन्दर के घुड़सवारों ने उसे देखते देखते रौंद डाला। दारा की सेना इतनी बड़ी थी कि उसका ढङ्ग से सङ्गठन होना ही असम्भव था। दारा की सेना में दूर दूर प्रान्तों से आने वाले उल्लास-रहित सिपाहियों का एक अस्त-व्यस्त जमघट था, पर सिकन्दर के सैनिक बर्बरता और प्रतिशोध की भावना का सामना करने के उल्लास से भरे थे और उन सैनिकों का नेतृत्व संसार का एक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न सेनापति स्वयं कर रहा था। अतः दारा की सेना भाग खड़ी हुई और विजय के उल्लास में सिकन्दर ने सूसा के विशाल राज भवन को जला डाला। यूनानी सेना के हाथ बहुत-से बहुमूल्य

सामान हाथ लगे। आज भी उस विशाल नगर के खण्डहर ऊँचे संगमरमर के स्तम्भ के रूप में उस रेतीले मैदान में उस ध्वंसात्मक युद्ध और उस विशाल नगर की याद दिलाने के लिए खड़े हैं।

सिकन्दर वहाँ से उत्तर की ओर बढ़ा। उसका ध्येय दारा को पकड़ना था। दारा उसी दिशा में भागा था। पर दारा को उसी की प्रजा ने मार डाला। कास्पियन सागर के तट से होता हुआ सिकन्दर खुरासान और पार्थिया को रौंदता हुआ औरहिन्दूकुश पार करता हुआ भारत की सीमा पर आ पहुँचा। मार्ग में बैक्ट्रिया के राजकुमारों के विद्रोह को दबाता हुआ वह भारत विजय का स्वप्न शीघ्र ही पूरा करना चाहता था।

भारत में प्रवेश और प्रत्यावर्तन—भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर उस समय अनेक राज्य थे। वे बड़े युद्ध-प्रिय और बहादुर थे। सिकन्दर को उनमें से सर्व प्रथम 'अस्पसियों' (Aspasioi) के साथ मुठभेड़ हुई। इस जाति साथ सिकन्दर का भयानक युद्ध हुआ। मनुष्यों को कैद करने के अतिरिक्त सिकन्दर ने वहाँ २३००० मजबूत बैलों को पकड़ा और उन्हें कृषि कार्य के लिए मकदूनियाँ भेज दिया। पुनः एक एक कर रास्ते में आने वाले सब राज्यों को जीता। कहीं भय दिखाकर, कहीं लोभ दिखाकर और कहीं धोखा से सिकन्दर विजयी होता गया। 'अश्वक' जाति के राज्य की ओर से ७००० आयुध जीवी (जिनका पेशा ही युद्ध था) लड़े थे। उनको बर्बाद करने के लिए सिकन्दर ने अपना वचन तोड़ा पर उन्होंने मरते दम तक अपनी पीठ नहीं दिखायी। परतंत्र जीवन स्वीकार करने से अधिक उन्होंने मृत्यु का आलिंगन करना ही अच्छा समझा। "इस घटना से सिकन्दर की वीरता और उदारता दोनों ही काले गये क्योंकि इस घटना ने सिद्ध कर दिया कि सिकन्दर वीर था, पर उसमें राजनीतिक ईमारदारी का सर्वथा अभाव था।"

भारत की ऊपरी सीमा के देशों को जीतकर सिकन्दर ने निकानर और फिलिप्स नामक अपने दो सेना-नायकों को इन इलाकों का शासक बनाया। निकानर सिन्धु नदी के पश्चिमी भाग का शासक हुआ और फिलिप्स पुष्करावती (पेशावर) का शासक बना। पुनः वह आगे बढ़ा और तक्षशिला के पास रुका। उस समय तक्षशिला में आम्भी नामक राजा था। आम्भी ने स्वार्थ और दुश्मन

को जाति और देश प्रेम से अधिक प्रिय समझा। आम्भी ने उसके स्वागत के लिए अपना द्वार खोल दिया और सिकन्दर को अप्रयास ही देश में प्रवेश करने का अवसर दिया। आम्भी ने सिकन्दर को सिन्धु नदी पार करने में सहायता दिया और भेदिया का काम भी किया। अटक के पास ओहिन्द (वर्तमान उन्ड) नामक स्थान पर नौकाओं का पुल बना उसने नदी पार की। आम्भी ने सिकन्दर को अनेक प्रकार के भेंट दिये और साथ ही अपनी ओर से ५००० वीर योद्धा भी सिकन्दर की सेना में भेजे।

आगे अभिसार का राज्य था। अभिसार वर्तमान पूँच और नैशेरा जिले में था। उसने भी आत्म समर्पण कर दिया। सिकन्दर गर्व से आगे बढ़ता गया। झेलम के पूर्व के इलाके का मालिक राजा पुरु (पोरस) था। सिकन्दर ने उससे आत्म समर्पण करने को कहलवाया। बहादुर पुरु ने उत्तर दिया कि वह सिकन्दर से रण क्षेत्र में मिलेगा। झेलम को पार करना कठिन हो रहा था क्योंकि पुरु के सैनिक चुस्ती से देखभाल कर रहे थे और नदी में बाढ़ थी। जब कोई युक्ति न सूझी तो सिकन्दर ने रात को चोरी से १६ मील और ऊपर हट कर नदी को पार किया। राजा पुरु का बेटा २००० सवारों के साथ उससे भिड़ा और अपने एक एक सैनिक के साथ मारा गया। फिर पुरु ने रणक्षेत्र में अपने सैनिकों का नेतृत्व किया। उसका विशाल छः फीट का शरीर चोटों से क्षत-विक्षत हो गया, पर वह फारस के सम्राट दारा की तरह रणक्षेत्र छोड़कर भागने की बात नहीं सोची। पर शरीर शिथिल हो गया तो कैदी बना सिकन्दर के सम्मुख पेश किया गया। सिकन्दर उसकी बहादुरी से चकाचौंध में पड़ गया और उसने पूछा—"तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय?" पुरु ने तुरन्त उत्तर दिया, "जैसा राजा राजा के साथ करता है।" जस्टिन नामक इतिहासकार लिखता है कि राजा पुरु की वीरता और साहस से प्रभावित होकर सिकन्दर ने उसका राज्य लौटा दिया। पर वास्तव में सिकन्दर की इस प्रच्छन्न उदारता का कारण कुछ दूसरा ही था। वह अब आगे बढ़ना नहीं चाहता था अतः सिकन्दर ने इस असाधारण वीर योद्धा की मैत्री से अपनी सीमा को सुरक्षित करना चाहता था। यही उसकी राजनीतिक पटुता थी। उस ग्रीक-विजेता ने आगे बढ़ कर रावी पार किया। वहाँ 'कठ' जाति के लोगों को एक घमासान युद्ध के पश्चात परास्त किया। व्यास की ओर बढ़ने पर सिकन्दर को

एक विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा। उसके सैनिकों ने और आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। साथ ही प्रति दिन भारत की सीमा के इलाकों से विद्रोह के समाचार आ रहे थे। भारतीय राजाओं से युद्ध के बाद यूनानी सैनिकों का उत्साह दिन-दिन क्षीण होता जा रहा था। अतः उन सैनिकों को भारत में पूर्व की ओर बढ़ना बहुत अरुचिकर होता जा रहा था। साथ ही सिकन्दर के सैनिक भारतीयों के युद्ध कौशल और वीरता से घबड़ा गये थे। अतः सिकन्दर को विवश होकर वापस लौटना पड़ा। उसने अपनी सेना को बहुत समझाया; उनके समक्ष गौरव, आत्म सम्मान, विजय आदि का प्रलोभ दे ओजस्वी भाषण दिया, पर सैनिकों पर कोई प्रभाव न पड़ा। शर्म के मारे वह तीन दिन तक अपने शिविर से बाहर नहीं निकला, पर उसकी एक न चली और उसे लौटना ही पड़ा। इस प्रकार इस विख्यात विजेता के प्रत्या-वर्तन के निम्नलिखित कारण हुए—

(१) भारत विजय का अनुभव सिकन्दर के सैनिकों को अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कटु रहा। मिस्र, ईरान, पार्थिया, बैक्ट्रिया आदि देशों की सेना लड़ते-लड़ते युद्ध स्थल छोड़ भाग खड़ी होती थी। पर भारतीय राज्यों में एक एक सैनिक को मार-कर आगे बढ़ना पड़ता था। इससे यूनानी सेना काउत्साह शिथिल हो गया।

(२) सिकन्दर को जिस कड़े विरोध का सामना भारत में करना पड़ा, उसका राजनैतिक प्रभाव उसके लिए बुरा हुआ। सिन्धु के पश्चिम के विजित राज्य समय पाकर विद्रोह करने लगे और यूनानी शासकों की हत्या होने लगी। सिन्धु नदी के पश्चिम में उसका क्षत्रप मार डाला गया। इससे सिकन्दर और उसके सैनिक घबड़ाये।

(३) यूनानी सैनिक बहुत दूर निकल आये थे। जलवायु अनुकूल न होने, कपड़ा, खाना तथा हथियार रुचि के अनुसार न मिलने से उनका दिल टूटता जा रहा था। बीमारी और परिस्थिति की प्रतिकूलता ने उन्हें लौटने के लिए बाध्य किया।

(४) वर्षों से घर-परिवार-देश छोड़ने के कारण यूनानी सैनिकों का धैर्य टूट रहा था। और आगे बढ़ने के लिए उनमें अब तनिक भी उत्साह नहीं रहा।

(५) "पिछले भारतीय युद्धों में प्रदर्शित वीरता और भविष्य की सम्भावित सामरिक विपत्तियों ने यूनानी सैनिकों का साहस परास्त कर दिया। अतः सिकन्दर ने अन्त में हार कर घोषणा की कि 'मेरा वक्तव्य बहरे कानों पर पड़ा है।'" अतः वह भारत में और आगे न बढ़कर पीछे लौट पड़ा। उसके सैनिक पूर्व के मगध साम्राज्य की शक्ति की खबर पा चुके थे। अतः उनमें अधिक खतरे का सामना करने का साहस न रहा।

३२६ ई० पू० अक्टूबर में सिकन्दर ने झेलम और व्यास के बीच की सारी विजित भूमि पुरु को दे दी और व्यास नदी के दाहिने तट पर स्मारक स्वरूप ग्रीक देवताओं की पूजा के लिये उसने वेदिकाएँ बनाने की आज्ञा दी। वहाँ निर्विघ्न वापसी यात्रा के लिये बलि चढ़ा कर वह पीछे की ओर लौटा।

सिकन्दर का लौटना और उसका अन्त—व्यास के किनारे से सिकन्दर झेलम की ओर लौट कर आया। वहाँ पुरु से बातचीत की, अपने विजित राज्यों का प्रबन्ध किया और झेलम के किनारे किनारे दक्षिण की ओर बढ़ा। रास्ते में सौभूति राज्य को जीतता हुआ और आगे बढ़ा। फिर झेलम और चिनाब के संगम पर पहुँचा। वहाँ 'शिबि' और 'अगलस्स' जाति के लोगों ने उसका मुकाबला किया। घोर युद्ध हुआ. सिकन्दर को बहुत हानि उठानी पड़ी। आगे बढ़ने पर सिकन्दर को मालव-क्षुद्रक गण राज्यों का सामना करना पड़ा। ये राज्य चिनाब के निचले भाग में थे। उन्होंने सिकन्दर का कड़ा सामना किया। उन्हें परास्त कर वहाँ अपना एक क्षत्रप (फिलिप्स) नियुक्त किया और पुनः आगे बढ़ा। इसी प्रकार मार्ग की कठिनाइयों का सामना करता हुआ सिकन्दर सिंधु के निचले भाग में पहुँचा। यहाँ सिंधु नदी की दो धाराएँ थीं। उसने अपनी सेना को दो भागों में विभाजित किया। एक दल समुद्री रास्ते पश्चिम की ओर बढ़ा और दूसरा स्थलमार्ग से बेबीलोन की ओर चला। सिकन्दर स्वयं दूसरे दल के साथ स्थल मार्ग से लौटा। मार्ग में अनेक प्रकार की अप्रत्याशित विपत्तियों का सामना करते हुए मरता-जीता वह किसी प्रकार अपनी बची-खुची सेना लेकर ३२३ ई० पू० बेबीलोन पहुँचा। "सिकन्दर युद्ध के घावों से घायल और मार्ग के कठिन श्रम से थका हुआ भीषण ज्वर से आक्रान्त होकर गिर गया। ३२ वर्ष की कच्ची आयु

में इस महान विजेता की जीवन लीला यूनान पहुँचने के पहले ही समाप्त हो गयी।"

सिकन्दर के मरने पर उसका साम्राज्य तीन भागों में विभाजित हुआ। अफ्रीका में मिस्र सोटर को, मकदूनिया तथा ग्रीस का भाग अन्टीगोनस को और एशिया का भाग सेल्यूकस को सौंप दिया गया। पर साम्राज्य के इन तीनों भागों में परस्पर युद्ध चलता रहा और कोई ऐसी एक शक्ति नहीं स्थापित हो सकी जो सबको एक सूत्र में रख सके। ये एक-एक करके शक्तिशाली रोमन साम्राज्य के शिकार हो गये। भारत का जो भाग सिकन्दर ने जीता था, वह भी धीरे धीरे उसके प्रभाव से निकल गया। उसकी इच्छा इन भागों को अपने अधीन रखने की थी, इसीलिए उसने काबुल की घाटी तथा सिंधु के बीच के प्रदेश उसने फिलिप को, सिंध पेइथन को, सिंधु तथा झेलम के बीच के प्रदेश आम्भी को सौंप दिया। पर उसका यह प्रबन्ध टिकाऊ न हो सका। भारतीयों ने तुरन्त ही उसके पीठ पीछे ग्रीक-शासन की जड़ें उखाड़ फेंकी और थोड़े ही दिनों बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने हिन्दूकुश तक के सब इलाकों को जीतकर हिन्दूकुश पर्वत को अपने राज्य की सीमा निर्धारित की। "उसकी मृत्यु के बाद उसका सारा प्रबन्ध व्यर्थ हो गया और प्राणों के मूल्य पर खड़ा किया उसका साम्राज्य टूक-टूक हो गया।"

भारत और बाहरी देशों के बीच सम्पर्क—सिकन्दर के आक्रमण से भारत की पृथकता नष्ट हो गयी और उसका सम्बन्ध यूरोप तथा पश्चिमी एशिया के देशों से स्थापित हो गया। इसके पूर्व भी छठीं शताब्दी में ईरानी सम्राटों ने बैक्ट्रिया और गांधार को जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाया था। ईरानी सम्राट दारा ने भारत की ओर सिन्धु नदी तक अपना साम्राज्य बढ़ाया और उसके साम्राज्य का एक प्रान्त सिन्धु तटवर्ती प्रदेश था। हिरोडोटस नामक एक ग्रीक राजदूत उस समय ईरानी राजधानी में दूत बनकर रहता था। उसने दारा के भारत-विजय का वर्णन लिखा है। भारत का यह विजित भाग दारा के साम्राज्य का बीसवां प्रान्त था। इस प्रदेश से ईरान के खजाने में लगभग १० लाख का सोना जाता था। मालूम होता है कि सिन्धु का तटवर्ती प्रदेश उस समय बहुत समृद्ध और उपजाऊ था। दारा के बाद भी भारत का कुछ भाग ईरानी साम्राज्य का एक अंग था। जिस समय ईरानी फौजें

यूनान के नगर राज्यों से युद्ध कर रहीं थीं, उस समय ईरानी सम्राट की सेना में कुछ भारतीय भी थे। दारा की जो सेना गागामेला में सिकन्दर से लड़ी थी, उसमें भी कुछ भारतीय सैनिक थे। मालूम होता है कि दारा की पराजय के बाद पश्चिमोत्तर भाग के भारतीय राज्य स्वतन्त्र हो गये। इतिहासकार यह भी मानते हैं कि भारत के व्यापारी कपड़े, सोने, मसाले, हाथीदात आदि का व्यापार फारस, एशिया माइनर और यूरोप के देश के साथ करते थे। इन देशों के साथ जल तथा स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। भाषा, रहन-सहन और शासन के क्षेत्र में भी इस सम्पर्क का प्रभाव पड़ा। कुछ विद्वानों की राय है कि अशोक के शिला और स्तम्भ लेख की परिपाटी फारस के प्रभाव के फलस्वरूप प्रचलित हुई थी।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव—ईरानी साम्राज्य के सम्पर्क के बाद सिकन्दर की विजय ने इस दिशा में भारत और पश्चिमी देशों के सम्बन्ध को और व्यापक बनाया। अनेक यूरोपीय विद्वान सिकन्दर के आक्रमण को भारतीय इतिहास की एक बहुत ही युगान्तरकारी घटना मानते हैं। उनका विचार है कि भारतीय जीवन इस आक्रमण से बहुत प्रभावित हुआ। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि यह आक्रमण एक आँधी की तरह आया और एक पानी के बुलबुले की तरह समाप्त हो गया। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ का कहना है कि "भारत अपरिवर्तित रहा, युद्ध का घाव शीघ्र ही पूरा हो गया... भारत अपने बिलगाव का जीवन व्यतीत करता रहा और शीघ्र ही यूनानी तूफान का आगमन भूल गया। हिन्दू, जैन, बौद्ध किसी भी भारतीय लेखक ने सिकन्दर अथवा उसके कार्यों का लेशमात्र भी वर्णन नहीं किया है।" यह बात सच है कि सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव भारतीय इतिहास पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार पड़ा। सिकन्दर के आक्रमण से उत्तरापथ की राजनैतिक और सामाजिक कमजोरी प्रकट हो गयी। छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित देश किस प्रकार प्रबल विजेता के समक्ष धराशायी हो जाता है, यह सत्य अपने नग्न रूप में प्रकट हो गया। इस आक्रमण ने "अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय एकता और सैनिक जागरुकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।" इस सम्बन्ध में एक भारतीय विद्वान ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "नन्दवंश को उखाड़ने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य सिकन्दर के आक्रमण के समय

पंजाब में ही थे, और उसकी सेना-संचालन को देखकर उन्हें अनेक विचार मिले होंगे जो नंदवंश के विरुद्ध युद्ध और तत्पश्चात मौर्य सेना के संगठन के काम में काम आये होंगे।"

सिकन्दर के समक्ष केवल विश्व विजय का ही स्वप्न नहीं था। वह संसार को एक संस्कृति में पिरोने का आदर्श भी अपने मस्तिष्क में रखता था। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का पक्षपाती था और इसमें संदेह नहीं कि उसके आक्रमण से संसार की सभ्य जातियों का पारस्परिक संबंध बढ़ गया। सिकन्दर की विजय से यूनानियों के भारत में अधिक संख्या में आने और पश्चिमी तथा मध्य एशिया में यूनानी साम्राज्य के स्थापित होने से यातायात और व्यापार को और अधिक प्रोत्साहन मिला। भारत में यूनानी पद्धति के अनुसार सिक्कों का प्रचलन हुआ और इससे व्यापार तथा शासन में सुविधा होने लगी।

सिकन्दर के आक्रमण का स्थायी प्रभाव केवल यही हुआ कि भारत के उत्तर पश्चिम कुछ यवन (यूनानी) बस्तियों की स्थापना हो गयी। ये बस्तियाँ कुछ दिनों तक बनी रहीं, और फिर भारतीय समाज ने उन्हें अपने में मिला लिया। साथ ही उत्तरापथ के गणतंत्रों की प्रथा के विनाश का कार्य इस आक्रमण ने तेज कर दिया। मौर्य साम्राज्य की स्थापना में इससे आसानी पैदा हो गयी। "भारतीय इतिहास में इस आक्रमण ने एक ऐसी तिथि सम्बन्धी आधार-शिला प्रदान की जिसमें देश के इतिहास का मूल्यांकन समसामयिक राजनैतिक घटनाओं के आधार पर होना शुरू हुआ।" इसके पूर्व भारतीय इतिहास की घटनाओं की तिथियाँ अनिश्चित-सी ही बनी हुई थीं। बहुत से यूनानियों ने भारत का आँखों देखा वर्णन भी लिखा जिससे भारतीय इतिहास की घटनाओं और धाराओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा।

यह सच है कि भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति पर इस आक्रमण का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि सिकन्दर और उसके क्षत्रप यहाँ बहुत कम समय तक रहे, अतः वे भारतीयों के साथ घनिष्ठ संबंध नहीं स्थापित कर सके। भारत के निवासी यूनानियों को बर्बर समझते थे और उन्हें घृणा, द्वेष तथा ओछी निगाह से देखते थे, अतः उनसे कुछ सीखने या अनुसरण करने की भावना भारतीयों में पैदा ही नहीं हुई। यह भी सच है कि भारतीय दर्शन,

धर्म, साहित्य और कला विदेशियों की अपेक्षा अधिक विकसित और उन्नत दशा में था। अतः हमारे साहित्य और समाज पर यूनानी आक्रमण और सम्पर्क का कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। पर यूनानियों पर हमारे धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का असर पड़ा। यूनानी दार्शनिकों ने आत्मा, पुनर्जन्म तथा कर्म सम्बन्धी हमारे सिद्धान्तों को अपनाया। इस बात में भी कुछ सचाई है कि "कोई भी प्रभाव जो अन्त में पश्चिमी यूनान से भारत में पहुँचा है, चाहे वह सिल्यूकस द्वारा अथवा बैक्ट्रिया के राजाओं द्वारा या रोम साम्राज्य द्वारा पहुँचा हो, उसे सिकन्दर के ही आक्रमण का एक रूपान्तर समझना चाहिए।"

आठवाँ परिच्छेद

मौर्य वंश तथा पश्चिमी एशिया के प्रमुख साम्राज्य

मगध साम्राज्य की परम्परा का विकास—छठी शताब्दी ई० पू० से मगध का क्रमबद्ध इतिहास शुरू होता है। पिछले अध्यायों में इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है कि उस समय उत्तरी भारत की राजनैतिक एकता का अन्त हो चुका था और भारत का यह भाग सोलह महा जनपदों में विभक्त था। इनमें से कुछ राज्य गणतंत्र थे और कुछ राजतंत्र थे। राजतंत्र राज्यों में प्रमुख मगध, कौशल, वत्स और अवन्ती थे। इनमें अपने साम्राज्य विस्तार के लिए होड़ थी और प्रत्येक सैनिक और राजनैतिक शक्ति के प्रयोग में एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहता था। इनकी लोलुप आँखों से बचने के लिए गणतंत्र राज्यों ने संघ बनाया, पर अधिक सैनिक शक्ति वाले राजतंत्रों के समक्ष उनका टिकना असम्भव था। शक्ति और प्रभुत्व की इस होड़ में मगध ने सबसे बाजी मार ली और अन्त में राजतन्त्रों और गणतंत्रों को परास्त कर मगध के राजाओं ने उत्तरी भारत में एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया। मगध के इस उत्थान-काल में क्रमशः चार राजवंशों ने राज्य किया। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) बिम्बिसार वंश, (२) शिशुनाग वंश (३) नन्द वंश और (४) मौर्य वंश।

(१) बिम्बिसार वंश—महाभारत काल में जरासंध नामक राजा मगध में शक्तिशाली था। वह बहुत महत्वकांक्षी और साम्राज्यवादी था। किन्तु उसकी योजना को पाण्डवों ने कृष्ण के साथ मिल कर विफल कर दिया था। इसके बाद मगध की शक्ति शिथिल पड़ गयी। पुनः बुद्ध के कुछ पूर्व बिम्बिसार वंश की स्थापना हुई।

बिम्बिसार ने इस वंश की स्थापना मगध में की थी। उसी के नाम पर इस वंश का नाम पड़ा। बिम्बिसार के वंश को हर्यंक वंश भी कहा जाता है।

बिम्बिसार ने लगभग ५४३ ई० पू० में इस वंश की स्थापना की थी। वह महत्वाकांक्षी बादशाह था। उसने विजय और वैवाहिक नीति से अपने राज्य को बढ़ाया; उसने अपनी पूर्वी सीमा पर स्थित 'अंग' राज्य पर चढ़ाई की और उसे जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। साथ ही उसने मगध के उत्तर में स्थित वज्जि संघ के साथ मैत्री की और इस संघ के प्रधान लिच्छवि राजा (चेटक) की बहन चेल्लना (छलना) से विवाह किया। इसी संघ के दूसरे राजा विदेह की कुमारी वासवी से भी उसने विवाह किया। इस प्रकार अपनी उत्तर सीमा पर स्थित गणतंत्रों के संघ से उसका सम्बन्ध निकटतम हो गया। मगध की पश्चिमोत्तर सीमा पर कोसल का बड़ा राज्य था। वहाँ का शासक प्रसेनजित एक शक्तिशाली राजा था। बिम्बिसार ने उसकी बहन महाकोसला से विवाह कर उसे अपनी महापटरानी बनाया। इस सम्बन्ध से मगध को बहुत लाभ हुआ। बिम्बिसार को दहेज में कोसल से काशी का राज्य मिला था। उसने अपने पूर्वी राज्य (अंग) को पहले ही जीत लिया था। इस प्रकार बिम्बिसार का राज्य काशी के मिल जाने से दूना हो गया। उसकी चौथी रानी पंजाब के मद्र देश (उत्तरी पंजाब) की राजकुमारी खेम (क्षमा) थी। इसके अतिरिक्त उसने वत्स, कम्बोज और गांधार के राज्यों से दूत-सम्बन्ध भी स्थापित किया था। बिम्बिसार बुद्ध और महावीर का समकालीन था। उसकी धार्मिक नीति उदार थी, अतः दोनों ही उसे अपने-अपने धर्म का अनुयायी मानते थे। बिम्बिसार के जीवन का अन्तिम काल दुखमय रहा क्योंकि उसके पुत्र अजातशत्रु ने उसे बन्दी बना कर रक्खा था।

बिम्बिसार का पुत्र **अजातशत्रु** लगभग ४९० ई० पू० पिता को कैदी बना गद्दी पर बैठा। इसके पहले वह अङ्ग का राज्यपाल था। पिता के साथ शत्रुता करने से उसे कोसल के राजा प्रसेनजित से युद्ध करना पड़ा। प्रसेनजित काशी का राज्य वापस लेना चाहते थे, पर अजातशत्रु भी कम महत्वाकांक्षी नहीं था। वह युद्ध के लिए तैयार था, पर काशी का राज्य हाथ से निकलने देना नहीं चाहता था। अतः कोसल और मगध में युद्ध हुआ। प्रसेनजित और अजातशत्रु आपस में कई बार लड़े। अंत में अजाशतत्रु बन्दी बनाया गया। पर पुनः सन्धि हुई और काशी का राज्य अजातशत्रु को मिल गया। कहा जाता है कि जब अजातशत्रु बन्दी था, तब कोसल की राजकुमारी वाजिरा से

उसका प्रेम हो गया। बादशाह ने इन दोनों का विवाह कर दिया और काशी भी अजातशत्रु को ही मिला। इसके बाद अजातशत्रु ने कई वर्षों तक वज्जि-सङ्घ से युद्ध किया और अन्त में उन्हें पराजित किया। इस विजय के बाद मगध की सीमा हिमालय की तराई तक फैल गयी।

अजातशत्रु का झुकाव पहले जैन धर्म की ओर अधिक था। पर बाद में वह बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया। जब बुद्ध का निर्वाण हुआ तो कुशी नगर में बुद्ध के अवशेषों के ऊपर उसने स्तूप बनवाया। उसी के शासनकाल में राज-गृह में बौद्ध धर्म की प्रथम 'संगीति-सभा' का अधिवेशन हुआ था।

अजातशत्रु के बाद **उदयिन** मगध का सम्राट हुआ। उसने राजगृह से अपनी राजधानी हटाकर पाटलिपुत्र बनायी। इसके समय में मगध और अवन्ती के बीच युद्ध हुआ। उदयिन के बाद इस वंश में अनेक राजा हुए, पर उनका प्रभाव कम होता गया। अन्त में शैशुनाग वंश के लोगों ने मगध पर अपना अधिकार कर लिया।

(२) शैशुनाग-वंश—इस वंश का संस्थापक शिशुनाग पहले काशी का राज्यपाल था। बिम्बिसार-वंश के अन्तिम राजाओं के षड्यंत्र से ऊब कर मंत्रियों ने प्रजा की इच्छानुसार शिशुनाग को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठाया। शिशुनाग बड़ा वीर और पराक्रमी राजा हुआ। उसने अवन्ती के प्रद्योत वंशीय राजा को युद्ध में पराजित किया और अवन्ती को अपने साम्राज्य में मिलाया। धीरे-धीरे उत्तरी भारत में पंजाब और सीमान्त को छोड़ कर उसने शेष सब को अपने अधीन कर लिया। शैशुनाग वंश का अन्तिम राजा नन्दि-वर्धन था। वह विलासी और कुकर्मी था। उसकी शूद्रा-स्त्री से उत्पन्न महाप-द्मनन्द नामक पुत्र ने इस वंश का अन्त कर दिया और अपना वंश चलाया।

(३) नन्द वंश—इस वंश का संस्थापक महापद्मनन्द था। वह शैशुनाग वंश के अन्तिम राजा की शूद्रा-स्त्री से पैदा हुआ था। वह एक योग्य सैनिक था और उसके पास एक विशाल सेना थी। उसे लोभी और क्षत्रिय-विनाशक कहा गया है। उसने अपने शासन काल में कलिंग पर चढ़ाई की और उसे जीत कर मगध साम्राज्य का एक अंग बनाया। इसका एक नाम उग्रसेन था। सिकन्दर के आक्रमण के समय यही मगध का राजा था। कहा जाता है कि

इस वंश में सब नौ राजा हुए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अपमान के कारण इस वंश से प्रजा असन्तुष्ट था। अतः असन्तोष से लाभ उठाकर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने विद्रोह कराया और इसके अन्तिम बादशाह धननन्द का वध कर नन्दवंश को समाप्त कर दिया। नन्द वंश के स्थान पर जिस मौर्य वंश की स्थापना हुई, उसका इतिहास चन्द्रगुप्त और अशोक के कारण विश्व विख्यात हो गया।

(४) मौर्य-वंश

मौर्य-युग—भारतीय इतिहास में मौर्य-वंश का शासनकाल अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस वंश के इतिहास जानने के साधन अपेक्षाकृत अधिक ठोस और प्रचुर हैं। इसी काल में मगध की प्रभुता देशव्यापी हो गयी और देश में कुछ दिनों के लिए छोटे-छोटे राज्यों की प्रथा का अन्त हो गया। मौर्य-इतिहास की तिथि का ज्ञान भी प्रायः ठीक और निश्चित है। इस वंश के राजाओं का शासन काल पूर्ववर्ती राज-वंशों की तरह अनुमान पर आधारित नहीं है। अतः इस युग की घटनाएँ क्रम से लिखी गयी हैं। इसी युग में बौद्ध धर्म का प्रचार विश्व व्यापी हो गया जिसका गहरा प्रभाव भारत और विश्व के इतिहास पर आज तक अमिट बना हुआ है। भारतवर्ष ने इस युग में अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को त्याग कर अन्य बाहरी देशों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। इस युग में साहित्य, स्थापत्य, कला और शासन का एक नवीन रूप मुखरित हुआ जिसका प्रभाव भावी भारतीय सभ्यता और प्रणाली पर स्पष्ट रूप से पड़ा। अतः मौर्य-वंश का इतिहास भारतीय इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखता है।

मौर्यकालीन इतिहास जानने के साधन—मौर्य युग के इतिहास की जानकारी के लिए हमारे पास प्रचुर साधन हैं। सिकन्दर के आक्रमण के समय अनेक यूनानी विद्वानों ने भारत की तत्कालीन दशा का वर्णन किया है, उनसे भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनमें मैगस्थनीज के लेख अत्यधिक प्रामाणिक हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री विष्णुगुप्त या कौटिल्य-रचित 'अर्थशास्त्र' से मौर्य काल के इतिहास की अच्छी जानकारी

होता है। विशाखदत्त-रचित संस्कृत का प्रसिद्ध राजनैतिक नाटक 'मुद्राराक्षस' मौर्य काल के प्रारम्भिक इतिहास के ज्ञान के लिए उपयोगी है। उसमें चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त द्वारा मगध के राज्य की विजय की घटना का अच्छा वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी उस समय का ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त होता है। अशोक के शिला तथा स्तूप लेख मौर्य-इतिहास की जानकारी के लिए ठोस साधन हैं। "इतिहास की इस सम्पूर्ण सामग्री का यथोचित उपयोग करने पर मौर्यकाल का सजीव चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है।"

चन्द्रगुप्त मौर्य—जिन दो व्यक्तियों ने नन्द वंश को उखाड़ने और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना में नेतृत्व किया वे थे चाणक्य और चन्द्रगुप्त। चन्द्रगुप्त क्षत्रियों के मोरिय या मौर्यवंश में पैदा हुआ था। मौर्यों का राज्य गोरखपुर (रामजनपद) और कुशीनगर (मल्लों की राजधानी) के बीच में था। इन लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और प्राचीन परम्परावादी वैदिक धर्म की रूढ़िगत बातों में इनकी आस्था नहीं थी। इसीलिए कुछ ब्राह्मण लेखकों ने इन्हें वृषल या शूद्र कहा है और चन्द्रगुप्त को मुरा नाम की शूद्रा माता से उत्पन्न होने की एक कथा बना ली है। वास्तव में यह कथा अनैतिहासिक और मनगढ़न्त है।

चन्द्रगुप्त के पिता नन्द राजाओं की सेना में एक अधिकारी था। किसी कारण वश वह मार डाला गया। चन्द्रगुप्त ने भी नन्द राजाओं की सेना में नौकरी कर ली, पर राजा से नहीं पटी। अतः नौकरी छोड़ उसने नन्दवंश को मिटाने का दृढ़ संकल्प किया। वास्तव में चन्द्रगुप्त एक प्रतिभाशाली और मनस्वी युवक था। वह अपनी धुन में उत्तरी भारत में घूम रहा था और उधर ही उसकी भेंट चाणक्य से हुई। चाणक्य तक्षशिला के पास का रहनेवाला ब्राह्मण था। वह उत्तरापथ की राजनैतिक कमजोरी को समझता था। वह भारत में एक सुसंगठित राज्य स्थापित करना चाहता था। "वह नन्दों की नीच उत्पत्ति, मनमानी शासन, लोभी अर्थनीति और परम्परा-विरोधी आचार से बहुत ही असन्तुष्ट था। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक योग्य व्यक्ति की खोज में था और वह व्यक्ति उसको चन्द्रगुप्त मौर्य मिला।" इन दोनों समान-उद्देश्य वाले व्यक्तियों ने मिलकर एक सेना एकत्रित की और मगध पर आक-

मण किया। पर इस प्रथम प्रयास में वे असफल रहे। दोनों इस असफलता के बाद उत्तरापथ में भ्रमण करने लगे। वहीं उसकी मुलाकात सिकन्दर से हुई। सिकन्दर से भी उसकी नहीं पटी, पर सिकन्दर के लौट जाने पर परिस्थिति से लाभ उठा चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को पंजाब से खदेड़ दिया। वहीं उसने एक बड़ी सेना तैयार की और लगभग ३२३ ई० में मगध टूट पड़ा। दो वर्ष की लड़ाई के बाद चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र की गद्दी पर ई० पू० ३२१ में बैठा।

सम्राट चन्द्रगुप्त—ई० पू० ३२१ में परिस्थितियों से लाभ उठाकर युवा चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट बन गया। उसका मंत्री चाणक्य भी उतना ही महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी था, अतः मगध के राज्य से उसे सन्तोष नहीं था। चाणक्य की सहायता से सर्व प्रथम चन्द्रगुप्त ने नन्द वंशीय राजाओं के समर्थकों को दबाया और मगध में अपनी स्थिति मजबूत की। इसके पश्चात उसका ध्यान अपने सहज वैरी यूनानियों की ओर गया और वह शीघ्र उनके दमन के लिए निकल पड़ा। उसने पंजाब के ग्रीक-विजय के सारे चिन्हों को मिटा दिये। एक-एक कर चन्द्रगुप्त ने भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। पंजाब के बाद उसने सौराष्ट्र को जीता और वहाँ अपना शासक पुष्यगुप्त नियुक्त किया। इसके बाद मध्य भारत, दक्षिण भारत और सुदूर दक्षिण पर उसने अपना सिक्का जमाया। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने ६ लाख सैनिकों को लेकर सारे भारत को रौंद डाला। बौद्ध ग्रंथों में चन्द्रगुप्त मौर्य को सारे जम्बूद्वीप (भारत) का सम्राट कहा गया है।

चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस—सिकन्दर को कोई संतान नहीं थी अतः उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों ने आपस में बाँट लिये, सिकन्दर के साम्राज्य का एक भाग सिल्यूकस नामक एक सेनापति के हाथ लगा। वह सिकन्दर द्वारा विजित प्रान्तों का उत्तराधिकारी अपने को समझता था। उसे सिकन्दर जैसे विजेता के सेनापति होने का गर्व भी था। अतः सिल्यूकस ने ई० पू० ३०५ के लगभग पंजाब पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त ने सिंधु के उस पार यूनानी सैनिकों को रोका। "अपने प्रतिद्वन्दी की इस विशाल शक्ति के सम्मुख यूनानी विजेता को घुटने टेक देने पड़े। सिल्यूकस ने अनुभव किया कि भारत और

विशेषकर पंजाब की तब और अब की स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। अब उत्तरापथ में छोटे-छोटे आपस में लड़ने वाले राज्यों का जमघट नहीं, बल्कि देश एक सुदृढ़, संगठित और केन्द्रीय साम्राज्य के अंतर्गत था जिसकी बागडोर चंद्रगुप्त जैसे महान सम्राट के हाथों में थी।" अतः दोनों सम्राटों में संधि हुई। संधि की शर्तों के अनुसार हिरात, कंधार, काबुल की घाटी और बिलोचिस्तान के चार प्रांत चंद्रगुप्त को मिले। इस प्रकार सारा अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान मगध साम्राज्य का अंग बन गया। साथ ही उसने अपनी पुत्री चंद्रगुप्त को व्याह दी। इसके अतिरिक्त उसने मेगस्थनीज नाम का एक अपना राजदूत भी चंद्रगुप्त के दरबार में रख दिया। चंद्रगुप्त ने भी उसके सत्कार में ५०० हाथी प्रदान किये।

साम्राज्य की सीमा—साहसी और पराक्रमी चन्द्रगुप्त ने अपने बाहु-बल से भारत में एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया। शायद इतना बड़ा साम्राज्य केन्द्रीय शासन में बँधा हुआ इसके पूर्व कभी नहीं स्थापित हुआ था। इस मौर्य-साम्राज्य की सीमा पश्चिमोत्तर में हिन्दूकुश से दक्षिण में कृष्णा नदी तक, उत्तर में हिमालय और पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक थी। कृष्णा के दक्षिण का प्रदेश, काश्मीर और कलिंग इस साम्राज्य के बाहर थे। लगभग चौबीस वर्ष (३२१ ई० पू० से २९७ ई० पू०) के शासन के बाद चन्द्रगुप्त का देहान्त हुआ।

जैनग्रंथों में लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। यह भी कहा जाता है कि वह अन्त में एक जैन यति के साथ दक्षिण में श्रवण बेलगोला नामक स्थान पर चला गया था और वहीं पर अनशन कर उसने अपने शरीर का त्याग किया। पर अभी तक इस बात का कोई अन्य ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है।

शासन-व्यवस्था

चन्द्रगुप्त एक महान विजेता ही नहीं था, अपितु एक योग्य और सफल शासक भी था। इस काम में उसे अपने मंत्री चाणक्य से बड़ी सहायता मिली। चाणक्य राजनीति का आचार्य था और उसने मौर्य-शासन-व्यवस्था की

सुचारु रूप से चलाने के लिए "अर्थशास्त्र" नामक प्रसिद्ध राजनीति का ग्रंथ लिखा, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन ज्ञान की प्रचुर सामग्री मिलती है। जिस प्रकार अरस्तू महान विजेता सिकन्दर का गुरु था, उसी प्रकार महाप्रतापी चन्द्रगुप्त का गुरु चाणक्य था। ये दोनों विद्वान समकालीन थे। साथ ही यूनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखित 'इण्डिका' नाम के ग्रंथ के कुछ भाग इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डालते हैं।

चन्द्रगुप्त एक विशाल साम्राज्य का शासक था। उसका साम्राज्य एकात्मक शासन-प्रणाली पर संगठित था। पूरे साम्राज्य का शासन एक केन्द्र (पाटलिपुत्र) से होता था। विभिन्न प्रान्तों में प्रान्तीय गवर्नर नियुक्त किये जाते थे जो सम्राट के प्रति उत्तरदायी होते थे। साम्राज्य के कुछ भाग ऐसे थे जिन्हें आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। इनमें से कुछ गणतन्त्र थे जैसे लिच्छवि, वृज्जि, मल्ल, मद्र आदि; अन्य आन्तरिक स्वतंत्रता वाले प्रान्त पश्चिमोत्तर में स्थित थे। इसी प्रकार कुछ दक्षिणी प्रान्तों को (जंगली और पर्वतीय जातियों को) भी आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। शेष साम्राज्य पर केन्द्र का कड़ा नियंत्रण था।

(क) **केन्द्रीय शासन**—साम्राज्यवादी व्यवस्था के अनुसार राज्य का सर्वोच्च और सर्वशक्तिशाली अधिकारी राजा ही था। प्रधान शासक की हैसियत से वह राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति करता, वित्त-विभाग, वैदेशिक विभाग, गुप्तचर विभाग तथा गृह-विभाग की देख-रेख करता और इस विषय में यथोचित आदेश देता। इन विभागों का निरीक्षण करना था नीति निर्धारित करना, संचालन करना भी राजा का मुख्य काम था। इस प्रकार वह कार्य-पालिका का शक्तिशाली अध्यक्ष और संचालक होता था। न्यायाधीश की हैसियत से वह राज्य की अदालतों के निर्णय की अपीलें सुनता था और अपना निर्णय देता था। सैनिक प्रधान होने के नाते वह युद्ध के समय स्वयं सेना का संचालन करता था। शान्ति के समय वह स्वयं सेना-सम्बन्धी नीति निर्धारित करता और सैन्य-संगठन और साम्राज्य-रक्षा की व्यवस्था करता था। इस प्रकार राजा के तीन प्रधान कार्य थे—(१) प्रशासन सम्बन्धी, (२) न्याय सम्बन्धी और (३) सेना-सम्बन्धी।

मंत्रि-परिषद्—राजा को राजकाज में सहायता देने के लिए एक 'मंत्रि-परिषद्' होती थी, जिसमें आवश्यकतानुसार बारह या उससे अधिक मंत्री होते थे। मंत्रियों की नियुक्ति राजा स्वयं अपनी रुचि के अनुसार करता था। मंत्रियों का काम बहुत कुछ परामर्श देने का रहता। फिर भी राजा प्रायः उनकी राय मानता था। मंत्रि-परिषद् का कार्य राजकीय कामों का प्रारम्भ कराना, प्रारम्भ हुए काम आगे बढ़ाना, कार्य-सिद्धि के लिए साधन इकट्ठे करना और उनका उपयोग करना होता था।

केन्द्रीय प्रशासन के विभिन्न विभाग—शासन की सुविधा के लिए केन्द्रीय सरकार के कार्यों को विभिन्न १८ विभागों में विभाजित किया गया था। उनमें से मुख्य विभाग राजस्व, सेना, न्याय, उद्योग, गृह, जंगल, दुर्ग, गुप्तचर, कृषि, न्याय आदि थे। प्रत्येक विभाग के संचालन और निरीक्षण के लिए एक अध्यक्ष होता था, जिसे 'अमात्य' कहते थे। अमात्यों के नीचे अन्य विभागीय उप-अधिकारी होते। विभिन्न विभागों के 'अमात्यों' के पदों के नाम पृथक्-पृथक् थे, जैसे—प्रधान, समाहर्ता (राजस्वविभाग के अमात्य), सेनापति, दण्डपाल, दुर्गपाल, पौर तथा आटविक आदि।

राजस्व—केन्द्रीय शासन का एक मुख्य विभाग राजस्व था जिसका अमात्य 'समाहर्ता' कहलाता था। सरकारी आमदनी का पूरा प्रबन्ध इसी विभाग के हाथों में था। राज्य की आमदनी के साधन दुर्ग (राजधानी और नगर), भूमिकर, खान, फल, औषधि, जंगल, चरागाह, व्यापारपथ और यातायात थे। कुछ भूमि पर राज्य की ओर से खेती होती थी और किसानों की भूमि से उपज का $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{4}$ भाग तक कर के रूपों में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त न्यायालय के शुल्क, शस्त्र-निर्माण तथा मादक वस्तुओं से भी राज्य की आय होती थी।

'समाहर्ता' की अध्यक्षता में राजकीय आय को खर्च किया जाता था। व्यय के मुख्य साधन राजपरिवार, धार्मिक कृत्य, सेना और देश की रक्षा, आन्तरिक शान्ति और प्रशासन, दौत्य, गुप्तचर विभाग, शिक्षा, वेतन, दान, यातायात, सिंचाई, भवननिर्माण आदि थे।

न्याय-विभाग—शासन का दूसरा मुख्य विभाग न्याय-विभाग था। गावों से प्राथमिक न्यायालय प्रारम्भ होते थे और अन्तिम अपील का उच्चतम न्यायालय पाटलिपुत्र में था। नीचे की अदालतों से अपील उच्चतर न्यायालयों में होती थी। दो प्रकार के न्यायालय होते थे—(१) कंटकशोधन या फौजदारी के न्यायालय और (२) धर्मस्थित अर्थात् दीवानी की अदालत। न्यायविभाग के अमात्य को 'प्रदेष्टा' कहते थे। दण्ड कड़े दिये जाते थे। दण्ड विभिन्न प्रकार के होते थे और धिक्कार, अर्थ-दण्ड, जेल तथा मृत्यु-दण्ड अपराधी के अपराध के अनुसार निश्चित जाता था। कड़े दण्ड की व्यवस्था के कारण अपराध कम होते थे।

सेना तथा पुलिस-विभाग—साम्राज्यवादी शासक की तरह चन्द्रगुप्त को बहुत बड़ी सेना की आवश्यक थी। प्रारम्भ से ही विशाल और शक्ति-सम्पन्न सेना के महत्व को सम्राट समझता था। सैन्य संगठन के तीन उपविभाग थे—(१) दुर्ग और रक्षा, (२) अस्त्र-शस्त्र-निर्माण और शस्त्रागार, (३) सेना। सेना के चार अंग थे—पैदल, अश्वारोही, हाथी और रथ।* नौ-सेना का विभाग पृथक था। सेना का प्रधान सेनापति होता था। पर सेना के महत्व के कारण ३० सभासदों के एक 'मण्डल' द्वारा सैन्य-विभाग का प्रबंध होता था। इन ३० सभासदों को ६ विभागों में संगठित किया गया था और प्रत्येक विभाग में ५ सदस्य होते थे। प्रथम विभाग नौ-सेना; द्वितीय विभाग रसद; तृतीय विभाग पैदल; चतुर्थ विभाग अश्वारोही; पंचम विभाग रथ और छठा विभाग हाथियों की सेना का प्रबन्ध करता था। सेना के प्रत्येक व्यक्ति को राजकोष से नियमित वेतन मिलता था। सैन्य-विभाग के प्रत्येक काम की देखभाल राजा स्वयं करता था क्योंकि इसी को वह अपनी शक्ति एवं प्रभुता का अमोघ साधन समझता था। युद्ध के समय सेना के साथ एक चिकित्सा-विभाग भी रहता था।

राज्य के भीतर आन्तरिक शान्ति के लिए पुलिस का प्रबन्ध था। इस विभाग में एक साधारण पुलिस और दूसरा गुप्तचर पुलिस विभाग का संगठन था।

*चन्द्रगुप्त की सेना में ६ लाख पैदल, ३० हजार घुड़सवार, ३६ हजार हाथी और २४ हजार रथ थे।

गुप्तचर पुलिस के अमात्य अर्थात् प्रधान अधिकारी को राजा तक पहुँचने की सुविधा थी और उस पद पर सम्राट का बहुत ही विश्वास-पात्र व्यक्ति नियुक्त किया जाता था। गुप्तचर विभाग के व्यक्ति भेष बदल कर इधर-उधर भ्रमण किया करते थे।

लोक हितकारी कार्य-विभाग—इस विभाग में अनेक प्रकार के काम होते थे। आने जाने के लिए मार्गों का निर्माण, सड़कों के किनारे कुएँ, पेड़, विश्राम-गृह बनवाने का काम, सिंचाई की व्यवस्था (नदी, झील, कुएँ का निर्माण आदि) औषधालयों का निर्माण, शिक्षण का कार्य, महामारी से बचने के उपायों का प्रबन्ध आदि इस विभाग के विविध कार्य थे। सरकारी कोष का एक बड़ा अंश इस भाग के कार्यों पर खर्च किया जाता था। इस विभाग के कार्यों से जनता को अधिकाधिक आराम, सुख एवं सुविधा देने का प्रबन्ध किया जाता था।

(ख) प्रान्तीय शासन—चन्द्रगुप्त का बड़ा साम्राज्य शासन-प्रबन्ध की सुविधा के लिए कई प्रान्तों में विभाजित था। (१) मगध और उसके आस-पास का भाग गृहराज्य या प्राच्य कहलाता था और उसका शासन सीधे पाटलिपुत्र से होता था। (२) दूसरा प्रान्त उत्तरापथ था जिसमें पंजाब, सीमान्त, सिंध आदि शामिल थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। (३) सिल्यूकस से प्राप्त प्रांत की राजधानी कपिशा थी। (४) सुराष्ट्र नामक प्रांत की राजधानी गिरियान (जूनागढ़) थी। (५) अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी थी। (६) दक्षिणापथ प्रांत की राजधानी सुवर्णगिरि थी। इनके अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के नामों की जानकारी नहीं है। इन प्रान्तों में सम्राट द्वारा नियुक्त विश्वास-पात्र राज्यपाल होते थे। कुछ विशेष प्रान्तों में राजकुमार ही राज्यपाल के पद पर नियुक्त किये जाते थे। इन प्रान्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रान्त ऐसे थे जिन्हें आन्तरिक मामलों में पूरी स्वतंत्रता थी।

(ग) स्थानीय शासन : ग्राम-व्यवस्था—शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव ही थे। कौटिल्य के अनुसार गाँव में एक गाँव-सभा होती थी और उसका प्रमुख 'ग्रामिक' होता था। वह गाँव वालों द्वारा निर्वाचित होता था। गाँव-सभा के वृद्ध सदस्य गाँव के छोटे मोटे झगड़ों का निपटारा भी करते थे।

अर्थ-दण्ड भी दिया जाता था। सड़क, पुल, कुआँ, बाग आदि की व्यवस्था और निर्माण का काम भी गाँव-सभा करती थी। पाँच-सात गाँवों के ऊपर राज्य द्वारा नियुक्त 'गोप' होता था और गोप के ऊपर 'स्थानीक' का पद होता था। ग्राम-सभा अपने-अपने क्षेत्र में जन्म-मरण का भी हिसाब रखती थी। ये सभाएँ ग्रामीण जनता के लिये मनोरंजन का भी प्रबन्ध करती थीं।

नगर-व्यवस्था—मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर की शासन-व्यवस्था का वर्णन किया है। इससे पता चलता है कि उस समय नगरों की व्यवस्था का कैसा प्रबन्ध था। उसके वर्णन से मालूम होता है कि पाटलिपुत्र के प्रबन्ध के लिये ३० सदस्यों की एक सभा थी जो आधुनिक नगरपालिका की तरह थी। कार्य के अनुसार यह सभा ६ उपसमितियों में विभाजित थी जिनमें प्रत्येक उप-समिति के लिये ५ सदस्य होते थे। (१) एक **शिल्प-कला-समिति** थी जो कला-कौशल की देखरेख और प्रबन्ध करती। (२) दूसरी **विदेशी-वासी-समिति** थी जो विदेशियों की देखभाल करती थी; (३) तीसरी **जन-गणना-समिति** थी जो नगर में जन्म-मरण का हिसाब रखती थी। (४) चौथी **वाणिज्य-समिति** थी जो व्यापार का प्रबन्ध करती थी, बिकने वाले सामान, नाप-तोल का निरीक्षण करती थी। (५) पाँचवीं **उद्योगसमिति** थी। यह कारखानों और व्यक्तिगत निर्माण की वस्तुओं की देखभाल करती थी। (६) छठवीं **कर-समिति** थी जो टैक्स, चुंगी आदि का प्रबन्ध करती थी। नगर के प्रधान प्रबन्धक को **नगराध्यक्ष** कहा जाता था। उसे 'पौर' भी कहते थे।

निष्कर्ष—ऊपर की बातों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त एक साथ ही महान विजेता और कुशल प्रबन्धक था। उसमें शासन के प्रत्येक विभाग के संगठन की अद्भुत क्षमता थी। कुछ लोगों ने उसकी कठोर दण्ड-व्यवस्था के कारण उसे निर्दयी कहा है, पर तत्कालीन अवस्था को ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है यह व्यवस्था उचित थी। उसके भव्य प्रासाद की सब ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वह समय की गति को पहचानता था, अतः उसने अपनी और साम्राज्य की रक्षा का विधिवत प्रबन्ध किया। शक्ति के मद में चूर होकर उसने अपनी प्रजा के हित की बातों को कभी नहीं भुलाया और ग्रामीण जनता के सुख-आराम के लिये उचित प्रबन्ध किया।

मेगस्थनीज का वर्णन—सिल्यूकस की सन्धि के अनुसार मेगस्थनीज नाम का राजदूत चन्द्रगुप्त के दरबार में आया था। वह कई वर्षों तक चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा। उसने जो कुछ भारत में देखा, उसका वर्णन 'इण्डिका' नामक पुस्तक में किया। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का बहुत ही सुन्दर और विस्तृत वर्णन दिया है। वह लिखता है कि भारत का सबसे बड़ा नगर पाटलिपुत्र है। यह नगर गंगा और सोन के संगम पर बसा है। उसकी लम्बाई ९½ मील और चौड़ाई १¾ मील है। नगर ६०६ फीट चौड़ी और ४५ फीट गहरी एक खाई से चारों ओर से घिरा है। नगर के चारों ओर एक दीवार है जिसमें अनेक फाटक और बुर्ज बने हैं। नगर के अधिकांश मकान लकड़ी के बने हैं। पाटलिपुत्र के शासन की जो व्यवस्था मेगस्थनीज ने लिखी है वह पिछले पृष्ठों में भी दी जा चुकी है। उसने ३० सभासदों की नगर-सभा और ६ उप-समितियों का सविस्तार वर्णन किया है।

मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के राजप्रासाद का बड़ा ही सजीव वर्णन दिया है। सम्राट का भवन पाटलिपुत्र के मध्य में स्थित था। भवन चारों ओर से सुन्दर एवं रमणीक उपवन एवं उद्यान से घिरा था, प्रासाद के उस उद्यान में लगाने के लिए दूर-दूर से वृक्ष मँगाये गये थे। भवन में मोर पाले जाते थे। भवन के सरोवर में बड़ी बड़ी मछलियाँ पाली जाती थीं। सम्राट प्रायः अपने भवन में ही रहता था और युद्ध, न्याय, बलि तथा आखेट के समय ही बाहर निकलता था।

मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के दरबार का भी अच्छा वर्णन लिखा है। दरबार में अच्छी सजावट होती थी और सोने-चाँदी के बर्तनों से आँखों में चकाचौंध पैदा हो जाती थी। राजा राजप्रासाद से सोने की पालकी या हाथी पर बाहर निकलता था। सम्राट की वर्षगाँठ बड़े शान-शौकत से मनायी जाती थी। राज्य में शांति और व्यवस्था रहती थी और अपराध कम होते थे। प्रायः लोगों के घरों में ताले नहीं लगते थे।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद २९७ ई० पू० में उसका पुत्र बिंदुसार मगध का सम्राट हुआ। बिंदुसार ने लगभग २७ वर्षों तक राज्य किया। उसने अपने

पिता की दिग्विजय—नीति जारी रक्खी। बिंदुसार ने मैसूर तथा दक्षिणापथ के अन्य राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाया। इसके शासन काल में तक्षशिला के प्रांतीय शासक ने विद्रोह किया। उसे दबाने के लिये बिंदुसार ने अशोक को भेजा था। अशोक ने वहाँ पहुँच कर स्थिति को अपने काबू में कर लिया और विद्रोह शांत हो गया। बिंदुसार ने पश्चिमी एशिया और मिस्र के राजाओं से अपना दौत्य-सम्बंध स्थापित किया था।

बिंदुसार के कई पुत्र-पुत्रियाँ थीं। बिंदुसार २७२ ई० पू० के लगभग बीमार पड़ा और भाइयों में राजगद्दी के लिये शत्रुता पैदा हो गयी। उसका बड़ा लड़का सुसीम राजा बनना चाहता था, पर मंत्रिगण अशोक के पक्ष में थे। कहा जाता है कि बिंदुसार की मृत्यु के बाद दोनों दलों में युद्ध हुआ और अशोक लगभग २७१ ई० में राजगद्दी प्राप्त करने में सफल हुआ।

अशोक (ई० पू० २७१—ई० पू० २३२)

अशोक चन्द्रगुप्त का पौत्र और बिंदुसार का पुत्र था। वह अपने पिता का जेष्ठ पुत्र नहीं था, फिर भी पिता की मृत्यु के बाद मंत्रियों और सभासदों की इच्छानुसार वही पाटलिपुत्र की गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ। पिता के जीवनकाल में वह उज्जैन (मालवा) और तक्षशिला (गान्धार) का राज्यपाल रह चुका था। तक्षशिला में होने वाले विद्रोह को दबाने के लिए वह उज्जैन से तक्षशिला भेजा गया था। दोनों ही प्रांतों में अशोक को सफलता मिली और उसने राज-काज में अच्छी निपुणता दिखायी थी। पिता की मृत्यु के बाद २७२ ई० पू० में अशोक के भाइयों में अनबन शुरू हुई। इतिहासकारों-का कहना है कि अशोक को राज्य के सिंहासन के लिये संघर्ष करना पड़ा। जान पड़ता है कि राजगद्दी के लिए जो संघर्ष भाइयों में हुआ, उसमें कुछ भाइयों की जानें गईं और तब अशोक गद्दी का मालिक बन सका। अशोक का राज्याभिषेक ४ वर्ष पश्चात २६८ ई० पू० में हुआ। अशोक ने सम्राट होकर 'देवानां प्रिय' और 'प्रियदर्शी' की उपाधि धारण की। कुछ किम्वदंतियों के अनुसार अशोक ने अपने ९९ भाइयों को मार कर गद्दी प्राप्त की थी, पर अधिकांश विद्वान इस बात को कल्पित मानते हैं और इसे कोरा गप्प समझते हैं क्योंकि अशोक के शिलालेखों से उसके भाइयों का जीवित रहना सिद्ध होता

है जिनके साथ उसका व्यवहार मधुर और स्नेह युक्त था। अशोक के चार पुत्रों और एक पुत्री के नाम ज्ञात हैं। अशोक ने ४० वर्ष तक अपने विशाल साम्राज्य पर एक आदर्श और प्रतिभावान राजा की तरह राज्य किया और २३२ ई० पू० में इतिहास में अमर होकर उसने इस संसार को छोड़ा।

विजय और साम्राज्य-विस्तार—अशोक ने अपने शासन के प्रारम्भिक काल में प्राचीन भारत के अन्य राजाओं की तरह दिग्विजय ही अपना आदर्श रक्खा और भारत के उन प्रांतों को जो अभी तक मौर्य साम्राज्य में शामिल नहीं थे, विजय करने का कार्य-क्रम बनाया। सर्वप्रथम उसने काश्मीर पर आक्रमण किया और उसे अपने अधीन किया। तत्पश्चात उसने अपने पड़ोसी राज्य कलिंग पर चढ़ाई की। उस युद्ध में अशोक विजयी हुआ, पर युद्ध में एक लाख आदमी मारे गये और डेढ़ लाख कैदी बनाये गये। युद्ध जनित अकाल और रोग से भी कई लाख व्यक्ति मृत्यु के शिकार हुये। इस प्रकार हिमालय से मैसूर तक और बंगाल से हिंदूकुश तक मौर्य साम्राज्य का विस्तार हो गया। सुदूर दक्षिण में चार-पाँच छोटे-छोटे राज्य (चोल, पाण्डय, करेल पुत्र, सतिय पुत्र और लंका) उसके राज्य के बाहर थे, पर अशोक ने इन्हें अभय दान दे रक्खा था क्योंकि इन राज्यों ने अशोक के राजनैतिक प्रभाव-क्षेत्र में रहना स्वीकार किया था।

अशोक की नीति में परिवर्तन—"कलिंग के युद्ध में जो भयानक विध्वंस और नर-संहार हुआ और उससे वहाँ की जनता को जो दुख और कष्ट झेलने पड़े, उनका अशोक के हृदय पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। उसको बड़ा पाश्चाताप हुआ, करुणा और दया से उसका हृदय द्रवित हो गया। उसे अनुभव हुआ कि सबसे बड़ी विजय धर्म-विजय है और उसके साधन हैं—भूत-दया और लोक सेवा। उसने निश्चय किया कि वह अपने अहंकार की तृप्ति के निमित्त राज्य-विस्तार के लिये कभी भविष्य में युद्ध न करेगा। उसका भेरिघोष (युद्ध के नगाड़े का शब्द) धम्मघोष (धर्म-प्रचार के लिये शब्द) में परिवर्तित हो गया। **उसकी नीति दिग्विजय के बदले धर्म विजय हो गयी।**"

अशोक का शासन-प्रबन्ध—अशोक की मनःस्थिति में कलिंग-युद्ध के बाद जो परिवर्तन हुआ, उसका प्रभाव उसके शासन-प्रबन्ध पर भी अविकल रूप से पड़ा। उसने कहा है कि "सब मनुष्य मेरी संतान हैं। जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरी संतति इस लोक और परलोक में सब प्रकार की सुख-समृद्धि भोगे, ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा की सुख-समृद्धि की कामना करता हूँ।" अशोक के लिये "सर्वहित से बढ़कर दूसरा कोई कर्तव्य नहीं था।" इसी आदर्श को सामने रखकर अशोक ने मौर्य-शासन-व्यवस्था को लोकहितकारी और उदार बनाने की चेष्टा की। चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था दृढ़ और व्यापक थी, उसमें अशोक ने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया, केवल प्रजा की भलाई के लिये कुछ और कार्य-विभाग और सरकारी कर्मचारी बढ़ाये गये।

अशोक के समय में केन्द्रीय शासन, मंत्रि-परिषद् का संगठन, प्रांतीय और स्थानीय-स्वशासन की व्यवस्था ज्यों की त्यों रही। राजा स्वयं राजकाज और लोकहित के कामों में अधिक रुचि लेता था। मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था भी पूर्ववत थी और अशोक के शिलालेखों में मंत्रियों के कार्य की चर्चा मिलती है। मगध और आस-पास के प्रांतों का प्रबंध राजधानी की देखरेख में होता था और कुछ अन्य प्रांतों में पर्याप्त स्वायत्त शासन था। अशोक के समय में कलिंग और काश्मीर प्रान्त साम्राज्य के अंग बन गये। स्वायत्त शासन वाले प्रांतों के नाम उसके शिलालेखों में दिये हैं, उनमें से यवन, कम्बोज (पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्थित), भोज (पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित) और आन्ध्र थे। कुछ प्रांतों में पूर्ववत राजकुमारों को राज्यपाल नियुक्त करने की प्रथा अशोक के समय में भी बनी रही। सम्राट और राज्यपालों की सहायता के लिये महामात्र, राजुक, रथिक, लिपिकार, युत, आयुक्त आदि प्रमुख राजकर्मचारी नियुक्त किये जाते थे।

महामात्र—अशोक ने 'महामात्र' नाम का एक नवीन राजकीय पद चलाया और उस पर महामात्रों की नियुक्तियाँ की। सम्राट ने अपनी प्रजा में नैतिक जीवन का प्रचार और उनके नैतिक और भौतिक जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये धर्म-महामात्र नामक अधिकारियों की नियुक्ति की। स्त्रियों के बीच काम करने के लिये स्त्री-अध्यक्ष-महामत्रों को नियुक्त किया गया।

सीमांत प्रदेशों में काम करने के लिये अंत महामात्रों की नियुक्ति हुई। इन महामात्रों के मुख्य काम थे—"सभी धार्मिक सम्प्रदायों के धार्मिक और नैतिक जीवन की देखभाल, दान-वितरण, कानूनी अन्याय और अत्याचार का निराकरण और ऐसे सभी काम जिससे प्रजा में धर्म की वृद्धि और उसका हित और सुख बढ़े।"

राजुक—अशोक के समय में राजुक नामक पदाधिकारी होते थे जो महामात्र के नीचे थे। राजुक का काम जनपदों की देखरेख करना था। वह न्याय का काम भी करता था। अशोक के एक शिलालेख में लिखा है कि "जिस प्रकार अपनी संतान को एक बुद्धिमान धात्री के सुपुर्द कर देने के पश्चात् मनुष्य स्वयं निश्चित हो जाता है कि वह धात्री मेरे बच्चे का पालन करेगी, इसी प्रकार मैंने भी प्रांतीय जनता के हितों की रक्षा के लिए इन राजुकों को नियुक्त किया है ताकि प्रजा अपने कर्तव्यों का पालन निर्भय होकर कर सके और उन्हें कोई व्यग्रता न हो।" राजुक की मदद अन्य कर्मचारी करते थे। वह भूमि की नाप और नदी का प्रबंध भी कराता था। आखेट का प्रबंध करना भी उसी का काम था।

राजकर्मचारियों के लिए यह आदेश था कि वे प्रति तीसरे वर्ष दौरे पर जाया करें। सम्राट का आदेश था कि राजकर्मचारी प्रजा के साथ कभी अन्याय न करें, किसी का अंग भंग न किया जाय और अन्याय के साथ किसी को अकारण कारावास में न रक्खा जाया। महामात्र इस बात के लिए उत्तरदायी थे कि राजकर्मचारी कभी राजा की आज्ञाओं का उल्लंघन न करें। सम्राट् को हर समय और हर स्थान पर प्रजा की अवस्था का विवरण सुनाने के लिए प्रतिवेदक रक्खे गये थे। मनुष्यों और पशुओं के लिए स्थान-स्थान पर चिकित्सालय खोले गये। जंगली-जातियों के साथ दमन की नीति का त्याग कर सहयोग और सेवा की नीति अपनायी गई।

अशोक ने सामाजिक और राष्ट्रीय उत्सवों पर मद्य-मांस, नृत्य आदि के स्थान पर नैतिक जीवन के उत्थान के लिए धर्म-समाज की स्थापना की। धार्मिक प्रचार के लिए धर्म-यात्रा का आयोजन किया जाता था और सम्राट अपने ही उदाहरण द्वारा लोगों को अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये प्रोत्साहित करता था। राजकीय भोजनालय में मांस का प्रयोग धीरे-धीरे बन्द कर दिया गया।

अशोक ने प्रजा के आराम के लिए अनेक लोकोपकारी कार्य किये। सड़कें बनवाना, उनके किनारे वृक्ष लगवाना, कुएँ बनवाना, धर्मशाला और विश्राम-गृह का निर्माण कराना उसके प्रबन्ध का आवश्यक अंग था। साधु-सन्यासी वर्ग को दान देने की व्यवस्था करायी गयी थी। अपने आदेशों और नैतिक नियमों को उसने शिलालेखों एवं गुफा लेखों द्वारा साम्राज्य के हर भाग में पहुँचाने का प्रयास किया। "इस प्रकार अशोक के लिए उसकी राज्य व्यवस्था केवल एक शासन-यंत्र न थी, किंतु लोक-सेवा का माध्यम थी। शासन के क्षेत्र में यही उसकी मौलिक देन थी।"

अशोक का धर्म

संसार के इतिहास में अशोक का यश केवल राज्य-विस्तार और शासन-प्रबन्ध के कारण नहीं, बल्कि उसके उच्च धार्मिक आदर्श और प्रचार के कारण फैला। नैतिक जीवन के प्रति उसे अनुपम आस्था थी और उसे व्यवहार में लाने का उसने अथक परिश्रम किया।

शान्ति-प्रधान बौद्ध धर्म ने अशोक को कलिंग-विजय के बाद अवश्य ही आकर्षित किया होगा। उसने अपने एक शिलालेख में लिखा है की "कलिंग-विजय के पश्चात् अशोक धर्मान्तरण, धर्म-कामना और धर्म के अनुशासन में उत्साही हुआ।" बौद्ध ग्रंथों में अशोक को बौद्ध-धर्मानुरागी कहा गया है। ह्वेनसांग ने भी अशोक को बौद्ध माना है। निसन्देह अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था और धर्म के प्रचार में उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। पर सच है कि अशोक उदार और संयमी बौद्ध था और उसके साम्राज्य में अन्य सब धर्मवालों को पूरी स्वतंत्रता थी। उसने ब्राह्मण, श्रमण, आजीवक साधुओं के लिए दान दिये, आश्रम बनवाये और उन्हें पूरी स्वतंत्रता प्रदान की। सहिष्णुता उसकी धार्मिक नीति की नींव थी।

अशोक का धर्म किसी एक धार्मिक समाज के बंधन में नहीं था। उसके उपदेश व्यापक और नैतिक नियमों के संग्रह के रूप में थे। अतएव वह (१) माता पिता, गुरुजन, वृद्धों की सेवा, आदर आदि पर अधिक जोर देता था। ब्राह्मणों, साधुओं, मित्रों, वयोवृद्धों और दीनों के प्रति उसने दान, दया और उचित व्यवहार का आग्रह किया। (२) मनुष्य को अपनी भावनाओं

की शुद्धता और पवित्रता के लिए दया, दान, सत्य, संयम शुद्धता, माधुर्य आदि गुणों को व्यवहार में लाने का उपदेश देता था। (४) अशोक मितव्ययी होने और अल्प संग्रह पर भी जोर देता था। (५) वह निर्दयता, क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, छल-कपट से दूर रहने का उपदेश देता था। (६) आत्म-निरीक्षण को वह धर्म का एक अति आवश्यक अंग मानता था। इन बातों से स्पष्ट है कि अशोक का धर्म रुढ़िगत और संकुचित नहीं था। वह जीवन को उदात्त बनाने के लिए धर्म को एक साधन मानता था। वह दार्शनिक दुरूहता और बाह्याडम्बर के चक्कर में नहीं था। इस निर्दोष धर्म प्रचार के लिए अशोक ने अनेक प्रकार के उपक्रम किये।

(१) अशोक ने एक धर्म-विभाग का संगठन किया, इस विभाग का मुख्य काम प्रजा के नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए प्रयास करना था। इसी के लिए उसने धर्म-महामात्रों को नियुक्त किया।

(२) अशोक ने धर्म प्रचार के लिए लोगों के सम्मुख चित्र और रुपक के प्रदर्शन की व्यवस्था की। धर्माचरण करने वालों के लिए जो सुख मिलते हैं, उनका प्रदर्शन वह प्रजा के सामने कराता था और उसको आशा थी कि इससे उसकी प्रजा में धर्म के प्रति अनुराग पैदा होगा।

(३) उसने स्वयं आखेट और विहारयात्रा के स्थान पर धर्म-यात्राओं का आयोजन किया और अपने आचरण से प्रजा में धर्म के प्रति अनुरक्ति पैदा करने की शिक्षा दी।

(४) अहिंसा और जीव-दया के सिद्धान्तों को व्यावहारिक बनाने के लिए उसने पशु-वध बन्द करने का आदेश दिया और अपने भोजनालय में मांस का प्रयोग शनैः शनैः बन्द करा दिया।

(५) धर्म के सिद्धान्तों और नैतिक जीवन के नियमों को अशोक ने पत्थरों, गुफाओं, शिलाओं तथा स्तूपों पर खुदवाया ताकि वे सब को सदैव सुलभ हो सकें। उसके ऐसे शिला लेख और स्तूप-लेख साम्राज्य के हर भाग में पाये जाते हैं। अशोक के चौदह शिलालेख, सात स्तम्भ-लेख, कुछ गुफा लेख आज भी भारत के विभिन्न भागों में उपलब्ध हैं।

(६) अशोक ने अपने शासन-काल में एक बौद्ध-संगीति बुलाई थी। इसमें बौद्ध धर्म के विद्वानों ने भाग लिया और बौद्ध धर्म-ग्रंथों का संशोधन

किया। इस सभा ने बौद्ध धर्म में घुसे हुए दोषों को भी दूर करने के उपाय सोचा; इससे बौद्ध धर्म में एक चुस्ती और नव-जीवन आ गया।

(७) अशोक को धर्म-प्रचार के कार्य को अपने साम्राज्य की सीमा के भीतर ही रखने में संतोष नहीं था। उसने भारत के बाहर बौद्ध धर्म के प्रचार का आयोजन किया। उसके भेजे हुए धर्म-प्रचारक सिंहल, बर्मा, जापान आदि देशों में गये। इस काम के लिए उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री सङ्घमित्रा को भी नैपाल और लङ्का भेजा।

इस धर्म-विजय का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म एशिया का एक सर्व प्रधान व्यापक धर्म बन गया। इसी से भारतीय संस्कृति को संसार में एक उच्च स्थान मिला और भारत का अहिंसा और सत्य का संदेश दूर-दूर तक फैल गया। "विश्व के इतिहास में बिना किसी राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थ के विशुद्ध धर्म के प्रचार का यह प्रथम उदाहरण है।" अशोक के प्रयास का फल दक्षिण-पूर्वी एशिया, लङ्का तथा नैपाल में आज भी देखने को मिलता है जहाँ से प्रतिवर्ष अनेक व्यक्ति बौद्ध-तीर्थ-स्थानों के दर्शन के निमित्त भारत के विभिन्न भागों में आते रहते हैं और भगवान बुद्ध के प्रति नत मस्तक हो अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

अशोक के अभिलेख

अशोक ने अपने विचारों को ऐसा रूप दे दिया है जो आज भी समय को चुनौती देते हुए जीवित हैं। उसने अपने आदेशों और उपदेशों को पत्थर की शिलाओं तथा स्तूपों पर खुदवाया और देश के विभिन्न भागों में स्थापित कराया। वे सब अभिलेख दो वर्गों में रक्खे जा सकते हैं—(१) शिलालेख और (२) स्तूप लेख। शिलालेख सीमान्त प्रदेशों में मिलते हैं और स्तूपलेख देश के भीतरी भागों में स्थित हैं।

अशोक के शिलालेख मैसूर, पेशावर, गिरनार में जूनागढ़ के पास, बम्बई के थाना जिले में सोपारा स्थान पर, देहरादून में कलसी नामक स्थान पर, पुरी में धौली स्थान पर, हैदराबाद में, कलिंग में, नैपाल की तराई में रुम्मिन देई तथा निग्लिव ग्राम में पाये जाते हैं।

स्तूप या स्तम्भ लेख दिल्ली, प्रयाग, चम्पारन, सारनाथ, साँची आदि स्थानों में स्थित हैं।

इन शिला और स्तूप लेखों से अशोक के विषय में अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है। अशोक के साम्राज्य के विस्तार का पता इनसे चलता है। इनसे यह ज्ञात होता है कि अशोक का मिस्र, सीरिया, लङ्का आदि देशों से अच्छा सम्बंध था और वहाँ दूत भेजे गये थे। इनसे अशोक के धर्म के विषय में भी ज्ञान प्राप्त होता है। अशोक के शासन-काल की अन्य घटनाओं का संकेत भी इन लेखों से मिलता है। वास्तव में भारतीय इतिहास में अशोक का यह प्रयास अत्यन्त सराहनीय है और इससे इतिहास की अनेक गुत्थियों को समझने में सहायता मिली है।

इन स्तूपों और शिलालेखों से अशोक के समय की वास्तु-कला पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। ये स्तम्भ एक ही पत्थर के टुकड़े को काटकर बनाये गये हैं। स्तूपों की औसत ऊंचाई ४० फीट है। ऊपर चक्र, पशु, पक्षी, लता, पुष्प आदि के जो चित्र पत्थरों को काट कर खुदे हुए हैं उनको देखकर आज भी लोग आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सारनाथ का सिंह-शीर्ष वाला स्तम्भ है। मूर्तिकला का यह विकास कितने अभ्यास के बाद हुआ होगा, यह सोचना कठिन है। इन मूर्तियों में बदन के गठन की सजीवता, प्रत्येक भाग का सम अनुपात, सुडौलपन और सौन्दर्य आज भी इस कला के जानकार लोगों के लिए ईर्ष्या के कारण बने हुए हैं। इनकी पालिश आज के वैज्ञानिकों की बुद्धि को एक अजीब चुनौती दे रही है। एक हजार वर्ष बाद ह्वेनसांग ने उन्हें देखकर लिखा था कि ये "शीशे की तरह चमकते हैं।" पाटलिपुत्र में वह अशोक के राज-प्रसाद को टूटी-फूटी दशा में भी देखकर आश्चर्य-चकित हो गया था।

महान अशोक

अशोक एक विजेता था, साम्राज्य का संगठन-कर्ता था। वह बौद्ध धर्म को एशिया का सर्व-प्रधान और अति व्यापक धर्म बनाने वाला था। उसने राष्ट्र निर्माण के कार्य को ठोस बनाया। राष्ट्रीय एकता के लिए शासन की अच्छाई, राजभाषा का प्रयोग, जन-सेवा की योजना, न्याय पर आधारित शासन

व्यवस्था, विश्वासपूर्ण एवं उदार नीति को सक्रिय रूप देने में अशोक अपना बराबरी नहीं रखता है। अपनी प्रजा को नैतिक और भौतिक क्षेत्र में उन्नति की ओर अग्रसर करने में तथा सुखी बनाने में अशोक ने कुछ भी उठा नहीं रक्खा। अशोक वैभव और शक्ति-सम्पन्न था, फिर भी उसका व्यक्तिगत जीवन नैतिकता और धार्मिकता से ओतप्रोत था। संसार ने इतना अधिक सक्रिय धार्मिक पर उदार और सहिष्णु सम्राट नहीं देखा है। वह एक सफल सेनानी और कुशल संगठन कर्ता था। वह "उदारता की साक्षात मूर्ति और मानवता का सबसे बड़ा पुजारी था।" इसीलिए एच. जी. वेल्स ने अपनी 'विश्व इतिहास की रूपरेखा' में लिखा है कि "इतिहास के स्तम्भों को भरने वाले राजाओं, सम्राटों, धर्माधिकारियों, सन्तों और महात्माओं में अशोक का नाम प्रकाशमान है और वह आकाश में प्रायः एकाकी तारा की भाँति चमकता है।" एक दूसरे इतिहास-विद् के शब्दों में "एक विशाल पैमाने पर धर्म-संगठन और धर्म-प्रचार की योजना संसार के इतिहास में अशोक द्वारा एक अभिनव, परंतु सफल प्रयास था। इसके साथ राजनैतिक, आर्थिक और सभी प्रकार के स्वार्थों का सम्पूर्ण त्याग और सर्व लोकहित के आदर्श के लिए अपने जीवन के सब साधनों का समर्पण संसार के इतिहास में कोई उपमा नहीं रखता।" अशोक सभी दृष्टियों से महान है। वह संसार के किसी शासक के लिए कभी भी आदर्श है।

अशोक के उत्तरधिकारी

अपने को अमर बनाकर एक लम्बी अवधि के बाद अशोक २३२ ई० पू० में स्वर्ग सिधारा। दुर्भाग्य से अशोक के बाद उसके उत्तराधिकारी सुयोग्य नहीं हुए। अतः उसकी मृत्यु के पचास वर्ष के भीतर ही मौर्य साम्राज्य का ह्रास हो गया और मगध भी मौर्यों के हाथ से निकल गया।

(१) कुणाल—अशोक के पाँच पुत्र थे। उनमें से कुणाल अशोक के बाद राजगद्दी पर आसीन हुआ। इसके पूर्व वह गांधार का राज्यपाल था। इसी के समय में साम्राज्य का पश्चिमोत्तर प्रान्त मगध से पृथक हो गया और अशोक का एक पुत्र जालौक काश्मीर में स्वतंत्र बन गया। आठ वर्ष के शासन के बाद कुणाल की मृत्यु हो गयी।

(२) **दशरथ**—यह कुणाल के बाद गद्दी पर बैठा। मालूम होता है कि वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और गया के पास आजीवक नाम के भिक्षुओं के लिए पहाड़ियों में गुहा-विहार (गुफाएं) बनवाया। इसके समय में कलिंग मगध साम्राज्य से अलग हो गया। दशरथ का देहान्त २१६ ई० पू० के लगभग हुआ।

(३) **सम्प्रति**—दशरथ के पुत्र न होने से उसका भाई सम्प्रति गद्दी पर बैठा। इसने शासन को पुनः व्यवस्थित करने की कोशिश की। इस समय मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र और उज्जयिनी दोनों स्थानों पर हो गयी थी। वह जैन धर्म का पक्का अनुयायी था। इसका देहान्त २०७ ई० पू० हुआ।

इसके पश्चात् मौर्य वंश में कई राजा हुए। पर उनकी शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जा रही थी। प्रान्तीय शासक स्वतंत्र हो रहे थे। यूनानी राजा अन्तियौकस ने भारत पर आक्रमण किया। इस वंश का अन्तिम राजा **बृहद्रथ** था। वह विलासी, असावधान और शक्तिहीन था। अतः उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८४ ई० पू० के लगभग बृहद्रथ को मार कर सिंहासन पर बैठा। लगभग १५० वर्ष तक शासन करने के बाद मौर्य वंश का अस्तित्व मगध से समाप्त हो गया। भारतीय इतिहास का यह काल देश के इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखता है क्योंकि मौर्य सम्राटों ने भारत और अन्य देशों को सभ्यता, संस्कृति और जन-कल्याण के क्षेत्र में जो देन दी, वह अमिट और अमर बन गयी।

साम्राज्य के पतन के कारण—इस शक्तिशाली साम्राज्य के पतन के अनेक कारण बताये जाते हैं। (१) अशोक से उत्तराधिकारी ऐसे योग्य और जागरुक नहीं थे कि इतने बड़े साम्राज्य को सम्भालने में सफल हो सकें। राजा की कमजोरी से साम्राज्य में विकेन्द्रीकरण की भावना का प्रारम्भ हो गया और उसे रोकना कमजोर व्यक्ति की शक्ति के बाहर की बात थी। (२) साम्राज्य के पतन का एक कारण सैनिक दुर्बलता भी कही जाती है। अशोक की शांतिवादी नीति के बाद सम्राटों का ध्यान सैन्य-शक्ति को शक्तिशाली बनाये रखने की ओर से हट गया। अतः प्रांतीय शासकों तथा पड़ोसी राजाओं ने इस दुर्बलता से

लाभ उठाया। (३) मौर्य सम्राज्य के विरुद्ध वैदिक प्रतिक्रिया ने भी अपना काम किया। यह ठीक है कि अशोक सहिष्णु था, पर वैदिक धर्म मानने वालों के हृदय में साम्राज्य के प्रति कोई स्नेह नहीं रह गया था और वे उदासीन हो गये थे। उच्च वर्ण के लोगों में धीरे-धीरे एक प्रतिक्रिया होने लगी थी अतः राजाओं को उनका सक्रिय समर्थन नहीं प्राप्त हो सका। पुराणों में मौर्यों को 'असुर' 'धर्मवादी अधार्मिक' कह कर सम्बोधित किया गया है। इसी प्रवृत्ति का लाभ उठाकर वैदिक धर्मावलम्बी पुष्यमित्र ने मौर्य वंश के अन्तिम बादशाह बृहद्रथ को मार कर मगध पर अधिकार कर लिया।

मौर्यकालीन समाज और संस्कृति

सामाजिक जीवन—मौर्य काल में परम्परागत चार वर्णों और चार आश्रमों में भारतीय जनता का जीवन विभाजित था। "अर्थशास्त्र" में कर्षक, गोपाल भोजनालय चलाने वाले (सत्रिक), बढ़ई, भृतक आदि अनेक जातियों का उल्लेख आया है, पर ज्ञात होता है कि ये सब उपजातियाँ चार मुख्य वर्णों के ही अन्दर थीं और उन्हीं की उपशाखाएँ थीं। मेगस्थनीज ने सात वर्णों (दार्शनिक, किसान, ग्वाला, कारीगर, सैनिक, निरीक्षक, अमात्य) का उल्लेख किया है, पर ये वर्ण व्यवसाय के आधार पर गिनाये गये हैं और शायद मेगस्थनीज ने उन्हें गलती से वर्ण का नाम दे दिया। उस समय तक एक ही वर्ण के लोग अनेक प्रकार के व्यवसायों को अपनाने लगे थे।

विवाह—इस समय शास्त्र-सम्मत विवाह आठ प्रकार थे, पर साधारणतः विवाह अपनी जाति और वर्ण के अन्तर ही होते थे। अशोक और चन्द्रगुप्त ने अपने वर्ण के बाहर भी विवाह किया था। बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी। पुनःविवाह की चलन थी और दहेज की प्रथा भी चालू थी।

स्त्रियों की अवस्था—समाज में स्त्रियों का स्थान आदरणीय और ऊँचा था। वे सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थीं। पर्दा की पद्धति नहीं थी। विशेष स्थिति में तलाक की प्रथा भी थी। वे साधुनी, संयासिनी, भिक्षुणी हो सकती थीं।

भोजन और पेय—लोग सम्पन्न थे, अतः खान-पान का स्तर ऊँचा था। धनी परिवारों में अनेक प्रकार के खाद्य व्यंजन तैयार होते थे। माँस खाने की भी प्रथा थी, पर अशोक ने इसे त्याग दिया था। बौद्ध धर्म के प्रभाव से पशु-बलि कम होती जा रही थी। नगरों में भोजनालय की व्यवस्था थी। शराब पीने की प्रथा थी और उस पर सरकारी नियंत्रण था। भारतीयों में अकेले खाने की प्रथा का उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है।

मनोरंजन—मन बहलाने और आमोद-प्रमोद के साधन अनेक प्रकार के थे। इनमें नट, नर्तक, गायक, वादक, अनेक प्रकार की बोली बोलने वाले, मदारी और चारण मुख्य थे। शिकार का भी प्रचार था। नाटकों के लिये रथ दौड़, घुड़ दौड़, साँड़-युद्ध, हाथियों का युद्ध भी मनोरंजन के लिए होता था। नाट्यगृह थे और उत्सव, मेले आदि का खूब प्रचलन था।

धार्मिक जीवन—समाज में तीन धर्मों का जोर था—(१) वैदिक (२) बौद्ध और जैन। अशोक ने बौद्ध धर्म को राज धर्म बनाया अतः, उसका प्रचार इस समय अधिक होना स्वाभाविक था। पर वैदिक धर्म की प्रधानता जन-साधारण में बनी रही। पशु-बलि की प्रथा थी और अशोक ने इसे निरुत्साहित किया था। बौद्ध और जैन धर्म में भी कई प्रकार बन गये थे। उस समय तीर्थ-यात्रा की प्रथा थी और अशोक स्वयं बौद्ध तीर्थों में जाया करता था। लोगों में स्वर्ग और नरक का विचार था। अंधविश्वास भी समाज में स्थान बना चुका था उसे भी कुछ लोग धर्म का ही एक स्वरूप समझते थे। अशोक ने प्रजा में धार्मिक प्रवृत्ति पैदा करने और नैतिक गुणों को अपनाने पर जोर दिया था।

भाषा और साहित्य—इस काल में संस्कृत और प्राकृत या पाली का प्रचार था। साधारण बोलचाल की भाषा पाली थी। बौद्ध ग्रंथ पाली में ही लिखे जाते थे। संस्कृत में इस समय गृह्य-सूत्र, धर्म सूत्र और अर्थ शास्त्र लिखे गये। पाली में अभि-धम्म पिटक, सुत्त तथा कुछ जैन धर्म-ग्रंथ लिखे गये। वाराणसी, तक्षशिला, राजगृह, पाटलिपुत्र इस समय विद्या के मुख्य केन्द्र थे। दो प्रकार की लिपियाँ इस काल में प्रचलित थीं—(१) ब्राह्मी जो

नागरी लिपि की जननी है और (२) खरोष्ठी जो दायें से बाँयें को लिखी जाती थी और जो पश्चिमोत्तर भारत में प्रचलित थी।

कला—कला के क्षेत्र में मौर्य-काल अति समृद्धशाली था। वास्तव में मौर्य कालीन शासन की सुव्यवस्था और शान्ति के वातावरण में कला का प्रस्फुटित होना स्वाभाविक ही था। स्थापत्यकला (भवन-निर्माण-कला) ऊँची स्तर पर थी। पाटलिपुत्र में राजप्रासादों का वर्णन मेगस्थनीज द्वारा अत्यन्त प्रसंशात्मक शब्दों में किया गया है। उसकी राय में ईरानकी राजधानी सूसा के राजप्रासादों से पाटलिपुत्र के भवन अधिक आकर्षक, सुसज्जित और सुन्दर थे। अशोक ने अनेक मन्दिर, मठ, स्तूप, विहार, बनवाये जिनके भग्नावशेष आज भी सारनाथ, बोध गया में मिलते हैं। इस काल में लकड़ी के स्थान पर पत्थर के भवन-निर्माण की प्रथा अधिक प्रचलित हुई और इस काम में अधिक सफलता भी मिली।

अशोक के कलात्मक स्तूप और शिलालेख अपने क्षेत्र में बेजोड़ हैं। बड़े बड़े पहाड़ों को काटकर ४०/५० फीट ऊँचे स्तूपों का निर्माण आज भी आश्चर्य की बात समझी जाती है। उनका कटाव, गठन, पशु-पक्षियों की सुन्दर और सजीव मूर्तियाँ लोगों को आश्चर्य चकित कर देती हैं। सारनाथ का सिंह-शीर्ष वाला स्तम्भ आजतक अनुकरण की वस्तु बना है।

इस युग में नाटकों के लिये रंगमंच, नाटक-गृह, रंग-शालाएँ बनायी जाती थीं। 'अर्थशास्त्र' में इनका वर्णन दिया है। इस युग की रंग-शालाओं का एक नमूना सरगुजा की पहाड़ियों में गुफा-भवन के रूप में पाया गया है।

पश्चिमी एशिया के ईसा पूर्व के साम्राज्य

(१) जिस प्रकार सिकंदर के आक्रमण के पश्चात भारत में मगध साम्राज्य का संगठन हुआ और देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना हुई, उसी प्रकार पश्चिमी एशिया में सिकन्दर के उत्तराधिकारियों ने कई साम्राज्य स्थापित किये।

सिकन्दर की मृत्यु बेबीलोनिया में ३२३ ई० पू० में हुई। उसके सेनापतियों ने उसके विशाल साम्राज्य का बँटवारा कर दिया। सेल्यूकस के भाग में साम्राज्य का एशियाई खण्ड पड़ा। इस प्रकार सिल्यूकस पश्चिमी एशिया

का मालिक बना और इस खण्ड में वह सिकन्दर का उत्तराधिकारी हुआ। सीरिया से बैक्ट्रिया तक का सारा भूखण्ड उसके राज्य में था। भारत के अतिरिक्त दक्षिण-पश्चिमी एशिया के सारे भाग का मालिक सिल्यूकस था। उसने ३०५ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया। उस समय भारत में मगध सम्राट चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र की गद्दी पर विराजमान था और उसने एक शक्तिशाली सेना का संगठन कर देश को एक सूत्र में बाँधने का सफल प्रयत्न किया था। सिल्यूकस को उसके सामने मुँह की खानी पड़ी। इस युद्ध का वर्णन पिछले पृष्ठों किया जा चुका है। सिल्यूकस को अपने साम्राज्य का कुछ स्वतन्त्र हिस्सा चन्द्रगुप्त को देना पड़ा।

सिल्यूकस की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य दो भागों में विभाजित हो गया। इनमें से एक को पार्थिया और दूसरे को बैक्ट्रिया कहते हैं। वास्तव में ये दोनों भाग सिल्यूकस के साम्राज्य के दो प्रान्त थे जो उसकी मृत्यु के बाद स्वतंत्र राज्य हो गये।

(२) पार्थिया का राज्य—फारस और अफगानिस्तान के उत्तरी भाग को पार्थिया कहते हैं। यहाँ पह्लव जाति के लोग निवास करते हैं। यूनानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध यहाँ सर्वप्रथम जो विद्रोह हुआ जिसका नेतृत्व आर्सेकीज नामक एक सामन्त ने किया। उसी ने पार्थिया में २५० ई० पू० के लगभग एक नये राजवंश की स्थापना की और उस वंश के राजाओं ने वहाँ लगभग २०० वर्ष तक राज्य किया। आर्सेकीज के उत्तराधिकारियों ने फारस (ईरान) के दक्षिणी भाग कर जीतकर अपना राज्य फैलाया था। पर कुछ वर्षों बाद वहाँ गृह-कलह का जोर बढ़ा और घरेलू झगड़ों के कारण पार्थिया की शक्ति क्षीण और कमजोर होने लगी।

(३) [क] बैक्ट्रिया (बलख) का साम्राज्य—यह प्रदेश हिन्दुकुश और आक्सस नदी के मध्य स्थित है। प्राचीन काल में यह उपजाऊ प्रदेश था। यह प्रदेश सिल्यूकस के साम्राज्य का एक प्रमुख प्रान्त था। लगभग २४५ ई० पू० में यह स्वतन्त्र राज्य बन गया और सर्वप्रथम वहाँ के एक यूनानी गवर्नर ने ही अपने को स्वतंत्र घोषित किया था। लगभग २३० ई० पू० में उस यूनानी सत्ता को वहाँ के एक सामन्त यूथिडेमस ने उखाड़ फेंका। यूनानी प्रभाव से

स्वतंत्र होकर **यूथिडेमस** ने अपना राज्य-विस्तार बढ़ाया। उसने अफगानिस्तान का एक भाग भी अपने अधीन कर लिया। यूथिडेमस के समय में बलख की शक्ति अधिक बढ़ गयी। १९० ई० पू० के लगभग उसका पुत्र **डेमेट्रियस** बलख का शासक हुआ। उसने भी पिता की तरह विजय की नीति का अनुसरण किया। उस समय भारत की राजनीति अशक्त हो रही थी और मौर्यवंश के दुर्बल राजा बृहद्रथ को हटाकर पुष्यमित्र शुंग ने मगध पर अधिकार कर लिया था। इस बिगड़ती हुई स्थिति से लाभ उठाकर डेमेट्रियस ने भारत पर आक्रमण किया। उसने हिन्दूकुश पार कर पंजाब के एक भाग को जीत लिया। वह आगे बढ़ता गया और पाटलिपुत्र की ओर अग्रसर हुआ। भारत के कुछ हिस्से पर तो उसका अधिकार हो गया, पर उसके अपना राज्य इसी बीच उसके हाथ से निकल गया।

[ख] जब डेमेट्रियस भारत-विजय की लालसा पूरी करने में लगा था, तब **यूक्रेटाइडिज** नामक एक सैनिक ने बैक्ट्रिया (बलख) में अपनी सत्ता स्थापित कर एक नये राजवंश की नींव डाली। इसने भी पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया तथा तक्षशिला, पुष्कलावती एवं कपिशा को अपने साम्राज्य का एक अंग बना लिया। इस राजवंश को भी शकों ने परास्त किया और ई० पू० की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में बैक्ट्रिया शकों के अधीन हो गया।

अभी ऊपर की पंक्तियों में यह बतलाया गया है कि बैक्ट्रिया में यूथिडेमस ने एक राजवंश की स्थापना की थी। इसी के पुत्र डेमिट्रियस ने भारत पर आक्रमण किया। उसने अपने सिक्के चलाये जिन पर दो भाषाओं में लेख छपे हुये हैं। वह अपने को 'भारतीयों का राजा' कहता था। उसके बाद **मिनाण्डर** भारतीय इतिहास में अधिक प्रसिद्ध है। डेमेट्रियस के समय में उत्तरी भारत के विजय में उसने प्रमुख भाग लिया था। वह एक प्रसिद्ध विजेता था। उसने सुराष्ट्र, मथुरा को जीता और साकेत तक धावा मारा। उसने पाटलिपुत्र को जीतने की तैयारी की, पर पुष्यमित्र शुंग ने उसे रोक दिया। उसने एक बौद्ध संत से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म स्वीकार किया। पाली ग्रन्थ 'मिलिन्दपञ्ह' (मिलिन्द प्रश्न) के अनुसार वह एक पक्का बौद्ध था। उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) का विशद वर्णन इस पाली ग्रंथ में दिया है। उसके सिक्कों पर 'धर्म-चक्र' की आकृति अंकित है। वह न्याय-प्रियता के कारण प्रजा में बहुत प्रिय होगया था।

"मिनाण्डर के उदाहरण से मालूम होता है कि भारत की सांस्कृतिक शक्ति विदेशी आक्रमण और राजनीतिक उथल-पुथल में भी क्षीण नहीं हुई थी और राजनैतिक विजेता भी उससे विजित हो जाते थे।" मिनाण्डर के उत्तराधिकारियों के विषय में ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है।

भारत पर यूनानी आक्रमणकारियों का प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण के समय तक भारतीय समाज यूनानी-संसर्ग से अधिक प्रभावित नहीं हुआ था। पर बाद को डेमिस्ट्रियस और उसके उत्तराधिकारियों के आक्रमण से यूनानियों और भारतीयों का सम्पर्क बढ़ा। यह बात सच है कि भारतवासी यूनानी यवनों को शंका और घृणा की दृष्टि से देखा करते थे और उनसे दूर रहने की चेष्टा किया करते थे, पर एक साथ रहने से दोनों जातियों ने एक दूसरे को अवश्य प्रभावित किया।

भारतीय सिक्कों की पद्धति और कला में यूनानी प्रभाव की छाप स्पष्ट मालूम पड़ती है। यूनानी सिक्के अधिक सुन्दर, चिकने और पालिशदार होते थे। भारतीयों ने यूनानी सिक्कों की प्रथा का अनुसरण किया। हिन्दुस्तानी शब्द 'दाम' यूनानी 'द्रख्म' का अपभ्रंश है।

कुछ लोगों का विचार है कि भारतीय नाटकों में पर्दे (जवनिका) का प्रचार यूनानी नाट्यकला से आया। ज्योतिष के क्षेत्र में भी यूनानियों ने हमें प्रभावित किया। नक्षत्र-विज्ञान की कला पर यूनानी ज्योतिष का प्रभाव पड़ा है। पर दर्शन के क्षेत्र में भारतीयों ने यूनानियों को प्रभावित किया। साहित्य के क्षेत्र में भी यूनानियों को भारतीयों ने प्रभावित किया।

वास्तु-कला में इन दो जातियों के सम्पर्क से एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो 'गांधार-शैली' के नाम से विख्यात है। धर्म के क्षेत्र में भारतीयों का प्रभाव यूनानियों पर विशेष रूप से पड़ा। मिनाण्डर जैसा सेनानी भी बौद्ध-दर्शन और धर्म से प्रभावित हुआ। इस प्रकार यवनों को घृणा की दृष्टि से देखने के पश्चात् भी भारतीय और यूनानी एक दूसरे को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावित करते रहे।

नवाँ परिच्छेद

मौर्यवंश के पश्चात् भारत

पुष्य मित्र शुंग

पिछले पृष्ठों में यह बताया गया है कि मौर्यवंश के अन्तिम बादशाह बृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८४ ई० पू० में मार डाला और स्वयं मगध का राजा बन बैठा। पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्मावलम्बियों का नेता था। उसने मगध साम्राज्य की क्षीण होती हुई शक्ति को पुनः संगठित करने का पूरा प्रयास किया। उसने मगध के आस-पास के प्रान्तों को जीतने की कोशिश की और साम्राज्य की केन्द्रीय-सत्ता को दृढ़ बनाया। उसने अवन्ति, बरार (विदर्भ) और अन्य प्रान्तों को जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बनाया।

पुष्यमित्र के शासन काल में यवनों का आक्रमण पश्चिमोत्तर प्रान्त से हुआ। उसे डेमिट्रियस और मिनाण्डर का सामना करना पड़ा। आपस में कई बार घमासान युद्ध हुये। पुष्यमित्र ने यवन आक्रमण का तीव्र प्रतिरोध किया और उन्हें सिन्धु-पार भगा दिया।

पुष्यमित्र ने वैदिक प्रथाओं को पुनः जारी किया। उसने अश्वमेध यज्ञ की परम्परा चलाई। वह बौद्धों का शत्रु था, ऐसा बौद्ध साहित्य में वर्णित है। मालूम होता है कि पुष्यमित्र देश में फैली हुई असन्तोष की भावना से लाभ उठाकर बृहद्रथ का बध किया और फिर से ब्राह्मण धर्म की मर्यादा स्थापित की और उसे राजधर्म बनाया। उसके समय में पाली के स्थान पर संस्कृत की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार लगभग ३६ वर्षों तक उसने सफलतापूर्वक देश में शासन किया। उसकी मृत्यु के बाद मिनाण्डर को उत्तरपश्चिम भारत विजय करने में सफलता मिली होगी।

पुराणों के अनुसार शुंग वंश में १० राजा हुये जिन्होंने १२० वर्ष तक राज्य किया। इस वंश के अन्तिम सम्राट देवभूमि को एक ब्राह्मण सरदार वासुदेव ने मार डाला और एक नवीन वंश की नींव डाली।

कण्व वंश

यह नवीन वंश जिसका संस्थापक वासुदेव था, कण्व वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वंश में कुल चार राजा हुये जिन्होंने ४५ वर्ष तक राज्य किया। इस वंश का प्रभाव-क्षेत्र सीमित था और इनका राज्य-विस्तार भी बहुत कम था। इस वंश के अन्तिम राजा को २६ ई० पू० के लगभग शातवाहन (आंध्र) वंशीय सिमुख ने बध कर डाला और स्वयं राजा बन बैठा।

आंध्र तथा शातवाहन वंश

कण्व वंश के अन्तिम राजा का बधकर मगध पर जिस व्यक्ति ने २७ ई० पू० के लगभग अधिकार किया, उसका नाम सिमुख था। वह आंध्र जाति का सातवाहन वंशीय राजा था। आंध्र जाति का इतिहास अति प्राचीन माना जाता है। आंध्र और सातवाहन में क्या सम्बन्ध था, यह भी आज तक विवाद का विषय बना हुआ है। इस वंश के आदि स्थान के विषय में भी अभी तक मतभेद है। अनुमान किया जाता है कि आंध्र जाति का आदिम स्थान गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच में था। अशोक के शिला-लेखों में भी इनका वर्णन आता है। कुछ दिनों के बाद इन्होंने आंध्र पर अधिकार कर लिया होगा और तभी से सातवाहन राजा आंध्र वंशीय कहे जाने लगे होंगे। ये भी शुंगों की तरह ब्राह्मण ही थे।

सिमुख इस वंश का प्रथम राजा माना जाता है। उसकी राजधानी सम्भवतः पैठन (प्रतिष्ठान) थी जो गोदावरी के तट पर स्थित है। इसी ने मगध पर अधिकार किया था। इस वंश एक प्रसिद्ध राजा शातकर्णि हुआ। वह विजेता और पराक्रमी व्यक्ति था। वह सम्पूर्ण दक्षिणापथ का सम्राट बन गया। महाराष्ट्र भी उसके अधिकार में था। उसने मालवा, पश्चिमी घाट, कोंकण आदि को अपने अधिकार में किया। इसने दो अश्वमेध यज्ञ किये। ज्ञात होता है कि कलिंग के राजा खारवेल के सामने इसे दबना पड़ा था।

शातकर्णि के बाद शकों ने भारत पर आक्रमण किये। इससे आंध्र साम्राज्य को काफी क्षति उठानी पड़ी। पर जब इस वंश में गौतमीपुत्र शातकर्णि नाम का पराक्रमी राजा हुआ तो उसने पुनः इस वंश का प्रभाव बढ़ाया।

उसके समय में पुनः पूरा दक्षिणापथ आंध्र साम्राज्य में आ गया। नासिक के एक शिलालेख में इसकी वीरता और पराक्रम की प्रशंसा की गयी है। उसने क्षत्रियों का मानमर्दन किया, वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना की। उसके साम्राज्य में काठियावाड़, मध्यभारत, उत्तरी कोंकण, विदर्भ, मालवा आदि शामिल थे। उसने लगभग २४ वर्ष तक राज्य किया। गौतमीपुत्र शातकर्णि एक सफल शासक भी था। उसने समाज-सुधार की ओर भी ध्यान दिया। उसने अपने बाहु-बल से पश्चिमोत्तर भारत के शक, यवन, पह्लवों को डराया और उनका मान-मर्दन किया। सन् १३० ई० के लगभग गौतमीपुत्र का लड़का पुलुमावी राजा हुआ। इसे शक शासक रुद्रदामन के साथ युद्ध करना पड़ा जिसमें सातवाहन राजा को मात खानी पड़ी। पर शक राजवंश से उसने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और पुनः दोनों राजवंशों में अच्छा सम्बन्ध हो गया। यज्ञश्री शातकर्णी सातवाहन वंश का अन्तिम प्रसिद्ध राजा था। उसने शकों से अपने प्रान्तों को पुनः प्राप्त कर लिया। उसका राज्य बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत था। उसके सिक्कों पर दो मस्तूल वाले जहाज के चित्र अंकित हैं। इसके बाद के राजा निर्बल थे और सातवाहन वंश का पतन शीघ्रता से होने लगा। लगभग २२५ ई० में इस वंश का अन्त हो गया। दक्षिण में पल्लवों, उत्तर-पश्चिम में शकों और आभीरों की प्रबलता के कारण इस वंश का अन्त शीघ्रता से हो गया।

कलिंग का राजा खारवेल—सातवाहन-काल में कलिंग में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई थी। कलिंग में इस युग का सबसे प्रतापी राजा खारवेल था। उदयगिरि (उड़ीसा में) के हाथी गुफा के विख्यात आर्य लेख से उस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसने सातवाहन राजा शातकर्णि के साथ युद्ध किया और उसे हराया था। उसने राजगृह और मथुरा तक धावा मारा। कहा जाता है कि इसके शौर्य से तत्कालीन भारत के प्रायः सभी राजाओं का प्रकाश फीका पड़ गया था। "पर इतिहास में वह उल्का की तरह आकर पुनः विलीन हो गया और इसका राजवंश भी अंधकार में छिप गया।"

सातवाहन युग की सभ्यता—सातवाहन राजा ब्राह्मण धर्म के प्रचारक और रक्षक थे। उनके शासन काल में वर्णाश्रम धर्म का जोर बढ़ा और

संस्कृत ग्रंथों का निर्माण हुआ। अनुमान किया जाता है कि महाभारत का अधिकांश भाग इसी युग में लिखा गया। तामिल साहित्य में भी इस युग में वृद्धि हुई। शृङ्गार-रस की प्रधान पुस्तक 'गाथा सप्तशती' की रचना इसी युग में हुई थी। 'याज्ञवल्क-स्मृति' का रचना-काल भी इसी समय माना जाता है।

इस काल में ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव में वृद्धि होने के साथ-साथ अश्वमेध, राजसूय यज्ञों का प्रचार बढ़ा। वैष्णव धर्म अधिक लोक-प्रिय हो रहा था पर सातवाहन राजा धर्म के विषय में उदार नीति रखते थे। इस युग में अनेक चैत्यगृह (बौद्ध मन्दिर) और भिक्षुओं के लिए गुहा-विहारों का निर्माण हुआ।

इस युग में लोगों की मुख्य जीविका खेती थी। पर अन्य व्यवसाय और व्यापार की दशा भी अच्छी थी। विभिन्न व्यवसायों के अपने निकाय, निगम या श्रेणियाँ थीं जो विभिन्न व्यवसायों का संगठन करती थीं। व्यापार खूब होता था। सोने और चाँदी के सिक्के चलते थे।

शासन राजतंत्र था। राजा की सहायता के लिए ब्राह्मण मंत्री, पुरोहित, ज्योतिषी, और वैद्य होते थे। इस युग में निकाय या निगम आदि की व्यवस्था अच्छी थी और ये अपने-अपने व्यवसाय का प्रबन्ध अच्छी तरह करती थीं। भारतीय इतिहास में सातवाहन-युग का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

दसवाँ परिच्छेद

शक और कुशान वंश

शक

शक कौन थे ?—मध्य एशिया में सर नदी के पास के उत्तरी प्रदेश में जिसकी राजधानी आजकल तुर्किस्तान है, शक नाम की एक जाति १६५-१६० ई० पू० में रहती थी। इस जाति के लोग घुम्मकड़ प्रकृति के थे। उस समय मध्य एशिया में कुछ ऐसा राजनैतिक उलट-फेर हुआ जिसका गहरा प्रभाव भारत पर पड़ा। उत्तर-पश्चिमी चीन में निवास करने वाली यूची जाति को हूण नाम की एक वर्बर और खूंखार जाति ने परास्त किया और उनसे उनका प्रदेश छीन लिया। यूची जाति के लोगों को विवश होकर नये स्थान की खोज में दक्षिण की ओर बढ़ना पड़ा। मार्ग में उन्होंने शक जाति के निवास स्थान पर अधिकार कर लिया। अतः शक भी वहाँ से भाग खड़े हुए और दक्षिण की ओर बढ़कर उन्होंने वैक्ट्रिया और पार्थिया के राज्यों पर आक्रमण किया। इसके बाद उन्होंने पूर्वी ईरान या शकस्तान पर आधिपत्य जमा लिया, फिर वहाँ से अफगानिस्तान होते हुए शकों ने भारत में प्रवेश किया। भारत आने के पूर्व शकों को पार्थिया के राजाओं से मुठभेड़ लेनी पड़ी थी और उनके साथ कई बार घमासान युद्ध हुए।

भारत में प्रवेश और विजय—लगभग १२०-१२५ ई० पू० में शकों ने सिंध में पूर्ण रूप से अपना अधिकार कर लिया था। उसी विजय के बाद सिंध के प्रदेश का नाम शक द्वीप पड़ा। उसी प्रदेश को आधार बना कर शकों ने उत्तर, पश्चिम और मध्य भारत में अपनी बस्तियाँ बसायीं और अपना प्रभुत्व स्थापित किया। शकों का प्रथम आक्रमण बोलन दर्रे से सिंध के गण राज्यों और यवन राज्यों पर हुआ। इसके बाद सुराष्ट्र के गण-राज्यों को जीत कर शकों ने अपना प्रभाव बढ़ाया। पुनः वे अवन्ति की ओर बढ़े और उज्जयिनी के राजा को परास्त किया। इस घटना के १४ वर्ष बाद (अर्थात्

५७ई० पू० में) उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य ने अपनी शक्ति का संगठन कर शकों को उज्जयिनी से खदेड़ा और विक्रम सम्वत का प्रारम्भ किया। पुनः कुछ वर्षों के बाद शकों ने भारत के विभिन्न भागों पर विशेष तैयारी के साथ आक्रमण किया और अवन्ति, सुराष्ट्र, लाट, महाराष्ट्र, मथुरा में अपना राज्य स्थापित किया। मथुरा को सम्भवतः शकों ने शुंग राजाओं से जीता था। महाराष्ट्र में शकों को सातवाहन राजा गौतमी पुत्र शातकर्णि से युद्ध करना पड़ा था। शकों में सब से प्रतापी राजा रुद्रदामन हुआ। उसके शिला लेख से पता चलता है कि उसने उत्तरी गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, उत्तरी कोंकण, मालवा, राजस्थान के कुछ भाग जीते। सातवाहन राजाओं से भी उसने कई बार युद्ध किया। उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। वह वीर, साहसी, विद्वान और योग्य शासक था। उसने वैदिक धर्म को स्वीकार किया और संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन दिया। शकों के समय में भारत का विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ गया था। शकों ने कालान्तर में हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया और वे हिन्दुओं में घुलमिल गये।

कुशन-वंश

कुशन कौन थे ?—कुशन यूची जाति की एक उप शाखा थी। यूची मूलतः चीन के उत्तर-पश्चिमी भाग के निवासी थे। लगभग १६५ ई० पू० में हूणों ने यूची-प्रान्त पर हमला किया और उन्हें वहाँ से निकाल भगाया। यूची लोग अपनी जन्म-भूमि को छोड़ कर पश्चिम की ओर चल पड़े। आगे बढ़कर यूची जाति के अधिकांश लोगों ने बैक्ट्रिया पर अधिकार किया। वहाँ वे पाँच शाखाओं में विभक्त थे। उन्हीं में से एक प्रमुख शाखा कुशन कहलायी। धीरे-धीरे इसी शाखा ने अन्य सब शाखाओं को अपने में मिला लिया। कुशन बादशाहों के काल-क्रम के विषय में अब तक गहरा मत भेद बना हुआ है। साधारण रूप में कुजुल कदफिस और वीम कदफिस को पहले और कनिष्क तथा उसके बाद के शासकों को बाद में रक्खा जाता है।

कुजुल कदफिस—कुशान वंश का एक प्रतापी राजा था। उसने हिन्दूकुश को पार कर यवन राजाओं पर आक्रमण किया। कुछ दिनों तक काबुल और उसके आस-पास के इलाकों पर कुजुल और यवन राजा ने सम्मिलित रूप से राज्य किया, पुनः कुजुल ने यवनों से अधिकार छीन लिया। इसके बाद उसने गान्धार को जीत लिया। इस प्रकार उसके अधिकार में पूरा अफगानिस्तान और भारत का गान्धार प्रदेश आ गया। ८० वर्ष की अवस्था में प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में उसकी मृत्यु हुई।

वीम कदफिस—कुजुल के बाद उसका पुत्र वीम गद्दी पर बैठा। उसके सिक्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि उसके साम्राज्य में पंजाब, काश्मीर, सिन्धु, और दिल्ली के आस-पास के इलाके सम्मिलित थे। उसने अपने साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में क्षत्रप नियुक्त किये। कहा जाता है कि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पर उसके सिक्कों पर नन्दी, शिव और त्रिशूल के चित्र अंकित हैं। उसने महेश्वर की भी उपाधि धारण की थी। इससे मालूम होता है कि वह शैव मत को मानता था।

कनिष्क—यह कुशान वंश का सब से अधिक प्रतापी, योग्य और शक्तिशाली सम्राट था। कनिष्क के सिंहासनारूढ़ होने की तिथि के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वानों की राय है कि कनिष्क ने कदफिस से पहले शासन किया और उसने विक्रम सम्वत चलाया जो ५८ ई० पू० में आरम्भ होता है। दूसरे विद्वानों ने इस मत को निर्मूल बताया है। अभी तक इस तिथि के विषय में कोई निश्चित मत नहीं तय हो पाया है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कनिष्क ७८ और १२५ ई० के बीच में कभी सिंहासनारूढ़ हुआ था।

कनिष्क की विजय—कनिष्क महान विजेता था। उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी को जीतकर उसे अपने राज्य में मिलाया। पूर्व में उसने साकेत और मगध तक धावा मारा। पाटलिपुत्र से वह प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष को सम्मान पूर्वक अपने साथ ले गया। चीन से भी उसने युद्ध किया। प्रथम प्रयास में वह सफलता नहीं प्राप्त कर सका पर दूसरे प्रयास में उसने चीनी सेना को पराजित किया। अतः काशगर, यारकन्द, खोतान पर उसका

अधिकार हो गया। भारत में इसके साम्राज्य का विस्तार पूर्व में पाटलिपुत्र तक और पश्चिम में सिन्ध तक था। काश्मीर और पंजाब तो उसके साम्राज्य में निश्चित रूप से थे। इस विस्तृत साम्राज्य का शासन वह अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर या प्रवेश द्वार) से करता था।

इस विशाल साम्राज्य का शासन वह किस प्रकार करता था, इस विषय में इतिहासकारों को बहुत कम जानकारी है। केवल इतना ही पता चलता है कि उसने प्रान्तों में 'क्षत्रप' नियुक्त किये थे। मथुरा में उसके महाक्षत्रप खरपल्लान और पूर्व में वनशपर थे।

कनिष्क का धर्म— कनिष्क बौद्ध था, पर उसके सिक्कों पर यूनानी, ईरानी, वैदिक देवताओं के चित्र भी अंकित हैं। इससे कुछ लोग उसके बौद्ध होने में शंका करते हैं। पर अन्य प्रमाणों से यह सत्य मालूम होता है कि वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। विभिन्न धर्मों के देवताओं के चित्रों का उसके सिक्कों में पाया जाना इस बात का द्योतक है कि वह या तो बहुत उदार नीति वाला सम्राट था या अपने सिक्कों पर स्थानीय देवी-देवताओं के चित्र अंकित कराता था। कनिष्क के सिक्कों पर हवन करते हुए चित्र भी अंकित हैं। इससे बातों से यह तो स्पष्ट ही है कि कनिष्क बौद्ध होते हुए भी बहुत उदार था और उसके विचार संकीर्ण नहीं थे।

बौद्ध संगीति—अशोक की तरह कनिष्क ने भी बौद्ध विद्वानों की एक सभा का आयोजन किया। उसने इस महती सभा का आयोजन काश्मीर में कुण्डलवन में किया। इसमें लगभग ५०० बौद्ध भिक्षु और विद्वान सम्मिलित हुए थे। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुमित्र और अश्वघोष इसके सभापति तथा उपसभापति थे। इस सभा में 'त्रिपिटक' के प्रामाणिक भाष्य तैयार किये, बौद्ध धर्म की त्रुटियों को दूर करने के उपायों पर विचार-विमर्श हुआ। कनिष्क ने एक स्तूप बनवाकर 'त्रिपिटक' के भाष्य को उसी में रखवाया।

कनिष्क ने बौद्ध धर्म को भारत के बाहर प्रचारित कराया। इसी के प्रोत्साहन से उत्तरी एशिया में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का प्रचार हुआ।

कनिष्क के समय तक बुद्ध की मूर्ति की पूजा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। इसके पूर्व धर्मचक्र, बोधिवृक्ष और चरणचिन्ह की पूजा होती थी, बुद्ध की मूर्ति की पूजा की प्रथा नहीं थी। कुछ लोग बुद्ध को भगवान भी मानने लगे थे। इन्हीं नई बातों को लेकर बौद्ध धर्म में 'महायान' पंथ चल पड़ा था। कनिष्क के समय में इसी पंथ का अधिक जोर था। नागार्जुन नामक विद्वान ने 'महायान' पंथ को व्यवस्थित रूप दिया। इस पंथ में बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमा की पूजा होने लगी।

साहित्य और कला की उन्नति—कनिष्क साहित्य और कला का प्रेमी और आश्रयदाता था। उसके दरबार में अकबर की तरह विद्वानों का आदर होता था। उसके दरबार में अश्वघोष जिन्होंने 'बुद्धचरित' महाग्रन्थ लिखा है, और नागार्जुन एवं वसुमित्र जैसे धुरंधर विद्वान थे। वसुमित्र ही कुण्डलवन में होने वाले बौद्ध धर्म की चौथी संगीति के सभा-पति थे। आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान 'चरक' कनिष्क के राजवैद्य थे।

अशोक की तरह कनिष्क भी एक महान निर्माता था। उसने अपने शासन-काल में अनेक स्तूपों, नगरों और मठों का निर्माण कराया। उसके समय में पुरुषपुर (पेशावर) तक्षशिला और काश्मीर में कनिष्कपुर जैसे नगर बसाये गये। मथुरा के पास उस समय की अनेक विशाल मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनसे उस समय की वास्तु और मूर्ति कला की उन्नति का अनुमान लगाया जा सकता है।

कनिष्क के समय में मूर्ति-निर्माण की एक नवीन शैली का प्रारम्भ हुआ। इस शैली को "गान्धार शैली" कहा जाता है। ऊपर बताया गया है कि इस काल में बुद्ध की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ तैयार की जाने लगी थीं। उन मूर्तियों के निर्माण की शैली यूनानी शैली के आधार पर विकसित हुई और उसी शैली की अनेक बारीकियों को कनिष्क के शासन काल में कलाकारों ने अपनाया था। कभी कभी इसी प्रभाव के कारण बुद्ध की मूर्ति यूनानी देवताओं-सी निर्मित मालूम होती है। इसी शैली को "गांधार" या "इण्डो हेलेनिक" शैली कहते हैं। इस शैली के प्रयोग का सर्वाधिक क्षेत्र गांधार प्रदेश ही रहा, पर इसका प्रभाव मथुरा, अमरावती और मध्य एशिया तक पड़ा।

लगभग ४५ वर्ष तक शासन करने के उपरान्त कनिष्क का देहान्त हुआ। उसने एक नये सम्वत् का प्रारम्भ किया जिसका प्रयोग उसके उत्तराधिकारियों ने किया। कहा जाता है कि उसकी सैनिक नीति से तंग आकर उसके सैनिकों ने उसकी हत्या कर दी। इसमें संदेह नहीं कि कनिष्क अपने वंश का सर्व प्रमुख सम्राट था। उसमें महान विजेता के गुण थे, वह एक सफल और उदार शासक था, उसे निर्माण-कार्य में विशेष रुचि थी, उसके दरबार में विद्वानों का आदर होता था, वह बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी उदार और उदात्त प्रवृति का व्यक्ति था। उसके शासन काल में भारत का विदेशों से सम्पर्क बढ़ा, उसके प्रयास से बौद्ध धर्म का प्रचार भारत के बाहर दूर-दूर हुआ। अतः भारत के राजाओं में कनिष्क का स्थान बहुत उच्च है।

कुशान वंश का अन्त—कनिष्क के बाद वाशिष्क और उसके बाद हुविष्क कुशान वंश की गद्दी पर बैठे। इनके समय में प्रान्तीय राज्यपालों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इनके बाद बासुदेव गद्दी पर बैठा। उसके सिक्कों पर शिव और नन्दी की मूर्त्तियाँ मिली हैं। इससे अनुमान लगाया जाता है कि वह शैव था। इसके बाद इस वंश का पतन हो गया।

कुशान वंश के पतन के बाद कई शताब्दियों तक भारतीय इतिहास अन्धकार में रहा। इस समय के इतिहास का बहुत कम ज्ञान इतिहासकारों को है। कहा जाता है कुशान-वंश के अन्त के बाद जिस वंश के राजाओं ने भारत के अधिकांश भाग पर शासन किया, उसे "नाग" वंश कहते हैं। पर उनके विषय में हमें विशेष जानकारी नहीं है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

गुप्त-वंश

लगभग ३०० ई० से ५०० ई० तक भारतीय इतिहास में एक ऐसे राजवंश का प्रभुत्व रहा जो अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यह राज वंश गुप्त-वंश के नाम से प्रसिद्ध है और इस वंश के शासन-काल में भारतीय इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है।

भारतीय इतिहास के प्राचीन अभिलेखों में गुप्त वंश का उल्लेख मिलता है। शुंग राजाओं के समय में भी गुप्तवंश के नाम का उल्लेख हुआ है। गुप्त कौन थे, इस विषय पर इतिहासकारों में बहुत मतभेद है। इनका वैवाहिक सम्बन्ध लिच्छवि क्षत्रियों के साथ हुआ था, अतः लोगों की धारणा है कि गुप्त वंशीय राजा क्षत्रिय थे। पर अभी तक इस वंश के मूल पुरुषों के विषय में मतभेद है।

पुराणों के अनुसार इस वंश के राज्य का उदय तीसरी शताब्दी के अन्त में कौशाम्बी के आस-पास कहीं हुआ था। इस वंश के संस्थापक श्री गुप्त थे। वह कहीं कोई साधारण सामन्त था। उसका उत्तराधिकारी घटोत्कच गुप्त था। इस समय तक गुप्त राजा सामन्त ही की स्थिति में थे।

चन्द्रगुप्त—गुप्त वंश का प्रथम स्वतंत्र और प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त था। उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। इसी ने मगध पर अधिकार किया। चन्द्रगुप्त ने कुशन क्षत्रप से मगध छीना था। नेपाल की तराई में राज्य करने वाले लिच्छवि वंश की एक राजकुमारी से चन्द्रगुप्त ने विवाह किया। इससे शक्ति-संचय में उसे बहुत सहायता मिली। लगभग ३१९—२० ई० में चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा और गुप्त-सम्वत् चलाया। इस समय इसके अधिकार में प्रयाग, कोसल (साकेत) और विहार के अधिकांश भाग थे।

समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०)—चन्द्रगुप्त ने स्वयं समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी चुना था। वह उसके गुणों से प्रभावित था। लड़कपन ही से समुद्रगुप्त होनहार था। वह वीर, साहसी, पराक्रमी था और उसे अस्त्र-

शस्त्र की अच्छी शिक्षा मिली थी। साथ ही वह साहित्य और संगीत में भी निपुण था। उसके पिता को उससे बड़ी बड़ी आशाएँ थीं, और समुद्रगुप्त ने उसे पूरा भी किया।

विजय—सौभाग्य से समुद्रगुप्त अपना लिखित इतिहास छोड़ गया है। कौशाम्बी के पास जो अशोक-स्तम्भ था, (यह स्तम्भ आजकल प्रयाग के किले में है) उसी पर समुद्रगुप्त की विस्तृत प्रशस्ति अंकित है। इससे समुद्रगुप्त के विषय में पर्याप्त जानकारी होती है। यह लेख उसके राज-कवि हरिषेण की रचना है। यह पूरी प्रशस्ति शुद्ध संस्कृत में लिखी गयी है। समुद्रगुप्त प्राचीन क्षत्रियों की तरह दिग्विजय और भारत के राजनैतिक एकीकरण में विश्वास करता था।

समुद्रगुप्त को अपने शासन के प्रारम्भिक काल में मगध के कोटकुल और मथुरा के नाग वंशी राजाओं के साथ युद्ध करना पड़ा। इन दोनों दुश्मनों को उसने परास्त किया। इसी विजय के बाद उसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र बनायी।

इसके बाद समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के अनेक राज्यों को जीत लिया। उनमें प्रमुख रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, नागसेन और अच्युत थे। ये राजा मथुरा, पद्मावती (ग्वालियर के पास) आदि स्थानों पर राज्य करते थे। इन राज्यों को समुद्रगुप्त ने बलपूर्वक उन्मूलन किया और उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। इन वियजों के उपरान्त समुद्रगुप्त का राज्य पूरे उत्तरी भारत में फैल गया।

इसके बाद समुद्रगुप्त ने विन्ध्य पर्वत के आस-पास के जंगली राज्यों की ओर ध्यान दिया। उसके स्तूप-लेख से पता चलता है कि समुद्रगुप्त ने इन राजाओं को अपना भृत्य-सदृश्य बना लिया।

विन्ध्याचल पर्वत के आस-पास के राज्यों को जीतने के बाद समुद्रगुप्त ने **दक्षिणापथ** की विजय की ओर ध्यान दिया। दक्षिण के सभी राजाओं को उसने परास्त किया। उसमें से प्रसिद्ध राज्य इस प्रकार थे—(१) कोशल अर्थात् बिलासपुर, रायपुर और सम्भल के आधुनिक जिले जहाँ राजा महेन्द्र राज्य करता था। (२) महाकान्तार का राजा व्याघ्रराज, महाकान्तर सम्भवतः गोंडवाना का जंगली प्रदेश था। (३) केरल अर्थात् कौराल का प्रदेश :

(४) पिष्टपुर आधुनिक पिथापुराम के राजा महेन्द्रगिरि (५) कोट्टूर का राज्य जो सम्भवतः गंजाम जिले में था। (६) कांची जहाँ उस समय विष्णुगोप राज्य करता था। वह पल्लव वंश का राजा था। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के अन्य ६ राजों को भी समुद्रगुप्त ने जीता। इस प्रकार दक्षिण के कुल १२ राज्यों के राजाओं को उसने परास्त किया था। इस विजय के लिए वह उड़ीसा से होकर कांची तक गया। वह महाराष्ट्र और खानदेश होता हुआ लौट आया।

दक्षिणा पथ की विजय में समुद्रगुप्त ने असुर विजय की नीति नहीं अपनायी, बल्कि उसने धर्म विजय नीति का अवलम्बन किया। अर्थात इन राजाओं को परास्त कर उसने उनसे राज्य नहीं छीन लिया बल्कि उनको पुनः लौटा दिया। दक्षिण के उन राजाओं ने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया। समुद्रगुप्त उनसे उपहार और कर लेकर लौट आया।

सीमान्त के राज्यों की विजय—भी प्रयाग के स्तूप लेख में वर्णित है। समुद्रगुप्त ने ५ सीमान्त राज्यों को जीत लिया। ये राज्य भारत के उत्तर पूर्व में स्थिति थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) समतट (दक्षिण पूर्वी बंगाल), (२) दवाक (आसाम का एक भाग), (३) कामरूप (आसाम) (४) नैपाल और (५) कर्तृपुर (गढ़वाल तथा पंजाब का कुछ इलाका) इन पाँचों राज्यों को समुद्रगुप्त ने जीता, पर विजय के लिये उसे युद्ध नहीं करना पड़ा। इन राज्यों ने बिना युद्ध किये ही समुद्रगुप्त के पराक्रम के आतंक से इनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। ये सब समुद्रगुप्त को कर देते थे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे।

इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्त ने ९ गण राज्यों को भी जीता। ये गणराज्य भारत के पश्चिमी और दक्षिणी भाग में स्थित थे। इनमें से प्रसिद्ध गणराज्य मालव, यौधेय, मुद्रक, अभीर आदि थे। इनको भी बिना युद्ध ही के समुद्रगुप्त ने अपने प्रभुत्व में कर लिया।

विदेशों से सम्बन्ध—समुद्रगुप्त के इस पराक्रम का प्रभाव अन्य देशों के राजाओं पर भी पड़ा। उसकी ख्याति दूर दूर फैल गयी। उसने लंका के राजा, पश्चिमोत्तर प्रान्त के शक और कुशन राजाओं को मैत्री पूर्ण संधि करने के लिये विवश किया। उस संधि में इन पड़ोसी राज्यों के राजाओं ने

समुद्रगुप्त को दान देने का वचन दिया। लंका के राजा की प्रार्थना पर समुद्रगुप्त ने बोध गया में भिक्षुओं के रहने के लिये एक विशाल मठ बनवाने की अनुमति दी। हुयेन सांग की यात्रा के समय यह 'विहार' सुरक्षित था।

अश्वमेध यज्ञ—इन विजयों के बाद समुद्रगुप्त ने "सर्व राजोच्छेत्ता" (सब राज्यों का उच्छेद करने वाला) की उपाधि धारण की। उसने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान भी किया। इस यज्ञ के पूरा होने पर उसने सोने के सिक्के चलाये जिन पर एक ओर अश्वमेध घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर रानी की मूर्ति और अभिलेख—अश्वमेध-पराक्रमः—(अश्वमेध के योग्य पराक्रम वाला) अंकित है।

शासन-व्यवस्था—इन विजयों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने भारत में एक बड़े एकात्मक शासन की नींव डाली। उसने सुदृढ़ और संगठित केन्द्रीय शासन को मजबूत किया। उसने नये नये पदाधिकारियों को नियुक्त किया। उनके अनुशासन सम्बन्धी नियम भी पहले के भिन्न थे। उसने स्वर्ण मुद्रा की प्रथा चलायी। वह एक दूरदर्शी व्यक्ति था। अतः पास के राज्यों को जीतकर उन्हें गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया। पर वह जानता था कि दूर दूर के राज्यों को दबाकर उन पर सफल नियन्त्रण रखना उन दिनों कठिन कामथा। अतः उसने नीति से काम किया। दक्षिणा पथ के राजाओं को परास्त किया, उनका मान-मर्दन किया और पुनः उन्हें उनके राज्य लौटा दिये। इस उदारता से वे सदा के लिये समुद्रगुप्त के अधीन रहने के लिये विवश हो गये। ये राजा सम्राट के भक्त बन गये और उन्होंने कभी विद्रोह करने की बात नहीं सोची। भारत की सीमा के बाहर भी सीमान्त राजाओं के साथ समुद्रगुप्त ने मैत्रीपूर्ण संधि की।

इन्हीं सब सफलताओं के कारण प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर विन्सेन्ट स्मिथ ने समुद्रगुप्त की तुलना महान विजेता नेपोलियन से की है। उसने उत्तर, दक्षिण, सीमान्त और अन्य आस-पास के राज्यों को जीता, उन पर अधिकार स्थापित किया और उनसे कर और सेवा ली। नेपोलियन को अपने जीवन में पराजित होना पड़ा, उसकी विजय को उसके शत्रुओं ने अन्त में सारहीन कर दिया, और उसे अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कैदी बन कर अपमान का

जीवन व्यतीत करना पड़ा। पर समुद्रगुप्त ने लगभग ५० वर्ष तक सुख, प्रतिष्ठा और शान्ति से राज्य किया तथा भारत में जो राष्ट्रीय तथा राजनैतिक एकता स्थापित की, वह बहुत दिनों तक अक्षुण्य रही। उसने वैदिक परम्परा पुनः स्थापित की, अश्वमेध यज्ञ की परिपाटी जीवित की, सोने के सिक्के चलाये। अतः समुद्रगुप्त का नाम भारतीय इतिहास में अन्य सब राजाओं से अधिक गौरवमय बन गया है।

साहित्य और कला-प्रेमी—समुद्रगुप्त केवल एक विजेता और रण-कुशल योद्धा ही नहीं था, बल्कि उसे साहित्य, संगीत, कला से भी अपार प्रेम था। प्रयाग के स्तूप लेख में लिखा है कि "वह अपने शास्त्र-ज्ञान से देवताओं के गुरु बृहस्पति को और संगीत एवं ललित-कला के ज्ञान से नारद और तम्बरु को भी लज्जित करता था।" वह स्वयं कविता करता था और उसकी एक उपाधि 'कविराज' भी थी। उसके सिक्कों पर वीणा बजाते हुये समुद्रगुप्त की मूर्ति अंकित है। उसने अपने पुरस्कार से विद्वानों की दरिद्रता को दूर कर दिया था। उसके समय में कला की अच्छी उन्नति हुई थी।

धर्मानुरागी समुद्रगुप्त—समुद्रगुप्त वैदिक धर्म की प्राचीन परम्परा का अनुगामी था। वह शास्त्रों में लिखित मार्ग पर चलता था। वह वैष्णव धर्म को मानने वाला था, पर उसकी उदारता भी बेजोड़ थी। वह सब सम्प्रदायों का आदर करता था। उसी की आज्ञा से बोध गया में लंका के राजा ने "महाबोधि संघाराम" नामक एक विशाल विहार (मठ) बनवाया था। वह दीन-दुखियों, साधुओं और आतुरों पर अपार अनुग्रह करता था।

एक लम्बे और सफल तथा यशस्वी जीवन के बाद लगभग ३७५ ई० में समुद्रगुप्त की जीवन-लीला समाप्त हुई। उसने आधी शताब्दी तक शासन किया और भारत के इतिहास में अपने को अमर बना लिया।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य

[३७५ ई०—४१३ ई०]

रामगुप्त—समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र रामपुत्र गुप्त साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। उसने गद्दी पर बैठते ही शकों ने बड़ा प्रबल आक्रमण किया। रामगुप्त ने डर कर शक राजा को अपनी स्त्री ध्रुव देवी को समर्पण करने का वचन दिया। उसके साहसी और स्वाभिमानी छोटे भाई चन्द्रगुप्त को यह बात बहुत

अपमानजनक मालूम हुई अतः वह स्त्री का वेष धारण कर शक सम्राट के पास गया और उसकी हत्या कर डाली। कहा जाता है कि इसके बाद चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी से विवाह कर स्वयं गद्दी पर बैठा। कुछ इतिहासकार इस घटना को सत्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं और उनकी राय है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७५ ई० में समुद्रगुप्त के बाद ही गुप्त-साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना।

चन्द्रगुप्त द्वितीय—चन्द्रगुप्त बचपन से ही वीर और साहसी था। शक राजा को मारने और खदेड़ भगाने में उसने अनुपम साहस दिखाया था। गद्दी पर बैठने के बाद उसने अपने पिता-पितामह की तरह वैवाहिक सम्बन्ध कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया। उसने नागवंशीय एक राजकुमारी (कुबेर नागा) से विवाह किया। उससे प्रभावती नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका विवाह उसने बरार के वाकाटक राजा रुद्रसेन के साथ किया। इन सम्बन्धों ने चन्द्रगुप्त की स्थिति को मजबूत बना दिया। उसने अपने पुत्र का विवाह कुन्तल के शक्तिशाली राजा की पुत्री से किया। इन वैवाहिक सम्बन्धों से चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय मिलता है।

विजय—(१) चन्द्रगुप्त को सब से अधिक संशय गणराज्यों से था जिन्हें समुद्रगुप्त ने भयभीत कर अपने आधीन किया था। पश्चिमोत्तर भारत में पंजाब, दिल्ली और राजपूताना के कुछ भागों में अनेक छोटे-छोटे गणराज्य थे। वे बड़े स्वतंत्रता प्रेमी थे अतः गुप्त राजाओं की साम्राज्यवादी नीति से मन ही मन असन्तुष्ट रहा करते थे। अतः चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम इन गण-राज्यों का विनाश किया और उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद भारत में गणराज्यों का अस्तित्व बिलकुल मिट गया।

(२) उस समय अवन्ती (मालवा) में क्षत्रपों का जोर था। रुद्रसिंह नामक क्षत्रप का वध कर चन्द्रगुप्त ने उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

(३) इसी समय पता लगा कि पूर्वी सीमान्त के समतट, दवाक तथा तथा कामरूप के राजा चन्द्रगुप्त के विरुद्ध युद्ध करने के लिये [illegible] हैं। गुप्त सम्राट ने उन्हें बुरी तरह पराजित किया और अपने साम्राज्य की सीमा आसाम तक अच्छी तरह दृढ़ कर ली।

(४) इसके बाद दूरस्थित पश्चिमोत्तर सीमान्त के राजाओं की ओर उसका ध्यान गया। वहाँ पंजाब की सब नदियों को पार कर बाह्लिकों (शकों) को मार भगाया। कई शताब्दियों से जो शक भारतीय राजनीति के लिए खतरा बने हुए थे, उनको काबुल के उस पार मार खदेड़ा। शकों को परास्त कर चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

(५) अन्त में चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को जो गुप्त-आधिपत्य से स्वतंत्र होने का प्रयास कर रहे थे, परास्त किया और अपने पराक्रम और प्रताप से पुनः वहाँ अपना प्रभाव स्थापित किया।

इस प्रकार भारत में पुनः गुप्त साम्राज्य की नींव को दृढ़तर बनाकर पूरे देश में चन्द्रगुप्त ने अपना अधिकार बढ़ाया। उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक, पश्चिम में पश्चिमोत्तर प्रान्त और काठियावाड़ से लेकर पूर्व में आसाम तक फैला था। उसके साम्राज्य में बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के प्रसिद्ध बन्दरगाह भी शामिल थे।

शासन की इकाइयाँ—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का साम्राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्तों को भुक्ति कहा जाता था प्रत्येक भुक्ति के लिए एक प्रशासक होता था जिसे उपरिक कहा जाता था। कुछ भुक्तियों (प्रान्तों) में उपारिक (राज्यपाल) के पद पर राजकुमार नियुक्त किये जाते थे। प्रत्येक भुक्ति को कई प्रदेशों में विभाजित किया जाता था और उन्हें विषय कहा जाता था। विषय का प्रशासक विषयपति कहलाता था। उपारिक और विषयपति की सहायता के लिए अनेक अन्य कर्मचारी होते थे। उनमें से प्रमुख दण्डीक, नगर श्रेष्ठी, कुलीक आदि थे। विषय ग्रामों में विभाजित थे और प्रत्येक गाँव के लिए ग्रामिक या भोजक होता था। इस प्रकार साम्राज्य को विभिन्न भागों में विभाजित कर उनके लिए उपयुक्त पदाधिकारी और कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। उन कर्मचारियों को राज्य के कोष से वेतन मिलता था।

सम्राट—इन सब के ऊपर सम्राट होता था। अपनी सहायता और परामर्श के लिए मंत्री नियुक्त किये जाते थे। उन मंत्रियों की नियुक्ति

सम्राट स्वयं करता था। सम्राट के अधिकार असीमित थे और वह राज्य में सर्व-शक्तिमान होता था।

फाह्यान—चन्द्रगुप्त के समय में एक चीनी यात्री फाह्यान भारत आया था। वह सन ४०५ से ४११ ई० तक अर्थात् ६ वर्ष तक भारत में रहा। उसने भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया और देश की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक बातों का विवरण लिखा। वह बौद्ध ग्रंथों के संकलन के लिए भारत आया था, पर उसके विवरण से देश की तत्कालीन स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। फाह्यान ने अनेक कष्टों को झेलते हुए पश्चिमोत्तर प्रान्त के दर्रों से भारत में प्रवेश किया। वह गान्धार, तक्षशिला, पुरुषपुर, (पेशावर) मथुरा, श्रावस्ती, रामग्राम, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगृह, काशी, सारनाथ, आदि स्थानों का भ्रमण करता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ से १४ दिन की समुद्र यात्रा के बाद वह सिंघल गया। फिर जावा से होता हुआ वह स्वदेश वापस लौट गया। फाह्यान को इस लम्बी यात्रा में अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ा। फाह्यान की यात्रा के विवरण से भारतीय इतिहास की जानकारी में अच्छी मदद मिलती है। उसके विवरण की कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

राजनैतिक दशा—फाह्यान ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त का शासन बहुत अच्छा था। प्रजा सुखी थी और उसकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी। राजा की ओर से प्रजा के कामों में कम हस्तक्षेप होता था। राज्य की ओर से बहुत कम कर वसूल किये जाते थे। राज्य की आमदनी का मुख्य साधन भूमिकर था। अपराधियों से जुर्माना वसूल किया जाता था। प्राण-दण्ड की प्रथा नहीं थी। विद्रोह करने वालों का अंग-भंग कर लिया जाता था। राज्य में शान्ति थी। चोरी-डकैती का नाम नहीं था। प्रजा के मन में सम्राट के प्रति आदर और भक्ति थी।

सामाजिक दशा—फाह्यान के विवरण से मालूम होता है कि उस समय लोग धनी, धर्मात्मा और विद्या-प्रेमी और सत्यवादी थे। अधिकांश लोग मांस, प्याज, लहसुन, शराब आदि नहीं खाते थे। शराब की दुकान शहरों के भीतर नहीं रहती थीं।

यात्रियों के सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रक्खा जाता था। उनके लिए मार्ग में विश्राम-स्थल और औषधालय की व्यवस्था होती थी। औषधियाँ मुफ्त मिलती थीं।

धार्मिक अवस्था—बौद्ध धर्म की अवनति की दशा में थी; मगध तथा उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म के मानने वाले बहुत कम थे। पर पंजाब, बंगाल में अभी इस धर्म का काफी प्रचार था। इन स्थानों में वैष्णव धर्म का प्रचार अधिक था और सम्राट स्वयं परम भागवत था। परन्तु राज्य की ओर से किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं होता था और नागरिकों को पूरी धार्मिक स्वतंत्रता थी।

पाटलिपुत्र का वर्णन—फाहयान राजधानी (पाटलिपुत्र) में तीन वर्ष तक रहा। उस समय वहाँ दो बड़े सुन्दर बौद्ध मठ थे। इन मठों में लगभग ६०० भिक्षु रहते थे। उस समय तक अशोक का बनवाया हुआ विशाल महल खड़ा था जो अत्यन्त मनोरम और बड़ा था। उसे देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया था। पाटलिपुत्र में एक बड़ा सार्वजनिक औषधालय था। जहाँ रोगियों को मुफ्त दवा दी जाती थी। लोगों में दान देने की प्रथा खूब थी। पाटलिपुत्र उस समय बहुत ही समृद्धशाली नगर था।

इस प्रकार फाह्यान के विवरण से चन्द्रगुप्त के शासन-काल की बहुत सी बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। देश में धन-धान्य की प्रचुरता थी। खाने-पीने की चीज़ों का बाहुल्य था। चीज़ें खूब सस्ती थीं। ब्राह्मण और बौद्ध में शिक्षा का अधिक प्रचार था। जनश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त के दरबार में नौ रत्न रहा करते थे जो अपनी विद्वात्ता के लिए अमर बन चुके हैं। उनका परिचय अगले पृष्ठों में किया जायगा। इस प्रकार एक सफल, यशस्वी और भारतीय संस्कृति के उन्नायक के रूप में लगभग ४० वर्षों तक शासन करने के बाद सन् ४१४ ई० में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इस संसार से विदा लिया।

कुमार गुप्त (सन् ४१४-४५५ ई०)—ध्रुवदेवी से पैदा हुआ चन्द्रगुप्त का पुत्र कुमारगुप्त गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। सन् ४५६ ई० के लगभग वह परलोक सिधारा। इस लम्बे शासन-काल में उसने अपने

साम्राज्य को सुसंगठित और सुरक्षित रक्खा। उसने अपने कुल की रीति के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किया। उसने 'महेन्द्रादित्य' की उपाधि धारण की।

कुमार गुप्त के शासन काल में उसका पुत्र घटोत्कचगुप्त पूर्वी मालवा का राज्यपाल था। पश्चिमी मालवा में एक सामन्त बंधुवर्मन शासक था। कुमार गुप्त के वृद्धावस्था में उसके साम्राज्य पर पश्चिम से हूणों ने बहुत भयंकर आक्रमण किया। उन आक्रमणकारियों को रोकने के लिए उसने अपने पुत्र स्कन्दगुप्त को एक सुसज्जित सेना के साथ भेजा। अन्त में स्कन्दगुप्त ने उन्हें परास्त किया और शत्रु की शक्ति भी छिन्न-भिन्न हो गयी।

स्कन्दगुप्त (सन् ४५५-४६७ ई०)—कुमारगुप्त के बाद स्कन्दगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त वीर, साहसी और बलवान सम्राट था। पिता के शासन-काल में हूण-आक्रमण के रूप में आयी हुई आपत्ति का सफलता से उसने सामना किया था। उसने उस समय तो हूणों को मार भगाया, पर हिन्दूकुश के आस-पास हूणों का जो जमघट एकत्रित हो गया था, उससे भारत को एक स्थायी और बड़ी आशंका पैदा हो गयी थी।

हूण-आक्रमण—स्कन्दगुप्त को सबसे बड़ी आफत का सामना हूण-आक्रमण के रूप में करना पड़ा। हूण एक खूंख्वार जाति थी जो चीन की पश्चिमी सीमा पर मध्य एशिया में रहती थी। ये अपना स्थान छोड़कर इधर-उधर पर्यटन करते और मार्ग में भीषण रक्त-पात करते गान्धार तक पहुँच गये। स्कन्दगुप्त के गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद ये हूण टिड्डी-दल की तरह उसके साम्राज्य पर टूट पड़े। स्कन्दगुप्त ने उन्हें परास्त किया। पर हूण-आक्रमण का सिलसिला जारी रहा और स्कन्दगुप्त को उन्हें रोकने के कार्य में बहुत परेशानी उठानी पड़ी। इस संकट का सामना करने में राजकोष का बहुत धन व्यय करना पड़ा और इसीलिए स्कन्दगुप्त ने अपने शासन के अन्तिम काल में नकली धातु के सिक्के चलाये। स्कन्दगुप्त इन कठिनाइयों को सहते हुए देश की रक्षा करने में समर्थ रहा। उसका देहावसान लगभग ४६७ ई० में हुआ।

स्कन्दगुप्त ने शासन-व्यवस्था की भी पर्याप्त ध्यान दिया। उसने अयोध्या को भी अपनी राजधानी बनायी क्योंकि वह हूण-आक्रमण रोकने के लिए अधिक उपयुक्त स्थान था उसने भी 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

गुप्त साम्राज्य की अवनति——सन् ४६७ ई० में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हुई। उसके उपरान्त इस वंश के कई राजा हुए और उन्होंने अपनी सत्ता बनाये रखने का भरपूर प्रयास किया। पर दिन-दिन उनकी शक्ति क्षीण होती जा रही थी। छठीं शताब्दी के मध्य तक वे हूणों से लोहा लेते रहे, पर उसके बाद गुप्त वंशीय राजा मगध में स्थानीय राजा के रूप में ही रह गये।

गुप्तवंशीय राजाओं की अवनति और साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के कई कारण बताये जाते हैं। (१) स्कन्दगुप्त के बाद हूणों ने अपने आक्रमण का सिलसिला जारी रक्खा और इन बर्बर हूणों ने गुप्त साम्राज्य की नींव को बिलकुल हिला दिया। (२) हूण-आक्रमण के कारण साम्राज्य के प्रांतीय शासकों को स्वतन्त्र होकर मनमानी करने का अवसर मिला। सर्वप्रथम सौराष्ट्र पुनः मालवा और बंगाल के प्रांतीय शासकों ने अपने को स्वतंत्र बना लिया और धीरे-धीरे साम्राज्य के अन्य अंगों ने भी अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। (३) इन बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोहों से साम्राज्य की आर्थिक दशा पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। आर्थिक दशा के खराब होने से शासन प्रबन्ध में भी अस्त-व्यस्तता आ गई। (४) कहा जाता है कि गुप्तवंश के अंतिम सम्राटों ने बौद्ध धर्म को अपनाया था। अतः उनमें सामरिक नीति के प्रति अरुचि हो गयी और इससे भी साम्राज्य को क्षति पहुँची क्योंकि उन दिनों कड़ी सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता थी। (५) यह भी सच है गुप्त साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। उन दिनों जब यातायात के साधन सुकर नहीं थे, डाक व्यवस्था का उचित प्रबन्ध नहीं था सैनिकों के स्थानान्तरित करने में अनेक प्रकार की असुविधाएँ थीं, इतने बड़े साम्राज्य का बहुत दिनों तक सुसंगठित ढंग से व्यवस्थित रहना संभव नहीं था।

गुप्त कालीन शासन-व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति

गुप्तकाल के राजवंश का प्रभुत्व सन् ३२० ई० से ४८८ ई० तक रहा। इस वंश में चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त आदि प्रमुख सम्राट हुए। इन सम्राटों ने अपने साहस, वीरता, पराक्रम एवं राजनैतिक दूरदर्शिता से काम लिया और पूरे देश को एक सुदृढ़ शासन-सूत्र में संगठित कर एक लम्बी अवधि तक भारत में शांति और व्यवस्था स्था-

पित की। इस प्रकार के वातावरण में देश में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में एक अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसका संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

शासन व्यवस्था

(१) **केन्द्रीय शासन**—गुप्त सम्राट साम्राज्यवादी थे और उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर भारत के दूरस्थ प्रदेशों तथा राज्यों को पराजित कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। साम्राज्य की शक्ति का प्रधान स्रोत उनकी विशाल सेना थी जिस पर सम्राट का पूर्ण नियंत्रण होता था। राजा अपने साम्राज्य का सार्वभौम शक्ति-संपन्न प्रधान था। उनका राजतन्त्र निरंकुश था और मंत्रियों की नियुक्ति सम्राट अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार करता था। उनके कार्यों पर भी सम्राट का पूरा नियंत्रण होता था। सम्राट प्रायः अपने जीवनकाल में ही अपना युवराज नियुक्त करते थे। समुद्रगुप्त को उसके पिता ने इसी प्रकार अपना युवराज नियुक्त किया था। सम्राट अपने को बड़ी बड़ी उपाधियों से विभूषित किया करते थे। 'महाराजाधिराज', 'परम भट्टार्क', 'चक्रवर्ती', 'परमेश्वर', 'परमदैवत', 'परभागवत' आदि उपाधियाँ अधिक प्रचलित थीं। वास्तव में गुप्त-काल महान सम्राटों का युग था जिसमें सम्राट प्रायः दीर्घजीवि, साहसी, शूर, पराक्रमी, योद्धा और राज-काज में निपुण थे। उनमें कला, साहित्य और संस्कृति के प्रति में अपार प्रेम और उत्साह था।

सम्राट के न्याय पर प्रजा को अटूट विश्वास था। सम्राट दरबार में बैठकर न्याय किया करते थे। गुप्तचरों द्वारा उसे साम्राज्य के कोने-कोने की खबरें मिला करती थीं। वही प्रांतीय शासकों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति किया करता था। मंत्रियों में एक प्रमुख होता था जिसे प्रधान मंत्री कहा जा सकता है, पर मंत्रियों का काम केवल परामर्श देना था, सम्राट उनकी राय मानने या न मानने के लिए पूरा स्वतंत्र था। पर राष्ट्र सचिव को महा संधि विग्रहिक कहते थे। अक्षपटलाधिकृत राजधानी के सचिवालय का प्रधान था और सब प्रकार के शासन-तंत्र की देखरेख रखना उसके अधिकार

में था। मंत्रि-परिषद में युवराज भी रहता था। महाबलाधिकृत और महादंड-नायक क्रमशः सेना और न्याय के मंत्री होते थे।

(२) प्रान्तीय शासन—गुप्त साम्राज्य में एकात्मक शासन प्रणाली थी। पर राज्य-व्यवस्था के लिए साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभाजित किया जाता था। इन प्रांतों को भुक्ति कहते थे। कुछ प्रांत देश भी कहलाते थे। भुक्ति कहलानेवाले प्रांतों में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति, तीर भुक्ति, श्रावस्ती भुक्ति, नगर भुक्ति आदि थे और देश नाम में सुराष्ट्र देश, सुकुलि देश मुख्य थे। देशों के शासक को गोप्ता या गोप्तृ कहते थे। भुक्ति के शासक उपारिक महाराज के नाम से प्रचलित थे। कुछ प्रांतों (भुक्तियों) में राजवंश के लोग उपारिक नियुक्त किये जाते थे। देश और भुक्ति को जिलों में विभाजित किया जाता था जिन्हें प्रदेश या विषय कहा जाता था। इन विषयों में प्रमुख शासक राजा की ओर से नियुक्त किये जाते थे। उन्हें विषयपति, कुमारामात्य या आयुक्तक कहते थे। ये ही अपने जिले में शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा के लिये उत्तरदायी समझे जाते थे।

ग्राम—शासन की लघुतम इकाई ग्राम होता था। ग्राम का मुखिया ग्रामिक या भोजक कहलाता था। ग्रामों में ग्राम-सभा भी होती थी। गाँवों की देख-रेख करने वाला राजा की ओर से नियुक्त कर्मचारी को ग्राम-भृतक कहते थे। ग्राम-सभा का काम गाँव के तालाब, चरागाह, मन्दिर, न्याय आदि की देखभाल करना था।

नगर—नगरों की देखभाल और उनका प्रबन्ध विषयपति किया करते थे। इस काम में एक परिषद उनकी सहायता करती थी। इस परिषद में नगर सेठ, प्रधान सौदागर, प्रधान शिल्पी, भूमि के मूल्य का निर्धारण करने वाला रहता था। नगरों में एक प्रकार के व्यवसायवालों की अपनी श्रेणियाँ होती थीं और इन श्रेणियों के संगठन का मुख्य आधार आर्थिक था, पर ये सामाजिक व्यवस्था के लिए भी नियम बनाती थीं। उनके अपने मामलों में राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था।

(३) सैनिक विभाग—गुप्त सम्राटों की सेना विशाल और संगठित थी। गुप्त-कालीन अभिलेखों में चतुरंगिणी सेना का उल्लेख मिलता है। इस

विभाग के प्रधान अधिकारी को संधि-विग्रहिक कहते थे। सेना के प्रधान के हाथ में परराष्ट्र सम्बन्धी काम भी रहता था। सेना में विभिन्न श्रेणी और विभाग के पृथक पृथक अधिकारी होते थे। उस समय दुर्गों का अधिक महत्व था। सीमान्त के बड़े दुर्गों में अधिक सेना रक्खी जाती थी। बड़े-बड़े युद्धों में सेना का नियंत्रण और संचालन सम्राट स्वयं करता था।

आन्तरिक शान्ति के लिए पुलिस विभाग होता था। इस विभाग के प्रमुख अधिकारी को दण्ड पाशाधिकृत कहते थे। उसके नीचे चोर पकड़ने वाले, लाठी धारण करने वाले तथा अन्य प्रकार के सिपाही होते थे। गुप्तचरों की व्यवस्था भी अच्छी थी। चोरी, डाका का नाम भी नहीं सुनने में आता था। फाह्यान ६ वर्षों तक इस देश में भ्रमण करता रहा, उसे कहीं चोरी और डाके का नाम भी नहीं सुनने को मिला। उसने देश की आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

(४) राजस्व-विभाग—यह विभाग शासन का एक प्रमुख विभाग था। इसकी आमदनी का मुख्य स्रोत भूमि-कर था। भूमि की माप होती थी. उपज को देखकर लगान नियत किया जाता था। प्रायः उपज का $\frac{1}{6}$ भाग भूमि-कर के रूप में वसूल किया जाता था। इसके अतिरिक्त और अन्य प्रकार के १७ कर लगाये जाते थे। जिनमें व्यापार-कर, न्याय-शुल्क, अर्थदण्ड, उपहार, माण्डलिक राजाओं से प्राप्त कर मुख्य थे। सुवर्ण के सिक्कों का प्रचलन था। छोटे-छोटे क्रय-विक्रय के लिए कौड़ियों का भी प्रयोग होता था। जङ्गलों, चरागाहों से भी आमदनी होती थी। बेगार की प्रथा भी थी।

(५) न्याय-प्रशासन—गुप्त काल में चार प्रकार के न्यायालयों का वर्णन है - कुल, श्रेणी, गण और राजकीय न्यायलय। इनमें से प्रथम तीन न्यायलय जनता के अपने थे और चौथा विभाग राजकीय था। अपील की प्रथा थी और राजा के पास अन्तिम अपील होती थी। गुप्त वंश के सम्राट अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध थे। फाहयान ने व्यव[illegible] की है। उसने लिखा है कि अपराध कम होते थे। [illegible] [मृ]त्यु-दण्ड की प्रथा नहीं थी। राजद्रोह के अपराध में हाथ-पैर काटने का दण्ड मिलता था। जनता विधि के अनुसार आचरण करती थी। ग्राम-सभा न्याय की सबसे छोटी अदालत थी। अर्थ-दण्ड की प्रथा उस समय थी।

(६) लोकोपकारी कार्य-विभाग—गुप्त वंश के शासक आदर्श शासक थे और प्रजा के हित की रक्षा करना, उन्हें सुखी बनाना उनके मुख्य कार्य थे। अतः इस उद्देश्य को पूरा करने वाले कार्यों में उन्होंने रुचि दिखाई थी। इस विशाल साम्राज्य के प्रशासन के लिए देश भर में अनेक सड़कें बनायी गयीं। सिंचाई के लिए विशेष ध्यान दिया गया। सुराष्ट्र जैसे दूर प्रान्त में सुदर्शन झील की मरम्मत स्कन्दगुप्त ने करवायी क्योंकि उससे खेती के लिए सिंचाई का पानी प्राप्त होता था। फाह्यान ने लिखा है "कि देश में स्थान-स्थान पर औषधालय स्थापित थे जहाँ से लोगों को मुफ्त में औषधि मिलती थी। शिक्षा के लिए भी राज्य की ओर से विद्यालय चलाये जाते थे जहाँ अध्यापक तथा विद्यार्थियों के लिए राजा भूमिदान करता था और वृत्तियाँ देता था। सड़कों पर धर्मशालाएँ और विश्राम-गृह बने थे। नागरिकों में भी दान की अत्यधिक प्रवृत्ति पायी जाती थी। तीर्थ स्थानों में धर्मार्थ अन्न-क्षेत्र खुले हुए थे। गुप्त कालीन सिक्कों पर यह अंकित है कि राजा पृथ्वी को जीत कर और सुरक्षित रख पुण्य कार्यों से स्वर्ग को जीतता है।"

इन बातों से स्पष्ट है कि गुप्तकाल में राजकीय शासन-व्यवस्था अत्युत्तम और सुनिश्चित थी। सम्राटों का काम इस युग में अपनी शक्ति को ही बढ़ाना-मात्र न था, बल्कि वे शक्ति-संचय और साम्राज्य-विस्तार से अधिक शासन-व्यवस्था और लोकहित के कार्यों में रुचि लेते थे। इसीलिए चीनी यात्री फाह्यान गुप्तकालीन शासन से अत्यधिक प्रभावित हुआ था और इतिहासकार स्मिथ ने तो अपनी राय देते हुए लिखा है कि प्राच्यशैली के अनुसार इससे अच्छा शासन भारत में कभी हुआ ही नहीं।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक उत्थान

गुप्तकाल की शासन-व्यवस्था में राष्ट्र के जीवन के हर क्षेत्र में आशातीत उन्नति का अवसर था। इस युग में "भारतीय जीवन में आत्म चेतना, आत्म-संस्कार और विकास की भावना उत्पन्न होने लगी। गुप्तों की दिग्विजय, आदर्श शासन, उदार नीति और विद्या तथा कला के प्रेम ने इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय जीवन इस काल में

सभी क्षेत्रों में अभिव्यक्त और समुन्नत दिखायी पड़ता है और बहुत से इतिहास-कार इस काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग मानते हैं।"

(१) सामाजिक अवस्था—बौद्ध धर्म के प्रभाव से तथा यवन, शक, कुशान आदि विदेशी जातियों के आगमन एवं आवास से भारतीय सामाजिक व्यवस्था में काफी ढीलापन आ गया था। पर गुप्तकाल में भारतीय समाज में दृढ़ता आ गयी और समाज ने विदेशियों को आत्मसात् कर लिया। वे विदेशी भारतीय समाज और वर्ण के अन्दर मिला लिये गये और भारतीय समाज के अङ्ग बन गये। इस प्रकार उन विदेशी तत्वों को अपनाकर गुप्त वंश के राजाओं के प्रोत्साहन से "लुप्त वैदिक परम्परा पुनः जागरूक हो उठी और सामाजिक सङ्गठन में वर्णों की महत्ता बढ़ने लगी। गुप्तकालीन अभिलेखों में वर्णों की चर्चा अधिक पायी जाती है। प्रत्येक वर्णों ने अपने कर्मों को पुनः सतर्कता से पालन करना शुरु किया। ब्राह्मण वर्ण अध्ययन-अध्यापन करने में; क्षत्रिय क्षात्र-धर्म और प्रजा-रक्षण के काम में, वैश्य कृषि, वाणिज्य में और शूद्र समाज की शारीरिक सेवा में रत रहते थे। केवल चाण्डाल, श्वपच आदि समाज से बाहर रहते थे। इनके विषय में फाह्यान ने लिखा है कि चाण्डालों को दुष्ट समझा जाता था और वे अन्य लोगों से अलग रहते थे। यदि वे नगर में जाते थे तो अपने से दूसरों को बचाने के लिए लकड़ी बजाते हुए चलते थे। चाण्डाल केवल शिकार करते और मांस बेचते थे।" फाह्यान के कथनानुसार देश में चाण्डालों के अतिरिक्त न कोई मदिरा पीता था और न कोई प्याज और लहसुन खाता था।

गुप्तकालीन अभिलेखों से मालूम होता है कि उस समय अन्तर्जातीय विवाह होते थे। क्षत्रिय गुप्त-राजाओं का विवाह वाकाटका ब्राह्मणों के यहाँ हुआ था। विधवा विवाह की प्रथा भी उस समय थी। साधारण जनता में अतिथि-सत्कार, शिष्टाचार तथा दान एवं जन-सेवा की भावना पर्याप्त मात्रा में थी।

(२) धार्मिक अवस्था—गुप्त काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और इस कार्य में सम्राट भी सहायक थे। सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञ की प्रथा को पुनः चलाया। विष्णु, ब्रह्मा, शिव के प्रति भक्ति की भावना का सूत्रपात इसी

युग में हुआ। देवताओं और देवियों की मूर्तियाँ मनुष्य के आकार की बनी और उनकी पूजा का प्रचार हुआ।

इस युग में बौद्ध धर्म का क्रमशः ह्रास हो रहा था। बंगाल की तरफ इस धर्म का कुछ प्रचार और प्रभाव अधिक था। उस समय महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों का प्रभाव था। पर बौद्ध धर्मक्रमशः हिन्दू धर्म में विलीन हो रहा था। हिन्दू धर्म के मानने वाले भी बुद्ध को आदर और भक्ति की दृष्टि से देखने लगे थे। शासकों की ओर से बौद्ध धर्म के प्रचार में किसी प्रकार की अड़चन नहीं पैदा की जाती थी। बौद्धों को आचार-विचार, पूजा आदि में पूरी स्वतंत्रता थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति एक बौद्ध था। इससे मालूम होता है कि बौद्धों को राज्य में ऊँचा से ऊँचा पद प्राप्त हो सकता था। अधिकांश गुप्त शासक वैष्णव थे पर उनकी धार्मिक नीति उदार थी। चन्द्रगुप्त ने गया में बौद्ध-विहार के निर्माण में योग दिया था। फाह्यान के अनुसार देश में कहीं किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था और विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के मानने वालों में सद्भावना और मैत्री का सम्बन्ध था।

(३) कला—गुप्तकाल में कला के केन्द्र सारनाथ और नालन्दा हो गये थे। गान्धार कला ने इस युग में शुद्ध भारतीय रूप धारण कर लिया था। (१) 'तत्कालीन स्थापत्य या भवन निर्माण के सुन्दर नमूनों में झाँसी जिले का दशावतार मन्दिर, कानपुर जिला में भीतर गाँव का मन्दिर, बोधि गया का बौद्ध मन्दिर अपने ढंग की अद्भुत कृतियाँ हैं। अजन्ता और एलौरा के कुछ गुहा-विहार, सारनाथ का एक स्तूप, मेहरौली का लौह स्तम्भ गुप्तकाल के सुन्दर स्मारक हैं। उस समय के लोहे के ढले स्तम्भ शताब्दियों से खुले स्थान में धूप और वर्षा में रह कर भी ज़ंग से और अन्य किसी तरह प्रभावित नहीं हुए हैं।' (२) गुप्तकालीन मूर्तिकला भी कल्पना, भाव-व्यंजना, गठन की बनावट, मुद्रा की विशेषता के कारण भारतीय कला की अनुपम निधि बन गयी है। मूर्तियों में प्रभा-मण्डल की विशेषता एक आकर्षक गुण हो गयी है और वे अपने लावण्य, गम्भीरता और भाव-व्यंजना में बेजोड़ है। सारनाथ की बुद्ध की मूर्ति जो धर्म-चक्र प्रवर्तन-मुद्रा में है, इस काल की मूर्तिकला का अनुपम देन है। (३) चित्रकला के क्षेत्रमें भी गुप्त काल की देन अनुकर-

णीय है। अजन्ता और एलौरा (हैदराबाद राज्य में) की गुफाओं की चित्रकारी आज भी हमारे गौरव की वस्तु बनी है। इनमें भावनाओं का प्राधान्य हैं, इनमें एक अजीब सजीवता है जो इन चित्रों को प्रभावोत्पादक बनाये हुए है। (४) संगीत के क्षेत्र में भी यह युग बहुत ही प्रबल रहा। स्वयं सम्राट समुद्रगुप्त ने भी अपने सिक्कों पर वीणा सहित अपना चित्र अंकित कराया था। इस युग के साहित्य में भी संगीत की पर्याप्त चर्चा पायी जाती है। (५) इस युग की मुद्राएँ भी अधिक संख्या में पायी गयी हैं। वे अधिकतर सोने की होती थीं। उन पर सुन्दर चित्र अंकित किये जाते थे और दूसरी तरफ राजाओं की कीर्ति और उपाधियाँ लिखी जाती थीं।

(४) आर्थिक जीवन—गुप्तकाल में देश धन-धान्य से पूर्ण था और लोग सुखी थे। फाह्यान ने लिखा है कि मध्यदेश के नागरिक धनी तथा सम्पन्न हैं तथा सद्व्यवहार एवं दान शक्तियों में एक दूसरे से बढ़ने का प्रयत्न करते हैं।' देश में व्यापार खूब होता था और सड़कें अधिक थीं। उद्योगों और व्यापारों के अनुसार विभिन्न नियम तथा श्रेणियाँ या गण संगठित होते थे। उनका अपना नियम और संगठन तथा कोष होता था। इस युग में विदेशों के साथ भी व्यापार होता था। रोम, चीन के साथ होने वाले व्यापार का वर्णन में उस युग के अभिलेखों में मिलता है।

(५) साहित्य की उन्नति—इस युग में संस्कृत साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। 'ब्राह्मण-धर्म की उन्नति के साथ-साथ संस्कृत भाषा भी सजीव और प्रतिभावान हो उठी। विदेशी शासक (रुद्र दामन) भी इसके प्रभाव से अपने को नहीं बचा सका। वैदिक धर्मानुरागी सम्राटों का प्रोत्साहन द्वारा संस्कृत ने राजभाषा का रूप धारण कर लिया। सरकारी अभिलेख और आदेश इसी भाषा में निकलने लगे। प्रयाग की समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भाषा की प्रौढ़ता, सौष्ठव और अलंकार एवं व्यंजना की उत्कृष्ट नमूना है। इस युग में बौद्ध साहित्य भी पाली के स्थान पर संस्कृत में ही लिखा जाने लगा।

इस युग में साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ। गुप्त सम्राट स्वयं विद्वान और विद्या-प्रेमी थे। समुद्रगुप्त ने 'कविराज' की उपाधि धारण की थी। जनश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबार में नौ रत्न रहते थे जो

अपने-अपने क्षेत्र में उद्भट विद्वान थे और जिनकी सृजनात्मक प्रतिभा से आज भी भारतीय साहित्य सम्पन्न बना हुआ है। कालिदास का जगत प्रसिद्ध नाटक 'शकुन्तला' मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी काव्य-ग्रंथ रघुवंश, मेघदूत, कुमार-सम्भव इस युग की अनुपम साहित्यिक कृतियाँ हैं। 'मुद्रा राक्षस' के रचयिता विशाखदत्त, अमरकोष के प्रणेता अमरसिंह तथा वैद्यराज धन्वन्तरि इसी काल के रत्न थे। दार्शनिक लेखकों में दिङ्नाग, वात्सायन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में आर्यभट्ट, वराह-मिहिर सदा के लिए अमर हो गये हैं। विष्णु शर्मा भी इसी काल में पैदा हुए थे जिन्होंने 'पंचतंत्र' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की है। पुराणों, महाभारत, रामायण के अन्तिम रूप इसी काल में प्रस्तुत हुए जो आज तक हमें अनुप्राणित करते आ रहे हैं। बौद्ध लेखकों में आचार्य मैत्रेय, वसुबन्धु, कुमारजीव, धर्मपाल इसी युग की देन हैं। इस प्रकार गुप्त काल में शुद्ध साहित्य, विज्ञान, गणित, धर्म, दर्शन और शिल्प के क्षेत्र में जो प्रगति हुई, वह अद्भुत और अनहोनी-सी प्रतीत होती है।

भारतीय संस्कृति का प्रसार—गुप्त काल में भारतीय संस्कृति और विद्या का प्रसार विदेशों में भी हुआ। इस युग में भारत और चीन का सम्बन्ध अपेक्षाकृत घनिष्ट हो गया। यहाँ से अनेक विद्वान चीन गये। उनमें से कुमारजीव सब से प्रसिद्ध हैं। फाह्यान ने भी भारतीय दर्शन एवं धर्म को बाहरी देशों तक पहुँचाने में एक माध्यम का काम किया। इसी प्रकार सुमात्रा, जावा, बाली आदि देशों तक भारतीय धर्म एवं दर्शन के प्रचारक गये और वहाँ के लोगों को भारतीयता की प्रौढ़ता में विश्वास पैदा किया। इसी समय काश्मीर के एक युवराज गुणवर्मा ने जावा में जाकर वैष्णव धर्म का प्रचार किया। पश्चिमी देशों में भी भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ। "इस काल की अजन्ता की चित्रकारियों में एक ऐसा दृश्य है जिसमें भारत के राजा की सभा में ईरानी दूत-मण्डल का आगमन दिखाया गया है।" इस सांस्कृतिक प्रचार एवं प्रसार के साथ-साथ भारतीय व्यापार का क्षेत्र भी व्यापक हो गया। इस युग में प्रति वर्ष लाखों रोम के सोने के सिक्के (दीनार) भारत में आने लगे थे और चीन से चीनांशुक (चीन का रेशमी वस्त्र) भी भारत में आता था। इस समय हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप समूहों

में भारतीय राजवंश के लोग और बहुत से व्यापारी स्थायी रूप से बस गये और भारतीय संस्कृति और व्यापार के अच्छे माध्यम बन गये। इस युग में बंगाल में ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह बहुत समृद्धशाली हो गया था। यहीं से पूर्वी द्वीप-समूह, चम्पा, कम्बोडिया तथा अन्य पूर्वी देशों के साथ व्यापार होता था। इसी बन्दरगाह से फाह्यान चीन वापस गया था।

भारत के पश्चिमी भाग में स्थित सुपारा तथा भड़ौंच बन्दरगाहों से रोम तथा अन्य पश्चिमी देशों के साथ व्यापार होता था। भारत से सुगंधित तैल, आभूषण, कपड़े, हाथी दांत से बनी सुन्दर वस्तुएँ, रेशमी कपड़े और मसाले रोम तथा यूरोप के नगरों में बिकते थे। कहा जाता है कि इस युग में दक्षिणी भारत के कुछ राज्यों में सैनिक सेवा कर रोम के कतिपय नागरिक अपना जीविकोपार्जन करते थे। विदेशों से सोना, चाँदी, खजूर, घोड़े, कपूर आदि चीजें भारत में आती थीं। देश में स्थायी शान्ति और सुव्यवस्था होने के कारण व्यापार तथा कला की पर्याप्त उन्नति हो रही थी।

बारहवाँ परिच्छेद

रोम साम्राज्य का उत्थान और पतन

पिछले अध्यायों में आपने मगध-साम्राज्य के उत्थान-पतन का इतिहास पढ़ा है। मगध-साम्राज्य ने मौर्य और गुप्त वंशीय राजाओं के समय में भारत तथा संसार के अन्य कतिपय देशों को राजनैतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभावित किया। उन सम्राटों के शासन-काल में भारत के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक तथा साहित्यिक जीवन में अनेक प्रकार की नवीन बातों का प्रादुर्भाव एवं सामंजस्य हुआ जिनका गुणानुवाद आज भी हम गौरव एवं सन्तोष के साथ करते हैं। ठीक इसी प्रकार का एक साम्राज्य इटली के रोम नगर में संगठित हुआ जिसने पाश्चात्य देशों पर एक अमिट छाप डाली और जिसकी जानकारी के बिना संसार के मानव इतिहास की कहानी अधूरी ही रह जायगी। रोम का इतिहास तत्कालीन यूरोप तथा एशिया के अधिकांश भाग का इतिहास बन गया। रोम के उत्थान-काल से प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा का अन्त हुआ और रोम का इतिहास अर्वाचीन इतिहास की भूमिका के रूप में हमारे समक्ष आया। "रोम के आधिपत्य की स्थापना के साथ सारा प्राचीन इतिहास उसमें विलीन हो गया और रोम के स्रोत से आधुनिक इतिहास का सूत्रपात हुआ।" यूरोप की आधुनिक राज्य-प्रणाली का आधार रोमन साम्राज्य के शासन की प्रणाली ही है। यूनानी सभ्यता को अपनाकर रोमन साम्राज्य के शासकों ने उसे अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित किया और रोमन सम्राटों ने ही ईसाई धर्म का प्रचार किया। अतएव रोमन साम्राज्य का विश्व के इतिहास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

रोम—रोम इटली में टाइबर नदी के किनारे समुद्र से लगभग १२ मील की दूरी पर स्थित है। प्रारम्भ में यह एक साधारण गाँव था जिसका क्षेत्रफल ५ मील से भी कम था। बाद में यूनानी ढङ्ग पर वह एक नगर राज्य बना और पुनः कुछ काल के बाद वह नगर संसार के एक विशाल साम्राज्य

की राजधानी बन गया। रोम के उत्थान-पतन की यह कहानी बड़ी रोचक और महत्वपूर्ण है।

रोम-निवासी भी आर्य जाति के थे। आर्यों की शाखा यूनान में बस गयी थी, उसी प्रकार की एक दूसरी रोम के आस-पास जा बसी। १५०० ई० पू० के लगभग उन आर्यों ने इटली में प्रवेश किया, "पर लगभग १००० वर्ष तक उनका सितारा नहीं चमका और वे केवल दिन काटते रहे। लगभग ७५३ ई० पू० में रोम वालों ने प्रजातंत्र शासन की नींव डाली और वह प्रजातंत्र लगभग ढाई सौ वर्षों तक चलता रहा। उस समय तक रोम वालों ने कोई विशेष प्रगति नहीं की और उनका जीवन साधारण ढङ्ग से व्यतीत होता रहा।

रोम में नया जीवन—लगभग ५०० ई० पू० में रोम में नयी शासन-प्रणाली का सूत्रपात हुआ; उसी के साथ रोम में नया जीवन शुरू हुआ। उस समय रोम में दो व्यक्ति साथ ही शासक बनाये जाते थे जो 'कौंसल' कहलाते थे। उनके अधिकार विस्तृत होते थे। कौंसल का चुनाव १ वर्ष के लिए होता था। इसी युग में रोम ने अपना विस्तार-कार्य शुरू किया। इटली में आर्य जाति की एक और शाखा 'एट्रस्कन' नाम की थी जो अधिक प्रबल हो गयी थी। रोम वालों ने संघ बना कर एट्रस्कन जाति को पराजित किया। इसके बाद रोम-निवासियों को 'गाल' नाम की एक खूंखार और बर्बर जाति का सामना करना पड़ा। 'गाल' जाति के सैनिकों से लोहा लेने में रोम वालों को बहुत क्षति उठानी पड़ी, पर अन्त में विजय-श्री इन्हीं के हाथ लगी। धीरे-धीरे रोम ने पूरे इटली को आत्मसात् कर लिया और रोम-राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गयी।

तीन महाद्वीपों में रोम साम्राज्य का विस्तार—लगभग २८० ई० पू० में रोम वालों का यूनान के साथ संघर्ष प्रारम्भ हुआ। यूनान के विरुद्ध युद्ध में रोम वालों का साथ कारथेज के राजाओं ने दिया। दो बार पराजित होने के बाद रोम वालों ने कारथेज की सहायता से यूनानियों को परास्त किया। २७५ ई० पू० में यूनानियों ने हार मानकर रोम की अधीनता स्वीकार की।

इसके बाद कारथेज की बारी आयी। "साम्राज्यवादी अपने स्वार्थ और साम्राज्य-लिप्सा के सामने मित्रता को कोई महत्व नहीं देते। एक समय का मित्र कारथेज अब रोम वालों की आँखों का काँटा बन गया।" उस समय कारथेज उत्तरी अफ्रीका के समुद्री तट पर एक समृद्धशाली व्यापारी देश था। व्यापार के लिए कारथेज वालों ने सिसली, कार्सिका, सार्डीनिया, तथा स्पेन तक अपना प्रभाव एवं प्रभुत्व स्थापित किया था। रोम वालों ने विस्तार-नीति को अपनाया, अतः कारथेज उनका शत्रु हो गया। इन दोनों देशों में २६४ ई० पू० युद्ध का श्री-गणेश हुआ और लगभग १२० वर्ष तक इनमें संघर्ष चलता रहा। इन लम्बे युद्धों में दोनों दलों की सेनाओं की मुठभेड़ अनेक स्थानों पर हुई और हजारों व्यक्तियों को तलवार के घाट उतरना पड़ा।

कारथेज का एक सेनापति हैनिबाल इन्हीं युद्धों में अमर बन गया। वह अपने समय का एक योग्यतम सेना-नायक था। उसने रोम की बढ़ती शत्रुता और उनकी विजय का बदला लेने का दृढ़ संकल्प किया। कहा जाता है कि उसने कारथेज की पराजय का बदला लेने के लिये लगभग एक लाख सैनिकों की एक विशाल सेना का संगठन किया। उसने स्पेन जीत लिया, फ्रांस के रास्ते वह रोम-साम्राज्य पर टूट पड़ा। दो युद्धों में उसने रोमन सेना को बुरी तरह पराजित किया। तीसरी बार भी रोमवालों को हारना पड़ा, पर रोमवालों ने इसके बाद अपने युद्ध के ढंग को बदल दिया और ८ वर्षों तक लगातार लुक-छिप कर युद्ध करने के बाद रोम के सैनिक कारथेज-सैनिकों को इटली से बाहर निकालने में सफल हुये। कारथेज और रोम में संधि २०२ ई० पू० में हुई और कारथेज को अपने सारे उपनिवेश रोमवालों को दे देने पड़े। इस अपमान-जनक संधि के कारण हैनिबाल को इतना आत्म-क्षोभ हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली।

रोमवाले इतने ही से संतुष्ट नहीं थे। वे कारथेज को मिटाकर ही संतोष करना चाहते थे। अतः प्रथम संधि के बाद ५० वर्षों के पश्चात् वे पुनः कारथेज पर टूट पड़े। कारथेज नगर को भस्मीभूत कर बर्बाद कर दिया और वहाँ के निवासियों को गुलाम बनाया। उस समय रोमन साम्राज्य का कौंसल 'सीपियो' था। जिस कारथेज का भूमध्य सागर में ५०० वर्षों तक तूती

बोलती थी, और लोग हैनिबाल के डर से काँपते थे, वही कारथेज विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया कारथेज विस्तृत और रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त हो गया।

इस समय रोमन साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। यूनान उसका एक प्रान्त था। सीरिया के सम्राट पर दोषारोपण कर उसे भी हरा दिया गया और इस प्रकार सीरिया रोमन साम्राज्य का एक भाग हो गया। क्रीट, साइप्रस, मिस्र भी साम्राज्य में मिला लिये गये। स्पेन भी रोम के आधीन था। इस प्रकार जब शुंग वंश के राजा भारत में राज्य कर रहे थे, तब रोमन साम्राज्य का विस्तार स्पेन से लेकर एशिया माइनर तक हो चुका था। उस समय रोमन साम्राज्य में अफ्रीका, योरप और एशिया के अधिकांश देश शामिल थे।

युद्धों का रोम पर प्रभाव—इन युद्धों के कारण रोम की सैनिक शक्ति का विकास हुआ और दूर-दूर के राज्य उसके आधीन हो गये। युद्धों में विजय के कारण रोम की प्रतिष्ठा बढ़ गयी, रोम में अपार धनराशि इकट्ठी होने लगी। विजित देशों से गुलामों को पकड़ लाने की प्रथा ने रोम ने विलासिता को प्रोत्साहन दिया। नयी इमारतें, नयी सड़कें, मकान, मनोरंजन के साधनों में वृद्धि होने लगी। एथेन्स की सांस्कृतिक प्रतिभा को रोमवालों ने अपनाया। धीरे-धीरे लोगों में अधिकारों की माँग की भावना जोर पकड़ने लगी। इसीलिए उनमें कभी कभी गृह-युद्ध भी होने लगा। इस दशा में प्रजातंत्र के दिन लद चुके और लोगों का झुकाव राजतन्त्र की ओर हुआ। इस वातावरण में सेनानायकों का प्रभाव बढ़ने लगा। उस समय पैम्पी और जुलियस-सीजर इसी प्रकार के सेना-नायक थे और सीजर इन सबमें अधिक प्रभावशाली हो गया था।

जुलियस-सीजर—सीजर का जन्म १६० ई० पू० में हुआ था। वह बड़ा ही कुशल राजनीतिज्ञ और वीर सेना-नायक था। उसमें रचनात्मक प्रतिभा थी और वह सिकन्दर तथा हैनिबाल की श्रेणी का व्यक्ति था। कुछ दिनों बाद वह अपनी प्रतिभा के कारण कौंसल के पद पर नियुक्त हुआ। उसने पूरे फ्रान्स पर विजय प्राप्त की। इंगलैण्ड को भी परास्त कर सीजर ने वहाँ अधिकार कर लिया। सीजर ने मिस्र को भी जीता और वहाँ की रानी क्लियो-

पेट्रा से प्रेम करने लगा। वहाँ से लौटकर उसने अपना पद स्थायी बना लिया। इस प्रकार एक लम्बी अवधि से चलती हुई प्रजातन्त्र-प्रणाली का उसने अन्त कर दिया और उसके स्थान पर सैनिक तानाशाही का प्रारम्भ रोम में किया। ४४ ई० पू० उसके मित्रों ने एक षड्यंत्र कर उसे मार डाला। सीजर रोम के एक महान व्यक्तियों में से था। "उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी और सेनापति, शासक, विधायक, राजनीतिज्ञ, तथा लेखक के रूप में उसने एक समान यश और सफलता प्राप्त की थी।"

रोम साम्राज्य—जुलियस सीजर के बाद रोम में प्रजातन्त्र का वाह्य रूप भी समाप्त हो गया। साम्राज्य का बँटवारा हो गया। पूर्वी भाग में एंटोनी और पश्चिमी भाग में आक्टेवियन (आगस्टस) सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित हुए। बाद को एंटोनी के मृत्यु के बाद आगस्टस ही रोमन साम्राज्य का सम्राट हुआ। ई० पू० ३१ से १४ ई० पू० तक विस्तृत रोमन साम्राज्य पर उसने शासन किया। आगस्टस का शासन-काल रोमन इतिहास में स्वर्णयुग कहा जाता है क्योंकि इस युग में रोमन साहित्य, स्थापत्य कला तथा दर्शन की बहुत उन्नति हुई थी। इसी के शासन-काल में ईसाई-धर्म के प्रणेता महात्मा ईसा का जन्म फिलिस्तीन में हुआ था।

आगस्टस के बाद रोमन-साम्राज्य के अनेक नामी शासक हुए। उन्होंने साम्राज्य का विस्तार किया, अच्छा शासन-प्रबन्ध किया, अनेक सुन्दर तथा विशाल भवनों के निर्माण कराया। पर उनके शासन-काल में नौकरशाही का प्राधान्य हो गया। इस समय भारत और रोम के बीच खूब व्यापार होता था और रोम के लाखों सिक्के भारत आते थे। रोम ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर केवल शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में ही सफल नहीं हुआ, बल्कि पूर्व और पश्चिम को मिलाने में भी उन्होंने पर्याप्त योग दिया।

सन् १८० ई० के बाद रोमन साम्राज्य की अवनति शुरू हो गयी। चौथी शताब्दी में प्रसिद्ध सम्राट कांस्टेंटाइन ने साम्राज्य की राजधानी रोम से हटा कर कान्स्टेंटिनोपुल बनायी। रोम धीरे धीरे श्री-हीन होने लगा। रोम के सिपाही निरुत्साहित होने लगे। गाथ जाति के सैनिकों ने रोम को लूटा, और एशिया की हूण जाति ने साम्राज्य के पूर्वी भाग को लूटा। हूण रोम तक

धावा मारने लगे। भारत में हूणों की एक शाखा के बार बार धावा करने से गुप्त वंशीय साम्राज्य को छिन्न भिन्न होना पड़ा था, उसी समय हूण आक्रमण-कारियों ने रोम की रीढ़ भी तोड़ दी।

रोमन साम्राज्य के पतन के कारण—रोमन साम्राज्य के पतन के कई कारण थे। इनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार थे—

(१) रोमन साम्राज्य लगभग ६०० वर्षों तक शक्तिशाली रहा। पर अन्तिम काल में कांसटैन्टाइन ने रोम से राजधानी को कांसटेण्टीनोपुल में स्थानान्तरित कर गलती की और उसके उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य को दो भागों में विभाजित कर लिया। इससे रोम की प्रतिष्ठा और शक्ति को बहुत धक्का लगा। इससे राजनैतिक एकता नष्ट हो गयी और साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी।

(२) आगस्टस के बाद साम्राज्य में कुशल शासक बहुत कम हुए। उनमें से दो चार को छोड़कर शेष या तो क्रूर थे या निकम्मे। नीरो जैसा क्रूर और निकम्मा शासक रोमन साम्राज्य के लिए कलंक था। इससे रोमन साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला।

(३) रोमन साम्राज्य की प्रधान शक्ति सेना पर निर्भर थी। कुछ दिनों के बाद सेना में कुछ विशेष दोष आ गये। रोमन साम्राज्य की उस विशाल सेना के अधिकांश सैनिक वेतन-भोगी थे और उनमें राष्ट्र-प्रेम या स्वदेश गौरव की भावना लेश मात्र भी नहीं थी। वे केवल पैसे के लिए युद्ध करते थे। उनके लिए देश रक्षा का महत्व बिलकुल नहीं था। तो उनमें उत्साह था और न वे योग्य थे। शत्रुओं से मिलकर पैसा कमाना उनका काम हो गया था। ऐसे सैनिकों के बल पर साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था।

(४) दूरस्थ प्रान्तीय शासक मौका पाकर मनमानी करने लगते थे। इतने बड़े साम्राज्य को सम्भालना बहुत योग्य और अनुभवी शासकों का काम था। उत्तरकालीन शासकों में ऐसी योग्यता नहीं थी। उस समय प्रान्तीय शासकों ने स्थिति से लाभ उठाया और स्वतन्त्र होने लगे।

(५) रोमन साम्राज्य में व्यवस्था को अधिक प्रधानता दी गयी थी। नैतिक सिद्धान्तों के प्रचार पर उस समय बहुत कम ध्यान दिया गया। अतः उच्च श्रेणी के लोगों और शासकों में भ्रष्टाचार का जोर बढ़ गया और उन्होंने जनता की सहानुभूति खो दी। इससे देश में राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति की भावना का समुचित विकास नहीं हो पाया।

(६) साम्राज्य की विशालता से कुछ वर्ग अति धनी और साधन-सम्पन्न हो गया था। अतः उनमें विलासिता और भ्रष्टाचार का जोर अधिक हो गया। उन्होंने सामाजिक शोषण और अनैतिक वातावरण पैदा कर दिया जिससे देश-वासियों में राज्य के प्रति क्षोभ की भावना बढ़ गयी। एक तरफ कुछ लोग धनराशि में लोटते थे और दूसरी तरफ अधिक लोग गरीबी और दासता के भी दिन काटते थे। इससे समाज खोखला हो गया। दासों के साथ जैसा अमानुषिक व्यवहार किया जाता था, उसकी याद से ही हृदय काँप उठता है। गुलामों के साथ किया गया व्यवहार रोमन साम्राज्य के लिए अमिट कालिमा का धब्बा है। उन गुलामों के मन में शासन के प्रति क्या भक्ति हो सकती थी?

(७) ईसाई धर्म के उदय से भी रोमन साम्राज्य को क्षति पहुँची। कुछ समय तक ईसा के अनुयायियों के प्रति अत्याचार हुआ, इससे साम्राज्य के प्रति अश्रद्धा बढ़ गयी। पुनः जब रोमन सम्राट ने इस धर्म को अपनाया तो इसमें अनेक प्रकार के मतमतान्तर पैदा हो गये और उनसे आपसी मतभेद के कारण वातावरण विषाक्त हो गया।

(८) रोमन साम्राज्य के अन्तिम काल में बाह्य आक्रमणों का बहुत बुरा परिणाम हुआ। उनसे साम्राज्य की दीवालें हिल उठी और नींव दुर्बल हो गयी। गाथ जाति ने, जर्मन लोगों ने और हूणों ने एक साथ ही साम्राज्य को क्षति पहुँचायी। हूणों ने एक सन्धि में साम्राज्य के आधे भाग की माँग की थी। ऐसी दशा में असन्तुष्ट जनता ने उनका स्वागत भी किया और उनका साथ भी दिया।

रोमन सभ्यता एवं संस्कृति

रोमन लोगों ने अपनी महान सफलता और कार्यों से विश्व इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। "इस जाति के उत्थान में अनुशासन

और भक्ति का बहुत बड़ा स्थान था। आज्ञा पालन और परिवार तथा राज्य के प्रति भक्ति इनके विशेष गुण थे।"

रोमन साहित्य पर यूनानी साहित्य और कला का बहुत प्रभाव पड़ा। इटली का महान साहित्यकार वर्जिल इस काल की देन है जिसने 'इनीड' नामक महाकाव्य की रचना की "जिसमें रोम की आत्मा मुखरित हो उठी।" उसके अतिरिक्त होरेस, सिसरो, प्लीनी आदि विद्वान इसी युग की देन हैं जिनका ऋणी यूरोप आजतक बना है। स्थापत्य कला पर भी यूनानी प्रभाव पड़ा। रोम सुन्दर तथा विशाल महलों, मन्दिरों, जलाशयों से चमकने लगा।

धर्म के क्षेत्र में रोमन उदार थे। वे जुपिटर को रोम का रक्षक मानते थे। मार्स युद्ध के देवता और मिनरवा विद्या की देवी थीं। पर रोमवालों ने यहूदियों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया क्योंकि वे एक ईश्वर में विश्वास रखते थे और रोम के सम्राट की पूजा को तैयार नहीं थे। पर बाद को ईसाई धर्म को रोम के लोगों ने स्वीकार किया। यहूदियों के अतिरिक्त अन्य धर्म वालों के साथ वे उदारता का बर्ताव करते थे। ईसाई धर्म का पोषक तथा प्रचारक होने का गौरव इसी साम्राज्य को प्राप्त हुआ। रोमनों ने ईसाई धर्म को विश्वधर्म के पद पर बैठा दिया। यह सच है कि रोमनों के कारण ईसा को फाँसी हुई और उसके अनुयायियों को तलवार के घाट उतरना पड़ा, पर यह भी सत्य है कि ईसाई धर्म की वर्तमान सफलता और प्रचार का मुख्य श्रेय रोमन सम्राटों को ही है।

रोमवालों का समाज दो मुख्य वर्गों में विभाजित था। एक वर्ग सरदारों का और दूसरा वर्ग साधारण जनता का था। प्रथम वर्ग के हाथ में राजशक्ति थी और दूसरे वर्ग के लोगों को कोई राजनैतिक अधिकार नहीं प्राप्त थे। इसके लिए बाद में दोनों वर्गों में पर्याप्त संघर्ष हुआ और साधारण जनता को भी राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए। साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ एक गुलामों का भी वर्ग बन गया जिनकी संख्या रोम में बहुत अधिक हो गयी थी। उनके साथ कभी-कभी बहुत बुरा व्यवहार होता था। वे पशुओं की भाँति बेंचे जाते थे और उनसे बहुत कड़ा काम लिया जाता था। समाज के उच्च वर्ग के लोगों में आमोद प्रमोद के साधन अधिक प्राप्त थे वे। नृत्य,

तमाशे, सरकस आदि के बहुत शौकीन थे। कुछ विशेष प्रकार की प्रतियोगितायें भी संगठित होती थीं और कभी-कभी गुलामों को हिंसक पशुओं के समक्ष फेंक दिया जाता था। इस प्रकार के क्रूर और अमानवीय मनोरंजन का रोम में अधिक प्रचार था।

रोमन साम्राज्य में सैनिक संगठन का बहुत महत्व था। सैनिकों की संख्या लगभग तीन लाख थी। इसके अनेक भाग थे। सर्व श्रेष्ठ भाग 'लिजन' कहलाता था। इसमें रोम के नागरिक सैनिक थे और प्रत्येक नागरिक को २० वर्ष तक इसमें सैनिक जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इसके बाद सहायक सेना होती थी। इसमें रोम के नागरिक नहीं होते थे। इस भाग में सिपाहियों को २५ वर्ष तक नौकरी करनी पड़ती थी। यह सेना साम्राज्य की सीमा की रक्षा करती थी। एक प्रकार के सैनिक सम्राट के अंग रक्षक होते थे। उन्हें "प्रिटोरियन गार्ड" कहा जाता था। इनको अच्छा वेतन मिलता था और अधिक आदर होता था। इसी सैनिक प्रभाव के कारण रोमन लोगों में अनुशासनप्रियता, आज्ञापालन, देश प्रेम जैसे गुण उनके चरित्र के अभिन्न अंग बन गये।

रोमन साम्राज्य के कारण लैटिन भाषा का प्रचार हुआ। इस भाषा ने यूरोप की मानसिक शक्ति को प्रौढ़ बनाया। "वर्तमान समय में स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इटली, रुमानिया आदि लैटिन देश कहे जाते हैं क्योंकि इस देश के निवासी लैटिन भाषा से मिलती-जुलती भाषा बोलते हैं।" इन भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द आज भी लैटिन की ही देन हैं। विधि निर्माण के काम में बाद की पीढ़ियाँ रोम को कृतज्ञता के साथ स्मरण करती है क्योंकि रोमनों के अधीन शासन, व्यवस्था, विधि का खूब विकास हुआ था। इन बातों में यूरोप आजतक रोम का ऋणी है।

तेरहवाँ परिच्छेद

हूणों की भारतीय विजय

हूण कौन थे ?—पिछले अध्यायों में आप ने पढ़ा है कि भारत के गुप्त-साम्राज्य और इटली के रोम-साम्राज्य के अन्तिम दिनों में चोट पहुँचाने वाली एक हूण नामक जाति थी। आप ने यह भी पढ़ा है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० में मध्य एशिया से यूची या कुशान जाति को उनके प्रदेश से मार भगाने वाली जाति हूण ही थी। इनका निवास स्थान एशिया के स्टेप्स का एक भाग था। पर ये सुविधा और आवश्यकता के अनुसार इधर-उधर घूमा करते थे और इनका जीवन पर्यटन-वन गया शील था। लूट-खसोट इनका मुख्य पेशा था। वे असभ्य, बर्बर और निर्दयी होते थे और उनके पास लूट के लिए एक विशाल सेना होती थी। अपने शत्रुओं को निर्दयता पूर्वक मार डालने में, उनकी सम्पत्ति लूट लेने में, उनके घर आदि जला देने में इन्हें तनिक भी संकोच नहीं था। कुछ दिनों बाद वे भोजन और चरागाह की खोज में पश्चिम और दक्षिण की ओर चल पड़े। इन हूणों ने अपने पर्यटन से यूरोप, एशिया और भारत की राजनीति और राजवंशों को बहुत अधिक प्रभावित किया। इनकी एक शाखा यूरोप में चली गयी और जर्मनी, इटली तक को इन्होंने रक्तरंजित किया। इन्हीं की एक दूसरी शाखा फारस पहुँची और वहाँ से भारत में प्रवेश किया।

हूणों का भारत में प्रवेश—सन् ४५५-५६ में गुप्त वंश के सम्राट कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद स्कन्दगुप्त मगध साम्राज्य का सम्राट हुआ। कुमार गुप्त के शासन के अन्तिम काल में हूणों ने गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर आक्रमण किया। उस प्रथम प्रयास में स्कन्दगुप्त ने गुप्त साम्राज्य के सेनापति के पद से उन्हें मार भगाया और हूणों का यह प्रयास विफल हुआ। गुप्त कालीन एक शिलालेख में लिखा है कि "जब युद्ध के बीच स्कन्दगुप्त हूणों से जा टकराया, तब उसने अपनी भुजाओं के पराक्रम से पृथ्वी हिला दी।"

उस गहरी चोट के बाद हूण इतने डर गये कि उन्होंने कुछ दिनों तक भारत में प्रवेश करने का साहस तक नहीं किया। इसी समय हूण ईरान के सम्राटों पर भी चोटें कर रहे थे और उस दिशा में उन्हें सफलता भी मिली। सन् ४८४ ई० में उन्होंने ईरान के सम्राट को पराजित किया और उसको तलवार के घाट उतार दिया। जब वे उस ओर से निश्चिन्त हुए तो पुनः भारत पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगे।

तोरमाण—हूणों के द्वितीय आक्रमण का नेता तोरमाण था। उसके नेतृत्व में इस बार हूण टिड्डी दल की तरह भारत पर टूट पड़े। उस समय स्कन्दगुप्त जैसा कोई वीर नहीं था जो हूणों को मार भगाये। गुप्त सम्राट निर्बल हो गये और उनकी केन्द्रीय शक्ति भी क्षीण होती जा रही थी। अतः इस बार के हूण-आक्रमण से गुप्त-साम्राज्य की नींव हिल गयी। तोरमाण ने पश्चिमी भारत को अपने अधिकार में कर लिया और शाकल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनायी। पंजाब में उसके सिक्के अधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं। ४८५ ई० के बाद तोरमाण मध्य भारत की ओर बढ़ा और मालवा को जीतकर अपने आधीन कर लिया। इससे गुप्त साम्राज्य को बहुत क्षति हुई क्योंकि गुप्तों का राज्य मगध और बंगाल के कुछ हिस्से तक ही सीमित रह गया।

मिहिरकुल—तोरमाण के पश्चात मिहिरकुल हूणों का नेता और राजा हुआ। उसने बौद्ध मन्दिरों तथा बिहारों को ध्वस्त किया, लूटा और उनका नाश किया। जब उसने गुप्त सम्राट भानुगुप्त पर आक्रमण किया तो उसे नीचा देखना पड़ा। युद्ध में गुप्त सम्राट ने उसे बन्दी बनाया था। पर वह पुनः मुक्त होकर भाग गया और काश्मीर में जाकर उसने शरण ली। काश्मीर के राजा ने अतिथि की तरह उसकी सेवा की, पर धोखा से मिहिरकुल ने काश्मीर का राज्य भी हस्तगत कर लिया। मिहिरकुल को मालवा भी खो देना पड़ा क्योंकि मालवा में एक नये पराक्रमी राजा यशोवर्मन का आधिपत्य हो गया जिसने सन् ५३० ई० के लगभग मिहिरकुल को मात दिया।

मिहिरकुल की इन पराजयों से हूणों की शक्ति को भारत में बहुत धक्का लगा। यद्यपि उसकी मृत्यु के बाद भी कुछ दिनों तक हूण यहाँ बने रहे, पर

धीरे धीरे उनका प्रभाव घटता गया और वे भारतीय समाज में आत्मसात् हो गये।

हूण-आक्रमण से गुप्त-साम्राज्य की शक्ति और प्रभाव को अधिक क्षति पहुँची। पश्चिमी भारत से बौद्ध मठों तथा उनके प्रभाव को मिटाने में भी हूणों का अधिक हाथ रहा। हूणों को सम्मिलित करने से भारतीय समाज में कई नयी उप जातियाँ बन गई। उनके कारण हिन्दुओं के आचार-विचार का स्तर कुछ नीचा गिर गया और हिन्दू-समाज में अनेक कुप्रथाओं का प्रवेश हो गया। उस समय तक हूण जैसी बर्बर जाति को अपने में मिला लेने तथा पचा लेने की शक्ति भारतीय समाज में थी। "हूणों की शक्ति, उनकी संख्या, स्फूर्ति और नृशंसता में थी। उनमें राज्य संगठन और राज्य-संचालन की प्रतिभा नहीं थी। यही कारण है कि उनके पैर यूरोप और भारत दोनों ही स्थानों पर स्थायी रूप से नहीं जम सके।"

चौदहवाँ परिच्छेद

वर्द्धन राजवंश

गुप्त साम्राज्य के ह्रास के बाद—गुप्त वंश के पतन के बाद भारत में पुनः अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। हूणों का वर्णन अभी किया जा चुका है। पर उनका राज्य और प्रभाव अधिक दिनों तक नहीं रहा। दूसरा राज्य **मालवा** बन गया। कुछ दिनों तक मालवा गुप्तवंशीय राजाओं के अधिकार में रहा। पुनः वहाँ एक राजा यशोवर्मन भारत के राजनीतिक आकाश में उल्का की तरह चमक गया। हूण नेता मिहिरकुल को भी उससे परास्त होना पड़ा। तीसरा राज्य **वलभी** (सुराष्ट्र में भावनगर के निकट) में एक गुप्त सम्राट के सेनापति भट्टार्क ने स्थापित किया। वहाँ का एक प्रसिद्ध राजा ध्रुवसेन (द्वितीय) था जो कन्नौज सम्राट् हर्षवर्धन का समकालीन था। **सिन्धु** में भी एक नये राज्य की स्थापना हुई। जनश्रुति के अनुसार वहाँ का राजा शूद्र वर्ण का था। यह राज्य लगभग आठवीं सदी के प्रारम्भ तक चलता रहा। पूर्व में भी गुप्तों के पश्चात कई राज्य स्थापित हो गये। इनमें से प्रसिद्ध **गौड** राज्य था। इस राज्य का प्रसिद्ध राजा शशांक, हर्ष का समकालीन था। गौड के दक्षिण-पूर्व में **वंग** और उत्तर-पूर्व में **कामरूप** के राज्य थे। उड़ीसा के नीचे आन्ध्र में भी एक स्वतंत्र राज्य था। सुदूर दक्षिण में **पल्लव, चोल** और **कदम्ब** आदि राज्य थे। महाराष्ट्र और कर्नाटक में लगभग ५५० ई० में पुलकेशिन ने **चालुक्य** वंश की नींव डाली।

गुप्त वंश की मूल शाखा के विनाश के बाद लगभग ५३० ई० में **मगध** में उसी कुल के एक व्यक्ति ने पुनः राज्य स्थापित किया। यह वंश काफी दिनों तक चला। कान्यकुब्ज में **मौखरी** वंश की स्थापना हुई थी। यह वंश बहुत प्राचीन था। पर शक्ति शाली राज्य के रूप में इस वंश का उदय गुप्त-साम्राज्य के ह्रास के बाद ही हुआ। उसी समय थानेश्वर में पुष्यभूति वंश का प्रभाव बढ़ा। मौखरी और पुष्यभूति के राजवंशों में मैत्री का सम्बन्ध था।

वर्द्धन-राजवंश

मौखरी वंश की स्थापना कान्यकुब्ज में हुई थी। कहा जाता है कि इस वंश की स्थापना पुष्यभूति नामक एक व्यक्ति ने की थी। वह शिव का अनन्य भक्त था। आगे चलकर इस वंश में नरवर्द्धन नामक एक राजा हुआ और इस प्रकार इस वंश को वर्द्धन राजवंश कहा जाने लगा। गुप्त साम्राज्य के ह्रास से लाभ उठा इस वंश के राजाओं ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। इसी वंश के एक राजा आदित्य वर्द्धन ने गुप्त राजकुमारी महासेन गुप्ता से विवाह किया था और अपना प्रभाव बढ़ाया था। आदित्यवर्धन के पुत्र प्रभाकर वर्धन ने अपने को शक्तिशाली और स्वतंत्र राजा बना लिया था। उसने अपना राज्य और प्रभाव क्षेत्र बढ़ाया। उसने अपनी राजकुमारी राज्य श्री का विवाह कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मन के साथ किया।

प्रभाकर वर्धन के बाद उसका पुत्र राज्य वर्धन गद्दी पर बैठा। उस समय गौड राजा शशांक और मालव के राजा देवगुप्त ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण कर ग्रहवर्धन को मार डाला और हर्ष की बहन राज्यश्री को बन्दी बनाया। वह बन्दीगृह से किसी प्रकार निकल भागी और विन्ध्याचल जंगलों में जा छिपी। राज्यवर्द्धन यह सुनकर अपनी राजधानी थानेश्वर से चल पड़ा और कान्यकुब्ज से शत्रुओं को भगा कर उसे मुक्त किया। पर शशांक ने उसे धोखा देकर मार डाला।

हर्षवर्धन (६०६ ई०—६४७ ई०)

प्रभाकर वर्धन के दो पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन और एक पुत्री राज्यश्री थी। राज्यवर्धन की दुखद और असामयिक मृत्यु के बाद **हर्षवर्धन** थानेश्वर की गद्दी पर बैठा। उस समय उसका भाई शत्रुओं द्वारा मार डाला गया था, उसकी बहन राज्यश्री का अभी पता नहीं था। ग्रहवर्धन की मृत्यु के बाद उसे कोई पुत्र न होने के कारण कान्यकुब्ज की गद्दी का उत्तराधिकारी हर्ष को ही होना पड़ा। इस प्रकार थानेश्वर और कान्यकुब्ज के राजवंश एक हो गये। कन्नौज (कान्यकुब्ज) राजधानी हो गयी।

हर्षवर्धन सर्व प्रथम अपनी बहन राज्यश्री का पता लगाने चला। वह बहुत परेशानी के बाद एक सघन बन में मिली और आत्महत्या करने के लिए

आग में कूदने ही जा रही थी कि हर्षवर्धन वहाँ पहुँच गया और उसे बचाया। वह ६०६ ई० में कन्नौज की गद्दी पर बैठा और उसने एक नया सम्वत चलाया। इसी समय में कन्नौज उत्तरी भारत में उसी प्रकार शक्ति और प्रतिष्ठा का केन्द्र बन गया जिस प्रकार प्राचीन भारत में पाटलिपुत्र शक्ति और प्रभुत्व का केन्द्र था।

हर्ष की विजय—गद्दी पर बैठते ही हर्ष ने प्रतिज्ञा की कि "मैं पिता के चरण रज का स्पर्श करके शपथ लेता हूँ कि यदि मैं कुछ दिनों के ही भीतर पृथ्वी को गौड़ों से रहित नहीं कर दूँगा और समस्त उद्धत राजाओं के पैरों की बेड़ियों की झंकार से पृथ्वी को प्रतिध्वनित नहीं कर दूँगा तो मैं पतंग की भाँति जलती हुई अग्नि में अपने को झोंक दूँगा।" इस प्रतिज्ञा के साथ हर्ष ने विजय की योजना तैयार की। इसके शीघ्र ही बाद आसाम के राजा ने हर्ष का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उसने अपने दूत द्वारा बहुत-सा उपहार भेजा। गौड़ के राजा शंशाक के विरुद्ध भी सेना भेजी गयी। पर मालूम होता है कि हर्ष को शशांक के विरुद्ध कुछ दिनों तक अधिक सफलता नहीं मिली। सन् ६१६ ई० तक शंशाक जीवित था और उसका राज्य भी व्यवस्थित था। मालूम होता है कि हर्ष ने अन्त में शशांक से बदला लेने की शपथ पूरी की क्योंकि 'हर्ष चरित' ह्वेन चाँग और अन्य साधनों से यह पता चलता है कि गौड़ और उड़ीसा हर्ष के साम्राज्य में शामिल थे। उसने मिथिला, सिन्धु, नैपाल, सुराष्ट्र आदि देशों को भी जीत लिया था। काश्मीर भी उसके आधीन था। 'हर्ष चरित' में लिखा है कि हर्ष ने किसी बर्फ से ढके पर्वतीय प्रदेश से कर लिया था और उससे बुद्ध के अस्थि-अवशेष का दान लिया था। ह्वेन चाँग ने लिखा है कि "हर्ष तबतक युद्ध करता रहा जब तक उसने 'पाँचों भारतों को अपने अधीन नहीं कर लिया।" इन पाँच भारतों में (१) काश्मीर-पंजाब, (२) दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेश, (३) पूरा उत्तर प्रदेश और बिहार, (४) मिथिला-बंगाल और (५) उत्कल तथा कलिंग का अभिप्राय है। इस प्रकार हर्ष सारे उत्तरी भारत का सम्राट हो गया।

चालुक्य राजा पुलकेशिन से युद्ध—उस समय दक्षिण भारत का सब से प्रमुख राज्य चालुक्य वंश का था। उसके राज्य का विस्तार महाराष्ट्र और कर्नाटक तक था। वह बड़ा प्रतापी राजा था। हर्ष ने स्वयं सेना लेकर पुलकेशिन से युद्ध किया, पर उस युद्ध में हर्ष को हार खानी पड़ी। यह युद्ध लग-भग ६३४ ई० में हुआ था। इस प्रकार दक्षिण में उसके साम्राज्य की सीमा नर्मदा तक ही थी।

हर्ष की शासन-प्रणाली

केन्द्रीय शासन—हर्ष सारे उत्तरी भारत (काश्मीर से आसाम तक और नर्मदा से नैपाल तक) का सम्राट था। राजा साम्राज्य का उच्चतम तथा सार्वभौम अधिकारी था। सिद्धान्त रूप से वह स्वेच्छाचारी था। पर हर्ष कभी मनमानी ढङ्ग से स्वार्थसाधन के लिए राज्य-शक्ति का प्रयोग नहीं करता था। उसने गुप्त सम्राटों की तरह बड़ी बड़ी उपाधियाँ (परम भट्टारक, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, सार्वभौम, परमदैवत) धारण कीं। वह प्रशासन, न्याय, सेना-विभाग का प्रधान था। युद्ध के समय वह स्वयं सैन्य संचालन भी करता था। बड़े अपराधों का निर्णय वह स्वयं करता था और नीचे की अदालतों से अपील भी सुनता था। अशोक की तरह जन-हित की भावना से वह सदा राज्य-कार्य में व्यस्त रहता था। बरसात के अतिरिक्त वह सदा राज्य के विभिन्न भागों का स्वयं निरीक्षण करता था और प्रजा की बातें सुनता था। वह विभिन्न देशों में अपने दूत नियुक्त कर भेजता था।

राज्य के कार्य में मदद देने के लिए उसने अनेक विभागों का सङ्गठन किया था। प्रत्येक विभाग मन्त्रियों और अध्यक्षों के अधीन था। मन्त्रि-परिषद की चर्चा चीनी यात्री हेन-त्सांग ने किया है। मन्त्रियों में प्रधान पुरोहित, संधिविग्रहिक (परराष्ट्र मन्त्री), केन्द्रीय सचिवालय का अधिकारी, सेनापति आदि थे। इन्हें जागीरें मिलती थीं। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार में अनेक प्रकार के अधिकारी तथा कर्मचारी होते थे।

प्रान्तीय शासन—हर्ष के समय में पूरे साम्राज्य को राष्ट्र, देश अथवा मण्डल कहते थे। राष्ट्र को अनेक भुक्ति (प्रान्त) में विभाजित किया

गया था। भुक्ति को पुनः विषयों (जिलों) में बाँटा गया था। विषय के बाद प्रशासन के लिए 'पठक' और तब 'गाँव' थे। इस प्रकार पूरे साम्राज्य को छोटी-बड़ी विभिन्न ईकाइयों में विभक्त किया गया था। भुक्ति के अधिकारी को गोप्ता कहते थे। गोप्ता (उपारिक महाराज) को सम्राट स्वयं नियुक्त करता था।। विषय का अधिकारी विषयपति होता था। हर्ष के समय में गाँवों का प्रबन्ध सुगठित और अच्छा था। उस समय नगरों के प्रबन्ध के विषय में कम जानकारी है।

सेना का प्रबन्ध—हर्ष के समय में एक बड़ी सेना थी जिसकी संख्या छः लाख थी। उसके समय में चतुरंगिणी सेना (पैदल, घुड़सवार, हाथी और रथ) का वर्णन मिलता है। युद्ध में हाथियों का प्रयोग विशेष रूप से होता था। सैन्य संचालन का प्रमुख अधिकारी महाबलाधिकृत होता था। कहा जाता है कि हर्ष की हाथियों की सेना ६०,००० और घुड़सवारों की संख्या १,००,००० थी। कहीं कहीं नौ-सेना की भी चर्चा आयी है। सेना में एक अस्थायी-सैनिकों का भी विभाग था और वे सैनिक आवश्यकता पड़ने पर बुला लिये जाते थे। सेना की सहायता के लिए गुप्तचर विभाग भी होता था। पुलिस का प्रबन्ध गुप्त-काल की तरह था। पर मार्गों में चोर डाकुओं का भय था और स्वयं चीनी यात्री हेनत्सांग कई बार अपनी यात्रा में लूट लिया गया था।

राजस्व-विभाग—भूमि कर से राज्य की सबसे अधिक आमदनी होती थी। राज्य की सब जमीन नापी जाती थी। भूमि की पैदावार का $\frac{1}{6}$ भाग राज कर के रूप में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त खनिज पर कर, अर्थ दण्ड, व्यापार-कर, चुंगी से सरकार की आय होती थी। राजकीय भूमि की आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग दान-पुण्य, धर्म, पुरस्कार आदि में खर्च होता था।

लोकोपकारी कार्य—अशोक की तरह हर्ष ने भी जनहित के अनेक कार्य किये। उसने विभिन्न धर्मवालों के लिए चैत्य, बिहार और मन्दिर बनवाया। हर्ष ने यात्रियों की सुविधा के लिए सड़कें और विश्रामगृह का निर्माण कराया। शिक्षा, दान तथा धार्मिक कृत्यों पर सम्राट बहुत खर्च करता था। ह्वेन सांग के कथनानुसार प्रति पाँचवे वर्ष वह प्रयाग आकर दान-पुण्य करता था।

चरित्र—हर्ष ने लगभग ४२ वर्ष तक राज्य किया। उसने अपने शासन-काल में अनेक देशों को जीता। वह एक सफल सेना-नायक और कुशल शासक था। वह अपनी प्रजा का शुभेच्छु था। उसके दरबार में कवि, लेखक और अन्य विद्वान रहते थे जिन्हें वह आश्रय देता था। उसके दरबार का सबसे बड़ा विद्वान 'बाण' था जिसने 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी' जैसे अमर ग्रंथों की रचना की है। संस्कृत-साहित्य में ये ग्रन्थ अनुपम और बेजोड़ समझे जाते हैं। बाण के अतिरिक्त मयूर, हरिदत्त, जयसेन आदि विद्वान हर्ष के दरबार में रहते थे। हर्ष स्वयं एक अच्छा विद्वान और लेखक था। उसने 'रत्नावली', प्रिय-दर्शिका', नागानन्द' आदि ग्रंथों की रचना की थी। इस४२ वर्ष तक प्रकार सफलतापूर्वक शासन करने के बाद सन् ६४८ ई० में उसका देहान्त हुआ।

ह्वेन-सांग—यह एक चीनी यात्री था और हर्ष के समय में भारत आया था। वह बौद्ध था और उसी धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने भारत आया था। वह गोबी, काशगर, समरकन्दर होता हुआ हिन्दूकुश पहुँचा। उसने पेशावर से सिन्धु पार किया और वह तक्षशिला पहुँचा। पुनः काश्मीर, थानेश्वर, मथुरा होता हुआ कन्नौज पहुँचा। वह अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पाटलीपुत्र, गया और राजगृह होता हुआ नालन्दा पहुँचा और वहाँ के विश्वविद्यालय में रह कर तीन वर्ष तक संस्कृत और बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन किया। फिर उड़ीसा, महाराष्ट्र होता हुआ कन्नौज आया और हर्ष के साथ प्रयाग के पंच वर्षीय समारोहन में भाग लिया। उसके बाद वह पुनः अपने पुराने मार्ग से स्वदेश लौट गया। वह इस देश में लगभग १५ वर्ष तक रहा और प्रायः सभी प्रमुख स्थानों का भ्रमण किया। उसने सन् ६४४ ई० में भारत से विदा ली। स्वदेश लौटकर उसने 'सी-यू-की' नामक पुस्तक लिखी जिसमें उसने भारतीय यात्रा का वर्णन लिखा। हर्ष ने उसका अद्भुत स्वागत और सम्मान किया था और लौटने पर चीन के सम्राट ने भी उसका बड़ा सम्मान किया और उसे पुरस्कार दिया। सन् ६६४ ई० में उसका देहान्त हुआ। ह्वेन-सांग के विवरण से भारत की तत्कालीन दशा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

राजनीतिक दशा—उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर हर्ष का अधिकार था। शेष भाग में छोटे-छोटे अनेक राज्य थे। हर्ष की सभा में १८ देशों के राजा और पाँच भारतों के नृपतियों का समागम हुआ था। दक्षिण भारत के सब से अधिक शक्तिशाली राजा पुलकेशिन था। चीनी यात्री उससे बहुत प्रभावित हुआ था। हर्ष के विषय में वह लिखता है कि वह अथक परिश्रमी था और दिन का विस्तार उसके कार्य के लिए अति छोटा था। राजा वैश्य जाति का था। उसका नाम हर्षवर्धन है। उसके पास ६० हजार हाथी और १ लाख घुड़सवार हैं। वह देश में धार्मिक प्रवृति को अंकुरित करने में इतना व्यस्त हो गया कि उसे खाने तथा सोने तक की सुध न रही। उसने देश भर में पशु हत्या और मांस-भोजन बन्द करवा दिया और उसने गंगा नदी के किनारे सहस्रों स्तूप बनवाये और चिकित्सालय खुलवाये। उन औषधालयों में रोगियों को मुफ्त दवा और औषधि मिलती थी। राजा दिन के प्रथम भाग में राजकाज देखता था, और द्वितीय भाग में धार्मिक कृत्य में लीन रहता था।

न्याय—न्याय के विषय ह्वेन-सांग लिखता है कि नियम तोड़ने का अर्थ शासक का अपमान करना होता है। अपराधों की जाँच करने के बाद अपराधियों को कारावास का दण्ड दिया जाता था। विश्वासघात या अन्य किसी भारी अपराध के लिए नाक, कान काट लिए जाते थे या उसे हाथ पैर काट कर जंगलों में निकाल दिया जाता था। छोटे अपराधों के लिए आर्थिक दण्ड दिया जाता था। अपराधी से अपराध स्वीकार कराने के लिए जल, अग्नि, बोझ तथा विष द्वारा परीक्षाएँ होती थीं।

आर्थिक दशा—लोगों को अपनी उपज का छठाँ भाग राजकर के रूप में देना पड़ता था। नदी के पुलों पर भी साधारण कर लिया जाता था। व्यापार वस्तुओं के आदान-प्रदान से अधिक होता था।

सामाजिक दशा—ह्वेन-सांग ने चार जातियों का वर्णन किया है। प्रथम वर्ण ब्राह्मणों का है। वे आचार विचार में पवित्र और सिद्धान्त भ्रम रहित होते थे। दूसरा वर्ण क्षत्रियों का है। ये शासन करते हैं। उनका जीवन पुण्यवान और दयालु है। तीसरा वर्ण व्यापारियों का है। वे व्यापार के लिए

दूर-दूर तक भ्रमण करते हैं। चौथा कृषक वर्ग है जिसे शूद्र कहते हैं। वे खेती करते हैं, खेत जोतते हैं। स्त्रियों का विवाह एक बार ही होता है। पर्दा भी कम होता है। राज्यश्री दरबार और सभा में जाया करती है।

भोजन के पूर्व लोग स्नान करते हैं। कभी जूठा भोजन नहीं करते हैं। भोजन सादा होता है। प्याज, लहसुन खाने की प्रथा बहुत कम थी। दूध, मक्खन, मलाई, शक्कर, मिश्री अधिक लोग खाते हैं। लोग सादा कपड़े अधिक पसन्द करते हैं।

नालन्दा का वर्णन—ह्वेन-सांग नालन्दा में तीन वर्ष तक रहा और अध्ययन किया। वह नालन्दा के जीवन के विषय में लिखता है—

"अत्यन्त उच्च कोटि की प्रतिभा तथा योग्यता वाले कई हजार भिक्षु यहाँ रहते हैं। उनका यश दूर-दूर के देशों तक फैल चुका है। उनका चरित्र पवित्र और दोष-रहित है। वे नैतिक नियमों का पालन कड़ाई से करते हैं। मठ के नियम बहुत कड़े हैं और उन्हें सब भिक्षुओं का पालन करना पड़ता है। वे सुबह से रात्रि तक वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं। जो त्रिपिटिक की समस्याओं पर वाद-विवाद नहीं कर सकते, वे शर्म से अपना मुँह छिपाते हैं। विभिन्न देशों के विद्वान जो शीघ्र वाद विवाद में अपनी योग्यता बढ़ाना चाहते हैं, यहाँ आते हैं। यदि बाहर से कोई वाद-विवाद के यहाँ आता है तो प्रवेशद्वार पर नियुक्त प्रहरी उससे प्रश्न पूछते हैं और जो उन प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं दे पाते, उनका प्रवेश नहीं हो पाता है। नालन्दा में प्रवेश पाने की शर्तें कड़ी हैं और उसके लिए अधिक योग्यता की आवश्यकता है। विद्यार्थियों के पोषण के लिए १०० ग्राम लगे हैं। उस समय के धुरन्धर पण्डित तथा विद्वान नालन्दा में अध्ययन-कार्य करते हैं। यहाँ लगभग १०० व्याख्यान-स्थान हैं। कक्षा में विद्यार्थियों की उपस्थिति आवश्यक है। इसमें लगभग १००० अध्यापक और १०००० विद्यार्थी रहते थे।" नालन्दा में बौद्ध दर्शन तथा साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषय भी पढ़ाये जाते हैं। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सम्मुख इस प्रकार के उद्देश्य थे—

"क्रोध को क्षमा से जीतो, दुष्ट आदमी को अच्छे कार्यों से जीतो, कृपण को अधिक दान से और असत्य बोलने वालों को सत्य से जीतो।"

धर्म—हर्ष के समय में अधिक व्यापक धर्म 'ब्राह्मण धर्म' था। यह बौद्ध तथा जैन धर्मों को आत्मसात करता जा रहा था। इसीलिये हेन सांग ने भारत को 'ब्राह्मणों का देश' कहा है। इसमें वैष्णव, शैव, शाक्त कई शाखायें हो गयी थीं। देवताओं की मूर्तियों का पूजन मन्दिरों में होता था और उन्हें दूध से नहलाया जाता था। वैदिक यज्ञ, संस्कार, पंच महायज्ञ आदि का प्रचार अधिक था। ब्राह्मण धर्म के बाद बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक प्रचार था। धीरे धीरे इसके मानने वालों की संख्या कम होती जा रही थी। पर अभी तक देश में बौद्ध विहारों की संख्या काफी थी। बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखायें—हीनायान और महायान थी। इन प्रधान शाखाओं के अतिरिक्त १८ अन्य उपशाखायें थीं। उस समय महायान सम्प्रदाय की अधिक उन्नति होती जा रही थी। यह सम्प्रदाय बुद्ध के ऐश्वर्य, अवतार, बोधिसत्व और मूर्तियों पर अधिक जोर देता था। इस प्रकार भक्ति और पूजा-पाठ में बौद्ध धर्म अब ब्राह्मण धर्म के बहुत निकट आ गया था। इस धर्म का अधिक प्रभाव पूर्वी भारत की ओर ही था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि इस समय भारत में लगभग २० लाख बौद्ध भिक्षु हैं।

हर्ष अपने जीवन के प्रथम भाग में शैव था क्योंकि उसके सिक्कों पर 'माहेश्वर' ही अंकित है। पर ह्वेनसांग के वर्णन से मालूम होता है कि वह बौद्ध हो गया था। शायद वह अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में इस धर्म की ओर आकर्षित हुआ था। हर्ष ने कन्नौज में एक धर्म-सभा का आयोजन किया और उसने वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन आदि सभी धर्मों का आदर किया। सभी सम्प्रदायों के पण्डित उसमें आमंत्रित थे और सभी धर्मों के देवताओं की मूर्तियाँ उसमें पूजन के लिए रक्खी गयी थीं। उस सभा में सर्व प्रथम बौद्ध प्रतिमा स्थापित करके हर्ष ने बौद्ध धर्म के प्रति सब से अधिक श्रद्धा प्रकट की। पर यह सत्य है कि हर्ष भारतीय परम्परा के अनुसार धार्मिक मामलों में उदार था और अपने स्वार्थ या जिद्द के कारण उसने कभी किसी के ऊपर अपने विश्वास को लादने का उपक्रम नहीं किया था उसके समय में राज्य की शक्ति का प्रयोग अनावश्यक एवं अवाञ्छित ढंग से धर्म-प्रचार में नहीं हुआ। वह अन्त तक प्रयाग में त्रिवेणी-संगम पर प्रति पाँचवें वर्ष आता और दान-पुण्य के बाद अपनी सारी सम्पत्ति सन्त-साधुओं में वितरित

कर देता था। राज्य की पंच वर्षीय बचत का सर्वस्व साधुओं, भिक्षुकों, अनाथों, रोगियों, दरिद्रों को दान देकर केवल अपने शरीर पर के वस्त्रों के साथ लौटने में हर्ष को अपार सन्तोष होता था।

हर्ष के बाद—सन् ६४८ ई० में ४२ वर्ष के दीर्घ शासन के बाद हर्ष का देहावसान हुआ। उसे कोई पुत्र नहीं था और हर्ष के अन्तिम दिनों में धार्मिकता और दान की अधिकता के कारण शासन-सूत्र ढीला हो गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके मंत्रियों ने राज्य पर अधिकार कर लिया। पर कन्नौज का साम्राज्य संगठित न रह सका और छिन्न-भिन्न हो गया। 'हर्ष के साथ ही भारतीय इतिहास का साम्राज्यवादी काल समाप्त हो गया। विकेन्द्रीकरण की प्रवृतियाँ प्रबल हुईं और सारा भारत छोटे-छोटे प्रान्तीय राज्यों में बँट गया।

भारत और चीन—भारत और चीन के बीच अति प्राचीन काल से व्यापारिक सम्बन्ध था। पर बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद इन दोनों देशों में सांस्कृतिक सम्बन्ध भी गहरा हो गया और समय की गति के साथ-साथ वह सम्पर्क बढ़ता ही गया। हर्ष के समय में भी एक प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन-सांग बौद्ध धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने भारत आया और यहाँ के प्रायः सब प्रमुख नगरों का भ्रमण किया और देश की तत्कालीन दशा का विवरण लिखा। उसकी यात्रा का वर्णन पीछे दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त सन् ६२७ ई० में चीनी सम्राट सैत्संग ने हर्ष के दरबार में एक शिष्ट मण्डल भेजा था। यह दल भारत में चीनी बनाने की प्रणाली सीखने आया था। हर्ष ने भी एक भारतीय दूत चीन भेजा। पुनः एक चीनी मिशन भारत सम्राट के साथ चीन की मैत्री स्थापित करने का सन्देश लेकर आया, पर उस समय हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी।

हर्ष की मृत्यु के बाद उसके मंत्री अरुणाश्व ने राज्य पर अधिकार कर लिया था। उसने चीनी मिशन के सदस्यों को बहुत तंग किया और उनके साथ अच्छा वर्ताव नहीं किया। चीनी मिशन के कुछ सदस्यों को अरुणाश्व के सिपाहियों ने मार डाला। इस मिशन में ३० सदस्य थे और उनका नेता 'वैंग-हुयेन-सी' था। वह भाग कर नैपाल और तिब्बत के राजाओं के दरबार में गया। उन्होंने उसकी मदद नहीं की और कुछ दिनों के लिए अरुणाश्व बन्दी बनाया गया।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

विकेन्द्रीकरण : प्रान्तीय राज्य

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत में साम्राज्यवादी इतिहास के युग का अन्त हो गया। अब पहले-जैसे दूरदर्शी और सार्वभौम राजाओं की सत्ता नहीं स्थापित हो सकी। स्थान-स्थान पर प्रान्तीय राज्य पनपने लगे और उनमें सार्वदेशिक होने की क्षमता नहीं पैदा हो सकी। उन राज्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(१) **सिन्ध**——हर्ष की मृत्यु के बाद सर्व प्रथम सिंध स्वतंत्र हुआ। यहाँ एक शूद्रवंशी राजा राज्य करता था। इस वंश के राजाओं की उपाधि 'राय' थी इस वंश का अन्तिम राजा साहसी था जिसे 'चच' नामक ब्राह्मण मंत्री ने मार कर राज्य पर अधिकार कर लिया। चच के पुत्र दाहिर के समय में सन् ७१२ ई० में सिंध पर अरबों का आक्रमण हुआ था। दाहिर को अरबों ने मार डाला और यवनों ने सिंध के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया।

(२) **पंजाब**——काबुल और पंजाब में कुषाण वंशीय राजाओं का अधिकार था। ये 'शाही' वंश के नाम से प्रसिद्ध हुए। जब काबुल को अरबों ने छीन लिया तब शाही राजाओं ने पंजाब में आकर शरण ली और भटिण्डा को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश में जयपाल और उसके पुत्र आनन्दपाल के शासन-काल में गजनी के तुर्कों ने इस पर आक्रमण किया। सन् १००१ ई० में जयपाल और महमूद में युद्ध हुआ था और जयपाल हार गया था। उसके पुत्र आनन्दपाल के समय में भी महमूद के आक्रमण जारी रहे। पर कुछ दिनों पश्चात् पंजाब तुर्कों के हाथ में चला गया। लाहौर उनकी राजधानी बनी। यहाँ से तुर्क भारत के अन्य राज्यों पर आसानी से आक्रमण कर सकते थे।

(३) **काश्मीर**——काश्मीर पर्वतीय प्रान्त होने के कारण प्रायः शेष भारत के इतिहास की धारा से पृथक रहा। सातवीं सदी में वहाँ नागवंशीय (कार्को-

तक) राजाओं का अधिकार था। इस वंश का ललितादित्य नामक राजा बड़ा साहसी और प्रतापी था। उसका सम्बन्ध चीनी सम्राट से भी था। उसी ने प्रसिद्ध मार्तण्ड मन्दिर बनवाया था। इसके बाद वहाँ उत्पल वंश की स्थापना हुई। इसी वंश के राज्य-काल में सन् १००३ में महमूद ने काश्मीर पर आक्रमण किया, पर भौगोलिक परिस्थितियों के कारण महमूद को उस प्रयास में सफलता नहीं मिली।

(४) कान्यकुब्ज (कन्नौज)—हर्ष की मृत्यु के बाद लगभग ७५ वर्षों तक कान्यकुब्ज का इतिहास अन्धकारमय रहा। आठवीं सदी में **यशोवर्मन** नामक एक व्यक्ति कन्नौज का अधिकारी हो गया। कहा जाता है कि वह *मौखरी वंश का था। वह विजेता था और अपने बाहुबल से मगध तक के* प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया था। वह काश्मीर के राजा ललिता-दित्य का समकालीन था और उसके साथ युद्ध भी किया था, पर काश्मीर नरेश ने यशोवर्मन को परास्त किया था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था और उसके दरबार में उत्तररामचरित के रचयिता भवभूति और वाक्पति रहते थे। यशोवर्मन की मृत्यु के पश्चात उसके वंशजों का इतिहास अस्पष्ट है।

इसके पश्चात् सन् ७७० से ८१६ ई० तक कन्नौज में **आयुधवंशीय** राजाओं का आधिपत्य रहा। इस समय बंगाल के पाल वंश, महाराष्ट्र के राष्ट्रकूट और गुजरात के प्रतीहार वंश के राजाओं में कन्नौज जीतने की होड़ लगी थी। इस होड़ में प्रतिहार वंश के राजाओं को सफलता मिली।

प्रतीहार वंश

प्रतिहार वंशीय राजा अपने को लक्ष्मण का वंशज मानते थे। यह वंश पहले गुजरात में पनपा, पुनः मालवा में अपना अधिकार कर लिया। कन्नौज जीतने की होड़ में प्रतिहार राजाओं को सफलता मिली। मालवा के प्रतीहार राजा नागभट (द्वितीय) ने कन्नौज पर आयुध वंश के राजा को परास्त कर अधिकार कर लिया।

प्रतीहार वंश की उत्पत्ति—प्रतिहार वंश की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में बहुत वादविवाद चल पड़ा है। यूरोपीय विद्वानों का मत है कि

प्रतीहारों का सम्बन्ध शकों से था और वे उन्हीं से हिन्दू बनाये गये थे। प्रतीहार के साथ गुर्जर शब्द का प्रयोग अभिलेखों और कथा-साहित्य में मिलता है। गुर्जर जाति विदेशी थी अतः कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि गुर्जर प्रतीहार एक विदेशी जाति है। किसी ने इनका सम्बन्ध शकों के, किसी ने यूची जाति से और कुछ अन्य लोगों ने उनको तुर्कों से सम्बन्धित बतलाया है। प्रसिद्ध इतिहासकार वी० स्मिथ ने लिखा है कि गुर्जर छठी शताब्दी में भारत में प्रवेश करने वाली हूण जाति की सन्तान हैं। कुछ भारतीय विद्वानों ने भी गुर्जर प्रतीहारों की विदेशी-उत्पत्ति को ही ठीक माना है।

कुछ भारतीय विद्वानों (श्री वैद्य, श्री ओझा) ने ऊपर लिखी बात को अस्वीकार करते हुए लिखा है कि गुर्जर जाति सर्वथा भारतीय है। पुनः इनका मत है कि गुर्जर और प्रतिहार जाति में कोई सम्बन्ध नहीं था और इन दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग इसलिए होने लगा था कि सर्व प्रथम प्रतीहारों की राजनीतिक शक्ति का उदय राजस्थान के दक्षिण-पूर्व गुर्जर प्रदेश में हुआ। इसीलिए स्थान के नाम पर इनको गुर्जर-प्रतीहार कहा जाने लगा। मंदोर और जोधपुर के अभिलेखों में प्रतीहारों को ब्राह्मण वंश से उत्पन्न बताया गया है। ग्वालियर के एक अभिलेख में इन्हें सूर्यवंशी कहा गया है। साहित्यिक ग्रंथों में भी इन्हें 'रघुकुल तिलक' और 'रघुवंश मुक्तमणि' की उपाधि से विभूषित किया गया है।

मालूम पड़ता है कि प्रतीहार शब्द का प्रयोग राज दरबार में एक अधिकारी के पद के कारण होने लगा। प्रतीहार उस अधिकारी को कहते हैं जो राजा के बैठने के या उसके महल के द्वार पर रह कर उसकी रक्षा करने वाला होता था। "इस पद पर नियुक्ति के लिए किसी खास वर्ण या जाति का विचार नहीं होता था, बल्कि राजा के विश्वास पात्र किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय को इस पद पर नियुक्त किया जाता था। यही कारण है कि शिलालेखों में ब्राह्मण-प्रतीहार, क्षत्रिय-प्रतीहार का उल्लेख मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि इस वंश के संस्थापक भी पहले किसी राजा के यहाँ प्रतीहार का काम करते थे जो पद कभी कभी वंशानुगत (पुश्तैनी) भी हो जाता था। अतः इस वंश का नाम भी प्रतीहार वंश पड़ गया। इसके पश्चात् चूँकि इस वंश का

सम्बन्ध सूर्यवंश या रघुवंश से था, अतः बाद प्रशस्तिकारों ने इसका सम्बन्ध श्री रामचन्द्र के छोटे भाई लक्ष्मण के साथ जोड़ दिया क्योंकि बड़े भाई के शासन-काल में लक्ष्मण भी प्रतीहार का काम करते थे।" इससे यह अनुमान निकाला जाता है कि प्रतीहार वंश की उत्पत्ति विदेशी जाति से नहीं है और यह नाम एक विशेष पद के कारण चल पड़ा था। पुनः गुर्जर नामक स्थान पर इनकी राजनैतिक शक्ति के बढ़ने से ये गुर्जर-प्रतीहार कहलाने लगे। अतः इन विद्वानों का कहना है कि "यह राजवंश भारतीय है, प्राचीन क्षत्रिय वंश से इसकी उत्पत्ति हुई है और ये विदेशी नहीं हैं।"

प्रतीहार राज्य—प्रतीहारों का सर्व-प्रथम ज्ञात स्थान मध्य राजस्थान में मन्दोर था। उसकी एक शाखा ने उज्जैन में एक राज्य की स्थापना की, और नागभट नामक राजा ने इस कुल की प्रतिष्ठा बढ़ायी। उसने सम्पूर्ण मालवा और आस-पास के प्रदेशों पर अधिकार किया। उसने सिन्ध के अरबों को आगे बढ़ने से रोका और 'शक्तिमान म्लेच्छराज की सेना' को हराया। वास्तव में इन प्रतीहारों ने भरत (ड्योढ़ीदार) का काम सफलता पूर्वक किया था। इसके बाद वे उत्तर की ओर बढ़े और कन्नौज पर अधिकार करने का प्रयास करने लगे। इस युद्ध में तीन प्रबल शक्तियों ने होड़ लिया। नागभट ने बंगाल के धर्मपाल नामक राजा को परास्त किया पर राष्ट्रकूट वंश के राजा वत्सराज ने उसे परास्त किया।

उसकी मृत्यु के बाद **नागभट द्वितीय** गद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल लगभग ८०५ ई० से ८३३ ई० तक माना जाता है। नागभट द्वितीय को भी पहले राष्ट्रकूटों से मात खानी पड़ी, पर वह अन्त में कन्नौज पर अधिकार करने में सफल हुआ। इसी के बाद उसने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर कन्नौज कर ली। इससे बंगाल के धर्मपाल को बहुत ईर्ष्या हुई और वह अपनी सेना लेकर कन्नौज की ओर बढ़ा। मुंगेर के पास नागभट और धर्मपाल की सेनाओं में मुठभेड़ हुई और नागभट ने बंगाल नरेश को परास्त किया। इस प्रकार नागभट पूरा उत्तरी भारत, उत्तरी काठियावाड़, जयपुर-अलवर' हिमालय की तराई के प्रदेश, सिन्ध आदि का राजा बन गया।

भोज या भोजदेव (८३६-८८५ ई०) इस वंश का दूसरा प्रतापी राजा हुआ। उसने बुन्देलखण्ड, मारवाड़ में पुनः प्रतीहार-सत्ता स्थापित की।

उसके राज्य में हिमालय के प्रदेश और पंजाब का अधिकांश भाग शामिल था। फिर भोजदेव ने बंगाल की ओर ध्यान दिया। मालूम होता है कि इस बीच बंगाल के पालवंशीय राजा शक्तिशाली हो गये थे। देवपाल ने भोजदेव को हराया, इस प्रकार प्रतीहारवंश का प्रभाव बंगाल से समाप्त हो गया। भोजदेव का ध्यान दक्षिण के राष्ट्रकूटों की ओर गया। आपस में उनमें अनेक बार संघर्ष हुए। भोज ने राष्ट्रकूटों को दक्षिण में आगे बढ़ने से रोका।

भोज की सेना सुसंगठित थी और उसका शासन बहुत अच्छा था। वह अरबों तथा इस्लाम का बहुत बड़ा शत्रु समझा जाता था। उसके शासन काल में अरब यात्री सुलेमान भारत आया था और उसने भोज के घुड़सवारों की बड़ी प्रशंसा की है। उसने यह भी लिखा है कि देश समृद्ध और डाकुओं से सुरक्षित था।

प्रतीहार वंश का पतन—भोज की मृत्यु के बाद प्रतीहार वंश की शक्ति का ह्रास होने लगा। धीरे-धीरे प्रान्तीय शासक स्वतंत्र होने लगे। दसवीं शताब्दी के अन्त में राज्यपाल कन्नौज का राजा हुआ। सन् १०१८ ई० में महमूद ने कन्नौज पर आक्रमण किया। राज्यपाल असावधान, निर्बल और आत्मविश्वासहीन था। वह मुसलमानों द्वारा परास्त हुआ और उसने महमूद की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस वंश का अन्तिम राजा यशपाल था। वह १०३६ तक जीवित था। इसके बाद प्रतिहारों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

(५) गहड़वाल वंश

प्रतीहार राजाओं की शक्ति के ह्रास के बाद उत्तर भारत में अराजकता फैल गयी। पंजाब में तुर्क शासकों का बोलबाला हो गया और वे कन्नौज तथा बनारस तक धावा मारने लगे। उसी समय ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में गहड़वाल-वंश का उदय हुआ। ये सर्व प्रथम मिर्जापुर की पहाड़ियों में पनपने लगे, पर उन्होंने वाराणसी को अपनी राजधानी बनायी। सन् १०८५ ई० में इस वंश के राजा चन्द्रदेव ने कन्नौज को अपने अधिकार में कर लिया और अपने राज्य की सीमा पश्चिम की ओर बढ़ायी। उसने काशी, कन्नौज, अयोध्या, इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) की रक्षा तुर्कों से की।

इसी वंश में जयचन्द्र सन् ११७० ई० में कन्नौज की गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि उसने देवगिरी (यादव) और गुजरात (सोलंकी) के राजाओं को हराया। उस समय गहड़वालों और चाहमानों में वैर चल रहा था। जयचन्द ने अपनी पुत्री संयोगिता के स्वयंवर का आयोजन किया, उस समय चाहमान राजा पृथ्वीराज ने संयोगिता का अपहरण कर लिया और इन दोनों वंशों की शत्रुता को और बढ़ा दिया। इसीलिए जब सन् ११९३ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की तो, जयचन्द ने तुर्कों का साथ दिया। इस अदूरदर्शिता के लिए जयचन्द सदा के लिए अपमान और कलंक का भाजन बन गया। पृथ्वीराज को परास्त कर सन् ११९४ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने कन्नौज पर भी चढ़ाई की। उसमें जयचन्द परास्त हुआ और मारा गया। शहाबुद्दीन गोरी ने उस समय बनारस को लूटा और १४०० ऊटों पर सोना, चाँदी तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थ लाद कर ले गया। जयचन्द का पुत्र कन्नौज में तुर्कों की कृपा से राज्य करता रहा। सन् १२२५ ई० में इल्तुतमश ने कन्नौज को अपने राज्य में मिला लिया।

(६) चाहमान (चौहान) वंश

अनुश्रुतियों के अनुसार इस वंश का प्रारम्भ चाहमान नामक व्यक्ति से हुआ था। कुछ विद्वान इन्हें सूर्यवंशी और कुछ इन्हें विदेशियों में से एक कुल में उत्पन्न मानते हैं। इस वंश की प्रमुख शाखा अजमेर के पास साम्भर में थी। जब तक प्रतीहारों का जोर था, तब तक चौहान वंश का प्रभाव नहीं बढ़ सका। पर प्रतीहार वंश के कमजोर होने पर इनका प्रभाव बढ़ने लगा।

इस वंश का प्रथम प्रतापी राजा अजयराज द्वितीय था उसने अपनी राजधानी साम्भर से अजमेर बनायी। इस वंश का अन्य प्रसिद्ध राजा विग्रह-राज बिसलदेव (सन् ११५२-६५) हुआ जिसने कन्नौज, दिल्ली तथा हिमालय तक अपना अधिकार फैलाया। इसी प्रकार के द्वन्द से जो इस समय चौहान और कन्नौज के गहड़वालवंश में चल रहा था, भारत को उस समय बहुत नुकसान हुआ। विग्रहराज विद्वान, कलाविद और कुशल सेनानी था।

इस वंश का सब से प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज (११७९ ई० से ११९३ ई०) हुआ। वह जयचन्द का समकालीन था। इनके राजकवि चन्दबरदायी ने

"पृथ्वीराज रासो" नामक महाकाव्य लिखा है। पृथ्वीराज ने अपनी महत्त्वाकांक्षा से अपने पड़ोसी अन्य राजाओं को अपना शत्रु बना लिया। जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता का हरण कर पृथ्वीराज ने अपनी स्थिति बहुत नाजुक कर ली। तुर्क राजाओं ने इस गृह-कलह से अच्छा लाभ उठाया। पृथ्वीराज ने अपनी विजय-नीति के कारण चन्देलों और चालुक्यों को भी शत्रु बना लिया था।

सन ११६१ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज के साथ तलावरी (तराइन) के मैदान में उसकी मुठभेड़ हुई। पृथ्वीराज ने भारतीय राजाओं का एक संघ बनाया और गोरी को बुरी तरह पराप्त किया। स्वयं शहाबुद्दीन उस युद्ध में घायल हुआ और किसी प्रकार भागता हुआ अपनी राजधानी गोर पहुँच सका। पर उसके बाद ही कन्नौज के राजा जयचन्द से मदद की आशा पाकर शहाबुद्दीन पुनः भारत आक्रमण के लिये चल पड़ा। पुनः सन ११६३ तराइन के स्थान पर पुनः युद्ध हुआ। इस बार पृथ्वीराज हार गया और मारा गया। इस प्रकार दिल्ली और अजमेर दोनों तुर्कों के हाथ में आ गये।

दिल्ली और अजमेर के चौहान राजाओं का वंश भारतीय इतिहास में अधिक प्रसिद्ध हुआ। इस वंश के राजाओं ने कला एवं विद्या की उन्नति में योग दिया। अजमेर की अनेक प्रसिद्ध इमारतें और दिल्ली की कुतुबमीनार वास्तव में चौहान कृतियाँ हैं। अजमेर में इस वंश के एक राजा ने 'सरस्वती मन्दिर' नामक एक विशाल भवन का निर्माण कराया था, वही मन्दिर बाद को तुर्कों ने एक प्रसिद्ध मसजिद (अढ़ाई दिन का झोंपड़ा) के रूप में परिवर्तित कर लिया। कुतुबमीनार का प्रारम्भिक रूप एक विजय स्तम्भ का था जिसे पृथ्वीराज ने अपनी विजय के उपलक्ष में बनाया था। संस्कृत का महाकाव्य पृथ्वीराज-विजय, तथा अपभ्रंश का महाकाव्य "पृथ्वीराज-रासो" इसी काल के राजाओं के दरबारी कवियों ने लिखा। उन्होंने बहुत दिनों तक तुर्कों का प्रतिरोध किया और भारत में घुसने से उन्हें रोक रक्खा था। विग्रहराज के समय से पृथ्वीराज के शासन-काल तक इस वंश के राजाओं ने बराबर तुर्कों से लोहा लिया, पर अन्त में भारत के विभिन्न राजाओं के आपसी द्वेष और ईर्ष्या के कारण पृथ्वीराज को पराजित होना पड़ा। फिर भी पृथ्वीराज का नाम

भारतीय इतिहास में वीरता और राष्ट्र प्रेम के लिए तथा धर्म-रक्षक के रूप में अमर बन गया है।

(७) चन्देल वंश

आधुनिक बुन्देलखण्ड में नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चन्देल राजपूतों की शक्ति का उदय हुआ। उत्कीर्ण लेखों में उनकी दी हुई परम्परा के अनुसार चन्देलवंश में उत्पन्न चन्द्रात्रेय इनके आदि पुरुष थे, इसीलिये ये चन्देल कहलाये। इस वंश के एक राजा जेजा के नाम पर उनका राज्य जैज्जाकभुक्ति कहलाया। पहले चन्देल प्रतीहारों के "करद सामन्त" थे। प्रतीहारों की शक्ति क्षीण होने पर वे स्वतन्त्र हुये। धीरे धीरे इस वंश के राजाओं ने चेदि, मालवा, महाकोशल पर अधिकार कर अपना राज्य बढ़ाया। उनके राज्य में खजुराहो और कालंजर भी शामिल थे।

धंग (सन् ६५०—१००२ ई०)—इस वंश का बड़ा प्रतापी और विजयी शासक धंग हुआ। उसने प्रतीहारों से ग्वालियर भी छीन लिया। बनारस तथा आस-पास के प्रदेशों तक उसका प्रभाव बढ़ता गया। इसके बाद गंड उसका उत्तराधिकारी हुआ। यह भी शक्तिशाली राजा था। उसने तुर्कों के विरुद्ध संगठित संघ में भाग लिया। इसके बाद महमूद ने कन्नौज के प्रतीहार राजा जयपाल को हराया। चूँकि कायरतापूर्वक जयचन्द ने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली थी, अतः गंड ने क्रोधित हो उसे हराया और कन्नौज की गद्दी पर दूसरे को बैठाया। इससे महमूद बहुत क्रोधित हुआ और महमूद ने गंड पर आक्रमण कर दिया। महमूद को इस आक्रमण में विशेष सफलता नहीं मिली। इस वंश में अनेक राजा हुये और उनका समसामयिक अन्य राज्यों से युद्ध होता रहा। पृथ्वीराज चौहान ने इन पर आक्रमण कर कमजोर कर दिया। सन् १२०३ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालिंजर पर आक्रमण कर अपना अधिकार कर लिया। चन्देलों ने दक्षिण में खिसक कर एक अन्य छोटा राज्य कायम किया। इसी राज्य में महारानी दुर्गावती हुई जो अकबर से लड़ती हुई सन् १५६४ ई० में वीरगति को प्राप्त हुई। महारानी दुर्गावती के कारण इस वंश को आज भी लोग आदर के साथ स्मरण करते हैं। इस वंश के

राजाओं ने खजुराहो, कालिंजर, महोबा में अनेक भव्य महलों, मन्दिरों तथा सरोवरों का निर्माण कराया।

(८) कलचुरि वंश

चन्देलों के दक्षिण में कलचुरी वंश के राजाओं ने त्रिपुरी (जबलपुर के पास) में अपना राज्य स्थापित किया था। ये प्राचीन हैहय क्षत्रियों के वंशज थे। इस वंश का प्रसिद्ध राजा गांगेय-देव हुआ। वह लगभग १०१६ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने बनारस, प्रयाग को जीत लिया। इसका युद्ध मालवा के परमार और कालिंजर के चन्देल राजाओं से होता रहा। इसी पारस्परिक युद्ध में इनकी शक्ति क्षीण हो गयी।

(९) परमार वंश

दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मालवा में प्रतीहार वंश का आधिपत्य नष्ट हो गया और वहाँ परमार वंशीय राजाओं का अधिकार हो गया। इस वंश का प्रथम स्वतन्त्र और शक्तिशाली राजा श्री हर्ष (सीयक) था। इस वंश का एक अन्य प्रसिद्ध राजा मुञ्ज हुआ। इसने त्रिपुरी के कलचुरि, तथा गुजरात, कर्नाटक के राजाओं को परास्त किया और श्रीवल्लभ तथा अमोघवर्ष की उपाधियाँ धारण की। उसकी सबसे शानदार विजय कल्याणी के चालुक्य राजाओं के विरुद्ध हुई थी। मुंज विजेता होने के साथ-साथ कला का प्रेमी और सरस्वती का उपासक था। वह स्वयं विद्वान और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी सभा में परिमलगुप्त, धनञ्जय, अमितगति आदि विद्वान तथा कवि रहते थे।

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा भोज (१०१८—१०६० ई०) हुआ। वह बहुत ही लोकप्रिय और विजयी था। उसने सर्वप्रथम कल्याणी के चालुक्य राजा को परास्त किया। इसके बाद त्रिपुरी के गांगेय देव को हराया; धीरे धीरे वह कान्यकुब्ज तक बढ़ गया। उसने गुजारत को भी जीता, भोज के शासन के अन्तिम काल में उसके शत्रुओं की संख्या अधिक हो गयी थी। उसको कल्याणी के चालुक्यों ने एक बार परास्त किया। आस-पास के अन्य राजाओं ने भी भोज के विरुद्ध एक संघ बनाया था। अभी युद्ध चल ही रहा था कि भोज की मृत्यु हो गयी।

"भोज की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और उसके कृत्यों का वर्णन आज तक घर-घर में प्रचलित जनश्रुतियों में सुरक्षित है। वह कुशल सेनानी, राजनीति में दक्ष और कला तथा साहित्य का प्रेमी और पोषक था जिसके फलस्वरूप उसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली।" भारतीय अनुश्रुति के अनुसार एक-एक श्लोक के एक-एक चरण पर वह एक लाख मुद्राएँ पारितोषिक देता था। अनेक ग्रन्थों के रचयिता के रूप में उसका नाम प्रसिद्ध है। उनमें से कुछ ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—आयुर्वेद-सर्वस्व, राजमृगांक, व्यवहार-समुच्चय, शब्दानुशासन, सरस्वती कण्ठाभरण, युक्ति कल्पतरु आदि। धारा नगरी में उसने संस्कृत का एक विद्यालय 'भोज शाला' के नाम से स्थापित किया। भोपाल के पास ही भोजपुर नामक एक नगर बसाया और उसकेपास एक बहुत बड़ी झील का निर्माण कराया। भोज की राजसभा में विद्वानों तथा कवियों का जमघट लगा रहता था। कहा जाता है कि भोज की मृत्यु से कला और विद्या निराश्रित हो गयी।

परमार वंश का अन्त—भोज के बाद इस वंश का ह्रास होने लगा। कल्याणी के चालुक्य और गुजरात के सोलंकी राजाओं के संघर्ष के बीच ही भोज की मृत्यु हुई थी। अतः भोज के बाद इस वंश का पराक्रम क्षीण होने लगा और मालवा का परमार राज्य बाद में साधारण कोटि का एक स्थानीय राज्य रह गया। सन् १३०५ ई० में अलाउद्दीन के एक सेनापति ने मालवा पर चढ़ाई की और परमार-सत्ता का अन्त कर दिया।

(१०) बंगाल का पाल वंश

बंगाल चौथी शताब्दी ई० पू० में नन्दों और मौर्यों के अधिकार में था। गुप्त वंश का अधिकार भी बंगाल पर था, पर हर्ष के समय में बंगाल (गौड़) का राजा शशांक था। शशांक बहुत बलवान राजा था। उसके राज्य में कलिंग भी शामिल था। शशांक ने हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन को मार डाला था और कन्नौज पर अधिकार करने की बात सोची थी। वह बौद्धों का भयंकर शत्रु था। उसने अनेक बौद्ध विहारों को ध्वस्त करा दिया और गया के बोधि वृक्ष को जड़ से इसलिए कटवा दिया कि वह पुनः पनप

न सके। शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल हर्ष के अधिकार में आ गया। हर्ष की मृत्यु के कुछ समय बाद बंगाल में अराजकता फैल गयी। उसी समय एक महत्वाकांक्षी युवक गोपाल ने एक राजवंश की स्थापना की। वही 'पाल' वंश का प्रथम राजा था। गोपाल सन् ७२५ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। इस वंश के सब राजाओं का नामान्त 'पाल' है।

गोपाल ने शीघ्र ही सारे बंगाल पर अधिकार कर लिया है। वह बौद्ध था और उसने अनेक विहार बनवाये। उसने ७७० ई० तक शासन किया। इस प्रकार उसका शासन काल लगभग ४५ वर्ष तक रहा। उसके बाद उसका पुत्र धर्मपाल राजा हुआ। धर्मपाल ने उत्तरी भारत की प्रभुता के लिए प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों से अनेक बार युद्ध किया। वह विद्या तथा कला का प्रेमी था। उसने भागलपुर के पास गंगा के किनारे विक्रमशिला नामक महाविहार बनवाया जो विद्या का बहुत प्रसिद्ध हो गया। सन् ८१५ ई० के लगभग उसका पुत्र देवपाल राजा हुआ। वह पालवंश का सबसे अधिक प्रसिद्ध राजा था। उसने उड़ीसा और आसाम जीत लिया और भोज प्रतिहार की शक्ति को रोका। उसका राजनैतिक सम्बन्ध बरमा, सुमात्रा, जावा आदि देशों से था। वह बौद्ध था और उसने अनेक विहारों एवं चैत्यों को बनवाया और दान दिया।

उत्तरकालीन राजाओं में महीपाल, विग्रहपाल, रामपाल आदि प्रसिद्ध राजा इस वंश में हुए। सन् १०२६ ई० में कांची के चोल राजा राजेन्द्र ने बंगाल पर आक्रमण किया। मालूम होता है कि ११७५ ई० तक किसी न किसी रूप में पाल वंश चलता रहा। इस प्रकार लगभग ४०० वर्षों तक इस वंश ने बंगाल की उपजाऊ भूमि पर राज्य किया। इस वंश के राजाओं ने अनेक विहारों, विद्यालयों तथा मन्दिरों का निर्माण कराया। बौद्ध होते हुए भी इस वंश के राजाओं ने उदारता और सहिष्णुता की नीति अपनायी।

(११) बंगाल का सेन वंश

ग्यारहवीं सदी के मध्य में सामन्तदेव ने उड़ीसा में सुवर्ण रेखा नदी के किनारे एक नये राज्य की नीव डाली। यह वंश सेन वंश के नाम

से प्रसिद्ध हुआ। इस वंश का प्रथम स्वतंत्र और शक्तिशाली राजा **विजयसेन** हुआ। सम्भवतः उसने सन् १०६५ से ११५८ ई० तक राज्य किया। इस वंश का प्रसिद्ध राजा **लक्ष्मणसेन** हुआ। उसने आसाम और कलिंग पर आक्रमण किया। उसने लक्ष्मणावती (लखनौती) को अपनी राजधानी बनाया। वह विद्वानों तथा कवियों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में गीत गोविन्द के लेखक जयदेव रहते थे। उसके बाद सेन वंश की शक्ति क्षीण हो गयी। इस वंश के अन्तिम राजा को कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बिन-बख्तियार ने ११९९ ई० में परास्त किया। सेन राजा खिड़की के रास्ते भाग गया और गौड़ पर तुर्कों का अधिकार हो गया।

(१२) गुजरात का चालुक्य अथवा सोलंकी वंश

हर्ष के बाद गुजरात (लाट) पर प्रतीहारों का प्रभाव तथा प्रभुत्व था। उनकी शक्ति क्षीण होने के बाद वहाँ चालुक्य (सोलंकी) वंश की स्थापना हुई। यह मूलतः दक्षिण के चालुक्यों की एक शाखा थी। इनकी राजधानी अंहिलवाड़ थी। इस वंश का प्रथम राजा **मूलराज** था। उसने लगभग ९४१ ई० में अपना राज्य स्थापित किया। वह शैव था। उसका देहांत लगभग ९९५ ई० में हुआ।

इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा **भीम प्रथम** (सन् १०२१ से १०६३ ई० तक शासन-काल) था। उसी के शासन काल में महमूद गजनी ने सुराष्ट्र पर आक्रमण किया था। भीम डर से भाग निकला और महमूद ने सन् १०२५ ई० में प्रसिद्ध मन्दिर सोमनाथ को लूटा। मन्दिर की विपुल सम्पत्ति लूट और मूर्ति को तोड़ कर वह वापस लौट गया। महमूद के लौटने बाद भीम प्रथम ने अपयश दूर करना चाहा और आस-पास के राज्यों को जीतने की कोशिश की।

भीम के बाद उसका पुत्र कर्ण राजा हुआ और उसने लगभग सन् १०६३ से १०९३ ई० तक राज्य किया। उसके बाद जयसिंह **सिन्धुराज** (लगभग १०९३ ई० से ११४३ ई० तक) राजा रहा। वह इस वंश का सबसे अधिक प्रतापशाली राजा था। उसने चाहमान और अन्य राजाओं

को परास्त किया । एक बार उसने परमारों की राजधानी धारा को भी जीत लिया । वह शैव था और उसने अनेक मन्दिर बनवाये ।

सन् ११७० ई० के बाद इस वंश की अवनति शुरू हुई । सन् ११७८ ई० में गोर के तुर्कों ने इस राज्य पर हमला किया । गुजरात को अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १२९७ ई० में जीत लिया और राजधानी को खूब लूटा । कुछ दिनों बाद गुजरात से हिन्दू राज्य लोप हो गया और मुसलमानी राज्य यहाँ सदियों तक फलता फूलता रहा ।

राजपूत कौन थे ?

राजपूत शब्द की व्युत्पत्ति—राजपूत संस्कृत शब्द राजपुत्र का अपभ्रंश है । प्राचीन काल में राजपुत्र शब्द से किसी जाति का बोध नहीं होता था, बल्कि यह राजकुमार या राजवंश का सूचक था । इस शब्द का प्रयोग मुसलमानों के आने के पूर्व कभी भी किसी एक जाति के लिए नहीं हुआ । चूँकि क्षत्रिय वर्ग ही भारत में शासन करता था अतः उस वर्ग के लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग मुसलमानी युग में प्रारम्भ हो गया । धीरे-धीरे यह शब्द जाति-सूचक हो गया और कुछ दिनों बाद क्षत्रिय वर्ग राजपूत नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

भारतीय उत्पत्ति—प्राचीन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि भारतीय आर्यों की मूलतः दो शाखाएँ थीं, उनमें से एक सूर्य वंश और दूसरी चन्द्र वंश के नाम से विख्यात थी । बाद में एक शाखा यदुवंश के नाम से विख्यात हुई । धीरे-धीरे आर्यों में चार मुख्य जातियाँ और अनेक अन्य उपजातियाँ पैदा हो गयीं और प्रत्येक जाति या उपजाति का नाम उसके एक मूल पुरुष के नाम पर चल पड़ा । अतः रामायण, महाभारत के क्षत्रिय वंशों की विभिन्न शाखाएँ ही हर्ष के बाद भारत के विभिन्न भागों में उठ खड़ी हुई और स्थान स्थान पर उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया । इनमें से कुछ अपने को सूर्यवंशी, या चन्द्रवंशी कहते हैं और कुछ यदुवंशी कहते हैं और वे अपने को राम, कृष्ण, लक्ष्मण, अर्जुन इत्यादि क्षत्रिय महापुरुषों के वंशज मानते हैं ।

अग्निकुल का सिद्धान्त और विदेशी उत्पत्ति—कर्नल टाड और उसके बाद के पाश्चात्य विद्वानों ने राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उन्होंने जोर दिया कि भारतीय राजपूत राजाओं में अधिकांश की उत्पत्ति मध्य एशिया से आये शक और सिथियन सरदारों से हुई हैं और जो शक सिथियन भारत में आये थे, उनमें से कुछ समय पाकर पुनः प्रबल हो उठे और उन्होंने ही हर्ष के बाद भारत में यत्र-तत्र अपने राज्य स्थापित किये। इस सम्बन्ध में एक भारतीय अनुश्रुति का सहारा लिया गया। यह कथा पृथ्वीराज रासो में वर्णित है और उसमें कहा गया है कि एक बार परशुराम ने क्रोधित होकर क्षत्रियों का संहार किया और पृथ्वी को क्षत्रिय-हीन कर दिया। तब कोई शासक न रहा और सर्वत्र अराजकता फैल गयी। उस समय देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की और ब्रह्मा ने आबू पर्वत पर २० दिनों तक एक महान यज्ञ किया। उसी यज्ञाग्नि कुण्ड से प्रतीहार, परमार, चालुक्य (सोलंकी) और चौहान चार जातियाँ पैदा हुईं जिन्होंने राज्य-संचालन का कार्य सम्भाला। राजपूतों के इन चार वंशों को अग्निवंशी कहा जाता है। इस अनुश्रुति का मतलब कुछ यूरोपीय विद्वानों ने यह लगाया कि ब्राह्मणों ने अरबों और तुर्कों से देश की रक्षा करने के लिए यज्ञाग्नि के सम्मुख कुछ विदेशी राजवंशों को शुद्ध किया और उनसे देश-रक्षा की शपथ ली तथा उन्हें क्षत्रिय घोषित किया। इस प्रकार ये विदेशी हिन्दू धर्म में दीक्षित किये गये औह उन्होंने अग्निवंशी क्षत्रिय की उपधि धारण की।

यूरोपीय विद्वानों की इस धारणा से कुछ भारतीय विद्वान बिलकुल सहमत नहीं हैं और टाड तथा उनके अनुयायियों की इस धारणा को वे असंगत एवं कपोलकल्पित मानते हैं। उनका कहना है कि अग्निकुल की कथा बहुत बाद की कथा है और उस कथा का प्रथम संकेत सोलहवीं सदी में मिलता है। पर इन चार जातियों का इतिहास इस समय से लगभग एक हजार वर्ष पुराना है। इस काल में लिखित किसी साहित्यिक ग्रन्थ और किसी उत्कीर्ण अभिलेख में इस कथा का संकेत नहीं मिलता है। बल्कि इसके विरुद्ध इन जातियों से सम्बन्धित सब प्रमाणों में इनका प्राचीन क्षत्रिय कुल से ही सम्बन्ध दिखलाया गया है। सोलहवीं सदी के पूर्व इस यज्ञाग्नि कुल की अनुश्रुति का किसी को

पता ही न था। ज्ञात होता है कि इन चार जातियों ने प्रारम्भ से ही अरबों तथा तुर्कों के विरुद्ध लोहा लिया और किसी अज्ञात चारण ने उनके शौर्य और वीरता के प्रदर्शन के लिए इस अनुश्रुति को 'पृथ्वीराज रासो' में जोड़ दिया क्योंकि इसके पूर्व की 'पृथ्वीराज रासो' की हस्तलिखित किसी प्रति में इस कथा का उल्लेख नहीं है। अतः अग्निकुल का सिन्द्धात ऐतिहासिक नहीं जान पड़ता है।

इन राजपूत वंशों की विदेशी-उत्पत्ति के विषय में एक और तर्क उपस्थित किया जाता है। कुछ स्थानों पर प्रतीहार के साथ 'गुर्जर' शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः कुछ विद्वानों का कहना है कि चूँकि 'गुर्जर' जाति विदेशी थी, अतः प्रतीहार भी विदेशी हुए। पर यह मत भी तर्क-संगत नहीं है क्योंकि गुर्जर (गूजर) जाति एक भारतीय जाति है और इस जाति के लोग राजस्थान के दक्षिण-पूर्व प्रदेश गुर्जर में रहते थे। साथ ही प्रतीहार जाति का गूर्जर जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर प्रतीहार के साथ गूर्जर शब्द का प्रयोग केवल इसीलिए होने लगा कि प्रतीहारों की शक्ति सर्व-प्रथम इसी गुर्जर प्रदेश में संगठित हुई और यहीं से इन लोगों ने अपना राज्य बढ़ाया। अतः स्थान के नाम पर ये 'गुर्जर-प्रतीहार' कहलाये। साथ ही यह भी बात विचारणीय है कि 'गुर्जर' शब्द का अर्थ और उसका प्रयोग विद्वानों ने मनमाने ढङ्ग से किया और इस विषय में उनमें बहुत मतभेद है। कोई गुर्जर का सम्बन्ध तुर्क जाति से स्थापित करता है, किसी ने उन्हें भारत में प्रवेश करने वाली 'हूण' जाति की सन्तान कहा है, कुछ अन्य विद्वानों ने गुर्जरों का सम्बन्ध यूची या कुशन जाति से बतलाया है। इस प्रकार गुर्जर शब्द के विषय में विद्वानों ने केवल कल्पना और अटकलबाजी से ही काम लिया है। ऐसी स्थिति में राजस्थान के दक्षिण पूर्व के 'गुर्जर' प्रदेश के नाम पर प्रतीहारों को गुर्जर-प्रतीहार कहना अधिक तर्क-संगत जाना पड़ता है।

इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार राजपूतों को प्राचीन क्षत्रिय कुल का ही मानना उचित मालूम पड़ता है। तत्कालीन अभिलेखों तथा ग्रंथों में प्रतीहार वंशी सम्राट को सूर्यवंश और चौहानों को रघुकुल वंश से उत्पन्न माना गया है। किसी विद्वान ने अब तक इन वंशों का सम्बन्ध किसी विदेशी जाति से सप्रमाण नहीं सिद्ध किया है।

राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में विदेशी तत्वों के शामिल होने के सिद्धान्त को प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ ने एक दूसरे ही ढङ्ग से प्रतिपादित करने की कोशिश की है। उनका मत है कि दक्षिण भारत में गोंड़, भर, खरवड़ आदि जंगली जातियाँ रहती थीं। इन्हीं जातियों से चन्देल, राठौर, गहरवार आदि जातियाँ निकलीं और उन्होंने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमा से जा मिलायी। इन जातियों ने क्षत्रियों का काम अपनाया और वे क्षत्रिय या राजकुल के बन गये। बाद को ब्राह्मणों और चारणों ने उन्हें हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिया। इसमें सन्देह नहीं कि समय-समय पर बाहर से आने वाली जातियाँ और कुछ मूल निवासी सुविधा के अनुसार भारतीय समाज में घुल-मिल गये और वे अब स्वतंत्र जाति के रूप में नहीं दीख पड़ते। "अवश्य ही अपने व्यवसायों के अनुसार उनका समिश्रण भारतीय समाज में हुआ होगा और युद्ध-प्रिय अङ्ग क्षत्रिय वर्ण में शामिल हो गया होगा। कालान्तर में पारस्परिक विवाह आदि के कारण उनकी जातिगत विषमताएँ दूर हो गयी होंगी।" पर इस आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि राजपूतों में से प्रमुख राज-वंशों की उत्पत्ति विदेशी है। यदि यह एक क्षण के लिए मान लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि भारत के प्राचीन क्षत्रिय-कुलों का क्या हुआ और वे कहाँ विलीन हो गये?

अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राजपूतों के विभिन्न वंशों की उत्पत्ति भारत के प्राचीन क्षत्रिय-कुलों से हुई है; उनमें प्राचीन परम्परागत आत्माभिमान, राष्ट्रप्रेम, स्वतंत्रताप्रेम और हिन्दू धर्म के प्रति गौरव की भावना सामान्यतः बराबर अंश में पायी जाती है। हाँ, यह सच है कि समय की गति के साथ-साथ उनमें कुछ विदेशी या कुछ मूल निवासियों के अंश का समिश्रण होता रहा और उन विजातीय अङ्गों को भारतीय क्षत्रियों ने आत्मसात् कर लिया। पर मूलतः राजपूत भारत के प्राचीन क्षत्रियों की ही सन्तान हैं।

राजपूत-युग की विशेषताएँ

(१) राजनीति---इस अध्याय में भारत का लगभग चार सौ वर्षों का इतिहास लिखा गया है। इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट मालूम होता है कि इस देश में हर्ष के बाद अनेक प्रान्तीय और वंशगत राज्य स्थापित हो गये थे।

और देश छोटे छोटे राज्यों में विभाजित था। इनमें से कुछ राज्यों ने देश में एकात्मक तथा केन्द्रीय शासन स्थापित करने का प्रयास किया, पर उनमें से किसी को इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिली और देश राजनैतिक एकता के सूत्र में नहीं बँध सका। इस युग की एक विशेषता यही मानी जाती है और इससे देश को कालान्तर में नुकसान उठाना पड़ा। इस पूर्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास की दूसरी विशेषता राजाओं का निरंकुश होना था। देश में एक कोने से दूसरे कोने तक स्थापित विभिन्न राजवंशों में कोई वंश गणतंत्रात्मक प्रणाली का समर्थक नहीं था। गुप्तकाल तक भारत में गणतन्त्रों का अस्तित्व था, पर उसके बाद उस पद्धति का लोप हो गया और पुनः उनकी स्थापना का कोई उदाहरण हमें देखने को नहीं मिलता। गणतन्त्रों के युग में भारतीय जनता के मन में राज्य, शासन तथा सरकार के प्रति एक प्रकार की जीवित जागरुकता बनी रहती थी, पर इस युग में उस प्रकार की चेतना का सर्वथा अभाव था। इस प्रकार राज्य की सारी शक्ति एक राजा में केन्द्रित हो गयी और साधारण जनता एक प्रकार से देश की राजनीति से उदासीन हो गयी। राजपूत युग में इस प्रकार जनता का राष्ट्रीयता की भावना से रहित होना राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हुआ। सच्ची और सजीव राष्ट्रीयता, स्वदेश-प्रेम तथा स्वातन्त्र्य-प्रेम के अभाव में उदासीनता, चाटुकारिता, दब्बूपन या झूठी प्रशस्ति की आदत ने देश के राजनैतिक जीवन को भीतर से खोखला बना दिया। इस युग की अन्य मुख्य बात विभिन्न राज्यों में पारस्परिक फूट, कलह, युद्ध, का निरंतर चलते रहना है। इन दिनों किसी देश व्यापी संगठन का अभाव रहा। प्रीतहार-पाल-राष्ट्रकूट के पारस्परिक संघर्ष, चौहान और गहरवार वंश का द्वेष और मालवा और सुराष्ट्र के राजवंशों के युद्ध इस युग के प्रधान ऐतिहासिक द्वन्द्व थे। इस दुर्भाग्यपूर्ण वातावरण का यह कुफल हुआ कि भारतीय नरेश विदेशियों के सम्मुख धराशायी हो गये। इस समय देश में अनावश्यक आत्मसम्मान, अहंकार एवं पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का वातावरण जोर पर था और इससे देश की राजनैतिक शक्ति कमजोर हो गयी।

इस युग में शासन-प्रणाली के क्षेत्र में कोई नवीन प्रयोग नहीं हुआ। सारे देश में एक समान शासन-व्यवस्था थी। राजा राज्य का सार्वभौम होता था, उसकी शक्ति सैनिक संगठन और निपुणता पर निर्भर थी।

और वह निरंकुश राजतंत्र का प्रतीक होता था। मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था शिथिल हो गयी थी और मंत्रियों का पद शक्ति-रहित हो गया था। प्रान्तीय शासन प्रायः सामन्तों के हाथ में था और स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं तथा ग्राम-पंचायतों का संगठन छिन्न-भिन्न हो रहा था। सेना के संगठन में रथों की प्रथा समाप्त हो चुकी थी, पर अभी हाथियों का व्यवहार युद्ध में होता था। अश्वारोही सैनिकों की प्रथा बढ़ रही थी। इस युग में किसी प्रकार के नये सैनिक अस्त्र-शस्त्र का निर्माण नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इस समय कूटनीति की परम्परा का ह्रास हो चला था और देश में सामान्त नीति और पर राष्ट्र-नीति का प्रायः अभाव था। विभिन्न राज्यों के नरेश विदेशों के साथ सम्पर्क नहीं रखते थे और न इसके लिए विशेष प्रयास ही करते थे। इससे देश की राजनैतिक और सामाजिक गतिशीलता नष्ट हो गयी थी।

(२) समाज—"इन पाँच सौ वर्षों में जिस प्रकार भारतीय राजनीति बाहर के प्रभाव से अछूती रहकर संकीर्ण बन गयी थी उसी प्रकार भारतीय समाज भी।" इस समय सभी वर्णों में जड़ता आ गयी थी, वर्ण-परिवर्तन का क्रम बन्द हो गया था, जातियों में ऊँच-नीच का भेदभाव दृढ़ता से जम गया था। इससे व्यापक सामाजिक दृढ़ता की भावना कमजोर हो गयी थी। इस युग में और उसके बाद के भारतीय समाज में विजातीय अंशों को आत्मसात् करने की शक्ति का सर्वथा ह्रास हो गया था। इसके पूर्व अनेक विदेशी जातियों को भारतीय समाज ने अपने में खपा लिया था, पर अब ऐसा सम्भव नहीं था। विवाह प्रथा में अब व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य वर्ण अपनी बिरादरी के क्षेत्र के बाहर नहीं जाते थे। राजकन्याओं के लिए स्वयंवर की प्रथा थी। स्त्रियों के पढ़ाने की प्रथा थी। मण्डन मिश्र की स्त्री भारती ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था। भास्कराचार्य की पुत्री लीलावती गणित में प्रवीण थी, राजशेखर की स्त्री एक उच्च कोटि की कवियित्री थी। अभी तक स्त्रियों में पर्दा की प्रथा नहीं थी। धनी लोगों में बहु विवाह की प्रथा थी। छोटी जातियों में विधवा विवाह होता था। उच्च वर्णों में अब सती प्रथा चल पड़ी थी। देवदासी की प्रथा भी थी।

(३) **धार्मिक अवस्था**—इस युग में ब्राह्मण धर्म का प्रचार अधिक था और बौद्ध तथा जैन धर्म का ह्रास हो गया था; बौद्ध धर्म को कुछ दिनों तक बंगाल में राजाश्रय प्राप्त हुआ। इस युग के प्रारम्भ में कुमारिल और शंकराचार्य जैसे ब्राह्मण-धर्म के प्रचारक हुए। शंकराचार्य के व्यापक प्रभाव और प्रचार के कारण ब्राह्मण धर्म में एक नया जोश और नयी शक्ति आ गयी। शंकराचार्य ने अत्यन्त कुशलता से वैदिक दर्शन को पुनः प्रचारित करते हुए बौद्ध दर्शन का अधिक अंश भी अपना लिया। इन्हीं के प्रयास से "बौद्ध धर्म क्रमशः नव जाग्रत ब्राह्मण या वैदिक धर्म में विलीन हो गया।" शंकराचार्य दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। उन्होंने ३२ वर्ष की ही अवस्था में विद्याभ्यास कर अनेक वैदिक ग्रंथों की टीका की और सारे भारत का भ्रमण कर ब्राह्मण धर्म का प्रतिपादन किया और बौद्धों को शास्त्रार्थ में हराया। उन्होंने ही रामेश्वरम्, पुरी, द्वारिका और बदरिकाश्रम में चार मुख्य मठों की स्थापना की जो उनकी धार्मिक विजय के ध्वज के रूप में सीमान्त में आज भी खड़े हैं। उन्होंने दर्शन में अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया और आत्मा तथा परमात्मा को एक ही माना। उनके प्रचार का मुख्य आधार उपनिषदों का दर्शन था।

ब्राह्मण धर्म के इस उत्थान के साथ-साथ देश में भक्ति-मार्ग का प्रचार हो चला। इस क्षेत्र में शैव, वैष्णव और शाक्त तीन प्रधान धाराएँ निकलीं। इससे मूर्ति-पूजा और देवालयों की प्रधानता बढ़ी। देश के कुछ हिस्सों में विशेष कर उड़ीसा, बंगाल, बिहार में तांत्रिक पद्धति का जोर हुआ और उसका सम्प्रदाय वाममार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ जो मदिरा, माँस आदि का अधिक प्रयोग करने लगा। इस युग में बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया और बौद्ध बिहार तथा मठ व्यभिचार तथा विलासिता के केन्द्र हो गये। बौद्ध तंत्र-मंत्र और सिद्धियों में विश्वास करने लगे थे। एक तरफ इन आन्तरिक कमजोरियों के कारण और दूसरी ओर शंकराचार्य के प्रचार से बौद्ध धर्म प्रायः भारत से लुप्त ही हो गया। हिन्दुओं ने बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया।

दक्षिण भारत में लिंगायत-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। इस सम्प्रदाय में शिवलिंग की पूजा होती है। ये अपने को शिवचर या वीरशैव कहते हैं।

इनमें शिवलिंग-पूजन, भस्म-लेपन तथा गुरु की आज्ञापालन का प्रचलन है।

विष्णु पूजा का एक ढंग वृन्दावन में फैला। भक्तिमार्ग का जोर बढ़ा और विष्णु के सब से लोक प्रिय रूप कृष्ण की भक्ति का प्रचार हुआ। इस समय राधा तथा अन्य गोपियों के दैवी प्रेम की अनेक गाथाएँ चल पड़ी और भक्तगणों में भजन-पूजन का प्रचार अधिक होने लगा।

इस प्रकार देश के धार्मिक क्षेत्र में भी अनेक मत-मतान्तर चल पड़े, विभिन्न प्रकार के सम्प्रदाय स्थापित हुए। इस प्रकार देश का धार्मिक जीवन भी अनेक इकाइयों में बँट गया। यह बात सच है कि इन विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में एक दूसरे के लिए पर्याप्त उदारता पायी जाती थी पर इससे धार्मिक जीवन विशृंखलित हो गया। लोगों का ध्यान कर्म और पुरुषार्थ की अपेक्षा भक्ति और जप-योग पर अधिक जाने लगा। साधारण जनता भूत-प्रेत, जादू-टोना पर अधिक भरोसा करने लगी।

(४) भाषा और साहित्य—इस युग में संस्कृत की प्रधानता रही, पर साथ ही प्रान्तीय भाषाओं का भी प्रचार हुआ। कुमारिल, शंकर, रामानुज आदि इस युग के महान धर्माचार्य थे। शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद के प्रतिपादन में उपनिषदों पर भाष्य लिखा, वेदान्त सूत्रों पर भी उन्होंने ग्रंथ लिखे। इस युग में विभिन्न राजाओं ने अपने दरबार में अनेक विद्वानों को प्रश्रय दिया और उन्होंने उनकी सहायता में बड़ी उदारता से काम लिया। इस सम्बन्ध में अत्यन्त विद्या-प्रेमी और विद्वानों के पोषक और आश्रयदाता भोज तथा विग्रहराज (चतुर्थ) का नाम सदा आदर के साथ लिया जायगा। संस्कृत का प्रसिद्ध नाटककार भवभूति कन्नौज के यशोवर्मन् के दरबार में रहते थे। उन्होंने महावीर चरित, उत्तर रामचरित, मालती माधव नाम के तीन प्रसिद्ध नाटक को लिखे। उनका 'उत्तर रामचरित' करुण रस का सर्वोत्तम नाटक समझा जाता है। बंगाल के लक्ष्मण सेन के राजकवि जयदेव (१२वीं सदी) गीत काव्य के क्षेत्र में अद्वितीय माने जाते हैं। उनका 'गीतगोविन्द' अपने रमणीक गीतों के कारण आज भी सर्वप्रिय बना हुआ है। संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रंथों में कल्हण की राजतरंगिणी

का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। प्राकृत का प्रसिद्ध लेखक राजशेखर अपनी कर्पूर मंजरी के लिए विशेष प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी में चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' जो हिन्दी का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है, इसी युग में लिखा गया।

यद्यपि इस युग में शिक्षा-प्रणाली विशेष रूप से संगठित नहीं थी और शिष्य अपने गुरु के पास ही रहकर विद्याध्ययन करते थे, पर ऊपर की बातों से यह स्पष्ट है कि इस युग में साहित्य-सृजन का काम चलता रहा और भारतीय विद्वानों की प्रतिभा का स्रोत सूखने नहीं पाया। राजनैतिक व्यवस्था में विश्रृङ्खलता के होते हुए भी साहित्य के विविध क्षेत्रों में नये-नये ग्रंथ लिखे गये और राजाओं ने उदारता के साथ विद्वानों को आश्रय दिया, उन्हें पुरस्कृत किया और उनका उचित आदर किया। भारतीय जीवन का यह पक्ष राजनैतिक जीवन की अपेक्षा अधिक दृढ़ और सुरक्षित रहा और देश की प्रतिभा का प्रस्फुटन पर्याप्त मात्रा में हुआ। भारत की प्रायः सभी आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं का जन्म इसी युग में हुआ और हिन्दी ने भी धीरे-धीरे अपना स्वरूप इसी युग में सँवारना शुरू किया था जिसका प्रस्फुटित और विकसित रूप हमें आज राष्ट्रभाषा के रूप में प्राप्त है।

(५) ललितकला और स्थापत्य—तुर्कों के आक्रमण से इस युग की अधिक कृतियाँ नष्ट हो गयी हैं, पर जो थोड़ी सी बच रहीं, उनसे पता चलता है कि कला और स्थापत्य के क्षेत्र में यह युग बहुत महत्वपूर्ण रहा है। इस युग में देवी-देवताओं की पूजा के लिए अनेक विशाल मन्दिर बनवाये गये। उत्तरी भारत में जो देवालय बने उनके शिखर ऊँचे और नुकीले थे। इस प्रकार की शैली को 'नागर शैली' कहा जाता है। दक्षिण भारत के देवालयों का निर्माण 'बेसर शैली' के अधार पर हुआ जिनके नमूने बीजापुर और उसके आस-पास के चालुक्य-स्थापत्य में पाये जाते हैं। तीसरी शैली सुदूर दक्षिण में 'द्रविण शैली' थी, जिसके विशाल मन्दिर आज भी आकर्षण की वस्तु बने हुए हैं और जिस पर विमान और रथ के आकार बनाये जाते थे। इन मन्दिरों में लालित्य, हस्तकौशल, अलंकार और सजावट का पुट अधिक पाया जाता है। उत्तर भारत में चन्देलों

के द्वारा निर्मित बुन्देलखण्ड में खजुराहो, उड़ीसा में भुवनेश्वर का मन्दिर, आबू पर्वत पर निर्मित मन्दिर, उदयपुर (ग्वालियर) में उदयेश्वर मन्दिर, काश्मीर का मार्तण्ड मन्दिर इस काल के स्थापत्य के सजीव नमूने हैं। दक्षिण के मन्दिरों में अजन्ता और इलोरा के गुहा मन्दिर बहुत आकर्षक और प्रसिद्ध हैं। इलौरा का कैलाश मन्दिर तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। दक्षिण शैली के स्थापत्य में तंजोर, काञ्ची, मथुरा के मन्दिरों के नाम उल्लेखनीय हैं। 'इन मन्दिरों के कई भाग होते थे—(१) गर्भ गृह जहाँ मूर्ति की स्थापना होती थी (२) अन्तराल अर्थात् गर्भ गृह के आगे का भाग (३) मण्डप अर्थात् यात्रियों तथा दर्शकों के बैठने का भाग और (४) तोरण अर्थात् मण्डप के आगे का अलंकृत भाग। द्रविण शैली की चहार दीवारी के द्वार पर एक विशाल गोपुर भी होता था।' ये मन्दिर अतुल धन-राशि खर्च कर बनवाये गये थे और भारतीयों के निर्माण-कौशल के उज्वल तथा जीवित उदाहरण के रूप में आज भी खड़े हैं।

मूर्तिकला – स्थापत्य की तरह मूर्तिकला का भी इस काल में बड़ा विकास हुआ। विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, ब्रह्मा, गणेश, यक्ष, किन्नर, गंधर्व आदि की मूर्तियाँ ब्राह्मण धर्म में; बुद्ध, अवलोकितेश्वर, बोधिसत्व आदि की मूर्तियाँ बौद्ध धर्म में और जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ जैन धर्म में उपासना और पूजा के लिए बनती थीं। द्रविण प्रदेश में राजा-रानी की मूर्तियाँ भी मन्दिरों में प्रतिष्ठित की जाती थी।' मन्दिरों के अलंकार के लिए पशु - पक्षी, लता, पुष्प, वृक्ष आदि के चित्र और उनकी आकृतियाँ बनायी जाती थीं। अधिकांश मूर्तियाँ पत्थर की बनती थी। द्रविण प्रदेश में काँसे की नटराज की मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। इन मूर्तियों में अंग विन्यास और हाथ की सफाई उच्च-कोटि की थी।

निष्कर्ष—इस राजपूत युग की अनेक विशेषताएँ भारतीय इतिहास में अपना स्थान बना चुकी हैं। राजनीतिक क्षेत्र में पारस्परिक ईर्ष्या तथा द्वेष के होते हुए भी राजपूत राजाओं ने लगभग ४०० वर्ष तक अरबों और तुर्कों से देश की रक्षा की। यह भी आश्चर्य की बात है कि युद्धों के होते हुए भी देश धन-धान्य से पूर्ण था और राजपूत वीरता, उत्साह तथा सामरिक प्रवृत्ति में संसार के इतिहास में अपना जोड़ा नहीं रखते। धार्मिक सहिष्णुता भी इस

युग की एक आकर्षक विचार-धारा है। मूर्तिकला, स्थापत्य और साहित्य के क्षेत्र में भी इस युग की देन से भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अक्षय भण्डार क्रमशः धनी होता गया और आजतक इस युग की शूरता, आत्मत्याग सहन शीलता, नारीत्व के गौरव और सतीत्व का ऊँचा आदर्श तथा आत्म-बलिदान के उदात्त उदाहरण भारतीय जनता को अनुप्राणित करते आ रहे हैं। फिर भी इस युग की कमजोरियों से हमें आँखे नहीं मोड़नी चाहिए और भविष्य में सदा के लिए सतर्क रहना चाहिए। हमारी राजनीतिक अदूर-दर्शिता, सैनिक क्षेत्र में नवीन बातों की अग्राह्यशीलता और सामाजिक रूढ़िवादिता ने हमें कमजोर कर दिया और क्रियात्मक तथा व्यापक राष्ट्रवाद के अभाव का कारण बना जिससे हम अन्त में तुर्क-सत्ता द्वारा आकस्मिक पराभव के शिकार बने और देश उस तत्कालीन आघात को सहन नहीं कर सका।

सोलहवाँ परिच्छेद

दक्षिण और सुदूर दक्षिण के राज्य

दक्षिण भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। उस भाग में आधुनिक महाराष्ट्र (बम्बई), मध्यप्रदेश, आन्ध्र, मद्रास और हैदराबाद के कुछ भाग सम्मिलित हैं। इस प्रदेश को विन्ध्याचल की पर्वतमालाएँ और जङ्गल उत्तरी भारत से पृथक करते हैं। रामायण के अनुसार यहाँ सर्व प्रथम अगस्त्य ऋषि ने आर्य-सभ्यता का प्रचार किया था। पुनः रामचन्द्र सुदूर दक्षिण तक पहुँच गये थे। क्रमशः मौर्य, सातवाहन और गुप्त राजाओं ने इस प्रदेश को जीतकर राजनैतिक एकता स्थापित करने की चेष्टा की थी। हर्ष के समय में दक्षिण पथ में चालुक्य वंशी राजा राज्य करते थे और उन्होंने हर्ष को दक्षिण की ओर बढ़ने से रोक दिया था। राजपूत युग में उस प्रदेश में निम्नांकित प्रमुख वंशों के राज्य थे—

(१) वातापी का चालुक्य-वंश

चालुक्यों की उत्पत्ति के विषय में अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। मालूम पड़ता है कि उनके पूर्वज उत्तरी भारत के किसी क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए थे और राजस्थान से दक्षिण में पहुँच पाचवीं सदी के अन्त में उन्होंने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। छठवीं सदी के मध्य में इस वंश के के तृतीय राजा **पुलकेशिन** के समय में इस वंश की शक्ति प्रबल हुई। उसने वातापीपुर (बीजापुर के पास बादामी) को अपनी राजधानी बनायी और अश्वमेध यज्ञ किया।

इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा पुलकेशिन् द्वितीय हुआ। वह सन् ६०८ ई० में गद्दी पर बैठा वह हर्ष का समकालीन था। उसने "श्री पृथ्वी वल्लभ-सत्याश्रय" की उपाधि धारण की। उसने राष्ट्रकूट, कदम्ब, गङ्ग और केरल वंशीय राजाओं को परास्त किया, पुनः कोंकण को जीत लिया। उत्तर में लाट, गुजरात, गुर्जर और कन्नौजाधिपति हर्ष को भी परास्त किया। हर्ष के साथ

लगभग ६२० ई० में उसका युद्ध हुआ था। हर्ष को पराजित कर पुलकेशिन ने 'परमेश्वर' और 'दक्षिण-पथेश्वर' की उपाधि धारण की। लगभग सारे दक्षिणापथ पर उसका आधिपत्य हो गया था। उसने फारस आदि दूर के देशों में दौत्य सम्बन्ध स्थापित किया। उसके दरबार में हुएन त्सांग भी गया था। वह उसकी शक्ति और प्रजानुराग की प्रशंसा करता है। वह जैन-धर्म की ओर आकर्षित गया था। उसके दरबार में प्रसिद्ध कवि रविकीर्ति रहता था। उसकेसमय के गुहा-स्थापत्य और चित्रकला के नमूने अजन्ता में पाये जाते हैं।

पुलकेशिन् के अन्तिम दिन उतने सुखद नहीं रह पाये। सन ६४२ ई० में पल्लव राजा नरसिंह वर्मन ने वातापी पर आक्रमण कर उसे हराया। पुलकेशिन् भी उसी युद्ध में मारा गया। इस धक्के के बाद आन्ध्र में एक पृथक चालुक्य वंशीय राजा स्वतंत्र हो गया, जिसे पूर्वी चालुक्यवंश कहते हैं। सन् ६५५ के लगभग गुजरात में भी एक चालुक्य वंश की स्थापना हुई। वातापी के चालुक्य-वंश का राज्य लगभग ७५३ ई० में समाप्त हो गया जब नयी शक्ति से सम्पन्न राष्ट्रकूट राजा ने वातापी को अपने अधीन कर लिया।

(२) राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूट प्राचीन यादवों के वंशज थे और उत्तर भारत से आकर दक्षिण में बस गये थे। पहले ये वातापी के चालुक्यों के अधीन थे, पुनः सन् ७५३ ई० में वे स्वतंत्र हो गये। राष्ट्रकूट राजाओं ने ने पहले नासिक जिले में मयूरखण्ड और तत्पश्चात हैदराबाद में मान्यखेट (मालखेड) को अपनी राजधानी बनायी।

इस वंश का प्रथम स्वतंत्र राजा दन्तिदुर्ग था। इस वंश का अन्य प्रसिद्ध नरेश कृष्ण प्रथम (सन ७६०-७३ ई०) हुआ। वह प्रसिद्ध भवन-निर्माता था और उसने इलोरा का प्रसिद्ध कैलास-मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर पर्वत काट कर बनवाया गया है और यह भारतीय स्थापत्य का अद्भुत नमूना है। इस वंश अन्य प्रसिद्ध राजा ध्रुव (सन् ७८०-९३ ई०) हुआ जिसने गंगा-यमुना तक के प्रदेशों को जीत कर अपना प्रभाव-क्षेत्र व्यापक बनाया। उसने उज्जयिनी के राजा वत्सराज को और कान्यकुब्ज के राजा इन्द्रायुध को परास्त किया। इस वंश का सब से पराक्रमी राजा इन्द्र (सन् ८८०-९१४ ई०) हुआ जिसका प्रभाव-क्षेत्र गंगा से कन्या कुमारी तक फैला

था और जिसने कान्यकुब्ज के प्रतीहार राजा महीपाल को परास्त किया। उसने 'परम माहेश्वर' की उपाधि धारण की जिससे मालूम होता है कि वह शैव था। सन् ९१४ ई० में वह चोल राजा के साथ युद्ध में मारा गया। अन्तिम राष्ट्रकूट राजा कक्क को सन् ९७३ ई० में चालुक्य तैलप द्वितीय ने परास्त कर राष्ट्रकूटों का अन्त कर दिया।

(३) कल्याणी के चालुक्य

राष्ट्रकूटों को परास्त कर कल्याणी (मध्य हैदराबाद) में चालुक्य वंश का तैलप शक्तिशाली बन गया। इस प्रकार सन् ९७३ ई० में उसने चालुक्य वंश की एक नई शाखा की नींव डाली। इस वंश का राज्य ११९० ई० तक रहा। इस वंश में सत्याश्रय, विक्रमादित्य आदि कई राजा हुए। इनका मालवा के परमार और दक्षिण के चोल तथा यादव राजाओं से प्रायः युद्ध होता रहता था। अन्त में यादव राजाओं ने इनकी शक्ति क्षीण कर दी और उन्हीं के कारण इनका अन्त हुआ। इस समय दक्षिण में एक नये सम्प्रदाय "लिंगायतशैव" का उत्थान हुआ।

(४) देवगिरि के यादव

देवगिरि (दौलताबाद) में कल्याणी के चालुक्यों के बाद यादव वंश का उत्थान हुआ। इस यादव वंश में सिंहन (सन् १२००–१२४७ ई०) नामक का राजा बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने आसपास के परमारों, चेदियों, बघेलों को परास्त किया। वह कला और विद्या का भी प्रेमी था। इसके दरबार में संगीत-कलाकार के लेखक सारंगधर और ज्योतिषी चंगदेव रहते थे। इसी कुल के राजा के आश्रय में दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर भी रहते थे।

यादव राजा रामचन्द्र के समय में १२९४ ई० में सर्व प्रथम दक्षिण के ऊपर तुर्कों का हमला हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने धोखा देकर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। रामचन्द्र ने उससे विवश होकर संधि की और उसे ६०० मन मोती, २ मन रत्न, १००० मन चाँदी, ४००० थान रेशम और अन्य बहुमूल्य सामान दिया। बाद को रामचन्द्र और उनके वंशज स्वतंत्र होने की चेष्टा करते रहे, पर वे अपने प्रयास में विफल हुए और रामचन्द्र

के दामाद हरपाल का चमड़ा तुर्कों ने उतरवा लिया। इसके बाद दक्षिण तुर्क साम्राज्य का एक सूबा हो गया।

(५) कांची का पल्लव वंश

सुदूर दक्षिण में कांची में अति प्राचीन काल में पल्लव वंश की नींव पड़ी। इस वंश के एक राजा विष्णुगोप के नाम का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में मिलता है। उसने गुप्त सम्राट की अधीनता स्वीकार की थी।

छठीं शताब्दी के मध्य में पल्लवों की उन्नति हुई और उनकी शक्ति बढ़ी। उस समय के प्रसिद्ध राजा सिंह विष्णु ने आसपास के राजाओं को परास्त कर अपने राज्य की सीमा बढ़ाई। पुनः चालुक्य राजा पुलकेशिन और पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन में संघर्ष हुआ। महेन्द्रवर्मन एक निर्माता था और द्राविण प्रदेश में चट्टानों को काटकर मंदिर बनवाने के कार्य में वह पथ-दर्शक माना जाता है। वह साहित्यानुरागी भी था।

इसके बाद उसका पुत्र नरसिंह राजा हुआ, उसने चालुक्य राजधानी वातापी पर आक्रमण किया। उसी युद्ध में पुलकेशिन द्वितीय लड़ता हुआ मारा गया। उसी के समय चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया था। उसके अनुसार पल्लव राज्य की भूमि उपजाऊ और प्रजा सुखी थी।

इसके बाद पल्लव और राष्ट्रकूट वंश में युद्ध होता रहा। इसीसे पल्लव वंश की अवनति हुई। इसी समय चोल वंश के राजाओं ने भी उन पर प्रहार किया और ९०० ई० में चोल शासक आदित्य प्रथम ने पल्लव राज्य का अन्त कर दिया।

पल्लव शासन का ढाँचा गुप्त शासन की तरह था। राज्य का प्रमुख अधिकारी राजा होता था और मंत्री गण उसकी मदद किया करते थे। राज्य को मण्डलों, मण्डल को कोट्टम्, कोट्टम् को नाडु और पुनः ग्राम में विभाजित किया गया था। भूमि की नाप होती थी। सिंचाई का प्रबन्ध सरकार करती थी। शिक्षा में सरकार सहायता देती थी।

कांची उस समय विद्या का केन्द्र बन गया था। भारवि और दण्डिन जैसे कवि पल्लव-दरबार में रहते थे। मन्दिर और मूर्ति निर्माण के क्षेत्र में भी पल्लवों के देन सराहनीय है। उन्होंने ठोस चट्टानों को काटकर मन्दिर बनवाये;

उस समय के मन्दिर बड़े भव्य; विशाल और अलंकृत हैं। काञ्ची का कैलास मन्दिर स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है।

(६) चोल-वंश

दक्षिण के राज्यों में विशेष प्रसिद्ध राज्य चोल-वंशीय राजाओं का था। समय-समय पर उनकी राजधानी बदलती रही, पर तंजौर और चोलापुरम विशेष प्रसिद्ध हुईं। चोल वंश की उत्पत्ति के विषय में बहुत मतभेद है। उन्हें साहित्य और उत्कीर्ण लेखों में सूर्यवंशी कहा गया है। चोल भी पल्लव की तरह बहुत प्राचीन राज्य है। अशोक के समय में चोल वंश का नाम मिलता है। इस प्रकार उत्थान और पतन के चक्कर में जीवित रह कर चोल वंश पल्लव राजाओं की शक्ति क्षीण होने पर विशेष प्रसिद्ध और शक्तिशाली बना।

चोल वंश का प्रथम स्वतंत्र राजा आदित्य (सन् ८८०—९०७ ई०) था जिसने पल्लवों से अपने को स्वतंत्र बनाया। वह शैव था और उसने अनेक शैव मन्दिरों का निर्माण करवाया। धीरे-धीरे इनका प्रभाव बढ़ने लगा। अन्य राजाओं ने राज्य की सीमा विस्तृत की।

प्रथम राजराज (सन् ९८५—१०१४ ई०) के समय में चोल वंश की समृद्धि का इतिहास प्रारम्भ हुआ। उसने पाड्य, और गंगवंशीय राजाओं को परास्त किया। उसके पास शक्तिशाली नौ-सेना थी जिसकी मदद से उसने पूर्वी द्वीप पर आक्रमण किया। उसने पूरे दक्षिण, आंध्र, कलिंग, लंका आदि पर अधिकार कर लिया। "तंजौर में शिव का राजराजेश्वर नामक मन्दिर उसी का बनवाया हुआ है जो अपनी विशालता, सुन्दर आकार, मनोहर मूर्तिकला और सजावट के लिए प्रसिद्ध है।"

उसका पुत्र राजेन्द्र (१०१४—१०४२ ई०) पिता के ही समान प्रसिद्ध हुआ। उसने कल्याणी के चालुक्यों, बनवासी के कदम्बों, मध्य प्रदेश के गोण्डवाना राजाओं को परास्त किया। उसकी सेना कलिंग होती हुई गंगा तक पहुँच गयी थी। उसकी नौ-सेना ने बरमा, अन्दमान आदि को भी जीता था। मलय, सुमात्रा, जावा तक उसका जहाजी बेड़ा गया था। वह शैव था और भारतीय संस्कृति के प्रचार में उसे खूब सफलता मिली।

इस वंश का अन्तिम राजा राजेन्द्र तृतीय था जिसने सन् १२६७ ई० तक राज्य किया। इसके बाद चोल कुछ समय तक स्थानीय शासक के रूप में रहे। सन् १३१०-११ ई० में मलिक काफ़ूर ने इस स्थानीय शक्ति का भी अन्त कर दिया।

भारतीय इतिहास में चोल शासन कई बातों के कारण बहुत प्रमुख स्थान रखता है। उनका शासन अच्छी प्रकार संगठित था, राजा सबसे बड़ा अधिकारी था, उसकी सहायता के लिए मंत्री और आमात्य होते थे। केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा हुआ था और प्रत्येक विभाग के संचालन के लिए अलग-अलग अधिकारी थे।

चोल राज्य विस्तृत था और पूरे राज्य को राष्ट्रम् कहते थे। उसे कई प्रान्तों में बाँटा गया था जिसे मण्डलम् कहा जाता था। पुन: कोहम, नाडु, ग्राम राज्य के क्रमशः छोटे विभाजन थे।

गाँवों में गाँव-सभाएँ थीं। सभा के सदस्य गाँव के रहनेवालों द्वारा निर्वाचित होते थे। निर्वाचन और सदस्यता के नियम निर्धारित थे। गाँव-सभा की अनेक उपसमितियाँ (सामान्य प्रवन्ध समिति, उपवन-समिति, शिक्षासमिति, कृषि समिति, मार्ग-समिति आदि) होती थीं जो अपने अपने विभाग का प्रबन्ध करती थीं। भूमिकर सभा ही वसूल करती थी। वह स्थानीय अपराधों के सम्बन्ध में न्याय भी करती थी चोल सरकार में स्थानीय स्वशासन की कार्य-व्यवस्था और सङ्गठन आदर्श और अनुकरणीय था।

राज्य की आमदनी भूमिकर, व्यापार-कर, नमक-कर, चूँगी आदि से होती थी। सामन्त भी वार्षिक कर देते थे। उस राज्य में सोने के सिक्के चलते थे। राजस्व-विभाग सुसंगठित था और राज्यकर की वसूली सावधानी से होती थी।

चोल राजाओं के पास विशाल सेना थी। उसमें नौ-सेना का स्थान प्रमुख था। चतुरंगिणी सेना का संगठन चोल राजाओं ने किया था। जंगल में युद्ध करने के लिए विशेष सैनिक दल का संगठन था।

चोल राजा जिस प्रकार अपने शासन और राज्य विस्तार के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार अपनी कला-प्रियता के लिए भी प्रसिद्ध हैं। उनके समय में संस्कृत और तामिल दोनों ही भाषाएँ समृद्ध हुईं। तंजौर का राजराजेश्वर का

मन्दिर राजराज ने बनवाया था जो १६० फीट ऊँचा बना है और जिसमें १३ मंजिल हैं। इस प्रकार के अन्य अनेक मन्दिर इस समय में बनाये गये। चोल राजाओं ने सुन्दर झीलों और नगरों का निर्माण कराया। दक्षिण में चोल-शासन की छाप स्पष्ट और गहरी आज भी देखने को मिलती है। दक्षिण भारत की सभ्यता और संस्कृति में चोल-राजाओं की अभूत-पूर्व देन है जिसका स्पष्ट चिन्ह पग-पग पर दीख पड़ता है। वैष्णव धर्म के प्रचारक रामानुजाचार्य को चोल राजाओं का ही संरक्षण मिला था, यद्यपि अधिकांश चोल राजा शैव थे।

दक्षिण भारत के इन ६ राजाओं का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। इनके अतिरिक्त वहाँ छोटे छोटे राज्य थे जिन्होंने समय-समय पर अवसर से लाभ उठाकर अपनी शक्ति संगठित की थी। उनमें से वारंगल के ककातीय, कर्नाटक (बनवासी) के कदम्ब, मैसूर के गङ्ग, द्वारसमुद्र के होयसल अधिक प्रसिद्ध थे। धुर दक्षिण में मदुरा के पाण्ड्य और मलाबार (ट्रावनकोर-कोचीन के आस-पास) के चेर राज्य थे। ये राज्य प्रायः दक्षिण के बड़े राज्यों के अधीन थे और समय-समय पर कुछ दिनों के लिए अवसर से लाभ उठाकर स्वतंत्र बन जाते थे।

सत्रहवाँ परिच्छेद

बृहत्तर भारत

भारतीय उपनिवेश और संस्कृति का प्रसार

प्राचीन भारत के नागरिक और सम्राट देश-विदेश के प्रति जागरुक थे और समय-समय पर उन्होंने अपनी प्रगति से संसार के अन्य पड़ोसी देशों को प्रभावित किया है। भारत की मध्य कालीन कूपमण्डूकता उस युग में नहीं थी और भारतवासी अपनी भौगोलिक सीमा के भीतर बन्द नहीं थे। वे एक जीवित राष्ट्र की तरह पास-पड़ोस के देशों को सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा और देश से प्रभावित करते थे।

अत्यन्त प्राचीन काल में भी आर्यों का दूर-दूर के देशों से सम्पर्क था। पौराणिक अनुश्रुतियों में भी आर्यों के बाहर जाने और बसने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि मनु के पुत्र नरिष्यन्त के वंशज पश्चिमोत्तर दर्रों से बाहर गये और वे ही शकों के पूर्वज हुए। इक्ष्वाकु के पुत्र ने सुमेरिया में जाकर अपना उपनिवेश बसाया था। बोगाज-काई में उत्कीर्ण प्राचीन लेख से स्पष्ट मालूम होता है कि आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व भी वैदिक आर्यों का वहाँ के निवासियों से गहरा सम्बन्ध था।

मौर्य सम्राट अशोक ने जब बौद्ध धर्म स्वीकार किया तो उसने "धर्म-विजय" को अत्यधिक महत्व दिया। अशोक के शिलालेखों से मालूम होता है कि बौद्ध धर्म का प्रचार छः सौ योजन दूर स्थित राज्य में किया था जहाँ अंतियोक नामक यवन राजा राज्य करता था। लंका, बरमा, अफ्रीका, पश्चिमी एशिया में भी अशोक ने धर्म प्रचार किया। अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को धर्म प्रचार के लिए लंका भेजा था। उसी के फल-स्वरूप वहाँ पाली भाषा का प्रचार हुआ जो आगे चलकर सिंहली कहलायी। तिब्बती ग्रंथों से पता चलता है कि अशोक के एक पुत्र ने मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और उस समय कुछ भारतीय वहाँ जाकर बस भी

गये। मध्य एशिया की ये भारतीय बस्तियाँ फाह्यान और हुएन-सांग के समय तक फलती-फूलती थीं। इस्लामी के आक्रमण के पूर्व वहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रभाव था।

भारत का यूनान और रोम से सम्पर्क—प्रथम शताब्दी ई० पू० में भारत मिस्र, यूनान और रोम के बीच अच्छा व्यापार होता था। उस समय अरब सागर के अधिकांश द्वीपों में भारतीय व्यापारी बसे हुए थे। ऐसे उपनिवेशों में सोकोट्रा बहुत प्रसिद्ध था। रोम के लोगों को शिकायत थी कि विलास की वस्तुओं को खरीदने के लिए प्रतिवर्ष १० लाख सुवर्ण मुद्राएँ भारत को भेजी जाती थीं। भारत के भी कुछ हिस्सों में रोम की सुवर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। २६ ई० पू० में पाण्ड्य देश के राजा ने रोमन सम्राट आगस्टस के दरबार में अपना दूत भेजा था।

भारत और चीन का सम्बन्ध—मध्य एशिया से होते हुए बौद्ध धर्म के प्रचारक चीन पहुँचे थे। चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार में अद्भुत सफलता मिली। फिर चीन और भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध एक लम्बी अवधि तक गहरा बना रहा। फाहियान, हुएन सांग, इत्सिंग आदि अनेक चीनी भारत आये और उन्होंने देश में भ्रमण किया। वे यहाँ से गम्भीर ज्ञान और दर्शन लेकर पुनः अपने देश को लौट गये। सैकड़ों भारतीय ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ। भारत से बोधि धर्म, परमार्थ आदि विद्वान चीन गये और बौद्ध दर्शन का प्रचार वहाँ किया। वहाँ से बौद्ध धर्म और दर्शन जापान और कोरिया पहुँचा और आज भी इन देशों में सहस्रों व्यक्ति बौद्ध धर्मावलम्बी हैं।

भारत और तिब्बत का सम्बन्ध—तिब्बत भारत के उत्तर में हमारा सबसे निकट पड़ोसी है। सातवीं शताब्दी में तिब्बत में गैम्पो नाम का एक सम्राट हुआ जिसके समय में बौद्ध धर्म का प्रचार वहाँ हुआ और सम्राट ने स्वयं इस धर्म को स्वीकार किया। बंगाल के पाल वंशीय राजाओं का तिब्बत से घनिष्ठ सम्बन्ध था और बहुत से तिब्बती भिक्षु नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालय में आकर पढ़ते थे। आज भी तिब्बती

भाषा में सैकड़ों बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद सुरक्षित है और उनमें से कुछ मूल ग्रंथ भारत में लुप्त भी हो गये हैं। तिब्बत से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध सदा से रहा है।

अफगानिस्तान और फारस के साथ भारत का सम्बन्ध—भौगोलिक स्थिति की अनुकूलता से भारत और अफगानिस्तान का सम्बन्ध सदा रहा है। हिन्दूकुश के दक्षिण का प्रदेश भारत का एक अंग माना जाता था और वहाँ वैदिक युग से भारतीय सभ्यता प्रचलित थी। हर्ष के समय तक अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म का प्रचार था। दसवीं सदी तक काबुल की घाटी में हिन्दू धर्म प्रचलित था। अलबरूनी ने लिखा है कि इस्लाम के पूर्व फारस, खुरासान, ईराक तथा सीरिया तक बौद्ध धर्म का प्रचार था। यह सारा भूखण्ड इस्लाम के पूर्व भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ही क्षेत्र था।

बरमा—पूर्वी सीमा पर भारत का पड़ोसी बरमा था। इसका भारतीय नाम सुवर्ण भूमि था। बरमी अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने बरमा में बौद्ध धर्म का प्रचार कराया था। वहाँ हीनयान सम्प्रदाय का अधिक प्रचार हुआ और आज भी वहाँ इस धर्म के मानने वाले अधिक संख्या में पाये जाते हैं। बरमा में बौद्ध मन्दिर भी अधिक हैं जहाँ बुद्ध की पूजा होती है।

हिन्द चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह—भारत का इन पूर्वी देशों से हर प्रकार का सम्बन्ध था। राजनैतिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक तथा धार्मिक दृष्टि से ये देश भारत के अत्यधिक सम्पर्क में आये।

आधुनिक अनाम में भारतीयों ने 'चम्पा' नाम से उपनिवेश बसाया था। यह राज्य पन्द्रहवीं सदी तक बना रहा और इसकी राजधानी अमरावती थी। इस प्रदेश में आज भी भारतीय स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने भग्नावशेष रूप में मौजूद हैं। यहाँ के भारतीय राजाओं को मंगोलों ने परास्त किया और इसके बाद उनका पतन हो गया।

आधुनिक कम्बोडिया में दूसरा भारतीय राज्य 'कम्बुज' था। मालूम होता है कि भारतीय कम्बोज भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से जाकर वहाँ बस गये थे। पर इस सम्बन्ध में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं और कम्बोज के

प्रारम्भ होने की कथा कुछ धुँधली-सी हो गयी है। इसकी राजधानी यशोधर-पुर थी जिसे आजकल अंगकोर कहते हैं। इसी के पड़ोस में एक फूनान राज्य था। जिसके विषय में एक चीनी लेखक ने लिखा है कि "एक हजार से अधिक ब्राह्मण यहाँ आकर बस गये हैं। लोग उनके सिद्धान्तों को मानते हैं और उनको विवाह में अपनी कन्याएँ देते हैं। वे दिन-रात अपने धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करते हैं।" वास्तव में 'कम्बुज' हिन्द चीन का सब से बड़ा भारतीय राज्य था और उसमें वर्तमान कम्बोडिया, कोचीन, चीन, लाओस, स्याम, बरमा के कुछ भाग तथा मलय द्वीप शामिल थे। कम्बुज में १५ वीं सदी तक भारतीयों का राज्य था; उनकी भाषा संस्कृत थी। अंगकोर में भारतीय शैली के विशाल मन्दिर भारतीय संस्कृति के विजय-चिन्ह के रूप में आज भी मौजूद हैं। अंगकरवाट में मन्दिर की दीवारों पर रामायण की पूरी कहानी अंकित है।

मलय—इस प्रायद्वीप में शैलेन्द्र नामक एक भारतीय राजवंश ने पाँचवी सदी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था। आगे चलकर इस राज्य में सुमात्रा भी शामिल हो गया। इस वंश के राजा महायान बौद्ध धर्म को मानते थे। इस वंश के राजाओं का भारतीय राजाओं के साथ मैत्री का संबंध था। पर चोल राजाओं के साथ ग्यारहवीं सदी में शैलेन्द्रों का युद्ध भी हुआ। तेरहवीं सदी में इनकी शक्ति क्षीण हो गयी।

जावा भी कुछ दिनों तक भारतीय संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र में था। चीनी यात्री फाहियान के अनुसार जावा और सुमात्रा में हिन्दू धर्म का प्रचार था। शैलेन्द्र राजाओं ने भी इन पर अपना अधिकार कर लिया था। **बाली और बोर्नियो** द्वीप में आज भी हिन्दू धर्म का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। **स्याम** में भी बौद्ध धर्म की प्रधानता आज तक बनी हुई है। स्यामी भाषा, लिपि और संस्कृति पर आज भी भारत की गहरी छाप है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल से लेकर ग्यारहवीं सदी तक भारतीय राजनीति, दर्शन और धर्म में अटूट सजीवता थी। ब्राह्मण और बौद्ध विचार धारायें भूमध्य सागर से जापान तक निरंतर चलती रहती थीं और उसमें इतना ओज था कि उनका प्रभाव सर्वत्र व्यापक रूप से पड़ता था। उन दिनों अरब सागर का सारा व्यापार भारतीयों के हाथ में था; चीन, हिंद-

चीन, बरमा आदि देशों को भारतीय ज्ञान का प्रकाश पथ-प्रदर्शन करता था और इनकी आँखें प्रकाश के लिए भारत की ओर लगी रहती थीं। बाद में इस्लामी प्रचारकों ने अपनी तलवार सीधी की और वे प्रबल हो गये। इन्हीं के प्रबल आक्रमणों से भारतीय राजनीतिक शक्ति का विघटन हुआ और तत्पश्चात् देश में एक प्रकार की शिथिलता छा गयी। फिर भी इन विभिन्न देशों में पाये जाने वाले भारतीयता के भग्नावशेष चिन्ह हमारी प्राचीन गौरव गाथा की ओर संकेत कर रहे हैं।

अठारहवाँ परिच्छेद

इस्लाम धर्म का उदय और प्रसार

अरब और इस्लाम—संसार के प्रमुख धर्मों में इस्लाम का मुख्य स्थान है। इसके अनुयायी अफ्रीका, यूरोप और एशिया के विभिन्न भागों में व्यापक रूप से पाये जाते हैं। इस्लाम का उत्थान और प्रसार संसार के इतिहास का एक बड़ा अङ्ग है और शताब्दियों तक इस धर्म के प्रचारकों ने अफ्रीका तथा एशिया में ऐतिहासिक प्रगति को अपने मनोनुकूल मोड़ दिया था। अन्य धर्मों की अपेक्षा इस धर्म का प्रादुर्भाव बाद में हुआ, पर प्रचार यह धर्म अधिक व्यापक और जोरदार हो गया। इस धर्म की जन्म-भूमि एशिया का एक पश्चिमी देश अरब बना जो एक रेगिस्तान है और बहुत कम आबाद है।

अरब एक छोटा देश है जहाँ सेमेटिक जाति के लोग रहते हैं। यह देश लाल सागर, हिन्द महासागर तथा फारस की खाड़ी के मध्य में स्थित है। सारा देश रेगिस्तानी है, कहीं कहीं बीच में उपजाऊ भूमि है और वहीं मनुष्यों की आबादी है। छठवीं सदी तक इस देश के निवासी शिथिल और दब्बू समझे जाते थे। वे खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते थे और विभिन्न गिरोहों में विभक्त थे। ये गिरोह आपस में लड़ते रहते थे। उनका सामाजिक जीवन अन्धविश्वासपूर्ण और शिथिल था। उनमें मूर्ति-पूजा का खूब प्रचार था। समुद्री तट पर रहनेवालों का जीवन अपेक्षाकृत अधिक गतिशील था और वे व्यापार हेतु विदेशों के सम्पर्क में थे। वहाँ मक्का मदीना दो प्रधान नगर थे। इसी देश में सन् ५७० ई० में एक साधारण परिवार में एक ऐसे पुरुष का जन्म हुआ जो इस्लाम धर्म का प्रवर्तक बना और जिसका प्रभाव भावी संसार के लिए अमिट हो गया।

हजरत मुहम्मद—इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब हैं। आप कुरैश नामक कबीले में पैदा हुए थे। आप का जन्म स्थान मक्का है। चालीस वर्ष

की आयु तक आप का जीवन साधारण रहा। आप ने एक धनी व्यापारी की विधवा लड़की खादिजा से विवाह किया था और व्यापार के काम से दूर-दूर देशों का भ्रमण किया। इसी प्रकार के भ्रमण में आप का सम्पर्क यहूदियों और ईसाइयों से हुआ जहाँ आप उनके एकेश्वरवाद से अधिक प्रभावित हुए। ४० वर्ष की अवस्था में आप ने घोषणा की कि एक देवदूत के द्वारा उन्हें इस बात का 'इलहाम' (ज्ञान) हुआ है कि "ईश्वर एक है और मैं उसका दूत (पैगम्बर) हूँ।"

मुहम्मद साहब ने अपने विचारों का प्रचार जनता में करना शुरू किया। उस समय उनके एकेश्वरवाद की इस नयी शिक्षा को उनकी स्त्री खादिजा, उनका गोद लिया पुत्र अली, मित्र अबूबकर और एक गुलाम के अतिरिक्त और किसी ने नहीं सुना। वहाँ की सरकार ने भी मुहम्मद साहब का विरोध किया। विरोध बढ़ता गया और मक्का वाले उनकी जान के लाले पड़ गये। उन्हें मक्का छोड़ भागना पड़ा और वे सन् ६२२ ई० में मदीना पहुँचे। मुहम्मद साहब के इस पलायन को 'हिजरत' कहते और उसी वर्ष से मुसलमान एक नये सम्वत (हिजरी सम्वत्) का प्रारम्भ करते हैं। मदीना में मुहम्मद साहब के उपदेशों का प्रभाव अनुकूल हुआ और उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। पर मक्का और मदीना में शत्रुता बढ़ने लगी और दोनों में युद्ध हुआ। सन् ६३० ई० में मक्का वाले पराजित हुए और मुहम्मद साहब ने अब एक शासक की भाँति मक्का में प्रवेश किया। मक्का वालों को मुहम्मद साहब की बात माननी पड़ी और उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार किया। इस समय मुहम्मद साहब पूरे अरब के स्वामी हो गये, पर सन् ६३२ ई० में आप का देहान्त हो गया। पर आप मरते-मरते अरब को अमर बना गये।

इस्लाम धर्म—मुहम्मद के जीवन में ही इस्लाम धर्म का प्रचार शुरू हो गया था। उनकी मृत्यु के बाद उनके उपदेशों और उनकी वाणियों को एकत्रित किया गया और वही संग्रह "कुरान" हुआ। कुरान इस्लाम धर्म का मूल ग्रंथ है और मुसलमानों के लिए वह बाइबिल या वेद स्वरूप है। इस्लाम का अर्थ है अल्लाह की शरण में जाना। जो व्यक्ति इस धर्म में दीक्षित होता है उसे पाँच बातें माननी आवश्यक हैं—(१) ईश्वर (अल्लाह)

एक है और उनका पैगम्बर (दूत) मुहम्मद हैं। (२) प्रत्येक मुसलमान को प्रति दिन पाँच बार नमाज पढ़ना (प्रार्थना करनी) चाहिए और जुम्मा (शुक्रवार) को एक बार सामूहिक रूप से नमाज होना चाहिए। (३) रमजान के महीने में प्रति दिन सूर्योदय से सूर्यास्त तक निर्जल उपवास करना चाहिए। (४) निर्धनों को दान देना चाहिए और (५) जीवन में कम-से-कम एक बार मक्का जा हज करना चाहिए। इस धर्म में माता-पिता के समान ही सबके साथ सद्व्यवहार तथा मद्यनिषेध पर अधिक जोर दिया गया है। कुरान के अतिरिक्त हदीस भी इनका एक दूसरा धर्म ग्रंथ है।

इस धर्म में मूर्ति पूजा निषिद्ध है। यह धर्म विविध प्रकार की जटिल बातों से मुक्त है। इस्लाम के मानने वाले सब भाई-भाई समझे जाते हैं और इनमें ऊँच-नीच का भेद भाव आपस में नहीं है। धन या जन्म के आधार पर इनमें सामाजिक वर्गीकरण माना जाता। इस धर्म के अनुसार कयामत (प्रलय) के दिन ईश्वर के समक्ष सब के पाप-पुण्य का हिसाब होगा और उसी के अनुसार स्वर्ग का सुख या नरक का दुख मिलेगा। स्त्रियों को हरम में रहने और पुरुषों को चार तक विवाह करने की छूट इस धर्म में है। मुहम्मद साहब अपने जीवन-काल में धर्म प्रवर्तक और शासक दोनों ही थे, अतः इस धर्म के मानने वालों में राजनीति तथा धर्म में पार्थक्य नहीं है। इस्लामी राज्य धर्मतंत्र (धर्म सापेक्ष) ही होता है और शासन के संचालन का तंत्र धर्म का ही सिद्धान्त माना जाता है।

इस धर्म में दो प्रधान सम्प्रदाय हैं। एक को शिया और दूसरे को सुन्नी कहते हैं। मुहम्मद की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए उनके दामाद और दत्तक पुत्र अली तथा उनके मित्र अबूबकर में झगड़ा हुआ। जो दल अली का समर्थक था वह शिया के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इनका प्रधान केन्द्र फारस हुआ। अबूबकर के पक्षवाले सुन्नी कहलाये। यह दल निर्वाचन के पक्ष में था। अरब सुन्नी सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र बना। उस समय सुन्नी दल को ही सफलता मिली और मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी अबूबकर ही हुए। उन्हें 'खलीफा' की उपाधि मिली और उन्होंने ही अरब का शासन-सूत्र सम्भाला। अबूबकर के तमाम उत्तराधिकारी खलीफा ही कहलाने लगे। इस्लाम के फैलाने का काम इन्हीं खलीफाओं ने किया। ग्यारहवीं सदी के

मध्य तक (सन् १०५८ ई०) ये खलीफा इस्लाम के धार्मिक और राजनैतिक दोनों ही क्षेत्रों के सर्वोपरि नेता रहे। अबूबकर के बाद उमर (सन् ६३४-४४ ई०), उसके बाद उस्मान (सन् ६४४-५६ ई०), पुनः अली (सन् ६५६-६१ ई०) खलीफा हुए। इन खलीफाओं ने अपनी राजधानी मक्का से हटाकर दमिश्क और पुन: बगदाद कर ली। बगदाद में हारूँ-उल-रशीद (सन्७८६-८०६ ई०) के समय इस्लाम शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। उस समय बगदाद संसार का एक वैभवशाली और समृद्ध नगर हो गया था।

इस्लाम का प्रचार—संसार के इतिहास में अभी तक शिथिल समझी जानेवाली अरब जाति की विजय एक आश्चर्यजनक घटना है। मुहम्मद साहब ने आदेश दिया कि इस्लाम के नेता (खलीफा) इस्लामी जगत के धार्मिक और राजनीतिक दोनों ही क्षेत्र के नेता होगें अतः धर्म-प्रचार और साम्राज्य-प्रसार का काम साथ-साथ चला। 'उनके योग्य और सफल नेतृत्व में अरबों ने पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में अद्भुत विजयों द्वारा एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया। साम्राज्य का प्रसार इतनी तीव्र गति से हुआ कि हिजरी की प्रथम सदी में ही (सन् ७२२ ई० तक) पिरेनीज पर्वत से चीन तक इस्लाम का जोर हो गया। अरब साम्राज्य स्पेन से लेकर उत्तरी अफ्रीका तथा मंगोलिया की सीमा तक फैल गया। एशिया में अरब के सिवाय सीरिया, मैसोपोटामिया, आरमीनिया, सिन्ध फारस अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, अफ्रीका में मिस्र, त्रिपोली, अलजीरिया, ट्यूनिस तथा मोरक्को और यूरोप में स्पेन के देश अरब साम्राज्य के अंग थे।'

सन् ६६१ ई० में चौथे खलीफा की मृत्यु हुई। उस समय अरब साम्राज्य की राजधानी मदीना थी। उसके बाद के खलीफाओं ने दमिश्क को साम्राज्य की राजधानी बनाया। उस समय संसार का कोई सम्राट शान शौकत, शक्ति और प्रभाव में खलीफा से बढ़कर नहीं था। उसी समय अरब के एक सेनापति (तारीक) ने जिब्राल्टर पर अधिकार किया और वहाँ से यूरोप में (स्पेन में) प्रवेश किया उसी के नाम पर वह जल डमरू मध्य जाबाल-उत-तारीक के नाम से प्रसिद्ध हुआ जो बाद को बिगड़कर जिब्राल्टर हो गया। सन् ६८० ई० में दमिश्क में खलीफा-पद के लिए दो दलों में युद्ध हुआ।

उसे कर्बला का युद्ध कहते हैं। इस युद्ध में अली के पुत्र हुसैन और उस परिवार के सब लोगों को कत्ल कर दिया गया। मुसलमानों का मुहर्रम इसी घटना का स्मारक है। शिया सम्प्रदाय वाले प्रतिवर्ष मुहर्रम के रूप में हुसेन को याद करते हैं।

सन् ७५० ई० में अब्बासी वंश के हाथ में खिलाफत की बागडोर आयी। इसके संस्थापक अब्बास थे। अब्बासी खलीफाओं का ध्यान एशियाई देशों की ओर अधिक था, अतः उन्होंने दजला के किनारे बगदाद को अपनी राजधानी बनायी। एक अरब इतिहासकार के शब्दों में यह "इस्लाम की राजधानी, साम्राज्य की गद्दी, ईराक (फारस) की आँख, कला, सौन्दर्य और संस्कृति का केन्द्र था।" इस दरबार में विश्व के प्रायः सब बड़े सम्राटों के दूत रहते थे। यहाँ का सर्व प्रमुख सम्राट हारुउल-रशीद (सन् ७८६—८०६ ई०) था। वह शान शौकत तथा विलास का जीवन व्यतीत करता था।

अरबों की इस आशातीत विजय और सफलता के कई कारण थे। अरब निवासी मुहम्मद साहब से धर्म प्रचार के कारण एकता के सूत्र में बँध गये और उन्होंने जीना-मरना साथ-साथ सीखा। बहुत दिनों के बाद उनमें इस प्रकार का नवीन जोश और उत्साह उबल पड़ा और उस तीव्र आवेश में उन्होंने दूर-दूर के राज्यों को बहा दिया। उनका धर्म भी अपेक्षाकृत सीधा और देवी-देवताओं की बहुलता से रहित था। अतः दूसरों को आकर्षित करने में उन्हें सुविधा होती थी। सम्प्रदायों की जटिलता से इस्लाम स्वतंत्र था अतः इस्लाम धर्म के माननेवालों में एकता का होना स्वाभाविक था। इस्लामी जनता के सौभाग्य से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति उनके अनुकूल थी क्योंकि उसके सम्पर्क में आने वाले प्रायः सभी देशों की राजशक्ति घरेलू परिस्थिति के बिगड़ने से कमजोर हो गयी थी। पर इन सब कारणों से अधिक प्रभावोत्पादक बात इस्लामी सैनिकों का संगठन और विजय किये गये देशवालों के साथ उनका बर्ताव था। वे तलवार की शक्ति से ही सबको अपनी बात समझाते थे और जो उनकी बात नहीं मानता था, उसे या तो तलवार के घाट उतर जाना पड़ता था, या जीवन-पर्यन्त 'जजिया' नाम का एक कर देना पड़ता था। कुरान की एक आयत है—'उन लोगों के साथ युद्ध करो जो अल्लाह में विश्वास नहीं करते और न मुहम्मद पर ईमान ही लाते हैं। या तो उन्हें मुसलमान बनाओ

या उनसे कर वसूल करो।" इस प्रकार तलवार का बल लेकर खलीफा ने इस्लाम का प्रचार किया। इस्लाम के प्रचार में इस पद्धति से भी बड़ी सहायता मिली जिसमें खलीफा धर्म और राज्य दोनों का प्रमुख माना जाता था। यह पद्धति मुहम्मद साहब ने ही स्वयं चलाई थी। ये ही कारण थे जिनसे लगभग एक शताब्दी के भीतर ही इस्लामी साम्राज्य का इतना व्यापक विस्तार हो गया। सन् ७१० ई० में अरबों ने स्पेन पर आक्रमण किया और ७३२ ई० में वे फ्रांस तक पहुँच गये। सन् ७१२ ई० में भारत में सिंध का प्रदेश भी अरबों के अधिकार में आ गया। इस सफलता का रहस्य मुसलमानों का ओजपूर्ण धार्मिक उत्साह, तलवार और धर्म का मेल और पराजित राज्यों की आंतरिक कमजोरियाँ थीं।

हारूँ उल-रशीद के बाद अरब-शक्ति क्षीण होने लगी। साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। खलीफा का पद तीन स्थानों में विभक्त हो गया। इस प्रकार अरब साम्राज्य दसवीं सदी के अन्त में तीन भागों में विभक्त हो गया। एक भाग का केन्द्र बगदाद ही रहा और वहाँ एक खलीफा का वंश चलता रहा। दूसरा भाग अफ्रीका के अरब राज्यों का हुआ और काहिरा उसकी राजधानी बनी जहाँ एक दूसरा खलीफा शासक हुआ, तीसरा अंग स्पेन का हुआ और वहाँ कार्डोवा में तीसरा खलीफा शासक बना। एशिया में अरबों का स्थान उनके पतन के बाद तुर्कों ने लिया और सन् १०५८ ई० में उन्होंने बगदाद पर अधिकार कर लिया।

तुर्क शक्ति का उदय

तुर्कों का आदि स्थान साइबेरिया के दक्षिण में गोबी के रेगिस्तान के पास था। वे प्रारम्भ में खानाबदोशी का जीवन व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे वे सभ्य हुए। उन पर बौद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्म का प्रभाव पड़ा। पर उन पर सबसे अधिक प्रभाव इस्लाम धर्म का ही पड़ा। राजनैतिक और प्राकृतिक कारणों से ये अपना स्थान छोड़ कर इधर उधर खिसकने लगे। उनका एक फिरका अफगानिस्तान में आ बसा और दूसरा पश्चिमी एशिया की ओर बढ़ा। पश्चिमी एशिया की ओर बढ़ने वाला एक दल **सेल्जुक तुर्क** कहलाता था। इस दल के लोग अधिक संख्या में बगदाद के खलीफा के यहाँ सेना में भर्ती हो काम

करते थे। इस प्रकार इन्होंने अरबों की गिरती हुई शक्ति का लाभ उठाया और वे कुछ ही दिनों में बागदाद के मालिक बन बैठे। सेल्जुक एक तुर्क सरदार का नाम था जिसके वंशजों ने बगदाद के खलीफा का अन्त कर वहाँ स्वयं अपना राज्य स्थापित किया। इन तुर्कों ने भी शीघ्र ही अपना राज्य दूर-दूर तक फैला लिया। फारस के बाद ये एशिया माइनर की ओर बढ़े और सन् १०७१ ई० में इन तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया को जीत कर उस पर अपना अधिकार जमाया। सन् १०७६ ई० में ईसाइयों की पवित्र भूमि जेरुसलम पर भी उनका आधिपत्य हो गया। इसी के बाद ईसाइयों और तुर्कों में अनेक बार 'धर्म युद्ध' हुए, पर ईसाइयों को इसमें सफलता नहीं मिली और सन् १९१८ ई० तक जेरुसलम पर मुसलमानों का अधिकार बना रहा।

तुर्कों की एक दूसरी शाखा उस्मानी तुर्क के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा ने सेल्जुक तुर्क की कमजोरी से लाभ उठा कर अपनी शक्ति बढ़ायी। यूरोपीय विद्वान इसे ओटोमन तुर्क कहते हैं। १४वीं शताब्दी के मध्य में ओटोमन तुर्क बहुत शक्तिशाली हो गये थे। इनके अधिकार में कुस्तुन्तुनिया भी आ गया और उन्होंने डाडेनलीज को पार कर यूरोप में प्रवेश किया। उन्होंने यूनान को जीता, मिस्र को अपने अधिकार में किया, और स्वयं खलीफा का पद धारण किया। वे सर्बिया, बुलगेरिया और अस्ट्रिया तक पहुँच गये।

तुर्कों के शासन-काल की एक प्रमुख घटना सन् १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया (Canstantinople) पर धावा करना और उस पर अधिकार करना है। उस समय तक यह प्रधान नगर ईसाई सम्राट के अधिकार में था। उस समय यूनान का अन्तिम सम्राट कान्सटैन्टाइन नवाँ ईसाई साम्राज्य का शासक था। वह सम्राट युद्ध में मारा गया और नगर पर तुर्क सम्राट मुहम्मद द्वितीय का अधिकार हो गया। तुर्क सैनिकों ने नगर को खूब लूटा और वहाँ के निवासियों को तलवार के घाट उतारा। उस समय विश्वविख्यात सन्त सोफिया के गिरजे का अतुल धन उनके हाथ लगा और लूट के पश्चात् उसे एक मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया। पोप और रोमन सम्राट ने इस विजय का बदला लेने के लिए कई प्रयास किये, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। उनके दिन लद चुके थे। सन् १४५३ में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया के इस विजय का संसार और विशेषकर यूरोप के इतिहास में बहुत महत्त्व है। इस विजय के

यूरोप के इतिहास में एक नई धारा बहा दी, रोमन साम्राज्य का अन्त किया, तुर्कों के लिए यूरोप में प्रवेश करने का दरवाजा खोल दिया। यूनानी शहर छोड़ भाग खड़े हुए। इस युद्ध के बाद यूरोप और एशियाई देशों के बीच होने वाले व्यापार का स्थल-मार्ग बंद हो गया और इससे नयी भौगोलिक खोजें शुरू हुई।

उस्मानी (ओटोमन) तुर्क वंश का सबसे प्रसिद्ध सम्राट् सुलेमान (सन् १५२०—६६ ई०) था। उसके समय में तुर्की साम्राज्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने हंगेरी, साइप्रस, आर्मीनिया, मिस्र आदि पर अधिकार किया। उसके वैभव के समक्ष जेनेवा, वेनिस और रोम नत मस्तक थे। इसीलिए सुलेमान को महान् की उपाधि से विभूषित किया गया। अब तुर्की का सुलतान सारे मुसलिम जगत का प्रधान हो गया और उसने खलीफा की उपाधि धारण की। तुर्की के सम्राट सन् १६२२ तक खलीफा की उपाधि से अपने को विभूषित करते थे, पर इनके बाद कमाल अतातुर्क ने इस पद को समाप्त किया।

तुर्क अरबों की तरह ही खूब लड़ाकू थे। वे बड़े क्रूर और फुर्तीले थे। इस्लाम स्वीकार करने के बाद ये और कट्टर हो गये और इस्लाम के पक्के प्रचारक बन गये। उनमें सहिष्णुता का अभाव था। युद्ध और सैन्य संगठन में इनकी विशेष रुचि थी। शासन की ओर इनका कम ध्यान जाता था। ये खूब लूट-पाट में विश्वास रखते थे। चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में धन और सामान के अतिरिक्त तुर्क सुलतानों ने ईसाइयों से बच्चे भी लेना शुरू कर दिया। प्रत्येक ईसाई ग्राम को बाध्य होकर एक निश्चित संख्या में गाँव के हृष्ट-पुष्ट बच्चों को सुलतान की सेवा में समर्पित करना पड़ता था। इन सभी बालकों को इस्लाम की शिक्षा दी जाती थी और उन्हें सैनिक बनाया जाता था। ये सिपाही अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध होते थे। इनका सैनिक दल "जनिसरी" के नाम से विख्यात था और ये सुलतान के लिए अपनी जान न्यवछावर करने को उद्यत रहते थे। तुर्कों की सफलता में उनकी सैनिक शक्ति, क्रूर व्यवहार, लूट-पाट और उनके विध्वंसक काम अधिक सहायक हुए। इन्हीं तुर्कों के कुछ दल अफगानिस्तान में आ बसे जिसने गजनी और गोर वंश की स्थापना की। गजनी वंश की स्थापना ९६२ ई० में अलप्तगीन ने गजनी में की

थी। इसी वंश के एक विजेता महमूद ने भारत पर अनेक बार आक्रमण किया और यहाँ से अपार धन ले गया। दूसरा वंश गोरवंश कहलाया और इसकी स्थापना १२वीं सदी में हुई। इस वंश के बादशाह मुहम्मद गोरी के समय में गोर वंश की उन्नति हुई। मुहम्मद गोरी ने साम्राज्य विस्तार के लिए भारत पर चढ़ाई की और वह सफल भी हुआ।

———

उन्नीसवाँ परिच्छेद

इस्लाम का भारत में प्रवेश

भारत और अरब का प्राचीन सम्बन्ध—भारत और अरब का सम्बन्ध प्राचीन काल से था। अरब अति प्राचीन काल में हिन्द महासागर में चलने वाली किश्तियों के केवट का काम करते थे, जब भारत और पश्चिमी एशिया के बीच इस मार्ग से व्यापार होता था। इसलिए मालाबार समुद्र तट पर कुछ अरब निवासियों की छिटपुट बस्तियाँ भी बस चुकी थीं। सातवीं सदी में जब अरब निवासी संगठित हो गये और उन्होंने इस्लाम ग्रहण किया, तब अरब सौदागरों ने मालाबार तट पर अपने धर्म का प्रचार करना भी शुरू किया। इस कार्य में दक्षिण के बल्लभी और कालीकट के जेमोरिन बादशाह से उन्हें प्रोत्साहन भी मिला, अतः बहुत से मुसलिम व्यापारी खम्भात, कालीकट तथा अन्य स्थानों में बस गये। उन्होंने मसजिदें बनवायीं, इसमें बल्लभी राजाओं ने उनकी मदद की। इन्हीं लोगों की सन्तान में कोंकण की नटिया और मालाबार की मोपला जातियाँ हैं। जेमोरिन ने नाविकों की आवश्यकता पूरी करने के लिए अपने राज्य के कुछ नीची जाति के लोगों को इस्लाम स्वीकार करने का प्रोत्साहन भी दिया। इस प्रकार उस क्षेत्र में मुसलमानों की संख्या बढ़ने लगी। भारत में इस प्रकार प्रथम बार इस्लाम ने शान्तिमय ढंग से प्रवेश किया। शान्तिपूर्वक भारत में इस्लाम के प्रचार के अन्य प्रयास भी समय समय पर हुए। गुजरात में अब्दुल्लाह यमनी ने सन् १०६७ में और अजमेर तथा दिल्ली में ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती ने शान्ति मय ढंग से इस्लाम का प्रचार किया था। ख्वाजा साहब की मृत्यु सन् १२३६ में अजमेर में हुई थी। उनकी कब्र को अब तक लाखों मुसलमान पूजते हैं और पवित्र मानते हैं। ख्वाजा साहब की शिष्य-परम्परा भी चलती है और उनके शिष्यों ने भी भारत में इस्लाम का खूब प्रचार किया था।

इस्लाम का बल-पूर्वक प्रवेश—पिछले अध्याय में यह लिखा जा चुका है कि मुहम्मद साहब की मृत्यु सन् ६३२ ई० में हुई थी। उनकी मृत्यु के आठ वर्ष के अन्दर ही इस्लामी फौजें भारत की सीमा पर टकराने लगीं। भारत जैसा धनी और मूर्ति-पूजक देश उनकी नजरों से बचा नहीं रह सका। सब से पहले समुद्री किनारे पर मुसलमानों ने हमले किये। खलीफा की विशेष आज्ञा लेकर अरबों ने थाना और भड़ौंच आदि नगरों पर धावा किया। ये सब हमले खलीफा उमर के समय में हुए थे। इन हमलों में भारतवासियों ने अरबों के पैर नहीं जमने दिये और वे हार कर लौट गये।

अरबों का प्रथम कड़ा हमला इराक के शासक हज्जाज के समय में हुआ। उस समय भारतीय समुद्री डाकुओं ने कुछ मुसलमान व्यापारियों और उनकी स्त्रियों को लूटा, अतः हज्जाज बहुत क्रोधित हुआ। सिंध के शासक दाहिर ने मुसलमान स्त्रियों को उन डाकुओं से छुड़ाने में असमर्थता प्रकट की, अतः अरब उस पर चढ़ आये। पर इस बार भी अरब अपने प्रयास में सफल नहीं हुए।

मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण (७१२ ई०)—हज्जाज ने सिंध विजय का भार इस बार अपने भतीजे मुहम्मद बिन कासिम को सुपुर्द किया। वह छः हजार चुने हुए योद्धा और उतने ही ऊँट-सवार लेकर भारत की ओर चल पड़ा। उस समय सिंध में दाहिर नामक एक ब्राह्मण राजा राज्य करता था। उसने मुहम्मद बिन कासिम का सामना किया, पर उसकी हार हुई और वह मारा गया। देवल का किला अरबों के हाथ में आ गया। पति की मृत्यु के बाद उसकी रानी ने स्वयं रणक्षेत्र में दुश्मन से लोहा लिया, पर भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया और उसने विजय की आशा न देख कर राज-महल की अन्य स्त्रियों को इकट्ठा किया और चिता में कूद कर भारतीय परम्परा की रक्षा की। तीन दिन तक नगर में कत्लेआम जारी रहा। नगर में एक मस्जिद बनवायी गयी और एक फौजी छावनी कायम कर चार हजार सेना रखी गयी।

इसके बाद मुहम्मद कासिम नीरून की ओर बढ़ा। वहाँ बौद्ध पुजारियों ने उसका स्वागत किया। मार्ग के स्थानों को जीतता हुआ

मुहम्मद सिंध की राजधानी ब्राह्मणाबाद पहुँचा। छः महीने तक नगर का घेरा पड़ा रहा। राजा के कुछ अपने खास आदमी मुहम्मद कासिम की ओर मिल गये, और किले पर दुश्मन का अधिकार हो गया। इसके बाद मुहम्मद आलोर होता हुआ मुलतान की ओर रवाना हुआ। मुलतान में भी देश-द्रोहियों ने मुहम्मद का साथ दिया। किले की फौज का कत्लेआम हुआ और सरदारों के सम्बन्धी गुलाम बनाये गये। इस प्रकार मुलतान में मुसलमानी शासन स्थापित हुआ। सन् ७१५ ई० में खलीफा की मृत्यु हो गयी और नया खलीफा मुहम्मद कासिम का दुश्मन था, अतः मुहम्मद कासिम तुरन्त वापस बुला लिया गया। कहा जाता है कि मुहम्मद को वहाँ पहुँचने पर बहुत क्रूरता के साथ मरवा डाला गया।

मुहम्मद कासिम की विजय से भारत के दो प्रदेश सिंध और मुलतान अरब शासन के अन्दर आ गये। आक्रमण के समय देवल के निवासियों के साथ बड़ी क्रूरता का व्यवहार किया गया। मुहम्मद ने इस्लामी कानून के अनुसार सब पर कर लगाया, जिन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया वे कर तथा गुलामी से छुटकारा पा गये। धनी और उच्च वर्ग के लोगों को 'जजिया' के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भेंट देनी पड़ती थी। देवल की अपेक्षा ब्राह्मणाबाद के निवासियों के साथ कम क्रूर व्यवहार किया गया। चूँकि वहाँ के लोगों ने इस्लामी शासन स्वीकार कर लिया था अतः उनकी हत्या नहीं की गयी और उनके साथ उदारता का व्यवहार किया गया। वहाँ सब को अपने अपने धर्म के पालन की सुविधा दी गयी थी।

सिन्ध में अरबों की सफलता के कारण—मुहम्मद बिन कासिम ने बिना अधिक नुकसान उठाये सिंध और मुलतान पर अधिकार कर लिया। उसकी इस विजय के पीछे अनेक कारण थे। उस समय की ऐतिहासिक सामग्री से ज्ञात होता है कि सिंध का तत्कालीन शासक दाहिर अदूरदर्शी था। जब तक दुश्मन दरवाजे पर आ गया, तब तक सोता रहा। मुहम्मद को बिना किसी रोक टोक के सिंधु नदी पार करने दिया। इससे अधिक अदूरदर्शिता और और क्या हो सकती है? साथ ही उसका शासन बहुत अप्रिय था और उसकी अधिकांश प्रजा ने उसके विरुद्ध दुश्मन की मदद की। बौद्ध पुजारियों, श्रमणों, सूबेदारों ने सर्वत्र मुहम्मद की सेना को सहायता दी और दाहिर के विरुद्ध

उसे उभाड़ा। ऐसे समय में एक चतुर शासक का कर्तव्य होना चाहिए कि वह सब असंतुष्ट वर्गों को संतुष्ट कर अपनी ओर मिलाये और एक निष्ठ हो देश की रक्षा करे। पर दाहिर को ऐसी सामयिक बुद्धि नहीं थी, अतः उसे मुँह की खानी पड़ी। दाहिर ने उस समय एक और गलती की। उसने अपनी समुद्री शक्ति को बढ़ाने का कोई प्रयास नहीं किया। उसके राज्य का समुद्री किनारा इतना बड़ा था और उसके पास जल-सेना बिलकुल नहीं थी, उसकी हार का एक बड़ा भारी कारण यह भी था। उसे दुश्मन को सारी ताकत के साथ देवल में ही रोकना चाहिए था। पर उस समय वह निश्चिन्त बैठा रहा और देवल तथा आस-पास की भूमि पर मुहम्मद का अधिकार हो जाने से उसकी शक्ति जमती गयी और उसे आगे बढ़ने में सुविधा मिलती गयी। हिंदू राजाओं की पराजय का एक कारण उस समय में समाज में अंधविश्वास का प्रभाव अधिक होना भी था। ज्योतिषियों की इस भविष्यवाणी पर लोगों का विश्वास पक्का हो गया था कि इस पर विधर्मियों का शासन होगा और मुसलमान अवश्य विजयी होंगे। इस प्रकार के विश्वास मन बैठ जाने से हिंदुओं की मनःस्थिति यों ही अस्वस्थ हो गयी थी और वे अधूरी शक्ति से उत्साह रहित हो के युद्ध कर रहे थे। यह भी सच है कि एक ओर हज्जाज की केन्द्रीय शक्ति का जोर था और दूसरी तरफ भारत में उस समय शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। इस्लाम के झण्डे के नीचे जोश से मस्त और स्वामिभक्त सैनिकों के सम्मुख स्थानीय शासक जिन्हें अपनी प्रजा की शुभ कामना भी पूरी तरह प्राप्त नहीं थी, नहीं टिक सकते थे। अतः "दाहिर की अदूरदर्शिता, निरंकुश और अप्रिय शासन, नागरिकों का विश्वासघात और देश-द्रोह, हिन्दुओं की दुर्बलता, अंधविश्वास, इस्लाम सैनिकों की स्वामिभक्ति, जोश, धार्मिक कट्टरता और उत्साह, कुशल सैन्य संचालन, नवीन अस्त्र-शस्त्र और उनकी धन लोलुपता" इस देश में अरब-प्रयास की सफलता के मुख्य कारण थे।

सिन्ध में अरबी शासन—जिस मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध में अरब-सफलता को इतना आसान बना दिया था और दूरस्थ देश में इस्लाम का झण्डा खड़ा किया, उस का अंत बड़े कारुणिक और क्रूर ढङ्ग से हुआ। सन् ७१५ ई० में मुहम्मद को मरवा डाला गया और उसकी मृत्यु के बाद अरब प्रभाव का जोर भारत में कम हो गया। कुछ दिनों में सिन्ध स्वतंत्र हो

गया। यह सच है कि सिन्ध और मुलतान पर मुस्लिम शासक बने रहे, पर उनका अस्तित्व स्वतंत्र था और वे नाम मात्र के लिए खलीफा के आधीन थे। धीरे धीरे वह सम्बन्ध भी ढीला हो गया और सिंध के अरब शासक बिलकुल स्वतंत्र हो गये।

सिंध को विजय करने वाले अरबों ने प्रारम्भ में बड़ी क्रूरता से काम लिया। उन्होंने मन्दिरों को तोड़ा, वहीं मस्जिदें बनवायीं, हजारों हिन्दूओं को मार डाला और अपार सम्पत्ति लूटी। "देबल नीरून, अलोर आदि नगरों में मन्दिर तोड़े और जनता को मुसलमान बनाया। कत्ले आम किये और लाखों मर्दों, औरतों और बच्चों को दास बनाकर बेचा।" पर धीरे धीरे उनके व्यवहार में परिवर्तन हुआ और अरब शासकों ने अपनी नीति कुछ उदार कर ली। मन्दिर तोड़ने का काम रोक दिया गया और जजिया देने वालों को अपने देवालयों में पूजा करने की अनुमति दी गयी। फिर भी हिन्दुओं को अनेक प्रकार की असुविधायें थीं। प्रत्येक मुसलमान अतिथि को तीन दिन तक ठहराना और भोजन देना हिन्दुओं के लिए आवश्यक था। कुरान की आज्ञा के अनुसार युद्ध में प्राप्त चीजों का $\frac{४}{५}$ भाग सैनिकों में बाँट दिया जाता था। $\frac{१}{५}$ भाग खलीफा के पास भेज दिया जाता था। फौजदारी के मामलों में अरब शासकों ने कुछ विशेष परिवर्तन नहीं किये, पर दीवनी मामले हिन्दू अपनी पंचायतों द्वारा और मुसलमान कुरान के आयतों के अनुसार तय करते थे। जिन झगड़ों में किसी पक्ष की ओर से मुसलमान सम्बन्धित रहते थे, उनका निर्णय काजी करता था। चोरी के लिए बहुत कठिन दंड दिया जाता था और कभी कभी चोर के पूरे परिवार को जीवित जला दिया जाता था।

सरकारी कोष में युद्ध में लूट द्वारा प्राप्त धन, भूमिकर और जजिया से आय होती थी। भूमिकर उपज का $\frac{१}{४}$ भाग था। चूँगी हिन्दुओं को मुसलमानों की अपेक्षा दुगुनी देनी पड़ती थी। जजिया का कर बड़ी कड़ाई से वसूल किया जाता था। स्थान-स्थान पर छावनियाँ बनी [illegible] सैनिक नियुक्त रहते थे। मुसलमानों की बस्तियाँ दिन दूनी [illegible] थीं क्योंकि अरबों को भारतीय स्त्रियों से विवाह करने की पूरी स्वतंत्रता थी। इस्लाम धर्म के प्रचार से, जजिया से बचने के लिए और शासक-वर्ग से अनुग्रह प्राप्त करने के निमित्त अधिक लोग मुसलमान होने लगे।

पर अरबों की विजय का प्रभाव स्थायी नहीं हो सका। प्रसिद्ध इतिहासकार लेन पोल ने लिखा है कि "सिंध-विजय भारत और इस्लाम के इतिहास की एक छोटी घटना है, जिसे प्रभाव-हीन विजय कहा जायगा।" अरबी शासन भारत में अपनी जड़ नहीं जमा सका और कुछ ही दिनों के बाद लोग इस घटना को भूल-सा गये। इसके कई कारण थे। सिंधु एक रेगिस्तानी प्रदेश था अतः उससे उतनी आमदनी नहीं हो सकती थी जितना उसके शासन और विजय में व्यय होता था। अरब विजेताओं को यह भी समझने में देर नहीं लगी कि हिन्दू अन्य देशवालों की तरह आसानी से इस्लाम धर्म को स्वीकार नहीं करेंगे। अरब निवासी भारतीय संस्कृति और व्यवस्था को देखकर अवाक रह गये और उन्होंने यह अनुभव किया कि जिन लोगों को उन्होंने युद्ध में पराजित किया और लूटा है, वे विजेताओं से अधिक सभ्य और सुसंस्कृत हैं। इसीलिए अरब शासकों और सैनिकों की बर्बरता क्रमशः कम होती गयी और उन्होंने बाद में अपेक्षाकृत उदार नीति अपनायी। उसके अतिरिक्त खलीफाओं ने सिंध-विजय को अधिक महत्व नहीं दिया और वे अपने अरब सैनिकों तथा शासकों के लिए बहुत कम सहायता भेजते थे। खलीफा की इस उदासीन नीति का प्रभाव भी अरब शासकों पर अच्छा नहीं हुआ। बाद को खलीफा की शक्ति स्वयं क्षीण होने लगी और दूर के प्रदेश उनके प्रभाव से स्वतंत्र होने लगे। इससे सिंध के शासकों ने सब से पूर्व लाभ उठाया और अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। देश के भीतरी भाग में राजपूतों के राज्य थे, और वे राज्य पर्याप्त प्रबल थे जिनसे टकरा कर अरब सरदारों को बार बार पीछे हटना पड़ा था। इन्हीं कारणों से अरब-शासन असफल सिद्ध हुआ और जिस विध्वंस की हुई तथा लूटी हुई सम्पत्ति और सामान से अरब विजेताओं ने जो सड़कें, मस्जिदें, किले तथा अन्य इमारतें बनवायी थीं, वे सब समय की क्रूर लपेटों में नष्ट हो गयीं और आज कुछ टूटे-फूटे अवशिष्ट चिह्न उस घटना के स्मारक के रूप में देखने को बच रहे हैं।

भारत और अरब में अदान-प्रदान—राजनैतिक दृष्टि से अरबों की इस विजय का इस देश के इतिहास में कोई विशेष महत्व नहीं है। पर यह सच है कि इस विजय से संसार की दो महान जातियाँ सम्पर्क में आयीं;

अरबों पर भारतीय दर्शन और पाण्डित्य की छाप पड़ी और वे इससे प्रभावित हुए। भारत से सन ७७१ ई० में कुछ विद्वान बगदाद गये और वहाँ 'वृहस्पति सिद्धान्त' का अरबी में अनुवाद हुआ। बगदाद में हिन्दू पण्डित बुलाये गये। वहाँ भारत के वैद्य राजकीय औषधालयों में आदर के साथ नियुक्त किये गये। उस समय वैद्यक, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य आदि की पुस्तकों का अरबी में अनुवाद हुआ। "माणिक्य नामक एक वैद्य बगदाद गया और खलीफा हारून का इलाज कर उसे रोग-मुक्त किया।" गणित का गम्भीर विषय और शतरंज का मनोरंजक खेल भारतीयों ने अरब वालों को सिखलाया। कुरान शरीफ का अनुवाद भी संस्कृत में हुआ। भारतीयों से अरब निवासियों ने एक से नौ तक के अंक सीखे और पुनः अरब वालों से यूरोप के लोगों ने इसे सीखा। इससे यह मालूम पड़ता है कि अरब वाले विद्या और गुण ग्रहण करने में उदार थे। श्री हेवेल ने ठीक ही लिखा है कि "भारत ने इस्लाम को उसके प्रभावशील यौवनकाल में शिक्षा दी, उसके संस्कार ठीक किये, धार्मिक आदर्श और दर्शन का निर्माण किया तथा साहित्य, कला एवं वास्तु-कला के क्षेत्र में प्रोत्साहित किया।"

बीसवाँ परिच्छेद

भारत पर तुर्क आक्रमण: गजनी और गोरवंश

एक नया वंश—पिछले अध्यायों में इस्लाम के प्रचारक अरब लोगों और खिलाफत का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। यह भी संकेत किया गया है कि खिलाफत की भूमि का इतना विस्तार हो गया था कि उसका एक केन्द्र से शासित होना दुष्कर था। यद्यपि नाम मात्र को खलीफा इस्लामी जगत का सर्वोच्च शासक था, पर वास्तव में भिन्न भिन्न स्थानों पर नये शासक स्वतंत्र हो गये थे। साथ ही अरब वालों का संसार में इस्लाम के प्रचार करने का पुराना जोश कुछ ठंडा पड़ रहा था। खिलाफत दरबार में अरबों के स्थान पर फारस वालों का प्राधान्य हो गया। फारस वालों ने अपनी सेना में तुर्क जाति के लड़ाकू लोगों को अधिक संख्या में भर्ती किया। तुर्क खुरासान के उत्तर पश्चिम में बड़ी खूंखार और भयानक थी। धीरे धीरे सैनिक संगठन तुर्कों के हाथ में आ गया। नवीं सदी में ये तुर्क इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके थे। ये इस्लाम के नये अनुयायी जोश से भरे थे और इस्लाम के प्रचार में अपनी कीर्ति मानते थे। युद्ध और लूट मार इनका खानदानी पेशा था। सैनिक प्रभुता के मिल जाने से इन्होंने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। ऐसे ही राज्यों में महमूद गजनवी के पिता सुबुक्तगीन का एक राज्य था। उसने सन् ९७७ ई० में गजनी पर अधिकार कर एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। सुबुक्तगीन ने अपने राज्य को बढ़ाने के सिल-सिले में भारतीय सीमा के भीतर के कुछ प्रदेशों को जीत लिया। इससे उस एक प्रदेश के राजा जयपाल से उसकी मुठभेड़ हुई। देश की प्राकृतिक दशा और मौसम अनुकूल न होने से सुबुक्तगीन को दो प्रयास के बाद भी सफलता नहीं मिली और सुबुक्तगीन को जयपाल के साथ इच्छा के विरुद्ध संधि करनी पड़ी। इस संधि के बाद पेशावर तक का प्रदेश गजनवी राज्य में शामिल हो गया। पेशावर की रक्षा के लिए सुबुक्तगीन ने एक बड़ी सेना वहाँ रक्खी।

अमीर सुबुक्तगीन प्रतिभा सम्पन्न और महात्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह प्रारम्भ में एक गुलाम था, पर अपनी योग्यता के कारण सेनापति और पुनः स्वतंत्र शासक हो गया। वह पहला तुर्क था जिसने भारतीय प्रदेश को जीतकर उसे अपने राज्य का अंग बनाया। बीस वर्ष तक शासन करने के बाद अपने पुत्र महमूद गजनवी के लिए एक विशाल सुसंगठित राज्य छोड़कर वह सन ९९७ ई० में परलोकवासी हुआ।

महमूद गजनवी—महमूद २७ वर्ष की अवस्था में गजनी का शासक बना। वह एक योद्धा, शासक और इस्लाम धर्म का प्रचारक था। उसमें धर्म के प्रति कट्टरता कूट-कूट कर भरी थी और वह शक्ति और सम्पति का प्यासा था। 'ऐसे लालची, मूर्ति भंजक के लिए अनेक मतमतान्तरों वाला अनन्य सम्पत्ति-युक्त भारत देश उसकी राजनैतिक, सैनिक एवं धार्मिक महात्वाकांक्षा की पूर्ति का बहुत उपयुक्त क्षेत्र सिद्ध हुआ। उसने हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद का नेतृत्व किया तथा अपनी तुर्की सेना द्वारा लूटी हुई सम्पत्ति लेकर अपने देश लौट गया।'

सन् १००० ई० से १०२६ ई० के बीच महमूद ने १७ बार भारत पर हमले किये और बंगाल-बिहार को छोड़ समस्त उत्तरी भारत को रौंद डाला। (१) सन् १००० ई० में उसने सीमा के कुछ शहरों और किलों को लूटा और उन पर अपना अधिकार कर वहाँ अपने शासक नियुक्त किये। (२) अगले वर्ष सन् १००१-२ में वह पुनः सेना लेकर पेशावर पर चढ़ आया। भटिण्डा के राजा जयपाल ने बड़ी तैयारी से उसका सामना किया, पर वह हार गया और बन्दी बनाया गया। (३) सन् १००३ में उसने झेलम के किनारे स्थित भेरा (भीर) के राजा पर हमला किया। राजा ने चार दिन तक महमूद का सामना किया पर अन्त में हार गया और उसने आत्महत्याकर अपने को दुश्मन के हाथ में पड़ने से बचाया। भेरा गजनी राज्य में मिला लिया गया। (४) सन् १००५-६ ई० में महमूद ने सिंध के मुसलमान शासक को परास्त किया। (५) इसी समय भेरा के शासक ने विद्रोह किया, अतः महमूद ने उस पर आक्रमण कर उसे कैद कर लिया।

(६) आनन्दपाल पर आक्रमण (सन् १००८ ई०)—आनन्दपाल जयपाल का पुत्र था। उसकी राजधानी भटिण्डा थी। उसने मह-

मूद को रोकने के लिये ग्वालियर, कन्नौज, कालिंजर, अजमेर तथा उज्जैन के राजाओं से सैनिक सहायता की प्रार्थना की। सब ने आनन्दपाल की सहायता की। झेलम के किनारे उन्द नामक स्थान पर दोनों पक्षों की सेनायें ४० दिन तक डटी रहीं। आरम्भ में हिंदू इतनी वीरता से लड़े कि देखते देखते तीन-चार हजार तुर्क सैनिकों को तलवार के घाट उतार दिया। महमूद के होश उड़ गए। वह घबड़ा गया, पर इतने ही में आन्दपाल का हाथी बारूद की आग से भड़क कर भाग निकला। आपस में विश्वास की कमी के कारण अन्य राजाओं ने समझा कि आनन्दपाल रणक्षेत्र से भाग गया, अतः सैनिकों में भगदड़ मच गयी। महमूद की बन आयी। उनके सैनिकों ने दो दिन तक नगर को लूटा और हिंदुओं का पीछा किया। जीत कर भी असंगठित भारतीय सेना पराजित हुई। महमूद का उत्साह बढ़ गया और उसने सुविख्यात नगर कोट (कांगड़ा) के मंदिर को लूट लिया। वहाँ से सात लाख सोने के दीनार, सात सौ मन सोने-चाँदी के बर्तन, दो सौ मन सोना, दो हजार मन कच्ची चाँदी और २० मन बहुमूल्य जवाहिरात उसके हाथ आये।"

आनन्दपाल की इस हार का भारतीय इतिहास में अधिक महत्व है। उस समय देश में जोश, उत्साह और त्याग की कमी नहीं थी। आनन्दपाल की प्रार्थना पर सब ने उत्साह के साथ उसे सैनिक मदद दी। मुसलमान लेखकों ने यह भी लिखा है कि हिंदू स्त्रियों ने अपने गहने बेंचकर रुपयों से उसकी मदद की थी। दीन स्त्रियों ने दिन-दिन भर चर्खा कात कर या मजदूरी करके सैनिकों की सहायता के लिये रुपये भेजे। इससे मालूम होता है कि देश में प्रेम, उत्साह, वीरता और जोश की कमी नहीं थी। "कमी थी संगठन की और उस राष्ट्रीयता की भावना की जो व्यक्तिगत स्वार्थ और द्वेष के ऊपर उठकर सबसे अधिक देश, धर्म, जाति के लाभ और रक्षा की चिंता करता है। भारतीय राजा किसी एक सरदार या राजा को अपना सर्वोच्च नायक बना कर उसके आधीन लड़ना नहीं चाहते थे। इसके प्रतिकूल मुसलमानों में नियंत्रण, धार्मिक एकता तथा जोश, उद्देश्य की एकता और पारस्परिक भेदभाव का अभाव था। हिंदू राजा और सेनापति रणक्षेत्र में भी पारस्परिक द्वेष और भेदभाव नहीं भूल सकते थे।" भारत की यह कमजोरी इस युद्ध में स्पष्ट हो गयी। इसी कारण भारत का भाग्य रूठ-सा गया, और

आगे शताब्दियों के लिए राजनैतिक चेतना के प्रस्फुटन का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

(७) महमूद का सातवाँ हमला गुजरात पर हुआ। (८) आठवें प्रयास में उसने मुलतान ले लिया। इस प्रकार एक के बाद दूसरे हमले होते गए और महमूद को सदा विजय मिली। अपने (१२) बारहवें प्रयास में महमूद भारत के भीतरी भागों की ओर बढ़ा। सन् १०२४ ई० में उसने एक बहुत विशाल सेना संगठित की और यमुना पार कर हिंदुओं के प्रसिद्ध तीर्थस्थान मथुरा की ओर बढ़ा। "मथुरा की शोभा वर्णनातीत थी। जनसंख्या और विशाल भवनों के विचार से मथुरा नगरी अद्वितीय थी।" मथुरा के मन्दिर और उन मंदिरों में प्रतिस्थापित भव्य एवं बहुमूल्य मूर्तियाँ मूर्ति-खण्डन वृति वाले मुसलमानों की नजर में खटकने लगे और उन्होंने देखते देखते अनेक भव्य मन्दिरों को ध्वस्त कर गिराया। आगे बढ़ कर वृन्दावन के किलों तथा मंदिरों को भी उसने लूटा। इस लूट में महमूद को अतुल धनराशि हाथ लगी।

इसके बाद वह कन्नौज की ओर बढ़ा। उस हर्ष की नगरी के चारों ओर सात दीवारें थीं। कहते हैं इस नगर में उस समय दस हजार मंदिर थे। वहाँ का प्रतिहार राजा राज्यपाल बिना युद्ध किये नगर छोड़कर भाग गया और एक ही दिन में कन्नौज पर महमूद का पूर्ण अधिकार हो गया। वह साथ में अपार धन-सम्पत्ति और गुलामों को लेकर बुलन्दशहर होता हुआ गर्व और संतोष की साँस लेता १७ दिन में गजनी लौट गया।

(१५) महमूद का पन्द्रहवाँ हमला कालिंजर के चन्देल शासक पर हुआ। चन्देलों ने कन्नौज के प्रतीहार राजा की कायरता से क्रुद्ध हो उसे दण्ड देने का निश्चय किया। चन्देल शासक ने कन्नौज पर आक्रमण कर राज्यपाल को मार डाला। महमूद अपने अधीनस्थ एक राजा की इस दशा की खबर पाकर चन्देलों के दण्ड देने के लिए गजनी से चल पड़ा। चन्देल भी सन् १०१९ ई० में अपनी सेना ले महमूद से युद्ध करने के लिए आगे बढ़े। पर चन्देल राजा युद्ध के पूर्व डर कर रणक्षेत्र छोड़ भाग खड़ा हुआ। अब महमूद की हिम्मत और बढ़ी और उसने एक साथ ही कालिञ्जर और ग्वालियर पर अधिकार किया। दोनों राजाओं ने महमूद को धन तथा हीरे-जवाहिरात देकर संधि की और महमूद विजयी होकर गजनी लौटा।

(१६) महमूद का सोलहवाँ हमला भारत के प्रसिद्ध मन्दिर सोमनाथ पर सन् १०२५–२६ में हुआ। यह मन्दिर गुजरात में काठियावाड़ प्रदेश में स्थित था और इसके पास अपार धन-सम्पत्ति थी। इस मन्दिर में प्रतिदिन १००० ब्राह्मण पूजा करते थे। ५०० नर्तकियाँ और २०० गायक सदैव भक्तों का मनोरंजन किया करते थे। मन्दिर का व्यय १०००० गाँवों की आमदनी से चलता था। इन बातों से पता चलता है कि उस समय धर्म के नाम पर कैसी विलासिता और अपव्यय होता था। महमूद ने इस मन्दिर की सम्पत्ति का समाचार सुनकर आक्रमण करने की योजना बनायी। रेगिस्तानी मार्ग की कठिनाइयों को झेलता हुआ उसने अजमेर के रास्ते मन्दिर के फाटक तक पहुँचने का प्रयास किया। पण्डे-पुजारियों को तो अपने इष्टदेव के बल का भरोसा था, अतः वे चुपचाप हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहे। पर अन्य राजपूत राजाओं ने मन्दिर की रक्षा के लिए एकत्र हो युद्ध की तैयार की। दोनों दलों में घमासान हुआ और तुर्कों के छक्के छूटने लगे। इस युद्ध में लगभग पाँच हजार हिन्दू काम आये। अन्त में वे हार गये और महमूद ने मन्दिर में प्रवेश किया। मूर्ति को बचाने के लिए पुजारियों ने महमूद को मनचाही सम्पत्ति देने का बचन दिया, पर महमूद ने क्रूरता पूर्वक कहा कि वह मूर्ति बेंचने वाला नहीं हैं, मूर्ति तोड़ने वाला है। धन का प्रलोभन और दया की भिक्षा महमूद को न हिला सके। मूर्ति को तोड़ कर टुकड़े टुकड़े कर दिये गये। महमूद मालामाल हो गया। वहाँ से अतुल धन लेकर वह रास्ते के राजाओं को परास्त करता सिंध होकर गजनी गया।

महमूद का अन्तिम (सत्रहवाँ) आक्रमण जाटों के विरुद्ध हुआ क्योंकि जाटों ने सोमनाथ से लूट का माल ले कर गजनी जाते हुए सुलतान के सैनिकों को तंग किया था। जाट परास्त हुए और उनमें से अधिकांश तलवार के धार उतार दिये गये। यह सुलतान का भारत पर अन्तिम आक्रमण था। इसके कुछ ही दिनों बाद सन् १०३० ई० गजनी में उसकी मृत्यु हुई। "कहते हैं कि मरने से दो दिन पूर्व उसने अपना सारा लूट का धन अपने सामने मँगवाया था, और यह देखकर कि मैं यह सब धन और सामान यहीं छोड़कर खाली हाथ जा रहा हूँ, वह अत्यन्त दुखी हुआ और रोया। यह बात अक्षरशः सच हो या नहीं, परंतु यह ठीक जान पड़ता है कि मृत्यु का भयावह रूप

देखकर वह अपनी इस अन्तिम यात्रा के लिए उस साहस के साथ न जा सका जिस साहस से वह भारतीय आक्रमण के लिए जाता था।"

महमूद का कार्य और उसका चरित्र—महमूद के असाधारण सैनिक आक्रमण और युद्ध की कहानी हम देख चुके हैं। जीवन-पर्यन्त उसने युद्ध किया और अनभिज्ञ देश में दूर तक सेना लेकर निर्भीकता पूर्वक घुसने का साहस किया। वह भीषण युद्ध-स्थिति से भी घबड़ाता नहीं था और अदम्य उत्साह और असीम साहस के साथ काम करता था। उसने जीवन का अधिकांश भाग युद्ध में बिताया और सदा अपने सैनिकों को उत्साह तथा जोश से आगे बढ़ाता रहा। उसने अपने जीवन में तीन प्रकार के कार्यों को प्रधानता दी। प्रथम अपने पिता सुबुक्तगीन द्वारा साम्राज्य-स्थापना के कार्य को पूरा करना था। उसने मध्य एशिया के छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों को समाप्त किया, भारतीय सीमा में स्थित सीमान्त प्रदेशों को अपने अधीन किया और इस प्रकार ईरान, अफगानिस्तान और भारत के सीमान्त प्रदेशों में गजनी के तुर्क साम्राज्य का संगठन किया। खलीफा के पद का महत्व और प्रभाव उनकी विलासिता और निष्क्रियता के कारण घटता जा रहा था। महमूद ने गजनी में उसकी पूर्ति की और इस्लामी शक्ति के प्रकाश को पुनः देदीप्यमान बनाया। महमूद के जीवन का दूसरा मुख्य ध्येय गजनी को धन-धान्य से परिपूर्ण करना था। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसका ध्यान वैभव-सम्पन्न भारत की ओर गया। आज तो अनुमान भी नहीं किया जा सकता है कि महमूद ने सोमनाथ, कन्नौज, कालिंजर, मथुरा, नगरकोट आदि स्थानों से कितनी सम्पत्ति लूटी और गजनी को सम्पन्न बनाया। इस लूट के कार्य में महमूद को पूरी सफलता मिली। महमूद के जीवन का तीसरा उद्देश्य इस्लाम का प्रचार और मूर्ति पूजकों का नाश करना था। इस कार्य में उसकी सफलता सोमनाथ, नगरकोट, मथुरा, कालिंजर, थानेश्वर और कन्नौज के हजारों मन्दिरों के भग्नावशेष ही बताते हैं। उसने वहाँ की अपार धन राशि लूटी, मन्दिरों तथा मूर्तियों को नष्ट किया, हजारों को मौत के घाट उतारा, और अनगिनत लोगों को दास बना गजनी में कौड़ियों के भाव बेंचा। "इसीलिए तत्कालीन मुसलमान उसे गाजी कहते थे जिसने काफिरों के देश से कुफ्र हटाने की कोशिश की। हिन्दूओं के लिए आज भी वह एक हूण है जिसने उनकी धार्मिक भावनाओं का

अनादर किया, उनके देवलायों और मूर्तियों को तोड़ा।" उनके स्थान पर अनेक मसजिदें खड़ी हो गयीं और शंख-ध्वनि के स्थान पर अजान की आवाज सुनायी पड़ने लगी।

मुसलमानों के लिए महमूद गजनवी एक आदर्श शासक था। वह एक योद्धा और कुशल सेनापति था। इस कार्य में वह दूरदर्शी भी था। भारत की भौगोलिक स्थिति से अनभिज्ञ होकर भी वह आक्रमण के पूर्व सैनिक-संचालन की हर प्रकार की बातों से परिचय प्राप्त करने की कोशिश करता था और अपना मार्ग सदा साफ रखने का प्रयास करता था। वह युद्ध की वास्तविक कला से भी भिज्ञ था और दुश्मन को हतोत्साह करने की कला में प्रवीण था। स्त्रियों के सतीत्व का वह आदर करता था और इस प्रकार के आरोप भारतीय विजय के समय उस पर नहीं लगाये गये। वह इस्लाम का पक्का अनुगामी था। इसके प्रचार में वह सीमा का अतिक्रमण कर गया और हजारों हिन्दुओं को बलात मुसलमान बनवाया। इतिहासकारों का कहना है कि वह न्याय-प्रिय सुलतान था और कानून तोड़नेवालों को कठोरतम दण्ड देने की व्यवस्था उसके शासन में थी। अपनी प्रजा की रक्षा के कार्य में वह सदा तत्पर रहा करता था। न्याय के क्षेत्र में उसके सामने धनी-गरीब सब बराबर थे। चोर और डाकुओं को बड़ी कड़ी सजा दी जाती थी। उसके साम्राज्य में व्यापार के मार्ग में डाकुओं का भय नहीं था।

महमूद अनपढ़ था, पर वह विद्या तथा कला का प्रेमी था। उसके दरबार में विद्वान और कलाकार आश्रय पाते थे। वह बड़ी श्रद्धा के साथ दरबार के विद्वानों की रचनायें सुनता था। गजनी को उसने विशाल पुस्तकालय, इमारतों, उद्यानों और अन्य मनोरम सामग्रियों से सुसज्जित किया और उस समय सौंदर्य और वैभव में बगदाद का स्थान गजनी ने ले लिया था। उसके दरबार में संसार प्रसिद्ध 'शाहनामा' का लेखक **फिरदौसी** रहता था जिसने शाहनामा लिख महमूद को इतिहास में अमर बना दिया है। शाहनामा के पूरा करने पर फिरदौसी उचित पुरस्कार न पाकर सुलतान से नाराज हो गया और उसने गजनी छोड़ दिया; अन्त में उसने एक व्यंग काव्य लिखा। बाद को महमूद ने अपनी गलती समझी और उसे उचित पुरस्कार देना चाहा, पर इस समय तक फिरदौसी मर चुका था।

महमूद एक कुशल सैनिक, सेनानी और न्याय-प्रिय सुलतान था। उसने गजनी और इस्लाम के लिए बहुत कुछ किया, पर अन्य धर्मवालों के प्रति उसकी अनुदारता और धनलोलुपता उसके जीवन में एक काला धब्बा-सा ही माना जायगा। प्रोफेसर हबीब के शब्दों में "न तो किसी ईमानदार इतिहास-कार को छिपाने का प्रयत्न करना चाहिए और न किसी मुसलमान को, जो उसकी दुर्बलताओं से परिचित है, मन्दिरों के मर्यादाहीन विनाश को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस्लाम न तो देवालयों के विनाश की आज्ञा देता है और न आक्रमणकारियों द्वारा लूटमार की। कुरान में कोई ऐसा नियम नहीं है जो अकारण हिन्दू राजाओं और जनता पर किये गये आक्रमणों को न्यायोचित बतलाये जिन्होंने महमूद और इस्लाम को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायी थी। देवालयों और पूजागृहों की लज्जाहीन बरबादी सभी धर्मों में घृणा की दृष्टि से देखी जाती है।" शान्तिपूर्वक अपनी सीमा में रहने वालों के प्रति इस प्रकार का क्रूर व्यवहार कभी भी आदर्श नहीं कहा जा सकता।

अलबरूनी—अलबरूनी का वास्तविक नाम अबू रिहान था और उसे खीवा प्रान्त से महमूद पकड़ कर अपने साथ गजनी लाया था। वह महमूद के साथ भारत आया और उसने भारत की सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक दशा का वर्णन अपनी एक पुस्तक में लिखा जिससे इस देश की तत्कालीन अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वह लिखता है कि "भारत छोटे छोटे भागों में विभाजित था जिनके शासक पूर्ण स्वतंत्र थे। वे आपस में सदा लड़ा करते थे। उस समय काश्मीर, मालवा, सिंध, कन्नौज, गुजरात और बंगाल प्रसिद्ध राज्य थे। हिन्दुओं में बालविवाह की प्रथा थी, विधवाओं को पुनः विवाह करने की आज्ञा नहीं थी। उस समय सती-प्रथा का भी प्रचलन था। मूर्ति-पूजा का प्रचार सर्वत्र था। मन्दिरों में अतुल सम्पत्ति इकट्ठी थी और उसी के कारण मुसलमानों की धन-लिप्सा बढ़ी और आक्रमण हुए। देश में साधारण जनता बहुदेववादी थी, परंतु सभ्य और विद्वान एक ही परमात्मा को मानते थे।" अलबरूनी कई वर्षों तक यहाँ रहा और उसने भारतीय उपनिषदों का अध्ययन किया जिससे वह बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उसने उनकी खूब प्रशंसा की है। उसका जन्म सन् ९७३ ई० में आधुनिक खीवा प्रान्त में हुआ था।

महमूद के उत्तराधिकारी—सन् १०३० ई० में महमूद का देहान्त हुआ। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी उतने योग्य और महत्वाकांक्षी न हुए। १० वर्ष के अन्दर ही गजनी का साम्राज्य महमूद के वंशजों के हाथ से निकल गया। जब महमूद के वंशज भारत के झगड़ों को तय करने में लगे थे, तब सन् १०४० ई० में सालजुक तुर्कों ने गजनी प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। धीरे-धीरे दो शताब्दियों के भीतर गजनी शासन का अन्त हो गया। भारत से लूट में एकत्रित की गयी गजनी की सम्पत्ति ने महमूद के वंशजों को विलासी और अकर्मण्य बना दिया था।

गोर वंश

महमूद के वंशजों की कमजोरी से गजनी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उनके स्थान पर गोर वंश की शक्ति बढ़ने लगी। ये लोग पूर्वी फारस के निवासी थे। सन् ११६३ ई० में गयासुद्दीन मुहम्मद बिन साम ने तुर्कों को गजनी से मार भगाया और अपने भाई शहाबुद्दीन मुहम्मद साम को वहाँ का शासक बनाया। इसी का नाम बाद को मुहम्मद गोरी हुआ जिसने भारत में स्थायी इस्लामी साम्राज्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया।

मुहम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण—इस समय भारत का शासन बहुत ढीला हो गया था और देश के सामाजिक जीवन में दुखद शिथिलता आ गयी थी। इसी समय महत्वाकांक्षी मुहम्मद गोरी गोर के आस पास तुर्कों में नये जीवन और शक्ति का संचार कर रहा था और भारत के विस्तृत मैदान में अपने साम्राज्य-प्रसार की योजना बना रहा था। सन् ११७५ ई० में उसने मुलतान पर आक्रमण किया क्योंकि वह वहाँ के उदार मुसलमानों के विरुद्ध था। उसने उनके स्थान पर कट्टर मुसलमान शासक नियुक्त किया। उसके बाद उसने उच्च के दुर्ग पर अधिकार किया। इस दुर्ग को जीतने में उसने कूटनीति से काम लिया। इन प्रारम्भिक सफलताओं से मुहम्मद गोरी का उत्साह बढ़ गया।

सन् ११७८ ई० में सुलतान ने अन्हलवाड़ (गुजरात) के चालुक्य राजा मूलराज पर आक्रमण किया। मुहम्मद उससे बुरी तरह परास्त हुआ और भाग

खड़ा हुआ। मार्ग में उसके अधिकांश सैनिक मारे गये। पर अपनी हार का कलंक मिटाने के लिए पेशावर और पुनः लाहौर पर अधिकार किया। लाहौर की विजय में देशी शासकों ने लाहौर के शासक को धोखा दिया और वे मुहम्मद गोरी से जा मिले। इसीलिए इधर उसे सफलता मिली।

पृथ्वीराज के साथ युद्ध—पर अधिकार हो जाने से मुहम्मद गोरी लाहौर के लिए भारत के विस्तृत मैदान में प्रवेश करने का सुलभ मार्ग मिल गया। आगे वह भारत की विजय में जी-जान से पूरी शक्ति लगा कर जुट गया। इसके पूर्व दो बार वह बुरी तरह मात खा चुका, पर उसकी हिम्मत सराहनीय थी क्योंकि उससे वह चुप नहीं बैठ गया। मुलतान और लाहौर जिसे अब तक वह जीत चुका था, गजनी शासन के अंतर्गत थे। अब आगे उसे हिंदू राजाओं से मुठ-भेड़ लेनी थी। आगे बढ़ने पर सर्व प्रथम उसे दिल्ली और अजमेर के चौहान राजा से युद्ध करना पड़ता। उस समय पृथ्वीराज चौहान इस इलाके का शासक था जो अपनी शक्ति, आन और बहादुरी के लिए प्रसिद्ध था। सन् ११९०-९१ ई० में मुहम्मद गोरी ने सरहिंद नामक स्थान पर कब्जा किया। वह स्थान पृथ्वीराज के राज्य के पश्चिमी सीमा पर एक प्रसिद्ध नगर था। समाचार मिलते ही पृथ्वीराज उस तरफ एक बड़ी सेना के साथ चल पड़ा। थानेश्वर से १२ मील की दूरी पर तरावड़ी गाँव के पास दोनों सेनाओं में भिड़न्त हुई। युद्ध में राजपूत सैनिकों ने अपनी चोटों से तुर्कों को मार भगाया और मुहम्मद गोरी स्वयं बुरी तरह घायल हुआ। कहते हैं कि वह भागते समय पकड़ा गया, पर उसने घूस देकर किसी प्रकार अपनी जान बचायी। पृथ्वीराज ने आगे बढ़ कर सरहिंद पर भी अधिकार कर लिया। सब कुछ होने पर भी मुहम्मद गोरी ने हिम्मत नहीं छोड़ी और पुनः ११९२ ई० में एक लाख बीस हजार सैनिकों को लेकर भारत पर चढ़ आया।

इस बार भी पृथ्वीराज ने दुश्मन का सामना करने के लिए पूरी तैयारी की। उसने सब राजपूत राजाओं को देश और धर्म की रक्षा के लिए निमंत्रित किया। इस प्रकार एक बड़ी सेना लेकर दोनों दल पुनः तरावड़ी के मैदान में डट गया। इस बार मुहम्मद ने पूरी तैयारी की और राजपूतों को छकाने का कार्यक्रम बनाया। महमूद की युद्ध-नीति काम कर गयी, राजपूत पुराने ढङ्ग

से लड़े और हार गये। युद्ध कौशल के सामने वीरता और बलिदान को झुकना पड़ा। उसने ऐसा दिखावा किया कि मुहम्मद की सेना भाग रही है और जब राजपूत सैनिक ढीले पड़ गये तो अपनी सुरक्षित सेना को संकेत देकर राजपूतों पर टूट पड़ने को आह्वान किया। अतः इस युद्ध में राजपूतों की हार हुई। पृथ्वीराज युद्ध में पकड़ा गया और उसे मार डाला गया। सुलतान ने आगे बढ़कर अजमेर पर धावा किया, नगर को लूटा, मन्दिरों को तोड़ा और वहाँ मस्जिदें खड़ी करवायी। उसने पृथ्वीराज के लड़के को अजमेर का शासक बनाया और भारत के अन्य जीते हुए भाग का गवर्नर अपने प्रिय दास कुतुबुद्दीन ऐबक को बनाया। वास्तव में इसी कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में तुर्क सुलतान की नींव पक्की की। कुछ दिनों के बाद विद्रोह होने के कारण उसने अजमेर को भी अपने आधीन कर लिया और पृथ्वीराज के पुत्र को हटा दिया। उसने आस-पास के अन्य राजाओं को परास्त किया और सन् ११९३ ई० में दिल्ली को भारतीय साम्राज्य का केन्द्र बनाया।

"वस्तुतः तरावड़ी (तराइन) का युद्ध भारतीय इतिहास में एक निर्णयात्मक युद्ध था जिससे शताब्दियों के लिए भारत के भाग्य का निर्णय हो गया।" इस युद्ध में राजपूतों की सामूहिक शक्ति पर असह्य चोट पहुँची और इसके बाद कोई ऐसा नहीं रहा जो इस्लामी प्रगति को रोक सके। इसके पश्चात न तो कोई ऐसा राजपूत राजा शेष रहा जो स्वयं अपनी शक्ति से मुसलमानों को रोकने में समर्थ होता और न किसी में संगठन की इतनी शक्ति और व्यक्तित्व का इतना आकर्षण था जो अपने झण्डे के नीचे देश में बिखरी राजपूत शक्ति को एकत्रित कर सके। अतः इस युद्ध के फल स्वरूप भारत में तुर्क शक्ति की नींव स्थायी बन गयी। इसी के बाद दिल्ली और उसके आस-पास का प्रदेश तुर्कों के अधिकार में आया जहाँ से वे भारत के किसी भाग तक आसानी से धावा कर सकते थे।

कन्नौज की चढ़ाई—दिल्ली के बाद राजपूतों की शक्ति का केन्द्र कन्नौज था। वहाँ राठौर राजपूत जयचन्द राज्य करता था। कहा जाता है कि जयचन्द ने यह सोच रक्खा था कि पृथ्वीराज के पराजय के बाद मुसलमान स्वदेश लौट जायेंगे और वह उत्तरी भारत का सार्वभौम सम्राट होगा। पर

उसका यह स्वप्न पूरा नहीं हुआ। मुहम्मद गोरी सन् ११९४ ई० में कन्नौज को जीतने के लिए गजनी से चल दिया और देखते देखते उसकी विशाल सेना नगर के पास आ गयी। युद्ध में चन्दावर नामक स्थान पर जयचन्द पराजित हुआ और मारा गया। राजपूत सेना भाग खड़ी हुई और विजयी तुर्कों ने नगर में गर्व के साथ प्रवेश किया। सुलतान का मार्ग सुकर हो गया। उसने आगे बढ़ बनारस को लूटा, मंदिरों को तोड़ा और कई मस्जिदें बनवायीं। तत्पश्चात लूट का माल लेकर वह गजनी चला गया।

उत्तरी भारत की विजय—कन्नौज के बाद शेष उत्तरी भारत को जीतने का काम सुलतान के एक सेनापति मुहम्मदबिन बाख्तियार ने किया। बिहार में उसे किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। आक्रमणकारियों ने बौद्ध विहारों को नष्ट किया, पण्डितों और भिक्षुओं को तलवार के घाट उतारा।

अब बंगाल की बारी आयी। उस समय नदिया में लक्ष्मणसेन राज्य करता था। कहा जाता है कि केवल अठारह घुड़सवारों के साथ मुहम्मद बिन बख्तियार ने नगर में प्रवेश किया और लक्ष्मणसेन महल के पीछे वाले दरवाजे से चुपके से भाग निकला। इसके बाद सारा बंगाल उसके अधिकार में आ गया। मुहम्मद बिन बख्तियार ने गौड़ को अपनी राजधानी बनायी और वहाँ अनेक मस्जिदें खड़ी हो गयीं।

इस प्रकार सुलतान ने सारे उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसके पैर अब इस देश में जम चुके थे। अतः उसने गुजरात के राजा को परास्त कर उससे बदला लिया, और विभिन्न भागों में होने वाले विद्रोहों को कड़ाई के साथ दबाया। सन् १२०६ ई० में जब वह लाहौर और मुलतान के पास के खोखरों के विद्रोह को दबाकर गजनी लौट रहा था तो उसके किसी दुश्मन ने उसे मार डाला।

मुहम्मद गोरी ने अपनी बहादुरी और राजपूतों की कमजोरी से पूरे उत्तरी भारत को अपने आधीन कर लिया। उसे अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली। तुर्क साम्राज्य पेशावर से बंगाल तक स्थापित हो गया। उत्तरी भारत में उसका सामना करने वाला कोई नहीं रहा। सुलतान की मृत्यु के बाद उसके

प्रतिनिधि रूप में भारत के तुर्क साम्राज्य का मालिक कुतुबुद्दीन हुआ। उसने अपने सम्राट की मृत्यु के बाद इस भारतीय राज्य को गोर साम्राज्य से सर्वथा स्वतंत्र कर लिया।

मुहम्मद गोरी के कार्यों की समीक्षा—मुहम्मद गोरी एक सफल और कुशल राजनीतिज्ञ था। वह भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार और प्रसार स्थायी रूप से करना चाहता था। यह सच है कि वह महमूद की तरह बहादुर और युद्ध-कुशल नहीं था और न प्रारम्भ में उतना साधन-युक्त ही था, पर उसमें हौसला और तत्परता कम नहीं थी। इसीलिये अन्हलवाड़, तराइन आदि स्थानों पर असफल हो कर भी उसने हिम्मत नहीं छोड़ी और अपनी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार भारत में तुर्क साम्राज्य की नींव पक्की करने में सफल हुआ।

वह महमूद गजनवी की तरह केवल लूट और मंदिरों के तोड़-फोड़ में ही अधिक ध्यान नहीं दिया, बल्कि अपने अधिकृत प्रदेशों को विश्वासपात्र और योग्य सेनापतियों तथा शासकों को सुपुर्द कर यहाँ स्थायी शासन स्थापित करने का प्रबन्ध किया। महमूद ने इस देश की अपार धन-राशि को लूटा, देवालयों और मूर्तियों को विध्वंस किया और अपनी जिहाद की योजना पूरी की; "महमूद ध्येय धन लूटना था, राज्य स्थापना नहीं; मूर्तियों का विनाश करना था, विजय प्राप्त कर राज्य स्थापित करना नहीं।" पर मुहम्मद गोरी का मुख्य लक्ष्य भारत में राज्य की स्थापना करना था, धन लूटना उसका मुख्य लक्ष्य नहीं था। महमूद गजनवी अपेक्षाकृत मुहम्मद गोरी से अधिक साहसी, रण-कुशल, प्रतिभावान और विजेता था, पर भारतीय इतिहास की घटनाओं के मूल्यांकन में मुहम्मद गोरी की विजय महमूद की विजयों से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

शासन प्रबन्ध के क्षेत्र में मुहम्मद गोरी ने किसी नवीन पद्धति का अनुसरण नहीं किया। उसकी परख अच्छी थी और अपने अधिकृत देशों में ऐसे योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को प्रबंधक नियुक्त करता था जो शासन और शान्ति-स्थापना के कार्य में कुशल और सफल सिद्ध हुए। ऐबक, बख्तियार और कुबाचा को उच्च पदों पर नियुक्त कर उसने अपनी दूरदर्शिता और

पैनी दृष्टि का परिचय दिया। यदि वह ऐसे योग्य व्यक्तियों को भारत के अधिकृत प्रदेशों का शासन न सुपुर्द करता तो इस देश में अभी इस्लाम के पैर स्थायी रूप से नहीं जमने पाते। मुहम्मद के मरने के बाद उसे कोई सन्तान नहीं रही, पर उसके गुलाम इतने स्वामिभक्त और योग्य थे कि उन्होंने सुलतान की मृत्यु के बाद भी साम्राज्य को अधिक सुदृढ़ और शक्ति-शाली बनाया। मुहम्मद गोरी कूटनीतिज्ञ भी था इसीलिए उसने कुछ हिन्दू राजाओं को अपनी ओर मिला कर अपना मतलब निकालता था। इस नीति की आवश्यकता वह अच्छी तरह समझता था और इससे उसने लाभ उठाया। वह हिन्दुओं को भुलावा देने और समय पर उत्तम व्यूह रचना के काम में बहुत प्रवीन था। तराइन की दूसरी लड़ाई में अपनी इसी होशियारी के कारण वह विजयी हुआ और राजपूतों की संगठित शक्ति को मात दिया।

राजपूतों की हार के कारण—महमूद ने भारतीय सीमा के भीतर सन् १००० ई० में प्रथम आक्रमण किया और तीस वर्ष के भीतर उसने सत्रह बार भारतीय राजाओं को पराजित किया, मन्दिरों को तोड़ा और अतुल धन लूटा। एक-एक कर प्रायः सब राजपूत राजाओं को उसने परास्त किया। उसके बाद सन् ११७५ ई० से भारत विजय का काम मुहम्मद गोरी ने आगे बढ़ाया और पूरा किया। देखते-देखते इस विशाल देश के राजपूत नरेश परास्त कर दिये गये और भारत में नये वंश, धर्म और संस्कृति का प्रभुत्व स्थापित हो गया। राजपूतों की इस पराजय के पीछे अनेक शक्तियाँ काम कर रही थीं। उस समय भी देश के लोगों में, राजाओं और सरदारों में वीरता, शारीरिक शक्ति, आत्म त्याग, कष्ट-सहन के गुण किसी से कम नहीं थे। उनमें आत्म सम्मान की भावना का भी अभाव नहीं था। वे वीरों की भाँति मरना जानते थे। पर उनमें सबसे अधिक कमी और अभाव विवेक और दूर-दर्शिता की थी। उन्होंने समक्ष आयी आपत्ति का ठीक-ठीक अन्दाज नहीं किया और वे नहीं समझ सके कि दुश्मन कितना चालाक, साहसी और धर्म प्रचार में दृढ़ संकल्प है। उस समय भी उन्होंने अपनी परम्परागत वीरता का गलत प्रयोग किया और आपस में लड़ते रहे। इसका फल यह हुआ कि जब समस्त देश के धर्म और राष्ट्र की रक्षा की

समस्या सामने आयी तो पारस्परिक युद्ध-नीति के कारण वे एक नेता के नीचे संगठित न हो सके और अपनी पुरानी दुश्मनी और अपने गलत आत्म-सम्मान को दबा न सके। जहाँ नेताओं की भरमार हो, जहाँ सभी अपने को नेता समझते हों, उस देश की रक्षा ईश्वार ही कर सकता है। इस प्रकार देश की पराजय का सबसे प्रमुख कारण ठोस और सक्रिय राष्ट्रीयता का अभाव था। **शासक वर्ग में देश प्रेम के स्थान पर संकुचित वंशगत मर्यादा और संकुचित गौरव के भाव ने स्थान ले लिया था। इस प्रकार परम्परागत दीर्घ कालीन पारस्परिक युद्धों के कारण राज्य के कोष और सैनिक शक्ति क्षीण हो चली थी।**

राजपूतों की पराजय का दूसरा मुख्य कारण **विदेशी राजनीति के प्रति उदासीनता** थी। भारतीय राजा ने उस समय सीमा के बाहर की राजनीतिक उथल-पुथल और नयी शक्तियों के जन्म और विकास की लहर से अपने को बिलकुल अनभिज्ञ रखते थे। इस प्रकार कूप मण्डूक बन उन्होंने अपनी सारी शक्ति और साहस का दुरुपयोग आपसी युद्धों में किया। सीमांत के बाहर की राजनीतिक लहरों से अनभिज्ञ और उदासीन रहने की गलती का जितना कटु और मँहगा मूल्य भारत के इस समय के राजाओं और जनता को देना पड़ा, उतना शायद ही किसी अन्य देश को चुकता करना पड़ा हो!

राजपूतों की हार का एक अन्य मुख्य कारण तत्कालीन **सामाजिक निष्क्रियता और शिथिलता** भी थी। जाति और धर्म की मान्यताओं का इतना शिथिल अर्थ लगाया जाता था कि जन-जीवन में मुर्दा-जैसा शैथिल्य घुस गया था और उसके विकास और शक्ति को अत्यन्त क्षीण कर दिया था। जातिगत भेद-भाव और छूत-छात के प्रभाव ने समाज को गतिहीन बना डाला था। एक वर्ग का दूसरे वर्ग से, एक प्रांत का दूसरे प्रांतों से सामाजिक सम्बन्ध और विचारों का आदान-प्रदान प्रायः लुप्त हो चुका था। ब्राह्मण और बौद्ध पारस्परिक द्वेष और घृणा करते और एक दूसरे से चिढ़े रहते थे। एक ही समाज के अंग होते भी उनमें किसी प्रकार का सौहार्द्रय और मेल नहीं था। किसी यवन की छाया मात्र से हिन्दू धर्म से च्युत और अपवित्र समझे जाते थे। इस लोक की अपेक्षा उन्हें परलोक बनाने की चिन्ता अधिक

रहती थी। अतः जो धब्बा उनके सिर इस समय लगा, वह अमिट-सा हो गया और आज तक धोये नहीं धुलता। प्रतिवर्ष उनके मन्दिर तोड़े जाते थे, उनकी सम्पत्ति लूटी जाती थी, उनके भाई इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश किये जाते थे, पर उनकी नींद नहीं खुलती थी और वे हतबुद्धि और स्तब्ध होकर इसे देखते ही रह गये। इस प्रकार उनके धर्म की संकुचित भावना ने उनके जीवन तत्वों को नष्ट कर दिया और वे अपनी रक्षा का प्राथमिक कर्तव्य भूल गये।

भारतीय राजाओं की हार का एक कारण उनकी **धार्मिक दुर्बलता** भी थी। हिन्दू अपनी शक्ति के अधिक भरोसा अपने देवी-देवताओं के आशीष और कृपा पर रखते थे। इसीलिए वे भाग्यवादी बन गये थे और संकट उपस्थित होने पर भाग्य को दोषी बना शत्रु के सम्मुख माथा टेक देते थे। शूद्रों की धार्मिक स्थिति ने उन्हें अपने ही समाज का शत्रु बना दिया। अन्य वर्ण के लोग स्वयं आलसी और प्रमादी बन कर यह आशा करने लगे कि हमारे देवता शत्रुओं को नष्ट करदेंगे और हमारी रक्षा करेंगे।

सैनिक त्रुटि—भी हमारी पराजय का एक कारण हुई। राजपूत राजा व्यूह-रचना और सैन्य संचालन तथा संगठन के कार्य में मुसलमानों की अपेक्षा कमजोर थे। व्यूह-रचना में दुश्मन की कमजोरी से लाभ उठाना हिन्दू राजा नहीं सीख पाये। व्यूह रचना और सैन्य-संचानल की पटुता से ही मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज की सेना को तराइन के मैदान में पराजित किया था, अन्यथा राजपूत सैनिकों की संख्या और उनके हथियार यवनों से कम और खराब नहीं थे। राजपूतों के पास स्थायी और युद्ध-कुशल सेना कम रहती थी। वे हाथियों पर अधिक भरोसा करते थे जब कि उन्हें इनसे कई बार धोखा हो चुका था। युद्ध के मैदान में राजपूत नरेश रिजर्व सेना रखकर उसका उपयोग नहीं करते थे। अतः उन्हें शत्रु के सामने मात खानी पड़ती थी।

इन कारणों के अतिरिक्त इस समय के आक्रमण करने वालों में कुछ ऐसे गुण भी थे जो राजपूतों को पराजित करने में सहायक हुए। आक्रमणकारियों में नेतृत्व का गुण बहुत ही अच्छा था। महमूद और मुहम्मद दोनों ही अपने सैनिकों के प्रिय थे और वे **कुशल सेनापति** भी थे। उनमें अदम्य

उत्साह, दृढ़ता, साहस, धैर्य आदि गुणों का सामंजस्य अच्छा था जिसमें भीषण और प्रतिकूल परिस्थितियों में वे घबड़ाते नहीं थे।

जिन तुर्कों ने भारत पर आक्रमण किया, वे स्वभाव से ही सजीव और युद्ध-कुशल थे। अरब वालों के शासन काल में उनको रण-कौशल की अच्छी ट्रेनिंग मिली थी। इसी जाति ने मध्य एशिया से भूमध्य सागर तक के सब प्रदेशों को रौंद डाला था। उनका नया धार्मिक उत्साह भी इन्हें बल प्रदान कर रहा था। उन्हें इस बात में पक्का विश्वास था कि इस प्रकार का युद्ध करना और इस्लाम का प्रचार करना ईश्वर की आज्ञा है। अतः वे इस समय अपनी समझ में एक ऐसे पवित्र कार्य के लिए उद्यत हुए थे जिसमें मरना भी श्रेयस्कर था। इस भावना ने उनमें अदम्य उत्साह भर दिया था और वे मौत को चुनौती देकर युद्ध क्षेत्र में उतरते थे।

तुर्कों की विजय के पीछे धन लोलुपता का भी पूरा हाथ था। उन्होंने भारत के समृद्धशाली नगरों और मन्दिरों को लूटा और अतुल धन सम्पत्ति उनके हाथ लगी। सैनिकों को इस लूट का ⅘ मिलता था, अतः सुलतानों को सैनिक संग्रह करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी। उनकी सेना में भर्ती होने के लिए उनकी प्रजा इच्छुक रहती थी।

तुर्क सुलतान सदा अपने साथ घुड़सवारों की ही अधिक संख्या में रखते थे। वे तेज दौड़ने वाले थे और उनके समक्ष हाथियाँ बेकार हो जाती थीं। मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के साथ युद्ध करने के लिए १,२०,००० घुड़ सवारों की सेना तैयार की थी।

इन्हीं कारणों से संसार प्रसिद्ध वीर राजपूतों को इस्लाम के प्रचारक तुर्कों के समक्ष घुटने टेक देने पड़े। ऊपर की बातों से स्पष्ट है कि इस पराजय के पीछे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सैनिक सभी प्रकार के कारण काम कर रहे थे जिनसे भारत में एक ऐसी नयी जाति और धर्म का आगम हो सका जिसने इस देश के इतिहास की धारा ही बदल दी।

इक्कीसवां परिच्छेद

दिल्ली सल्तनत का इतिहास

[सन् १२०६—१५२६ ई०]

१. गुलाम वंश (सन् १२०६—१२९० ई०)

एक नयी पद्धति का प्रारम्भ—मुहम्मद गोरी के भारत विजय का प्रयास पूर्ण रूप से सफल रहा। भारत में तुर्क-साम्राज्य की स्थापना का उसका स्वप्न पूरा उतरा। पर इस सफलता के बाद भी उसके साम्राज्य का केन्द्र-विन्दु गजनी ही रहा। वह वहीं से अपने साम्राज्य की देखभाल और शासन प्रबन्ध करता था। सन् ११९२ ई० में तराइन के मैदान में पृथ्वीराज को पराजित करने के पश्चात मुहम्मद गोरी अपने भारतीय साम्राज्य के शासन का भार अपने स्वामिभक्त सेनापति कुतुबुद्दीन के हाथ में सौंप दिया। कुतुबुद्दीन ने दिल्ली को अपना प्रधान स्थान बनाया और यहीं से अपने सम्राट के साम्राज्य का प्रशासन करने लगा। मार्च सन् १२०६ ई० में मुहम्मद गोरी का देहान्त हुआ। इस समय तक उसने उत्तरी भारत के अधिकांश भाग को जीत कर अपने आधीन कर लिया था। उसकी मृत्यु के बाद गोरी के साम्राज्य के भारतीय भाग का शासक कुतुबुद्दीन ही हुआ। उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनायी सन् १२०६ ई० से उसने इस देश में एक नये राज-वंश की नींव डाली जो भारतीय इतिहास में 'गुलाम वंश' के नाम से प्रचलित है। इस वंश के प्रमुख शासक अपने जीवन के प्रारम्भ में गुलाम रहे, पर उनकी योग्यता से उनके भाग्य ने पलटा खाया और वे अपने मालिक को प्रसन्न कर तथा उनका विश्वासपात्र बन एक दिन बादशाह बन गये। वे प्रारम्भ में गुलाम अवश्य थे, परन्तु बाद में वे अपनी दासता से मुक्तकर दिये गये और पुनः धीरे-धीरे उन्नति कर वे स्वतंत्र हुए तथा राज्य के कर्णधार बन गये। इसीलिए इस वंश को 'गुलाम वंश' कहने की परिपाटी चल पड़ी।

कुतुबुद्दीन—इस बात का संकेत किया जा चुका है कि मुहम्मद गोरी को कोई पुत्र नहीं था। उसकी मृत्यु के बाद उसका योग्यतम सेनापति कुतुबुद्दीन (जो कभी गुलाम था) भारतीय साम्राज्य का मालिक हुआ और उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनायी। मुहम्मद गोरी के समय में कुतुबुद्दीन ने अपने स्वामी की बड़ी सेवा की थी और उसके प्रतिनिधि की हैसियत से भारत के कतिपय राजाओं को परास्त कर उसने झाँसी, मेरठ, दिल्ली, रणथम्भौर आदि पर अधिकार किया। इसके बाद कालिञ्जर, महोबा, बिहार और बंगाल का उसका अधिकार हुआ। कुतुबुद्दीन एक योग्य और दूरदर्शी व्यक्ति था। उसने वैवाहिक सम्बन्धों से अपनी स्थिति दृढ़ की। मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार वह बहादुर, बुद्धिमान और धर्म का पक्का था। उसने दिल्ली और अजमेर में दो मसजिदें बनवायी। वह उदार प्रवृति का व्यक्ति था और इसीलिए लोगों ने उसे 'लाख बख्श' की उपाधि दी थी। दिल्ली सल्तनत का यह प्रथम सुलतान सन् १२१० ई० में घोड़े से गिर कर घायल हो गया और उसकी वह चोट घातक सिद्ध हुई।

वास्तव में कुतुबुद्दीन ऐबक भारत का प्रथम स्वतंत्र मुसलमान सुलतान कहा जा सकता है। मुहम्मद गोरी के बाद उसने भारत में दूर-दूर के प्रान्तों को जीत लिया, अपनी धाक जमायी और दिल्ली को राजधानी बनायी मुहम्मद गोरी की विजय के बाद भारतीय विजित प्रान्तों में संगठन और शान्ति स्थापित करने का भार इसी को उठाना पड़ा। भारतीय मुस्लिम साम्राज्य को गोर और गजनी से पृथक करने का काम इसी ने किया। उसकी मृत्यु के बाद लगभग एक वर्ष तक उसके बड़े लड़के आराम शाह ने राज्य किया पर वह अयोग्य था, दरबारी उसे नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने ऐबक के दामाद को बदायूँ से बुलवाया और उसे सन् १२११ ई० में सुलतान बनाथा।

अल्तमश (सन् १२११—१२६६ ई०)—दिल्ली दरबार के लोगों की इच्छानुसार अल्तमश अपनी सेना के साथ बदायूँ से दिल्ली की ओर चला। मार्ग में आरामशाह को परास्त किया और दिल्ली का सुलतान बन गया, दरबारियों ने उसका स्वागत किया। अल्तमश बचपन से ही योग्य, सुन्दर और

प्रतिभा-सम्पन्न था। बचपन में कुछ लोगों ने उसे बहकाकर घर से भगाया और सौदागरों के हाथ बेच दिया। अन्त में वह एक सौदागर द्वारा गजनी लाया गया। वहाँ से कुतुबुद्दीन उसे दिल्ली लाया। अल्तमश पर उसकी विशेष कृपा रहती थी। धीरे धीरे उसे अच्छे पदों पर नियुक्त किया गया और अन्त में वह बदायूँ का गवर्नर हुआ। कुतुबुद्दीन ने उसके साथ अपनी लड़की का विवाह भी कर दिया। कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद आरामशाह की अयोग्यता और अकर्मण्यता के कारण वह दिल्ली का बादशाह बन गया। इतने ही दिनों में उसने भाग्य की उलट-फेर का गोरखधन्धा देखा। एक सम्पन्न और ऐश्वर्ययुक्त कुटुम्ब में पैदा होकर भी उसे गुलाम बन कर दर-दर घूमना पड़ा। दिल्ली पहुँचने पर उसका भाग्य खुला और वह दिल्ली की सल्तनत का मालिक बन गया।

शमशुद्दीन अल्तमश की विजय—दिल्ली का सुलतान बनने के बाद अल्तमश ने सर्वप्रथम सैनिकों के विश्वास-पात्र बनने का प्रयास किया। उसकी युद्ध प्रियता और रणकौशल के कारण सैनिक उससे स्वतः प्रसन्न थे, अतः इस कार्य में उसे विशेष कठिनाई नहीं हुई। अल्तमश को एक बार गुलाम होने के कारण प्रारम्भ में कुछ पैदा हुई। कुछ अमीर एक गुलाम को राज-पद पर प्रतिष्ठिति देखना पसन्द नहीं करते थे, अतः उन्होंने विद्रोह किया। अल्तमश ने वीरता और धैर्य के साथ उनको दबाया। इस प्रकार तुर्की अमीरों को दबाने से उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया।

अल्तमश की वास्तविक कठिनाई विभिन्न प्रांतों के गवर्नरों के साथ उपस्थित हुई। एक गवर्नर को दिल्ली का मालिक बनते देख विभिन्न प्रान्तों में उन्होंने अपने को स्वतंत्र घोषित किया। खिलजी मलिक ने बिहार में, अली-मर्दा खाँ ने बंगाल में, कुबाचा ने मुल्तान और सिंध में अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। गजनी का शासक यल्दूज़ अभी तक दिल्ली सल्तनत को गजनी साम्राज्य का ही एक अंग मानता था और अल्तमश को केवल अपना प्रान्त-पति ही समझता था। इस कठिनाइयों के अतिरिक्त दो अन्य विशेष समस्याएँ बादशाह के समक्ष थीं। प्रथम समस्या हिन्दू राजाओं की थी जो विभिन्न स्थानों पर अपनी ताक में अवसर की प्रतीक्षा में बैठे थे। इसी समय एक दूसरी समस्या

पश्चिमोत्तर प्रान्त की ओर से मुगलों के भीषण आक्रमण के रूप में प्रबल हो रही थी। इस प्रकार अल्तमश दिल्ली का शासक हो कर भी चारों ओर से विकट समस्याओं से घिरा था। पर वह बहादुर और धीर था, अन्त में इन प्रतिकूल परिस्थितियों पर वह पूर्ण सफल हुआ।

अल्तमश को सर्वप्रथम गजनी के बादशाह यल्दूज से युद्ध करना पड़ा। यल्दूज ने पंजाब के गवर्नर कुबाचा को परास्त कर पंजाब में अपनी धाक जमाने की कोशिश की। यह बात अल्तमश को असह्य हुई, अतः उसने सन् १२१५ में यल्दूज पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर कैदी बनाया। इस प्रकार एक रोड़ा उसके मार्ग से हटा। इसके बाद कुबाचा की बारी आयी। सन् १२१७ ई० में अल्तमश ने उसे भी परास्त किया। बाद को कुबाचा नदी पार करते समय नदी में डूब कर मर गया। इस प्रकार अल्तमश के दूसरे दुश्मन का भी अंत हुआ।

सन् १२२१ ई० में अल्तमश को एक नयी विपत्ति का सामना करना पड़ा। चंगेज खाँ के नेतृत्व में मध्य एशिया के खूंखार मंगोल इसी समय भारत-सीमा पर चढ़ आये। इस बार मुगल ख्वारिज्म के शाह जलालुद्दीन का पीछा करते यहाँ तक आये थे। जलालुद्दीन उस समय दिल्ली में शरण लेना चाहता था, पर अल्तमश ने दूरदर्शिता से काम लिया और उसने उसे दिल्ली में रहने की सुविधा देने से इनकार कर दिया क्योंकि वह जानता था कि जलालुद्दीन के राजधानी में रहने से उसके लिये हर प्रकार का खतरा पैदा हो जायगा। जलालुद्दीन को परास्त कर मुगल इस बार वापस लौट गये। इस प्रकार भारत पर आयी एक भयानक आपत्ति से देश इस बार बच गया।

पश्चिमोत्तर प्रदेश से निश्चिन्त हो अल्तमश का ध्यान पूर्व की ओर गया। बंगाल के गवर्नर अलीमर्दा खाँ ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था और अपने नाम का सिक्का चलाया था। अलीमर्दा खां एक क्रूर व्यक्ति था, अतः उससे अप्रसन्न होकर उसके सरदारों ने उसकी हत्या कर दी। उसके बाद गयासुद्दीन खिलजी वहाँ का शासक बना। सन् १२२५ ई० में अल्तमश ने एक बड़ी सेना तैयार की और बंगाल पर आक्रमण कर उसे अपने आधीन कर लिया। पर बंगाल पर अन्तिम रूप से सन् १२३० में अधिकार हो सका।

बंगाल के बाद अल्तमश ने ग्वालियर के राजा मंगलदेव को पराजित किया। सन् १२३४ ई० में बादशाह ने उज्जैन पर आक्रमण किया। उसने नगर को खूब लूटा, मन्दिरों को तोड़ा और मालवा पर अधिकार किया।

सन् १२३६ ई० में वह बीमार हुआ। थोड़े ही दिन की बीमारी के बाद वह मर गया। मरते समय उसने अपने लड़कों को अयोग्य समझ अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

अल्तमश के कार्य और उसका चरित्र—अल्तमश एक सफल सैनिक और दूरदर्शी शासक था। उसके जीवन का अधिकांश समय युद्ध में ही बीता और उसे प्रशासन के रचनात्मक कार्य करने का बहुत कम समय मिला। फिर भी वह एक सफल संगठन-कर्ता सिद्ध हुआ। उसने गुलामों के एक विश्वास-पात्र दल को संगठित किया जो अपनी राजभक्ति के लिये प्रसिद्ध हुए। उस समय की अस्थिर राजनैतिक स्थिति में ऐसे विश्वास-पात्र लोगों की बहुत आवश्यकता थी। इस दल के लोगों ने अल्तमश को समय-समय पर बहुत मदद दी।

अल्तमश का दूसरा मुख्य काम सल्तनत के केन्द्रीय संगठन को दृढ़ बनाना था। उस युग में यह काम बहुत महत्वपूर्ण था। बादशाह ने इसीलिए अपने केन्द्रीय संगठन को अत्यन्त दृढ़ और प्रबल बनाया। शासन और सेना का पूरा आधिपत्य अल्तमश ने अपने हाथों में ले लिया था और उसकी देख-रेख भी वह स्वयं करता था। मुसलमान इतिहासकारों ने अल्तमश की वीरता और परिश्रम की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

अल्तमश सदा न्याय करने की कोशिश करता था। उसने महल के सामने दो घंटे लटकवा दिये थे जिसे न्याय चाहने वाला व्यक्ति किसी समय भी बजा सकता था। ऐसी फरियादी बातें बादशाह स्वयं सुनता था। अल्तमश ने अपने सिक्कों में भी सुधार किया। सिक्कों पर एक ओर एक साँड़ और दूसरी ओर एक घोड़े का चित्र अंकित कराया जाता था और सुलतान का नाम नागरी और अरबी दोनों लिपियों में लिखवा दिया था। अल्तमश ने युद्ध-मय जीवन में भी कुछ इमारतों के निर्माण कराने का समय निकाल लिया। कहा जाता

है कि दिल्ली की प्रसिद्ध कुतुबमीनार उसी ने बनवायी थी। कुछ सुन्दर मंदिरों के निर्माण कराने का श्रेय भी अल्तमश को दिया जाता है।

अल्तमश ही वास्तव में दास-वंश का प्रथम स्वतंत्र बादशाह था। ऐबक को गोर से सहायता मिला करती थी और उसने सुलतान की उपाधि गोरी के बादशाहों से ही प्राप्त की थी। पर अल्तमश का गोर और गजनी से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। वह वास्तव में स्वतंत्र था और खलीफा ने उसे सुलतान की उपाधि दी थी। अल्तमश ने भारत में तुर्की साम्राज्य स्थापित करने का सारा काम केवल अपने ही बूते पर किया। अल्तमश के समय में दिल्ली प्रथम बार इस्लामी जगत का एक प्रमुख केन्द्र बना। दूर-दूर से शरणार्थी यहाँ आये और आश्रय पाये। मध्य एशिया के बहुत से साहित्यकार, कवि और कलाकार यहाँ आये और अल्तमश ने सबका समुचित समादर किया। मुसलमान इतिहासकारों ने लिखा है कि इतना धर्म-परायण, दयालु तथा विद्वानों और साधु-सन्तों का आदर करने वाला कोई दूसरा शासक दिल्ली की गद्दी पर नहीं बैठा है। उन्होंने अल्तमश को "ईश्वर की भूमि का रक्षक" तथा 'ईश्वर के सेवकों का मददगार' की उपाधि दी। वास्तव में संगठन, रण-कौशल, न्यायप्रियता, कला-प्रेम और दूरदर्शिता की दृष्टि से दिल्ली के सुलतानों में अल्तमश का नाम आदर के साथ लिया जाता है।

सुलताना रजिया (सन् १२३६—४० ई०)—अल्तमश की मृत्यु के बाद उसकी इच्छा के विरुद्ध सरदारों ने अल्तमश के पुत्र रुक्नुद्दीन फीरोज को गद्दी पर बैठाया। पर वह अयोग्य और बुद्धिहीन सिद्ध हुआ और ६ महीने के भीतर ही दिल्ली की जनता ने उसकी हत्या कर रजिया को गद्दी पर बैठाया। ६ नवम्बर सन् १२३६ ई० को रजिया दिल्ली की गद्दी पर बैठी। अल्तमश ने अपने जीवन-काल में ही समझ लिया था कि उसके लड़के अयोग्य हैं और दिल्ली सलतनत को सम्भालने की शक्ति केवल रजिया ही में है। इसीलिए उसने अपने बाद रजिया के पक्ष में ही वसीयत की थी। उसकी मृत्यु के बाद यह आशा बिलकुल ठीक निकली।

रजिया का सुलताना बनना प्रारम्भ में तुर्की अमीरों को पसन्द नहीं आया। अतः पंजाब, मुलतान, बदायूँ तथा लाहौर के सरदार उसके विरुद्ध हो-

गये और दिल्ली की ओर चल पड़े ताकि वे मिलकर रजिया को गद्दी से पृथक कर दें। परन्तु रजिया ने इस विकट स्थिति का सामना बड़ी चतुराई से किया। उसने सरदारों में एक-दूसरे की नियत पर शङ्का पैदा करा दिया और इस प्रकार उन सरदारों में आपस में फूट हो गयी। वे आपस में ही लड़ बैठे और दिल्ली छोड़ भाग खड़े हुए। रजिया ने उनका पीछा किया। कुछ सरदार पकड़े गये और मार डाले गये। इस प्रकार रजिया एक भारी विपत्ति से बच गयी। उसने तुरन्त मुलतान, लाहौर, बदायूँ आदि स्थानों पर अपने विश्वास-पात्र गवर्नरों को नियुक्त किया। बंगाल के गवर्नर ने भी रजिया को दिल्ली का शासक स्वीकार कर लिया। इस प्रकार रजिया "लखनौती से देबल तक" के सभी प्रान्तों पर अधिकार स्थापित करने में सफल हुई। उसने सुलताना रजियातुद्दीन का नाम अपनाया और दिल्ली की एक शक्ति-सम्पन्न शासक बन गयी।

अपने शासन-काल में रजिया ने एक हब्शी सरदार याकूत पर विशेष अनुरक्ति दिखायी। इस सम्बन्ध से तुर्की सरदार अप्रसन्न हो गये। इस प्रकार एक साधारण हब्शी सरदार से प्रेम का दोष लगाकर तुर्की अमीरों ने विद्रोह का झगड़ा खड़ा दिया। रजिया की इस आसक्ति के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ इतिहासकार रजिया को निर्दोष मानते हैं और उनकी राय में रजिया का आचरण शुद्ध था और वह निष्कलंक थी। पर यह तो सच है कि रजिया ने एक साधारण हब्शी सरदार के प्रति आत्मीयता दिखलायी और वह अन्य तुर्की सरकारों के लिए असह्य हो उठा। इस कार्य में रजिया की अदूरदर्शिता अवश्य प्रकट होती है। अपनी स्थिति दृढ़ रखने के लिए रजिया को शंका और सन्देह-विहीन जीवन व्यतीत करना चाहिए था। उसके लिए अपने सरदारों को अप्रसन्न करने वाला कोई कार्य उचित नहीं कहा जा सकता है। राज्य की दृढ़ता और उसकी रक्षा का प्रबन्ध करना उसका प्रथम कर्तव्य था। उसके इस आचरण से उसके मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं।

रजिया के गलत व्यवहार से राज्य में जो विद्रोह शुरू हुआ वह अन्त में रजिया के पतन का कारण बन गया। याकूत और रजिया को विद्रोहियों ने पकड़ लिया। बाद को भटिण्डा के शासक ने रजिया से विवाह कर लिया। पर इसके बाद भी वह चैन से न रह सकी। अल्तमश के तीसरे लड़के बहराम

ने रजिया और उसके पति को परास्त किया और दोनों का वध कर दिया। इस प्रकार सन् १२४० ई० में रजिया के शासन का अन्त हुआ।

रजिया प्रथम महिला थी जिसे दिल्ली सलतनत के मलका होने का गौरव प्राप्त हुआ था। वास्तव में उस पद के अनुकूल गुण रजिया में थे। रजिया ने अपने शासन-काल के प्रारम्भ में उत्पन्न होने वाली सभी आपत्तियों का सामना सफलतापूर्वक किया। अपने पिता के साम्राज्य को सुसंगठित करने और उसे अक्षुराय बनाये रखने में भी रजिया अच्छी तरह सफल रही। स्त्री होते हुए भी वह एक योग्य सैनिक थी और समय पर सेना का संचालन स्वयं करती थी। साथ ही वह कूटनीतिज्ञ भी थी। प्रारम्भ में अपने विपक्षियों के संघ में अपनी बुद्धि से ही फूट पैदा करने में सफल हुई थी। उसने पर्दा करना छोड़ दिया था। वह स्वयं दरबार में बैठती थी, और अपने सैनिक कैम्प का निरीक्षण किया करती थी।

सब कुछ होते हुए भी रजिया को जीवन में सफलता नहीं मिली। क्यों? इसका एक मात्र कारण यही था कि उस युग में स्त्रियों का इस पद पर बैठना, राजकाज सम्भालना और दरबार करना लोगों को पसन्द नहीं था। युग की प्रथा और कट्टरता के समक्ष स्त्री रजिया को मात खानी पड़ी। समय अभी इस बात को स्वीकार नहीं कर सका कि एक स्त्री गद्दी पर बैठकर शासन का काम पुरुषों की भाँति चलावे। रजिया की असफलता का मुख्य कारण उसकी अपनी दुर्बलता नहीं, बल्कि मुसलमानों की कट्टरपंथी और असहिष्णुता को ही मानना चाहिए। उसमें शासक के सभी गुण थे, पर वह युग सर्वगुण-सम्पन्न किसी भी स्त्री को राज्य-संचालक के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इसीलिए दयालु, विद्वानों का आदर करने वाली, वीरांगना, न्यायी तथा प्रजा-शुभचिन्तक होते हुए भी उसे राज्य-सिंहासन से च्युत होना पड़ा और अन्त में तलवार के घाट उतरना पड़ा।

बहराम शाह—(१२४०-४२ ई०) बहराम शाह भी विद्रोह की आग को बुझा नहीं सका। कारण यह था कि दासवंशीय अमीर बहुत प्रबल थे और वे सुलतान का अधिकार मानने को तैयार नहीं थे। बहराम के गद्दी पर बैठते ही दिल्ली में पुनः विद्रोह शुरु हो गया। उसी समय मुगलों ने लाहौरपर

आक्रमण कर उसे बर्बाद कर दिया। गुलाम अमीरों ने लाहौर जाकर मुगलों को दबाने की आज्ञा भी नहीं मानी। इसी विद्रोह में बहराम मारा गया।

इसके बाद दिल्ली की हालत कुछ दिनों तक डाँवडोल रही। रजिया के बाद उसका एक भतीजा और दो भाई थोड़े ही दिनों में गद्दी से उतार दिये गये। अन्त में १२४६ ई० में अल्तमश का लड़का नासिरुद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

नासिरुद्दीन महमूद (सन् १२४६-६६ ई०)—रजिया की मृत्यु के ६ वर्ष बाद दिल्ली में कुछ शान्ति स्थापित हो सकी जब सन् १२४६ में अल्तमश का पुत्र नासिरुद्दीन गद्दी पर आसीन हुआ। वह पहले बहराइच का गवर्नर रह चुका था। दिल्ली अशान्ति को सुन कर उसने वहाँ से राजधानी में चुपके प्रवेश किया और अमीरों ने उसे तुरन्त सुलतान घोषित कर दिया।

नासिरुद्दीन ने बीस वर्ष तक शासन किया। जिस समय नासिरुद्दीन गद्दी पर बैठा उस समय देश की राजनैतिक परिस्थिति बहुत डँवाडोल थी। नासिरुद्दीन ने उस स्थिति का सामना कड़ाई से नहीं किया। उसकी नीति शान्ति और उदार थी। सम्भवतः वह अपनी इस नीति से अमीरों में राजभक्ति की भावना पैदा कर सका। इसके शासन काल की एक प्रमुख घटना पंजाब और सिन्ध पर पुनः अधिकार करना है। उसने स्वयं एक सेना लेकर रावी नदी पार किया। उसके साथ बलबन नामक एक तुर्की सरदार भी था जिसने इस कार्य में उसकी बहुत मदद की। वह प्रारम्भ में अल्तमश का गुलाम था। उसी ने बादशाह के लिए पंजाब में नमक की पहाड़ियों को जीता था। उसी समय सीमा पर मुगल भी आ गये, पर वे बादशाह की सुसज्जित सेना देख लौट गये।

उसी समय कन्नौज के आस-पास के हिन्दुओं ने (द्वाबा के हिन्दू-राजाओं) विद्रोह किया। बलबन ने उस विद्रोह को दबाया और हिन्दू राजाओं के साथ बहुत कड़ाई का बर्ताव किया। शाही सेना ने गङ्गा-यमुना के बीच की पूरी जमीन पर अधिकार कर लिया। बलबन ने रणथम्भौर चन्देरी आदि स्थानों को भी जीता।

इस युद्ध के लिए जब बलवन दिल्ली से दूर गया तो उसके विरोधियों ने सुलतान के कान भर दिये। कुछ दिनों के लिए नासिरुद्दीन ने बलवन को राजधानी से दूर के स्थानों में नियुक्त कर दिया। इससे दिल्ली में असन्तोष बढ़ने लगा। अतः सुलतान ने बलवन को पुनः राजधानी में बुला लिया।

सन् १२५७ ई० में मुगलों ने पुनः पंजाब पर आक्रमण किया। बलवन को उनका सामना करने के लिए नियुक्त किया गया। उसने एक विशाल सेना का संगठन किया। मुगल भयभीत होकर खुरासान लौट गये।

सन् १२६६ ई० में नासिरुद्दीन एक लम्बी बीमारी के बाद परलोक सिधारा। चूँकि बादशाह को कोई पुरुष उत्तराधिकारी नहीं था, अतः बलवन दिल्ली का सुलतान हो गया।

नासिरुद्दीन सरल, शान्त और धार्मिक प्रकृति का मनुष्य था। मिनहाजुद्दीन सिराज ने 'तबकाते नासिरी' में लिखा है कि बादशाह कुरान की आयतों को लिखकर अपनी जीविका चलाता था और राजकोष का एक पैसा भी अपने काम में खर्च नहीं करता था। यह बात सच है कि नासिरुद्दीन का जीवन अत्यन्त सरल था। वह अन्य मुसलमान बादशाहों की तरह रक्त-पिपासु नहीं था। उसने अपने सरदारों और अमीरों के प्रति भी उदारता की नीति अपनायी। कुछ इतिहासकारों ने सुलतान की इस उदार नीति की कटु आलोचना की है। पर यह सच है कि नासिरुद्दीन को इस नीति को अपनाने के बाद भी बीस वर्ष तक राज्य करने में सफलता प्राप्त हुई। कुछ लोगों का कहना है कि सुलतान बलवन के हाथ की कठपुतली था। पर घटनाएँ बतलाती हैं कि आवश्यकता पड़ने पर सुलतान ने बलवन के साथ भी कड़ा बर्ताव किया। शायद बलवन भी बादशाह की उदार नीति का समर्थक था और बादशाह को बलवन की योग्यता पर पूरा विश्वास था। इसीलिए दोनों में अन्त तक निभ सकी। यह सच है कि नासिरुद्दीन की तुलना अल्तमश और बलवन से नहीं की जा सकती पर वह रजिया, बहरामशाह तथा अन्य सुलतानों की अपेक्षा अधिक योग्य और सफल था।

बलबन (सन् १२६६–८६ ई०) का प्रारम्भिक जीवन—ऊपर बताया जा चुका है कि नासिरुद्दीन के बाद दिल्ली की गद्दी पर उस समय

का योग्यतम सरदार बलबन बैठा। वह एक प्रतिष्ठित तुर्क परिवार में पैदा हुआ था। किशोरावस्था में मुगलों ने बलबन को पकड़ लिया और उसे बगदाद ले गये। वहाँ से वह बिक कर बसरा पहुँचा और बाद में दिल्ली आया। दिल्ली में अल्तमश ने उसे खरीद लिया। सुलतान ने उसे "चालीस गुलामों" के दल का सदस्य बना दिया। दिन-दिन वह उन्नति करता गया और अपनी प्रतिभा से सबको प्रभावित करता रहा। जब सन् १२४५ ई० में मुगलों ने भारत पर आक्रमण किया, तो बलबन ने एक शक्तिशाली सेना का संगठन कर उन्हें भगाया। नासिरुद्दीन ने उसकी कन्या से विवाह भी किया और उसे उलुग खाँ की उपाधि दी। इस प्रकार बलबन सुलतान की शक्ति का आधार और स्तम्भ बन गया। बलबन ने प्रारम्भ में एक भिश्ती का काम किया, पुन: अपनी योग्यता और प्रतिभा के कारण आगे बढ़ता गया और नासिरुद्दीन के शासन काल में वह प्रधान मंत्री (नायबे-ममलिकात) बन गया।

प्रधान मन्त्रित्व काल—नासिरुद्दीन के समय में बलबन का कार्य बहुत महत्वपूर्ण था। नायबे ममलिकाम हो जाने पर उसकी प्रतिष्ठा और प्रभाव और अधिक हो गया। इस समय उसने अपने कुछ सम्बन्धियों को बहुत ऊँचे पदों पर रखना शुरू किया। इससे अन्य अमीर बहुत नाराज हुए। रेहान नामक एक अमीर ने बलबन के विरुद्ध सुलतान के कान भरने प्रारम्भ किये। कुछ दिनों तक नासिरुद्दीन ने रेहान के प्रभाव में आकर बलबन को पदच्युत कर दिया। तुर्की अमीर इस बात से बहुत नाराज हुए क्योंकि रेहान हिन्दू से मुसलमान हुआ था और तुर्की अमीरों के विद्रोह के भय से बलबन पुनः प्रधान मंत्री के पद पर प्रतिष्ठत किया गया। इससे उसकी शक्ति और सम्मान और अधिक बढ़ गया।

विद्रोहों का दमन—नासिरुद्दीन के शासन काल में शासन संचालन का भार बलबन के कंधों पर था। अल्तमश के बाद शासन-सूत्र ढीला पड़ गया। अतः नासिरुद्दीन को अनेक स्थानों पर विद्रोहों का सामना करना पड़ा। पंजाब में गक्खर, राजस्थान में मेवातियों और द्वाबा में हिन्दुओं ने विद्रोह किया। इन सबको बलबन में बड़ी दृढ़ता के साथ दबाया। मेवाती लोग सुलतान को बहुत तंग किया करते थे। बलबन ने उन्हें एक बड़ी सेना संगठित कर घेर लिया और

उनमें से हाजरों को कत्ल किया। अन्त में १२००० मेवाती स्त्री, पुरुष, बच्चों को पकड़ कर दिल्ली लाया और उन्हें तलवार के घाट उतारा। इस प्रकार बलबन ने नासिरुद्दीन को बचाया और दिल्ली सल्तनत का प्रभाव बढ़ाया। अधिक सम्भव है कि बलबन जैसा व्यक्ति न होने से नासिरुद्दीन की सल्तनत का पतन हो जाता और तुर्की सुलतानों की सत्ता मिट जाती।

बलबन सुलतान के पद पर—नासिरुद्दीन के बाद दिल्ली सल्तनत का भार बलबन के कंधों पर पड़ा। उस समय बलबन के समक्ष सुलतान के पद के गौरव को पुनः बढ़ाने की एक भारी समस्या थी। दूसरी समस्या अति शक्तिशाली अमीरों की शक्ति और प्रभाव को रोकने की थी। बलबन के समक्ष तीसरी समस्या शासन-सुधार और उसके संगठन की थी। इसके लिए उसे विश्वास-पात्र गवर्नरों को नियुक्त करना और विद्रोहियों का दमन करना आवश्यक था। बलबन के सामने अन्तिम पर सबसे जटिल समस्या सीमान्त की रक्षा करना और मुगलों को रोकना था।

सुलतान के पद के गौरव की पुनः स्थापना और राजत्व का सिद्धान्त—बलबन ने अपनी पैनी राजनीतिक दृष्टि से यह समझ लिया था कि दिल्ली के सुलतान के पद की प्रतिष्ठा और शक्ति के मार्ग में तुर्की सरदार सबसे अधिक रोड़े हैं। वे अपने स्वार्थ साधन के लिए सुलतान को गद्दी पर बैठाते और उतारते हैं। उसके विरुद्ध विद्रोह करते हैं। नासिरुद्दीन के समय में उन अमीरों की शक्ति अधिक बढ़ गयी थी। उनसे बलबन को बहुत खतरा था। लोगों के दिलों में सुलतान की अपेक्षा उन्हीं अमीरों का भय अधिक था। इस खतरे से बचने के लिए बलबन ने सुलतान के पद की मर्यादा को बढ़ाने का उपक्रम किया और राजत्व का एक नया स्वरूप खड़ा किया। उसका उद्देश्य था कि राजा के व्यक्तित्व से प्रजा में आतंक और भय पैदा होना चाहिए। इसके लिए बलबन ने 'दैवी सिद्धान्त' को अपनाया और उसे प्रचारित किया। उसने अपने पुत्र से कहा था कि "राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। उसे सदा अपने पद के गौरव और मर्यादा को बनाये रखने और बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिए।" उसकी राय में राजा अन्य लोगों से अधिक विशिष्ट व्यक्ति होता है और उसे साधारण कोटि में नहीं

रखना चाहिए। उसकी समानता अन्य व्यक्ति नहीं कर सकते। बलवन का यह भी कहना था कि राजा का कर्तव्य केवल राजा ही जानता है। उसे प्रजा को आज्ञाकारी बनाने का पूरा अधिकार है और इसके लिए राजा का स्वेच्छाचारी और निरंकुश होने का अधिकार है। ऐसा ही राजा प्रजा से राजाज्ञा मनवा सकता है और राज्य में शान्ति स्थापित कर सकता है।

राजशक्ति के इस नये स्वरूप को संगठित करने के लिए बलवन ने अनेक कार्य किये। अपने व्यक्तिगत सम्मान को बढ़ाने के लिए बलवन ने उच्चतम तुर्कों के के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया। उसने साधारण लोगों से मिलना-जुलना छोड़ दिया। वह बहुत गम्भीर रहने लगा और एकान्त जीवन व्यतीत करना शुरु किया। लोगों के साथ शराब पीना और आमोद-प्रमोद करना बिलकुल बन्द कर दिया। उसने अपने दरबार को खूब अच्छी तरह सजाया और दरबार के लिए विशेष नियम लागू किये। उसके दरबार में साधारण व्यक्ति का प्रवेश पाना असम्भव-सा था। वहाँ सुलतान की सलामी सिजदा देकर और पैर चूम कर दी जाती थी। उसके अङ्ग रक्षक हृष्ट-पुष्ट और रोब वाले होते थे जिनको देखकर भय उत्पन्न होता था। दरबार में शराब पी कर आने की मनाही कर दी गयी और सबको एक विशेष प्रकार की दरबारी पोशाक पहननी पड़ती थी। दरबार में बादशाह के सामने किसी को हँसने की आज्ञा नहीं थी। बलबन अपने दरबार के इन नियमों का पूरा पालन कराता था और नियम भङ्ग करने वालों को कड़ा दण्ड देता था। इन बातों से उसने सुलतान के व्यक्तिगत गौरव और मर्यादा को बहुत ऊँचा उठा दिया और उसने अपने व्यक्तित्व का पूरा आतंक जमा लिया।

शम्सी अमीरों का दमन—बलबन जानता था कि सुलतान के पद की गरिमा को बढ़ाने के लिए अमीरों की शक्ति का नाश करना जरूरी है। गुलाम-वंश के शासन-काल में तुर्की अमीरों का एक ऐसा दल संगठित हो गया था जो तुर्की शासन की बागडोर अपने हाथ में रखने लगा था और जिसे यह महसूस होने लगा था कि उन्हीं के बदौलत सुलतान की शक्ति बनी हुई है। इन अमीरों के दल का संगठन अल्तमश ने किया था और उनका आदर्श उस समय तुर्क-साम्राज्य की सेवा करना था। पर बाद को वे स्वार्थ-साधन करने

लगे और सुलतान को अपने हाथ की कठपुतली समझने लगे। इस स्थिति में सुलतान की मर्यादा को बहुत धक्का पहुँचने लगा। बलबन ने इस विषय परिस्थिति को बहुत अच्छी तरह समझ लिया और अमीरों की शक्ति को समाप्त करने का पक्का इरादा कर लिया। वह अपने निरंकुश शासन के मार्ग से इन काँटों को निकाल फेंकना चाहता था। अतः उसने छोटे छोटे ! की सरदारों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करना प्रारम्भ किया। उसने व्यवहार में इन छोटे और उन बड़े अमीरों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया। इसके बाद किसी प्रकार की छोटी गलती पर शम्सी अमीरों को कड़ा-से-कड़ा दण्ड दिया जाने लगा। बदायूँ और अवध के गवर्नर को उनके अपराध के लिए सार्वजनिक स्थान पर कोड़े लगवाये गये। कुछ ऐसे अमीरों को फाँसी दी गयी। इस प्रकार अपनी कड़ी नीति के आधार पर उसने चालीस अमीरों के दल को इतना दबा दिया कि वे पुनः विद्रोह करने और राजकाज में हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सके। उसकी इस नीति से उन अमीरों का महत्व नष्ट हो गया और लोगों की दृष्टि में उनका कोई मूल्य नहीं रह गया। बलबन अपनी इस नीति में भी पूर्ण सफल हुआ।

गुप्तचर विभाग का संगठन—अपने निरंकुश शासन के लिए बलबन ने अपनी सल्तनत के हर भाग में विश्वासपात्र गुप्तचरों का जाल बिछा दिया जो उसे हर समय राज्य की खबर दिया करते थे। उन गुप्तचरों का सीधा सम्बन्ध सुलतान से था और उन्हें अच्छा वेतन दिया जाता था। जो गुप्तचर अपने काम में सुस्ती करता था उसे कठोरतम दण्ड मिलता था।

सेना-विभाग—अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए बलबन ने सेना का भी नये ढङ्ग से संगठन किया। उसने एक अनुभवी योग्य और विश्वासपात्र व्यक्ति को सेनापति बनाया और सैनिकों को उचित वेतन देनेका नियम लागू किया। सैनिकों के आराम और सन्तोष के लिए विशेष प्रबन्ध कराया और सैनिक अनुशासन पर अधिक जोर दिया। पुराने सैनिकों के स्थान पर नये सैनिकों की भर्ती हुई और सेना को अधिक संगठित और शक्तिशाली बनाने का पूरा प्रयास किया गया।

विद्रोहियों का दमन—गुलाम वंश के सुलतानों ने कई बार बंगाल को जीता, पर वह दूरस्थित प्रान्त अवसर पाकर स्वतंत्र हो जाता था। बङ्गाल की राजधानी लखनौती उस समय बगलाकपुर (विद्रोहियों के नगर) के नाम से विख्यात थी। बलबन के वृद्धावस्था में बंगाल के सूबेदार तुगरिल खाँ ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। बंगाल को जीतने के कई प्रयत्न हुए और अन्त में बलबन अपने पुत्र बुगराखाँ के साथ स्वयं बंगाल की ओर चल पड़ा। बंगाल का सूबेदार तुगरिल खाँ पकड़ा गया और मारा गया। सुलतान ने उसके सम्बन्धियों को बहुत कड़ा दण्ड दिया और अनगिनत आदमियों को लखनौती में फाँसी दी गयी। बुगरा खाँ को बंगाल का सूबेदार बनाया गया। दूसरा विद्रोह कुछ हिन्दू राजाओं की ओर से किया गया। बदायूँ, अमरोहा, आदि स्थान विद्रोहियों के केन्द्र थे। वे शाही सैनिकों को लूटते थे, कर नहीं देते थे। विद्रोही हिन्दू लूटपाट कर जङ्गलों में जा छिपते थे। बलबन ने जंगलों को कटवाया, दिल्ली के चारों ओर किले बनवाये और उन्हें दबाने के लिए कठोरतम उपायों का अवलम्बन किया गया। सुलतान स्वयं विद्रोहियों के केन्द्र-स्थानों में गया और वहाँ के लोगों को कत्ल करवाकर लाशों की ढेर लगवा दी। इससे आतंक छा गया और श्मशान जैसी शान्ति स्थापित हो गयी।

मंगोल आक्रमण से रक्षा—अल्तमश के समय से ही मङ्गोल भारत की सीमा में प्रवेश करना चाहते थे। उन्होंने समय-समय पर अनेक प्रयास किये। बलबन इस आपत्ति की भयंकरता अनुभव करता था और इसी लिए उन्हें रोकने के लिए सदा सतर्क रहा। नासिरुद्दीन के समय में भी मुगलों को रोकने का काम उसी के कन्धे पर दिया गया था। बलबन के समय में यह खतरा और अधिक बढ़ गया। इसीलिए सुलतान स्वयं १२७१ ई० में लाहौर गया और उसने पुराने किलों की मरम्मत करायी। उन किलों में शक्तिशाली सेना रखने का प्रबन्ध किया गया और योग्य, कुशल तथा विश्वास-पात्र सेना-पति वहाँ रक्खे गये। प्रारम्भ में वहाँ शेर खाँ नियुक्त था जो अपनी बहादुरी के लिए मङ्गोलों में भय का कारण था। बाद को सुलतान ने वहाँ अपने पुत्रों को नियुक्त किया और मङ्गोलों को रोकने के कार्य में उसका एक पुत्र मारा

गया। सन् १२७६ में मुगलों ने पुनः आक्रमण किया और इस बार वे सतलज नदी को पार करने में सफल हो गये। इस बार भी मुगल खदेड़ दिये गये। पर उनके हमले होते रहे और उन्हीं का सामना करते समय शाहजादा मुहम्मद को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। अपने इस योग्य पुत्र को खोकर बलवन बहुत दुखी हुआ था। उसी पुत्र शोक के आघात से बलवन एक वर्ष के बाद ही परलोकगामी हो गया। अन्त तक बलवन लाहौर तक का प्रान्त मुगलों से बचाये रक्खा पर रावी के पश्चिमी भाग पर मङ्गोलों का आतंक बना रहा। मुगलों को भारतीय सीमा से बाहर निकाल सदा के लिए उन्हें नसीहत देने के काम में बलवन पूरा सफल न हो सका। भारत में पश्चिमोत्तर प्रान्त से आने वाली इस प्रबल आँधी का कोई स्थायी प्रतिकार बलवन जैसे कठोर और अनुभवी शासक के समय में भी नहीं हो सका। भारत को आक्रांत करने वाले इस प्रबल झंझावात के झोंके आते ही रहे और भविष्य के लिए यह आँधी एक असाधारण समस्या बनी रही।

बलवन का चरित्र—गुलाम वंश के राजाओं में बलवन का स्थान सबसे ऊँचा है। यह सच है कि उसने नये प्रदेश नहीं जीते, पर उस समय उससे अधिक महत्व का काम पूर्व विजित प्रदेशों का संगठन करना और सुलतान-पद की प्रतिष्ठा को बढ़ाना था। इस काम में बलवन को पूरी सफलता मिली। उसने राजसत्ता को एक निश्चित और सामयिक स्वरूप प्रदान किया। बलवन ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों को क्रियात्मक रूप दिया और राजसत्ता की मर्यादा स्थापित करने के काम में उसने धार्मिक पक्षपात या भेद-भाव नहीं आने दिया। उसके मार्ग में आने वाले मुसलमान और हिंदू दोनों ही को एक ही तलवार के घाट उतरना पड़ा।

अल्तमश ने साम्राज्य-विस्तार का काम पूरा किया उसके संगठन का काम बलवन ने पूरा किया। यदि बलवन जैसा कठोर नीति का व्यक्ति उस समय दिल्ली सल्तनत को सम्भालने वाला न होता तो अल्तमश का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता। इसके लिए विद्रोहियों और सूबेदारों के प्रति कड़ी नीति आवश्यक थी और बलवन ने इस को शत-प्रति-शत दृढ़ता के साथ पूरा किया। मेवातियों को क्रूरता के साथ दमन करना, तुगरिल खाँ को परास्त कर

आतंक पैदा करना और दोआब के सरदारों के उपद्रव को नष्ट करना उसके ऐसे कार्य हैं जिनसे दिल्ली के सुलतान का प्रभाव दृढ़ हुआ और उसका गौरव ऊँचा हुआ।

बलबन के चरित्र की तीसरी विशेषता शासन में नवीनता लानी थी। उस नवीनता में उसकी व्यवहारिक कुशलता का भी पुट था। अमीरों का दमन, विदेशियों के साथ सम्पर्क और राज दरबार के लिए नये नियमों को लागू करना और राज दरबार की सजावट आदि ऐसे काम हैं जो बलबन के इस गुण के द्योतक हैं। अपनी सूझ-बूझ के कारण बलबन ने राजत्व-पद को गौरवान्वित किया, उसे प्रभावशाली और आदरणीय बनाया।

बलबन पक्का सुन्नी मुसलमान था। वह धार्मिक मामलों में उल्माओं के सत्संग का शौकीन था। वह विद्या प्रेमी और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में शेख बदरुद्दीन बजारिया, शेख मसऊद, बदरुद्दीन गजनवी, काती और सिद्दी आदि विद्वान रहते थे। उसने मध्य एशिया के विद्वानों को भी आश्रय दिया।

यह बात सच है कि बलबन में मानवोचित सहानुभूति और करुणा का अभाव था। वह किसी को कठोरतम दण्ड देने में तनिक हिचकता नहीं था। इस काम में उसे यमराज का दण्डपाल कहा जा सकता है क्योंकि वह दण्ड देते समय दयाहीन, क्रूर और जल्लाद बन जाता था। वह समझता था कि तुर्क सल्तनत इन्हीं उपायों से स्थायी, दृढ़ और निरापद बनाया जा सकता था। वह तुर्कों को ही बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त करता था और भारतीय मुसलमानों को फूटी आँख देखना पसन्द नहीं करता था। बलबन के जीवन का यह पक्ष सुसंस्कृत नहीं कहा जा सकता। सच है कि इस कठोर नीति से कुछ दिनों के लिए शान्ति स्थापित हो गयी, पर इस प्रकार की शान्ति और व्यवस्था कभी स्थायी नहीं होती। बलबन का बल आतंक और तलवार पर आश्रित था, उसने जनता के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करने का कोई प्रबन्ध नहीं किया। बलबन अपने युग का प्रतीक था, पर मानवीय गुणों का पोषक नहीं था।

जहाँ अल्तमश ने चालीस आमीरों का एक दल संगठित किया और राजभक्त लोगों के इस दल से अपनी शक्ति बढ़ायी, वहाँ बलबन ने उनका

नाश कर अपनी स्थिति दृढ़ करने की कोशिश की। बलवन के समय में मङ्गोलों का दबाव बहुत बढ़ गया था; इस विपत्ति को रोकने के लिए उसने कुछ ठोस और दूरदर्शिता के काम अवश्य किये। इसके लिए उसने अपने योग्यतम व्यक्तियों को सीमान्त में नियुक्त किया और किले बनवाये।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बलवन अपनी दृष्टि से एक सफल शासक था। उसने खलीफा से सुल्तान-ए-हिन्द की उपाधि प्राप्त की, अपना ठाट-बाट और प्रदर्शन बढ़ाया, राजत्व को एक नया स्वरूप प्रदान किया और आतंक तथा भय से शांति स्थापित की।

गुलाम वंश का अन्त—बलवन की मृत्यु के बाद इस वंश का कोई प्रभावशाली और चतुर सुलतान नहीं हुआ। बलवन के उत्तराधिकारी विलासी और निकम्मे निकले। सन् १२८७ ई० में उसका पुत्र कैकुबाद दिल्ली की गद्दी का मालिक हुआ, पर वह अय्याश था और उसने राज्य के प्रबन्ध की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। इस स्थिति में उसके दरबार में दो दल प्रबल हो गये। एक खिलजी और दूसरा तुर्क दल था। खिलजी दल का नेता जलालुद्दीन फिरोज खिलजी था। वह फौज का एक बड़ा अफसर था, उसने दूसरे दल को दबा दिया। इसी समय एक मनुष्य ने, जिसके पिता को कैकुबाद ने मरवा डाला था, बादशाह की हत्या कर दी। सन् १२९० में जलालुद्दीन निर्विरोध दिल्ली की गद्दी का मालिक हो गया। आतंकवादी, दैवी सिद्धान्त के पोषक और क्रूर दण्ड में विश्वास करने वाले बलवन के वंश का इस प्रकार कुछ ही दिनों में अप्रत्याशित ढंग से अन्त हो गया।

बाइसवाँ परिच्छेद

दिल्ली सल्तनत

२. खिलजी-वंश

(सन् १२६०—१३२० ई०)

जलालुद्दीन फीरोज खिलजी—(सन् १२६०—६६ ई०)—खिलजी वंश का संस्थापक जलालुद्दीन ७० वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। वह जिस खिलजी वंश का था, उस वंश के लोग भी तुर्क ही थे। वे बहुत दिनों से अफगानिस्तान में बस गये थे, अतः अफगान समझे जाते थे। इसीलिए तुर्की अमीर जलालुद्दीन का तिरस्कार करते थे। उन तुर्की अमीरों को दबाकर वह राजा बना था, अतः वे और भी जले हुए थे। जलालुद्दीन ने अमीरों को और भी दबाया और राज्य के बड़े-बड़े पद और पदवी अपने सम्बन्धियों को दिये। जलाल के वृद्धावस्था के कारण नये अमीर भी सबल हो गये और उनको सभालना उसके लिए कठिन हो गया। वृद्ध सुलतान ने अपने अमीरों को रुपया और जागीर देकर उन्हें सन्तुष्ट करने की प्रथा चलायी। कड़ा का सूबेदार मलिक छज्जू ने विद्रोह किया। सुलतान ने उसे पराजित किया, पर उसकी पूर्व सेवाओं का स्मरण कर उसे क्षमा किया गया। इस प्रकार की उदारता से अन्य खिजली अमीर अप्रसन्न हुए, पर सुलतान ने अपने व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया।

मुगल आक्रमण—सन् १२६२ ई० हलाकू के पोते अलुग खाँ की अध्यक्षता में एक लाख मुगल सैनिक भारत में घुस आये। सुलतान की सेना ने मुगल सरदार को परास्त किया। मुगल सेना का अधिक भाग तो वापस लौट गया, पर उलुग खाँ और उसके अन्य साथी सरदार भारत में ही बस गये। उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार किया और दिल्ली के पास ही अपनी नयी बस्ती बसायी। जलालुद्दीन ने अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर

दिया। इनकी बस्ती का नाम 'मुगलपुरा' पड़ा। ये मुगल इस्लाम धर्म की दीक्षा लेकर 'नव मुस्लिम' के नाम से प्रसिद्ध हुए। भारत में मुगलों की यह प्रथम बस्ती थी।

अलाउद्दीन—जलालुद्दीन का एक योग्य भतीजा और दामाद अलाउद्दीन था। वह कड़ा का सूबेदार था। वह साहसी और वीर व्यक्ति था और उसकी इच्छा थी दक्षिण के प्रसिद्ध नगर देवगिरि (यादव राजाओं की राजधानी) को विजय करना और वहाँ से अतुल सम्पत्ति लाना। सन् १२९४ ई० में उसने अपने चाचा की आज्ञा लेकर देवगिरि पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा रामचन्द्र को परास्त किया। इसके बाद बहुत सम्पत्ति अलाउद्दीन के हाथ लगी। एलिचपुर का इलाका भी उसे मिला। जब इस शानदार विजय के बाद कड़ा लौटकर गया तो उसका चाचा जलालुद्दीन उससे मिलने आये। वहीं अलाउद्दीन ने उसकी हत्या करा दी। सुलतान का सिर भाले में लटका कर सारी सेना में घुमाया गया। इस प्रकार अपने चाचा और ससुर की हत्या करा कर सन् १२९६ ई० में अलाउद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठा। दिल्ली की ओर बढ़ते समय उसे कुछ विरोध का सामना करना पड़ा, पर अलाउद्दीन ने उस विरोध को आसानी से दबा दिया।

अलाउद्दीन खिलजी

(सन् १२९६—१३१६ ई०)

मुगल आक्रमण—अलाउद्दीन दिल्ली का बादशाह हो गया, पर अभी उसकी स्थिति ठीक नहीं थी। गद्दी पर बैठते ही उसे मुगलों का सामना करना पड़ा। कहा जाता है कि उस समय उनके पास एक लाख सुसज्जित सेना थी। इस बड़ी मुगल-सेना का सामना करने के लिये अलाउद्दीन ने उलुग खाँ को भेजा। दोनों दलों में भीषण युद्ध हुआ। लगभग १२००० मुगल सैनिक मारे गये और इतने ही घायल हुये। मुगल सेनापति अमीर दाऊद हताश होकर लौटने के लिये विवश हुआ। बाहर से आने वाली इस प्रथम विपत्ति का सामना सुलतान के सैनिकों और सेनापतियों ने सफलतापूर्वक किया।

पुनः दूसरे वर्ष सन् १२९७ ई० में एक दूसरे मुगल सरदार सल्दी खाँ ने भारत पर आक्रमण किया। उसने सुलतान तक धावा किया और उस पर

अपना अधिकार कर लिया। इस बार अलाउद्दीन ने अपने योग्य सेनापति जफर खाँ को एक सुसज्जित सेना के साथ मुगलों को रोकने के लिये भेजा। जफर खाँ ने बड़ी वीरता से युद्ध किया और सल्दी खाँ को उसके दो हजार सैनिकों के साथ कैद कर दिल्ली लाया। पर अगले ही वर्ष सन् १२९८ ई० में अमीर दाऊद के पुत्र ने अपने पिता की पराजय का बदला लेने के लिये पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण किया। उसने इस बार कत्ल और लूट के कार्य में अति कर दी और उसके सैनिक दिल्ली के पास पहुँच गये। जनता भयभीत हो गयी और अपार जन-समुदाय दिल्ली की ओर भाग खड़ा हुआ। सड़कें, मसजिदें, सराय आदि शरणार्थियों से भर गये। सर्वत्र मुसीबत छा गयी। इस बार भी अलाउद्दीन ने बड़ी वीरता और साहस से काम लिया। भीषण युद्ध हुआ और इसी युद्ध में सुलतान का एक वीर तथा योग्य सेनापति जफर खाँ मारा गया। मुगल हार गये और भाग कर अपने देश को लौट गये। उन्होंने अगले छः वर्ष तक पुनः भारत पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। पर सन् १३०३ ई० से मुगलों से पुनः भारत पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये। चार साल के अंदर उन्होंने तीन बार आक्रमण किया। वे इन आक्रमणों में दिल्ली तक घुस आये और लूट-पाट की। पर अंत में सुलतान ने उन्हें परास्त किया। हजारों मुगल तलवार की घाट उतार दिये गये। उन्हें जीवित पकड़ कर हाथियों द्वारा कुचल दिया गया। इसके बाद वे इतने भयभीत हुये कि उन्होंने कुछ दिनों के लिए भारत पर आक्रमण करना बन्द कर दिया।

अलाउद्दीन ने इस आपत्ति को सदा के लिए रोकने का प्रयत्न किया। उसने सीमान्त नीति में बलबन का अनुसरण किया। पंजाब और सीमान्त के पुराने किलों की मरम्मत करायी गयी। वहाँ योग्य और अनुभवी सैनिक और सेनापति नियुक्त किये गये। अनेक स्थानों पर नये किले बनवाये गये। सभी प्रवेश-द्वार के पास इस प्रकार के नये दुर्ग बनाये गये। वहाँ सेना में भी वृद्धि की गयी और युद्ध के सामान और हथियार बनाने के लिये कारखाने खोले गये। उसने अपनी नीति बना ली कि मुगलों के साथ कड़ा-से-कड़ा बर्ताव किया जायगा। सन् १३०७ के मुगल आक्रमण के समय सुलतान की आज्ञा से सहस्रों मुगल सैनिक देखते देखते मार डाले गये। इसके अतिरिक्त दिल्ली के आस-पास के बसे मुगलों को पकड़वाया और एक ही दिन में बीस-बीस

हजार मुगलों को मरवा डाला। अलाउद्दीन के इन कार्यों से मुगलों पर आतंक छा गया और भारत कुछ दिनों के लिये मुगल-आक्रमण के आतंक से मुक्त हो गया।

आन्तरिक कठिनाइयाँ—अलाउद्दीन निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक बनना चाहता था, अतः उसने अपने मार्ग की सब सम्भावित अड़चनों को दूर किया। सर्वप्रथम उसने जलालुद्दीन के सब पुत्रों और नजदीकी सम्बन्धियों का वध करा दिया। इसके बाद उसने प्रमुख अमीरों को दबा दिया। कुछ लोगोंसे अत्यधिक संपत्ति वसूल की गयी, कुछ अंधे बना दिये गये और कुछ को कारावास दिया। कुछ अच्छे अमीरों से जागीरें छीन ली गयी। इस प्रकार के कार्यों से अलाउद्दीन के मार्ग की अड़चनें दूर हो गयीं, पर ऐसे क्रूर और अन्यायपूर्ण कार्यों से अलाउद्दीन पर नीचता का एक भद्दा धब्बा सदा के लिये लग गया।

इसके बाद अलाउद्दीन का ध्यान आन्तरिक विद्रोहों की ओर गया। जब सुलतान रणथम्भौर में घेरा डाले पड़ा था, उसी समय दिल्ली, बदायूँ और अवध में उसके शत्रुओं ने विद्रोह की आग भड़कायी। इस सब विद्रोहियों का बादशाह ने तुरन्त दमन किया और उन्हें कड़ी सजाएँ दीं। कतिपय विद्रोहियों की आँखें निकाल ली गयीं, उनके संगे-सम्बन्धी कैद कर दिये गये और स्थान स्थान पर गुप्तचर नियुक्त किये गये जो बादशाह को हर प्रकार की सूचना शीघ्रातिशीघ्र दिया करते थे। आंतरिक स्थिति ठीक करने के लिये अन्य आवश्यक सुधार किये गये।

गुजरात पर आक्रमण—गुजरात की राजधानी अन्हलवाड़ उस समय समृद्धशाली नगरी थी। उस समय वहाँ का राजा रायकर्ण सिंह था। आक्रमण के समय वह डरकर राजधानी से भाग गया। उसकी रानी कमला देवी मुसलमानों के हाथ लगी। उस समय सुलतान के सैनिकों ने राजधानी को खूब लूटा और अतुल सम्पत्ति लेकर वे दिल्ली लौट आये। राय कर्ण सिंह भाग कर देवगिरि के राजा रामचन्द्र के यहाँ शरण ली। इसी समय गुजरात में मलिक काफूर नामक एक गुलाम हजार दीनार में खरीदा गया जो आगे चल सुलतान का सेनापति बन गया और सुलतान को साम्राज्य-विस्तार में बहुत सहयोग दिया

गुजरात खिलजी साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। गुजरात की इस विजय का श्रेय उलुग खाँ और नुसरत खाँ के परिश्रम और वीरता को दिया जाता है।

रणथम्भौर का घेरा—राजस्थान के इस प्रसिद्ध दुर्ग पर उस समय चौहान वंशीय राजा हमीर देव का अधिकार था। उसकी शक्ति उस समय अधिक बढ़ गयी थी। उसने दिल्ली के आस-पास से भागे कुछ नव मुसलमानों को अपने यहाँ शरण दी थी। अतः १२९९ ई० में उलुग खाँ और नुसरत खाँ रणथम्भौर के राजा को दबाने के लिए भेजे गये। इन सेनापतियों ने एक वर्ष तक दुर्ग को घेर रक्खा और हम्मीर देव वीरता से सुलतान की सेना का सामना करता रहा। भीषण संग्राम में नुसरत खाँ की मृत्यु हो गई। उलुग खाँ को पीछे भागना पड़ा। अन्त में सुलतान स्वयं एक सेना लेकर दिल्ली से चल पड़ा। सुलतान को मार्ग में कठिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सुलतान मालवा और धार को लूटते रणथम्भौर की ओर बढ़ा। इसी समय दिल्ली, बदायूँ और अवध में विद्रोह हुये, पर वे सब दबा दिये गये। रणथम्भौर पर भी विजय हुई और सन् १३०१ ई० में हम्मीर देव भी मारा गया। रणथम्भौर का किला सुलतान के हाथ में आ गया।

मेवाड़ की विजय—रणथम्भौर के बाद मेवाड़ की ओर सुलतान का ध्यान गया। मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर राजस्थान को गर्व था। सन् १३०३ ई० में जब मेवाड़ की राजधानी पर सुलतान ने आक्रमण किया तो वहाँ राजा रतनसिंह ने मुसलमानों से लोहा लेने की तैयारी की। उस समय रतनसिंह की रानी पद्मिनी अपने सौन्दर्य के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध थी। सुलतान उसे भी प्राप्त करना चाहता था। रक्तपात रोकने के लिए रतनसिंह पद्मिनी को शीशे में दिखाने के लिए तैयार हो गया। जब सुलतान पद्मिनी को देखकर किले के बाहर आया तो राना रतन सिंह उसे पहुँचाने के लिए बाहर आये। अलाउद्दीन ने उसे अपने सैनिकों को संकेत किया और रतन सिंह पकड़ लिए गये। इसके बाद पद्मिनी ने बुद्धि और धैर्य से काम लिया। उसने सुलतान के रनिवास में जाना स्वीकार किया यदि रतनसिंह मुक्त कर दिये जायँ। सात सौ राजपूत वीर डोलियों बैठ कर सुलतान के पड़ाव की ओर चल पड़े। खबर फैलायी गयी कि पद्मिनी अलाउद्दीन की इच्छानुसार उसके

हरम में जा रही है। वहाँ पहुँचते ही वे वीर राजपूत अपनी अपनी डोलियों से कूद पड़े और लड़कर रतन सिंह को मुक्त कर लिया। बाद को सुलतान ने दुर्ग पर आक्रमण किया। युद्ध में गोरा और बादल नामक दो वीर राजपूतों ने बड़ी बहादुरी दिखायी और वे वीर गति को प्राप्त हुए। विजय की आशा न देखकर रानी ने सब स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया। पद्मिनी चिता में जल कर भस्म हो गयी और अललाउद्दीन विजयी होकर भी पद्मिनी को न पा सका, चित्तौड़ पर सुलतान का अधिकार हो गया। पर १० वर्ष के बाद चित्तौड़ पुनः स्वतंत्र हो गया और अलाउद्दीन के हाथ से निकल गया। पद्मिनी की कथा को कुछ विद्वान ऐतिहासिक नहीं मानते हैं। आज भी इस कथा की सत्यता में विवाद चलता है। चित्तौड़ की विजय के बाद सुलतान ने मालवा को भी अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार सन् १३०५ ई० तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया।

दक्षिण की विजय—(सन् १३०५–१३१२ ई०)—उत्तर भारत पर पूरा अधिकार कर लेने के बाद अलाउद्दीन का ध्यान दक्षिण के राज्यों की ओर गया। इस समय तक उसके पुराने सेनापति उलुगखाँ और नसरतखाँ मर चुके थे। पर उसे उतना ही योग्य दूसरा व्यक्ति मिल गया जिसका नाम मलिक काफ़ूर था। मलिक काफ़ूर बादशाह का बहुत ही विश्वास-पात्र और प्रिय बन गया था। दक्षिण भारत की विजय का काम उसी को सौंप दिया गया।

(१) मलिक काफ़ूर सन् १३०६-७ ई० में एक बड़ी सेना लेकर **देवगिरि** पहुँचा। वहाँ के राजा रामचन्द्र ने गुजरात के राजा राय कर्ण को अपने यहाँ शरण दी थी और बहुत दिनों से उसने दिल्ली सुलतान को कर देना बन्द कर दिया था। रामचन्द्र युद्ध में हार गया और विवश होकर उसे सन्धि करनी पड़ी। रामचन्द्र दिल्ली भेज दिया गया। वहाँ जलाउद्दीन ने उसके साथ उदारता का व्यवहार किया।

(२) देवगिरि के बाद **तेलंगाना** की बारी आया। उस राज्य की राजधानी वारंगल थी। यह राज्य गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच स्थित था। यहाँ ककातीय वंश के राजा प्रताप रुद्र देव का शासन था। इस आक्रमण

का मुख्य उद्देश्य धन प्राप्त करना था क्योंकि मुगलों को रोकने में सुलतान को बहुत अधिक धन व्यय करना पड़ता था। पर प्रताप रुद्र देव ने युद्ध किया और उसमें उसकी हार हुई। मलिक काफ़ूर ने उससे बहुत धन लिया और वहाँ से अतुल धन एक हजार ऊँटों पर लाद कर देवगिरि तथा धार होता हुआ सन् १३१० ई० में दिल्ली लौटा।

(३) अलाउद्दीन के सेनापति का ध्यान वारंगल विजय के बाद और दक्षिण स्थित होयसल राज्य की ओर गया। इस राज्य की राजधानी दक्षिण भारत का प्रमुख नगर द्वार समुद्र थी। द्वार समुद्र में वीर बल्लाल तृतीय राज्य कर रहा था। उस समय देवगिर के यादव और द्वार समुद्र के होयसल राजवंशों में शत्रुता चल रही थी। मलिक काफ़ूर ने इस स्थिति से लाभ उठाया। सन् १३१० ई० में वह एक बड़ी सेना लेकर द्वार समुद्र पहुँच गया। वीर बल्लल युद्ध में हार गया और मलिक काफ़ूर के हाथ अपार धन-सम्पत्ति लगी। द्वार समुद्र पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया।

(४) सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य राजाओं की राजधानी मदूरा थी। वहाँ राजसत्ता के लिए दो भाइयों में शत्रुता चल रही थी। एक भाई ने अलाउद्दीन से सहायता की याचना की। ऐसे अवसर को सुलतान कब छोड़ने वाला था। उसने मलिक काफ़ूर को मदूरा भेजा। युद्ध में पाण्ड्य राजा की पराजय हुई। मलिक काफ़ूर ने नगर को खूब लूटा और वहाँ एक मसजिद बनवायी। इस विजय के बाद जब मलिक काफ़ूर दिल्ली लौटा तो सुलतान ने उसका खूब स्वागत किया।

मलिक काफ़ूर सन् १३१२ ई० में एक बार और दक्षिण गया। इस बार देवगिरि के शासक ने कुछ मनमानी की अतः उसे दण्ड देने के लिए सुलतान ने मलिक काफ़ूर को वहाँ भेजा। सुलतान के सेनापति ने देवगिरि के शासक शंकर रावदेव को पराजित कर उसे मार डाला।

दक्षिण भारत की विजय का जो सिलसिला सन् १३०५ ई० में शुरु हुआ था, वह सन् १३१२ ई० में पूरा हुआ और सम्पूर्ण दक्षिण भारत अलाउद्दीन के अधिकार में आ गया। सुलतान जानता था कि दक्षिण के प्रान्त दिल्ली से बहुत दूर हैं और यातायात के साधन ठीक नहीं है, मार्ग कठिन हैं अतः उसने

देवगिरि द्वार समुद्र और मदूरा को जीतने के बाद उन राज्यों को वहीं के शासकों को सुपुर्द करने की नीति अपनायी। उन्हें सुल्तान की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी और दिल्ली के सम्राट को कर देने का वादा करना पड़ता था। वास्तव में दक्षिण-विजय का एक मात्र उद्देश्य धन प्राप्त करना था जिससे मुगल-आक्रमण रोका जा सके। इस उद्देश्य में अलाउद्दीन को पूरी सफलता मिली और इस सफलता का पूरा श्रेय उसके सेनापति मलिक काफूर को था जिसने अपूर्व उत्साह, साहस और स्वामिभक्ति पूर्वक अपना काम पूरा किया।

अलाउद्दीन का साम्राज्य-विस्तार—गुलामवंश के समय में दिल्ली सल्तनत की सीमा केवल उत्तरी भारत तक ही सीमित थी। पर अलाउद्दीन ने अपने सेनापति उलुग खाँ और नसरत खाँ की सहायता से गुजरात, रण-थम्भौर, मेवाड़, मालवा आदि सब राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य की सीमा नर्मदा तक विस्तृत की। सुलतान को इतने से भी सन्तोष न था अतः उसने मलिक काफूर को दक्षिण भारत की विजय के लिए भेजा। उसने देवगिरि से मदूरा तक के सब राजाओं को परास्त किया और खिलजी साम्राज्य की सीमा सुदूर दक्षिण तक पहुँचा दी। इस प्रकार अलाउद्दीन प्रथम मुसलमान बादशाह था जिसने भारत के कोने-कोने में दिल्ली सल्तनत की धाक जमा दी। आधुनिक युग में भी सम्पूर्ण भारत एक राजसत्ता के अधीन नहीं हो सका, पर अलाउद्दीन चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में ही इस कठिन काम को पूरा करने में पूरा सफल हुआ था। "उसने न केवल सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधीन किया वरन् वह पहला सुलतान था जिसने सम्पूर्ण दक्षिणी भारत पर अपनी विजय-पताका फहराई थी और दक्षिण के शासकों से कर वसूल किया था।"

अलाउद्दीन के शासन सम्बन्धी सुधार—दिल्ली के तुर्क सुल-तानों में अलाउद्दीन का नाम साम्राज्य जीतने और फैलाने के लिए ही नहीं प्रसिद्ध है, बल्कि उसने अपने शासन काल में ऐसे अनेक युगान्तरकारी सुधार भी किये जिनसे उसे दिल्ली के सुलतानों में उच्च स्थान प्राप्त हुआ। शासन-काल के प्रारम्भिक भाग में अलाउद्दीन को अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। इसलिए उसने अपने परामर्श-दाताओं से विचार किया और विद्रोह

के कारणों की छानबीन की। उसने यह निश्चित किया कि (१) गुप्तचर विभाग की कमजोरी, (२) सुलतान के पद की मर्यादा और प्रतिष्ठा की कमी, (३) अमीरों का पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध जिससे उनकी शक्ति बढ़ती है और (४) जनता के पास सम्पत्ति का होना सल्तनत में विद्रोह के कारण हैं। चूँकि अलाउद्दीन निरंकुश और सैनिक शासन स्थापित कर भारत का एकछत्र सुलतान बनना चाहता था अतः उसने इन कारणों को दूर करने का पक्का इरादा किया।

गुप्तचर विभाग का संगठन—इस काम को अलाउद्दीन ने सर्व प्रथम अपने हाथ में लिया। देश के हर कोने में विश्वासपात्र मनुष्य नियुक्त किये गये जो बादशाह को हर बात की हर समय खबर दिया करते थे। अमीरों के घरों, नगरों, बाजारों, गाँवों में गुप्तचरों की नियुक्ति हुई। इस प्रकार गुप्तचरों की एक सेना तैयार हो गयी। इसका फल यह हुआ कि हर व्यक्ति को उनसे खतरा और आतंक रहने लगा और स्वतंत्र बातचीत तथा सुलतान की शिकायत करने की हिम्मत किसी में नहीं रह गयी। इसके बाद अलाउद्दीन ने अमीरों को दबाने के लिए सम्पत्ति अपहरण का काम प्रारम्भ किया। उसने आदेश दिया कि जो भूमि दान में या माफी जागीर लोगों को प्राप्त है, वे सब जब्त कर ली जाय। लोगों की पेंशन छीन ली गयीं। इस आदेश से जो वर्ग आराम से जीवन व्यतीत करता था और निश्चिन्त हो सल्तनत के खिलाफ सोचने या काम करने का अवसर पाता था, वह हत-प्रभ और बेबश हो गया। कुछ लोगों ने सुलतान के इस आदेश का विरोध किया पर वे गुप्तचर विभाग की सहायता से चुन-चुनकर दबा दिये गये। सुलतान के तीसरे आदेश में सामाजिक नियंत्रण के नियम और कार्य-क्रम सम्मिलित थे। अलाउद्दीन स्वयं पहले अमीरों और सरदारों के साथ मद्यपान और आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होता था। पर उसे आभास हुआ कि इससे सुलतान के पद के गौरव को धक्का पहुँचता है और दूसरों को मनमानी करने का प्रोत्साहन मिलता है। अतः उसने स्वयं मद्यपान बन्द किया, शराब पीने के अपने बहुमूल्य पात्रों को तुड़वाकर फेंकवा दिया। दिल्ली में शराब की दुकानों से सब शराब सड़कों पर फेंकवा दी गयी और शराब बेचने और पीने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लोग

केवल छिपकर ही मद्यपान कर सकते थे क्योंकि सुलतान नियम भंग करने वालों को कड़ा दण्ड देता था। अलाउद्दीन ने अपने चौथे आदेश से सरदारों और अमीरों के पारस्परिक सम्बन्ध को नियंत्रित किया। अमीरों के सब सामाजिक समारोह बन्द करा दिये गये। आपस में विवाह के लिए उन्हें शाही अनुमति लेनी पड़ती थी। अमीरों और सरदारों ने एक दूसरे के घर आना-जाना बन्द कर दिया। इन प्रतिबन्धों से सरदारों और अमीरों की शक्ति, प्रभाव और संगठन कमजोर पड़ गये।

हिन्दुओं के साथ व्यवहार—अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को दबाने के लिए और अधिक कठोर नियम बनाये। उनसे खेती की उपज का आधा टैक्स के रूप में वसूल किया जाता था। मवेशियों, चरागाहों, बाग-बगीचों पर भी कर लगाये गये। किसी को कर के विषय में रियायत नहीं की गयी। दोआब के हिन्दुओं के साथ अधिक कठोरता का व्यवहार किया गया। इस नीति के कारण मुखिया न घोड़े पर चढ़ सकते थे, न हथियार रख सकते थे और न अच्छे वस्त्र पहन सकते थे। हिन्दुओं में अच्छे परिवारों की स्त्रियों को भी गरीबी के कारण विवश होकर मुसलमानों के घर मजदूरी करनी पड़ती थी।

सेना का संगठन—अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये एक विशाल सैनिक संगठन की आवश्यकता थी। सेना के बल से ही वह साम्राज्य-विस्तार का काम पूरा कर सकता था, विद्रोहियों को दबा सकता था, मुगलों से अपनी रक्षा कर सकता था और स्वयं अपनी निरंकुशता को पराकाष्ठा तक पहुँचा सकता था। अलाउद्दीन जैसा निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करना चाहता था, वैसे शासन का एक मात्र आधार सैनिक बल ही हो सकता था। इसीलिए अलाउद्दीन ने वर्तमान सेना का पुनः संगठन किया और उस समय की सेना के दोषों को दूर किया।

सर्व प्रथम सुलतान ने सेना के प्रधान का एक पद बनाया और उस पर अरीज-इ-मुमालिक (सेना-मंत्री) की नियुक्ति की। वही सैनिकों की भर्ती करता था और इस काम में योग्यता तथा स्वामी-भक्ति को सबसे अधिक प्रधानता दी जाती थी। सैनिकों को नकद वेतन मिलता था और उन्हें घोड़े,

हथियार तथा युद्ध के अन्य सामान भी मिलते थे। सैनिक और उनके सब सामान तथा हथियार आदि का विवरण नियमपूर्वक रजिस्टर में लिखा था और सेना-विभाग के कार्यालय में रक्खा जाता था। घोड़ों को दागने की प्रथा चलायी गयी जिससे सैनिक अच्छे घोड़ों को बदल कर खराब और सस्ते घोड़े को न रख सकें। सेना की संख्या भी बढ़ा दी गयी और घुड़सवारों की संख्या लगभग ५ लाख कर दी गयी। नये किले बनवाये गये और पुराने किलों की मरम्मत करायी गयी।

राज्य की स्थायी सेना के संगठन के साथ साथ अमीरों को सैनिक रखने की मनाही कर दी गयी। किसी को सैनिक सेवा के लिए जागीर नहीं दी जाती थी। सरकारी सेना की शिक्षा और कवायद का सदा उचित ध्यान रक्खा जाता था। अलाउद्दीन दिल्ली सल्तनत का प्रथम सुलतान था जिसने सुलतान के लिए स्थायी सेना रखने की प्रथा चलायी और उस स्थायी सेना की शक्ति और संख्या इतनी अधिक कर दी कि किसी समय किसी प्रकार के खतरे का सामना आत्म-विश्वास के साथ किया जा सकता था।

बाजार भाव का नियंत्रण—बाजार भाव के नियंत्रण का काम दिल्ली के सुलतानों में सर्व-प्रथम अलाउद्दीन ने किया। उनकी सैनिक व्यवस्था ने उसे ऐसा करने को प्रेरित किया। इतनी बड़ी स्थायी सेना का प्रबन्ध और उसका व्यय आसानी से नहीं चलाया जा सकता था। इसलिए जीवन में अधिक प्रयोग में आनेवाली चीजों के मूल्य और व्यापार का नियंत्रण किया। इस सम्बन्ध में निम्नांकित कार्य किये गये :—

(१) चीजों का भाव निश्चित करना—अलाउद्दीन ने ऐसी सब चीजों की सूची तैयार करायी जिनकी आवश्यकता सैनिकों को पड़ती थी। ऐसी सब चीजों की खरीद-बिक्री का दर निश्चित कर दिया गया।

(२) चीजों की प्राप्ति का प्रबन्ध—उन सब चीजों की प्राप्ति का प्रबन्ध करना भी आवश्यक समझा गया ताकि प्रत्येक चीज आवश्यकतानुसार राज्य के कर्मचारियों को मिल सके। अतः यहाँ सुगमता से मिलने वाली चीजों

का संग्रह कर उनका रक्षित-भण्डार बनाया गया और उन सब चीजों को बाहर से मँगा कर रखने का प्रबन्ध हुआ जो वस्तुएँ सुलभ नहीं थीं। अन्न खरीदने और बेचने वालों की सूची सरकार द्वारा तैयार करायी गयी और उन्हें इस काम के लिए एक मात्र अधिकार दिया गया। इस प्रकार के सभी सौदागरों के नाम राजधानी में लिखा जाता था। अन्न जमा करने के लिए बड़े बड़े सरकारी गोदाम बनाये गये। अन्न के अतिरिक्त अन्य आवश्यक वस्तुओं का संग्रह भी सरकारी गोदाम में किया जाता था।

(३) **वितरण का प्रबन्ध**—संग्रह के बाद वितरण की व्यवस्था भी आवश्यक थी। दिल्ली और उसके आस-पास के इलाकों की आबादी के आवश्यकतानुसार दुकानों पर सामान रखने का आदेश दिया गया। दुकानदारों को अपना सारा सामान नियंत्रित मूल्य पर ही बेचना पड़ता था। तौल और बाट भी निश्चित कर दिये गये और कम तौलने वालों को बड़ी कड़ी सजा दी जाती थी। कभी कभी कम तौलने वाले दूकानदार के शरीर से उतना ही माँस काट लिया जाता था। कोई व्यक्ति अपने साथ दिल्ली के बाहर ३ मन से अधिक अन्न नहीं ले जा सकता था। एक स्थान के सरकारी गोदाम से दूसरे स्थान के गोदाम पर या अन्य स्थान पर अन्न आदि ले जाने के लिए यातायात का सरकारी प्रबन्ध था।

(४) **सरकारी देखरेख का प्रबन्ध**—सरकार के इस प्रबन्ध को कार्यान्वित करने के लिए अनेक प्रकार के सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये गये। इस विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी दीवाने-रियासत था। उसके नीचे शहनायमण्डी, सराय अदल आदि अफसर थे। इनके अतिरिक्त सुलतान को बाजार भाव के समाचार गुप्तचरों से भी मालूम होते थे।

आर्थिक और कृषि सम्बन्धी सुधार—आर्थिक क्षेत्र में अलाउद्दीन ने अनेक परिवर्तन किये। इनका उद्देश्य सरकार की आमदनी को बढ़ाना था। पेन्शन, माफी और जागीर के रूप में दी गयी सभी जमीन जब्त कर ली गयी। मालगुजारी में किसी प्रकार की छूट देने की प्रथा बन्द कर दी गई। चरागाह, बाग आदि पर कर लगाया गया। कर की वसूली में सख्ती की गई। हिन्दुओं से जजिया भी वसूल किया जाता था।

राज्य में सब प्रकार की भूमि की पैमाइश करायी गयी। इससे यह पता लगाने की कोशिश की गयी कि किसानों के पास कितनी जमीन है और उसमें कितनी और कैसी पैदावार होती है। उसी के अनुसार कर वसूल किया जाता था। यह व्यवस्था दिल्ली और दोआब में भी लागू हो सकी। उनसे अन्न के रूप में लगान वसूल किया जाता था और उसे सरकारी गोदामों में जमा कर दिया जाता था। इससे अकाल का भय कम हो गया।

इस प्रकार विद्रोह दबाने, सेना के संगठन करने के लिए, बाजार भाव पर नियंत्रण और आर्थिक स्थिति ठीक करने के लिए सुलतान ने अनेक सुधार किये। उसने गुप्तचर विभाग का संगठन कर अपनी सत्ता और प्रभुता को निरंकुश बनाने का प्रयास किया।

सुधारों की समीक्षा—अलाउद्दीन ने अपने शासन काल में जितने परिवर्तन और सुधार किये, उतने सुधार इसके पूर्व दिल्ली के किसी सुलतान ने नहीं किये। इन सुधारों का एक मात्र उद्देश्य विद्रोह दबाना, मुगलों को रोकना और निरंकुश राजतंत्र की स्थापना करना था। इस उद्देश्य में सुलतान को पूरी सफलता मिली। उसने एक विशाल सेना का संगठन कर सुदूर दक्षिण तक सल्तनत को फैलाया, विद्रोहों का दमन किया, अमीरों की शक्ति नष्ट कर दी और मुगलों को हराया। अपनी कड़ी नीति के कारण आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी उसके सुधार सफल हुए। चीजों के भाव गिर गये। दिल्ली में अनेक नई इमारतें बनवायी गयीं। विद्वानों और धार्मिक व्यक्तियों को दरबार में आश्रय दिया। अमीर खुसरो उसका राजकवि था और शेख निजामुद्दीन औलिया और शेख रुकनुद्दीन जैसे फकीरों को उसके दरबार में आश्रय मिलता था। अलाउद्दीन ने अपने सुधारों से सुलतान-पद की शक्ति और मर्यादा को बढ़ाया। सरकार की केन्द्रीय शक्ति बहुत बढ़ गई और सुलतान का दबदबा सर्वत्र छा गया। राज्य के कर्मचारियों और अफसरों में भी भय पैदा हो गया और उन्होंने अपना कार्य सतर्कता से किया।

अलाउद्दीन के शासन काल की समीक्षा का एक दूसरा पहलू भी है। कोई सुलतान अपने सैनिक संगठन और साम्राज्य-विस्तार के कारण ही आदर्श नहीं कहा जा सकता। उसके सारे सुधार स्वार्थ-परता और एक-

पक्षीय दोष से भरे थे। उसने इस बात की कभी चिन्ता नहीं की कि 'राज्य का सर्व-प्रमुख अंग उसी प्रजा है और राजत्व का स्थायी आभूषण लोक रंजन और प्रजा हित-चिन्तन है।" सुलतान ने कोई सुधार प्रजा की भलाई के लिए नहीं किया। अतः उसकी प्रजा को इन सुधारों से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ। हिन्दुओं ने अपने प्रति कड़े नियमों का मन ही मन विरोध किया और उनके मन में अपनी खोई स्वतंत्रता के प्रति अनुराग दृढ़ होता गया। अमीर और सरदार अपनी खोई स्वतंत्रता पर बहुत नाराज हो गये थे। व्यापारी वर्ग नियंत्रण के कारण अपने लाभ से वंचित हो गया। हिन्दू जनता करों के बोझ से दबी जा रही थी और सुलतान की पक्षपात-पूर्ण नीति से उनका मन क्षोभ से भरा हुआ था। गुप्तचर-विभाग के कारण सब अपने को बंधन में ग्रसित समझते थे और सबका जीवन फीका एवं उल्लास रहित हो गया था। जीवन में निराशा की अधिकता हो गयी थी। शासन केन्द्रीय शक्ति के आधार पर इतना निर्भर हो गया था और सुलतान के पद का महत्व इतना अधिक बढ़ गया था कि अलाउद्दीन जैसा योग्य व्यक्ति ही उसे सम्भालने में समर्थ हो सकता था। यही कारण था कि सुलतान के जीवन के अन्तिम समय में जब उसकी शक्ति और कार्य-क्षमता शिथिल हो गयी, तो इस असन्तोष का उभाड़ हुआ और सर्वत्र ढीलापन और शिथिलता व्याप्त हो गयी। यह ऐतिहासिक सत्य है कि इस प्रकार का निरंकुश और केन्द्रित शासन कुछ ही दिनों तक चल सकता है और पुनः इस व्यवस्था का प्रतिफल और प्रतिरोध उसी प्रकार व्यापक और जोरदार रूप में होता है। प्रकृति का यही नियम है और इसीलिए अलाउद्दीन का शासन अस्वाभाविक तथा अदूरदर्शी कहा गया है। उसके शासन के अन्तिम वर्षों में जो प्रतिक्रिया हुई, वह इस सत्य को और अधिक स्पष्ट करती है। उसके सुधार कुछ वर्षों तक युद्ध की स्थिति में सफल हो सकते थे, पर इस प्रकार के सुधारों को सदा के लिए स्थायी नीति बनाना अदूरदर्शिता का द्योतक था।

अलाउद्दीन के पक्ष में एक बात कही जा सकती है। उस युग में राज-नीति और धर्म का साथ-साथ रहना आवश्यक माना जाता है। बल्कि राज-नीति धर्म की अनुगामिनी होती थी। पर अलाउद्दीन ने इस प्रचलित नीति

में परिवर्तन किया। उसने शासन के काम में मुल्लाओं के आदेश मानने से इनकार किया। इस प्रकार राज्य को धर्म से पृथक मानने की परम्परा में अलाउद्दीन को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। वह स्वयं धर्म के नियमानुसार चलता था, पर राजनीति के क्षेत्र में उसने धर्म को सदा पृथक रक्खा। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार राजनीति कारणों पर आधारित था और उसे विश्वास था कि इस कठोर नीति से हिन्दू विद्रोह नहीं कर सकेंगे और उसकी अधीनता में शान्तिपूर्वक रहेंगे। धार्मिक पक्षपात के कारण उसने हिन्दुओं के प्रति कठोरता की नीति नहीं अपनायी।

खिलजी वंश का पतन—अलाउद्दीन के जीवन के अन्तिम दिनों में उसकी कठोर और कृत्रिम शासन-व्यवस्था में शिथिलता आने लगी। सुलतान का स्वास्थ्य गिरने लगा और विवश हो उसे राज-काज से पृथक रहना पड़ा। उसी समय चारों ओर विद्रोह की आग भड़कने लगी। गुजरात, मेवाड़, देवगिरि में विद्रोह शुरु हो गये। इससे सुलतान को और अधिक धक्का पहुँचा और सन् १३१६ ई० में निराशा और क्षोभ के वातावरण से वह परलोकगामी हुआ।

उसकी मृत्यु के बाद ही सर्वत्र अशान्ति फैल गयी। अमीर और सरदार अवसर पाकर पुनः शक्तिशाली बन गये। हिन्दू इस कठोर शासन के अन्त होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उसके कर्मचारी और अफसर सुलतान के आतंक से इतने डर गये थे कि उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर उन्होंने खुशियाँ मनायीं। सुलतान के लड़कों में कोई योग्य नहीं था जो इस परिस्थिति को सम्भाल सकता। खिलजी वंश के शासन के अन्तिम चार वर्षों में अनेक बादशाह गद्दी पर बैठे, पर साम्राज्य की दशा दिन-दिन बदतर होती गयी। एक के बाद दूसरा व्यक्ति राजगद्दी से पृथक कर दिया जाता था। सन् १३२० ई० खुसरो नामक एक व्यक्ति ने इस वंश के अन्तिम सुलतान कुतुबुद्दीन मुबारक को कत्ल कर स्वयं गद्दी का मालिक बन गया।

इस स्थिति से दिपालपुर का हाकिम गाजी तुगलक बहुत असन्तुष्ट था। खुसरो पर हिन्दुओं के साथ पक्षपात करने का दोष लगाया गया। दिल्ली के सभी तुर्क अमीर उससे नाराज थे। इसका लाभ उठाकर गाजी तुगलक ने दिल्ली पर चढ़ाई की और खुसरो को पराजित कर स्वयं दिल्ली का सुलतान बन

गया। इस प्रकार सन् १३२० ई० से दिल्ली में एक नये वंश का शासन प्रारम्भ हुआ।

अलाउद्दीन के बाद खिलजी वंश का इतना शीघ्र अन्त हो गया। इस पतन के अनेक कारण थे। स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन की बागडोर बहुत योग्य व्यक्ति ही सम्भाल सकता है। अलाउद्दीन के वंशजों में से किसी में यह गुण नहीं था। वे निकम्मे, आलसी और डरपोक थे। पतन का दूसरा कारण साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार था। उन दिनों दिल्ली से विन्ध्याचल के दक्षिण स्थित राज्यों का प्रबन्ध करना कठिन था। इस वंश के ह्रास का तीसरा कारण अलाउद्दीन की निरंकुश साम्राज्यवादी नीति थी जिससे देश का प्रत्येक व्यक्ति असन्तुष्ट था। उसकी सब योजनाएँ युद्धकालीन थीं अतः उनमें स्थायीपन आना असम्भव था। ऐसे शासन में असन्तोष की चिनगारी धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और अवसर पाते ही वह एक भयंकर दावाग्नि का रूप धारण कर लेती है। ठीक यही दशा उस समय थी। सब वर्ग के लोग साम्राज्य के अन्त होने की ताक में बैठे थे और मौका से लाभ उठाने को तैयार थे। उसके शासन के बिगड़ने का एक कारण यह भी था कि अलाउद्दीन के अन्तिम दिनों में उसके योग्य सेनापति और अच्छे परामर्शदाता नहीं रह गये थे। ऐसे व्यक्तियों के अभाव में सुलतान निराश और असहाय-सा हो गया। अलाउद्दीन के वंशज कुछ नीच जाति के लोगों को मुसलमान बनाकर उन्हें अपना मन्त्री और परामर्श-दाता बना लिया करते थे। इससे पुराने अमीरों और सरदारों में बहुत असन्तोष फैल गया और वे राजकाज से उदासीन हो गये। अलाउद्दीन ने एक गलती और की थी जिससे उसके साम्राज्य का पतन इतना शीघ्र हो गया। उसने अपने पुत्रों में से किसी को योग्य बनाने की कोशिश नहीं की और किसी को शासक बनने के लिए उचित शिक्षा नहीं दी। इन्हीं कारणों से अलाउद्दीन की मृत्यु के चार वर्ष बाद ही उसके वंश का अन्त हो गया।

तेइसवां परिच्छेद

दिल्ली सल्तनत

३. तुगलक-वंश

(सन् १३२०-१४१२ ई०)

सन् १३२० ई० में खुसरो को परास्त कर दिपालपुर के हाकिम गाजी तुगलक ने दिल्ली का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। गाजी तुगलक के पिता पंजाब में बस गये थे और वे तुर्क थे। उन्होंने कई बार मुगलों को मार भगाने में बहुत बहादुरी दिखाई थी। सन् १३०५ ई० में गाजी ने स्वयं मुगलों को पंजाब से बाहर निकालने में अलाउद्दीन की सहायता की थी। अपनी बहादुरी के कारण धीरे-धीरे वह सुलतान का प्रिय हो गया। गाजी अपनी वीरता के कारण बहुत प्रसिद्ध हो गया था। सन् १३२० ई० में उसने खुसरो को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। खुसरो मार डाला गया। दिल्ली में नये वंश का शासन स्थापित हुआ। दिल्ली के तुर्क सरदारों ने गाजी तुगलक का स्वागत किया। वह गयासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली का सुलतान हुआ।

गयासुद्दीन तुगलक (१३२०—२५ ई०)—जिस समय गयासुद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठा, उस समय साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था। गयासुद्दीन ने बुद्धिमानी से परिस्थिति को सम्भाला। उसने तुर्की अमीरों और सरदारों को अपनी ओर मिला लिया। उसने लोगों की रुचि का पता लगाया और उसके अनुसार काम करने की कोशिश की। सेना का संगठन किया और जनता की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न किया। उसने लगान की दर घटा कर दसवाँ भाग कर दिया। स्वतन्त्र होने वाले प्रान्तों को पुनः जीतने की व्यवस्था की गयी। वारंगल के काकतीय राजा और

बंगाल के नवाब को पराजित कर पुनः वहाँ दिल्ली सल्तनत का प्रभुत्व स्थापित किया गया।

बंगाल की विजय के बाद जब सुलतान दिल्ली लौट रहा था, तो शाहजादा जूना खाँ ने उसके स्वागत के लिये एक महल बनवाया। सुलतान आकर उसी महल में ठहरा। वह इमारत अचानक गिर गई और गयासुद्दीन उसी के नीचे दबकर मर गया। जूना खाँ ने षड्यन्त्र कर इसीलिये यह महल बनवाया था क्योंकि वह सुलतान होने के लिये उतावला हो रहा था।

मुहम्मद बीन तुगलक (सन् १३२५—५१ ई०)—गयासुद्दीन के मृत्यु के बाद जूना खाँ मुहम्मद बीन तुगलक के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने खिलजी वंश के शासकों के समय में राजकाज का अनुभव प्राप्त किया था। खुसरो को परास्त करने में भी इसका बहुत हाथ था। उसके शासनकाल की घटनाओं पर मत स्थिर करते समय विद्वानों में बहुत मतभेद पाया जाता है। कुछ उसे दिल्ली सल्तनत के शासकों में योग्यतम मानते हैं और कुछ अन्य विद्वान उसे अव्यावहारिक और अयोग्य समझते हैं। सुविधा के लिये मुहम्मद तुगलक का शासनकाल दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग में उसके शासन के पहले १० वर्ष आते हैं जब उसने योग्यतापूर्वक काम किया। द्वितीय भाग में उसके शासन के अन्तिम १६ वर्ष आते हैं जिसमें सुलतान बेबश हो सल्तनत के प्रबन्ध में असफल रहा और अपना पतन रोक न सका।

साम्राज्य का विस्तार और विद्रोहों का दमन—मुहम्मद बीन तुगलक को पिता से अत्यन्त विस्तृत साम्राज्य मिला था। उसे विरासत के रूप में सिन्ध और पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर मदूरा तक का विस्तृत देश साम्राज्य के रूप में मिला था। सुलतान ने इस बड़े साम्राज्य को अपने शासन के प्रथम १० वर्षों तक सुरक्षित रक्खा। उसका सारा साम्राज्य २३ सूबों में विभक्त था जिसमें दिल्ली, गुजरात, लाहौर, तिरहुत, लखनौती, कन्नौज, देवगिरि तथा तेलंगाना अधिक प्रसिद्ध थे।

मुहम्मद बीन तुगलक के शासन के प्रारम्भिक काल में तीन स्थानों पर विद्रोह हुये। प्रथम विद्रोह उसके चचेरे भाई ने सागर में किया। सुलतान ने

उसे तुरन्त परास्त किया। विद्रोही पकड़ा गया और उसकी खाल जिन्दा खींच ली गई। इस कठोर दण्ड का प्रयोजन अन्य लोगों के सामने एक उदाहरण रखना था और यह चेतावनी देनी थी कि विद्रोह करने वालों का अंत इसी प्रकार होगा। दूसरा विद्रोह पूना और तीसरा विद्रोह मुलतान तथा सिन्ध में हुआ था। दोनों ही स्थानों पर विद्रोहियों को कड़ाई के साथ दबाया गया और पराजित कर उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया। इसके बाद कुछ दिनों तक किसी को सुलतान के विरुद्ध सिर उठाने का साहस नहीं हुआ।

मुगलों का आक्रमण (१३२८–२९ ई०)—सुलतान के शासन काल में मुगलों का एक आक्रमण भारत पर हुआ। मुगल मुल तान और लाहौर लूटते हुये दिल्ली के समीप आ गये। सुलतान ने एक सेना ले उनका सामना करना चाहा, पर उसे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं हुआ उसने मुगलों को बहुत-सा धन देकर अपना पीछा छुड़ाया। मुगल सिन्ध होते हुये अपने देश को लौट गये। सुलतान ने इस प्रकार धन देकर अपनी दुर्बलता प्रकट की और मुगलों का उत्साह बढ़ाया। मुहम्मद तुगलक की इस नीति की कटु आलोचना और भर्त्सना इतिहासकारों ने की है। वास्तव में बलबन औ अलाउद्दीन की सक्रिय और दृढ़ नीति का त्याग कर सुलतान ने अपनी प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचाया।

अन्य विजय—सुलतान ने सन् १३२७ ई० में नगरकोट पर चढ़ाईर की। वहाँ के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। कहा जाता है कि सुलतान ने भारत के बाहर के कुछ देशों को जीत कर अपनी महत्त्वकांक्षा पूरी करना चाहता था। अतः उसने खुरासान पर चढ़ाई करने की योजना बनायी। उसके दरबार में रहने वाले कुछ खुरासानी सरदारों ने उसे ऐसा करने का परामर्श दिया था। सुलतान को मार्ग की भीषण कठिनाइयों के सामने झुकना पड़ा और उसने इस काम को दुष्कर समझ आगे बढ़ने का विचार त्याग दिया। इस योजना में सुलतान को बहुत व्यय करना पड़ा।

फिरिश्ता का कहना है कि सुलतान ने चीन और हिमालय के कुछ अन्य देशों को जीतने की योजना बनायी थी। कुछ विद्वान फिरिश्ता की इस बात से सह-मत नहीं हैं। उनका कहना है कि मुहम्मद ने किसी पहाड़ी प्रदेश के राजा को

बचाने के लिए एक योजना बनायी। इसी को फिरिश्ता ने गलत समझा और उसने चीन-विजय की योजना की बातें लिख दीं। यह सच है कि सुलतान को पहाड़ी इलाके के राजा को जीतने में बहुत हानि उठानी पड़ी और इस काम में उसके सैनिक तथा धन दोनों की क्षति हुई।

सुलतान ने चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। उसने चीन के राजा के राजदूत का स्वागत किया और इब्न-बतूता को अपना राजदूत बना चीन भेजा। उसने मिस्र, जावा, ख्वारिज्म के राजाओं के दरबार में भी अपने दूत भेजे और उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये।

सुलतान की कुछ प्रमुख सुधार-योजनाएँ

(१) आर्थिक सुधार—सुलतान ने गद्दी पर बैठने के बाद आर्थिक सुधार की ओर ध्यान दिया। उसने राजस्व-विभाग के सुधार के लिये अनेक आदेश निकाले। राज्य की आमदनी और व्यय का हिसाब ठीक ठीक समझने के लिए ब्योरेवार रजिस्टर तैयार कराये गये। आमदनी बढ़ाने के लिये कर बढ़ाया गया और सर्वप्रथम यह काम दोआब से शुरू हुआ। मकानों तथा चरागाहों पर भी कर लगाया गया। मवेशियों की गिनती करायी गयी और उन पर भी कर लगाया गया। इसी समय दोआब में भीषण अकाल पड़ा। लोगों की आर्थिक दशा बिगड़ गयी। सुलतान ने लोगों की सहायता करने की कोशिश की। पर अवस्था में सुधार नहीं हुआ। कर वसूल करने में किसी प्रकार का ढीलापन नहीं हुआ। सरकारी कर्मचारियों ने किसानों के साथ दुर्व्यवहार किया। वे भय से अपना खेत छोड़ कर भागे। इसके लिये सुलतान ने उन्हें कठोर दण्ड दिया। "वास्तव में अकाल का समाचार मिलते ही सुलतान को कर में कमी कर देनी चाहिये थी परन्तु वह अपनी जिद पर अड़ा रहा। शीघ्र ही अफसरों की सख्ती तथा दुर्भिक्ष की भयंकरता के कारण प्रजा में हाहाकार मच गया और जब सुलतान ने इस दुर्दशा पर ध्यान दिया तो परिस्थिति काबू के बाहर हो गई।" अधिक मालगुजारी वसूल होने की बात तो दूर रही, साधारण माल-गुजारी भी नहीं वसूल हो पायी और सुलतान तथा प्रजा के बीच का आवश्यक सौहार्द्य सर्वथा नष्ट हो गया।

(२) कृषि का नया प्रयोग—सुलतान ने आर्थिक दशा सुधारने के लिए एक नया विभाग 'दीवाने कोही' (कृषि-विभाग) खोला। राज्य की ओर से कृषि के लिए एक बड़े भूभाग पर खेती प्रारम्भ की गयी। नये नये अफसर नियुक्त हुए। लगभग ७० लाख रुपये इस योजना पर व्यय हुये। पर यह प्रयोग अन्त में निष्फल सिद्ध हुआ। इसकी असफलता के अनेक कारण थे। (क) खेती के लिए भूमि की चुनाव गलत हुआ था क्योंकि वहाँ अच्छी और लाभदायक खेती नहीं हो सकती थी। (ख) इस नये प्रयोग का महत्व उस समय के अफसरों की समझ में नहीं आया। (ग) ऐसे प्रयोग में समय अधिक लगता है, सुलतान में इतना धैर्य नहीं था और (घ) सरकारी कर्मचारियों ने राज्य के धन और सम्पत्ति का दुरुपयोग किया।

(३) राजधानी का परिवर्तन—सन् १३२६-२७ ई० में सुलतान ने एक नये प्रयोग को हाथ में लिया। वह साम्राज्य की राजधानी केन्द्रीय स्थान में रखना चाहता था। दिल्ली साम्राज्य के विभिन्न भागों के बहुत दूर थी, उसकी समझ में उत्तरी भारत अच्छी तरह उसके अधीन हो चुका था, अतः उसने दक्षिण में अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए देवगिरि को उपयुक्त समझा और दिल्ली से राजधानी हटा कर वहाँ ले जाने का निश्चय किया। देवगिरि का नाम बदल कर दौलताबाद रक्खा गया। यह स्थान मुगल-आक्रमण से भी सुरक्षित था। इस निश्चय के बाद दिल्ली से सब नागरिकों को दौलताबाद चलने का आदेश हुआ। "सात सौ मील की लम्बी यात्रा में लोगों की सुविधा के लिए सड़क के किनारे स्थान-स्थान पर झोपड़ियाँ खड़ी की गयीं, मुफ्त भोजन और जल का प्रबन्ध हुआ, छायादार वृक्ष लगाये गये और दूसरी और अनेक प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था की गयी। परन्तु रास्ते की थकावट शारीरिक मानसिक कष्ट आदि के कारण बहुत से लोग रास्ते में ही मर गये।"

सुलतान का यह प्रयोग सैद्धान्तिक दृष्टि से बिलकुल ठीक और उचित मालूम होता है। पर व्यवहार में उसका फल विपरीत हुआ। दिल्ली के सब नागरिकों को अपनी जन्मभूमि छोड़कर इतनी दूर जाने का आदेश अस्वाभाविक था। साधारणतया कोई अपना स्थान छोड़ कर अन्यत्र बसना पसन्द नहीं करता। इसीलिए दौलताबाद पहुँचकर भी लोग अप्रसन्न और उदास रहने

लगे। साथ ही दौलताबाद से उत्तरी भारत पर नियंत्रण रखना और विशेष रूप से मुगल-आक्रमण को रोकना दुष्कर कार्य प्रतीत होने लगा। अतः कुछ दिनों के बाद सुलतान ने सब को दिल्ली लौटने का आदेश दिया। इस दौड़ में लोगों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा और दिल्ली की पुरानी रौनक कुछ दिनों के लिए फीकी हो गयी।

(४) **संकेत-मुद्रा का प्रयोग**—सिक्कों के क्षेत्र में सुलतान ने अनेक सुधार किये। उन्हें सुन्दर और आकर्षण बनाने का सफल प्रयोग किया गया। उन पर अंकित लिपि अत्यन्त कलात्मक और सुन्दर बनायी गयी। अन्त में संकेत मुद्रा का प्रयोग भी हुआ। सुलतान ने अपव्यय से बचने और आर्थिक संकट का सामना करने के लिए ताम्बे के सिक्के चलाये जिनका सांकेतिक मूल्य सोने-चाँदी के सिक्कों के बराबर निर्धारित किया गया। चूंकि सुलतान की ओर से अनुकरण कर जाली सिक्कों के प्रयोग को रोकने के लिए कोई उचित नियम नहीं बनाया गया, अतः राज्य में जाली सिक्कों की भरमार हो गयी और लोगों ने अपने घरों में सिक्के बनाने का काम शुरु कर दिया। इसके देश का व्यापार रुक गया और सर्वत्र घोर अव्यवस्था फैल गयी। विदेशी व्यापारियों ने नये सिक्कों को लेना अस्वीकार कर दिया। इस असफलता से सुलतान को बहुत झुंझलाहट हुई और उसने स्थिति को सुधारने के लिए यह आज्ञा दी कि सब लोग अपने ताम्बे के सिक्कों को राजकोष में जमा कर उसके बदले में सोने-चाँदी के सिक्के ले जायँ। इससे राज्य का कोष और भी खाली हो गया और राज्य की आर्थिक व्यवस्था को इससे गहरा धक्का पहुँचा।

निस्सन्देह मुहम्मद तुगलक का यह सुधार उसकी सूझ-बूझ का उदाहरण है। इसे बहुत से इतिहासकार सुलतान की वैज्ञानिक बुद्धि का चमत्कार मानते हैं। संकेत-मुद्रा का प्रचलन आजकल सर्वत्र है। सुलतान इस सुधार को सोचने में समय से बहुत आगे था। यह भी उसकी असफलता का कारण बन गया। जनता इस समय इस सुधार का महत्त्व नहीं समझ सकी। साथ ही इस सुधार को कार्यान्वित करने के पूर्व सुलतान को जाली सिक्कों के बनाने पर पूरी रोक लगाना आवश्यक था। इसीलिए कहा जाता है कि सुलतान की योजना तर्कहीन नहीं थी, पर उसके कार्यान्वित करने का ढंग निःसन्देह गलत था।

विद्रोह तथा अशान्ति का काल- (सन् १३२५—१३५१ ई०)

सुधार की योजनाओं में असफलता के कारण, द्वाबा में भयंकर अकाल पड़ने के कारण और मुगलों को घूस देकर दिल्ली की रक्षा के काम से देश में अशान्ति, अव्यवस्था और विद्रोह की आग भड़क उठी। सुलतान के शासन के अन्तिम १६ वर्ष इसी प्रकार के विद्रोह और अशान्ति की कहानी है। सर्व प्रथम सन् १३३५ ई० में दक्षिण के मदूरा से विद्रोह का समाचार मिला। उसी के गवर्नर ने वहाँ दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह किया। सुलतान स्वयं एक बड़ी सेना लेकर दक्षिण गया। पर वारंगल पहुँचने पर उसके सैनिक वहाँ फैले हैजा के शिकार हुए और सुलतान को निराश होकर वापस लौटने पर विवश होना पड़ा। दक्षिण का वह प्रान्त उसके हाथ से निकल गया। उसी के बाद सन् १३३६ ई० में दक्षिण में हिन्दू सरदारों ने विजय नगर का स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। अवध और सिन्ध में भी विद्रोह हुए पर सुलतान ने उन विद्रोहों को दबाया।

दक्षिण भारत की दशा बिगड़ती गयी। दक्षिण के हिन्दुओं ने सुलतान की परेशानी से लाभ उठाया। वारंगल, द्वारसमुद्र और कोरोमण्डल तट के समस्त प्रदेश स्वतंत्र हो गये। अब दक्षिण में देवगिरि और गुजरात सुलतान के अधिकार में रह गये। कुछ दिनों के बाद देवगिरि में भी अशान्ति फैली। सुलतान स्वयं विद्रोह दबाने दक्षिण गया। महीनों वहाँ सुलतान को दौलताबाद (देवगिरि) का घेरा डालकर पड़ा रहना पड़ा। उसी समय एक विद्रोही सरदार गुलबर्गा भाग गया और वहाँ उसने सन् १३४७ ई० में बहमनी राज्य की नींव डाली। वह विद्रोही सरदार हसन काँगू था।

पूर्वी बंगाल का शासक फखरुद्दीन बड़ा महत्वांकाक्षी व्यक्ति था। उसने लखनौती के शासक को मार डाला और अपने को स्वतंत्र घोषित किया। मुहम्मद तुगलक अपनी उलझनों के कारण बंगाल के विद्रोह का दमन नहीं कर सका और वह बड़ा तथा सम्पन्न प्रान्त उसके हाथ से निकल गया।

अन्त में तगी नामक एक व्यक्ति ने गुजरात में विद्रोह किया। उसने पाटन, खम्भात और भड़ौंच को लूटा। सुलतान उस समय दक्षिण में था। वहाँ से वह स्वयं गुजरात गया। तगी को परास्त कर सुलतान ने उसका पीछा किया।

थट्टा पहुँचने पर वह सन् १३५१ ई० में बीमार पड़ा और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। इतिहासकार बदाऊनी के शब्दों में "सुलतान को उसकी प्रजा से और प्रजा को सुलतान से मुक्ति मिल गयी।"

"इसीलिए सुलतान के जीवन के अन्तिम सोलह वर्ष का काल सल्तनत के पतन की दर्दनाक कहानी है। उसे विरासत के रूप में सिंध और पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय की तराई से मदूरा तक का विस्तृत साम्राज्य प्राप्त हुआ था और उसने शासन के प्रथम दस वर्षों तक उसे कायम रक्खा। लेकिन उसकी मृत्यु के समय उत्तरी भारत का ही कुछ हिस्सा उसके अधिकार में रह गया था।" दक्षिण में नये नये राज्य स्थापित हो चुके थे, गुजरात और बंगाल स्वतंत्र हो चुके थे। प्रजा उससे ऊब चुकी थी, राजकोष खाली हो चुका था और सुलतान के पद की मर्यादा क्षीण हो चुकी थी। मुहम्मद तुगलक की इस असफलता के मुख्य कारण इस प्रकार थे—

(१) मुहम्मद तुगलक को अलाउद्दीन की तरह योग्य अफसरों का सहयोग नहीं मिला। यदि सूझ-बूझ के परामर्शदाता और योग्य अफसर होते थे तो उसे गलत कदम उठाने से रोकने का प्रयास करते। (२) प्रकृति ने भी सुलतान की खिलाफत की। असामयिक वर्षा से अकाल का प्रकोप हुआ और उसकी आर्थिक योजनाएँ विफल हो गयी। वारगंल में अचानक हैजा का प्रकोप हुआ और उसके अधिकांश सैनिक मर गये। (३) सुलतान के असामयिक और क्रान्तिकारी सुधारों से प्रजा में असन्तोष पैदा हो गया और सुलतान को लोकप्रियता का सदा अभाव रहा। इससे वह अधिक क्रोधी और उतावला होता गया। (४ सुलतान ने मुल्लाओं और मौलवियों की हाथ की कठपुतली बनने से इनकार कर दिया। अतः वे अप्रसन्न हो गये और उन्होंने अवसर पाकर अमीरों तथा सरदारों को भड़काया। असन्तोष फैलाने में इस वर्ग का भी पर्याप्त हाथ रहा। (५) साम्राज्य के अधिक विस्तार से भी प्रबन्ध और नियंत्रण में शिथिलता आ गयी। इतने बड़े साम्राज्य में विरोधी तत्वों को दबाकर नियंत्रण में रखना आसान काम नहीं था। मुहम्मद तुगलक इस जटिल काम को सम्भाल नहीं सका। (६) सुलतान के सुधार कुछ आदर्शवादी थे, कुछ असामयिक और कुछ अव्यवहारिक थे। उन नये प्रयोगों से प्रजा में उमंग नहीं पैदा हुआ, उनसे सुलतान को सहयोग नहीं प्राप्त हुआ और प्रायः प्रजा ने उन सुधारों से

अपना धैर्य खो दिया। उसके सुधार अवसर के अनुकूल नहीं थे, और सुलतान को मानव प्रकृति का कम ज्ञान था। अतः उसका शासन-काल "असफलताओं की एक करुण कहानी" हो गया।

शासन-प्रबन्ध—मुहम्मद तुगलक ने २६ वर्ष तक राज्य किया। वह मध्यकालीन शासकों की तरह एक स्वेच्छाचारी और निरंकुश सुलतान था। सल्तनत की सारी शक्ति और अधिकार उसी के हाथ में केन्द्रित थी। परामर्श के लिए उसने कुछ व्यक्तियों की एक परिषद् बनायी थे। पर उसने उसमें विदेशी अमीरों को नियुक्त किया। इससे पुराने अमीरों और विदेशी अमीरों में शत्रुता पैदा हो गयी। शासन-व्यवस्था पर इस झगड़े का अच्छा प्रभाव नहीं हुआ और अन्त में दोनों ही वर्ग असन्तुष्ट हो गये।

सुलतान ने सम्पूर्ण साम्राज्य को विभिन्न सूबों में विभक्त कर दिया था और प्रत्येक सूबे में एक सूबेदार नियुक्त किया जिसे 'नायब वजीर' कहते थे। उसे शासन और सेना सम्बन्धी दोनों ही काम करने पड़ते थे। वह सब प्रकारसे सुलतान का प्रतिनिधि और उसी के प्रति पूर्णरूप से उत्तरदायी होता था। सुलतान उच्च-पदों पर विदेशी अमीरों को नियुक्त करता था। कोई पद वंशगत नहीं था। सुलतान अपनी समझ में योग्य व्यक्ति को ही सरकारी पदों पर नियुक्त करता था। कुछ दिनों के बाद सुलतान ने यह अनुभव किया कि शासन सुचारु रूप से नहीं चल रहा है, तब उसने निम्नवर्ग के लोगों को विदेशी अमीरों के स्थान पर नियुक्त करना प्रारम्भ किया। सुलतान की इस बदलती नीति से देशी अमीरों में बहुत असन्तोष फैला।

पुलिस और जेल विभाग की ओर भी सुलतान का ध्यान गया। पुलिस-विभाग के प्रधान कर्मचारियों में कोतवाल का स्थान था। हाट-बाजार के लिए एक पृथक अफसर होता था। सुलतान ने एक उपहार-विभाग भी खोला था क्योंकि वह उपहार लेने का बहुत शौकीन था। प्रायः किले में ही कैदी रक्खे जाते थे। दण्ड कठोर दिया जाता था। अंग-भंग की प्रथा थी। न्याय-प्रियता के लिए सुलतान प्रसिद्ध था। न्याय के लिए वह एक विशेष दरबार करता था। न्याय का मुख्य अधिकारी काजी था। इस विभाग का सर्व-प्रधान अधिकारी "सद्रे जहान काजी उलकुजात" कहलाता था। न्याय के काम में बड़े-

छोटे का भेद-भाव नहीं किया जाता था। मुल्ला-मौलवी भी साधारण अपराधी की तरह दण्डित किये जाते थे। सुलतान स्वभाव से क्रोधी और उतावला था अतः कभी-कभी अप्रिय और अनुचित दण्ड भी दिया जाता था।

लगान वसूल करने का काम शिकदार के अधीन था। दोआब की भूमि से लगान वसूल करने की विशेष व्यवस्था थी। कहीं-कहीं ठेकेदारों द्वारा भूमि-कर वसूल कराया जाता था। इस व्यवस्था के होते हुए भी अकाल के कारण लगान-वसूली का काम ठीक नहीं हो सका और किसानों के साथ सख्ती की गयी। दुर्भिक्ष के समय राज्य की ओर से सहायता की व्यवस्था थी। तकावी बाँटी गयी, कुएँ खुलवाये गये, दान-गृह का निर्माण कराया गया, फिर भी अकाल-पीड़ित जनता को बहुत कष्ट उठाना पड़ा।

सुलतान के पास एक बड़ी सेना थी। उसमें नौ लाख घुड़सवार, तीन हजार हाथी, एक हजार बल्लमदार और दो लाख गुलाम थे। सुलतान ने तुर्क, फारसी, और भारतीय सब प्रकार के सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती किया था। सेना में उच्च पदाधिकारी खान, मलिक, अमीर सिपहसालार होते थे। खान को बड़ी जागीरें दी जाती थीं। सुलतान ने जागीर देने की प्रथा चलाकर अलाउद्दीन के समय में नकद वेतन देने की प्रथा तोड़ दी। इससे उसे नुकसान उठाना पड़ा।

सुलतान का सर्वोत्तम प्रयास धर्म को राजनीति से पृथक करना था। इस काम में वह बलबन और अलाउद्दीन से अधिक स्पष्ट विचारक और कार्यकर्ता था। मुल्ला-मौलवी से शासन के काम में परामर्श लेना वह आवश्यक नहीं समझता था। अपराध सिद्ध होने पर मुल्ला-मौलवी को भी साधारण व्यक्ति की तरह दण्ड दिया जाता था। उल्मा लोग भी साधारण कानूनों से मुक्त नहीं किये जाते थे। उसने शासन के काम में हिन्दू-मुसलमान में भेद नहीं किया। हिन्दुओं को पूजा-पाठ की स्वतन्त्रता दी गयी थी और जबरदस्ती किसी को मुसलमान नहीं बनाया जाता था। इस काम में भी मुहम्मद बिन तुगलक अपने समय से आगे था।

चरित्र—भारतीय इतिहास में मुहम्मद बिन तुगलक एक विचित्र सुल-तान हुआ है जिसे एक साथ ही अधिक-से-अधिक प्रशंसा और अपयश का

भाजन बनना पड़ा है। कुछ इतिहासकारों ने उसे "शैतान का साक्षात् अवतार" कहा है, पर दूसरे व्यक्तियों ने उसे "मध्यकालीन सुलतानों में निस्सन्देह योग्यतम व्यक्ति" माना है। कुछ उसे पागल और अव्यवहारिक आदर्शवादी कहते हैं। यह बात सच है कि मुहम्मद बहुत बड़ा विद्वान था और उसके मानसिक गुणों में उसकी समता दिल्ली का कोई सुलतान नहीं कर सकता था। उसकी स्मरण-शक्ति, अनुपम बुद्धि, कलात्मक रुचि और विद्याप्रेम से लोग चकाचौंध में पड़ जाते थे। भाषण देने, सुन्दर लिखने और कविता करने में कोई उसकी बराबरी नहीं कर पाता था। उसके दरबार में कवियों और कलाकारों का सम्मान होता था। उसका व्यक्तिगत जीवन निर्दोष और निर्मल था। वह स्वयं धार्मिक कृत्यों का पूरा-पूरा पालन करता था। समय पर वह स्वयं सेना का संचालन करता था और युद्ध क्षेत्र में वीरता से युद्ध करता था। उसका विचार धर्मगत प्रभाव से संकुचित नहीं हुआ था और वह कभी धार्मिक प्रभाव के कारण किसी पर अत्याचार तथा पक्षपात नहीं करता था। विदेशियों के प्रति उसका बर्ताव बहुत उदार होता था। उन्हें राज्य की ओर से बड़ी बड़ी जागीरें और ओहदे दिये जाते थे। उसमें उच्चकोटि की न्याय-परायणता और निष्पक्षता थी। इस प्रकार सुलतान के व्यक्तिगत गुणों की समीक्षा करने से यह पता चलता है कि वह बहुत ही योग्य और श्रेष्ठ व्यक्ति था। उसमें एक महान व्यक्ति के गुण और श्रेष्ठ प्रतिभा मौजूद थी।

मुहम्मद तुगलक के चरित्र का एक दूसरा पक्ष भी है जो उसे जटिल व्यक्तित्व का मनुष्य बना देता है। उसका व्यक्तिगत जीवन जितना अच्छा और आदर्श मालूम पड़ता है, उसका राजकीय और प्रशासकीय जीवन उतना ही जटिल और असफल कहा जाता है। उसमें अद्भुत कल्पना थी, पर उसे सफल ढंग से कार्यान्वित करने का गुण उसमें नहीं था। राजधानी के परिवर्तन और संकेत मुद्रा की नीति का विचार जितना मौलिक था, उसकी असफलता उतनी ही दुखदायी और अव्यवहारिक थी। व्यक्तिगत जीवन में सुलतान बहुत ही धार्मिक था, पर सुलतान की हैसियत से वह लौकिक राजतंत्र स्थापित करना चाहता था। यह सच है कि ऐसा करने में उसमें सल्तनत के मुल्लाओं और अमीरों को नाराज कर दिया जिससे उसे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ी। उसका शासनकाल असफलताओं की एक करुण कहानी है, पर विचारों और

आदर्शों में सुलतान की मौलिकता अद्वितीय है और इतिहास में उसका उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता है। यह बात भी सच है कि उसमें कुछ विरोधात्मक गुण-दोष थे। उसका दृष्टिकोण व्यापक था, पर उसमें ठीक निश्चय पर पहुँचने की शक्ति का अभाव था और उसे समय की पहचान भी नहीं थी। वह उदारता का भण्डार था, पर उसे क्रोध भी शीघ्र आ जाता था और जरा-सी देर में वह आपे से बाहर हो जाता था। आज्ञा भंग करने वालों को वह कठोरतम दण्ड देने को तैयार हो जाता था। "वह कठोर हृदय होकर भी उदार था, अपने धर्म का पाबन्द होते हुये भी कट्टरता और पक्षपात से दूर रहता था और अभिमानी होते हुये भी उसकी विनम्रता प्रशंसनीय थी।" इन्हीं बातों के कारण कुछ इतिहासकार उसे विभिन्न गुणों के सम्मिश्रण (Mixture of Opposites) वाला सुलतान कहते हैं। इब्नबतूता ने उसके सम्बन्ध में लिखा है कि "मुहम्मद दान देने और रक्तपात करने में सबसे आगे है। उसके द्वार पर सदा कुछ दरिद्र मनुष्य धनवान होते और कुछ प्राण दण्ड पाते देखे जाते थे। अपने उदार और निर्भीक कार्यों और निर्दय और हिंसात्मक व्यवहारों के कारण वह जनता में प्रसिद्ध था।" वास्तव में मुहम्मद के चरित्र की व्याख्या करना आसान नहीं है। उसका चरित्र इतना रहस्यमय है कि प्रसिद्ध इतिहासकारों ने उस सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रकट किये हैं और प्रायः उनका मत एक दूसरे के विपरीत पड़ता है।

इब्नबतूता—मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में उत्तरी अफ्रीका के तंजा नामक स्थान का रहने वाला एक यात्री भारत आया। उसका नाम इब्नबतूता था। वह सन् १३३३ ई० में भारत पहुँचा और बाद को वह दिल्ली के दरबार में आया। मुहम्मद ने उसके साथ बहुत अच्छा बर्ताव किया और उसे दिल्ली का काजी नियुक्त किया। १०४२ तक वह भारत में रहा और स्वदेश लौटने पर उसने अपनी यात्रा का वर्णन लिखा। उसने अपने 'सफर नामा' में सुलतान के दरबार, उसके व्यक्तिगत गुण-दोष, देश की सामाजिक और राजनैतिक दशा का वर्णन लिखा है। चूँकि इब्नबतूता ने अपने देश जाकर भारत का वर्णन लिखा, अतः उसके अधिकांश वर्णन सत्य और प्रामाणित माने जा सकते हैं क्योंकि वहाँ उस पर किसी प्रकार के भय या प्रभाव का असर नहीं हो सकता था। लगभग आठ साल तक वह दिल्ली में रहा। सुलतान ने उसे

बहुत उपहार के साथ के अपना राजदूत बना कर चीन के बादशाह के दरबार में भेजा था। इब्नबतूता चीन से लौटकर भारत नहीं आया और सीधे अपने देश को लौट गया।

फीरोज तुगलक (सन १३५१—८८ ई०)

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद सिपहसालार रजब का पुत्र फीरोज सन् १३५१ ई० में दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसका जन्म १३०६ ई० में हुआ। वह मुहम्मद का कृपा-पात्र था, गयासुद्दीन तुगलक का भाई था। उसका विवाह अबूहर के एक राजपूत सामन्त रणमल की कन्या से हुआ था और उसी से फीरोज पैदा हुआ था। मुहम्मद के शासन काल में फीरोज राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त किया गया था। मुहम्मद को कोई पुत्र नहीं था, अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका कृपा-पात्र चचेरा भाई उसका उत्तराधिकारी बना। फीरोज ने यह पद अमीरों के आग्रह से स्वीकार किया था।

बंगाल पर आक्रमण—मुहम्मद तुगलक के शासन के अन्तिम भाग में बंगाल का शासक स्वतंत्र हो गया था। फीरोज ने सन् १३५३ ई० में बंगाल को पुनः दिल्ली के आधीन करने के लिए एक बड़ी सेना के साथ चढ़ाई की। युद्ध में सुलतान की विजय हुई। पर वहाँ अपना अधिकार पूर्ण रूप से स्थापित किये बिना ही बंगाल से लौट पड़ा। इस प्रकार बंगाल की विजय के लिए इतना परिश्रम और धन व्यय करने के बाद भी वह अपनी असावधानी और अरुचि से उस काम में असफल ही रहा क्योंकि सुलतान के बंगाल छोड़ते ही वहाँ का शासक पुनः स्वतंत्र हो गया।

जाज नगर की विजय—बंगाल से लौटने के बाद फीरोज ने जाज नगर (वर्तमान उड़ीसा) पर आक्रमण किया। जाज नगर के राय ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली और कर के रूप में प्रति वर्ष कुछ हाथियाँ देना स्वीकार किया। सुलतान ने इस आक्रमण में पुरी के प्रसिद्ध मन्दिर को नष्ट भ्रष्ट कर अपनी धार्मिक कट्टरता और पक्षपात का पदर्शन किया।

नगर कोट की विजय—नगर कोट (काँगड़ा) का इलाका मुहम्मद तुगलक के शासन-काल के अन्तिम दिनों में स्वतंत्र हो गया था। फीरोज ने

उस नगर पर चढ़ाई की और वहाँ के राय ने युद्ध में पराजित होने के बाद फीरोज की अधीनता स्वीकार कर ली।

सिंध की विजय—सिंध में विद्रोह शान्त करने के समय ही मुहम्मद तुगलक का देहान्त हो गया था। तब से वह प्रान्त स्वतंत्र ही रहा। सन् १३७१ ई० में फीरोज ने सिन्ध जीतने का प्रयास किया। इस प्रान्त में सुलतान को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस युद्ध में ढाई वर्ष से अधिक समय और बहुत अधिक धन लगा। अन्त में सिंध के शासक ने संधि का प्रस्ताव रक्खा और क्षमा याचना की। सुलतान ने उसका प्रस्ताव शीघ्र स्वीकार कर लिया। वहाँ उसके भाई को शासक बना वास्तविक शासक को दिल्ली लाया और उसकी पेंशन नियुक्त कर दी। इस प्रकार अपनी उदारता और कमजोरी के कारण फीरोज सिंध में भी पूर्ण सफल नहीं हो सका।

दक्षिण की दशा—दक्षिण में मुहम्मद तुगलक के समय में ही बहमनी और विजयनगर नाम के दो स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। उन राज्यों को पुनः जीतना फीरोज जैसे युद्ध से घबड़ाने वाले व्यक्ति के लिए संभव नहीं था। अतः उसने उन राज्यों को पुनः प्राप्त करने की कोशिश नहीं की।

इन बातों से स्पष्ट है कि फीरोज ने अपने ३८ साल के शासन में मुहम्मद तुगलक के साम्राज्य को पुनः संगठित नहीं कर सका। वह न तो वीर योद्धा था और न देश जीत कर साम्राज्य बढ़ाने का हौसला उसमें था। इसीलिए खोये हुए सूबों को भी पुनः प्राप्त करने का सक्रिय प्रयास उसने नहीं किया। उसने बंगाल पर चढ़ाई की, पर उसका फल कुछ नहीं निकला। सिंध के आक्रमण के समय यह सिद्ध हो गया कि सुलतान और उसके सेनापतियों में सामरिक योग्यता का सर्वथा अभाव था और वे इस काम में बिलकुल अयोग्य थे।

सैनिक प्रबन्ध—फीरोज में सैनिक गुण नहीं थे और वह इस काम में रुचि नहीं लेता था। मुहम्मद तुगलक के अन्तिम दिनों की बिगड़ी हुई सैनिक दशा को सुधारने की क्षमता फीरोज में नहीं थी। वह युद्ध के काम में भी अनावश्यक उदारता दिखलाता था और उसे युद्ध जनित क्रन्दन और रक्तपात सह्य नहीं थी। उसने अपने सैनिकों को जागीर देने की प्रथा चलाई। इससे सेना की योग्यता नष्ट हो गयी और शक्ति क्षीण हो गयी। [illegible]

भी नियम बनाया कि किसी सैनिक के वृद्ध या रोगी होने पर उसका पुत्र सेना में भर्ती हो सकता है। इस प्रकार बहुत से अयोग्य व्यक्ति सेना में आ गये। यही कारण था कि फीरोज के सैनिकों ने कहीं बहादुरी और कौशल नहीं दिखाया और उसके शासन के सामरिक कार्य प्रायः असफल ही रहे।

शासन-सुधार के अन्य कार्य—(१) धार्मिक नीति—फीरोज बहुत कट्टर मुसलमान था। वह सदा उलमा लोगों की राय के अनुसार काम करता था। कुरान के नियम उसके राजकाज के आधार थे। वह हिन्दुओं को मुसलमान होने के लिए प्रोत्साहित करता था और इस्लाम धर्म को स्वीकार करने वालों के साथ अच्छा बर्ताव करता था। उड़ीसा और नगर कोट के आक्रमण के समय उसने हिन्दुओं के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया। जजिया कर वसूल करने में वह सदा कड़ाई करता था। साथ ही सूफियों और शिया मुसलमानों के साथ भी उसका व्यवहार अच्छा नहीं था। इस प्रकार फीरोज ने राजनीति और धर्म को पृथक रखने की परम्परा को त्याग दिया और एक कट्टर और धर्मांध मुसलमान की तरह शासन किया।

(२) जागीर की प्रथा—फीरोज ने अपने, अधिक अफसरों और राज कर्मचारियों के लिए जागीर देने की प्रथा चलायी। अलाउद्दीन ने इस प्रथा को समाप्त कर दिया था, पर उस नीति को फीरोज ने बिलकुल उलट दिया। उसने जागीर की प्रथा को अपने शासन-काल में बिलकुल नियमित कर दिया। इस प्रथा का राज्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। जागीरदार लोग धीरे-धीरे सम्पन्न हो गये और प्रजा पर मनमानी करने लगे। इससे प्रजा में असन्तोष फैल गया और सुलतान के पद की मर्यादा घट गयी।

(३) कृषि की व्यवस्था—फीरोज ने कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया। उसने लगान की व्यवस्था की जाँच के लिए एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त किया और उसकी सिफारिशों के अनुसार कृषि के क्षेत्र में सुधार किये गये। किसानों के बहुत-से कर कम कर दिये गये और अनेक कर माफ कर दिये गये। फीरोज ने नई नई नहरें बनवायीं। सतलज और यमुना से चार नहरें निकाली गयीं। अनेक नये कुएँ खुदवाये गये। बेकार भूमि को खेती योग्य बनाने की कोशिश की गयी। इस प्रकार बहुत सी बंजर भूमि में खेती होने लगी। इन सुधारों से कृषकों की आय बढ़ गयी। अकाल का भय कम हो गया।

(४) न्याय की व्यवस्था—फीरोज कट्टर मुसलमान था। उसने न्याय का आधार कुरान को बनाया। कठोर दण्ड की प्रथा बन्द कर दी गयी। अंग-भंग के दण्ड बन्द कर दिये गये। प्राण दण्ड भी कम दिया जाता था।

अन्य सुधार—फीरोज ने फकीरों और विद्वानों के लिए वजीफे का प्रबन्ध किया, मदरसे बनवाये और बहुत से बेकार लोगों को काम दिया। गरीब मुसलमानों की लड़कियों की शादी के निमित्त सुलतान मदद देता था। दिल्ली में उसने औषधालय भी स्थापित कराया जहाँ गरीबों को मुफ्त दवा और भोजन का प्रबन्ध था।

फीरोज को इमारतें बनवाने का भी शौक था। उसने सन् १३५४ ई० में दिल्ली के निकट फीरोजाबाद नाम का नगर बसाया। इसके अतिरिक्त उसने फतहाबाद और जौनपुर के नगर भी बसाये। कहा जाता है कि सुलतान ने ५० बाँध, ४० मसजिद, १०० सराय, १०० औषधालय, १२०० बाग तथा अनेक महल बनवाये।

चरित्र—फीरोज ८० वर्ष की अवस्था में सन् १३८८ ई० में परलोक सिधारा। उसके शासन के अन्तिम दिनों में राज्य की व्यवस्था ढीली हो गयी थी। मुसलमान इतिहासकारों ने फीरोज के चरित्र की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और उसे एक आदर्श सुलतान कहा है। पर वह एक साधारण कोटि का व्यक्ति था और उसमें महानता का कोई गुण नहीं था। साम्राज्य के संगठन और संचालन की शक्ति का उसमें अभाव था। उसकी दया और उदारता से राज-काज में शिथिलता पैदा हो गयी। जागीर की प्रथा को चालू कर उसने अपने प्रभाव और मर्यादा को क्षति पहुँचायी। वह एक धर्मान्ध बादशाह था और राजनीति को धर्म की दासी बना दिया। केवल मुसलमानों के प्रति उसके व्यवहार अच्छे थे और उसके शासन काल में हिन्दुओं को बहुत सताया गया। इस धार्मिक असहिष्णुता और संकुचित मनोवृत्ति के होते हुए उसे किसी भी प्रकार आदर्श सुलतान नहीं कहा जा सकता। बलबन और अलाउद्दीन की दृढ़ता, मुहम्मद तुगलक की विचार-शैली, अकबर और शेरशाह की निष्पक्षता का उसमें सर्वथा अभाव था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने कृषि की दशा को सुधारने के लिए, दीन-दुखियों की सहायता के लिए अनेक

कार्य किये, पर उसके इन कार्यों में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं थी। उसमें सैनिक दक्षता, नियमपालन, कार्य-पटुता और महत्वाकांक्षा जैसे के गुणों का सर्वथा अभाव था। उसे किसी भी दृष्टि से दिल्ली सल्तनत के योग्यतम सुलतानों में स्थान नहीं दिया जा सकता। वह एक कट्टर मुसलमान की तरह सादा जीवन पसन्द करता था और महलों तथा दरबार की सजावट को अच्छा नहीं समझता था। कहा जाता है कि वह सोने-चाँदी के बर्तनों के स्थान पर स्वयं मिट्टी के बर्तनों का उपयोग करता था।

तुगलक वंश का पतन—सन् १३८८ ई० में फीरोज का देहान्त हुआ। उसके बाद कोई योग्य और शक्तिशाली सुलतान इस वंश में नहीं हुआ। नाममात्र के लिए दिल्ली की सल्तनत तुगलकों के हाथ में रही और सन् १४१३ ई० तक पाँच सुलतानों ने दिल्ली में शासन किया, पर देश में सर्वत्र अशान्ति बनी रही। इस वंश का अंतिम सुलतान महमूद तुगलक था जो अयोग्य और शक्तिहीन सुलतान था। अमीरों की दलबन्दी, जागीरदारों की मनमानी और प्रान्तीय शासकों की स्वतन्त्र सत्ता का जोर इतना बढ़ गया कि दिल्ली का प्रभाव अति क्षीण होता गया। बीच-बीच में दिल्ली की सल्तनत के विभिन्न हकदारों में गृह-युद्ध होते रहे जिससे अराजकता और अशान्ति का जोर और बढ़ता गया।

'तुगलक वंश के शासन काल में गुलामों की संख्या १,८०,००० हो गयी थी। इनका एक अलग दफ्तर था, जिस पर बहुत सा रुपया व्यय किया जाता था। गुलामों को बड़े बड़े ओहदे दिये जाते थे जिसके कारण अमीरों तथा अन्य कर्मचारियों में असन्तोष फैल गया।' तुगलक वंश का साम्राज्य इतना बड़ा हो गया था कि उसकी रक्षा के लिए अलाउद्दीन जैसा कठोर शासक की आवश्यकता थी। पर इस वंश में एक भी वैसा व्यक्ति नहीं था। अतः इतने बड़े साम्राज्य का उन दिनों जब यातायात के साधन कठिन और दुर्गम थे, छिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक ही था।

इसके अतिरिक्त फीरोज की धार्मिक नीति ने हिन्दुओं की भावना को गहरी ठेस लगा दी थी। हिन्दू अपने को विधर्मी और विदेशी सत्ता के अधीन समझते थे। अतः वे अपनी पराजय नहीं भूल सके। साम्राज्य के प्रति उनमें श्रद्धा-भक्ति बिलकुल नहीं थी। वे फीरोज और उसके वंशजों की अवनति

देखकर प्रसन्न होते थे और इसकी ताक में रहते थे कि कब ऐसा अवसर आयेगा जब उन्हें ऐसे शासकों से छुटकारा मिलेगा।

तुगलक शासकों की सेना में कई दोष आगये थे। उनकी सैनिक भर्ती करने की नीति बहुत ही दोषपूर्ण थी। वे शारीरिक शक्ति तथा रण-कौशल का ध्यान रख सैनिकों को नहीं करते थे, बल्कि पुराने सैनिकों के रिश्तेदारों की अधिक चिन्ता करते थे। जागीर की प्रथा से भी सेना में दोष आ गये। सैनिक मनमानी करने लगे और उन्हें अपनी जागीर के लिए सेना की अपेक्षा अधिक चिन्ता रहने लगी। ऐसी सेना से उस युग में साम्राज्य का संगठन कभी भी दृढ़ नहीं रह सकता था। इन शासकों के समय में योग्य सेनापतियों का सर्वथा अभाव था।

मुहम्मद तुगलक की अव्यवस्थित नीति और फीरोज की धर्मान्धता, अनावश्यक उदारता तथा पक्षपात के कार्य शासनतंत्र को अरुचिकर बनाने के लिए पर्याप्त थे। लोगों के हृदय से राज सत्ता के प्रति ममता, अपनापन और भय के भाव हट चुके थे। अतः शासन-सूत्र ढीले पड़ गये, साम्राज्य का रोबदाब जाता रहा। अमीर-गरीब सब मनमानी करने लगे।

इसी गड़बड़ी के समय समरकन्द से चल कर तैमूर ने भारत पर सन् १३९८ ई० में आक्रमण किया और तुगलक वंश की रही-सही प्रतिष्ठा और प्रभाव को समाप्त कर दिया।

तैमूर का आक्रमण (१३९८ ई०)—तैमूर बरलास वंश का तुर्क था। उसे युद्ध-विषयक अच्छी शिक्षा मिली थी। उसे अपने मालिक से अन-बन हो जाने के कारण अपना स्थान छोड़ सुरक्षा के लिये अन्यत्र भागना पड़ा। उसी समय उसका एक पैर टूट गया और वह लंगड़ा हो गया। पर सन् १३७० ई० में उसने अपने शत्रुओं को पराजित किया और वह समरकन्द का शासक बन गया। वह एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति और युद्ध-विद्या में प्रवीण था। उसने ख्वारिज्म, फारस, मैसोपोटामिया आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। अंत में उसने भारत पर सन् १३९८ पर आक्रमण किया। वह भारतकी तत्कालीन राजनैतिक अव्यवस्था, सम्पत्ति की प्रचुरता के लोभ और मूर्तिपूजकों को जीतने की इच्छा से आक्रमण करना चाहता था। उस समय एक अपने नाम्रोज

शासक को जो भारत की सीमा में भाग कर आ गया था, दण्ड देने के लिये तैमूर ने आक्रमण किया।

तैमूर ९२००० घुड़सवारों को लेकर भारत पर चढ़ आया। उसने सिन्ध नदी को पार किया और वह लाहौर की ओर बढ़ा। मुलतान, दिपालपुर और भटनेर को जीतता हुआ वह दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में मन्दिरों को लूटते हुए, हिन्दुओं को हजारों की संख्या में कत्ल करते हुए वह एक भयंकर आँधी की तरह आगे बढ़ता जाता था। दिल्ली के सुलतान महमूद ने अपनी सेना लेकर युद्ध की तैयारी की। परन्तु तुगलक सेना बुरी तरह पराजित हुई और महमूद गुजरात की ओर भाग गया। दिल्ली विजय के समय तैमूर ने घनघोर नृशंस अत्याचारी का रूप धारण किया। उसने युद्ध के पूर्व ही एक लाख हिन्दू कैदियों की हत्या करवा दी। तैमूर १५ दिनों तक दिल्ली में रहा। उन दिनों उसकी क्रूरता सीमा पार कर गयी। अनेक व्यक्ति तलवार के घाट उतार दिये गये और हजारों व्यक्ति कैदी बनाये गये। दिल्ली की भव्य इमारतों को देखकर वह चकित हो गया और अनेक कलाकारों को पकड़कर समरकन्द ले गया जिनकी सहायता से वहाँ एक भव्य मसजिद बनवायी गयी।

दिल्ली के बाद तैमूर मेरठ होता हुआ हरद्वार पहुँचा। वहाँ भी उसे भीषण युद्ध करना पड़ा और अंत में हिन्दुओं को परास्त कर उसने नगर पर अधिकार किया। वहाँ से लूट की अपार सम्पत्ति लेकर जम्मू पहुँचा। वहाँ के हिंदू राजा को हराकर उसे मुसलमान बनाया। तत्पश्चात् वह खिजर खाँ को मुलतान, दिपालपुर और लाहौर का शासक बना समरकन्द लौट गया।

तैमूर के आक्रमण से भारतीय इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। तैमूर ने पंजाब को अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया और खिजर खाँ तैमूर के जीवन भर उसके आधीन रहा। खिजर खाँ बाद को स्वतन्त्र हो गया पर तैमूर के वंशज यह कभी न भूल सके कि पंजाब पर उनका अधिकार होना चाहिये। इसीलिये सैयदवंश के समय में पंजाब में बराबर युद्ध होते रहे।

इस आक्रमण से दिल्ली सल्तनत के सब प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र हो गये और दिल्ली सल्तनत को ऐसा धक्का लगा कि इसके बाद स्थिति में सुधार नहीं हो पाया। जौनपुर, मालवा, गुजरात और अन्य प्रान्त स्वाधीन हो मनमानी करने लगे। सम्पूर्ण भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया और केन्द्रीय

शक्ति के नष्ट होने से कुव्यवस्था चरम सीमा पर पहुँच गयी। तुगलक वंश का अन्तिम सुलतान महमूद बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकता रहा, अन्त में अपने मन्त्री मल्लू की सहायता से दिल्ली पर अधिकार करने में समर्थ हो सका। पर कुव्यवस्था और कलह का अंत नहीं हो सका और सन् १४१४ ई० में महमूद को हटा कर पंजाब के शासक खिजर खाँ ने दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार देश में स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे राज्यों के बनने और तुगलक वंश के पतन में तैमूर के आक्रमण का मुख्य हाथ रहा।

कला के क्षेत्र में भी इस आक्रमण का प्रभाव पड़ा। तैमूर दिल्ली की इमारतों को देखकर बहुत प्रभावित हुआ था, अतः यहाँ से कलाकारों को अपने साथ ले गया। भारतीय स्थापत्य कला के विस्तार का अवसर मध्य एशिया में मिला और वहाँ उन कारीगरों ने भारतीय शिल्प कला के नमूनों के आधार पर अनेक नये भवनों का निर्माण किया। इस सम्मिश्रण से एक नयी शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

तैमूर के आक्रमण ने उत्तरी भारत की आर्थिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। बड़े बड़े नगर नष्ट हो गये, मन्दिरों की सम्पत्ति लूट ली गयी और सहस्रों की संख्या में लोग भयभीत होकर अपना घर छोड़ अन्यत्र भाग निकले। इससे कृषि की व्यवस्था बिगड़ गयी, इलाके उजाड़ हो गये और सर्वत्र रोग, महामारी और अकाल का प्रकोप बीभत्स रूप में हो गया।

चौबीसवाँ परिच्छेद

दिल्ली सल्तनत

४. सैयद वंश

(सन् १४५१—१५२६)

महमूद तुगलक की मृत्यु के बाद खिज्र खाँ ने जो पंजाब का शासक था, सन् १४१४ ई० में दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उसके बाद तीन और शासक दिल्ली की गद्दी पर बैठे। पर इन सब के समय में दिल्ली का अधिकार नाम-मात्र के लिये था और दिल्ली की खोयी हुई मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित करने की शक्ति किसी में नहीं थी। इस समय सब प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र थे और सैयद सुलतानों का प्रभाव दिल्ली तक ही सीमित था। सन् १४५१ ई० में पंजाब के ही प्रान्तीय शासक बहलोल लोदी ने दिल्ली पर स्वयं अपना अधिकार कर लिया और सैयद वंश का अंत हो गया। इस वंश का अंतिम सुलतान आलमशाह सन् १४५१ ई० में दिल्ली से बदायूँ भाग गया और वहीं कुछ दिनों के बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

५. लोदी वंश

(सन् १४१४—१४५१ ई०)

बहलोल लोदी—सन् १४५१ ई० में सैयद वंश के अन्तिम सुलतान को परास्त कर बहलोल लोदी दिल्ली का मालिक हो गया। बहलोल एक कुशल और योग्य व्यक्ति था, अतः उसने दिल्ली की प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने की कोशिश की। उसने विद्रोही अमीरों को दबाया, अशान्ति दूर करने की कोशिश की और आन्तरिक झगड़ों को शान्त किया। सर्व प्रथम उसने जौनपुर को जीतने की कोशिश की, वहाँ के शर्की सुलतान को परास्त किया और अपने लड़के को जौनपुर का शासक नियुक्त किया। इसके बाद कालपी, धौलपुर आदि स्थानों को अपनी सल्तनत में मिलाया।

इन विजयों से बहलोल लोदी ने दिल्ली की दशा सुधारने की कोशिश की। सुलतान की प्रतिष्ठा बढ़ गयी, और उसकी धाक फैल गयी। दिल्ली साम्राज्य के नत मस्तक को उसने ऊँचा उठाया। अशान्ति और अव्यवस्था दूर करने में उसे सफलता मिली। वह बड़ा धार्मिक, उदार और साहसी व्यक्ति था। उसे आडम्बर से घृणा थी। वह न्यायी भी था और प्रजा की फरयाद को स्वयं सुनता था। उसकी सबसे बड़ी सफलता यही थी कि उसने दिल्ली सल्तनत के गौरव को बढ़ाया और पुनः देश में राजनैतिक एकता स्थापित करने का श्री गणेश किया। सन् १४८९ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

सिकन्दर लोदी (१४८९—१५१७ ई०)—बहलोल के बाद उसका छोटा पुत्र सिकन्दर लोदी के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसके भाई बारबकशाह ने विद्रोह किया, पर सिकन्दर ने उसे परास्त कर कैद कर लिया। इसके बाद उसने बिहार को जीतकर उसे अपनी सल्तनत में मिलाया। वह बंगाल की ओर नहीं बढ़ा, पर शेष उत्तरी भारत पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। सन् १५०४ ई० में आगरा के पास उसने एक नया नगर बसाया। सिकन्दर ने सर्वत्र विद्रोह शान्त किया और राज्य की प्रतिष्ठा को गौरव प्रदान किया। वह बहुत शान शौकत के साथ दरबार करता था। उसके अमीर और दरबारी उससे डरते थे। सिकन्दर फीरोज की तरह धार्मिक पक्षपात करता था और हिन्दुओं के प्रति उसका बर्ताव अच्छा नहीं था। उसने अनेक मन्दिरों के स्थान पर मसजिदें बनवायी। इसमें सन्देह नहीं कि सिकन्दर एक प्रतिभावान और प्रभावशाली शासक था और उससे देशवासी और विदेशी दोनों ही भयभीत रहा करते थे। पर धार्मिक असहिष्णुता ने उसके चरित्र को कलंकित कर दिया और हिन्दुओं को उसने बहुत कष्ट दिया और उससे उन्हें निराशा हुई। सन् १५१७ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

इब्राहीम लोदी (१५१७—१५२६)—इस वंश का अन्तिम सुलतान इब्राहीम लोदी अपने पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा। उसे प्रारम्भ में ही कुछ स्वार्थी अमीरों के षड्यंत्र का सामना करना पड़ा जिन्होंने उसके एक भाई को जौनपुर का स्वतंत्र शासक बनाने की योजना पूरी करनी चाही थी। पर इब्राहीम ने उसे परास्त किया और उस षड्यंत्र को विफलकर दिया।

उस षड्यंत्र के दबाने का इब्राहीम के चरित्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वह अभिमानी और निर्दयी हो गया और अफगान सरदारों के साथ अत्यन्त कटु व्यवहार करने लगा। इससे अमीरों में बहुत असन्तोष पैदा हुआ। बिहार में एक प्रभाव शाली अमीर नें अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ ने उसके अत्याचार से तंग आकर काबुल के अधिपति बाबर को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया। इब्राहीम का अशिष्ट और कटु बर्ताव उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। बाबर नें झट इस अवसर से लाभ उठाने का उपक्रम किया और सन् १५२६ ई० में पानीपत के मैदान में आ डटा। युद्ध में इब्राहीम लोदी की हार हुई और साथ ही दिल्ली सल्तनत का जो क्रम सन् १२०६ ई० में गुलाम वंश द्वारा प्रारम्भ हुआ था और जिस क्रम में दिल्ली में पाँच वंश के राजाओं ने सन् १५२६ तक शासन किया, उसका अन्त बाबर की विजय के साथ हुआ।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

दिल्ली सल्तनत के उत्थान-पतन की समीक्षा

पिछले पृष्ठों में गुलाम वंश के अभ्युदय से लेकर लोदी वंश के अन्त तक के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। सन् १२०६ ई० से १२९० ई० तक गुलाम वंश, सन् १२९० से १३२० ई० तक खिलजी वंश, सन् १३२० से १४१४ ई० तक तुगलकवंश, सन् १४१४ से १४५१ ई० तक सैयद और सन् १४५१ से १५२६ ई० तक लोदी वंश के सुलतानों ने क्रमशः दिल्ली में शासन किया। इन ३२० वर्षों में ५ वंशों का अनुगमन क्रमशः हुआ। इस प्रकार थोड़े समय के बाद राजवंश बदलते रहे और भारत के राजनैतिक इतिहास में उथल-पुथल होते रहे। दिल्ली सल्तनत का जन्म १२०६ ई० में हुआ और गुलाम वंश का काल इस सल्तनत के शैशव काल के रूप में व्यतीत हुआ। इस प्रथम राजवंश ने ८४ वर्षों तक दिल्ली में राज्य किया। इस काल में सल्तनत की जड़ भारत भूमि में जम गयी और यह निश्चित हो गया कि दिल्ली सल्तनत चन्द दिनों के लिए ही नहीं जीवित रहेगी, बल्कि भारत के इतिहास का यह काल एक अभिन्न और अमिट प्रभाव डालने वाला अंग बन जायेगा। इसके बाद खिलजी वंश का शासन-काल ३० वर्षों तक चला। यह राजवंश दिल्ली सल्तनत के जीवन का प्रौढ़ और गतिशील भाग बना। थोड़े ही दिनों में लगभग सम्पूर्ण भारत पर सल्तनत का प्रभाव स्थापित हो गया और निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन का रूप शुद्ध रूप में निखर गया। तत्पश्चात तुगलकों ने लगभग ९० वर्ष तक शासन किया। इस राजवंश के उत्तरार्द्ध काल में सल्तनत के दिन ढलने लगे और वृद्धावस्था की शिथिलता और नैराश्य के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। अन्तिम दो राजवंशों अर्थात् सैयद और लोदी खानदान के सुलतानों के समय में सल्तनत का केवल जर्जर शरीर ही अस्थि-पंजर के रूप में अवशिष्ट रहा और अंत में इब्राहम लोदी के समय में यह भी जाता रहा। इस साम्राज्य के पतन में अनेक घटनाओं और कारणों ने सहयोग दिया जिनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—

(१) जलवायु की प्रतिकूलता—कुछ विद्वानों का मत है कि तुर्क शीत कटिबन्ध के रहने वाले थे, अतः भारत की जलवायु उनके अनुकूल नहीं पड़ती थी। यहाँ उनका स्वास्थ प्रारम्भ में ठीक नहीं रहता था और वे इतने प्रसन्न-चित्त नहीं रह पाते थे। पर यह मत निराधार है और वीरता तथा शक्ति किसी एक प्रकार की जलवायु में रहने वालों के लिये एकाधिकार नहीं होती। अतः वास्तव में पठान (तुर्क) सल्तनत के शीघ्र पतन का कारण इस देश की गर्म जलवायु नहीं है। यह कारण किसी दो-चार व्यक्ति के लिए ठीक हो सकता है, पर दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण इतने हलके और सारहीन नहीं थे।

(२) साम्राज्य की विशालता—भारत एक विशाल देश है। लगभग दो हजार मील लम्बा और उतना ही चौड़ा यह देश बड़ी बड़ी नदियों, पठारों और विभिन्न प्राकृतिक दशाओं से युक्त है। उस युग में इतने बड़े देश को जीतकर एक सल्तनत स्थापित करने का हौसला श्लाघनीय अवश्य है, पर उसे स्थायी और दीर्घजीवि बनाये रखने का अत्यन्त दुष्कर है। बलबन के समय में ही सारा उत्तरी भारत दिल्ली सल्तनत में प्रभुत्व में आ गया। खिलजी सुलतान अलाउद्दीन ने सुदूर दक्षिण तक अपना हाथ-पैर फैलाया। इतने बड़े साम्राज्य का प्रबन्ध और संगठन अधिक दिनों तक निभाना उस युग के लिये अनहोनी बात थी। उस समय यातायात के साधन आज-जैसे नहीं थे, मार्ग की कठिनाइयाँ अत्यधिक थीं, दूर के प्रान्तों से सदा सूचनाएँ प्राप्त करना सम्भव नहीं था। अतः कोई एक सुलतान अपनी सैनिक शक्ति के बल से अपनी महत्वाकांक्षा की तृप्ति कर दूर के प्रान्तों पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लेता था, पर दिल्ली पहुँचते ही उसकी धाक उन दूरस्थ प्रान्तों में फीकी पड़ जाती थी और प्रान्तीय शासक पुनः मनमानी करने लगते थे। बलबन और अलाउद्दीन जैसे सुलतानों को उनके जीवन-पर्यन्त उन दूरस्थ प्रांतों पर अधिकार करने में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली, पर अन्य सुलतानों के लिए इतना व्यापक प्रभाव बनाये रखना सम्भव नहीं था। दक्षिण भारत और बंगाल जैसे दूर के भागों पर दिल्ली से नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं था। जब सुलतान दिल्ली रहते थे तो दूर के प्रान्तों और जब वे दूर के प्रांतों में जाते थे तो उत्तरी भारत और दिल्ली में विद्रोह तथा षड्यन्त्र के बादल

मड़राने लगते थे । अतः दूर के प्रान्त अधिकांश समय में दिल्ली सल्तनत के लिए बोझ बन गये और उनमें सैनिक तथा प्रशासकीय व्यय और उत्तर-दायित्व बहुत बढ़ गया । इन प्रान्तों में विद्रोह का झगड़ा आये दिन खड़ा हो जाता था और यह बृहत् साम्राज्य अपना ही बोझ सम्भालने में असमर्थ हो जाता था ।

(३) स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन—इन ३०० वर्षों में शासन की आधार शिला निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता थी । उसकी नींव सैनिक शक्ति थी । सरकार की स्थिरता का प्राकृतिक साधन प्रजा का स्नेह और आत्मीयता होती है । पर दिल्ली सल्तनत के सुलतानों ने इस सत्य को समझने की कोशिश नहीं की । उन्हें अपनी तलवार की क्रूर शक्ति का भरोसा था । इस प्रकार का निरंकुश शासन शासक की व्यक्तिगत प्रतिभा और शक्ति पर ही निर्भर रह सकता है । अतः दिल्ली के सुलतानों में बलबन और अलाउद्दीन जैसे शक्ति-सम्पन्न सुलतानों के समय में शासन में स्थिरता, देश में शान्ति और प्रजा में प्रभाव रहता था और पुनः उनकी मृत्यु के पश्चात् स्थिति काबू के बाहर हो जाती थी और विद्रोह तथा अराजकता का वातावरण मजबूत हो जाता था । दिल्ली के अधिकांश सुलतानों में ऐसे राज्य को स्थायी बनाने की क्षमता का अभाव था । वे रण-कुशल, साहसिक और सतत् जागरूक नहीं थे । अतः उनकी शिथिलता, दुर्बलता और विलास-प्रियता साम्राज्य के लिए घातक बन जाती थी । खिलजी, तुगलक और सैयद तथा लोदी वंश के पतन की कहानी का रहस्य बहुत कुछ इसी सत्य में निहित है । प्रत्येक वंश के परवर्ती शासकों में उस युग के साम्राज्य-संगठन के लिए आवश्यक जागरूकता और क्रियाशीलता का सर्वथा अभाव था । अतः ऐसी परिस्थिति में सल्तनत का बार-बार विघटन स्वाभाविक ही था ।

(४) प्रजा के सहयोग का अभाव—पठान साम्राज्य के ह्रास और नाश के कारण उसकी अन्तरात्मा में ही निहित थे । जिस राज्य का मूल आधार प्रजा की अनुमति और सहयोग पर आश्रित न हो, वह स्थायी नहीं रह सकता । एक विद्वान ने कहा है कि "हम भाले की नोक से और सब कुछ कर सकते हैं, परन्तु उस पर बैठ नहीं सकते । सैन्य बल से किसी देश या शक्ति को जीता जा सकता है, परन्तु विजय प्राप्त करना एक बात है और उस पर एक

स्थायी सुदृढ़ राज्य की स्थापना करना बिलकुल दूसरी बात है। दिल्ली के पठान सुलतानों ने सुव्यवस्थित और सुदृढ़ राज्य की स्थापना का यह मौलिक सिद्धान्त समझा ही नहीं कि जिस देश या जाति पर राज्य करना हो, राजा को उसी का एक अंग होकर रहना चाहिये और उसी के अनुसार काम करना चाहिये। वे सदैव इसके विपरीत चले। अतः भारतीय जनता को वे विदेशी और विधर्मी दोनों ही रूप में दीख पड़ते थे।" इस परिस्थिति में हिन्दू राजा और जनता अवसर पाते ही सल्तनत की जड़ उखाड़ने को उद्यत रहते थे। सैनिक शक्ति के शिथिल होते ही और सुलतानों की कमजोरी को देखते ही वे साम्राज्य के विघटन का उपक्रम करने लगते थे। दिल्ली सल्तनत की यह एक मौलिक कमजोरी थी।

(५) तुर्क और विदेशी अमीरों की चालें—इस युग में सल्तनत के संचालन का सूत्र विदेशी अमीरों और सरदारों के हाथ में अधिकतर रहता था। दिल्ली के प्रायः सभी सुलतान अपने अमीरों और सरदारों को अत्यधिक शक्ति देते थे। बलबन ही केवल इसका एक मात्र अपवाद था। ये अमीर अपने को विजेता समझते थे और भारतीयों के प्रति पराजितों-सा बर्ताव करते थे। इस अमीर-वर्ग से साम्राज्य को दो प्रकार के नुकसान हुये। कुछ दिनों तक ये सल्तनत के भक्त रहे। पर बाद को वे स्वार्थी और पदलोलुप बन गए और सुलतान की शक्ति को घटा कर स्वयं अपना प्रभुत्व स्थापित करने में लगे रहे। उनकी यह मनोवृत्ति साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुए। जब नींव में ही दोष आ गया तो इमारत का खण्डित या ध्वस्त हो जाना स्वाभाविक ही था। इसके साथ ही वे अमीर भारतीय जनता के साथ कभी बराबरी का बर्ताव नहीं करते थे। उनसे घृणा और अत्याचार का भाव रखना अमीरों के लिए साधारण बात थी। इससे साम्राज्य के प्रति जनता के हृदय में रोष घृणा और विद्रोह के भाव पैदा हो जाते थे।

(६) उत्तराधिकार के दोष पूर्ण नियम—पठान सुलतानों में उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों में एकरूपता का सर्वथा अभाव था। गुलाम वंश के शासन काल में सुलतान अपने प्रिय और योग्य गुलामों को अपना उत्तराधिकारी बनाते थे। अन्य वंशों के शासन काल में सुलतान के वंशज आपस में गद्दी के लिये लड़ पड़ते थे और अपना-अपना दल बना अपनी अपनी

घात लगाये रहते थे। अमीर सरदार दुर्बल राजकुमारों को सुलतान बना अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। ऐसी स्थिति में हर सुलतान के वृद्धावस्था और मरने पर शक्ति के लिए दूषित गृह-युद्ध शुरू हो जाता था। इन वंशों के पतन के पीछे ऐसे षडयंत्रों का गहरा हाथ था।

(७) जागीरदारी और गुलामी की प्रथा—तुगलक वंश के समय में राज्य के कर्मचारियों और अपने दल के लोगों को सुलतानों ने जागीर देने शुरू कर दिये। उससे अमीर और कर्मचारी प्रभावशील हो जाते थे और मनमानी करने के लिए उन्हें प्रोत्साहन मिलता था। राज्य की शक्ति में कमजोरी आते ही वे स्वतंत्र होने का षडयंत्र करते थे। इसी प्रकार अधिक संख्या में गुलामों को प्रश्रय देना भी राज्य के लिए बुरा सिद्ध हुआ। वे राज-दरबार में अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए प्रत्येक विद्रोह में सक्रिय भाग लेते थे। फीरोज के समय में ये दोनों प्रथाएँ सीमा को अतिक्रमण कर गयीं थीं और तुगलक वंश के ह्रास का एक मुख्य कारण बन गयीं।

(८) मुहम्मद तुगलक की नीति—मुहम्मद तुगलक की काल्पनिक उड़ान बहुत ऊँची थी। उसने उन योजनाओं की अव्यावहारिकता की ओर ध्यान दिये बिना ही उनके अनुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इससे उसका कोष रिक्त हो गया, नये-नये कर लगाने पड़े जिससे प्रजा अप्रसन्न हो गयी। इसके अतिरिक्त लोगों का विश्वास सुलतान से उठ गया और जनता को आशातीत कष्ट हुआ। इस कष्ट और असन्तोष के कारण सुलतान को बहुत निराशा हुई और साथ ही सल्तनत के प्रति लोगों की श्रद्धा और सहानुभूति कम हो गयी।

(९) धार्मिक असहिष्णुता—अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के अतिरिक्त और कोई ऐसा सुलतान नहीं था जिसने थोड़ी बहुत धार्मिक पक्षपात की नीति न अपनायी हो। फीरोज के समय में धार्मिक असहिष्णुता की नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। हिन्दू मन्दिरों को तोड़ना, उन पर जजिया लगाना और उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश करना तथा राज्य के पदों से हिन्दुओं को सर्वथा पृथक रखना दिल्ली सुलतानों की ओछी और संकुचित मनोवृत्ति का परिचायक है। इस नीति से हिन्दुओं को बहु

मार्मिक ठेस पहुँचती थी और वे मन ही मन अपनी विवशता को कोसा करते थे। किसी भी शासन के लिए ऐसी नीति अशोभनीय है और साम्राज्य की जड़ को हिलाने के लिए ऐसे संकुचित मनोवृत्ति के काम साधारण जनता को भी उत्तेजित करने में समर्थ होते हैं। इस गलत नीति के फल-स्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई उसकी प्रचण्ड ज्वाला में अन्ततोगत्वा साम्राज्य की इमारत जल गयी।

(१०) मुगलों के आक्रमण—दिल्ली की सल्तनत में शैशवावस्था से ही दीमक लगने लगे। अल्तमश के शासन-काल में ही सन् १२२१ ई० में मुगल भारत पर आक्रमण करने लगे। समय समय पर पश्चिमोत्तर प्रान्त की ओर से दिल्ली सल्तनत पर बराबर चोटें पहुँचती रहीं और वे आक्रमणकारी दिल्ली के सुलतानों के लिए आतंक और चिन्ता के कारण बने रहे। मुहम्मद तुगलक को उन्हें घूस देकर अपना पीछा छुड़ाना पड़ा। इससे भी दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। अन्त में तैमूर ने तो उसे जीर्ण शीर्ण बना डाला और बाबर ने सन् १५२६ ई० में पठान सल्तनत को सदा के लिए समाप्त कर दिया। इन आक्रमणों को रोकने के लिए सुलतानों को अपनी सर्वश्रेष्ठ सेना पंजाब और सीमान्त में रखनी पड़ती थी और देश के अन्य भाग अरक्षित हो जाते थे। साथ ही उस सेना पर पर्याप्त व्यय करना पड़ता था और अनेक किले आदि के बनवाने में राजकोष का अधिकांश भाग खर्च हो जाता था। इसीलिए सुलतानों को नित नये-नये कर लगाने पड़ते थे जिससे प्रजा में असन्तोष फैलता था। ऐसे आक्रमणों से सल्तनत की शक्ति और मर्यादा भी क्षीण होती थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दिल्ली सल्तनत के उत्थान-पतन में समय-समय पर अनेक कारणों ने योग दिया। साम्राज्य के सङ्गठन के दोष, सैनिक शासन की प्रथा, धार्मिक असहिष्णुता की नीति, जागीर और गुलामी की प्रथा, अव्यावहारिक नीति का प्रयोग और मुगलों के बार बार आक्रमण से पठान सल्तनत में शीघ्रता से राजवंश बदलते रहे और किसी एक का भी पैर स्थायी रूप से जम नहीं सका।

(ख) प्रान्तीय राज्यों का अभ्युदय

तुगलक साम्राज्य के पतन के बाद दिल्ली सल्तनत के सब प्रान्त स्वतंत्र हो गये। उनमें से कुछ राज्य बहुत सम्पन्न और शक्तिशाली थे। इन राज्यों की स्थापना से देश में केन्द्रीय सत्ता तिरोहित हो गयी, पर उनमें अशान्ति और कुव्यवस्था नहीं पैदा हुई। फिर भी प्रान्तीयता जनित संकीर्णता का प्रसार अवश्य हुआ और देश में विभिन्नता और अनेक रूपता को प्रोत्साहन मिला। इस समय जो प्रान्तीय स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए, उनमें बङ्गाल, जौनपुर, मालवा, मेवाड़ के राज्य तथा बहमनी और विजय नगर के राज्य अधिक प्रसिद्ध थे।

बङ्गाल—बङ्गाल सब से पहले सन् ११६८ ई० में मुसलमानों के अधिकार में आया। उन दिनों लक्ष्मण सेन वहाँ का राजा था। मुहम्मद गोरी के एक सेनापति बख्तियार ने बङ्गाल पर आक्रमण किया और बड़ी आसानी से बङ्गाल को जीत लिया। तभी से बङ्गाल मुसलमानों के अधीन रहा। बङ्गाल से दिल्ली बहुत दूर पड़ता है, अतः वहाँ के प्रान्तीय शासक प्रायः सदा अपने को स्वतंत्र समझते थे। दिल्ली की सत्ता नाम मात्र की होती थी। बलबन ने बङ्गाल के शासक तुगरिल खाँ को कठोर दण्ड देकर बङ्गाल में अपने एक लड़के को गवर्नर बनाया। पुनः मुहम्मद तुगलक के समय में बङ्गाल स्वतंत्र हो गया। फीरोज युद्ध से दूर रहता था और उसकी रुचि मारकाट करने की नहीं थी, अतः बङ्गाल को वह अपने अधिकार में नहीं कर सका। सन् १४६३ ई० में बङ्गाल में हुसैनशाह राज्य करता था। उसने हुसैनी वंश की स्थापना की। बाबर के समय तक बङ्गाल दिल्ली के अधिकार से बाहर रहा। शेरशाह ने हुसैनी वंश के राजाओं को परास्त किया और वहाँ अफगान शासन स्थापित किया। सन् १५७६ ई० में अकबर ने बंगाल को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

बंगाल के शासक कला और साहित्य के बड़े प्रेमी थे। बंगाल की राजधानी गौड़ को हुसैनी बादशाहों ने अनेक बड़ी मसजिदों तथा अन्य इमारतों से विभूषित किया। वहाँ की सुनहरी मसजिद और कदम मसजिद अपनी बनावट के लिए प्रसिद्ध हैं। पण्डुवा की अदीना मसजिद सन् १३६८ में बनी थी।

लगभग ४०० गुम्बजों से सुसज्जित यह मसजिद बंगाल की सर्वश्रेष्ठ इमारत समझी जाती है।

बंगाल के हुसेनी शासकों ने हिन्दुओं के साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया। उन्होंने हिन्दू मुसलमान में भेद भाव नहीं किया। उन्होंने बंगला को राजभाषा बनाया और उसकी उन्नति के लिए प्रोत्साहन दिया। उन्हीं की प्रेरणा से भागवत और महाभारत का बंगला में अनुवाद हुआ। मैथली में प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने भी हुसेनी बादशाह नुसरत शाह की प्रशंसा में कुछ पद लिखे हैं। इन सांस्कृतिक कार्यों तथा धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण कुछ इतिहासकारों ने हुसैनशाह की तुलना अकबर से की है। उसने भी 'दीन इलाही' की तरह 'सत्यपीर' नामक एक नया धर्म चलाया था। उदार नीति के कारण बहुत से हिन्दुओं और मुसलमानों ने इस नये धर्म का स्वागत किया था। इन्हीं कारणों से बंगाल के इतिहास में इस वंश का शासन-काल महत्वपूर्ण समझा जाता है।

जौनपुर—दिल्ली और गौड़ के बीच जौनपुर एक प्रमुख राज्य था। उसकी स्थापना सन् १३९४ ई० में फीरोज के पुत्र जूना के नाम पर हुई थी। उस समय ख्वाजा जहाँ वहाँ का गवर्नर था। दिल्ली की शक्ति कमजोर होने पर जौनपुर एक स्वतंत्र राज्य हो गया। इस राज्य का सबसे प्रधान शासक इब्राहीमशाह शर्की हुआ। वह सन् १४०२ई० में गद्दी पर बैठा। उसने लगभग ४० वर्ष तक शासन किया। उसकी सैनिक शक्ति भी अच्छी थी। वह विद्या-प्रेमी और योग्य व्यक्ति था। उसका पुत्र महमूद शाह भी पिता की तरह ही वीर और विद्या-प्रेमी शासक हुआ। बहलोल लोदी के समय तक जौनपुर स्वतंत्र रहा पर १४८६ ई० में बहलोल लोदी ने जौनपुर को जीतकर पुनः दिल्ली सल्तनत में मिला लिया। जौनपुर के ये शासक शर्की वंश के शासक के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है।

शर्की राजाओं का शासन-काल विद्या और कला की उन्नति के लिए बहुत प्रसिद्ध है। तैमूर के आक्रमण के समय अनेक विद्वानो और कलाविदों दिल्ली से भाग कर जौनपुर में आश्रय लिया था। जौनपुर उन दिनों विद्या और कला का केन्द्र बन गया और 'शीराजे हिन्द' के नाम से विख्यात हुआ।

जौनपुर में उन दिनों बड़ी बड़ी मसजिदें बनवायी गयीं। उस समय की मसजिदों में अटाला मसजिद, लालदर्वाजा और जाम मसजिद अब भी खड़ी हैं। वे अपने सौंदर्य और वास्तुकला की नवीनता के लिए प्रसिद्ध हैं। उस समय के राजमहलों को लोदी सुलतानों ने नष्ट कर दिया और आज केवल उनके भग्नावशेष ही रह गये हैं। वे महल और मसजिद अपने मेहराबों की सुन्दरता और निर्माण की नवीनता के लिए अत्यन्त आकर्षक थे। भारत के पूर्व मध्यकालीन वास्तुकला के इतिहास में जौनपुर का स्थान प्रमुख है।

मालवा—मध्य भारत में मालवा का राज्य प्रसिद्ध हो गया है। सन् १३१० ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने राजपूतों को पराजित कर मालवा को दिल्ली के अधीन कर लिया। फीरोज तुगलक ने धार (मालवा) को एक जागीर के रूप में अपने एक विश्वासपात्र व्यक्ति दिलावर खाँ गोरी को दिया। वह अपने को मुहम्मद गोरी का वंशज कहता था। तैमूर के आक्रमण के बाद सन् १३९८ ई० में दिलावर खाँ भी अन्य प्रान्तीय शासकों की तरह स्वतंत्र हो गया। सन् १४०५ में दिलावर खाँ का पुत्र हुसंग गोरी मालवा का सुलतान हुआ। उसने उज्जैन के स्थान पर माँडू को अपनी राजधानी बनायी। उसके बाद इस वंश की शक्ति कमजोर हो गयी। मालवा के मुसलमान राजा को सन् १४४० ई० में राजपूतों ने राणा कुम्भ के नेतृत्व में परास्त किया। कुछ दिनों के बाद गुजरात के शासक बहादुर शाह ने मालवा को अपने राज्य में मिला लिया। सन् १५३० ई० में हूमायूँ ने बहादुर शाह को परास्त कर उससे मालवा छीन लिया। पर पुनः मालवा स्वतंत्र हो गया और अकबर ने सन् १५६१ ई० में अन्तिम रूप से मालवा को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

मालवा के शाशकों ने उज्जैन, माण्डू, तथा अन्य स्थानों में अनेक नयी इमारतों का निर्माण कराया। उनमें हुसेनशाह का मकबरा, महमूद शाह की मसजिद, हिंडोला-महल और जहाज-महल अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन इमारतों में लाल पत्थर का उपयोग किया गया है और सजावट के लिए संगमरमर का भी प्रयोग हुआ है।

गुजरात—गुजरात भारत का एक प्रसिद्ध अंग रहा है। यह बहुत उपजाऊ था, समुद्री किनारे पर स्थित था; अतः प्राचीन काल से ही यह प्रदेश

समृद्धि के लिए प्रसिद्ध था। सन् १०२४ ई० में यहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर सोमनाथ को महमूद ने लूटा था। अलाउद्दीन गुजरात को स्थायी रूप से अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बनाने में सफल हुआ। सन् १२९७ ई० में गुजरात को जीत कर उसने वहाँ एक गवर्नर नियुक्त किया। दिल्ली सुलतानों की शक्ति क्षीण होने पर सन् १४०१ ई० गुजरात गवर्नर जफर खाँ की अधीनता में दिल्ली से पृथक हो गया। उसी के शासन काल में वर्तमान अहमदाबाद नगर की नींव पड़ी। वह बहुत महत्वाकांक्षी शासक था। उसने जूनागढ़, मराठा आदि प्रदेशों को जीता और अपना प्रभुत्व बढ़ाया। सन् १४४१ ई० में उसकी मृत्यु हुई। हिन्दुओं के साथ उसका व्यवहार अच्छा नहीं था। उसके शासन-काल में अनेक हिन्दू मन्दिर तोड़े गये।

गुजरात का दूसरा प्रसिद्ध सुलतान महमूद बीगड़ था। उसने १४५९ से १५११ ई० तक शासन किया। उसका व्यक्तित्व असाधारण था। कहा जाता है कि वह प्रति दिन २० सेर भोजन करता था। उसकी दाढ़ी और मूँछें असाधारण रूप से लम्बी थीं। उसने सूरत को जीत लिया। उसने कच्छ को भी अपने राज्य में मिला लिया। उसने समुद्री डाकुओं को हराकर उन्हें कठोर दण्ड दिया। सन् १५०९ ई० में उस समय की प्रसिद्ध समुद्री जाति पुर्तगालियों से भी उसकी मुठभेड़ हुई। पर इस युद्ध में सुलतान हार गया। हिन्दुओं के साथ उसका भी व्यवहार अच्छा नहीं था।

स्वतंत्र गुजरात का अन्तिम प्रसिद्ध शासक बहादुर शाह (सन् १५२६—३७ ई०) था। उसने मालवा के राज्य को जीतकर गुजरात में मिला। हूमायूँ से उसका युद्ध हुआ, पर वह भाग निकला और हुमायूँ को भी गुजरात छोड़ कर दिल्ली लौट आना पड़ा। बहादुरशाह को सन् १५३७ ई० में पुर्तगालियों ने धोखे से मार डाला। उसकी मृत्यु के बाद गुजरात में अशांति फैल गयी। सन् १५७३ ई० में अकबर ने गुजरात पर चढ़ाई की और उसे अपने राज्य में मिला लिया।

मेवाड़—राजस्थान में मेवाड़ वीरता और संघर्ष के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध राज्य रहा है। अलाउद्दीन ने वहाँ के राणा को परास्त कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। पर वीर हम्मीर ने पुनः अपने को स्वतन्त्र कर लिया। राणा कुम्भ (सन् १४३३—६८ ई०) के समय में मेवाड़ की शक्ति

बहुत बढ़ गयी। उसने मालवा के खिलजी सुलतान महमूद को परास्त कर ६ महीने तक अपने यहाँ कैद रक्खा। राणा कुम्भ स्वयं एक विद्वान व्यक्ति थे और उन्होंने विद्वानों को अपने यहाँ प्रश्रय दिया। उसे संगीत का भी अच्छा शौक था। उसने मेवाड़ में अनेक सुन्दर एवं भव्य इमारतें, तालाब और मंदिर बनवाये। चित्तौड़ का प्रसिद्ध "जय स्तम्भ" उसकी विमल कीर्ति का एक जीता-जागता नमूना है। मालवा के सुलतान पर विजय प्राप्त करने की खुशी और स्मृति में यह स्तम्भ बनवाया गया था। कृष्ण की प्रसिद्ध भक्त मीरा आप की पत्नी थीं।

राणा कुम्भ के उत्तराधिकारियों में संग्राम सिंह (राना साँगा) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने सन् ई० १५०६ से १५२७ तक शासन किया। अपने साहस, युद्ध-कौशल और पराक्रम के लिए राणा साँग राजस्थान के इतिहास में एक विशिष्ट व्यक्ति हो गये हैं। उसने दिल्ली, गुजरात और मालवा के सुलतानों को कई बार युद्ध में परास्त किया। कहा जाता है कि उसके जीवन का अधिक भाग युद्ध में ही व्यतीत हुआ और उसके शरीर पर ८० घाव के चिन्ह थे। उसकी एक आँख भी युद्ध में जाती रही थी। उसने राजपूतों को संगठित कर मुगल बादशाह के विरुद्ध एक संघ बनाया था। सीकरी के पास खनवा के युद्ध में राणा साँगा और बाबर में भीषण संग्राम हुआ जिसमें राणा की पराजय हुई। उसी के कुछ दिनों बाद राणा साँगा की मृत्यु हुई। मेवाड़ के सिसोदिया वंश के इतिहास में राना साँगा का नाम सदा अमर रहेगा। उसी वंश के अन्य प्रसिद्ध शासक महाराणा प्रताप ने आजन्म अकबर के साथ युद्ध कर स्वतन्त्रता के अमर पुजारी की तरह भारत के इतिहास में अपना नाम उज्वल और प्रातः स्मरणीय बना लिया है।

बहमनी राज्य—उत्तरी भारत की तरह दक्षिण में भी तुगलक-शासन-सूत्र ढीला होते ही नये राज्य स्थापित होने लगे। दक्षिण के अमीरों ने संगठित हो दौलताबाद में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और सन् १३४७ में हसन सुलतान बना। वह अपने को फारस के बहमन-बिन-इसफन्दियार का वंशज कहता था और उसी के नाम पर उसने अपने राज्य का नाम 'बहमनी राज्य' रक्खा। हसन ने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनायी। धीरे धीरे उसने अपने राज्य की सीमा को दक्षिण में कृष्णा नदी तक फैला लिया। इस

वंश में फीरोज (सन् १३९७—१४२२ ई०) नाम का एक प्रसिद्ध सुलतान हुआ जिसने अपने पड़ोसी राज्य विजय नगर के राजाओं से युद्ध किया। यह युद्ध फीरोज के उत्तराधिकारियों ने भी जारी रक्खा जिसमें हजारों हिन्दू तलवार के घाट उतारे गये। फीरोज के उत्तराधिकारी ने गुलबर्गा को छोड़ कर बीदर को अपनी राजधानी बनायी और उसे अनेक इमारतों से सजाया। इस वंश में मुहम्मद शाह तृतीय (१४६३—८२ ई०) का शासनकाल उसके योग्य और शासन-कुशल मन्त्री महमूद गवाँ के कारण प्रसिद्ध हो गया। उसका मन्त्री महमूद गवाँ एक योग्य, सच्चरित्र और कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने शासन में अनेक प्रकार के सुधार किये। उन्हीं सुधारों के कारण सल्तनत की मर्यादा बढ़ गयी। अन्य अमीर उस मन्त्री से ईर्ष्या करने लगे और धीरे धीरे सुलतान का कान भर उसे एक कल्पित अपराध में प्राणदण्ड की सजा दिलवा दिये। उस कुशल और सच्चे राजभक्त की मृत्यु के बाद बहमनी वंश के बुरे दिन आ गये और उसका पतन प्रारम्भ हो गया। महमूद का जीवन सादा और आडम्बरहीन था। वह राज्य की भलाई में लीन रहता था। उसने बीदर में एक बड़े विद्यालय और पुस्तकालय की स्थापना करायी थी। उसकी मृत्यु के बाद बहमनी वंश का राज्य पाँच नये राज्यों में विभाजित हो गया। वे नये राज्य इस प्रकार थे—

(१) **बरार** का इमादशाही राज्य जिसका अन्त सन् १५७४ ई० में हुआ और जो उस समय अहमदनगर में मिला लिया गया। इसकी स्थापना इमादुल्मुल्क ने की थी।

(२) **अहमद नगर** का निजामशाही राज्य जिसकी स्थापना निजामशाह ने की और जिसे अकबर ने मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

(३) **बीजापुर** का आदिलशाही राज्य जिसे औरंगजेब ने सन् १६८६ ई० में मुगल साम्राज्य में मिला लिया। इसकी स्थापना आदिलशाह ने की थी।

(४) **गोलकुण्डा** का कुतुबशाही राज्य था जिसकी स्थापना कुतुबशाह ने की थी और जिसे औरंगजेब ने १६८७ ई० में जीत लिया।

(५) **बीदार** में कासिम बरीद द्वारा स्थापित बीदरशाही राज्य को बीजापुर में मिला लिया गया।

तुगलक वंश के पतन के बाद स्थापित होने वाले राज्यों में बहमनी वंश का राज्य बहुत प्रसिद्ध और उल्लेखनीय हो गया। इस वंश के कुछ सुलतान युद्ध-कुशल थे और उनका युद्ध विजयनगर के पड़ोसी राज्य के साथ बराबर चलता रहा। इस वंश के अधिकतर सुलतान असहिष्णु और धर्मान्ध थे। पर महमूद गवाँ ने शासन-सुधार के अनेक कार्य किये। उसके समय में शिक्षा का अच्छा प्रचार हुआ। इस वंश के राजाओं ने अनेक किले बनवाये जिनमें ग्वालीगढ़ और नारनल्ला के किले अब तक गुलबर्गा और बीदर में मौजूद हैं जो बहमनी वंश के राजाओं की वास्तुकला का स्मरण कराते हैं।

विजय नगर का राज्य

दक्षिण भारत में हिन्दुओं ने भी दिल्ली सल्तनत की कमजोरी से लाभ उठाने का प्रयास किया। सन् १३३६ ई० हरिहर तथा बुक्का नाम के दो भाइयों ने विजय नगर में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का संकल्प किया। विजयनगर तुंगभद्रा नदी के किनारे एक नया नगर बसाया गया था जिसकी नीव इन्हीं दोनों भाइयों ने डाली थी। हरिहर इस वंश का प्रथम शासक था जिसने सन् १३५३ ई० तक शासन किया। हरिहर के प्रयास से विजयनगर राज्य की सीमा विस्तृत हो गयी और उसमें कोंकण का कुछ भाग, मालाबार का समुद्री तट तथा कावेरी नदी तक के प्रदेश शामिल हो गये। होयसल वंश के राजा की मृत्यु सन् १३४६ ई० में हो गयी और उसकी समस्त भूमि पर विजयनगर का अधिकार हो गया। इस प्रकार विजयनगर के विस्तार हो जाने से उसकी उत्तरी सीमा बहमनी राज्य से जा मिली और इन दोनों राज्यों में सदा प्रतिद्वन्दिता तथा संघर्ष चलते रहे।

विजयनगर में अनेक प्रतापी और योग्य शासक हुए। हरिहर के बाद उसका भाई बुक्का गद्दी पर बैठा। उसके बाद दूसरा प्रभावशाली राजा देवराय सन् १४१६ में गद्दी पर बैठा। वह इस वंश का छठा राजा था। उसके शासन-काल में फारस का एक यात्री अब्दुल रज्जाक विजयनगर आया था उसने देवराय से दरबार तथा उसके राज्य का विस्तृत वर्णन लिखा। वह सन् १४४२ई० में विजयनगर आया। राजदरबार के विषय में उसने लिखा है कि

"राजा चालीस स्तम्भों वाले एक मण्डप में साटन का लम्बा वस्त्र पहनकर बैठता था और उसके गले में बहुमूल्य मोतियों की माला रहती थी। उसके मूल्य का अनुमान लगाना आसान नहीं है।...सम्पूर्ण विश्व में विजय नगर जैसा शहर न देखा है और न सुना है। उसके चारों ओर सात दीवारें हैं। बाहर की दीवार के चारों ओर लगभग ५० गज की चौड़ाई और लगभग ३½ फुट की की ऊँचाई में पत्थर लगे हैं जिससे होकर कोई नगर में नहीं घुस सकता। नगर के भीतर भिन्न भिन्न चीजों के बाजार पृथक पृथक स्थित हैं। हीरे-जवाहर आदि बहुमूल्य चीजें खुले बाजार में स्वतंत्रता पूर्वक बिकती हैं। देश खेती योग्य और उपजाऊ है। साम्राज्य की सीमा के भीतर लगभग ३०० बन्दरगाह हैं। सेना की संख्या ११ लाख है। सारे भारत में विजयनगर के राय के समान समृद्धिशाली और ऐश्वर्यवान् राजा कोई दूसरा नहीं है।"

एक दूसरा यात्री निकोलो कोण्टी भी इस समय विजयनगर आया था। वह इटली का निवासी था। उसने लिखा है कि नगर का घेरा लगभग ६ मील है। यहाँ का राजा भारत में सब से शक्तिशाली है। उसके वर्णन के अनुसार विजयनगर में बहु विवाह की प्रथा थी और पति की मृत्यु के बाद स्त्रियाँ सती होती थीं। कोण्टी ने तत्कालीन सामाजिक दशा का भी वर्णन किया और लिखा है कि उस समय सामूहिक रूप से लोग व्रत तथा त्योहार मनाते थे।

विजय नगर का सबसे योग्य राजा कृष्णदेवराय (सन् १५०९-२९ ई०) हुआ। वह बड़ा वीर, साहसी और न्यायी शासक था। उसने उड़ीसा, बीजापुर आदि पड़ोसी राज्यों को लूटा और नतमस्तक किया। उसने पुर्तगाली गवर्नर अल्बुकर्क से मैत्री की जिसने विजयनगर में अपना एक दूत भेजा।

विजय नगर और बहमनी राज्य में निरन्तर संघर्ष चला करता था। विजय नगर के राजाओं ने कई बार बहमनी राजाओं को परास्त किया। अन्त में बहमनी वंश के चार राज्यों ने विजय नगर के विरुद्ध एक शक्तिशाली संघ बनाया। उसमें बरार नहीं शामिल हुआ, पर अन्य चार राज्यों ने संगठित हो सन् १५६५ ई० में विजयनगर के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उस समय विजयनगर में रामराजा शासक था। दोनों पक्ष की सेनायें तालीकोट के पास भिड़ गयीं। यह स्थान कृष्णा नदी के किनारे पर स्थित है। दोनों दलों

में भयानक युद्ध हुआ। दोनों ओर से असंख्य लोग मारे गये और घायल हुए। अन्त में तोपखाने की सहायता से विजय नगर की सेना को पराजित होना पड़ा, रामराजा कैदी बनाया गया और निजाम शाह ने उसकी हत्या कर दी। कहा जाता है कि एक लाख हिन्दू तलवार के घाट उतार दिये गये। मुसलमानों ने अपार सम्पत्ति लूटी। मन्दिर और राजप्रसाद नष्ट कर दिये गये।

तालीकोट के युद्ध के बाद विजयनगर का ह्रास हो गया। धीरे-धीरे राज्य के विभिन्न भागों पर पड़ोसी शासकों ने अधिकार कर लिया। उत्तर का अधिक भाग मुसलमानों के हाथ लगा और दक्षिण में मदुरा और तंजोर में नये शासक खड़े हो गये। इस प्रकार विजयनगर राज्य का अन्त हो गया। तालीकोट के युद्ध में विजयी होकर बहमनी राजवंशों ने भी अधिक और स्थायी लाभ नहीं उठाया। इस युद्ध के बाद विजयनगर का ह्रास तो अवश्य हो गया पर बहमनी राजवंशों में भी आपस में कलह और द्वन्द्व शुरू हो गया। जब तक विजयनगर शक्तिशाली राज्य रहा, तब तक मुसलमान शासक उनसे आतंकित होकर आपस में संगठित रहते थे और सदा एकता के सूत्र में बंधे रहते थे। उनमें परस्पर सहानुभूति रहती थी। पर विजयनगर का नाश होते ही वे सुस्त पड़ गये और आपस में लड़ने लगे। अतः उनकी निर्बलता का लाभ उठाकर मुगल शासकों ने उन्हें आसानी से अपने अधीन कर लिया।

विजयनगर राज्य की शासन-व्यवस्था

केन्द्रीय शासन—दक्षिण के राज्यों में विजयनगर अपने युग का एक प्रमुख राज्य था। शासन की प्रणाली राजतंत्र थी। राज्य का प्रधान सम्राट होता था जो शासन, सेना और न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह सिद्धान्त में सब अधिकारों का मूल स्रोत था। पर वे निरंकुश और स्वार्थी शासक नहीं थे। इस वंश के प्रतापी सम्राट कृष्ण देवराय ने स्वयं लिखा है कि 'राजा को सदा धर्म का ख्याल रखते हुए शासन करना चाहिए। राजा को राजनीति में योग्य और प्रवीण व्यक्तियों के परामर्श से शासन करना चाहिए, राज्य के अन्तर्गत बहुमूल्य धातुएँ उत्पन्न करने वाली खानों की खोज करनी चाहिए, प्रजा से उसके सामर्थ्य के अनुसार कर लेना चाहिए, बलपूर्वक शत्रुओं का दमन कर उनके विरोधी कार्यों को रोकना चाहिए, उसे नियमित

आचरण वाला और अपनी समस्त प्रजा का रक्षक होना चाहिए, उसे वर्ण संकरता रोकनी चाहिए, ब्राह्मणों की श्री-वृद्धि करनी चाहिए, किलों की शक्ति बढ़ानी चाहिए, अहितकर बातों का विकास रोकना चाहिए और अपने नगरों की शुद्धता के प्रति सदा सतर्क रहना चाहिए।' इन पंक्तियों से स्पष्ट मालूम होता है कि विजयनगर के राजाओं को अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व का पूर्ण ज्ञान था और वे अपनी प्रजा के हित के प्रति जागरुक थे।

सम्राट को सहायता देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होती थी। प्रायः उसमें मंत्रियों की संख्या आठ रहती थी। मंत्रि-गण सम्राट द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे। उनकी राय मानना या न मानना सम्राट की इच्छा पर निर्भर था। मंत्रियों में ब्राह्मण वर्ग का प्राधान्य होता था और केवल उच्च वर्ण के लोग ही इस परिषद में नियुक्त किये जाते थे। शासन और न्याय के मुख्य काम दरबार में ही होते थे और राजा अपने उच्च अधिकारियों की सहायता से इस प्रकार के कार्य सम्पादित करता था। राजा बड़े सज-धजकर दरबार करता था जिसका प्रशंसात्मक विवरण विदेशी यात्रियों ने सविस्तार दिया है। राज्य के सभी उच्च अधिकारी राजा द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण राज्य को लगभग २०० प्रान्तों में विभाजित किया गया था। प्रत्येक प्रान्त एक प्रधान प्रान्तपति के अधीन प्रशासित होता था उनकी नियुक्ति राजा स्वयं करता था। वे प्रान्तपति प्रायः राजवंश के होते थे और शेष प्रान्तों में सम्पन्न अमीरों को इन पदों पर नियुक्त किया जाता था। प्रान्त की आय का आधा भाग केन्द्रीय सरकार को देना पड़ता था। प्रत्येक प्रान्त को कई डिविजन और पुनः उसे गाँवों में विभाजित किया जाता था। गाँवों का प्रबंध पंचायतों के अधिकार में था। गाँव के प्रधान को अयंगार कहा जाता था और उसे जागीर या ऊपज का कुछ भाग वेतन के रूप में मिलता था। गाँव की सुव्यवस्था के लिए ये ग्राम-प्रमुख उत्तरदायी समझे जाते थे।

सेना-विभाग—बहमनी राज्य से निरन्तर संघर्ष की सम्भावना में विजय नगर के राजाओं को बड़ी सेना रखनी पड़ती थी। राजा स्वयं सेना की देखभाल और संचालन करता था। कृष्ण देवराय की सेना में सोलहवीं सदी

में ३६०० घोड़े, ६५० हाथी और ७ लाख पैदल सिपाही थे। सेना का तोपखाना विभाग कुछ निर्बल था। सेना परम्परागत चार भागों में विभाजित थी। हाथी, घोड़ा, पैदल और तोपखाना ये चार विभाग सेना के थे। रथ की प्रथा दक्षिण भारत की पहाड़ियों के लिए उपयोगी नहीं हो सकती थी। कुछ सैनिक प्रान्त-पतियों के पास भी होते थे। वे युद्ध के समय सम्राट की सहायता करते थे। सैनिक प्रबन्ध की यह दोहरी व्यवस्था दोषपूर्ण समझी जाती है और विजय नगर के राजाओं ने इस दोष को दूर नहीं किया। इसीलिए सैनिकों की संख्या के अनुपात में उनकी सैनिक शक्ति मजबूत नहीं हो सकी।

वित्त-विभाग—राज्य की आय का प्रधान साधन भूमि-कर था। सब भूमि राजा की समझी जाती थी। वह सब जमीन भूमि-पतियों में बाँट देता था जो उपज का १/६ भाग किसानों से वसूल करते थे। अपनी वसूली का १/२ उसे राज्य को कर के रूप में देना पड़ता था। चरागाहों पर भी कर लिया जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विजय नगर में कर की दर बहुत ऊँची थी। राजकर अन्न और नकद दोनों रूप में लिये जाते थे।

न्याय-प्रशासन—न्याय का सर्वोच्च अधिकारी सम्राट स्वयं होता था। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था। न्याय हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार होता था। फौजदारी के कानून कठोर थे। चोरी, व्यभिचार और देश-द्रोह के लिए मृत्यु-दण्ड या अंगभंग का दण्ड दिया जाता था। ब्राह्मणों को प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था।

धार्मिक तथा सामाजिक दशा—विजयनगर की स्थापना हिन्दू धर्म के रक्षक के रूप में हुई थी। अतः प्रजा और राजा दोनों ही धर्मरत थे। अधिकांश लोग वैष्णव धर्मावलम्बी थे। पर राजाओं में धार्मिक स्वार्थ और असहिष्णुता का प्रवेश नहीं हुआ था। मुसलमानों के प्रति भी वे उदार थे। राज्य की ओर से सब धर्म मानने वाली प्रजा के लिए समान व्यवहार होता था। किसी को किसी प्रकार की अशक्तता के अन्दर नहीं रक्खा जाता था।

समाज में वर्णाश्रम धर्म का जोर था। ब्राह्मणों का आदर होता था। उन्हें प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था। बलि और सती की प्रथा

का प्रचार था। आभूषण का प्रचलन अधिक था। प्रायः सोने चाँदी के आभूषण अधिक पहने जाते थे। साधारण जनता की दशा अच्छी थी। लोग सम्पन्न और सुखी थे।

साहित्य और कला— विजयनगर के राजाओं ने हिन्दू संस्कृति और साहित्य की उन्नति में बहुत योग दिया। उनके दरबार में कलाकार और साहित्यिक आश्रय पाते थे। इस युग में संस्कृत और तेलगू दोनों की विशेष उन्नति हुई। इसी समय वेदों पर भाष्य लिखे गये और अनेक दर्शन-ग्रन्थ में प्रणीत हुए। अनेक सम्राट स्वयं विद्वान, लेखक और संगीतज्ञ थे। उस समय विजयनगर अनेक भव्य मन्दिरों तथा भवनों से सुशोभित था। सम्राटों ने अनेक झील, महल, मन्दिर और किले बनवाये। दुर्भाग्य से उनमें से अधिकांश को मुसलमान शासकों ने ध्वस्त कर दिया और अब उनके भग्नावशेष ही दीख पड़ते हैं। वास्तव में पूर्व मध्य कालीन युग के इतिहास में विजयनगर राज्य का स्थान प्रमुख है।

अवनति के कारण—लगभग दो सौ वर्षों तक दक्षिण की राजनीति में विजयनगर प्रमुख एवं सक्रिय भाग लेता रहा। पर तालीकोट के युद्ध के बाद इस साम्राज्य का ह्रास शुरू हो गया। इस राज्य के पतन का सर्व प्रधान कारण बहमनी राज्य के साथ सतत चलने वाला सैनिक संघर्ष था। वास्तव में विजयनगर की सेना उतनी संगठित नहीं थी। इनकी सेना में घुड़-सवारों की कमी थी। उनका तोप खाना भी अपेक्षाकृत असंगठित और कम-जोर था। विजयनगर की दूसरी कमजोरी प्रान्तीय शासकों के अधिकार में सेना रखने की प्रथा भी थी। इससे सैनिकों की स्वामी भक्ति विभाजित हो जाती थी और उनके संगठन तथा रण कौशल में भी दोष पैदा हो जाता था। प्रान्तीय शासक अपनी सेना के कारण मनमानी करने के लिए भी प्रोत्साहित होते थे। विदेशी यात्रियों के वर्णन से मालूम होता है कि विजयनगर के नागरिकों में विलासिता की अधिकता थी, अतः उनमें सैनिक कमजोरी का आ जाना स्वाभाविक ही था। उसी समय राज्य के पश्चिमी तट पर पुर्तगाली सबल होते जा रहे थे और उनकी शक्ति और प्रभुता बढ़ती जा रही थी।

उसी अनुपात में विजयनगर में कमजोरी का आना स्वाभाविक ही था। विजय नगर के कुछ अन्तिम राजाओं ने बहमनी राज्य के आन्तरिक झगड़ों में अनावश्यक हस्तक्षेप किया। इससे बहमनी राज्य संगठित हो गये और उन्होंने बदला लेने का दृढ़ संकल्प किया। फलस्वरूप सन् १५६५ ई० तालीकोट के मैदान में निर्णयकारी युद्ध हुआ और विजयनगर की शक्ति, सम्पत्ति और मर्यादा धूल में मिल गयी। इस युद्ध के बाद विजयनगर का साम्राज्य मिट गया और उसे पुनः उठने का साहस नहीं हुआ।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

दिल्ली सल्तनत

(सन् १२०६-१५२६ ई०)

(क) साम्राज्य-निर्माण

गुलाम वंश—दिल्ली सल्तनत का प्रारम्भ सन् १२०६ ई० से हुआ और उस सल्तनत के विकासक्रम में गुलाम वंश ने सर्व प्रथम दिल्ली में इस नये सल्तनत की नींव डाली। इस वंश का प्रथम सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक था। उसने दिल्ली सल्तनत को अपने मालिक मुहम्मद गोरी से विरासत के रूप में पाया था। इन बातों का संक्षिप्त परिचय पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। मुहम्मद गोरी ने इसी ऐबक की सहायता से उत्तरी भारत के अधिकांश भाग को जीता था। ऐबक के मालिक मुहम्मद गोरी ने पंजाब, और दिल्ली को जीतकर अपने भारतीय राज्य का गवर्नर अपने प्रतिभाशाली गुलाम ऐबक को ही बनाया था। पंजाब का इलाका उस समय महमूद गजनी के वंशजों के आधीन था और उन्हीं से मुहम्मद गोरी ने उसे जीत लिया था। दिल्ली तथा राजस्थान के कुछ भाग पर पृथ्वीराज चौहान शासन करता था। सन् ११९१ ई० में थानेश्वर से १४ मील की दूरी पर तराइन नामक स्थान पर मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज में मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को बुरी तरह परास्त किया और वह घायल होकर रणक्षेत्र से भाग गया। पुनः इस पराजय का बदला लेने के लिए ११९२ ई० में वह उसी स्थान पर चढ़ आया। तराइन के इस द्वितीय युद्ध ने भारतीय इतिहास की धारा को बदल दिया और राजपूत हार गये। पृथ्वीराज कैद कर लिया गया और मार डाला गया। तराइन का यह युद्ध निर्णायक युद्ध था जिसने मुसलमानों की अन्तिम सफलता निश्चित कर दी और भारत के एक विदेशी सत्ता के लिए दरवाजा खोल दिया। वास्तव में इस युद्ध ने भारतीय इतिहास की काया

पल्टट दी और यहीं से हिन्दूराज्य का पतन और इस्लामी राज्य का स्थायी रूप निखरने लगा। इस पराजय के बाद राजपूत राजाओं का साहस टूट गया और इस तरह से राजपूतों की शक्ति पर असाध्य आघात हुआ। इस विजय के बाद दिल्ली, थानेश्वर, अजमेर, हान्सी आदि स्थानों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। इसी विजय के बाद मुसलमानी शक्ति के लिए राजस्थान तथा पूर्वी भारत का द्वार खुल गया। इसी युद्ध के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली पर अधिकार कर उसे अपनी राजधानी बनायी। दिल्ली सल्तनत के संगठन और निर्माण में तराइन का यह युद्ध एक महत्वपूर्ण आरम्भ था जो सल्तनत के लिए एक सुदृढ़ नींव का काम करता रहा।

इसके बाद सन् ११९४ ई० में कन्नौज के राजा जयचन्द को पराजित कर गोरी ने अपना साम्राज्य बढ़ाया। कनौज को जीत लेने के बाद मुसलमानों के लिए बनारस तक का विस्तृत मैदान उनका हो गया। वहाँ पहुँचकर मुसलमानी सेना ने मन्दिरों को तोड़ा और लूटा। 'वास्तव में जयचन्द की पराजय और कन्नौज के पतन के बाद पेशावर से लेकर बनारस तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत मुसलमानों के अधिकार में आ गया।' राजपूतों की शक्ति उत्तरी भारत से उखड़ गयी। राठौर राजपूतों ने राजस्थान की ओर जाकर जोधपुर में अपना राज्य स्थापित किया।

मुहम्मद गोरी का एक सेनापति मुहम्मदबीन बख़्तियार खिलजी था जिसे गंगा और सोन नदियों के बीच की भूमि जागीर में मिली थी। उसने सन् ११९७ ई० में बिहार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। सम्भवतः बिहार में उस समय पालवंशीय राजाओं का अधिकार था, पर उनकी शक्ति क्षीण हो चली थी।

तत्पश्चात सन् ११९९ ई० में बख़्तियार ने बंगाल के सेन वंशीय निर्बल राजा लक्ष्मणसेन को आसानी से परास्त कर उसकी राजधानी नदिया (लखनौती) पर अधिकार कर लिया। विजेता ने लखनौती को अपनी राजधानी बनायी। पश्चिमी बंगाल बख़्तियार के अधिकार में आ गया। इस प्रकार १२०० ई० तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत तुर्कों के अधिकार में आ गया। गुलाम वंश का प्रथम शासक कुतुबुद्दीन ऐबक इसी साम्राज्य का शासक बना और उसकी

राजधानी दिल्ली हुई। कुतुबुद्दीन अपने शासन के अन्त तक इस साम्राज्य पर अपना अधिकार बनाये रखने में समर्थ रहा।

गुलाम वंश के अन्य प्रसिद्ध शासक अल्तमश और बलबन हुए। अल्तमश को अपने शासन के प्रारम्भिक काल में कुछ विद्रोहों का सामना करना पड़ा, जिन्हें उसने सफलता पूर्वक दबाया। सर्व प्रथम लाहौर, सिन्ध, और तत्पश्चात बंगाल के विद्रोह को दबाकर उसने साम्राज्य के विस्तार को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया। कई बार प्रयास करने के बाद बंगाल में अपना आधिपत्य स्थापित करने में अल्तमश को सफलता मिली।

अल्तमश ने दिल्ली सल्तनत को विस्तृत करने का भी सफल प्रयास किया। उसने ग्वालियर और मालवा के राजाओं को परास्त कर अपने साम्राज्य को उज्जैन तक बढ़ाया। उस समय मालवा में परमार राजपूत राज्य करते थे। उन्हें पराजित कर उज्जैन, भिलसा को लूटा। इस प्रकार अल्तमश को जितना बड़ा साम्राज्य मिला था, उसकी रक्षा करते हुए राजस्थान में घुस कर नर्मदा तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। सन् १२३६ ई० में सफल शासन के बाद उसकी मृत्यु हुई।

सन् १२३६ से १२६६ ई० तक गुलाम वंश में अनेक सुलतानों ने राज्य किया। इन ३० वर्षों में दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर कोई योग्य, वीर और पराक्रमी विजेता शासक के रूप में नहीं बैठा। अतः कुछ दूरस्थ प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। पर सन् १२६६ ई० में बलबन के गद्दी पर बैठते ही पासा पलट गया। वह एक विजेता और सफल शासक था। उसने दोआब के विद्रोही राजाओं और जमींदारों को दबाया और मेवाड़ को भी जीत लिया। उसी ने पंजाब को भी मुगलों से बचाया। बंगाल में तुगरिल खाँ ने अपने को स्वतन्त्र बना लिया था। बलबन स्वयं वहाँ गया, लखनौती को जीता और अपने पुत्र बुगरा खाँ को बंगाल का सूबेदार बना दिया। बलबन की मृत्यु १२८६ ई० में हुई। उसके चार वर्ष बाद गुलाम वंश का भी अंत हो गया। इस समय तक दिल्ली सल्तनत में पंजाब, सिन्ध, दिल्ली, अजमेर, रणथम्भौर, उज्जैन, गंगा-यमुना का द्वाबा, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल के प्रान्त शामिल थे। इस साम्राज्य-विस्तार का अधिकांश श्रेय कुतुबुद्दीन ऐबक और अल्तमश को ही है। अन्य सुलतानों ने विजित प्रदेशों को संगठित करने और उनमें होने वाले

विद्रोहों को शान्त करने में ही अपना समय लगाया। दिल्ली सल्तनत के ये आरम्भिक ८० वर्ष उसके शैशवावस्था की तरह माने जाते हैं जिसमें सुलतानों को साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ स्थान-स्थान पर होने वाले विद्रोहों को दबाने का काम भी उतना ही मुख्य था।

खिलजी वंश और साम्राज्य विस्तार तथा निर्माण का काम—दिल्ली सल्तनत का दूसरा राजवंश खिलजी सुलतानों का था जिनका शासन-काल सन् १२६० से १३२० ई० तक रहा। विस्तार तथा संगठन की दृष्टि से ये तीस वर्ष दिल्ली सल्तनत के प्रौढ़ावस्था का समय कहा जा सकता है। इस वंश के प्रथम दो सुलतानों ने अपनी वीरता और पराक्रम से सल्तनत के विस्तार को लगभग दो गुना कर दिया और शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से भी अनेक नये सुधारों को चालू किया।

अलाउद्दीन ने सन् १२६४ ई० में देवगिरि के यादव राजाओं पर आक्रमण किया। उस समय देवगिरि में यादव राजा रामचन्द्र राज्य करता था। अलाउद्दीन ने उस पर चढ़ाई कर उसे परास्त किया। दक्षिण भारत में इस्लामी साम्राज्य का पताका फहराने वाला प्रथम सुलतान अलाउद्दीन ही था। इस विजय के बाद देवगिरि से अपार धन-दौलत के साथ-साथ अलाउद्दीन ने एलिचपुर का इलाका भी लिया। इस प्रकार प्रथम बार दिल्ली सुलतान का अधिकार ताप्ती के दक्षिण-स्थित भूभाग पर हुआ।

इसके बाद सन् १२६७ ई० में अलाउद्दीन का ध्यान गुजरात की ओर गया। वहाँ बघेल (सोलंकी या चालुक्य) वंशीय राजा कर्ण राज्य करता था। जब अलाउद्दीन की सेना वहाँ पहुँची तो कर्ण भयभीत हो गया और भाग कर देवगिरि के राजा के यहाँ शरण ली। गुजरात को लूटकर सुलतान के सेनापतियों ने उस प्रान्त को सल्तनत का एक अंग बना लिया। इसके बाद उसने सन् १२६६ ई० में रणथम्भौर के राना हम्मीर को परास्त किया। पुनः मेवाड़ की बारी आयी। मेवाड़ में राना रत्नसिंह राज्य करते थे। उनकी राजधानी चित्तौड़ राजपूत वीरता की केन्द्रभूमि थी। अलाउद्दीन ने धोखे में राना को कैदी बना लिया। सन् १३०३ ई० में एक भयंकर युद्ध के बाद चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। इसके बाद मालवा, उज्जैन

तथा चन्देरी पर भी सुलतान का अधिकार हो गया। सन् १३०५ ई० तक सारे उत्तरी भारत, राजस्थान और गुजरात पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया।

उत्तरी भारत की विजय के बाद अलाउद्दीन ने दक्षिणी भारत के विजय का हौसला पूरा करने में लगा। सन् १३०६-७ ई० में उसने देवगिरि को पुनः जीत लिया। इस बार दक्षिण-विजय का काम एक सेनापति मलिक काफूर को सौंप दिया गया। उसने देवगिर के रामचन्द्र को परास्त किया और उसके राज्य को दिल्ली सल्तनत में मिला लिया। इस प्रकार इस बार वर्तमान बम्बई राज्य का अधिकांश भाग अलाउद्दीन के अधीनता में आ गया।

सन् १३०९ ई० में अलाउद्दीन की सेना ने मलिक काफूर की अध्यक्षता में देवगिर से दक्षिण-स्थित काकतीय वंश के राज्य की ओर प्रस्थान किया। इस वंश की राजधानी गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्य में स्थित वारंगल थी। भीषण युद्ध के बाद सन् १३१० ई० में वारंगल के राजा प्रताप रुद्रदेव द्वितीय की हार हुई और उसे अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

अलाउद्दीन का हौसला बढ़ता जा रहा था। उसने पुनः काफूर को सुदूर दक्षिण के पाण्डय राज्य को जीतने के लिए भेजा। वहाँ हौयसल राजा वीर बल्लाल तृतीय राज्य करता था। काफूर ने सन् १३१० ई० में उसकी राजधानी द्वार समुद्र को जीत लिया। वीर बल्लाल पकड़ कर दिल्ली भेज दिया गया और भारत का वह सुदूर दक्षिण स्थित नगर द्वारसमुद्र मुसलमानों की अधीनता में आ गया।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपने योग्य सैनिकों और सेनापतियों की सहायता से लगभग सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार में कर लिया। उसका साम्राज्य उत्तर में मुलतान, लाहौर तथा दिल्ली से लेकर दक्षिण में द्वार समुद्र तथा मदूरा तक; पूर्व में लखनौती से लेकर पश्चिम में गुजरात तक फैला था। इस प्रकार वह सम्पूर्ण भारत का एकछत्र सुलतान हो गया। इसके पूर्व दिल्ली के किसी सुलतान का साम्राज्य इतना विस्तृत नहीं था। साम्राज्य-विस्तार का कार्य अब चरम सीमा को पहुँच गया।

तुगलक वंश और साम्राज्य-संगठन में शिथिलता— अलाउद्दीन खिलजी के बाद दिल्ली की शक्ति में शिथिलता आ गयी और

पुनः दूरस्थ प्रदेशों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। अतः इस वंश के प्रथम सुलतान गयासुद्दीन को साम्राज्य-संगठन के काम में लगना पड़ा। सर्व-प्रथम उसने तेलंगाना के काकतीय वंश के राजा की ओर ध्यान दिया जिसने दिल्ली-सुलतान को कर देना बन्द कर दिया था। सुलतान के पुत्र जूना खाँ ने तेलंगाना के राजा को परास्त किया और उसने दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर ली। उसी समय वारंगल का नाम बदलकर सुलतानपुर रख दिया गया।

सन् १६२४ ई० बंगाल में भी उपद्रव शुरू हुआ। दिल्ली की फौजें वहाँ पहुँच गयीं और उस उपद्रव को शान्त किया।

तुगलक वंश का सब से प्रमुख सुलतान मुहम्मद तुगलक सन् १३२५ ई० में दिल्ली की गद्दी पर बैठा, पर मुहम्मद के समय में साम्राज्य-विस्तार की दिशा में कोई नया काम नहीं हुआ। आन्तरिक विद्रोहों को दबाने के अतिरिक्त सुलतान ने खुरासान और कमायूं के पास के कुछ पहाड़ी इलाकों के विजय का कार्य-क्रम बनाया था, पर भौगोलिक कठिनाइयों तथा अनभिज्ञता के कारण सुलतान को इस दिशा में सफलता नहीं मिली। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल के पूर्वार्द्ध में सलतन का विस्तार और उसकी सीमा लगभग वैसी-ही थी जैसी अलाउद्दीन खिलजी के समय में रही। पर उसके शासन-काल के अन्तिम १६ वर्षों में सर्वत्र विद्रोह की आग फैल गयी और सन् १३५१ ई० में उसकी मृत्यु के समय तक साम्राज्य के प्रायः सब प्रदेश स्वतंत्र हो गये और दिल्ली के अधिकार से मुक्त हो गये। सबसे पहले सन् १३३५ ई० में मदूरा और माबर के गवर्नर जलालुद्दीन एहसान शाह ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। प्रयास करने पर भी सुलतान वहाँ तक नहीं पहुँच सका और वह इलाका दिल्ली सल्तनत से पृथक हो गया। इसके बाद सन् १३३७ ई० में बंगाल के गवर्नर ने दिल्ली सल्तनत के प्रभाव को क्षीण होते देख अपने को स्वतंत्र बना लिया। सन् १३३६ ई० में दक्षिण में बिजयनगर का एक नया स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गया। सन् १३४७ ई० में देवगिरि के प्राचीन राज्य के स्थान पर एक नया स्वतंत्र बहमनी वंश का राज्य स्थापित हो गया। इस प्रकार दक्षिण का सम्पूर्ण भाग सन् १३५१ ई० तक दिल्ली सल्तनत से पृथक हो स्वतंत्र बन गया।

साम्राज्य का अवसान—ऊपर लिखी बातों से स्पष्ट है कि मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में जो विद्रोह हुए, उनसे दिल्ली सल्तनत की नींव

हिल गयी और उसके बाद पुनः अलाउद्दीन-जैसा बड़ा साम्राज्य नहीं स्थापित हो सका। इन विद्रोहों के कारणों पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही संकेत करना जरूरी है कि जिस दिल्ली सल्तनत को ऐबक, अल्तमश, बलबन और अलाउद्दीन ने बनाया था, विस्तृत किया, उसे मुहम्मद तुगलक फिरोज़ ने अपनी कुछ कमजोरियों के कारण छिन्न-भिन्न कर दिया। साम्राज्य की बड़ी इमारत हिल गयी और इसके बाद इसका पूर्ववत स्वरूप नहीं निर्मित हो सका। इसके बाद फीरोज तथा लोदी वंश के शासकों ने एक बार दिल्ली सल्तनत को सम्भालने और पुनः निर्मित करने का प्रयास किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। सन् १३९८ ई० में तैमूर ने दिल्ली पर आक्रमण किया और उसे बर्बाद कर दिया। तैमूर के इस आक्रमण का प्रभाव दिल्ली सल्तनत के लिए घातक हुआ। देश में सर्वत्र गड़बड़ी फैल गयी। साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। देश की राजनैतिक एकता नष्ट हो गई। दिल्ली के आस-पास के अतिरिक्त अन्य सब प्रान्त स्वतंत्र हो गये। उन स्वतंत्र राज्यों में बंगाल, जौनपुर, उड़ीसा, मालवा, मेवाड़, गुजरात, बहमनी और विजयनगर के राज्य अधिक प्रमुख हुए। इनका संक्षिप्त इतिहास पिछले पृष्ठों में दिया गया है। दिल्ली सल्तनत की अन्तिम टिमटिमाती हुई रोशनी बाबर ने सन् १५२६ ई० में बुझा दी, जब पानीपत के मैदान में इस सल्तनत के अन्तिम राज वंश के अन्तिम सुलतान इब्राहीम लोदी को मुगल सम्राट ने परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। संक्षेप में दिल्ली के पठान सुलतानों के साम्राज्य-निर्माण और उनके अवसान की यही कहानी है।

(ख) सल्तनत की शासन-प्रणाली

सैद्धान्तिक पक्ष—जिस समय तुर्क आक्रमणकारियों ने भारत पर चढ़ाई कर यहाँ अपना राज्य स्थापित किया, उस समय इस्लाम के प्रचार का जोश उनमें उबल रहा था और वे इस्लाम के नियमों के प्रति विशेष आस्था रखते थे। अतः उस धर्म के नियमों के अनुसार मुस्लिम राज्य व्यवस्था का प्रधान खलीफा माना जाता था। वह इस्लाम का रक्षक था, पोषक था और इस्लाम साम्राज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व भी उसी पर था। जिस प्रकार मुहम्मद साहब खुदा के प्रतिनिधि थे उसी प्रकार खलीफा मुहम्मद साहब के

प्रतिनिधि होते थे और विभिन्न मुस्लिम राज्यों के शासक खलीफा के प्रतिनिधि समझे जाते थे। प्रारम्भिक मुसलमान विजेता और शासक इस सिद्धान्त में पूरा विश्वास रखते थे और अपने को खलीफा का प्रतिनिधि मान कर इस्लाम के नियमों तथा सिद्धान्तों के अनुसार साम्राज्य विस्तार और प्रशासन का काम करते थे। अल्तमश ने प्रयास कर खलीफा से दिल्ली के सुलतान की पदवी प्राप्त की थी। उसके बाद के कुछ सुलतानों ने भी इस प्रकार की राजसत्ता को प्राप्त करने की चेष्टा की। ऐसी स्वीकृति और अनुग्रह का इस्लामी दुनियाँ बहुत नैतिक महत्व होता था।

नैतिक दृष्टि से दिल्ली के तुर्क सुलतान खलीफा के अधीन थे। पर दिल्ली अरब से दूर थी और दिल्ली के सुलतान शक्तिशाली हो गये थे, अतः वास्तव में दिल्ली के ये सुलतान व्यावहारिक रूप से सब प्रकार स्वतंत्र थे। उनके काम में खलीफा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। इस बंधन से स्वतंत्र होकर भी दिल्ली के तुर्क सुलतान मूलतः इस्लाम धर्म के नियमों के अनुसार ही अपने सल्तनत का शासन करते थे।

प्रशासन की मूल प्रेरणा— इस्लाम राजसत्ता धर्म-सापेक्ष (Theocratic) है। 'उसका मूल सिद्धान्त है कि राज्य का सर्वोच्च अधिष्ठाता स्वयं ईश्वर है और सांसारिक राजा केवल प्रतिनिधि रूप है। राज्य और शासन का एक ही उद्देश्य है—धर्म को संसार भर में फैलाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रात-दिन प्रयत्न करते रहना ही प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। इसी का नाम 'जहाद' है। इस सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम के समस्त विरोधी विचारों को नष्ट करना और काफिरों को मुसलमान बनना प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है।' इसी भावना से प्रेरित हो दिल्ली सल्तनत के सुलतानों ने अपना कार्य किया। अतः साम्राज्य-विस्तार के पीछे मूर्तिखण्डन और इस्लाम का प्रचार ये दोनों भावनाएँ काम कर रही थीं। साम्राज्य विस्तार के कार्य में अरब वालों को अनेक नयी अनुभूतियाँ और ज्ञान की बातें मिली। उन्हें अपने उद्देश्य को पूरा करते समय यह महसूस हुआ कि उनसे टक्कर लेने वाली अधिकांश जातियाँ संस्कृति और सभ्यता में अरब वासियों से बढ़ी-चढ़ी हैं। ऐसी जातियों को इस्लाम धर्म में दीक्षित करना दुष्कर काम है। अतः

उन्होंने अपने सिद्धान्त और कार्य-प्रणाली में कुछ समन्वय किया और यह नियम बनाया कि इस्लाम न स्वीकार करने वालों को कुछ मूल्य देकर जीवित रहने का अधिकार है। इसी मूल्य का नाम 'जजिया' है। भारत के तुर्क सुलतानों ने 'जहाद' के साथ-साथ 'जजिया' का भी आश्रय लिया। इस युग में दो एक समझदार सुलतानों को छोड़, जिन्होंने कुछ उदार नीति का प्रयोग किया प्रायः अन्य सभी सुलतानों ने असहिष्णुता और धर्मान्धता की नीति से काम लिया। प्रारम्भ में इसी सिद्धान्त से प्रेरित होकर विजेताओं ने काम किया, पर समय और परिस्थिति के साथ उन्होंने अपने को परिवर्तित भी किया। वे भारतीय रीति-रिवाज, संस्कृति तथा जन-प्रवृति से भी प्रभावित हुए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण दिल्ली सुलतानों के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम में मिलता है। इस्लाम धर्म के अनुसार खलीफा और बादशाह का पद निर्वाचन द्वारा निश्चित होना चाहिए। परन्तु दिल्ली के तुर्क सुलतान इस नियम की अवहेलना करके राजगद्दी के लिए उत्तराधिकारी को वंशानुगत पद्धति से निश्चित करने लगे। इसी प्रकार राजकीय करों और विधर्मी प्रजा के साथ सहिष्णुता की नीति में भी अनेक परिवर्तन हुए। दिल्ली के सुलतानों के शासन-प्रबन्ध के अध्ययन करने वालों को इन मूल बातों का ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि इनसे उनकी वास्तविकता समझने में आसानी पड़ेगी और पाठक इनका ठीक मूल्यांकन करने में सफल हो सकेंगे।

सुलतान—दिल्ली की सल्तनत का सर्वोच्च अधिकारी सुलतान होता था। सिद्धान्त में वह राज्य व्यवस्था और धर्म दोनों का अधिपति होता था। वह धर्म-ग्रन्थों में लिखित नियमों (शेरियत) के ही अधीन था। मुल्ला और मौलवी के कथन का पालन कुछ सुलतान करते थे पर अधिक महत्वाकांक्षी सुलतान उनकी भी परवाह नहीं करते थे। व्यावहारिक दृष्टि से सुलतान की शक्ति असीमित होती थी। सिद्धान्त में वे खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय साम्राज्य का शासन करते थे, पर वास्तव में शक्तिशाली होने और दूर स्थित रहने के कारण सल्तनत के कार्यों में खलीफा का हस्तक्षेप करना असम्भव-सा हो गया था। यह भी सच है कि दिल्ली-सल्तनत के उत्कर्ष के समय अब्बासी वंश के खलीफा

शक्तिहीन हो गये थे अतः भारतीय सुलतानों को स्वेच्छाचारी और निरंकुश होने में कोई अड़चन नहीं थी।

दिल्ली सुलतानों की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता पर धर्म-ग्रंथों, धार्मिक रीति रिवाजों और अमीरों का ही कुछ नियन्त्रण था। उस युग में धर्म राजनीति का अग्रगामी और अंकुश-सा था, अतः दिल्ली के अधिकांश सुलतान कुरान के नियमों के अनुसार शासन करना अपना कर्तव्य समझते थे। वे शासन के काम में भी पूर्णरूप से इस्लाम की शिक्षा का अनुसरण करने का यत्न करते थे। इसलिए अधिकांश सुलतान मौलवी और मुल्लाओं के कहने में रहते थे और कमजोर होने पर उनके हाथ की कठपुतली बन जाते थे। बलबन और अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली शासकों ने उनसे स्वतंत्र रहकर काम करने चेष्टा की और वे पर्याप्त मात्रा में सफल भी हुए। पर उनके हाथ में सेना की पर्याप्त शक्ति थी और वे अपने सैनिक अधिकारियों की बातों का अधिक महत्व देते थे। इसके अतिरिक्त इस युग के शासन में सुलतान को अपने अमीरों पर अधिक निर्भर रहना पड़ता था। तत्कालीन राजनीति पर अमीरों का अत्यधिक प्रभाव था। चूँकि प्रारम्भ में ये सुलतान विदेशी थे और भारत के लोग उनसे अपरिचित थे अतः अपने अमीरों और सेनापतियों पर अधिक भरोसा करना उनके लिए स्वाभाविक ही था क्योंकि उन्हीं की सहायता पर उन्होंने इस दूर देश में साम्राज्य स्थापित किया था और वे अमीर हर प्रकार के संकट के समय अपने सुलतानों की मदद के लिए उद्यत रहते थे। अतः अमीरों की उपेक्षा करना तत्कालीन सुलतानों के लिए असम्भव-सा था। दिल्ली के तुर्क सुलतानों के शासन के इतिहास में ऐसे अमीरों का एक महत्व पूर्ण हाथ था। वे राजभक्त होने पर राज्य के लिए अपूर्व शक्ति-संचय करते थे और स्वार्थी होने पर सुलतान के लिए उनके मार्ग का सबसे विकट रोड़ा बन जाते थे।

केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध में एक और विशेष बात ध्यान देने योग्य है। उस समय उत्तराधिकार के नियम निश्चित नहीं थे। कुछ सुलतान वंशानुगत दिल्ली की राजगद्दी के मालिक हो जाते थे और कुछ अपनी प्रतिभा और वीरता के कारण उस पद पर प्रतिष्ठित हो जाते थे। उत्तराधिकार के नियम में इस अनिश्चितता के कारण प्रायः सुलतान को षडयंत्र और विद्रोह का

सामना करना पड़ता और राजसत्ता की मर्यादा को ठेस पहुँचती थी। पर इससे लाभ भी था। इसी अनिश्चितता के कारण उस समय दिल्ली की गद्दी पर अनेक ऐसे योग्य और वीर सुलतान बैठे जिन्होंने सल्तनत के संगठन में अपूर्व योग्यता दिखायी। उस युग में अयोग्य, विलासी और मूर्ख सुलतानों के गद्दी पर आसीन होने से सल्तनत का भला नहीं हो पाता और शासन की गाड़ी आगे नहीं चल सकती थी। गुलाम तथा खिलजी वंश के अधिकांश योग्य शासक वंशानुगत विधि के अनुसार दिल्ली की गद्दी पर नहीं बैठ सकते थे और उनके अभाव में बहुत पहले सल्तनत का अन्त हो जाना निश्चित था।

मन्त्रि-परिषद्—आजकल की तरह उन दिनों सुलतान को मदद और परामर्श देने के लिए कोई मन्त्रि-परिषद् नहीं होती थी, पर वह अपनी सहायता के लिए मंत्रियों की एक समिति रखता था। उस समिति के संगठन के लिए कोई निश्चित नियम नहीं था और उसमें कौन-कौन रक्खा जाय, यह सुलतान की इच्छा पर निर्भर था। मन्त्रिगण सुलतान के सेवक के रूप में होते थे और पूरी तरह सुलतान के प्रति उत्तरदायी रहते थे। सुलतान ही उसका कर्ता, धर्ता और हर्ता था। मन्त्रियों में सर्व प्रमुख व्यक्ति को 'वजीर-ए-ममालिक' कहा जाता था। उसकी शक्ति उसकी योग्यता और सुलतान की इच्छा और खुशी पर निर्भर रहा करती थी। शक्ति-सम्पन्न सुलतानों के समय में मन्त्रियों का प्रभाव कम हो जाता था, पर कमजोर सुलतानों के समय में कभी कभी वे सर्वेसर्वा हो जाते थे और राज्य के उत्तराधिकारी के निर्णय में उनका बहुत हाथ होता था। बलबन, अलाउद्दीन जैसे वीर और शक्तिशाली सुलतान भी अपने मन्त्रियों की राय का आदर करते थे और उनके सत्परामर्श से उन्हें लाभ भी होता था। प्रधान मन्त्री सुलतान को प्रायः सब काम में परामर्श देता था।

'वजीर-ए-ममालिक' के बाद अन्य मंत्री भी होते थे। 'दीवान-ए-रिसालत' बाह्य और अन्य जातियों से सम्बन्धित मामलों को देख-रेख करता था। 'दीवान-ए-अर्ज' प्रार्थनापत्र आदि का निरीक्षण और प्रबन्ध करता था। 'दीवान-ए-इन्शा' राजकीय पत्र-व्यवहार करने वाला मंत्री था। 'दीवान-ए-वजारत' राजकीय आय-व्यय वसूल करने वाले विभाग का प्रबन्ध करता था।

सेना-विभाग के प्रबन्ध में सुलतान को राय देने वाले मंत्री 'आरिजे मुमालिक' कहलाता था। ये सब मंत्री प्रधान-मंत्री के अधीन होते थे, पर सब को सुलतान के समक्ष उत्तरदायी होना पड़ता था और सुलतान आवश्यकता और योग्यतानुसार इनसे राय और मदद लेता था। मंत्रियों का प्रभाव उनकी योग्यता और सुलतान के भाव पर आश्रित होता था। सब कुछ होते हुए भी सुलतान की इच्छा पर इन मंत्रियों का कोई विशेष नियंत्रण नहीं था। अधिकांश मंत्री सुलतान का रुख और उसकी रुचि देख कर ही कार्य करते थे। सुलतान को प्रसन्न और सन्तुष्ट रखना उनका मुख्य काम था।

सेना-विभाग—दिल्ली सुलतानों की राजशक्ति का आधार अन्य तत्कालीन राजाओं की तरह सैनिक शक्ति ही थी। उन्होंने बाहर से आकर इस देश में राज्य स्थापित किया था और सैनिक बल से ही उनकी सत्ता स्थापित हो सकी थी। साम्राज्य में भी प्रायः बार-बार होने वाले विद्रोहों को दबाने के लिए सेना ही मुख्य साधन थी, अतः उन सुलतानों ने सेना को अधिक महत्व दिया। सेना के महत्व को बढ़ाने में बार-बार होने वाले मुगलों के आक्रमणों ने मदद की। इन स्थितियों में एक बड़ी सेना को रखना और उसकी व्यवस्था करना आवश्यक था। सेना का मुख्य भाग राजधानी में रहता था और उसका संचालन स्वयं सुलतान करता था। स्थायी सेना की संख्या अधिक नहीं थी। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक ने सैनिकों की संख्या बहुत बढ़ायी थी, पर अन्य सुलतानों के समय में ऐसा नहीं हो सका। प्रान्तीय सूबेदारों के पास भी सेनाएँ होती थीं और वे समय पर सुलतान की मदद किया करते थे। जागीरदारों को भी अपनी हैसियत के अनुसार सेना भेजनी पड़ती थी। दस सैनिकों के ऊपर एक 'सरे खेल' होता था, दस 'सरे खेल' के ऊपर एक 'सिपह सालार', दस सिपह सालार के ऊपर एक 'अमीर', दस अमीरों के ऊपर एक 'मालिक' और दस मालिकों के ऊपर एक 'खान' होता था। इसके बाद सेनापति होता था जो युद्ध में सेना का संचालन और प्रबन्ध करता था। सुलतान स्वयं भी अधिकांश युद्धों में सेना का संचालन करते थे। पर योग्य सेनापतियों पर सुलतान विश्वास करते थे और उन्हें युद्ध का काम सुपूर्द कर दियाजाता था। अलाउद्दीन खिलजी के समय में उलुग खाँ और नसरत खाँ ने

लगभग सारे उत्तरी भारत की विजय में सुलतान की सेना का संचालन किया था और दक्षिण भारत की विजय का श्रेय उसके सेनापति मालिक काफूर को है जिसने अपनी अनन्य भक्ति और अनुपम योग्यता से सुलतान की महत्वपूर्ण सेवाएँ की। नासिरुद्दीन के समय में भी सेना-संचालन का कार्य बलवन के ही हाथ में था। पर अल्तमश और बलवन ने अपने शासन-काल में यह काम स्वयं किया।

सेना में घुड़ सवार और पैदल विभाग का अधिक महत्व था। दिल्ली के सुलतान किलों को और मुख्य द्वार को तोड़ने के लिए हाथियों का भी प्रयोग करते थे। मुहम्मद तुगलक के पास तीन हजार हाथी थे। सेना के साथ ऊँटों की संख्या भी अधिक होती थी। उनसे सामान ढोने का काम लिया जाता था। अलाउद्दीन ने तोपखाने की भी व्यवस्था की थी। अच्छी नस्ल के घोड़े अरब और तुर्किस्तान से मँगवाये जाते थे। सीमान्त की रक्षा के लिए किलों का निर्माण कराया गया था और वहाँ राजकुमार या अन्य विश्वासपात्र योग्य सेनापति नियुक्त किये जाते थे।

सैनिकों को कभी जागीरें और कभी नकद वेतन दिया जाता था। अला-उद्दीन खिलजी ने सैनिकों को जागीर और भूमि देने की प्रथा को बन्द कर दिया और इसके स्थान पर उन्हें नकद वेतन देने की व्यवस्था चलायी। सैनिकों की भर्ती का आधार भी उसने योग्यता बनायी और उसने प्रत्येक श्रेणी के सैनिक के लिए वेतन निश्चित किया। इस प्रकार अलाउद्दीन ने सेना-विभाग में अनेक सुधार किये और उसने चार लाख पचहत्तर हजार सैनिकों की एक स्थायी और संगठित सेना संगठित की। जागीर देने की प्रथा को तुगलक सुलतानों ने पुनः चालू किया, अतः सैनिक संगठन में दोष आ गये और वे सब दोष सल्तनत के पतन के कारण बन गये। फीरोज के समय में सेवा-निवृत्त होने वाले बूढ़े सैनिकों के परिवार वालों को उनकी जगह पर नियुक्त करने की प्रथा चलायी गयी, इससे सेना की क्षमता और शक्ति को धक्का लगा। वास्तव में सेना की भर्ती को परम्परागत कभी नहीं करना चाहिये था। इससे फीरोज की सेना में शिथिलता आ गयी थी। युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति का कुछ भाग सैनिकों में वितरित किया जाता था। उन्हें कपड़े, भोजन तथा घोड़े और घोड़ों

के लिये चारा-दाना भी दिया जाता था। कुछ हिन्दू सैनिक रक्खे जाते थे। युद्ध में कैदी बनाकर शत्रु-पक्ष के लोगों को गुलाम बनाने की प्रथा थी। भाले, बर्छी, धनुष-बाण, बल्लम और तलवार का प्रयोग अधिक होता था। शत्रु से बचने के लिए दुर्ग बनाये जाते थे और प्रायः उनके चारों ओर खाइयाँ खोद दी जाती थीं। किले से बाहर जाने के लिए प्रायः सुरंगें बनायी जाती थीं। सैनिकों को एक विशेष प्रकार की वर्दी पहननी पड़ती थी। सेना की सब घटनाओं और खबरों की सूचना सुलतान के पास विशेष दूतों द्वारा भेजी जाती थी।

न्याय-विभाग का प्रशासन—इस विभाग का प्रधान भी सुलतान ही होता था। राज्य में वही न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। यहीं न्याय के मामले में अन्तिम फैसला होता था। न्याय करने के लिये सुलतान स्वयं एक ऊँचे आसन पर बैठता था। "काजी-ए-मुमालिक" सुलतान को कानूनी मामले में परामर्श देने के लिए उसके बगल में बैठता था। पेशकार को उन दिनों 'हजीब' कहते थे। सुलतान के पास जो मुकदमें सीधे जाते थे और जो अपीलें नीचे की अदालतों के निर्णय के विरुद्ध जाती थी, उन दोनों का निर्णय वह स्वयं करता था। सुलतान के नीचे 'काजी-ए-मुमालिक' इस विभाग का अधिकारी था जो न्याय का काम करता था। प्रत्येक सूबे की राजधानी में काजी की अदालत होती थी। दिल्ली, बदायूँ, ग्वालियर, अवध, मालवा, गुजरात, कड़ा, दक्षिण और बंगाल में पृथक-पृथक काजी नियुक्त किये जाते थे। सैनिक न्याय का प्रबन्ध पृथक था और सेना से सम्बन्धित न्याय सुलतान तथा उसी द्वारा नियुक्त विशेष अधिकारी करते थे।

यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि न्याय किस प्रकार होता था। न यही मालूम है कि किस प्रकार के मुकदमें किस न्यायालय में जाते थे। शायद इस विषय में कुछ निश्चित और समान कानून नहीं थे। कागजी लिखा-पढ़ी बहुत कम होती थी। न्याय के काम में बहुत विलम्ब भी नहीं होता था। न्यायाधीश के निर्णय के बाद शीघ्र ही अपराधी को दण्ड दिया जाता था। अधिक फैसले मौखिक सुना दिये जाते थे। इस प्रकार शीघ्र न्याय होने से वादी-प्रतिवादी अनावश्यक विलम्ब और व्यय से बच जाते थे। दण्ड-विभाग का मुख्य स्रोत

धार्मिक पुस्तकें थीं। इसके अतिरिक्त स्थानीय रीति-रिवाज, सामाजिक प्रथाएं आदि का विचार न्याय के समय किया जाता था। फौजदारी के मामलों में कुरान के नियमों के अनुसार ही निर्णय होता था। राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने वालों को सुलतान की आज्ञानुसार मनमानी दण्ड दिया जाता था। गावों में अधिकांश मुकदमें ग्राम-पंचायतों द्वारा निर्णीत होते थे।

आय-व्यय—राज्य की आमदनी का मुख्य स्रोत भूमि-कर था। भूमि-कर की दर सुलतान अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार निश्चित करता था। कुछ सुलतानों ने उपज का ५० प्रतिशत किसानों से लगान के रूप में लिया। इसके अतिरिक्त जजिया, युद्ध में लूट की सम्पत्ति, जकात (जो धनी मुसलमान गरीब मुसलमानों के सहायतार्थ देते थे) व्यापार-कर तथा चुंगी आदि से राज्य की आय होती थी। जकात सम्पत्ति का चालीसवाँ भाग होता था। युद्ध में लूट का पाँचवाँ भाग राजकोष में जाता था। कर वसूल करने में हिन्दू-मुसलमान में भेद किया था। मुसलमानों से हिन्दुओं की अपेक्षा कम कर लिया जाता था। जिन सुलतानों ने नहर-निर्माण कराये, उन्होंने सिंचाई का भी पृथक कर लिया। उपहार या भेंट के रूप में प्राप्त धन भी सुलतान की आमदनी का एक स्रोत था। राजकोष की आय का अधिकांश सेना, सुलतान के निजी व्यय और इमारतों तथा किलों आदि पर खर्च होता था।

प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन

दिल्ली का साम्राज्य कई सूबों में विभाजित था। प्रत्येक सुलतान के समय में साम्राज्य-विस्तार के अनुसार सूबों की संख्या घटती-बढ़ती रहती थी। प्रत्येक प्रान्त में एक सूबेदार प्रान्त का शासक होता था। कुछ प्रान्तों में सुलतान अपने खास आदमियों को इस पद पर नियुक्त करते थे। कुछ प्रान्त ऐसे भी थे जहाँ वहीं के पुराने शासक विजय के बाद दिल्ली के अन्तर्गत सूबेदार नियुक्त कर दिये जाते थे। सूबेदारों का दरबार दिल्ली दरबार का ही प्रतिरूप होता था। दूरस्थ सूबेदार लगभग स्वतन्त्र शासक की तरह काम करते थे। उन्हें अपनी रुचि और पसन्द के अनुसार कार्य करने की पूरी सुविधा और स्वतन्त्रता थी, यदि वे दिल्ली दरबार के लिये नियत कर की रकम समय पर भेज देने का काम पूरा करते रहें। उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर बहुत

कम आता था। उनके कार्यों के समुचित निरीक्षण का कोई प्रबन्ध नहीं था। सूबेदारों का एक मुख्य काम यह भी था कि आवश्यकता पड़ने पर वे सुलतान की मदद के लिए अपनी सेना भेज दें। समय पर उन्हें स्वयं भी सुलतान के लिए युद्ध करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उनका काम अपराधियों तथा विद्रोहियों को दण्ड देना, अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से काम लेना और उन पर अनुशासन रखना और सुलतान की अन्य आज्ञाओं का पालन करना था।

प्रत्येक सूबे को शिकों में, प्रत्येक शिक को सरकारों में, सरकार को परगनों में और परगनेको गाँवों में विभक्त किया जाता था। गाँव शासन की सबसे छोटी इकाई थी। गाँव का प्रबन्ध मुकद्दम या मुखिया की सहायता से होता था। माल-गुजारी के हिसाब-किताब के लिए अलग कर्मचारी होते थे। सरकारी लगान की वसूली के अतिरिक्त गाँव के अन्य काम ग्राम पंचायत ही किया करती थी। ग्राम-पंचायतों के अधिकार और संगठन को दिल्ली के सुलतानों ने नष्ट नहीं किया था। शहरों में कोतवाल होते थे। कोतवाल के अधिकार बहुत व्यापक थे। वह शान्ति-व्यवस्था, सफाई, रोशनी, बाजारों का निरीक्षण और कुछ झगड़ों के निर्णय का काम करता था। वह अपराधियों को दण्ड भी देता था। कोतवाल नगर से बाहर जाने वालों और बाहर से नगर में आने वालों की सूचना रखता था। नगर की दैनिक खबरें उसे सदा प्राप्त होती रहती थी। इस प्रकार कोत-वाल एक प्रभाव और अधिकार-सम्पन्न अधिकारी था। अपने इलाके में उसका बहुत रोब-दाब होता था।

अन्य काम—दिल्ली के पठान सुलतानों को मस्जिदें, कबरें, किले और बावड़ियाँ बनवाने का शौक था। सड़कों के किनारे सरायें और कुएँ भी बन-वाये जाते थे। इस क्षेत्र में गयासुद्दीन और फीरोज ने प्रशंसनीय कार्य किये। इन कार्यों का संक्षिप्त परिचय आगे यथा स्थान दिया जायगा।

शिक्षा का विषय उन दिनों राज्य के प्रशासन का विषय नहीं था। शिक्षा का प्रबन्ध प्रजा स्वयं करती थी। हिन्दुओं की अपनी पाठशालाएँ चलती थीं और उनका निर्वाह दान द्वारा ही होता था। मुसलमानों के बच्चे मस्जिदों में स्थित मदरसों में पढ़ते थे। उनमें कुरान की शिक्षा अनिवार्य थी। उन्हें राज्य

की ओर से मदद मिलती थी। बड़े बड़े शहरों जैसे दिल्ली, बदायूँ, जौनपुर में कुछ बड़े बड़े मदरसे भी थे, जहाँ उच्च शिक्षा दी जाती थी।

निष्कर्ष—ऊपर की पंक्तियों से मालूम होता है कि पठान साम्राज्य की शासन-प्रणाली का कोई निश्चित आधार नहीं था। सुलतान की रुचि और समय की आवश्यता तथा अमीरों और मुल्लाओं के प्रभाव से प्रशासन का रूप परिवर्तित होता रहता था। राज शक्ति को सीमित रखने का कोई उपाय नहीं था। प्रान्तीय शासन को नियंत्रित करने और उनमें एकरूपता लाने का न तो कोई साधन था और न वह सम्भव ही था। साम्राज्य के प्रबन्ध का प्रभाव केवल शहरों तक ही सीमित था। देहातों में राज्य अपना कर वसूल करने के अलावा और कुछ नहीं करता था। शासन का आधार जनता का प्रेम तथा श्रद्धा नहीं था, बल्कि सैनिक बल ही पर राज्य जीवित था। इसीलिए पठान सुलतानों का प्रशासन दृढ़ और स्थायी न बन सका। उन्होंने अपनी प्रजा में हिन्दू-मुसलमान का सदा भेदभाव रक्खा। उत्तराधिकार के नियमों की अव्यवस्था के कारण प्रत्येक सुलतान की मृत्यु के बाद षड्यंत्र होते थे। शासन की सफलता का आधार परम्परा नहीं थी, बल्कि सुलतान की व्यक्तिगत योग्यता और सैनिक शक्ति ही पर शासन की गाड़ी चल पाती थी। इन तीन सौ वर्षों तक दिल्ली के पठान सुलतान अपने को विदेशी ही समझते थे और इसीलिए प्रजा के हृदय पर उन्होंने कभी शासन नहीं किया। प्रजा ने भी इसीलिए उन्हें अपना नहीं माना और फलस्वरूप सल्तनत में सदा विद्रोह, षड्यंत्र और युद्ध का बोलबाला रहा।

(ग) दिल्ली सल्तनत और मुगल-आक्रमण

मंगोल एशिया की एक अर्द्ध सभ्य जाति थी जो भिन्न-भिन्न कबीलों में विभाजित थी। तेरहवीं सदी में चंगेज खाँ नामक एक असाधारण प्रतिभावान और संगठन कर्त्ता उनका नेता हुआ जिसने अपने शौर्य और साहस से एक बड़ी सल्तनत स्थापित की। ये लोग भारत की ओर भी आये और उनका प्रथम आक्रमण अल्तमश (इल्तुतमिश) के शासन-काल में सन् १२२१ ई० में हुआ। ख्वारिज्म का शाह जलालुद्दीन मंगोलों के भय से भागकर पंजाब आया और चंगेज खाँ अपने सर्दारों के साथ उसका पीछा करता हुआ पंजाब

तक आ गया। जलालुद्दीन ने अल्तमश से दिल्ली में शरण देने की प्रार्थना की, पर उसने बुद्धिमानी से काम लिया और कहला भेजा कि दिल्ली की जलवायु उसके अनुकूल नहीं है। जलालुद्दीन के दूत को अल्तमश ने मरवा डाला, अन्त में जलालुद्दीन को मुगलों ने पराजित किया और उसने सिन्ध में कूद कर अपनी जान बचाने की कोशिश की। चंगेज खाँ भी सिंध के उसी पार से लौट गया। और अल्तमश ने अपनी बुद्धिमानी से देश को एक बड़ी आपत्ति से बचा लिया। वास्तव में चंगेज खाँ का इरादा उस समय भारत पर आक्रमण करने का नहीं था।

सन् १२४१ ई० में जब बहरामशाह (सन् १२४०-४२) दिल्ली की गद्दी पर शासन करता था, मंगोलों ने पुनः भारत पर आक्रमण किया। लाहौर के गवर्नर मलिक इख्तियारुद्दीन ने उन्हें रोकने का प्रयास किया पर वह असफल रहा। मंगोलों ने लाहौर ले लिया और वहाँ के निवासियों की निर्मम हत्या की। उस समय दिल्ली में सुलतान के विरुद्ध अमीरों द्वारा षड्यंत्र चल रहा था, अतः सुलतान के प्रयास के बाद भी मंगोलों को दबाने में उस समय सफलता नहीं मिली। उस समय चालीस अमीरों का दल बहुत शक्ति शाली हो रहा था और केन्द्रीय शासन कमजोर हो गया। अभी तक इस नयी आपत्ति की भयंकता को दिल्ली के सुलतानों ने उचित रूप से नहीं आँका था और उसे रोकने का कोई स्थायी प्रबन्ध नहीं किया गया।

बलबन तथा मुगल-आक्रमण की समस्या—सर्व प्रथम मंगोल आक्रमण के भयानक संभावित परिणामों की ओर बलबन का ध्यान विशेष रूप से गया। अतः इस समस्या को स्थायी ढंग से हल करने की योजना उसने तैयार की। इस समय मंगोल-साम्राज्य की सीमा भारत तक पहुँच चुकी थी और उन्होंने पंजाब तथा सिंध को लूटने का काम शुरू कर दिया था। उस समय मुगलों का अधिकार गजनी से बागदाद तक हो गया था। उनकी बढ़ती शक्ति से आतंकित होकर बलबन ने सीमान्त से सन्देहात्मक व्यक्तियों को हटा लिया और उस प्रदेश का प्रबन्ध नये ढङ्ग से किया। उसने वहाँ तीन विश्वास-पात्र व्यक्तियों को नियुक्त किया। उनमें से एक व्यक्ति सुलतान का योग्यतम पुत्र शाहजादा मुहम्मद था और दूसरा प्रमुख साहसिक व्यक्ति बुगरा खाँ था।

सन् १२७९ ई० में मुगलों ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर सीमान्त पर आक्रमण किया, पर शाहजादा मुहम्मद ने अपनी वीरता से उन्हें पीछे ढकेल दिया। पुनः सन् १२८५ ई० उनका आक्रमण हुआ और इस बार युद्ध में मुहम्मद को अपने प्राण खो देने पड़े। शाहजादे की मृत्यु से बलबन को मार्मिक दुःख हुआ। बलबन ने मुगल आक्रमण से बचने के लिए अपनी ओर से सब प्रकार के प्रबन्ध किये। सीमान्त में नये किले बनाये, पुराने किलों की मरम्मत करवायी गयी और वहाँ साम्राज्य के योग्यतम सेनापति तथा वीर सैनिक रक्खे गये। इन बातों से मुगलों को भारत-सीमा में घुसने का अवसर नहीं मिला, पर बलबन को अपने योग्यतम पुत्र की आहुति देनी पड़ी। इससे सुलतान को ऐसा आघात पहुँचा कि वह अपने को सम्भाल नहीं सका और एक वर्ष के बाद ही वह परलोकगामी हो गया।

खिलजी सल्तनत और मुगल-आक्रमण——खिलजी सुलतानों के शासन-काल में भी मुगल भारत पर चढ़ आये। इस वंश के प्रथम सुलतान जलालुद्दीन के समय में मंगोल सरदार उलुग खाँ ने एक लाख मुगलों को लेकर भारत पर आक्रमण किया और सन् १२९२ ई० में सुलतान की सेना के साथ उसका युद्ध हुआ। इस बार मुगल परास्त हुए। उनमें से बहुतों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और दिल्ली के आस पास बस गये। उनमें उनका सर्दार उलुग खाँ भी था। इस प्रकार दिल्ली के पास एक नयी बस्ती बन गयी। वे मुगल मुसलमान "नव-मुस्लिम" के नाम से विख्यात हुए। इन मुगलों को राजधानी के पास बसाकर सुलतान ने एक भारी राजनैतिक भूल की। ये नये मुसलमान अपने को विदेशी समझते थे और उनकी बस्ती षड्यंत्र का एक अड्डा बन गया। इन्होंने एक बार अलाउद्दीन की हत्या का भी षड्यंत्र किया था, पर उसका पता निश्चित समय से कुछ पूर्व ही लग गया, अतः वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। बाद में इस बस्ती का नाम मुगलपुरा पड़ा।

अलाउद्दीन के शासन-काल में भी मुगलों ने भारत पर आक्रमण किया। पर वे जाफर खाँ द्वारा पराजित हुए और उनमें से लगभग तीन हजार कैदी बनाये गये। सन् १२९९ ई० में मुगलों ने तीसरी बार पुनः आक्रमण किया। इस समय वे दिल्ली-विजय की दृढ़ भावना से आये थे और बड़ी तेजी से वे

दिल्ली के समीप पहुँच गये। उधर से हजारों-लाखों की संख्या में भागकर सुलतान की प्रजा ने दिल्ली में शरण लिया। दिल्ली में सब सरायें, मस्जिदें, सड़कें आदि शरणार्थियों से खचाखच भर गयीं। सर्वत्र भय और आतंक छा गया। रसद की कमी से संकट के बादल मंडराने लगे। अलाउद्दीन ने अपने सेनापतियों की सभा की और उन्होंने मुगलों का सामना करने की राय सुलतान को दी। अलाउद्दीन स्वयं उनको मार भगाने के पक्ष में था। जफर खाँ की देख-रेख में सुलतान की सेना ने बड़ी वीरता के साथ मुगलों का सामना किया। उसी युद्ध में जफर खाँ की मृत्यु भी हो गयी। पर मुगल हार गये और उनकी सेना में भगदड़ मच गयी। मुगल भयभीत हो स्वदेश लौट गये और छः वर्ष तक इधर आने का साहस नहीं किया। इसके बाद सन् १३०४ में इन्होंने फिर आक्रमण किया। पर इस बार भी उन्हें पीछे लौटना पड़ा। अलाउद्दीन के समय में मुगलों का अन्तिम आक्रमण सन् १३०७-८ ई० में हुआ। इस बार भी मुगलों की हार हुई। सहस्रों मुगल तलवार की घाट उतार दिये गये। बहुत से मुगल अमीरों को जीवित हाथियों के नीचे कुचलवा दिया गया। मुगल इससे बहुत भयभीत हुए और पुनः अलाउद्दीन के शासन-काल में दिल्ली पर आक्रमण करने का उन्होंने दुःसाहस नहीं किया। सुलतान ने इस सम्बन्ध में बलवन की नीति का अनुसरण किया। नये किले बनवाये, पुराने किलों की मरम्मत करवायी और सेना में वृद्धि कर दी गयी। इस प्रकार सीमान्त की नीति में अलाउद्दीन ने बहुत दृढ़ता दिखलायी और देश की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर दी।

तुगलक वंश के शासन-काल में मुगल आक्रमण—मुहम्मद तुगलक के अव्यवस्थित शासन-काल में मुगल पुनः भारत पर आक्रमण करने लगे। सन् १३२९ ई० में मुगल सरदार तरमाशिरीन ने एक सेना के साथ सिन्ध नदी को पार किया और वह दिल्ली के निकट आ गया। सुलतान ने मुगलों का सामना करने की तैयारी की, पर उसे आत्म-विश्वास की कमी के कारण साहस नहीं हुआ। अतः मुहम्मद तुगलक ने मुगलों को बहुत धन देकर अपना पीछा छुड़ाया और वे सिन्ध तथा गुजरात होते हुये अपने देश को लौट गये। सुलतान के इस कार्य को कुछ इतिहासकारों ने बहुत बुरा बतलाया

है क्योंकि इससे दिल्ली सल्तनत की कमजोरी प्रकट होती है और मुगलों को भारत पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस नीति से निश्चय ही सल्तनत की प्रतिष्ठा को बहुत गहरा धक्का लगा और लोगों के मन में राज्यशक्ति के प्रति अश्रद्धा होने लगी। इसके बाद तुगलक वंश के शासन-काल के अन्तिम भाग में सन् १३९८ ई० में तैमूर लंग का वह घातक आक्रमण दिल्ली पर हुआ जिससे दिल्ली सल्तनत की कमर टूट गयी और उत्तर-पश्चिम भारत में हाहाकार मच गया। उस आक्रमण का सविस्तार वर्णन पीछे यथास्थान दिया जा चुका है। तैमूर के आक्रमण का प्रभाव भारतीय इतिहास में व्यापक और दुखदायी हुआ और मुल्तान, लाहौर, दिपालपुर का इलाका मुगलों के हाथ में चला गया। अन्तिम मुगल आक्रमणकारी बाबर ने सन् १५२६ ई० दिल्ली-सल्तनत को समाप्त कर दिया और उसने इस देश में एक नवीन राजवंश की स्थापना की जो मुगल वंश के नाम से विख्यात हुआ।

दिल्ली सल्तनत पर मंगोल आक्रमण का प्रभाव—सल्तनत को प्रारम्भ से ही मुगल-आक्रमण की समस्या का सामना करना पड़ा। यह समस्या भयानक थी अतः इसका प्रभाव सुलतान की नीति और कार्य-प्रणाली पर पड़ना आवश्यक हो गया। बलबन जैसे महत्त्वाकांक्षी सुलतान को मुगलों के कारण सदा सतर्क रहना पड़ता था, वह इस खतरे के भय से राजधानी छोड़ कर अधिक समय तक दूरस्थ प्रान्तों के विजय के लिए बाहर नहीं जाता था। उसने अपनी सल्तनत की अधिकांश शक्ति सीमान्त की रक्षा में ही लगायी और अपने दो योग्यतम पुत्रों को वहाँ नियुक्त किया। यदि मंगोल आक्रमण के भय से वह मुक्त होता तो तुर्क साम्राज्य की सीमा उसी के समय में अधिक विस्तृत हो जाती है। वह इस वास्तविक ख़तरे से भिज्ञ था और समझता था कि दिल्ली का स्थायित्व इसी समस्या को सुलझाने में निहित है।

अलाउद्दीन ने भी इस सम्बन्ध में बलबन की नीति का अनुसरण किया। इसीलिए उसने एक विशाल सेना का संगठन किया, पुराने किलों की मरम्मत करवायी, नये किले बनवाये। अतः शासन का व्यय उस समय अधिक बढ़ गया। सेना के स्थायित्व और विशालता की योजना के कार्य-क्रम का प्रेरक यही भय था।

मुहम्मद तुगलक के समय में मंगोल आक्रमण का प्रभाव और स्पष्ट हो गया। उसने रिश्वत देकर मुगल सरदार तार्नशिरीन से अपना पिण्ड छुड़ाया। इससे मुगलों को प्रोत्साहन मिला, राज्य की मर्यादा कम हो गयी और साम्राज्य के विघटन पर इस नीति का प्रभाव पड़ा। तैमूर लंग ने तो इस सल्तनत का विध्वंस ही कर दिया और प्रभुता के अभाव में साम्राज्य में सर्वत्र षड्यंत्र और विद्रोह होने लगे। अन्तिम मंगोल आक्रमण का प्रभाव अन्य आक्रमणों की तरह लूट-पाट नहीं था, बल्कि इस बार बाबर निश्चित रूप से भारत में साम्राज्य स्थापित करने आया था। वह अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुआ और भारतीय इतिहास नयी दिशा में मुड़ गया। इन राजनैतिक प्रभावों के अतिरिक्त मुगल-आक्रमणों से पंजाब-सिन्ध और दिल्ली की जनता को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। अनेक व्यक्ति तलवार के घाट उतार दिये गये, नगर विध्वंस हो गये और अपार सम्पत्ति लूट ली गयी। उनके नाम से जनता काँप उठती थी और उनके चंगुल में पड़ उन्हें अपने जान-माल की आशा बिलकुल छोड़ देनी पड़ती थी।

(घ) पठान कालीन कला संस्कृति और धर्म

भारतीय समाज में एक नयी धारा का समावेश—पठानों के आक्रमण और साम्राज्य-स्थापना के साथ-साथ भारत में एक ऐसी नयी जाति का प्रवेश हुआ जो अब तक यहाँ आयी जातियों से भिन्न थी। इसके पूर्व जो जातियाँ भारत में आक्रमणकारी के रूप में आयीं, वे सब भारतीय समाज में घुल मिल गयीं और विजयी होकर भी वे कालान्तर में भारतीय समाज द्वारा विजित हो गयी और यहाँ के समाज ने उन्हें आत्मसात् कर लिया। परन्तु मुसलमानों ने आरम्भ से ही अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखने का प्रयास किया और उन्हें इस कार्य में पूरी सफलता मिली। इसीलिए मुसलमानों के आक्रमण के कारण और उसके बाद की परिस्थितियों से भारतीय समाज में एक नयी समस्या पैदा हो गयी। इसके कई कारण थे। इस समस्या को पैदा करने और उसे बढ़ने देने का सब से प्रधान कारण भारतीय समाज के जीवन-तन्त्र की शिथिलता थी। उस समय तक भारतीय समाज की ग्रहणशीलता नष्ट हो चुकी थी और वह अपने भीतर ही ऐसा

गर्ववाद पैदा कर चुका था जिनमें पारस्परिक स्नेह और आत्मीयता का सर्वथा अभाव हो गया था। वह अपनी ही शाखाओं को अपना बनाकर रखने में असमर्थ हो गया था। ऐसी दशा में एक जीवित और सक्रिय जाति ने भारत में प्रवेश किया, अतः भारतीय समाज उसे अन्य जातियों की तरह आत्मसात नहीं कर सका। दूसरा मुख्य कारण मुसलमानों का अपने धर्म के प्रति अगाध प्रेम और उत्साह का होना था। वे इस देश में धर्म-प्रचार और काफिरों को इस्लाम में दीक्षित करने के जोश से ओत-प्रोत होकर आये थे। यहाँ आने के पूर्व उन्होंने एशिया और अफ्रिका के कतिपय देशों को जीत लिया था और उन देशों में अपने धर्म का झण्डा फैलाने में समर्थ हो चुके थे। उनकी सभ्यता और संस्कृति ऊँची थी, उनका सामाजिक संगठन दृढ़ था और उनकी सामरिक शक्ति मजबूत थी। अतः उनका पृथक बना रहना स्वाभाविक था। भारतीय जनता और राजाओं ने उनके साथ लोहा लिया, अपनी शक्ति भर उन्हें पृथक रखने और स्वयं उनके प्रभाव से बचने का प्रयास किया। इसके लिए उन्हें युद्ध करने पड़े जान-माल का नुकसान उठाना पड़ा, पर वे अन्त में मुसलमानों से राजनैतिक क्षेत्र में पराजित हुए और मुसलमानों की राजनैतिक प्रभुता के अन्दर भारतीयों को रहने के लिए विवश होना पड़ा। अपने राजनैतिक प्रभाव, सैनिक शक्ति, धर्म-प्रचार के उत्साह और भारतीय समाज की कमज़ोरियों के कारण यहाँ के कुछ लोगों ने इस्लाम स्वीकार किया और उनकी संख्या बढ़ गयी। इस प्रकार कालान्तर में वे भारतीय समाज के एक पृथक पर अविच्छिन्न एवं ठोस अंग के रूप में यहाँ के निवासी हो गये। इस नये तत्त्व ने भारतीय इतिहास, समाज और राजनीति को भविष्य में बहुत प्रभावित किया और इनसे अनेक नयी जटिल समस्याएँ पैदा होने लगी।

हिन्दूओं के साथ सल्तनत की नीति—दिल्ली के पठान सुलतान इस्लाम के रक्षक थे। वे अपने को विदेशी भी समझते थे। उनका उद्देश्य साम्राज्य स्थापित करना और इस्लाम का प्रचार करना था। अतः हिन्दुओं को वे अपनी प्रजा नहीं समझते थे और उन पर शासन करना उनका वैसा उत्तरदायित्वपूर्ण काम नहीं था, जैसा वे इस्लाम के मानने वालों के विषय में सोचते थे। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान समान नहीं थे। हिन्दुओं

के सुख-दुख की चिन्ता उनके लिए गौण थी। हिन्दुओं को दबाने और उन्हें अपमानित करने में वे तनिक नहीं हिचकते थे। युद्ध के समय हिन्दुओं की हत्या करवा देना मामूली बात थी। उनके मन्दिरों को तोड़कर सम्पत्ति लूटना और वहाँ मस्जिद बनवा देना मुसलमान शासकों का पवित्र कर्तव्य होता था। हिन्दुओं की धार्मिक तथा सामाजिक दशा, रीति रिवाज और परिपाटियों का मेल इस्लाम से नहीं बैठता था। वर्णाश्रम और जाति व्यवस्था, मूर्ति पूजा, बहुदेवी-देवतावाद का इस्लाम में कोई स्थान नहीं था और नये शासक इनके परम शत्रु थे। मुसलमान इनके कट्टर विरोधी थे और वे सदा इनका नाश करने पर तैयार रहते थे। अतः पठान शासन-काल में भारत के सामाजिक जीवन की दो विरोधी धारायें स्पष्ट हो चलीं और उनका संघर्ष भी प्रायः लगातार चलता रहा। इसके अतिरिक्त बाहर से आने वाले मुसलमान अपने को ऊँचा समझते थे और वे यहाँ के हिन्दुओं और भारतीय मुसलमानों को हेय मानते थे। राजवंश के होने के नाते वे अपने को उच्च समझते थे और अन्य सब को हेय दृष्टि से देखते थे। ऐबक और अल्तमश ने हिन्दुओं के हजारों मन्दिरों को तोड़ा और उनके पत्थरों से दिल्ली और अजमेर में अनेक मस्जिदें बनवायी। सुलतानों की कठोर नीति के कारण कुछ हिन्दू मुसलमान होने लगे। पर भारतीय मुसलमानों को भी विदेशी मुसलमान सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। बलवन के समय में हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच भेद भाव कुछ कम हो चला क्योंकि उनकी शासन सम्बन्धी नीति अपेक्षाकृत भेदभाव से रहित थी। कुछ समय के बाद अलाउद्दीन ने अनुभव किया कि उसकी सल्तनत में विद्रोह हिन्दुओं द्वारा ही होते हैं। अतः उसने हिन्दुओं को दबाने के लिए विशेष नियम बनाये। उनसे भूमि कर अधिक लिया जाता था, उनसे और अन्य कर भी लिये जाते थे। सर हेग के शब्दों में 'हिन्दू गरीबी की सीमा पर पहुँच गये, उनकी सारी सम्पत्ति सरकार कर के रूप में ले लेती थी, पहले के धनी और सम्पन्न हिन्दू सर्वथा निर्धन हो गये।' सल्तनत के उत्तरार्द्ध काल में हिन्दुओं की दशा और शोचनीय होने लगी। उनके लिए मृत्यु या इस्लाम स्वीकार करना या जजिया देना—ये ही तीन रास्ते थे। हिन्दू राजाओं और देवालयों को लूटना और ध्वस्त करना ही अधिकांश सुलतानों की सफलता का माप-दण्ड था।

मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में सल्तनत की ओर से कुछ सहिष्णुता की नीति अपनायी गयी। सुलतान ने अन्य धर्म वालों के साथ उदारता और सहानुभूति का व्यवहार किया पर उसके उत्तराधिकारी फीरोज के शासन-काल में पुनः धार्मिक पक्षपात और असहिष्णुता की नीति का बोल बाला हो गया। फीरोज उल्माओं के अत्यधिक प्रभाव में था। वह अपने को इस्लाम का रक्षक और हिन्दू धर्म का विध्वंसक मानता था। उसकी राजनीति पूरी तरह कुरान की अनुगामिनी हो गयी। उसके समय में जजिया का बड़ा जोर था। इस्लाम के विरुद्ध उसकाने वाले हिन्दुओं को वह जिन्दा जलवा देता था। मन्दिरों से मूतियाँ तोड़कर फेंक दी जाती थीं और सुलतान के आदेशानुसार उन्हें अपमानित किया जाता था। फीरोज ने जगन्नाथ के मन्दिर को तोड़ा, और मूतियों को फेंकवा दिया। नगरकोट के आक्रमण के समय उसने वहाँ के ज्वालामुखी देवी के प्रसिद्ध मन्दिर को बिलकुल ध्वस्त करा दिया। उसने शाक्त सम्प्रदाय के हिन्दुओं के साथ बहुत कठोर व्यवहार किया। फीरोज की इस कट्टर धार्मिक नीति से हिन्दू बहुत दुखी थे और उनमें सल्तनत के प्रति गहरा असन्तोष फैला जिसका परिणाम सल्तनत के लिए अच्छा नहीं हुआ।

इन बातों से स्पष्ट है कि पठान शासकों में अभी तक शेरशाह और अकबर की प्रौढ़ विचार धारा नहीं पैदा हो सकी थी। उनका दृष्टिकोण संकुचित था और वे अपने साम्राज्य का आधार पाशविक बल और सेना को ही बनाना अच्छा और सुरक्षित समझते थे। उन्होंने अपने शासन का आधार जनता का प्रेम और राष्ट्रीयता की गहरी भावना को नहीं बनाया। इस दिशा में उनका दृष्टिकोण व्यापक और स्वस्थ नहीं था। वे अन्त तक भारत को अपना नहीं बना सके और भारतीय जनता ने भी उन्हें अपना शासक नहीं समझा। वास्तव में पठान सल्तनत की सब से बड़ी कमजोरी यही थी।

सामाजिक जीवन—इस युग में भारतीय समाज दो मुख्य वर्गों में विभाजित था। एक वर्ग में बहु संख्यक हिन्दू जनता थी और दूसरे में अल्प

-संख्यक मुसलमान थे। हिन्दू अपनी सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक दृष्टिकोण में प्रायः सर्वत्र एक समान थे। जाति-पाँति के भेदभाव, खान-पान के बंधन, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड का व्यापक और दुरूह जाल सर्वत्र समान रूप से व्याप्त था। समाज का संगठन संयुक्त कुटुम्ब की परिपाटी पर आश्रित था। समाज का नैतिक और धार्मिक नेतृत्व ब्राह्मण-वर्ग के हाथ में था और उन्हीं की बातों को लोग प्रमाण मानते थे। अनेक देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन था और हिन्दुओं में बहुत-से सम्प्रदाय हो गये थे। विष्णु, शिव, दुर्गा की पूजा मुख्य रूप से होती थी। जाति-पाँति के बन्धन बहुत कठोर थे। बौद्ध धर्म विलुप्त-प्राय था। धर्म ग्रंथ संस्कृत में थे और उनका पठन-पाठन कुछ ब्राह्मणों तक ही सीमित था।

स्त्रियों की स्थिति इस युग में सन्तोषजनक नहीं थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। उनमें सती की प्रथा का प्रचार कहीं-कहीं था। बहुविवाह भी होता था। मुसलमानों के आक्रमण के बाद पर्दा की प्रथा बढ़ गयी, पर कुछ छोटी जाति की स्त्रियों में उस समय भी पर्दा कम होता था। यों तो जादू-टोना, मंत्र, जप-जाप तथा अन्य प्रकार के अंध विश्वास का जोर सबमें अधिक था, पर इसका प्रभाव स्त्रियों में अधिक था। आरम्भ में जो तुर्क यहाँ आये, वे अपने साथ स्त्रियों को नहीं लाये थे। अतः उन्होंने यहाँ की हिन्दू स्त्रियों के साथ विवाह किया। इस प्रकार स्त्रियों को पर्दा में रखने, उन्हें बाहर के कामों से रोकने और मुसलमानों से बचाने के प्रयास किये गये। इसी-लिए उनके विकास का मार्ग कुछ अवरुद्ध हो चला।

हिन्दू और मुसलमान में प्रायः सदा संघर्ष चलता था। इससे हिन्दुओं की दशा निरन्तर बिगड़ती गयी। न वे विश्वास के पात्र समझे जाते थे और न उन्हें शासन में ऊँचा पद दिया जाता था। उन पर इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए दबाव डाला जाता था। उनपर जजिया जैसा धार्मिक कर लिया जाता था। इस्लाम के विरोध करने वालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। हिन्दुओं को अपना सिर उठा कर चलना भी सम्भव नहीं था। उन्हें अपनी सम्पत्ति छिपा कर ही रखनी पड़ती थी। उनके लिए घोड़े पर सवारी करना भी मना था। वे अपने उत्सव और त्यौहार के समय भी दबे रहते थे। गरीबों के

कारण हिन्दू स्त्रियों को मुसलमानों के घरों में काम करने के लिए विवश होना पड़ता था। हिन्दुओं को सदा अपमानित होने का भय लगा रहता था और वे अच्छे कपड़े और शृङ्गार की वस्तुओं के प्रयोग से डरते थे। दिल्ली सल्तनत की स्थापना और उसके विस्तार के साथ-साथ हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या मुसलमान होने लगी। इसके कई कारण थे। (१) कुछ हिन्दुओं ने भयभीत होकर इस्लाम धर्म स्वीकार किया। चूँकि सुलतान और उनके सैनिक हिन्दुओं के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार करते थे, अतः कुछ लोग उससे बचने के लिए और कुछ अन्य हिन्दुओं ने कष्टों की अधिकता के कारण विजेता के धर्म को स्वीकार कर अपने को बचाया। (२) कुछ हिन्दुओं ने आर्थिक कठिनाइयों से विवश होकर मुसलमान बनना स्वीकार किया, क्योंकि वे ऐसा करने से अनेक प्रकार के धार्मिक और अन्य करों से मुक्त हो जाते थे और लूट-पाट से भी बच जाते थे। उस समय मुसलमान होकर कुछ लोगों को उच्च पद भी मिल जाते थे, इससे उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाती थी। (३) यह भी सच है कि इस्लाम धर्म में ऊँच-नीच जातियों का विधान नहीं है। अतः शूद्रों में बहुत बड़ी संख्या में छुआछूत के अभिशाप से बचने के लिए लोगों ने इस्लाम का आलिंगन कर लिया। इस वर्ग के लिए इस्लाम में आकर्षण था। अतः शूद्रों के एक बड़े भाग ने इस्लाम ग्रहण किया। (४) प्रारम्भ में तुर्कों ने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किया और उनमें बहु-विवाह की प्रथा तथा विलासिता के जीवन के कारण सन्तानों की संख्या अधिक हुई। (५) वे युद्ध में जिनको कैदी बना लेते थे उन्हें विजेता मुसलमान अपना गुलाम बनाकर रखते थे। ये गुलाम धीरे-धीरे मुसलमान बन जाते थे। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के लगभग ३०० वर्षों के शासन-काल में भारत में मुसलमानों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी। (६) समय की गति के साथ-साथ साम्राज्य की नींव गहरी और दृढ़ होती गयी और प्रति वर्ष अधिक तुर्क दिल्ली, पंजाब, सिंध आदि इलाकों में बसते गये।

मुसलमानों का सामाजिक जीवन—इस काल में मुसलमान भारतीय जीवन के एक अविच्छिन्न अंग बन गये। उनकी संख्या दिन-दिन बढ़ने लगी और वे शासक-वर्ग के होने के नाते प्रभाव तथा शक्ति सम्पन्न

हो गये। निसन्देह मुसलमानों की सामाजिक स्थिति हिन्दुओं से अच्छी थी। मुसलमानों को उस समय हर प्रकार की सुविधा थी। वे राज्य में ऊँचे पदों पर नियुक्त किये जाते थे, राज्य की दृष्टि में आदर के पात्र थे और प्रारम्भ में उनमें उत्साह, साहस, परिश्रम तथा चरित्र के अच्छे गुण मौजूद थे। बाद को वे विलासी हो गये और उनमें मद्यपान, दुराचार के अवगुण आ गये। उनमें बहु विवाह की प्रथा थी। उनकी स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं। मुसलमानों में दास-प्रथा का प्रचलन था। मुसलमानों को पूरी धार्मिक स्वतंत्रता थी। नित्य उनके लिए नयी-नयी मस्जिदें बनती थीं। तुर्कों में अरब लोगों की तरह सामाजिक एकता नहीं थी। उनमें कुछ वर्ग थे; वे शेख, सैयद, मुगल, पठान आदि श्रेणियों में विभाजित थे। पर हिन्दुओं की जाति-संकीर्णता और जटिलता उनमें नहीं थी। सैयद लोगों का उनके समाज में विशेष आदर था क्योंकि वे अपने को पैगम्बर के वंशज बताते थे। राजनीतिक जीवन में अधिक प्रभाव खाँ और अमीर वर्ग के लोगों का था क्योंकि राज्य के उच्च पद पर उनकी नियुक्ति होती थी।

मुसलमानों में अधिक संख्या उन लोगों की थी जो हिन्दू से मुसलमान हुये थे। वे भारतीय मुसलमान समझे जाते थे और सामाजिक प्रतिष्ठा तथा राजकीय सम्मान में बाहर से आये मुसलमानों के समक्ष इनका स्तर नीचा समझा जाता था। फिर भी वे अपने को शासक वर्ग का ही समझते थे और इस्लाम के प्रचार में बहुत उत्साह दिखाते थे। उनकी आर्थिक दशा हिन्दुओं से अच्छी थी। मुसलमानों में शेख, सैयद, मुगल, पठान आदि वर्ग की लड़कियों की शादी इन भारतीय मुसलमानों के यहाँ प्रायः नहीं होती थी। पर धार्मिक क्षेत्र में इनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था और वे इस्लाम की विशाल बिरादरी के एक स्थायी अंग हो गये।

हिन्दू-मुसलमान-सम्पर्क-जनित नयी धारा

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद हिन्दू और इस्लाम धर्म का सम्पर्क हुआ और सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में एक नयी धारा का सूत्रपात हुआ जिसे दो सभ्यताओं, धर्मों तथा संस्कृतियों के सम्पर्क से पैदा होने वाला एक समन्वय कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के समन्वय का होना

स्वाभाविक है। बारहवीं शताब्दी के बाद दिल्ली सल्तनत के विस्तार के साथ-साथ इस्लाम का प्रचार भी जोरों के साथ हुआ। इस व्यापक तथा शीघ्र प्रचार की सफलता के अनेक कारण थे—(१) इस्लाम की आडम्बरहीन उपासना और सादगी ने लोगों को अपनी ओर आसानी से खींच लिया। (२) एकेश्वर-वाद के कारण ही इस्लाम बहुदेववाद द्वारा पैदा होने वाली बुराइयों से बच गया। लोगों को तर्क-वितर्क की गुंजायश इस प्रकार के सिद्धान्त में बहुत कम मिलती है। (३) हिन्दुओं की जाति प्रथा और अस्पृश्यता से भी इस्लाम के प्रचार में सहायता मिली। दलित जाति के लोगों ने अधिक संख्या में इस्लाम को स्वीकार कर लिया। (४) इस्लाम को राज्य की पूरी मदद मिली और पठान सुलतानों की नीति साम्राज्य-स्थापना के साथ अपने धर्म का प्रचार करना भी था। (५) इस्लाम धर्म स्वीकार करने से उस समय आर्थिक लाभ भी थे। लोगों को इस्लाम स्वीकार करने के बदले में अनेक प्रकार के राजकीय करों से छुट-कारा मिल जाता था। राज्य में सरकारी पद भी आसानी से सुलभ हो जाते थे। उनका भविष्य सुरक्षित हो जाता था। (६) हिन्दुओं और बौद्धों की तरह मुसलमानों में भी फकीर होते थे जो त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। वे जनता में घूम-घूम कर अपनी सादगी, तपस्या और पवित्रता के कारण उन्हें प्रभावित करते थे। ऐसे फकीरों में सूफी सन्तों का नाम अग्र-गण्य है।

सूफी मत—सूफी मत इस्लाम धर्म का एक सम्प्रदाय है। इसके मानने वाले रहस्यवादी होते थे। वे धर्म-प्रचार में तलवार की सहायता नहीं पसन्द करते थे। वे सादा जीवन और उच्च विचार पर अधिक जोर देते थे। ये सादगी संयम और मानव-सेवा द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने पर अधिक बल दिया करते थे। इस धर्म के प्रचारकों का अधिक प्रभाव फारस में था। इस्लाम के प्रचार के साथ यह सम्प्रदाय भारत में भी आया और अपने विचारों का प्रचार करने लगा। वे ईश्वर-प्रेम और मानव सेवा को ही अपना सम्बल मानते थे और भावुकता का पुट देकर अपने मत का प्रचार करते थे। सिद्धान्त में यह मत भारत के उपनिषदों में वर्णित अध्यात्मवाद के नजदीक पड़ता था। अतः सूफी संतों की वाणी का भारत में व्यापक प्रचार हुआ।

सूफी संतों में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (सन् ११४२—१२३६ ई०) का नाम विशेष प्रसिद्ध है। आपका जन्म मध्य एशिया में हुआ था। बचपन में ही आप ईश्वर-भक्त हो संसार से विमुक्त हो गये और इस्लाम के पवित्र स्थानों के दर्शन के लिए निकल पड़े। आप सूफी मत के चिश्ती सम्प्रदाय के अध्यक्ष-पद पर निर्वाचित हुये और तत्पश्चात् भारत में अपने मत प्रचार के लिये आये। सन् ११६६ ई० आपने अजमेर को अपना स्थायी केन्द्र-स्थान बनाया और वे वहीं रह कर अपने मत का प्रचार करने लगे। यहीं पर ७० वर्ष तक निवास करने के बाद आप सन् १२३६ ई० में परलोकवासी हुये। उस इलाके में ख्वाजा मुईनुद्दीन साहब का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। आज भी हजारों हिन्दू तथा मुसलमान ख्वाजा की समाधि के दर्शन के निमित्त प्रतिवर्ष अजमेर आते हैं। इस सम्प्रदाय के दूसरे सन्त बाबा फरीदुद्दीन थे जिनका जन्म सन् ११७२ ई० में काबुल के एक राजवंश में हुआ था। आपने वैराग्य लेकर सूफी मत की दीक्षा ली और मुलतान तथा दिल्ली के बीच सतलज के किनारे कुटी बनाकर रहने लगे। आप बड़े ऊँचे विचार के व्यक्ति थे और आपकाप्रभाव भी व्यापक था। हिन्दू-मुसलमान दोनों आपके शिष्य थे। सन् १२६५ ई० में आप का स्वर्गवास हुआ। तीसरे संत ख्वाजा बन्दे नवाज थे जो गेसू दराज के नाम से विख्यात हुये। आप का अधिक समय दिल्ली और दक्षिण भारत में व्यतीत हुआ। आप का जन्म सन् १३२१ ई० दिल्ली में हुआ और मृत्यु १४२२ ई० में दक्षिण में हुई। गुलबर्गा में आप की समाधि पर आज भी प्रतिवर्ष बड़ा मेला लगता है। इन संतों ने जनता में ईश्वर-प्रेम का प्रचार किया और हिन्दू-मुसलमान के भेदभाव को दूर करने की कोशिश की। अमीर खुसरो जैसे कवियों ने इनके मत का प्रचार अपनी साहित्यिक रचनाओं द्वारा किया। इन संतों ने अपनी-अपनी शिष्य-परम्पराएँ चलायी जो इनकी मृत्यु के बाद भी सूफी मत के प्रचार में लगे रहे। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही इस मत की ओर आकृष्ट हुये। इनसे भारत में धार्मिक-विद्वेष और कट्टरवाद के वातावरण दूर करने में काफी मदद मिली।

भक्ति आन्दोलन—सूफी मत के प्रचार के साथ-साथ हिन्दुओं में भी एक नयी विचार धारा पैदा हुई। आगे चलकर वह मध्यकालीन युग के

भक्ति-आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्कालीन भारतीय सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले आन्दोलनों में इसका प्रमुख स्थान है। इस नयी धारा को पैदा करने में इन कारणों से सहायता मिली—(१) तत्कालीन हिन्दू समाज की दशा संतोषजनक नहीं थी। हिन्दुओं की राजनीतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी थी और वे एक ऐसी सल्तनत की प्रजा हो गये थे जो उन्हें अभी अपना नहीं समझती थी। ऐसी दशा में आश्रय की खोज करना प्रत्येक हिन्दू के लिये स्वाभाविक था। अतः कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों का ध्यान प्रेम-मय भगवान की ओर आकर्षित किया जो सबको समान और अपना समझता है और सबकी नाव पार लगाने वाला है। (२) अपने को पराधीन पाकर उस समय भारत के निवासियों की क्रियात्मक शक्ति के प्रकट होने का कोई उचित मार्ग नहीं रह गया अतः उनकी विचारधारा भजन-भक्ति की ओर गयी और उन्होंने भगवान को प्राप्त करने और इस लोक के कष्टों को भूलने का एक नया मार्ग निकाला। (३) पठान सल्तनत के विस्तार के साथ-साथ मुसलमान फकीरों का प्रभाव भी बढ़ने लगा। हिन्दू-जनता भी उनके सम्पर्क में आयी और वे उन सूफी संतों की ओर आकृष्ट हुई। इससे उनमें भी ईश्वर के प्रति प्रेम और आराधना का सक्रिय भाव पैदा हुआ और वे लोग अद्वैत सत्ता पर जोर देने लगे। (४) साथ ही हिन्दुओं ने यह महसूस किया कि उनकी सामाजिक और धार्मिक दशा में अनेक दोष घुस गये है अतः उनके समाज की पाचनशीलता पूर्ववत नहीं रह गयी है और इस निष्क्रियता एवं शिथिलता के कारण उन्हें इस नई स्थिति में नुकसान उठाना पड़ता है। अतः सुधारकों ने धार्मिक बातों को अधिक स्पष्ट बनाने की चेष्टा की और एकेश्वरवाद और भक्ति पर जोर देना शुरू किया। उन्होंने समसामयिक पराधीनता को भूल जाने के लिए यह प्रचार किया कि मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति और मोक्ष ईश्वर की दया से ही मिल सकता है। (५) कुछ दूरदर्शी विचारकों ने यह भी सोचा कि भारतीय जन-जीवन में ईर्ष्या, कटुता और धार्मिक कट्टरवाद तथा संकुचित विचारों ने जोर पकड़ लिया है और इससे जन-जीवन विषाक्त होता जा रहा है। नित्य-प्रति का ऐसा कलंक देश और समाज के लिए बहुत दुखद हो रहा था। इस विचार से कुछ लोगों ने समन्वय की भावना को प्रोत्साहित किया और ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकाला जिससे हिन्दू-मुसलमान दोनों बिना शत्रुता के अपने अपने

ढंग से ईश्वर-प्राप्ति में लगे रहे। भक्ति-आन्दोलन ने भारत की इन दो विरोधी जातियों को एक दूसरे के निकट लाने में बड़ा योग दिया।

भक्ति की विचार-धारा के स्रोत उपनिषद हैं। शंकराचार्य ने भी इस प्रकार की विचार-धारा का विश्लेषण किया था पर उसमें ज्ञान की प्रधानता थी और उस प्रकार का उच्च ज्ञान सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं हो सकता था। पुनः उसका प्रादुर्भाव एक नये स्वरूप में हुआ। इस नये युग में इसके सर्व प्रथमप्रणेता **स्वामी रामानुचार्य** थे जिनका जन्म दक्षिण में सन् १०१६ ई० में हुआ था। आप की शिक्षा कांची में हुई और अन्त में आपने मैसूर में अपना जीवन व्यतीत किया। आपको चोल राजा कुलोतुंग ने शैव बनने के लिए जोर डाला, अतः आप मैसूर चले गये। वहाँ का होयसल राजा विष्णु-वर्धन था। रामानुज के प्रभाव से वह वैष्णव हो गया। रामानुज विष्णु और लक्ष्मी के उपासक थे। उनका विश्वास था कि विष्णु सबसे बड़े देव हैं और वे मनुष्य कर दया पर पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। वे ईश्वर को प्रेम और सौन्दर्य का रूप मानते थे। आपका प्रचार और प्रभाव व्यापक था। आपने अनेक संस्कृत ग्रंथों की रचना की। आप राम को विष्णु का अवतार मानते थे। दक्षिण भारत में आपके उपदेशों का खूब प्रचार हुआ। उन्हीं के सम-कालीन **स्वामी निम्बार्काचार्य** थे। आपका जन्म मद्रास के बेलारी जिले में निम्बापुर स्थान पर हुआ। आप ने मध्यम मार्ग का प्रचार किया। आप जीवात्मा और परमात्मा को एक दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनों मानते हैं। आप कृष्ण-भक्त थे। सन् १२००ई० में शृंगेरि से कुछ दूर एक तीसरे महात्मा **माधवाचार्य** का जन्म हुआ। बाल्यकाल ही से आप संसार से विरक्त हो गये थे। आप भी विष्णु के उपासक थे। आप का कहना था कि मानवजीवन का अन्तिम लक्ष्य हरि-दर्शन करना है। यह दर्शन भक्ति से प्राप्त होता है। यही मोक्ष-मार्ग है। आप ने वेदान्तसूत्र पर बहुत गम्भीर ग्रंथ भी लिखा है।

इन तीनों महात्माओं की वाणी का प्रचार दक्षिण भारत में हुआ, और उत्तर भारत में कुछ दिन के बाद उनके उपदेशों का प्रभाव पहुँचा। तुगलक वंश के शासन-काल में दक्षिण भारत में **रामानन्द** जी का जन्म हुआ। पर आप ने अपना कार्य-क्षेत्र काशी रक्खा। आप ने वहीं रहना प्रारम्भ किया। उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन के मूल प्रवर्तक

आप ही हुए। आप का विश्वास था कि राम विष्णु के अवतार थे। आपके विचार क्रान्तिकारी थे। आप जाति-पाति में विश्वास नहीं करते थे। आपका कहना था कि राम नाम जपने से जाति-पाँति के सब बंधन टूट जाते हैं और राम की शरण में आकर सब मनुष्य समान हो जाते हैं। उनके समाज में सब वर्ग और वर्ण के व्यक्ति थे। आपने साधारण जनता की भाषा में उपदेश देना प्रारम्भ किया। आपने वैष्णव (भागवत) धर्म का खूब प्रचार किया। आपके प्रधान शिष्यों में कबीर का नाम अग्रगण्य है। उस समय की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में रामानन्द जी का नाम सबसे आगे है। आपने हिन्दू जाति की अन्तरात्मा को प्रतिध्वनित कर दिया और हिन्दू समाज को एक नयी दिशा में मोड़ने का प्रयास किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में एक दूसरे अन्य आचार्य श्री बल्लभाचार्य जी हुए। आपका जन्म भी दक्षिण भारत के तेलगू प्रान्त में सन् १४७९ में हुआ था। आप का अधिकांश समय वृन्दावन, मथुरा और काशी में बीता। आपसंसार के भोग-विलास को त्याग ईश्वर-भक्ति पर जोर देते थे। आप कृष्ण के उपासक थे और उन्हें विष्णु का अवतार मानते थे। आपके उपदेश के अनुसार ईश्वर की दया भक्ति और प्रेम से प्राप्त हो सकती है। आपने अनेक ग्रंथरचे और अपनी विचार-धारा का प्रचार किया। उत्तरी भारत के प्रधान सन्त और उपदेशक चैतन्य महाप्रभु भी थे। आप बल्लभाचार्य जी के समकालीन थे। आप का जन्म बंगाल के नदिया जिले में सन् १४८५ ई० में हुआ। आपने २५ वर्ष की अवस्था में सन्यास लेकर देश का भ्रमण किया। आपने अपने जीवन के अन्तिम १६ वर्ष पुरी में बिताया। आप जाति-पाँति की प्रथा का विरोध करते थे। हरि-कीर्तन और भगवान के गुण-गान को आप मोक्ष का साधन मानते थे। आप की राय में मनुष्य की आत्मा राधा है और उसे कृष्ण में लीन रहना चाहिए। ईश्वर-प्रेम ही मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य है। आप तत्कालीन सामाजिक बुराइयों की भर्त्सना करते थे। जाति-पाँति, माँस-भक्षण, मद्य-पान, पशु-बलि का आपने घोर विरोध किया। आचरण की शुद्धता पर आप अधिक जोर देते थे। आपने गोसाईं नाम का एक संघ भी स्थापित किया। आपकी प्रतिभा विलक्षण थी और आपका प्रभाव व्यापक रहा। आज भी बंगाल उनके रंग में रंगा है। उसी समय पंजाब में एक अन्य सन्त का जन्म हुआ जो **गुरू नानक** के नाम से

प्रसिद्ध हुए। आपका जन्म लाहौर के निकट तालबन्दी नामक गाँव में सन् १४६६ ई० में हुआ था। आप सिक्ख धर्म के संस्थापक हुए। आपने धार्मिक आडम्बरों और अन्धविश्वासों की घोर निन्दा की और मूर्ति-पूजा का विरोध किया। आपकी राय के अनुसार शुद्ध तथा सरल गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने वालों को भी मोक्ष मिल सकता है। आप एकेश्वरवादी थे और जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर करने का प्रयास करते थे। इस शताब्दी के प्रधान सुधारकों में गुरु नानक का नाम प्रसिद्ध है। आपकी शिक्षायें "आदि ग्रन्थ" में पायी जाती हैं जो सिक्खों का धर्म-ग्रंथ है।

इन महात्माओं के अतिरिक्त कबीर मीराबाई और नामदेव आदि अन्य कतिपय उपदेशक भी इस काल में हुए। कबीर का जन्म एक अज्ञात परिवार में काशी में सन् १३६६ के लगभग हुआ था। इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के घर में हुआ और इनका लालन-पोषण नीरू और नीमा नामक दम्पति ने जो जुलाहे थे, किया। आप रामनन्द के प्रधान शिष्य थे। आपने धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध बहुत कड़ी भाषा का प्रयोग किया, हिन्दू मुसलमान दोनों को वे धर्मान्धता और कट्टरता के कारण फटकारते थे। आप मूर्ति पूजा के विरोधी थे। आपको बाह्याडम्बर से घृणा थी। आप अद्वैत-वादी थे और निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करते थे। आपने ठेठ हिन्दी में अपने विचारों को लिखा। आप के शिष्य और मतावलम्बी 'कबीर-पंथी' कहलाते हैं। कबीर अपनी रहस्यात्मक तथा व्यंगात्मक विचार-प्रकाशन के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उत्तरी भारत के धर्म सुधारकों में आपका विशिष्ट स्थान है। **मीराबाई** भी उस युग की एक प्रचारक थीं। आप मेवाड़ के राना कुम्भ (सन् १४३३—१४६८ ई०) की पत्नी थीं। पर आपने अपना जीवन कृष्ण-भक्ति में व्यतीत किया। आप उच्चकोटि की कवियत्री थी और भक्ति में लीन होने पर आपके मुख से कृष्ण गुणगान सम्बन्धी बड़े मधुर भजन निकलते थे। **नामदेव** का जन्म दक्षिण में तेरहवीं सदी के अन्त में एक छोटी जाति के परिवार में हुआ था। आप भी ईश्वर-भक्ति को ही मोक्ष का साधन मानते थे।

भक्ति आन्दोलन का प्रभाव—ऊपर जिस नयी विचार-धारा के

प्रवाह का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, उसका स्रोत सर्वप्रथम दक्षिण भारत में बारहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ, और तेरवहीं सदी में प्रौढ़ होकर उस धारा ने उत्तरी भारत को भी प्रभावित करना शुरु किया। पन्द्रहवीं सदी तक इस भक्ति आन्दोलन का प्रभाव-क्षेत्र भारत व्यापी हो गया। इस आन्दोलन का भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। क्योंकि भारतीय समाज पर इसका प्रभाव व्यापक और गहरा पड़ा। (१) इन सुधारकों ने एक स्वर से भारतीय जीवन और धर्म में घुसे हुए वाह्याडम्बरों की तीव्र भर्त्सना की और जीवन को सादा और आचरण को पवित्र बनाने का सन्देश दिया। (२) सब ने जाति भेद, ऊँचनीच और मूर्ति पूजा आदि का खण्डन किया और इससे ग्रसित समाज की रक्षा का दरवाजा खोल दिया। (३) इसका एक प्रभाव यह भी पड़ा कि मुसलमान शासक हिन्दू-मुसलमान के भेदभाव को कम करने लगे और आपस का बिलगाव धीरे धीरे दूर होने लगा। निरन्तर बढ़ती कटुता की धारा धीमी पड़ने लगी और समाज का विष धीरे धीरे दूर होने लगा। (४) इन महात्माओं के उपदेशों से हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच समन्वय की भावना को प्रोत्साहन मिला जिससे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का एक नवीन आवरण तैयार हुआ। (५) इन महात्माओं ने ईश्वर-प्रेम तथा भक्ति पर जोर देकर सब धर्मों की मौलिक एकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। (६) सब के प्रेममय उपदेश से समाज में स्निग्धता, उदारता, सौम्य तथा सद्भावना की प्रवृत्ति को शक्ति मिली और सामाजिक जीवन की रूक्षता कम होने लगी। (७) इन्होंने मनुष्य का ध्यान कर्म की श्रेष्ठता की ओर आर्पित किया और इससे उनमें आत्मगौरव का भाव पैदा किया। (८) इन महात्माओं के उपदेशों ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को साथ-साथ बैठकर उपदेश सुनने का अवसर दिया। इससे वे एक दूसरे को समझने का प्रयास करने लगे। (६) इनमें से अधिकांश महात्माओं ने लोक-भाषा में ही अपने उपदेश दिये। इससे प्रान्तीय भाषाओं और विशेषकर हिन्दी की प्रगति का मार्ग खुल गया और उसके साहित्य की अभिवृद्धि हुई। (१०) हिन्दू जनता की राजनैतिक पराधीनता-जनित निराशा को कम करने में इस आन्दोलन ने बहुत काम किया। इस प्रकार तेरहवीं, चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं सदियों के इस नये आन्दोलन से भारतीय जनता का नैराश्य दूर हुआ, उनमें संकीर्णता के स्थान पर उदारता को

प्रोत्साहन मिला, और मानव जीवन की सार्थकता की ओर लोगों की अभिरुचि बढ़ी। भारतीय समाज के बढ़ते दोषों को एक प्रकार से रोकने और नये जीवन-दान देने का काम इस भक्ति-आन्दोलन के द्वारा हुआ। भारत की दलित जातियों को नया उत्साह और नयी आशा मिली, उच्च जाति के लोगों का आडम्बर रुका और उन्हें अपनी कमजोरी को समझने की प्रेरणा प्राप्त हुई। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इस भक्ति आन्दोलन ने पर्याप्त प्रभाव डाला। बड़े, विवेकी और प्रतिभशाली महात्माओं के बाद उनके शिष्यों और भक्तों ने इस परम्परा को बनाये रखने का प्रयास किया इसीलिए आज भी भारतीय संस्कृति में इस युग के इतिहास का एक प्रमुख स्थान बना हुआ है।

साहित्य की उन्नति—दिल्ली सल्तनत के शासन-काल में साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति और अभिवृद्धि हुई। दिल्ली के अधिकांश सुलतान फारसी और अरबी लेखकों तथा विद्वानों के आश्रयदाता थे। मुगलों के भय से अनेक विद्वान मध्य एशिया से भागकर दिल्ली में शरण लिया करते थे। अतः इस युग में अनेक नये ग्रंथ लिखे गये और उच्च कोटि के साहित्य का सृजन हुआ। अलबरूनी ने तत्कालीन भारत की दशा का वर्णन अपनी पुस्तकों में किया है। वह संस्कृत का भी अच्छा ज्ञाता था, उसने अपनी पुस्तक "तहकीके हिन्द" में ग्यारहवीं सदी के भारत की दशा का वर्णन किया है। सिराज ने गुलामवंश के समय का इतिहास अपनी पुस्तक "तबकाते नासिरी" में लिखा है। बरनी ने फीरोजशाह तुगलक के शासनकाल में "तारीखे फीरोज शाही" नामक पुस्तक लिखी। इन पुस्तकों से उस समय की राजनीति, समाज और जनजीवन का ज्ञान प्राप्त होता है।

इसी युग में अमीर खुसरो और मीर सहन देहलवी नेअपनी साहित्यिक रचनाएँ लिखीं। अमीर खुसरो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ कवि था उसका जन्म सन् १२५४ ई० में हुआ और वह सन् १३२५ ई० में परलोकवासी हुआ। दिल्ली की शक्ति कमजोर होने पर कुछ प्रान्तीय शासकों ने भी साहित्य और कला को प्रोत्साहन दिया। उनमें जौनपुर के शर्की सुलतान, बङ्गाल और विजयनगर के शासक अधिक प्रसिद्ध हैं। जौनपुर के शासकों ने अरबी तथा फारसी साहित्य की सेवा की, बङ्गाल के हुसेनी शासकों ने बंगला की अभिवृद्धि

करायी और दक्षिण के राजाओं ने तामिल, तेलगू तथा संस्कृत साहित्य की भी वृद्धि की। बङ्गाल में इसी समय रामायण तथा महाभारत का अनुवाद बलंगा में हुआ। यह कार्य बङ्गाल के हुसेनी शासकों की प्रेरणा से हुआ। विजयनगर में दो प्रसिद्ध विद्वान माधव और सायण हुए। ये दोनों सगे भाई थे। इन दोनों ने वेदान्त पर प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा। साथ ही तामिल, तेलगू तथा कनाड़ी भाषाओं में भी साहित्य सृजन हुआ।

हिन्दुओं ने अपनी राजनैतिक उपेक्षा के बाद भी अपने सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन को जीवित रक्खा और इन क्षेत्रों में ज्ञान-वर्द्धन का काम किया। उत्तरी भारत में दिल्ली और जौनपुर अरबी, फारसी, उर्दू को केन्द्र रहे पर मिथिला, काशी, लखनौती, काश्मीर आदि स्थानों पर संस्कृत और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की वृद्धि हुई। इस युग के प्रधान धार्मिक तथा साहित्यिक लेखकों में रामानुज, माधव, कबीर, विद्यापति, मीराबाई के नाम अमर हो गये हैं। स्वामी रामानन्द ने अपने ब्रह्मसूत्र में भक्ति के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है। जयदेव जो बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रय-प्राप्त कवि थे, "गीत गोविन्द" को लिखकर अमर हो गये। उनके ग्रंथ में राधा-कृष्ण के प्रेम का बहुत अच्छा वर्णन है। विद्यापति ठाकुर हिन्दी तथा संस्कृत दोनों के कवि थे। आप की "पदावली" आज भी बहुत प्रेम के साथ पढ़ी जाती हैं। अपने मैथिली में भी लिखा है। मीरा बाई के भजन सर्वत्र आज भी प्रेम और भक्ति से गाये जाते हैं। कबीर के "साखी" और "बीजक" हिन्दी साहित्य के अभिन्न अङ्ग हो गये हैं और कबीर हिन्दी में छायावाद के प्रवर्तक कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त काश्मीर के प्रसिद्ध लेखक कल्हण इसी युग में पैदा हुए और उन्होंने 'राजतरंगिणी' नाम की प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक संस्कृत में लिखी जिससे काश्मीर के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का आदि ग्रन्थ माना जाता है। इसी समय जग नायक ने आल्हाखण्ड की रचना की जो मध्य भारत, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों में अत्यन्त विश्रुत है। इसी समय गुजराती प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता ने 'हरमल' की रचना की जिसमें भक्ति के बड़े ऊँचे पद लिखे गये हैं। महाराष्ट्र में एकनाथ नामदेव तथा ज्ञानेश्वर ने मराठी साहित्य के ग्रन्थों की रचना की। इसी युग में भारत में एक नयी भाषा—

उर्दू का जन्म हुआ जिसमें अमीर खुसरो, मीर हसन देहलवी आदि ने बहुत लिखा।

इन बातों से स्पष्ट है कि इस युग में साहित्य के सृजन और वृद्धि में पर्याप्त काम हुआ। अरबी, फारसी तथा उर्दू के लेखकों को राजकीय आश्रय प्राप्त था पर संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में जो साहित्यिक काम हुए उनके पीछे आत्म उत्थान और धार्मिक प्रवृति की प्रेरणा थी। यह सच है कि कुछ मुसलमान शासकों ने हिन्दी, बङ्गला आदि भाषाओं के लेखकों को प्रोत्साहन दिया। सब पक्ष की बातों को विचार में रखते हुए युग यह निसन्देह कहा जा सकता है कि साहित्यिक उन्नति की दृष्टि से यह पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इस युग में स्थायी और प्रभावोत्पादक साहित्य का सृजन हुआ जो हमारी बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना को जाग्रत करने में सबल रहा।

स्थापत्य तथा निर्माण-कला—दिल्ली सल्तनत के युग में देश में निर्माण तथा वास्तु कला के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुई। यह सच है कि इस युग के अधिकांश सुलतानों ने धार्मिक संकीर्णता और कट्टरता की नीति के कारण हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़ा और नगरों को लूटा, पर उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार महलों, मस्जिदों और नगरों के निर्माण भी करवाये। तुर्क मुख्यत: सैनिक थे और उनका अधिकांश समय युद्ध में व्यतीत होता था, अतः सल्तनत के प्रारम्भिक दिनों में उनको इमारत बनवाने का अवकाश नहीं मिला। वे अपने साथ कलाकार भी नहीं लाये थे। पर अवसर प्राप्त होने पर उन्होंने भारतीय कलाकारों से काम लिया और उनको अपने निरीक्षण तथा संरक्षण में रखकर अपनी आवश्यकता तथा पसन्द के अनुसार उनकी कला का उपयोग किया। इसीलिए इस युग की स्थापत्य कला में हिन्दू और मुस्लिम कला का अच्छा समन्वय दीख पड़ता है। इस नवीन कला का नाम भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला पड़ा जिसमें हिन्दुओं की सजावट और अलंकार-प्रेम तथा इस्लाम की सादगी का सामंजस्य स्पष्ट है।

जिस समय महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय इस देश की वास्तुकला बहुत उन्नत अवस्था में थी। वह अपनी धन-लोलुपता और धार्मिक कट्टरता के कारण मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़ने से

अपने को रोक न सका, पर मथुरा के मन्दिरों की बनावट और कला को देख कर एक बार आत्म विभोर हो गया। उन मन्दिरों के अनुपम सौन्दर्य ने उसे यहाँ के कुछ कलाकारों को अपने साथ ले जाने के लिए प्रेरित किया। उन्हीं की सहायता से उसने गजनी में भव्य मस्जिदें तथा विशाल इमारतें बनवाकर अपनी राजधानी को सुन्दरतम बनाने का प्रयास किया। भारतीय कला की श्रेष्टता की यह पहली विजय थी जिसने महमूद जैसे कठोर हृदय वाले व्यक्ति को अपनी ओर खींच लिया।

दासवंश का प्रथम सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक इमारत बनवाने का बहुत शौकीन था। उसने दिल्ली की प्रसिद्ध कुतुबमीनार और एक बड़ी मस्जिद बनवाने का काम शुरू किया, पर यह कार्य उसके जीवन-काल में पूरा न हो सका। अल्तमश ने इन इमारतों को पूरा करवाया। कुतुबमीनार २४२ फीट ऊँची है और इसके निर्माण में हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। यह संसार की सुन्दरतम मीनार समझी जाती है। उसी समय की एक अन्य प्रसिद्ध इमारत 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' है। यह मूलतः चौहान राजा विग्रहराज चतुर्थ द्वारा निर्मित 'सरस्वती मन्दिर' है। इसी प्रसिद्ध विद्यालय को तुड़वाकर शहाबुद्दीन गोरी ने 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिद बनवायी और इसे अल्तमश ने पूरा किया। यह मस्जिद भी अपने तरह की निराली मस्जिद है। अल्तमश का मकबरा जो बदायूँ में बना है, अपने ढंग का भारत में सबसे प्राचीन मकबरा है। दिल्ली की जामिया मस्जिद भी अच्छी इमारतों में गिनी जाती है। इन सब इमारतों में सादगी, सुडौल पन और सुन्दरता है। ये सब इमारतें हिन्दू मन्दिरों और भवनों को तोड़कर उसी सामग्री से निर्मित हैं।

खिलजी बादशाहों के समय में भी अनेक इमारतें बनवायी गयीं। अलाउद्दीन को इमारत बनवाने का बहुत शौक था। सिरी का किला, अलाई दरवाजा और हजार सितून महल इस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। खिल्जी वंश के शासन तक दिल्ली सुलतानों की निर्माण-कला अच्छी, उत्कृष्ट और उच्चकोटि की हो चली थी। उनकी सजावट, अंग-विन्यास और गुम्बज आदि पर भारतीयता की अमिट छाप है। ऊँचे मेहराब और मीनार

की चलन अधिक हो गयी थी। इस समय तक वास्तु-कला प्रौढ़ हो चली थी और हिन्दू और इस्लाम निर्माण कला का सामंजस्य पूर्णता को पहुँच चुका था।

तुगलक वंश के शासन-काल में भी अनेक इमारतों का निर्माण हुआ। तुगलकाबाद में गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा अपने समय की उत्कृष्ट कला का अच्छा नमूना है। इस दिशा में फीरोज का नाम अधिक प्रमुख है। उसके शासन-काल में फीरोजाबाद, हिसार, फीरोजपुर और जौनपुर के नगर बसाये गये। जौनपुर का नगर जूना खाँ की स्मृति में बसाया गया था। प्रान्तीय नगरों की इमारतों में जौनपुर की इमारतें बहुत प्रसिद्ध हैं। फीरोज ने अनेक मस्जिदें, महल, सरायें, अस्पताल, मकबरें और पुल तथा कुओं का निर्माण करवाया था। अशोक के दो स्तम्भों को अम्बाला और मेरठ से उठवा कर दिल्ली में स्थापित करवाया था। प्रान्तीय शासकों ने भी वास्तुकला के प्रति प्रेम दिखाया। जौनपुर के शर्की सुलतान इब्राहीम के समय की अटाला मस्जिद अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। इस मस्जिद की बढ़िया सजावट बहुत ही आकर्षक और बारीक है। वहाँ की जामा मस्जिद और लाल दरवाजा मस्जिद भी अत्यन्त सुन्दर है। ये इमारतें अपनी सजावट और सुन्दरता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। "शर्की सुलतानों के महलों को दिल्ली के लोदी सुलतानों ने नष्ट कर दिये पर जो कुछ भी बचा है, वह उनकी कीर्ति को अक्षुरण बनाये रखने में समर्थ है।"

बंगाल के मुस्लिम शासकों ने इस दिशा में अपना प्रेम दिखलाया। वहाँ की इमारतों में सुहेनशाह का मकबरा, सुनहली मस्जिद, अदीना मस्जिद अधिक प्रसिद्ध हैं। ये इमारते ईंटे की बनी हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण में भी बहमनी सुलतानों ने अनेक महल, मस्जिदें, मकबरे और किले बनवाये। बीदर तथा गुलबर्गा की मस्जिदें उस काल की कला की उत्कृष्ट आदर्श मानी जाती हैं। गुलबर्गा में जामा मस्जिद, बीदर का मदरसा, बीजापुर का गोल गुम्बद वास्तु-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इन इमारतों में गुम्बद और डाट की प्रधानता है। उस युग के किलों में ग्वालिगढ़, तरनाला और नाल के दुर्ग प्रसिद्ध हैं। विजयनगर में भी राजमहल अपनी विशालता और सौन्दर्य के लिए बहुत प्रसिद्ध था। चित्तौड़ का जय स्तम्भ जिसे राणा

कुम्भ ने अपने विजय की स्मृति में निर्मित कराया था, आज भी ज्यों का त्यों खड़ा है और अपने निर्माता की 'विमल कीर्ति और उसकी महत्ता का मूक साक्षी' है।

ऊपर लिखी बातों से यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास यह युग अन्धकार-युग नहीं है। यह सच है कि लगभग ५०० वर्षों तक (सन् १०००-१५२६ ई०) देश में राजनैतिक अशान्ति रही, हिन्दुओं ने अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खो दी, उस परतंत्रता के कारण भारतीय समाज में कुछ दोष घुस गये, इस्लाम के प्रचारकों और कट्टर सुलतानों ने हिन्दुओं को सताया, उनके मन्दिरों, मूर्तियों को तोड़ा और लूटा, हिन्दूओं और मुसलमानों में खिंचाव रहा और दोनों अपने अपने पृथक अस्तित्व बनाये रखने का प्रयास करते रहे। इस युग के प्रारम्भिक भाग में मुस्लाम हिन्दुओं को काफिर समझते रहे और उनके साथ काफिर जैसा व्यवहार करते रहे। पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये बातें उस युग में चालित थीं और संसार के अन्य भागों में भी एक धर्म के मानने वाले अपने से भिन्न धर्म के मानने वालों के साथ ऐसा ही बर्ताव करते थे। इसके विपरीत इस देश में आने वाले विजेताओं में कुछ ने राजनीति को धर्म को पृथक करने का प्रयास किया, काफिरों को साथ अपेक्षाकृत उदार व्यवहार किया। कर वसूलकर उन मुसलमान शासकों ने उसका अधिकांश देश के प्रबन्ध और प्रजा की भलाई के निमित्त व्यय किया। मुसलमान शासकों ने भारत को ही अपना देश बनाया और अपनी शान-शौकत, कला-प्रेम तथा साहित्य-सृजन का कार्य इसी देश में किया। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह युग पर्याप्त सम्पन्न माना जा सकता है। दोनों धर्म के प्रचारकों ने एक दूसरे से बहुत कुछ सीखा। इस्लाम स्वीकार करने वाले हिन्दुओं ने अपनी रीति-रिवाज, आदत तथा आदर्श से बाहर से आये तुर्कों को प्रभावित किया, शासकों ने धीरे-धीरे धार्मिक सहिष्णुता की नीति की आवश्यकता महसूस की, हिन्दुओं ने जाति तथा वर्ण की जटिलता के दोषों से पैदा होने वाले नुकसानों को समझना शुरू किया। प्रत्येक ने वेश-भूषा और रहन-सहन के क्षेत्र में दूसरे को प्रभावित किया; कला, साहित्य और वास्तु-कला में भारतीय और इस्लामिक शैली का समन्वय हुआ। इस प्रकार भारतीय समाज, विचार-धारा, धर्म और संस्कार में सर्वत्र एक

नवीनता का आवरण चढ़ गया। राजनीति में शिथिल होते हुए भी हिन्दुओं की प्रतिभा और कल्पना धार्मिक क्षेत्र में विकसित हुई और नये प्रचारकों, संतों तथा विद्वानों ने भारतीयता के आवरण में इस्लाम की बहुत-सी बातों को समेट लिया। कबीर, नानक आदि सन्तों की वाणी में इस्लाम की स्पष्ट छाप प्रतिबिम्बित होती है। कला के क्षेत्र में हिन्दुओं की सजावट, सौंदर्योपासना और अलंकृत करने की शैली का प्रभाव मुसलमानों की सादगी और आडम्बर-रहित वास्तु-कला पर अत्यधिक पड़ा और इन दोनों के सम्मिश्रण से कला की एक नवीन पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ जो "भारतीय मुस्लिम वास्तु-कला" (इण्डो-सैरेसेनिक) के नाम से विख्यात हुई। हिन्दू-भक्त सन्तों और सूफियों ने इन दोनों जातियों को सम्पर्क में लाने के कार्य में अच्छी सफलता पायी। अनेक भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद मुसलमान शासकों ने अरबी, फारसी में कराया और बंगाल का 'सत्यपीर' आन्दोलन हिन्दू-मुसलमान ऐक्य स्थापित करने में बहुत सहायक हुआ। इस प्रकार इन दोनों जातियों ने कुछ दिनों तक युद्ध करने, एक दूसरों को सताने और पृथक समझने के बाद यह अनुभव किया कि ऐसा पार्थक्य इस देश में सम्भव नहीं है और लगातार संघर्ष के बाद भी एक दूसरे का उन्मूलन करने या आत्मसात करने में वे समर्थ नहीं हो सकेंगे; अतः एक दूसरे के साथ शान्ति और सहयोग के साथ रहना ही विवेकपूर्ण और व्यावहारिक है। ऐसी स्थिति में एक दूसरे को प्रभावित करना भी उनके लिए स्वाभाविक हो गया। दोनों पक्ष के अधिकांश लोगों में समन्वय की प्रधानता हो गयी और भारतीय समाज एक नये साँचे में ढलने लगा। समन्वय की यह धारा इस युग के इतिहास की अपनी एक विशेषता है।

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

मुगल वंश का परिचय

मुगल कौन थे?—चीन के उत्तर-पश्चिम का एक प्रदेश मंगोलिया कहलाता है। वहाँ के निवासियों को मंगोल कहा जाता था। इस प्रदेश के उत्तर में रूस, दक्षिण में तिब्बत, पश्चिम में तुर्किस्तान और पूरब में चीन स्थित है। यह प्रदेश मध्य एशिया का एक भाग है। यहाँ के निवासी प्रारम्भ में कष्टमय जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि यहाँ की भूमि ऊर्वरा नहीं है और यहाँ के मुगलों का जीवन खानाबदोश-सा था। अतः ये मुगल भ्रमणशील और साहसी प्रकृति के थे। बारहवीं शताब्दी तक उनमें किसी प्रकार का संगठन नहीं था। ये आपस में लड़ा करते थे अतः उनमें सामरिक कबीलों के गुण पाये जाते थे। वे साहसिक, अश्वारोही और युद्ध-प्रिय थे और संगठन के अभाव में आस-पास के इलाकों में लूट-मार किया करते थे। जिस समय भारत में गुलाम-वंश के शासक राज्य करते थे, उसी समय मुग़लों का एक कबीला-सरदार शक्तिशाली बन गया और अन्य कबीलों को संगठित करने में सफल हुआ। इस कबीले के मूल पुरुष का नाम एक अनुश्रुति के अनुसार **बुदन्तसार** था। इसी वंश के नवें सरदार **चंगेज खाँ** के समय मुगलों की शक्ति में वृद्धि हुई। चंगेज खाँ का जन्म ११५५ ई० में हुआ था। उसके बचपन का नाम टिमोचीन था। ५० वर्ष की अवस्था तक उसके जीवन में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। पर वह वीर और साहसी था और मंगोलिया के सब कबीलों का प्रिय योद्धा बनता जा रहा था। जिस समय भारत में गुलाम-वंश की स्थापना हुई, उसी समय (१२०६ ई०) मंगोलिया की प्रायः सब जातियों ने चंगेज खाँ को अपना सरदार निर्वाचित किया और उसे 'खाँ' (सम्राट) की उपाधि से विभूषित किया। उसी समय से मुग़ल-जाति का अभ्युदय प्रारम्भ हुआ।

चंगेज खाँ—चंगेज खाँ के जीवन का महत्वपूर्ण समय सन् १२०६ ई० से ही प्रारम्भ होता है। उसने अपनी वीरता और शौर्य के गुणों से मंगोलिया के सब कबीलों को अपनी ओर मिला लिया और उन्हें एकता के सूत्र में बाँध दिया। मंगोलिया के घास के मैदान में रहने वाले सब कबीलों को एक सूत्र में संगठित कर और उनमें साहस तथा विजय का उल्लास भर कर चंगेज खाँ ने अपने प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत करने का विचार किया। इसके पूर्व उसने एक सुसंगठित सेना संगठित की और उसमें साहसी घुड़सवारों की भर्ती की। सर्व प्रथम उसने चीन के साम्राज्य की ओर ध्यान दिया। उसने शुंग वंशीय राजाओं के विरुद्ध आक्रमण किया। प्रारम्भ में उसे अच्छी सफलता नहीं मिली, पर चंगेज खाँ निराश नहीं हुआ और बार-बार प्रयास कर उसने पेकिंग तक का इलाका रौंद डाला। उसने रास्ते में मंचूरिया को भी जीता। चीन को अपने एक सेनापति के नियंत्रण में रख वह अपनी राजधानी कराकोरम लौट आया और पश्चिम के देशों के जीतने की तैयारी करने लगा।

मंगोलिया के पश्चिम में ख्वारिज्म के मुसलमान शासकों का राज्य था। वे तुर्क जाति के थे। उनकी राजधानी समरकन्द थी। चंगेज खाँ ने बुखारा और समरकन्द को पस्त कर दिया। वहाँ का सम्राट जलालुद्दीन अपनी जान लेकर भारत की ओर भागा और उसने पंजाब में आकर शरण ली। उस समय दिल्ली में गुलाम वंश का सुल्तान अल्तमश राज्य करता था। चंगेज खाँ जलालुद्दीन का पीछा करता बढ़ रहा था, अतः उसने अल्तमश से दिल्ली में कुछ दिनों तक रहने की प्रार्थना की। पर अल्तमश ने होशियारी से काम लिया और मुगलों के विनाशकारी आक्रमण से स्वयं बचने के लिए जलालुद्दीन की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। इस प्रकार भारत चंगेज खाँ की तलवार की चोट से भाग्यवश बच गया। इस प्रकार चंगेज खाँ ने अपने जीवन-काल में प्रशान्त महासागर से लेकर काले सागर तक एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया। मुगलों के साम्राज्य में रूस का दक्षिणी भाग और हंगेरी का एक भाग भी शामिल था।

इस प्रकार चंगेज खाँ एशिया के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ कर ७२ वर्ष की अवस्था में सन् १२२७ ई० में इस संसार से चल बसा।

वह एक क्रूर और भयंकर व्यक्ति था। नगरों और सभ्य बस्तियों से उसे स्वाभाविक घृणा थी, अतः उन्हें उसने बुरी तरह नष्ट किया। वह एक कुशल सेनापति, सफल विजेता और असाधारण संगठन कर्त्ता था।

चंगेज खाँ के उत्तराधिकारी—चंगेज खाँ की मृत्यु के बाद उसका पुत्र **ओगदाई** उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपने पिता की विजय-परम्परा को जारी रक्खा और उसने रूस, हंगेरी और पोलैण्ड को विजय किया। सन् १२३१ ई० में उसने पोल और जर्मन की सम्मिलित सेना को बुरी तरह परास्त किया। उसकी सफलता के दो प्रधान कारण थे। (१) उसकी सेना में बन्दूक का प्रयोग होता था और उस समय तक चीन के अतिरिक्त यूरोप और एशिया के किसी अन्य देश में बन्दूक का ज्ञान नहीं था। (२) उसके घुड़सवार बड़े ही द्रुतगामी थे। वे दुश्मन पर अचानक टूट पड़ते थे और अपनी क्रूरता से आतंक पैदा करते थे। जब ओगदाई और मंसूबे बाँध रहा था तभी अचानक सन् १२४० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

ओगदाई खाँ के बाद मंगू खाँ मुगल साम्राज्य का सम्राट हुआ। उसका भाई कुबलई खाँ चीन का शासक हुआ। उसका एक भाई हुलागू ने ईरान, सीरिया और एशिया माइनर को जीत कर अपना एक पृथक राज्य स्थापित किया। सन् १२५८ ई० में हुलागू ने बगदाद को जीत कर उसे धराशायी कर दिया, नगर को ध्वस्त कर दिया और वहाँ के अपार धन-दौलत को हड़प लिया। मंगू खाँ की मृत्यु के बाद उसके भी राज्य का सम्राट कुबलई खाँ ही हुआ।

मुगल सम्राटों में **कुबलई खाँ** का नाम बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने अपनी पुरानी राजधानी कराकोरम को छोड़कर पेकिंग को ही अपनी राजधानी बनाया। उसे चीन से विशेष अभिरुचि थी। उसने अन्नाम, बर्मा और तिब्बत को भी अपने राज्य में मिला लिया। कुबलई खाँ ने चीन में जन-हित के अनेक काम किये। उसी के समय में एक शाही एकेडमी की स्थापना हुई, बैङ्क नोट की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और पीली नदी में व्यापार का काम शुरू हुआ। देश में नहरों का निर्माण हुआ और उससे भूमि का अधिकांश भाग उपजाऊ बन गया। देश में धन-सम्पत्ति की वृद्धि हुई। उसने अपने

राज्य में धर्मान्धता को नहीं घुसने दिया । उस युग में कुबलई खाँ की यह धर्म-निरपेक्ष नीति समय से बहुत आगे थी । वह ईसाई धर्म से बहुत प्रभावित हुआ था और उसके समय ईसाई पादरियों का उसके दरबार में बहुत प्रभाव तथा आदर था । मार्को पोलो नामक एक ईसाई को उसने एक प्रान्त का शासक नियुक्त किया था । उसने अपनी यात्रा का वर्णन "मार्को पोलो की यात्रा" नामक पुस्तक में विस्तार के साथ लिखा है । इस पुस्तक से तत्कालीन एशियाई राजनीति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । सन् १२६० ई० में कुबलई खाँ का देहान्त हो गया । उसके वंशजों ने सन् १३६८ ई० तक चीन पर शासन किया ।

कुबलई खाँ का ध्यान चीन और पूर्वी प्रांतों की ओर ही अधिक केन्द्रित रहा । अतः साम्राज्य के अन्य भाग स्वतंत्र हो गये । उसका भाई हुलागू पश्चिमी एशिया में स्वतंत्र हो गया । साम्राज्य के मध्य भाग में एक राज्य समरकन्द और दूसरा काशगर में स्थापित हो गया । समरकन्द में चंगेज खाँ का एक वंशज **तैमूर लंग** एक विख्यात लड़ाकू और विजेता हुआ । उसका जन्म सन् १३३६ ई० में हुआ था । वह चंगेज खाँ की तरह जहाँ जाता था, बर्बादी और विनाश की आँधी लेकर जाता था । उसे "नर-मुण्डों के स्तूप बनाने में बड़ा आनन्द अनुभव होता था । उसकी सेना जिधर से निकल जाती नगरों और गाँवों में धूल उड़ने लगती थी और सभ्यता का चिन्ह भी शेष नहीं रह जाता था ।" उसने ईरान, टर्की, दिल्ली और रूस के सम्राटों को ध्वस्त कर दिया । सन् १३९८-९९ ई० में तैमूर ने दिल्ली को रौंद डाला था और उससे पठान सल्तनत को ऐसी गहरी चोट लगी कि वह अपने पूर्व गौरव को नहीं प्राप्त कर सका । सन् १४०५ ई० में उसकी मृत्यु हुई, पर तैमूर अपने पीछे क्रूरता और नृशंसता का काला इतिहास छोड़ गया ।

तैमूर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कई भागों में विभाजित हो गया । उसमें से एक भाग तैमूर के तीसरे पुत्र मिर्जा मीरानशाह को मिला । इसी वंश में १४ फरवरी सन् १४८३ ई० में बाबर का जन्म हुआ था जिसने १५२६ ई० में पानीपत के मैदान में पठान सल्तनत के अन्तिम सुल्तान इब्राहीम लोदी को परास्त कर भारत में एक नये राजवंश की नींव डाली थी ।

इसके अतिरिक्त साम्राज्य के अन्य भागों में मुगल-प्रभाव क्षीण हो गया। सन् १३६८ ई० में चीन में कुबलई-वंश का अन्त हो गया। वहाँ के अधिकांश मंगोलों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। मुगलों का प्रभुत्व फारस, तिब्बत, रूस आदि देशों में भी समाप्त हो गया। पश्चिमी एशिया को विजय करने के बाद इनका सम्पर्क इस्लाम से हुआ और उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।

मंगोलों की देन—मंगोल क्रूर, अत्याचारी और नृशंस थे। उन्होंने नगरों को लूटा, ध्वस्त किया, खून की नदियाँ बहाईं, नर-मुण्डों के पहाड़ बनाये, सभ्यता की अनेक बहुमूल्य देन को नष्ट कर दिया और अनेक साम्राज्यों के पतन का रास्ता खोल दिया। पर साथ ही उन्होंने एक विस्तृत साम्राज्य का संगठन किया और उसमें शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने का प्रबन्ध भी किया। दिल्ली के पठान और बगदाद के तुर्क सुल्तानों की रीढ़ इन्होंने तोड़ दी। पर इन मुगलों ने पेकिंग से लेकर मध्य एशिया तक जो विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया, उससे एशिया और यूरोप के बीच संपर्क और अधिक घनिष्ठ हो गया और व्यापार को प्रोत्साहन मिला। अपने इस विस्तृत साम्राज्य में उन्होंने शान्ति स्थापित करने की चेष्टा की और इससे मार्ग की असुविधाएँ कम हो गयी और व्यापारियों के आने-जाने में आसानी हो गयी। बगदाद की खिलाफत को समाप्त करके और उस प्रदेश को बर्बाद करके मुगलों ने इतिहास में एक नवीन समस्या पैदा कर दी। इधर से तुर्क अधिक संख्या में भाग कर एशियामाइनर की ओर जा बसे जहाँ वे आगे चल कर इतिहास में "ओटोमन टर्क" के नाम से विख्यात हुए। तुर्कों की यह नयी प्रगति मंगोलों के भय से ही हुई और इससे भविष्य के इतिहास में अनेक समस्याएँ खड़ी हो गयी। मुगलों ने इतिहास को और दूसरी तरह से प्रभावित किया। "इस अर्द्ध सभ्य जाति ने सभ्य कही जाने वाली जातियों को धार्मिक सहिष्णुता का सुन्दर पाठ पढ़ाया और इतने बड़े साम्राज्य में जैसी संगठित शासन की व्यवस्था इन्होंने की, वह भी अनुकरणीय थी।" इन्हीं मुगलों के माध्यम से बारूद, दिशा-सूचक यंत्र, मुद्रण-कला आदि चीनी आविष्कार यूरोप के विभिन्न नगरों में पहुँच सका। यूरोप के लोगों में एशियाई देशों के प्रति

जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता इन्हीं के संपर्क के कारण पैदा हुई। इसी इच्छा के तीव्र होने के बाद यूरोप-निवासी एशिया के विभिन्न देशों को ढूँढ़ निकालने का प्रयास करने लगे। मुगलों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति अनुकरणीय थी और जिस समय धर्म के नाम पर स्थान-स्थान पर रक्त-पात किया जा रहा था, उस समय इन मुगलों ने सहिष्णुता और सहजीवन की नीति अपना कर सभ्य संसार का पथ-प्रदर्शन किया। मुगलों ने स्थान-स्थान पर ईसाई, बौद्ध और इस्लाम धर्म को ग्रहण कर लिया। इससे संसार के इन तीन बड़े धर्मों की शक्ति-वृद्धि हो गयी। चूँकि मुगल सभ्यता और दर्शन में अन्य समकालीन जातियों से पीछे थे, पर शक्ति और साहस में उनसे शक्तिशाली पड़ते थे, अतः राजनैतिक प्रभुता स्थापित करने के बाद उन्होंने इन विभिन्न प्रौढ़ धर्मों को अपना लिया। इससे उन्होंने अपनी सहनशीलता का भी परिचय दिया। इस प्रकार मानव जीवन के सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में मुगल-शक्ति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

बाबर का प्रारम्भिक जीवन और तत्कालीन मध्य एशिया की राजनीतिक दशा—ऊपर लिखा जा चुका है कि तैमूर की मृत्यु सन् १४०५ ई० में हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कई भागों में बँट गया। कुछ दिनों बाद समरकन्द में **अबू सईद** नामक एक शासक गद्दी पर बैठा। उसका जन्म तैमूर के वंश में चौथी पीढ़ी में हुआ था। यही अबू सईद बाबर का पितामह था। उसके शासन काल तक समरकन्द की दशा अच्छी थी। पर उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य का भी पुनः बँटवारा हुआ। (१) अबू सईद का बड़ा पुत्र सुल्तान **अहमद** मिर्जा समरकन्द और बुखारा में स्वतंत्र शासक हो गया। (२) उसके दूसरे पुत्र **उलुग बेग** मिर्जा ने काबुल तथा गजनी में अपना पृथक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। (३) तीसरे पुत्र सुल्तान **मुहम्मद** मिर्जा ने हिन्दू कुश के पास के इलाके पर अपना अधिकार स्थापित किया और स्वतंत्र बन बैठा। उसका चौथा पुत्र **उमर शेख मिर्जा** फरगाना में शासन करने लगा। इस प्रकार पन्द्रहवीं सदी के अन्त में समरकन्द और अफगानिस्तान में ये चार स्वतंत्र राज्य बन गये।

बाबर का बचपन—फरगाना में उमरशेख मिर्जा शासक था। वह बाबर का पिता था। उसका राज्य फरगाना रूसी तुर्किस्तान में जिसे आजकल ख्वारकन्द कहा जाता है, स्थित था। उमर शेख अपने छोटे राज्य से सन्तुष्ट नहीं था। अतः उसे अपने बड़े भाई सुल्तान अहमद मिर्जा से जो समरकन्द और बुखारा का मालिक था, युद्ध करना पड़ा। इसी बीच सन् १४९४ ई० में एक असामयिक दुर्घटना के कारण उमरशेख मिर्जा का देहान्त हो गया। इस समय उसका पुत्र बाबर जिसका जन्म सन् १४८३ ई० में हुआ था, केवल ११ वर्ष का था। इसी कच्ची अवस्था में बालक बाबर को विपत्तियों का सामना करना पड़ा।

उमरशेख की मृत्यु के बाद उसके भाई अहमद और मामा महमूद ने फरगाना पर आक्रमण कर दिया। बाबर घबड़ाया नहीं और उसकी सेना ने उसका पूरा साथ दिया। अतः बाबर ने अपने चाचा के आक्रमण को सफल नहीं होने दिया। दो वर्ष के उपरान्त सन् १४९६ ई० में बाबर के चाचा और समरकन्द के शासक अहमद का भी देहान्त हो गया। अब बाबर का हौसला बढ़ा। उसने अपनी पुरानी शत्रुता का बदला लेना चाहा। अतः बाबर ने समरकन्द पर आक्रमण किया। प्रथम प्रयास में बाबर असफल रहा, पर सन् १४९७ ई० में उसने समरकन्द को अपने अधिकार में कर लिया। बाबर के जीवन की यह प्रथम सफलता थी।

विपत्ति के दिन—बाबर के दरबारियों ने उसे इस बार धोखा दिया। फरगाना में उसी समय षड्यंत्र हुआ और बाबर को समरकन्द छोड़ अपने पुराने राज्य की ओर लौटना पड़ा। जिस समय बाबर फरगाना की स्थिति को सम्भालने में व्यस्त था, उसी समय समरकन्द में एक उजबेग सरदार शैबानी खाँ ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। बाबर फरगाना में भी सफल न हो सका। इस प्रकार उसके हाथ से समरकन्द और फरगाना दोनों ही निकल गये। उस पर आपत्तियों की आँधी टूट पड़ी। कुछ दिनों तक वह इधर-उधर भटकता रहा। सफलता और असफलता के बीच वह साहसी और वीर युवक अपने धैर्य और आशा का सम्बल लेकर अनेक प्रकार के कष्ट

अनुभव झेलता रहा। कभी फरगना पर अधिकार करता, कभी समरकन्द की ओर बढ़कर अपने भाग्य की परीक्षा करता। कभी-कभी उसे सफलता मिल भी जाती थी, पर वह स्थायी नहीं हो सकी। सन् १५०४ ई० तक वह इसी प्रकार भाग्य के चक्कर में इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहा। अन्त में उसका सितारा चमका और सन् १५०४ ई० में काबुल में विद्रोह होने का समाचार उसे मिला। वह अनायास उधर चल पड़ा और काबुल तथा गजनी पर बिना युद्ध के ही उसका अधिकार हो गया। वहाँ की जनता और दरबारियों ने उलुग बेग के वंशजों को मार भगाया और बाबर को अपना शासक मान लिया।

काबुल पर अधिकार—काबुल में बाबर के जीवन का क्रम बदल गया। वह अब एक सुखी और शक्ति-सम्पन्न शासक हो गया। सन् १५०७ ई में उसने "पादशाह" की उपाधि धारण की। उसने कन्दहार पर भी अधिकार किया। अपनी शक्ति दृढ़ और मजबूत कर उसने समरकन्द लेने का उपक्रम किया। इस कार्य के लिए उसने राजनैतिक दूरदर्शिता दिखलायी और फारस के बादशाह से मदद ली। इस प्रकार सन् १५११ ई० में फारस के बादशाह की सहायता से बाबर ने समरकन्द को जीत लिया। बाबर इस समय समरकन्द, बुखारा, खुरासान, काबुल, गजनी आदि सब प्रदेशों का मालिक हो गया। पर इसी समय फारस के शाह के प्रभाव से बाबर ने शिया मत को स्वीकार किया। इससे समरकन्द की जनता जो अधिक संख्या में सुन्नी थी, बाबर से रुष्ट हो गयी। उजबेगों ने उन्हें और भड़काया और बाबर को पुनः एक बार विद्रोह का सामना करना पड़ा। इस बार भी बाबर को मात खानी पड़ी। पश्चिम के सब प्रदेश उसके हाथ से निकल गये। उसे काबुल पर ही सन्तोष करना पड़ा। उसकी महत्वाकांक्षा अब पूर्व वाहीनी हो गयी और उसने पश्चिम के प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने का विचार सदा के लिए छोड़ दिया।

भारत पर बाबर के प्रारम्भिक आक्रमण—बाबर भारत में मुगल-साम्राज्य की स्थापना करने वाला है। उसने २१ अप्रैल सन् १५२६ ई० को पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में लोदी वंश के अन्तिम सम्राट इब्राहीम लोदी को

पराास्त कर दिल्ली पर अधिकार किया था। इस युद्ध का वर्णन यथास्थान आगे किया जायगा। इसके पूर्व भी बाबर भारत पर छः बार आक्रमण कर चुका था। प्रथम आक्रमण सन् १५०४ ई० में हुआ जब बाबर सिन्धु नदी तक आकर रुक गया। इस बार वह पेशावर-अटक के मार्ग से होता हुआ खैबर के रास्ते भारत में घुसा। लूटपाट कर वह काबुल लौट गया। दूसरा आक्रमण सन् १५०७ ई० में हुआ पर इस बार भी बाबर कुछ ही दिनों बाद अपनी राजधानी को लौट गया क्योंकि उस समय कन्दहार में विद्रोह हो रहा था। बाबर का छठवाँ आक्रमण सन् १५२४ ई० में हुआ। इन दिनों पंजाब में दौलत खाँ गवर्नर था। वह बहुत शक्ति शाली होता जा रहा था। वह दिल्ली-सुल्तान इब्राहीम लोदी का कोप-भाजन बन गया था, और स्वयं सुल्तान को नीचा दिखाने का अवसर ढूढ़ रहा था। अतः उसने अपने एक पुत्र दिलावर खाँ को एक सन्देश के साथ बाबर के पास भेजा और कहलाया कि वह दिल्ली-सुल्तान इब्राहीम लोदी को दिल्ली की गद्दी से हटाने में मदद करे। बाबर ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा में था। उजबेग सरदारों के विद्रोह और वैमनस्य से वह भारत की ओर बढ़कर अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था, पश्चिमी प्रदेशों से उसका मन पक चुका था। अतः उसने निमंत्रण पाते ही भारत पर आक्रमण करने की तैयारी शुरू कर दी। चूँकि पंजाब के गवर्नर ने उसे बुलाया था, अतः इस बार बाबर को आगे बढ़ने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। उसने सिन्धु, झेलम और चिनाब नदियों को पार करते हुआ लाहौर और उसके आस-पास के स्थानों पर अधिकार कर लिया। वहीं पंजाब का गवर्नर दौलत खाँ उससे मिला। बाबर से मिलने के बाद उसे मालूम हुआ कि वह अपनी इच्छा पूरी नहीं कर सकेगा और बाबर उसे कुछ विशेष देना नहीं चाहता। इससे असन्तुष्ट होकर दौलत खाँ वहाँ से भाग गया। कुछ दिनों के बाद अपनी सेना का एक भाग लाहौर में छोड़ बाबर भी काबुल लौट गया। इसके बाद इब्राहीम लोदी की सेना ने दौलत खाँ को परास्त किया और पंजाब के अधिकांश भाग पर पुनः दिल्ली सुल्तान का अधिकार हो गया।

बाबर का अन्तिम भारतीय आक्रमण—इसके दो वर्ष बाद सन्

१५२६ ई० में बाबर भारत-विजय की निश्चित योजना के साथ आया। वह इस देश में अन्तिम प्रयास कर अपने भाग्य की परीक्षा करना चाहता था। अतः एक सुसज्जित सेना के साथ वह पंजाब में घुसा। उसने मार्ग में दौलत खाँ को परास्त किया और पंजाब को अब इस बार अच्छी प्रकार अपने अधिकार में किया। लाहौर और उसके आस-पास के इलाकों को अपने अधीन कर वह दिल्ली की ओर बढ़ा। वह रास्ते की कठिनाइयों को दूर करते और मार्ग में स्थित दिल्ली-सुल्तान की कुछ फौजी टुकड़ियों को परास्त करते पानीपत के प्रसिद्ध मैदान की ओर बढ़ा। पानीपत के इस निर्णायक युद्ध का वर्णन यथास्थान आगे किया जायगा। इस युद्ध में विजयी होकर बाबर दिल्ली का सम्राट हो गया और देश में एक नवीन राजवंश की स्थापना हुई।

बाबर के आक्रमण के समय भारत की राजनैतिक दशा—जिस समय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय देश की राजनैतिक दशा अत्यन्तशोचनीय थी। देश में तैमूर के आक्रमण के बाद एक सबल केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। देश में स्थान-स्थान पर स्वतंत्र प्रान्तीय राज्य बन गये थे और वे सब आपस में लड़ा करते थे। किसी एक शासक को पूरे देश के हित का ध्यान नहीं था और न ऐसा सोचने या करने में कोई एक शासक उस समय समर्थ ही था। प्रत्येक अपने निजी स्वार्थ और संकुचित हित-साधन में लगा हुआ था। दिल्ली की पठान-सल्तनत की प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी थी और देश पारस्परिक संघर्ष तथा आपसी ईर्ष्या से जर्जर हो रहा था। बाबर ने स्वयं लिखा है कि उस समय भारत में अनेक छोटे-बड़े हिन्दू तथा मुसलमानों के राज्य थे और वे आपस में लड़ा करते थे। अनुभवी बाबर भारत की इस राजनैतिक कमजोरी को समझकर यहाँ विजय-लिप्सा से आया। उस समय निम्नलिखित विभिन्न प्रमुख राज्य इस देश में थे—

दिल्ली—दिल्ली-साम्राज्य अब बहुत छोटा हो गया था। उस समय लोदी वंश का अन्तिम सुल्तान **इब्राहीम लोदी** दिल्ली में शासन करता था। उसका साम्राज्य इस समय पेशावर से पटना तक और उत्तर में हिमालय की तराई से बुन्देलखण्ड तक ही सीमित था। पंजाब का दक्षिणी भाग, काश्मीर, राजपूताना का उत्तरी हिस्सा और उड़ीसा उसके अधीन नहीं था।

इब्राहीम स्वयं स्वभाव से उग्र था अतः उसके दरबारी, अमीर और गवर्नर उससे असन्तुष्ट थे। उसने शंका और अविश्वास से अपने भाइयों, दरबारियों तथा अमीरों को मरवा डाला और कुछ को जेल में डाल दिया। परिणाम-स्वरूप उसके आस-पास कोई राजभक्त नहीं रह गया जो उसे सत्परामर्श दे सके और आपत्ति के समय उसका साथ दे।

पंजाब—पंजाब का अधिकांश भाग दिल्ली के ही अधीन था और वहाँ का गवर्नर दौलत खाँ था। पर वह दिल्ली सुल्तान से बहुत असन्तुष्ट था और उसने सन् १५२४ में ही विद्रोह किया था। उसने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित भी किया था। इसके बाद भी दिल्ली-सुल-तान ने उसे पंजाब के गवर्नर-पद से हटाया नहीं। शायद वह इतना समर्थ ही नहीं था। अतः भारत का प्रवेश-द्वार बाहरी विजेता के लिए अति अनु-कूल था।

जौनपुर—सिद्धान्त रूप में जौनपुर दिल्ली सल्तनत के अधीन था। जौनपुर के शर्की सुल्तान को सिकन्दर लोदी ने परास्त किया था और वहाँ अपनी सत्ता स्थापित की थी, पर इब्राहीम के दुर्व्यवहार से अप्रसन्न होकर उसने पुनः वहाँ विद्रोह कर दिया था।

बिहार—बिहार भी जौनपुर की तरह नाम मात्र के लिए दिल्ली की अधीनता में था। वहाँ दरिया खाँ ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और दिल्ली की सेना को पीछे भगा दिया। इब्राहीम अन्त तक इस विद्रोह को दबा नहीं सका। अतः वास्तव में बिहार भी अब स्वतंत्र-सा ही था।

बंगाल—तुगलक वंश के शासन-काल ही में बंगाल स्वतंत्र हो गया था। बाबर के समय में वहाँ हुसेनी वंश का राज्य था। उस समय बंगाल में नसरतशाह शासन कर रहा था। वह योग्य और प्रतिभाली व्यक्ति था। बाबर ने भी उसकी प्रशंसा की है।

उड़ीसा—यहाँ एक हिन्दू राजा शासन करता था। यहाँ शासक को बंगाल और विजयनगर के शासकों के साथ निरंतर युद्ध करना पड़ता था।

सिंध तथा मुलतान—उस समय सिंध तथा मुलतान में अरग़ान वंश के मुसलमान शासक राज्य करते थे। वे कन्दहार से बाबर के दबाव के कारण भाग कर सिन्ध में बस गये और यहीं अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। इसके बाद उसी वंश की एक शाखा जो 'तरखान' कहलाती थी, वहाँ राज्य करने लगा। सन् १५९२ ई० तक जब सिंध मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया, इसी वंश के शासक वहाँ राज्य करते थे।

राजपूताना—बाबर के आक्रमण के समय राजपूताना में मेवाड़ प्रमुख राज्य था। उस समय वहाँ **राणा साँगा** (संग्राम सिंह) राज्य करते थे। सिसोदिया वंश का यह राणा प्रभावशाली और शक्ति-सम्पन्न शासक था। उन्होंने उस समय राजपूतों को संगठित करने की कोशिश की। राणा ने गुजरात और मालवा के कुछ भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उन्होंने इब्राहीम की सेना को भी परास्त किया। राणा का यश बहुत बढ़ने लगा और भारत जीतने की इच्छा रखने वाले किसी को राणा के साथ लोहा लेना अनिवार्य हो गया। कहा जाता है कि दिल्ली सुल्तान-इब्राहीम के विरुद्ध बाबर के आक्रमण का राणा साँगा ने मन ही मन स्वागत किया था। उनका प्रभाव-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था।

गुजरात—गुजरात में जफर खाँ के वंशज स्वतंत्र शासक के रूप में बाबर के समय में राज्य कर रहे थे। जफर खाँ वहाँ दिल्ली सल्तनत की ओर से गवर्नर था, वह अवसर से लाभ उठा कर स्वतंत्र हो गया। वह धीरे-धीरे शक्तिशाली बन गया। पानीपत के युद्ध के समय गुजरात में उसी का एक वंशज **बहादुर** शासन करता था। बाबर के पुत्र हुमायूँ को उसके साथ घोर संग्राम करना पड़ा था।

मालवा—तैमूर के आक्रमण के समय जो अशान्ति फैली, उससे लाभ उठा कर **दिलावर खाँ** नामक एक व्यक्ति ने यहाँ एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। इस वंश के बाद यहाँ एक-एक अन्य मुसलमान शासक हुए और बाबर के आक्रमण के समय इसी वंश का **महमूद** वहाँ शासन करता था।

उस समय मालवा में अशान्ति थी और घरेलू षड्यंत्र के साथ-साथ मालवा का गुजरात और मेवाड़ के शासकों से भी युद्ध चल रहा था।

खानदेश—नर्मदा के दक्षिण मालवा, गुजरात और बहमनी राज्य के बीच खानदेश का इलाका फीरोज तुगलक के समय में स्वतंत्र हो गया। इस राज्य की राजधानी ताप्ती के तट पर बुरहानपुर थी। बाबर के आक्रमण के समय खानदेश में मीरन मुहम्मद शासन कर रहा था।

बहमनी राज्य—दक्षिण के राज्यों में बहमनी राज्य विस्तृत और प्रसिद्ध था। इस राज्य का संक्षिप्त परिचय पिछले पृष्ठों में यथास्थान दिया जा चुका है। बाबर के आक्रमण के समय इस राज्य में फूट पड़ गयी थी और सन् १५२६ ई० में बहमनी राज्य निम्नलिखित पाँच राज्यों में विभाजित हो गया:—

(१) बरार में इमादशाही राज्य, (२) अहमदनगर में निजामशाही राज्य, (३) बीजापुर में आदिलशाही राज्य, (४) गोलकुण्डा में कुतुबशाही राज्य और (५) बीदर में बरीदशाही राज्य।

विजयनगर—कृष्णा नदी के दक्षिण विजय नगर का हिन्दू राज्य था। इस राज्य की स्थापना सन् १३३६ ई० में मुहम्मद तुगलक के शासन काल में हुई थी। बाबर के आक्रमण के समय विजयनगर में कृष्णदेव राय (सन् १५०९-३० ई०) राज्य करता था। वह एक योग्य शासक था। दक्षिण में यह राज्य सब से अधिक व्यवस्थित और समृद्ध शाली था। इस राज्य की सैनिक शक्ति भी अच्छी थी। विजयनगर और बहमनी राज्यों में निरन्तर युद्ध चलता रहता था। इन्हीं युद्धों के फल-स्वरूप इन दोनों राज्यों की शक्ति क्षीण हुई और अन्त में यही पारस्परिक संघर्ष दोनों के विनाश का कारण हुआ।

काश्मीर—काश्मीर मुसलमानों के आक्रमण से बहुत दिनों तक बचा रहा। बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में काश्मीर में **जयसिंह** राज्य करता था। वह काश्मीर का प्रभावशाली और सबल राजा था। काश्मीर अपनी प्राकृतिक बनावट और दूर स्थिति के कारण अधिक दिनों तक मुसलमान आक्रमण-कारियों से बचा रहा। सन् १३३७ ई० में फारस के योद्धा **शाहमीर** ने हिन्दू

राजाओं की कमजोरी से लाभ उठाकर काश्मीर पर अधिकार कर लिया। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने काश्मीर में इस्लाम का प्रचार किया और वहाँ के अधिकांश निवासियों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। शाह-मीर के १३ उत्तराधिकारियों ने काश्मीर पर राज्य किया। तैमूर ने काश्मीर को लूटा था और वहाँ के शासक ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस वंश का सब से प्रतापी शासक जैनुल आब्दीन (सन् १४२१-१४७२ ई०) था जिसे 'काश्मीर का अकबर' कहा जाता है। काश्मीर में प्रथम मुगल आक्रमणकारी बाबर का चचेरा भाई मिर्जा हैदर दौलत था। वह हूमायूँ का गवर्नर बन कर सन् १५५१ ई० तक काश्मीर में शासन करता रहा। काश्मीर पर स्थायी रूप से अकबर के समय में मुगलों का अधिकार हुआ।

बाबर के आक्रमण के समय भारत की राजनैतिक दशा का जो चित्र यहाँ दिया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि उस समय देश में केन्द्रीय शक्ति का अभाव था, देश के अधिकांश भाग में मुसलमान प्रान्तीय गवर्नर स्वतन्त्र हो गये थे और कुछ ही राज्यों में हिन्दुओं का राज्य था। हिन्दू राजाओं में सब से प्रमुख मेवाड़ के राणा सांगा थे जो शक्तिशाली भी थे और महत्वाकांक्षी भी। इनमें से अधिकांश राज्य आपस में लड़ते रहते थे। अनुभवी और योग्य मुगल सम्राटों लिये भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने का अच्छा अवसर था। यह भी स्पष्ट है कि उन दिनों इन विकेन्द्रित राज्यों के शासकों में शौर्य, साहस और अन्य निजी गुणों का अभाव नहीं था, पर संकुचित स्वार्थ और पारस्परिक ईर्ष्या के कारण वे किसी बाहरी आक्रमणकारी का सफल विरोध करने में सर्वथा असफल सिद्ध हुए।

अट्ठाइसवाँ परिच्छेद

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना

पानीपत का प्रथम युद्ध—दिल्ली से कुछ दूर उत्तर पानीपत का मैदान स्थित है। इस स्थान पर और इसके आस-पास के मैदान में कई बार ऐसे युद्ध हुए हैं जिनमें भारत के भाग्य का निर्णय हुआ है। उन युद्धों में राजसत्ता एक राजवंश से दूसरे राजवंश को हस्तान्तरित हुई और उसके साथ-साथ भारतीय इतिहास के क्रम और परम्परा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। २१ अप्रैल सन् १५२६ ई० में पानीपत के मैदान में जो युद्ध हुआ, वह दिल्ली के पठान (तुर्क) सल्तनत के अवसान और मुगल साम्राज्य के प्रारम्भ का कारण हुआ। इसी युद्ध के फलस्वरूप मुगलवंश के इतिहास में एक नये और अत्यन्त गौरवपूर्ण पृष्ठ का आरम्भ हुआ जिसका बहुत गहरा और व्यापक प्रभाव भारत के इतिहास पर पड़ा।

युद्ध के कारण—पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है कि बाबर किस प्रकार भारतीय सीमा में घुस कर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। उसकी विजय-आकांक्षा पूर्वाभिमुखी हो रही थी और वह अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त करने की इच्छा छोड़ अपने भाग्य की परीक्षा भारत में ही करना चाहता था। सन् १५२६ ई० में उसे इस स्वप्न को पूरा करने के अनुकूल परिस्थितियाँ प्रतीत हुईं। उस समय लोदी वंश के अन्तिम शासक इब्राहीम की शक्ति कमजोर हो रही थी क्योंकि उसके अमीर, दरबारी और गवर्नर उससे बहुत असन्तुष्ट हो गये थे। उसका स्वभाव क्रोधी, उद्दण्ड और अविश्वासी था। उसके सगे-सम्बन्धी विद्रोही बन रहे थे। अप्रत्याशित ढङ्ग से वह सब के साथ क्रूरता का बर्ताव करने लगा और सबको सन्देह की दृष्टि से देखने लगा। जौनपुर, बिहार और पंजाब के गवर्नरों ने सुल्तान

के विरुद्ध विद्रोह किया। पंजाब में दौलत खाँ ने जो विद्रोह किया, वह दिल्ली के सुल्तान के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। इसने बाबर को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया और यह सन्देश भेजा कि वह इब्राहीम को दिल्ली की राजगद्दी से हटा कर उसके चाचा आलम खाँ को सुल्तान बनावे। बाबर भारतीय राजनीति की डाँवाडोल स्थिति को समझ रहा था और उसने शीघ्र निमंत्रण स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों के बाद दौलत खाँ को अपनी गलती मालूम हुई और उसे पता चल गया कि बाबर एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति है और वह स्वयं दिल्ली का सम्राट बनना चाहता है। पर हाथ से समय निकल चुका था और अब उस गलती के प्रतिफल से छुटकारा पाने का कोई मार्ग नहीं था। इस प्रकार पानीपत के प्रथम युद्ध के मुख्य कारण ये थे—

(१) तत्कालीन भारत की राजनैतिक शक्ति का ह्रास,

(२) इब्राहीम लोदी का उग्र और दुष्ट स्वभाव,

(३) प्रान्तीय शासकों की शक्ति का बढ़ना और उनमें स्वतंत्र होने की आकांक्षा, ।

(४) पंजाब के गवर्नर दौलत खाँ का विश्वासघात और अदूरदर्शिता ।

(५) बाबर की महत्वाकांक्षा और साम्राज्य-निर्माण का संकल्प ।

पानीपत का प्रथम युद्ध—बाबर १५२५ के अन्तिम दिनों में भारत विजय के लिए चल पड़ा। उसके साथ उसका पुत्र हुमायूँ और कुछ अन्य सेनापति भी अपनी सैनिक टुकड़ियों के साथ हो लिये। लाहौर और मार्ग के अन्य इलाकों को विजय करता हुआ वह अप्रैल सन् १५२६ ई० में पानीपत के मैदान में आ डटा। उसकी सेना में लगभग २५००० सैनिक* और १०० तोपें थीं। बाबर को आठ दिन विश्राम करने का मौका मिला क्योंकि इब्राहीम ने मुगल सेना पर तुरन्त आक्रमण नहीं किया। इस समय बाबर ने अपने युद्ध-कौशल का अच्छा प्रमाण दिया। उसने अपना मोर्चा ठीक किया और सैनिकों को ढंग से नियुक्त कर अपनी रक्षा-पंक्ति दृढ़ कर ली। उसने

* कुछ विद्वानों ने बाबर के सैनिकों की संख्या १२००० लिखी है।

अपनी तोपों से सेना के केन्द्रीय भाग को सुदृढ़ किया। उसकी सेना पानीपत के बायें खड़ी थी। एक तरफ से खाइयों और वृक्षों की शाखाओं द्वारा रक्षा का प्रबन्ध किया गया। सेना के केन्द्रीय भाग का संचालन बाबर ने स्वयं किया। दाहिने और बायें भाग के संचालन के लिए योग्य सेनापति नियुक्त किये गये। सेना को केन्द्र, दायें, बायें, दाईं भुजा और बाईं भुजा आदि भागों में विभक्त कर दिया गया। समस्त सेना का आकार वृत्त-सा हो गया और दायें तथा बाईं भुजा की टुकड़ियों को सर्व प्रथम आक्रमण करने का आदेश हुआ। इस प्रकार जब विपक्षी दल की सेना युद्ध के लिए दो सिरों पर भिड़ जायगी, तो बाबर स्वयं केन्द्रीय भाग के सैनिकों के साथ दुश्मन पर टूट पड़ेगा। युद्ध-स्थल में व्यूह का कार्य-क्रम कर बाबर ने १२ अप्रैल तक पूरा कर लिया और इसके बाद भी ८ दिन तक संघर्ष नहीं हुआ। इससे बाबर की सेना को पर्याप्त आराम मिल गया। २१ अप्रैल सन् १५२६ ई० को प्रातःकाल वास्तविक युद्ध प्रारम्भ हुआ। इब्राहीम की सेना में एक लाख सैनिक थे। पर सब प्रबन्ध अस्त-व्यस्त था और अनुशासन तथा व्यूह-रचना का सर्वथा अभाव था। दोपहर तक घमासान युद्ध हुआ। बाबर की कुशल रणनीति, आग बरसाने वाली तोपें, अच्छी व्यूह-रचना और योग्य सेनापतियों का युद्ध-संचालन—ये सब बातें बाबर की विजय के लिये पर्याप्त थीं। इब्राहीम की सेना संख्या में अधिक थी, पर अनुशासन और नियंत्रण एवं संचालन का अभाव था। इब्राहीम के लगभग १५००० सैनिक हताहत हुए, इब्राहीम स्वयं उनमें से एक था। विजयी बाबर ने दिल्ली में प्रवेश किया और अपने पुत्र हुमायूँ को आगरा पर अधिकार करने के लिए भेज दिया। २७ अप्रैल १५२६ ई० को बाबर दिल्ली की गद्दी पर बैठा और अपने को भारत का बादशाह घोषित किया। इस प्रकार इस देश में एक ऐसे नवीन राजवंश की स्थापना हुई जिसने लगभग ३०० वर्षों तक यहाँ राज्य किया।

बाबर की विजय के कारण—पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की विजय के अनेक कारण थे। (१) इब्राहीम लोदी के राज्य में असन्तोष था, उसके गवर्नर उससे असन्तुष्ट थे और पंजाब में दौलत खाँ लोदी ने दिल्ली-

सुल्तान के विरूद्ध बाबर को युद्ध का निमंत्रण दिया। अतः इब्राहीम अपनी आन्तरिक परिस्थितियों के कारण परेशान था और उसके सैनिकों में उत्साह की कमी थी। (२) दिल्ली-सुल्तानों की सेना का पतन फीरोज के समय में ही प्रारम्भ हो गया था। उनमें विलासिता, शिथिलता और अभ्यास की कमी के दोष आ गये थे। (३) इब्राहीम ने अपनी सुस्ती के कारण दुश्मन को विश्राम करने का अवसर दिया और बाबर को अपनी सेना को व्यवस्थित करने का पूर्ण अवसर मिल गया यदि इब्राहीम लोदी आक्रमणकारी पर आगे बढ़ कर टूट पड़ा होता तो बाबर को व्यूह-रचना का अवसर नहीं मिलता (४) इब्राहीम की सेना बहुत बड़ी थी अतः उसके संचालन का काम सुचारू रूप से नहीं हो सका। उसके हाथियों ने बिगड़ कर उसी के सैनिकों को कुचल दिया। इब्राहीम की सेना में योग्य सेनापतियों का भी अभाव था। इसके विपरीत बाबर की सेना में ये दोष नहीं थे। (५) बाबर का तोपखाना और युद्ध करने का उसका नया ढंग इब्राहीम के लिए बहुत खतरनाक हुआ क्योंकि इसकी आशा भी इन्हें नहीं थी और इससे बचने के लिए इब्राहीम ने कोई उपाय नहीं किया था। (६) बाबर एक दूरदर्शी योद्धा और सेनापति था अतः उसने अपनी सेना की रक्षा की पूरी व्यवस्था, आक्रमण का ढंग और दुश्मन के दबाव से बचने के उपाय पहले ही सोच कर निश्चित कर लिये थे, इन बातों का दूसरे पक्ष में सर्वथा अभाव था। बाबर के सैनिक उत्साही और आत्म-विश्वास से पूर्ण थे। उसका सुरक्षा-विधान, रण-कौशल और सैन्य संचालन पूर्ण था, अतः विजय-श्री बाबर के हाथ लगी।

युद्ध का परिणाम—इस युद्ध में इब्राहीम के सैनिकों की एक बड़ी संख्या में मृत्यु हुई। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि पानीपत के मैदान में हताहतों की संख्या ४०-५० हजार तक पहुँच गयी। इब्राहीम स्वयं रण-क्षेत्र में मारा गया और इसके चारों ओर मृतक शरीर का ढेर लग गया था। इस भयंकर युद्ध के बाद बाबर का अधिकार पानीपत और आगरा पर हो गया। मस्जिदों में उसके नाम में खुतबा पढ़ा गया और राजधानी के लोगों ने बाबर को अपना बादशाह मान लिया। बाबर ने इसके पूर्व लाहौर पर विजय प्राप्त की थी, पर उसने उस समय तक भारत का बादशाह अपनेको

नहीं घोषित किया था और न तब तक उसके मन में ऐसा विश्वास जम पाया था कि वह निकट भविष्य में दिल्ली का सम्राट हो सकेगा। पर पानीपत के युद्ध ने इस कल्पना को साकार कर दिया और बाबर भारत का बादशाह हो गया। अब तक हिन्दू राजाओं को यह विश्वास था कि पठान-सल्तनत के पराभव के बाद एक बार पुनः उनका दिन लौटेगा, पर इस विजय के बाद उनका यह स्वप्न भी चकनाचूर हो गया। इस युद्ध के बाद लोदी वंश की इति-श्री हो गयी, पर उनके स्थान पर मुगल वंश की नींव पड़ गयी जो स्वयं मुसलमान थे और इस्लाम धर्म में अच्छी तरह दीक्षित थे। यह सच है कि इस युद्ध के बाद भी अफगान-शक्ति का भारत में समूल नाश नहीं हुआ, पर उनके लिए भविष्य निश्चय ही अनिश्चित हो गया। "यह युद्ध भारत के कुछ थोड़े से निर्णयकारी युद्धों में है। इसी के साथ भारतीय इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है और पुराने युग का अन्त होता है। लगभग सवा तीन सौ वर्ष पूर्व दिल्ली में जिस राज-व्यवस्था की स्थापना दास-वंश ने की थी, उसका अन्त इस युद्ध ने कर दिया।" इस विजय से बाबर का व्यक्तिगत गौरव भी बहुत बढ़ गया और उसकी गणना एशिया के बड़े सेनापतियों और महान विजेताओं में होने लगी। भारतीय इतिहास की प्रमुख घटना के रूप में पानीपत के युद्ध ने एक ऐसे राजवंश की स्थापना की जिसने भारतीय इतिहास की धारा बदल दी। जिस प्रकार सन् ११९२ ई० में तराइन के युद्ध में हिन्दू-सत्ता की हार के बाद तुर्क (अफगान या पठान) सत्ता का प्रारम्भ हुआ था, उसी प्रकार सन् १५२६ ई० में पानीपत के युद्ध ने पठानों की सत्ता समाप्त कर मुगलों की नयी सत्ता स्थापित की। इसीलिए इसे भारत के युगान्तरकारी युद्धों में एक युद्ध माना जाता है जिसका प्रभाव भारतीय इतिहास में अमिट बन गया।

पानीपत के युद्ध के बाद की परिस्थितियाँ—सन् १५२६ ई० के बाद बाबर को नये अनुभव हुए। दिल्ली और आगरा की विजय के बाद भी उसके प्रभुत्व की सीमा बड़ी संकुचित थी और उसे महसूस हुआ कि इस विशाल देश में कुछ दूरी के बाहर न तो कोई उसकी आज्ञा मानने वाला है और न कहीं और उसका आधिपत्य है। अफगान सम्राट इब्राहीम लोदी की

मृत्यु के बाद अनेक अफगान सरदार स्थान-स्थान पर उसका स्थान लेने को उद्यत थे। सम्भल, मेवात, दिपालपुर, ग्वालियर, इटावा, कालपी, कन्नौज, जौनपुर और गाजीपुर इन अफगान सरदारों के मुख्य अड्डे थे। इसके अतिरिक्त राजपूत इस नयी राजनैतिक परिस्थिति से चिन्तित हो रहे थे और दिल्ली में एक नयी विदेशी शक्ति का आना उनके लिए असह्य हो रहा था। भारत की जलवायु मुगलों के लिए अनुकूल नहीं थी। बाबर के सैनिक बहुत संख्या में बीमार हो रहे थे और वे घबड़ाकर स्वदेश वापस जाना चाहते थे। बाबर इन कठिनाइयों से विचलित नहीं हुआ। उसने इन कठिनाइयों को दूर करने की कोशिश की। अपने सैनिकों के साथ उदारता का व्यवहार किया और अपनी ओजस्विनी वाणी से उन्हें उत्साहित करता रहा। इसके बाद राजधानी के आस पास के इलाकों को जीतने के लिए अपने सैनिकों को भेजा और उन्होंने धोलपुर, इटावा और कन्नौज आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने अफगान सरदारों और राजपूत राजाओं को परास्त करने की योजना बनायी।

बाबर और राजपूत शक्ति—पानीपत के प्रथम युद्ध के समय राजपूत शक्ति के प्रतीक मेवाड़ के शासक राणा सांगा थे। उन्होंने मालवा के गवर्नर महमूद खिलजी को परास्त किया था और चन्देरी तथा रणथम्भौर जीत कर अपना प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत कर लिया था। उसने इब्राहीम लोदी के साथ भी अनेक बार युद्ध किया था। राजपूताना के अनेक राजा उसे कर देते थे। वह युद्ध में लंगड़ा हो गया था और उसकी आँख भी जाती रही थी। राणा सांगा की वीरता में किसी को संदेह नहीं हो सकता है, पर उसकी दृष्टि उतनी पैनी नहीं थी। उसने समझा था कि बाबर चङ्गेज और तैमूर की तरह लूट पाट कर अपने देश को लौट जायगा, पर राणा सांगा की यह आशा गलत निकली और पानीपत के युद्ध के बाद की परिस्थितियों से वे चिन्तित हुए।

खनवा के युद्ध के कारण—राणा साँगा और बाबर का पारस्परिक सम्बन्ध क्रमशः बिगड़ता ही गया। बाबर ने राणा के विरुद्ध विश्वासघात

का दोष लगाया। उसका कहना था कि राणा ने उसे अपने दूत द्वारा दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए निमंत्रित किया था और उसने वचन दिया था कि जब वह दिल्ली पर चढ़ाई करेगा तो राणा आगरा पर अपनी सेना लेकर टूट पड़ेगा। पर राणा ने ऐसा नहीं किया और बाबर ने इसे विश्वासघात कह कर राणा को दोषी ठहराया। राणा का कहना था कि बाबर ने उसे कालपी, बियाना और धोलपुर देने को कहा था, पर उसने इन इलाकों पर स्वयं अधिकार कर लिया और राणा के साथ विश्वासघात किया। इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर कीचड़ उछालने की कोशिश करते रहे। वास्तव में दोनों ही महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे और दिल्ली पर दोनों की नजर थी। इस उद्देश्य की पूर्ति में दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन गये और इस प्रकार दोनों में युद्ध होना स्वाभाविक हो गया। इसी समय बियाना के शासक पर राणा ने आक्रमण किया, पर उसने अपनी रक्षा के लिए बाबर की शरण ली। बाबर तुरंत उसकी मदद के लिए तैयार हो गया। उसने दिल्ली से एक सेना भी बियाना की ओर भेज दी। इससे बियाना पर राणा का अधिकार नहीं हो सका। इस मदद के लिए बियाना के शासक निजाम खाँ ने बाबर को २० लाख रुपये प्रतिवर्ष देने का वचन किया। इस घटना से राणा साँगा को बहुत चोट लगी और उसकी आँख खुल गयी। वह स्वयं बियाना की ओर बढ़ा और उस पर अपना अधिकार कर लिया। इसी समय पश्चिमी अफगानों का सरदार हसन मेवाती भी राणा से आ मिला। राणा ने महमूद लोदी को दिल्ली का वास्तविक शासक मान लिया और उसे बाबर के बाद दिल्ली सल्तनत के मालिक बनाने का प्रलोभन दिया। इस प्रकार राणा साँगा और बाबर में संघर्ष होना अनिवार्य हो गया। बाबर ने भी राणा से युद्ध करने की पूरी तैयारी कर ली।

खनवा का युद्ध—(१५२७ ई०)—जिस समय बियाना पर राणा ने अधिकार कर लिया और अफगान सरदारों को अपनी ओर मिलाकर अपनी शक्ति दृढ़ कर ली, उस समय बाबर सीकरी की ओर चल पड़ा। सीकरी के पास राणा और बाबर की सेनाएँ पहुँच गयीं। राणा ने बाबर की सेना के एक भाग पर आक्रमण किया और उसे बुरी तरह छकाया। मुगल सैनिक डर

गये और भाग खड़े हुए। उसी समय काबुल से एक ज्योतिषी आया और उसने मुगलों की पराजय की भविष्य वाणी की। इससे मुगल सैनिक और भी निराश हो गये और उनकी हिम्मत टूटने लगी। वे युद्ध से इनकार कर बैठ गये। पर बाबर की हिम्मत पक्की थी और उसका धैर्य पूर्ववत् बना रहा। उसने अपने सैनिकों को उत्साहित किया और उन्हें प्रभावित करने के लिए मद्यपान त्याग करने की प्रतिज्ञा की और शराब पीने के बहुमूल्य पात्र तुड़वा दिये। उसने अपने सैनिकों तथा सरदारों को इकट्ठा कर बड़े ओजस्वी शब्दों में कहा कि "इस संसार में सब को एक दिन मरना है। पर गौरव के साथ मरना ही वीरों का काम है। यदि हमें मरना ही है तो अच्छा है कि मृत्यु सम्मान के साथ हो। यदि हम लोग इस युद्ध में मरेंगे तो शहीद होंगे और यदि विजयी होंगे तो गाजी कहलायेंगे। उसने कुरान हाथ में लेकर सब को शपथ लेने के लिए आह्वान किया कि जब तक शरीर में प्राण रहेगा, रण-क्षेत्र से मुँह न मोड़ेंगे।" इन शब्दों का सेना पर अच्छा प्रभाव पड़ा और सब सैनिकों ने बादशाह का साथ देना निश्चय किया।

सीकरी से दस मील दूर खनवा के पास दोनों सेनाओं ने पड़ाव डाले। राणा के साथ राजपूतों के अलावे मेवाती और अफगानी सरदार भी थे। उसकी सेना बाबर से बड़ी थी। बाबर इस स्थिति को समझता था अतः उसने अपनी सेना की व्यूह-रचना अपनी योजना से करायी। उसने तीन भागों में सैनिकों को विभाजित कर मध्य भाग का संचालन स्वयं अपने हाथ में लिया। सेना के आगे तोपखाना था और उसी की ओट में बन्दूक चलाने वाले सैनिक रक्खे गये थे। इस प्रकार संगठित सेना को लेकर १६ मार्च सन् १५२७ ई० को बाबर ने प्रातः काल ही भीषण युद्ध प्रारम्भ किया। युद्ध दिन भर चलता रहा। पहले राजपूत सैनिकों ने मुगलों को दबाया, पर शाम को पासा पलट गया और तोपखाने की सहायता से मुगल सेना ने राजपूतों का संहार प्रारम्भ कर दिया। राजपूतों की सेना छिन्न-भिन्न होने लगी और उदय सिंह, हसन खाँ मेवाती युद्ध में मारे गये। राणा साँगा भी बुरी तरह घायल हुए और उन्हें युद्ध क्षेत्र से हटना पड़ा। राजपूत सैनिकों की लाशों तथा सिरों का एक स्तूप-सा बन गया और विजय-श्री बाबर के हाथ लगी। उसने गाजी की

उपाधि धारण की और अब बाबर के लिए भारत के सम्राट होने का मार्ग पूर्ण रूप से साफ हो गया।

राजपूतों की सेना बड़ी थी, पर उसमें सङ्गठन का अभाव था। अपेक्षाकृत बाबर की सेना का नियंत्रण और संचालन अधिक कुशल था। राणा सेना में अनेक दल थे और उनके संचालन का भार भी भिन्न-भिन्न सेनापतियों पर था। इसके अतिरिक्त बाबर के पास अच्छी तोपें थीं और उनकी मार के सामने टिकना असंभव था। युद्धक्षेत्र में राणा की सेना का एक भाग सिलादी के संचालन में था। वह एक राजपूत था जो बाद को मुसलमान हो गया था। उसने राणा को युद्ध में धोखा दिया और जब घमासान युद्ध चल रहा था तो वह अपने सैनिकों के साथ बाबर से जा मिला। इससे राजपूत सेना का उत्साह भङ्ग हो गया और उसकी सेना अव्यवस्थित हो गयी।

चन्देरी पर आक्रमण—बाबर ने अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए चन्देरी पर धावा किया। चन्देरी उस समय मेदिनी राय के अधिकार में था और वह राणा का अपना आदमी था। बाबर इसीलिए उसे समाप्त करना चाहता था। दिसम्बर सन् १५२७ ई० में मुगल सेना चन्देरी पर चढ़ आयी और वहाँ के राय को पराजित कर दिया।

घाघरा का युद्ध—चन्देरी की विजय के बाद बाबर का ध्यान पूर्व के अफगान सरदारों की ओर गया। बिहार में इब्राहीम लोदी के भाई महमूद लोदी ने एक सेना इकट्ठी कर अपनी शक्ति बढ़ा ली। वह चुनार की ओर बढ़ने लगा। शेर खाँ सूर भी उससे जा मिला। इससे बाबर की चिन्ता और बढ़ने लगी। अतः बाबर अपनी सेना के साथ चुनार की ओर बढ़ा। बाबर के आगमन से अफगान चुनार छोड़ और पूरब की ओर बढ़ गये। घाघरा के युद्ध में सन् १५२६ ई० को दोनों दलों में मुठभेड़ हुई। बाबर ने अफगानों को बुरी तरह परास्त किया और उनकी शक्ति को नष्ट कर दिया। इस पराजय ने अफगान सरदारों की पुनः दिल्ली पर अधिकार प्राप्त करने की आशा को मिट्टी में मिला दिया। बाबर अपनी विजय से संतुष्ट हो कर आगरा लौट आया।

बाबर के अन्तिम दिन—बाबर का पैर भारत में जम गया था। भारत के बादशाह होने की अभिलाषा पूरी हो गयी थी। पर उसके जीवन के अन्तिम दिन चैन से नहीं व्यतीत हुए। उसका पुत्र हुमायूँ अंतिम दिनों में काबुल में था क्योंकि वहाँ उजबेग विद्रोह कर रहे थे। हुमायूँ को उनके विरुद्ध विशेष सफलता नहीं मिली, अतः बाबर स्वयं काबुल की ओर चल पड़ा। लाहौर तक पहुँचने पर बाबर का स्वास्थ्य बिगड़ गया अतः वह आगे नहीं बढ़ सका। उसी बीमारी की दशा में कुछ लोगों ने हुमायूँ के विरुद्ध षड्यंत्र किया। इस षड्यंत्र की खबर पाते ही हुमायूँ आगरे आ गया और षड्यंत्र दब गया। पर उसी समय हुमायूँ सख्त बीमार हुआ। इससे बाबर की चिन्ता और बढ़ गयी। उसने ज्योतिषियों की इच्छानुसार अपने पुत्र को जीवनदान देने के लिये स्वयं अपना दान करना चाहा। कहा जाता है कि बाबर ने हुमायूँ की शय्या की तीन बार परिक्रमा कर ईश्वर से प्रार्थना की कि हुमायूँ स्वस्थ हो जाय और उसके बदले बाबर के प्राण ले लिये जाँय। उसी समय से हुमायूँ स्वस्थ होने लगा और बाबर बीमार हो गया। दिन-दिन उसका स्वास्थ गिरता गया और २६ दिसम्बर सन् १५३० ई० को वह संसार से चल बसा। उसका मृतक शरीर आगरे से उसकी इच्छानुसार काबुल पहुँचाया गया और वहीं दफनाया गया।

बाबर का चरित्र—फ़रिश्ता के शब्दों में बाबर आकृति में सुन्दर, आकर्षक; स्वभाव से कोमल और बातचीत में अकृत्रिम था। उसके शरीर में बल था, वह आखेट-प्रिय स्वभाव का था। उसमें साहस कूट-कूट कर भरा था। उसका आत्म विश्वास सराहनीय था और भयानक आपत्ति के सम्मुख भी कभी घबड़ाता नहीं था। पानीपत और खानवा के युद्ध में बाबर के इन गुणों का अच्छा परिचय मिलता है। अपनी वाणी से वह अपने सैनिकों में जोश भर देता था।

बाबर अपने सगे-सम्बन्धियों के प्रति अपार प्रेम रखता था। उसकी कौटुम्बिक भावना सराहनीय थी। वह जोश में देश लूटना नहीं जानता था और जीते हुये देशों को बर्बाद करने का आदेश अपने सैनिकों को नहीं देता,

था। वह एक उच्चकोटि का सैनिक, योद्धा और सेनापति था। वह रण कुशल व्यक्ति था और व्यूह-रचना में बहुत प्रवीण था। एक सेनानायक के सब गुण उसमें थे।

बाबर एक कट्टर सुन्नी था। वह हिन्दुओं और शिया को भी काफिर समझता था। वह जिहाद को अपना एक पवित्र कर्तव्य समझता था। ईश्वर की सत्ता में उसको पूरा विश्वास था। प्रार्थना में भी उसे अटल विश्वास था वह नियम से रोजा रखता था। युद्ध में शत्रुओं के संहार और बध करने में उसे तनिक हिचक नहीं होती थी। इसीलिये कुछ इतिहासकारों ने उसे क्रूर कहा है। पर यह सच है कि बाबर ने कभी निर्दोष और शान्त रहने वालों की हत्या में आनन्द नहीं लिया।

बाबर को प्राकृतिक दृश्यों से बहुत प्रेम था। वह सदा ऐसे दृश्यों के संपर्क में समय व्यतीत करने के लिए लालायित रहता था। अपने "बाबरनामा" में उसने भारत के फूलों, पौधों, झीलों, पहाड़ों तथा अपनी जन्मभूमि के चरागाहों का बड़ा सजीव एवं आकर्षक वर्णन किया है। उसने अपने जीवन-काल में बहुत-से उद्यान लगवाये और अपनी रुचि के अनुसार उन्हें सजाया। साथ ही बाबर साहित्य-प्रेमी और सफल लेखक भी था। वह तुर्की में कविता करता था। उसकी आत्म कथा "बाबरनामा" (तुज़ुके बाबरी) अनेक दृष्टियों से एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ की शैली सरल, सुबोध तथा प्रभावशालिनी है। बाबरनामा से बादशाह की स्पष्टवादिता और ईमानदारी का पता लगता है। बाबर ने भारत के विषय में अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "हिन्दुस्तान ऐसा देश है जिसमें थोड़े ही सौंदर्य हैं। यहाँ के मनुष्य देखने में सुन्दर नहीं होते। यहाँ के घर न सुडौल होते हैं, न हवादार और न सुन्दर होते हैं। यह एक बड़ा देश है और यहाँ सोने-चाँदी का ढेर लगा रहता है। इसकी हवा वर्षा ऋतु में अच्छी होती है। हर एक कार्य के लिए एक जाति होती है जिसका एक परम्परागत पेशा होता है।"

इस प्रकार भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर अनेक दृष्टियों से एक अद्भुत और प्रतिभाशाली बादशाह कहा जा सकता है। उसके जीवन

में बारबार कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ आँधी की तरह आयीं, पर उसने साहस एवं धैर्य के साथ उनका सामना किया। निराश होकर बैठ जाना उसके स्वभाव में नहीं था। यही कारण है कि वह अन्त में सफल हुआ और भारत में एक बड़े साम्राज्य का संस्थापक बना। युद्ध और शान्ति दोनों ही पक्षों में बाबर का जीवन अलौकिक एवं आकर्षक था। इतिहासकारों का विचार है कि "बाबर की गणना संसार के योग्य और प्रतिभाशाली बादशाहों में होनी चाहिये। दो आदमियों को दोनों ओर अपनी बाहों में दबा कर वह बड़ी आसानी से किले की दीवार पर दौड़ सकता था। भारत में उसके मार्ग में जितनी नदियाँ पड़ी थीं उन सबको उसने तैर कर पार किया था। घोड़े की पीठ पर वह दिन में ८० मील तक चढ़ा चला जाता था।"

हुमायूँ

[सन् १५३०—१५५६ ई०]

हुमायूँ का आरम्भिक जीवन—हुमायूँ का जन्म ६ मार्च सन् १५०८ ई० में काबुल में हुआ था। वह बाबर का बड़ा लड़का था। बाबर ने उसकी शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया था। पानीपत के युद्ध में वह मुगल सेना के दक्षिण पक्ष का संचालक बनाया गया था। उसके बाद भी उसने आगरा, ग्वालियर और खनवा में अच्छा काम किया। इसके बाद बाबर ने उसे बदख्शाँ की स्थिति सम्भालने के लिए भेज दिया, पर वहाँ उसे विशेष सफलता नहीं मिली। सन् १५२६ ई० में उसकी माँ ने उसे बदख्शाँ से बुलवा लिया और वह आगरे में रहने लगा। कुछ दिनों तक अपने पिता के साथ रहने के बाद वह बीमार हो गया और पुनः पिता की चिन्ता से वह अच्छा हो गया, पर बाबर स्वयं बीमार पड़ा और २६ दिसम्बर सन् १५३० ई० को वह परलोकवासी हुआ। उसकी मृत्यु के बाद हुमायूँ पिता की इच्छानुसार सिंहासन का मालिक हुआ।

हुमायूँ की आरम्भिक कठिनाइयाँ—सन् १५३० ई० में हुमायूँ दिल्ली की गद्दी का मालिक हो गया, पर उसकी स्थिति अच्छी नहीं थी। सर्व प्रथम बाबर के प्रधान मंत्री अली मुहम्मद ने हुमायूँ के विरुद्ध षड्यंत्र रचा। उसकी राय में हुमायूँ साम्राज्य को सम्भालने की योग्यता नहीं रखता था। पर उसका वह प्रारम्भिक षड्यंत्र सफल न हो सका और हुमायूँ को सिंहासन मिला। पर इसी से हुमायूँ की कठिनाइयों का अन्त नहीं हुआ। साम्राज्य की राजनैतिक स्थिति हुमायूँ जैसी प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए अनुकूल नहीं थी। राजकोष खाली था और उस नव स्थापित साम्राज्य के लिए भरे-पूरे खजाने की आवश्यकता थी। उस समय तक मुगल सेना में एकता का सुसंगठित रूप निश्चित नहीं हो सका था। उसमें चगताई, उजबेग,

मुगल, ईरानी, अफगान तथा हिन्दुस्तानी सभी जातियों के सैनिक शामिल थे। इस प्रकार की सेना कभी अधिक दिनों तक जम कर दुश्मन का सामना नहीं कर सकती है। देश में अफगानी और हिन्दू सरदार तथा राजा अभी मुगलों को विदेशी समझते थे और उन्हें खदेड़ने की आशा में तैयारी कर रहे थे। अफगान वंश के सरदार अमीर आदि केवल कुचल गये थे, बाबर ने उन्हें भग्न नहीं किया था, अतः वे दबे-दबे अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे थे। ऐसे लोगों में शेर खाँ, अलाउद्दीन, बहादुर शाह और रत्नसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पर इन कठिनाइयों के अतिरिक्त हुमायूँ के भाई और स्वयं हुमायूँ की कमजोरियाँ उसकी सबसे बड़ी विपत्तियाँ थीं। उसके भाई कामरान, अस्करी, हिन्दाल उससे द्वेष रखते थे और स्वयं बादशाह बनने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में थे। हुमायूँ स्वयं चंचल, सीधा-सादा, आमोद-प्रमोद प्रिय और दुर्बल हृदय वाला व्यक्ति था। उस समय एक कठोर, दृढ़ प्रतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ और तीक्ष्ण बुद्धि वाले मनुष्य की आवश्यकता दिल्ली के सिंहासन को थी। इन सब कठिनाइयों और कमजोरियों के बीच हुमायूँ को दिल्ली का राज्य मिला और इन्हीं कारणों से वह जीवन-पर्यन्त कष्ट झेलता रहा।

हुमायूँ के अतिरिक्त बाबर के तीन और पुत्र थे—कामरान, अस्करी और हिन्दाल। बाबर की मृत्यु के बाद काबुल-कन्धार कामरान को मिला, सम्भल अस्करी को और मेवात तथा अलवर हिन्दाल को मिला। हुमायूँ सदा इन भाइयों के प्रति पिता की इच्छानुसार उदार बना रहा, पर ये सब भाई हुमायूँ को दिल्ली की गद्दी से वंचित करने की ताक में रहते थे। बंगाल बिहार तथा गुजरात में अफगानों की शक्ति दृढ़ थी और राजपूत अभी राणा सांगा के पुत्र राणा रत्नसिंह की अधीनता में दिल्ली के बादशाह को भारत से बाहर निकालने का स्वप्न देखा करते थे।

हुमायूँ ने सर्व प्रथम कालिंजर के चन्देल राजपूत-सरदार को परास्त किया क्योंकि वह अफगानों के प्रभाव में था। इसके बाद उसका ध्यान जौनपुर के अफगान सरदार महमूद के विद्रोह की ओर गया। हुमायूँ को वहाँ भी सफलता मिली। इन प्रारम्भिक विजयों से प्रसन्न हो हुमायूँ ने बहुत

धन लुटाया; बड़ी-बड़ी दावतें दी गयीं और मूल्यवान वस्त्र तथा अरबी घोड़े वितरित किये गये। हुमायूँ का यह अपव्यय उसके लिए घातक सिद्ध हुआ क्योंकि उसे तुरन्त बड़े-बड़े दुश्मनों का सामना करना पड़ा जिसमें अधिक धन की आवश्यकता पड़ी।

हुमायूँ का बहादुर शाह के साथ संघर्ष—मालवा तथा तथा गुजरात बहादुर शाह के अधीन था। वह शक्तिशाली और साहसी शासक था। उसने हुमायूँ के शत्रुओं को अपने दरबार में शरण दी और उन्हें मुगल साम्राज्य के विरुद्ध उभाड़ा। अतः सन् १५३१ ई० में हुमायूँ ने बहादुर शाह पर आक्रमण किया। मुगल सेना और बहादुर शाह में पहला संघर्ष मन्दसोर नामक स्थान पर हुआ। वहाँ से कुछ दिनों बाद बहादुर शाह भाग खड़ा हुआ और इधर-उधर भटकता हुआ अन्त में ड्यू द्वीप में शरण ली। हुमायूँ आगे नहीं बढ़ा और लूटपाट कर आगरे लौट आया। वहाँ उसने आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। इस असावधानी से बहादुर शाह के प्रान्त मालवा और गुजरात हुमायूँ के हाथ से निकल गये और विजयी होकर भी हुमायूँ असफल रहा। उसे ड्यू तक पीछा कर बहादुर शाह को ध्वस्त करना चाहिए था, पर हुमायूँ की इतनी सूझ-बूझ नहीं थी। इसी समय उसके भाई मिर्जा असकरी ने भी उसे धोखा देना चाहा और वह स्वयं दिल्ली-आगरा के मालिक होने का स्वप्न देखने लगा। हुमायूँ इससे बहुत चिन्तित हुआ और इसी बीच मालवा और गुजरात में विद्रोह हुआ और ये धनी प्रान्त हुमायूँ के हाथ से निकल गये। इस असफलता के मुख्य कारण हुमायूँ की अकर्मण्यता और विजित प्रान्तों को संगठित करने की शक्ति का अभाव तथा अदूरदर्शिता थी। हुमायूँ की असफलता का आरम्भ यहीं से शुरू हुआ।

हुमायूँ और शेरशाह का संघर्ष—शेर खाँ बाबर के समय में ही शक्तिशाली हो गया था। उसने सन् १५३१ ई० में दक्षिण बिहार पर अपना अधिकार कर लिया। चुनार भी उसके अधिकार में आ गया। इस बढ़ती हुई शक्ति से हुमायूँ चिन्तित हुआ। हुमायूँ की तत्कालीन कठिनाइयों से लाभ उठाकर वह अपनी शक्ति बढ़ाता गया। कई वर्षों तक लगातार शेर खाँ

हुमायूँ को बातों में फुसलाता रहा और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाता रहा। उसने बंगाल में गौड़ पर भी अपना अधिकार जमा लिया। अन्त में हुमायूँ एक सेना साथ चुनार की ओर चल पड़ा चुनार में शेर खाँ ने हुमायूँ का विरोध नहीं किया और बिना युद्ध के ही चुनार हुमायूँ के अधिकार में आ गया। इस विजय से प्रसन्न हो बादहशाह ने आमोद-प्रमोद में अपना अधिक समय लगा दिया। वहाँ से वह बनारस की ओर बढ़ा। पुनः वहाँ से हुमायूँ गौड़ को रवाना हुआ और सरलता से उसपर अपना अधिकार कर लिया। शेर खाँ नेबीच में कहीं हुमायूँ का विरोध नहीं किया। जब दिल्ली का बादशाह गौड़ की विजय में आनन्द मना रहा था, उसी समय शेरखाँ ने चुनार पर धावा किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। शेर खाँ बड़ी तेजी से बनारस, जौनपुर आदि इलाकों को अपने अधिकार में करता हुआ आगे बढ़ता गया। इन दिनों हुमायूँ गौड़ में पड़ा था। उसकी इस भारी भूल ने शेर खाँ को शक्ति-संचय करने का पर्याप्त अवसर दिया। इस गड़बड़ी से दिल्ली में भी षडयंत्र शुरू हो गये और स्थिति नाजुक हो जाने पर हुमायूँ आगरे की ओर चल पड़ा। बक्सर के पास चौसानामक स्थान पर शेर खाँ ने हुमायूँ को रोका।

चौसा का युद्ध (सन् १५३९)—गंगा के दाहिने किनारे पर चौसा नामक स्थान पर शेर खाँ और हुमायूँ की सेनाओं में युद्ध हुआ। हुमायूँ की सेना थकी थी और लगातार कई महीनों से बिहार-बंगाल में पड़ी थी। शेर खाँ अवसर की ताक में बैठा था और उसने अपने सैनिकों को नये ढंग से संगठित कर रक्खा था। शेर खाँ के एक सैनिक ने हुमायूँ की ओर तीर मारा और वह तीर बादशाह की एक भुजा में लगा। हुमायूँ के सैनिकों ने प्रारम्भ से ही शिथिलता दिखायी और बादशाह के आदेशों को अनसुनी कर दिया। हुमायूँ निराश हो एक घोड़े की पीठ पर बैठ गङ्गा में कूद पड़ा। थोड़ी देर बाद हुमायूँ का घोड़ा पानी में डूब गया। पर एक भिश्ती ने अपनी मशक जो हवा से भरी थी, बादशाह की ओर बढ़ा दी और किसी प्रकार हुमायूँ की जान बच गयी। राजधानी पहुँचने पर हुमायूँ ने इस भिश्ती को आधे दिन के लिए

बादशाह बनाकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी। हुमायूँ के पीछे लगभग आठ हजार मुगल सैनिक नदी में डूब गये। इस युद्ध में शेर खाँ की सब योजनाएँ सफल हो गयीं और हुमायूँ के संकट के बादल घने हो गये।

कन्नौज का युद्ध (सन् १५४०)—चौसा के युद्ध के बाद शेर खाँ ने दूरदर्शिता से काम लिया। वह हुमायूँ का पीछा करता हुआ आगे बढ़ा। कन्नौज में पुनः दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। हुमायूँ की सेना में भगदड़ मच गयी। शेर खाँ ने हुमायूँ के सैनिकों पर गहरी चोट की। मुगल सेना भाग खड़ी हुई।

हुमायूँ का पलायन—शेर खाँ के सैनिकों ने द्रुतगति से हुमायूँ का पीछा किया। अनेक कठिनाइयों का सामना करता हुआ वह आगरा पहुँचा, वहाँ से वह सीकरी की ओर भागा। अफगान उसका पीछा करते जा रहे थे। अतः वह दिल्ली होता हुआ लाहौर पहुँच गया। शेर खाँ ने लाहौर तक उसका पीछा किया। हुमायूँ मारवाड़ और सिंध के रेगिस्तान में मारा-मारा फिरता रहा। बड़ी कठिनाई के साथ वह अमरकोट पहुँचा और वहीं उसकी बेगम हमीदा बानू के गर्भ से अकबर पैदा हुआ जो आगे चल कर भारत का बहुत ही प्रभावशाली तथा सफल सम्राट बना। उसने उस दुर्दिन में कन्दहार में अपने भाई कामरान के यहाँ शरण लेनी चाही, पर वहाँ भी उसे घोर निराशा हुई। अन्त में दुःख का मारा मुसीबतों से लड़ता हुआ हुमायूँ फारस चला गया और एक निर्वासित का जीवन व्यतीत करने लगा।

हुमायूँ की पराजय के कारण—शेरशाह ने दो बार हुमायूँ को बुरी तरह हराया। प्रथम बार चौसा में और दूसरी बार कन्नौज में हुमायूँ की हार हुई। दोनों युद्धों में हुमायूँ शेर खाँ को अपनी स्थिति दृढ़ करने का अच्छा अवसर देता रहा। युद्ध क्षेत्र में हुमायूँ ने लगातार कई दिनों तक अन्तिम घड़ी के लिए इन्तजार किया और इस प्रकार शेर खाँ एक चतुर सेनापति की तरह अपनी स्थिति दृढ़ करने में उस समय को लगाया। हुमायूँ की पराजय का एक कारण उसकी सेना का क्लान्त होना था। उसकी सेना दिल्ली से चलकर बंगाल में महीनों पड़ी रही, पुनः वहाँ से चौसा तक आयी। इस

प्रकार उसके सैनिक थक चुके थे और किसी प्रकार गहरे तथा घमासान युद्ध के लिए उनका मन अनुकूल नहीं था। वास्तव में हुमायूँ को गौड़ पहुँचाने के पूर्व शेर खाँ को अपने आधीन कर लेना चाहिए था। पर उसने ऐसा नहीं किया। यह उसकी अदूरदर्शिता और अनुभव-हीनता की एक निशानी थी और उसकी पराजय का सबसे प्रधान कारण यही था। चौसा के युद्ध में हुमायूँ के अधिकांश अनुभवी सैनिक मर चुके थे। कन्नौज में उसने नये और अनुभव-हीन सैनिकों को युद्ध क्षेत्र में खड़ा किया। साथ ही उस युद्ध में हुमायूँ ने हैदर मिर्जा नामक सरदार को सेनापति बनाया। वह युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ और उसी के साथ सेना का उत्साह भंग हो गया। ऐसे विश्वास-घाती और डरपोक व्यक्ति में हुमायूँ का विश्वास करना उसके लिए घातक हुआ। हुमायूँ के अमीरों का इसी प्रकार धोखा देना उसकी हार का एक कारण हो गया। ऐसे व्यक्तियों की देख-रेख में हुमायूँ की सेना में संयम और अनुभव का सर्वथा अभाव हो गया। इसके विपरीत शेर खाँ एक चुस्त और नीति-कुशल व्यक्ति था। उसने मुगलों से लड़ने की पूरी तैयारी की थी और हुमायूँ को स्थिति समझने और तैयारी करने का अवसर नहीं देता था।

कहा जाता है कि हुमायूँ स्वयं अपनी असफलता का कारण था। वह अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य की उपेक्षा करता रहा और अपनी स्थिति बिना सोचे समझे बिगाड़ता गया। किसी भी विजय के उपरान्त वह उस विजय को दृढ़ करना नहीं जानता था और लापरवाही तथा आमोद-प्रमोद में अपना समय बिताने लगता था। उसने गुजरात और गौड़ में यही किया और इसी से वह सफल होकर भी असफल रहा। हुमायूँ के तीन भाई कामरान, हिन्दाल और अस्करी उसे सदा धोखा देते रहे। यदि हुमायूँ को अपने इन भाइयों का सहयोग और सद्भावना मिली होती तो निस्सन्देह हुमायूँ को सब कुछ खोकर एक निर्वासित का जीवन नहीं व्यतीत करना पड़ता। हुमायूँ स्वभाव का कुछ कोमल था और बार-बार धोखा खाकर भी अपने सगे-सम्बन्धियों को क्षमा कर देता था। उस युग में एक बादशाह के लिए यह गुण खतरनाक सिद्ध हुआ। हुमायूँ की पराजय का एक प्रधान कारण उसकी सेना की कमजोरी थी। बाबर की मृत्यु के बाद कामरान को अफगानिस्तान

तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त मिला। इससे हुमायूँ की सेना में समरकन्द, काबुल आदि से सैनिक नहीं आ सके। भाई की शत्रुता से हुमायूँ की सेना खोखली हो गयी और "उसके पास या तो वृद्ध सैनिक रह गये या नये अनुभव-शून्य रंगरूट थे जिनसे विजय की आशा बहुत कम की जा सकती थी।"

हुमायूँ का प्रवास—ऊपर लिखे कारणों से हुमायूँ ने बाबर की कमाई खो दी। सब कुछ पाकर भी सन् १५४० ई० में उसके पास कुछ नहीं रहा। कन्नौज में हार कर दिल्ली, लाहौर होता हुआ थट्टा पहुँचा। अमरकोट में कुछ दिनों तक रह कर वह आगे बढ़ा। भाइयों ने उसे धोखा दिया। अतः वह काबुल भी न जा सका। अपने नवजात पुत्र अकबर को कन्दहार में छोड़ वह सीस्तान और हिरात होते हुए फारस के शाह तहमास्प के पास पहुँचा। शाह ने हुमायूँ का स्वागत किया और उसे सहायता देने का वचन दिया।

शाह की सेना की मदद से हुमायूँ ने कुछ दिनों बाद कन्धार जीत लिया। कन्धार में उसने अपने भाई अस्करी को हराया। इसके बाद हुमायूँ काबुल की ओर बढ़ा। वहाँ उसके भाई कामरान ने उसका विरोध किया। १५ नवम्बर सन् १५४५ को कामरान भाग गया और हुमायूँ का काबुल पर अधिकार हो गया। तीन वर्ष के बाद हुमायूँ की अपने पुत्र से मुलाकात हुई। इससे बादशाह को अपार हर्ष हुआ। इसके बाद भी कामरान से हुमायूँ को युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में अकबर कामरान के हाथ पड़ गया और उसने अकबर को किले की उस दीवार पर बैठा दिया जिस पर गोलों की वर्षा हो रही थी। पर सौभाग्य से अकबर को किसी प्रकार की चोट न आयी। इस बार भी कामरान पराजित हुआ। इतना होने पर भी हुमायूँ ने उसे क्षमा कर दिया।

सन् १५५४ ई० में शूरवंश की शक्ति क्षीण हो गयी थी। हुमायूँ के सब भाई मर चुके थे। अतः अब वह उनसे निश्चिन्त हो गया। हुमायूँ पेशावर की ओर बढ़ा। वहीं बैरम खाँ कन्धार से आकर उससे मिल गया। हुमायूँ सिन्ध नदी पार कर आगे बढ़ा। २४ फरवरी सन् १५५५ ई० को उसने लाहौर में प्रवेश किया। पंजाब, सरहिन्द तथा हिसार निर्विरोध उसके अधिकार में आ गये। आगे बढ़ने पर मैंचवाड़ा नामक स्थान पर मुगल और अफगान

सेनाओं में संग्राम हुआ। विजय-श्री हुमायूँ के हाथ लगी। आगे बढ़ कर २३ जुलाई सन् १५५५ को हुमायूँ ने दिल्ली में प्रवेश किया। भाग्य ने पुनः पलटा खाया। हुमायूँ १५ वर्ष के बाद पुनः दिल्ली का बादशाह हो गया और मुगल वंश की स्थापना वास्तविक रूप से इसी बार हुई।

हुमायूँ की मृत्यु—हुमायूँ अपनी विजय का फल अधिक दिनों तक न भोग सका। एक दिन संध्या को लाहौर में अपने पुस्तकालय की चिकनी सीढ़ी से उतरते समय पैर फिसल जाने से बादशाह को बहुत अधिक चोट लगी। उसी से २४ जनवरी १५५६ को उसका देहान्त हो गया। कहा जाता है कि हुमायूँ इस प्रकार जीवन-पर्यन्त ठोकरें खाता रहा और अन्त में भी ठोकर खाकर ही वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

हुमायूँ का चरित्र—मुगल वंश के बादशाहों में हुमायूँ एक विचित्र स्वभाव का व्यक्ति हो गया है। उसमें अनेक मानवोचित गुण थे। वह दयालु और नेक था। शीघ्र ही वह दूसरों पर विश्वास करने लगता था। दुश्मनों के साथ भी उसका व्यवहार अच्छा होता था। बार-बार धोखा खाकर भी उसने अपने भाइयों के साथ दया का बर्ताव किया। क्षमा करना उसके स्वभाव का अभिन्न अङ्ग बन गया था। वह विद्वानों का आदर करता था। वह बड़ा ही मिलनसार था। इन गुणों से विभूषित होकर भी उसका सारा जीवन कष्टमय रहा। उसे सदा युद्ध करते रहना पड़ा। यह सच है कि जिन परिस्थितियों में हुमायूँ पैदा हुआ था, वे उसके अनुरूप नहीं थीं। उसके लिए अधिक चुस्त, क्रूर, अधिक दूरदर्शी और युद्ध-निपुण व्यक्ति की जरूरत थी। थोड़ी-सी सफलता पर सन्तोष कर हुमायूँ आमोद-प्रमोद में आगे की कठिनाइयाँ भूल जाता था और इसीलिये विजयी होकर भी वह असफल रहा। उसके विचारों में भी स्थिरता नहीं थी। शायद अफीम के दुर्व्यसन से उसकी मानसिक शक्ति कुछ कमजोर हो गयी थी। जब युद्ध में अर्जित सफलता को स्थायी बनाने का अवसर आता तो वह रङ्ग-रेलियों में लीन हो जाता था। जब क्रूर हो दण्ड देने का अवसर आता था तो वह क्षमा-दान कर देता था और अनावश्यक रूप से उदार बन जाता था। उसने अन्त तक

अपने मित्रों और भाइयों के विश्वासघात को नहीं पहचाना। इसीलिए हुमायूँ को मुगलवंश के बादशाहों में बहुत उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता है। वह एक सज्जन व्यक्ति था, पर उसमें एक कुशल सेनापति और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के गुणों का अभाव था। उसे न साम्राज्य-निर्माता कहा जा सकता है और न कुशल शासन-संचालक की श्रेणी में ही रक्खा जा सकता है। अतः वह बादशाह, सैनिक, शासक या विजेता की दृष्टि से असफल रहा। भाग्य की कैसी विडम्बना है कि "हुमायूँ" का शाब्दिक अर्थ सौभाग्यवान होता है परन्तु उससे अधिक अभागा बादशाह मुगल-वंश में कोई नहीं था। यदि हुमायूँ को अकबर-जैसा प्रतिभा-सम्पन्न और भाग्यशाली पुत्र न होता तो भारत में मुगल-वंश के अन्त कराने का कलंक हुमायूँ को ही लगता।

उनतीसवाँ परिच्छेद

शेरशाह सूर और सूर-वंश

२१ अप्रैल सन् १५२६ ई० को पानीपत के प्रसिद्ध रणक्षेत्र में बाबर और इब्राहीम लोदी की सेनाओं में युद्ध हुआ। उस युद्ध में बाबर विजयी हुआ और उसने देश में एक नये राजवंश की नींव डाली। उसके बाद सन् १५३० ई० में उसका पुत्र हुमायूँ दिल्ली का बादशाह हुआ। मालूम होता था कि इस नये मुगल वंश की नींव ऐसी व्यवस्थित और दृढ़ हो गई है कि वह लगातार चालू रहेगी और उसमें आसानी से किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होगा। पर पानीपत के प्रथम युद्ध के १४ वर्ष बाद एक अफगान सरदार ने यह आशा झूठी कर दी और हुमायूँ को पराजित हो भारत के बाहर प्रवासी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। वह अफगान सरदार जिसने बाबर और हुमायूँ के अब तक के परिश्रम पर पानी फेर दिया, शेर खाँ था। उसने मुगल वंश की जमी जमाई इमारत गिरा दी और उसके स्थान पर दिल्ली में एक नये वंश की नींव डाली जो सूर-वंश कहलाया।

शेरशाह का प्रारम्भिक जीवन—शेरशाह के बचपन का नाम फरीद खाँ था। उसका पितामह इब्राहीम खाँ सूर अफगानिस्तान से भारत आकर बस गया था। शेरशाह के पिता का नाम हसन खाँ था। हसन खाँ एक अफगान सरदार के यहाँ नौकरी करता था। उसी सरदार के साथ हसन खाँ जौनपुर आया और अपनी सेवाओं से अपने सरदार को खुश कर लिया। इसीलिए हसन खाँ को बिहार में सहसराम की जागीर पुरस्कार में मिली।

हसन खाँ को चार स्त्रियाँ और आठ लड़के थे। उसका बर्ताव फरीद की माता के साथ अच्छा नहीं था। अतः फरीद अपने पिता हसन खाँ से नाराज रहता था। धीरे धीरे पिता-पुत्र का विरोध तीव्र हो गया और अन्त में हसन खाँ ने फरीद को जौनपुर भेज दिया। फरीद वहीं विद्याध्ययन कर अपने

समय का सदुपयोग करने लगा। उसका मन विद्याभ्यास में लग गया और उसने बड़े-बड़े ग्रंथों का अध्ययन कर लिया। उसकी मेधाशक्ति से सब का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। इसके बाद पिता-पुत्र में मेल हो गया और हसन खाँ ने अपनी जागीर के प्रबन्ध का भार फरीद सौंप दिया।

फरीद २१ वर्ष तक अपनी जागीर का प्रबन्ध करता रहा। इसी काल में उसने अपनी अद्भुत प्रतिभा और योग्यता का परिचय दिया। अपनी छोटी-सी जागीर की ऐसी अच्छी व्यवस्था फरीद ने की कि उसका यश और नाम सर्वत्र फैल गया। उसके सम्पर्क में आने वालों के मन में यह बात अच्छी तरह बैठ गई कि "होनहार बिरवान के होत चिकने पात" वाली कहावत फरीद के विषय में अक्षरशः ठीक उतरेगी। उसने अपनी जागीर की प्रजा का हित-चिन्तन, भूमि-पतियों पर कड़ा नियंत्रण, सरकारी कर्मचारियों का निरीक्षण, लगान तथा भूमि सम्बन्धी सुधार और शान्ति की व्यवस्था के निमित्त ऐसे कार्य किये जिससे वह सर्वप्रिय बन गया।

पर फरीद की सफलता और उसका यश उसकी सौतेली माँ को खटकने लगा। वह फरीद के विरुद्ध हसन खाँ का कान भरने लगी और सन् १५१८ ई० में उसे सहसराम छोड़कर पुनः अन्यत्र अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए बाध्य होना पड़ा। फरीद बिहार से चलकर आगरा पहुँचा और वहाँ इब्राहीम खाँ लोदी से मिला। उसी समय उसे अपने पिता के मरने का समाचार मिला। फरीद ने इब्राहीम लोदी से अपने पिता की जागीर प्राप्त करने की कोशिश की। पर बिहार पहुँचने पर उसने अपनी सौतेली माँ का विरोध नहीं किया और बिहार के एक सरदार के यहाँ नौकरी कर ली। वहीं एक बार आखेट करते समय फरीद खाँ ने एक बड़े शेर से अपने स्वामी की रक्षा की और शेर को मार डाला। स्वामी ने खुश होकर फरीद को शेर खाँ की उपाधि दी। शेर खाँ का वहाँ बहुत आदर था। पर वह अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था। इस समय तक बाबर दिल्ली का बादशाह हो चुका था। मुगलों की सहायता से शेर खाँ ने सहसराम की अपनी जागीर प्राप्त कर ली। पर मुगल साम्राज्य के प्रबन्ध से वह असन्तुष्ट था। अतः

बाबर उससे नाराज हो गया। इसीलिए शेर खाँ ने पुनः बिहार के स्वतंत्र शासक मुहम्मद लोहानी के यहाँ नौकरी कर ली।

लोहानी की मृत्यु के बाद उसकी सल्तनत का भार शेर खाँ ने सम्भाला। उसी समय से उसका प्रभाव बढ़ने लगा। शेर खाँ ने लोहानी की ओर से बङ्गाल के स्वतंत्र शासक को परास्त किया। इसके बाद शेर खाँ ने सन् १५३० ई० में चुनार पर अधिकार लिया।

शेर खाँ और हुमायूँ—चुनार पर अधिकार करने के बाद हुमायूँ से उसकी मुठभेड़ हुई। हुमायूँ ने चुनार का घेरा डाला, पर इसी समय मालवा और गुजरात में युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण मुगल बादशाह का ध्यान चुनार की ओर से हट गया और चुनार पर शेर खाँ का ही अधिकार बना रहा। परिस्थितियों ने शेर खाँ का साथ दिया और बिहार भी उसके अधिकार में आ गया। शेर खाँ ने अपनी शक्ति और बढ़ायी और बंगाल की ओर बढ़कर गौड़ पर भी अधिकार किया। एक बड़ी रकम लेकर शेर खाँ ने गौड़ छोड़ दिया। लौटने के उपरान्त उसने सोन नदी के किनारे स्थित रोहतास गढ़ के किले पर अधिकार कर अपनी शक्ति और बढ़ा ली।

इन बातों से हुमायूँ को गहरी चिन्ता हुई। वह झट बिहार की ओर चल पड़ा। शेर खाँ जानता था कि खुले मैदान में मुगल बादशाह से युद्ध करने में शायद वह सफल न हो सके। अतः जब मुगल बादशाह अपनी सेना के साथ चुनार के किले की ओर बढ़ा तो शेर खाँ उसके समक्ष नहीं आया। हुमायूँ ने गलती की और वह शेर खाँ को यों ही छोड़ आगे बढ़ता हुआ गौड़ पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसने आलस्य के कारण अपना समय आमोद-प्रमोद में व्यतीत किया। इस समय का लाभ उठा कर शेर खाँ ने अपनी स्थिति और दृढ कर ली। सन् १५३९ ई० में जब हुमायूँ गौड़ से लौट रहा था तो शेर खाँ ने गंगा के तट पर बक्सर के पास चौसा नामक स्थान पर उस पर गहरा आक्रमण किया। हुमायूँ को अपनी अदूरदर्शिता का कटु फल भोगना पड़ा। वह बुरी तरह हार गया और नदी में कूद कर किसी प्रकार प्राण एक भिश्ती की सहायता से बचाये। उसके सैनिक हजारों की संख्या में मार डाले गये।

शेर खाँ बंगाल और बिहार का मालिक हो गया। इसी समय उसने शेरशाह की उपाधि धारण की।

कन्नौज का युद्ध (सन् १५४०)—शेरशाह हुमायूँ की इस पराजय का और लाभ उठाना चाहता था। अतः उसने हुमायूँ का पीछा किया। हुमायूँ भी आगरा पहुँचते ही पुनः अपनी सेना एकत्रित करने लगा। मई सन् १५४० ई० में कन्नौज में दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। विजय-श्री शेर शाह के हाथ लगी। हुमायूँ की सेना अपमान-जनक ढंग से पराजित हुई और पीछे भाग खड़ी हुई। हुमायूँ आगरा, दिल्ली और लाहौर होते हुए भारत के बाहर भाग गया। शेर शाह आगरा और दिल्ली का मालिक हो गया। १४ वर्षों के परिश्रम से स्थापित किया हुआ मुगल-राज्य समाप्त हो गया और बाबर के साहसपूर्ण विजयों पर पानी फिर गया। मुगल-वंश के नाटक के एक दृश्य का पटाक्षेप हो गया और उत्तरी भारत में पुनः एक अफगान वंश का राज्य स्थापित हो गया। देखते-देखते शेरशाह बंगाल, बिहार, जौनपुर, आगरा, दिल्ली और पंजाब का शासक हो गया।

शेरशाह की अन्य विजय—शेरशाह जानता था कि पश्चिमोत्तर प्रान्त के राज्य सदा से दिल्ली के लिए खतरनाक रहे हैं। अतः सर्व प्रथम उसका ध्यान पश्चिमी सीमा को सुरक्षितकरने की ओर गया। उसने बिलोची सरदारों को सन्तुष्ट किया और उनके अधिकारों को स्वीकार कर उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा की।

तत्पश्चात् शेरशाह ने गोखर प्रान्त को व्यवस्थित करने का कार्य पूरा किया। यह प्रदेश सिन्ध और झेलम के बीच उत्तरी भाग में स्थित है। उस प्रान्त को जीत कर शेरशाह ने वहाँ एक नये नगर और किले का निर्माण कराया और उसका नाम द्वितीय रोहतास रक्खा। वहाँ उसने ५,००० सैनिकों को एक विश्वासपात्र सेनापति की अध्यक्षता में रक्खा।

इसके बाद उसने बंगाल के विद्रोही शासन की ओर ध्यान दिया और उसे परास्त कर बंगाल को कई छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर दिया।

अब शेरशाह ने मालवा, रायसेन और सिन्ध को जीत लिया। उसके बाद उसका ध्यान राजपूताना के सर्व-प्रमुख राज्य मारवाड़ के राजा मालदेव की ओर गया। सन् १५४३ ई० में उसने मारवाड़ की राजधानी जोधपुर पर आक्रमण किया और उसे अपनी कूटनीति द्वारा जीत लिया। इस युद्ध में शेरशाह राजपूतों की वीरता से बहुत प्रभावित हुआ था और विजय के बाद उसने कहा था कि "मैंने मुट्ठी भर बाजरे के लिए दिल्ली साम्राज्य को खतरे में डाल दिया था।" इसके बाद शेरशाह ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ को अपने अधिकार में किया। उस समय वहाँ के अल्पवयस्क राजा उदय सिंह की रक्षा पन्ना नामक एक दाई ने की थी जिसकी स्वामि-भक्ति का को गुणगान आज भी राजपूताना में आदर के साथ होता है।

सन् १५४५ ई० में शेरशाह ने बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध किला कालिञ्जर पर आक्रमण किया। उस समय वहाँ कीर्ति सिंह शासन कर रहा था। यह किला अपनी मजबूती के लिए बहुत प्रसिद्ध था। जिस समय शेरशाह की विजय होने वाली थी, उसी समय उसके बारूदखाने में आग लग गयी। शेरशाह अपने तोपखाने का निरीक्षण कर रहा था। वह बुरी तरह जल गया और २२ मई सन् १५४५ ई० को परलोक चल बसा।

शेरशाह की मृत्यु के समय उसके राज्य की सीमा पूर्व में सोनार गाँव से पश्चिम में सिन्ध तक थी। उत्तर में हिमालय से लेकर विन्ध्याचल और नर्मदा तक उसका राज्य विस्तृत था। उसके राज्य में पूरा पञ्जाब, सिन्ध, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, सरगुजा, दिल्ली, आगरा, जौनपुर, बिहार और बंगाल सम्मिलित थे।

शेरशाह का शासन-प्रबन्ध—शेरशाह केवल पाँच वर्ष तक दिल्ली का सम्राट रहा। पर इस थोड़ी अवधि में उसने जिस योग्यता, दूरदर्शिता और उदात्त गुणों का परिचय दिया, उससे शेरशाह का नाम भारत के मध्य कालीन शासकों में अग्रगण्य और आदर्श हो गया है। वह एक उच्च कोटि का शासक और आदर्श राजनीतिज्ञ था। उसने अपने समक्ष राजत्व का एक ऊँचा सिद्धान्त रक्खा जिसमें मुख्य रूप से ये बातें शामिल थीं।

(१) राज्य में एकरूपता होनी चाहिए। इसके लिए एक केन्द्रित और सुव्यवस्थित शासन का होना आवश्यक है। (२) राजा का कर्तव्य प्रजा की रक्षा और भलाई करना है। इसके अभाव में राजा अपने पद की मर्यादा का निर्वाह नहीं कर सकता है। (३) प्रजा-पालन के साथ-साथ राजा को सब प्रजा के लिए समान नीति का अनुसरण करना चाहिए। प्रजा-पालन का काम सम व्यवहार के बिना पूरा हो ही नहीं सकता। (४) राजा को समुचित न्याय की व्यवस्था करनी चाहिए। न्याय के अभाव में राजपद की मर्यादा क्षीण हो जाती है और राज्य की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। (५) सरकारी कर्म-चारियों और अधिकारियों पर सम्राट का पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए। राज कर्मचारियों को मनमानी करने देना राजा के लिए कलंक है और राज-शक्ति की कमजोरी की निशानी है। (६) अपराधियों का पूर्ण दमन करना राजा का प्रथम कर्तव्य है। इसके बिना राज्य में व्यवस्था और शान्ति नहीं रह सकती है। (७) राजकोष को कभी खाली नहीं रखना चाहिए और किसानों की भलाई के लिए राज्य को सब प्रकार के साधनों को काम में लाना चाहिए क्योंकि उन्हीं की समृद्धि पर राज-कोष की वृद्धि निर्भर है। (८) सड़कों की, यातायात की और व्यापार की सुरक्षा और उन्नति का प्रबन्ध राज्य को तत्परता के साथ करना चाहिए। (९) राजा की उदारता से राज्य का हित होता है और (१०) राजा को राज्य की आय का अधिक भाग अपने स्वार्थ और निजी आराम के लिए नहीं खर्च करना चाहिये।

राजत्व के इन सिद्धान्तों को समक्ष रख शेरशाह ने अपने राज्य का शासन-प्रबन्ध किया। यह सच है कि उसके राज्य में वह स्वयं सर्वेसर्वा था, कोई मंत्रि-परिषद उसे मंत्रणा देने के लिए नहीं थी, फिर भी जिस मनोवृत्ति एवं कौशल के साथ उसने अपने शासन का संचालन किया, वह आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए अनुसरण की चीज बन गयी।

साम्राज्य की इकाइयाँ—शेरशाह ने प्रशासन की सुविधा के लिये साम्राज्य को ४७ छोटे-छोटे भागों में विभाजित किया। प्रत्येक भाग का प्रशा-सक एक अफगान सरदार नियुक्त किया जाता था। राज्य की इन इकाइयों

को 'सरकार' कहा जाता था। प्रत्येक सरकार पुनः परगनों में और प्रत्येक परगना गाँवों में विभाजित थे। इस प्रकार छोटे विभाजनों द्वारा शेरशाह को आशा थी कि प्रत्येक भाग का प्रबन्ध सुचारु रूप से चलेगा। इनकी देखरेख करने वाले अधिकारी और कर्मचारी अपना-अपना कर्तव्य अच्छी प्रकार पूरा कर सकेंगे। शेरशाह का ऐसा सोचना सही था। "प्रत्येक परगने में एक शिकदार, एक अमीन, एक खजान्ची, एक मुन्सिफ तथा एक हिन्दी और एक फारसी का लेखक होता था। शिकदार एक फौजी अफसर होता था और परगने में शान्ति तथा व्यवस्था रखने का उत्तरदायित्व उसी पर होता था।" 'सरकार' के उच्चतम अधिकारी को सूबेदार कहते थे और वह सीधे बादशाह के प्रति उत्तरदायी होता था। गाँवों में मुकद्दम, चौधरी एवं पटवारी होते थे। इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी और कर्मचारी के कर्तव्य और अधिकार स्पष्टरूप से बादशाह के द्वारा निर्धारित और निश्चित थे। राजा के आदेश के बिना वे किसी प्रकार की मनमानी और प्रजा के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। सम्राट सब अधिकार और शक्ति का स्रोत था। उसने अपने अधीनस्थ सब कर्मचारियों के तबादले की व्यवस्था की थी।

शासन का स्वयं संचालक—शेरशाह सिद्धान्त से स्वेच्छाचारी शासक था। वह मध्यकालीन युग का पहला शासक था जिसने मन्त्रियों की आवश्यकता नहीं महसूस की और उसने कभी कोई परम्परागत पद्धति पर मंत्री नहीं रक्खा। इसका कारण यह नहीं था कि वह स्वेच्छाचारी होकर मनमाने ढंग से शासन के सब अधिकारों और शक्तियों को अपने में केन्द्रित कर ले। बल्कि उस युग के मंत्रियों पर उसका भरोसा नहीं था और वह स्वयं इतना योग्य तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति था कि उसे अपने ऊपर विश्वास था। "इसलिए शेरशाह ने शासन और सेना की बागडोर अपने ही हाथ में रक्खी।" बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट हो गया कि शेरशाह इस विषय में सही समझता था और उसने ऐसा कर उचित ही किया था।

भूमि का प्रबन्ध—शेरशाह पहला अफगान सुल्तान था जिसने इतने बड़े पैमाने पर अपने राज्य की जमीन का इतना अच्छा प्रबन्ध किया। अब

तक के सुल्तान राज्य की सब जमीन और उसकी उपज का मालिक अपने ही को समझते थे। वे मनमानी ढङ्ग से उपज का कोई भाग किसान से वसूल करने में नहीं हिचकते थे। इससे लगान की दर सदा अनिश्चित रहा करती थी। शेरशाह ऐसा नहीं चाहता था। वह प्रजा को अधिकाधिक लाभ कराना चाहता था। उसका सिद्धान्त था कि जमीन पर प्रजा का स्थायी अधिकार होना चाहिए, और उपज की एक निश्चित पर थोड़ा अंश कर के रूप में लेना चाहिये और दर निश्चित हो जाने पर उसकी वसूली का चुस्त और सीधा ढङ्ग काम में लाना चाहिए। शेरशाह की राय थी कि इसी प्रकार राजा और प्रजा दोनों का हित हो सकता है।

इन्हीं सिद्धान्तों को समक्ष रख शेरशाह ने अपने राज्य की समस्त भूमि की पैमाइश करायी और इस पैमाइश में एक निश्चित नाप का प्रयोग किया गया। यह नाप एक प्रकार की रस्सी द्वारा की जाती थी। भूमि की नाप के बाद प्रत्येक किसान की उपज का सही अनुमान किया जाता था और प्रत्येक किसान को सरकारी लगान के रूप में उपज का एक चौथाई राजा को देना पड़ता था। लगान अनाज या रुपये में दिया जा सकता था, पर रुपये में चुकता करना अधिक पसन्द किया जाता था। किसानों को प्रोत्साहन दिया जाता था कि वे स्वयं अपने परगने के खजाने में लगान जमा कर दिया करें ताकि कोई सरकारी कर्मचारी और मुकद्दम उन्हें कभी सताने का अवसर न पा सके। प्रत्येक किसान को अपनी ओर से अपनी जमीन और उपज का ठीक-ठीक ब्यौरा अमीन को देना पड़ता था। एक शर्तनामे पर सरकारी कर्मचारी और किसान के हस्ताक्षर होते थे जिसमें सरकारी लगान की दर और रकम लिखी जाती थी। अकाल या सूखा पड़ने पर सरकार की ओर से लगान में छूट दी जाती थी। शेरशाह का आदेश था कि युद्ध के समय किसानों और कृषि को किसी प्रकार की हानि न पहुँचायी जाय। वह कभी न तो किसानों को दास बनाता था और न कभी उन्हें लूटता था।

भूमि तथा लगान सम्बन्धी इन सुधारों से जनता में सन्तोष की लहर दौड़ पड़ी। वे अब खेती के काम में मन लगाने लगे और अमीनों तथा मुक-

हम को मनमानी करने का अवसर न रहा। इससे देश की आर्थिक स्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ा और लगान वसूली के काम में सुविधा हो गयी।

मुद्रा में सुधार—व्यापार और जन साधारण की उन्नति के लिए शेरशाह ने प्रचलित मुद्रा के ढंग में अनेक आवश्यक सुधार किये। उसने अपने शासन काल में ताँबे की नयी मुद्राएँ चलायीं जो 'दाम' कहलाती थीं। उसने सोने-चाँदी की मुद्राएँ भी ढलवायीं वे मुद्राएँ सुडौल और अच्छी थीं। उन पर हिन्दी और फारसी में बादशाह का नाम अंकित किया जाता था। मुद्राओं में इस प्रकार के सुधार से व्यापार में बहुत उन्नति हुई। चुङ्गी और व्यापार-सम्बन्धी अन्य करों में भी आवश्यक सुधार किये गये।

सैनिक सुधार-शेरशाह एक साधारण जागीरदार से दिल्ली का सुल्तान बन गया। इस प्रकार का जीवन सदा संघर्षमय होता है। शेरशाह भी इसी प्रकार के सतत् संघर्ष के बीच रहा, अतः उसने सैनिक शक्ति के महत्व को अच्छी प्रकार समझ लिया था। उसने अपनी बड़ी सेना के संगठन के लिये अलाउद्दीन खिलजी की बहुत-सी बातें अपनायीं और स्वयं अपनी बुद्धि और प्रतिभा से आवश्यक परिवर्तन किया। वह स्वयं सेना का प्रधान था और सामन्त-प्रथा के लिये उसे बहुत घृणा थी। वह स्वयं सैनिकों की भर्ती करता था, उनका वेतन निश्चित करता था और उनका निरीक्षण करता था। शेरशाह ने गवर्नरों को सैनिक शक्ति से बिलकुल वंचित किया और पूरे सैनिक विभाग को अपने नियंत्रण में कर लिया। इससे पहले की तरह गवर्नरों के विद्रोह की आशंका बहुत कम हो गयी। सैनिक शक्ति के अभाव में वे पंगु हो गये और बादशाह के हाथ की कठपुतली बन कर काम करने लगे। उन्हें कभी मनमानी करने का साहस ही नहीं होता था। शेरशाह सैनिकों को सदा स्थानान्तरित किया करता था और उन्हें आदेश देने का अधिकार उसने अपने हाथ में केन्द्रित कर रक्खा था। इससे प्रान्तों में विद्रोह की सम्भावना बहुत कम हो गयी।

शेरशाह ने स्थान-स्थान पर छावनियाँ और किले बनवाये थे और वहाँ चुने हुये सैनिक रक्खे जाते थे। दिल्ली और रोहतास दो प्रसिद्ध सैनिक

केन्द्र थे जहाँ सैनिक अधिक संख्या में रक्खे जाते थे। शेरशाह स्वयं अपने अधीन एक बड़ी सेना रखता था जिसमें १५,००० घुड़सवार और २५,००० पैदल सिपाही थे। इनके अलावे उसमें हाथी थे और एक अच्छा तोपखाना भी था। घोड़ों पर दाग लगाने की प्रथा थी ताकि वे बदले न जा सकें। शेरशाह स्वयं सेना का निरीक्षण किया करता था। उसने सैनिकों को यह चेतावनी दे रक्खी थी कि वे किसी भी दशा में किसानों की खेती को नुकसान न पहुँचावें। यदि कभी किसी किसान को उसके सैनिकों से क्षति हो जाती थी, तो राज्य उस क्षति को पूरा करता था। सैनिकों को राज्य की ओर से नकद वेतन दिया जाता था।

शेरशाह सेना में योग्यता के अनुसार अधिकारियों को नियुक्त करता था। वह सेना में हिन्दुओं को भी रखता था। उसका एक सेनापति ब्रह्म-जित गौड़ था जिसने चौसा और कन्नौज के युद्ध में हुमायूँ को परास्त करने में बड़ी वीरता दिखलायी थी। उसकी सेना में अफगान सरदारों की संख्या अधिक थी। सेना के संगठन और पदोन्नति में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता था। इस प्रकार शेरशाह ने अपनी सेना के राष्ट्रीयकरण का प्रयास किया।

न्याय की व्यवस्था—शेरशाह के शासन काल में न्याय का उत्तम प्रबन्ध था क्योंकि शेरशाह के शब्दों में "न्याय सर्वोत्तम धार्मिक कर्तव्य है और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही राजाओं ने इसकी पवित्रता और महानता स्वीकार की है।" न्याय-व्यवस्था के लिए उसने अपराधी के अपराध का पता लगाने के उत्तम उपाय निकाले और इस काम में किसी प्रकार का ढीलापन उसे असह्य था। इसके बाद अपराधी को अपराध के अनुसार शीघ्र दण्ड दिया जाता था। दण्ड और न्याय के काम में विलम्ब होना शेरशाह के लिये राजा के कर्तव्य से च्युत होना था। साथ ही वह न्याय के क्षेत्र में पक्षपात को घुसने नहीं देता था। वह अपने पुत्रों और बड़े-बड़े अमीरों को भी अपराध के लिए साधारण व्यक्ति की तरह दण्ड देता था। इस प्रकार शेरशाह की न्याय-व्यवस्था के चार मूल सिद्धान्त थे—(१) अवि-

समस्त अपराध की छान-बीन करना, (२) उचित न्याय करने में शीघ्रता करना, (३) न्याय तथा दण्ड निर्धारण में पक्षपात को नहीं घुसने देना और (४) न्याय सर्वसुलभ होना चाहिए।

शेरशाह ने स्थान-स्थान पर न्यायालय की व्यवस्था की थी ताकि सर्व-साधारण को न्याय प्राप्त करने की सुविधा हो सके। फौजदारी के मुकदमों के निर्णय करने का काम **प्रधान शिकदार** करता था। लगान सम्बन्धी न्याय करने वाला अधिकारी **प्रधान मुन्सिफ** था। दीवानी के मुकदमों का फैसला **अदल और काजी** किया करते थे। चोरी और डाके का उत्तरदायित्व पास-पड़ोस के मुकदमों पर था और उन्हें अपने इलाके में होने वाली चोरियों और डकैतियों का पता लगाना पड़ता था अन्यथा उन्हें क्षति-पूर्ति करनी पड़ती थी। उस युग में यह प्रथा बहुत लाभदायक सिद्ध हुई और शेरशाह के शासन-काल में इस प्रकार के अपराध लगभग बन्द हो गये थे। गाँवों में पंचायतें थीं और वे दीवानी के मुकदमों में अपना निर्णय देती थीं। पर फौजदारी और राजस्व-सम्बन्धी मुकदमे केवल सरकारी अदालतों द्वारा ही निर्णीत होते थे। इस ठोस तथा व्यापक न्याय-प्रबन्ध का शेरशाह के शासन पर बहुत ही कल्याणकारी प्रभाव पड़ा और राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गयी।

लोक-हितकारी कार्य—(१) यातायात का प्रबन्ध—शासन-व्यवस्था को सुचारु ढङ्ग से चलाने के लिए शेरशाह साम्राज्य में यातायात की सुविधा के महत्व को समझता था। अतः उसने बड़ी-बड़ी सड़कों द्वारा राज्य के विभिन्न भागों को सम्पर्क में लाने की कोशिश की। वर्तमान ग्रैण्ड ट्रंक रोड जो पंजाब से बंगाल तक जाती है, शेरशाह द्वारा ही बनवायी गयी थी। यह आज भी उत्तरी भारत की सब से अधिक महत्वपूर्ण सड़क समझी जाती है। शेरशाह ने इसी प्रकार आगरा से बुरहानपुर तक और आगरा से बियाना होकर मारवाड़ तक जाने वाली दो और बड़ी सड़कों का निर्माण कराया। चौथी सड़क लाहौर से मुलतान तक बनवायी गयी। इस प्रकार थोड़े ही समय में शेरशाह ने अपने राज्य के विभिन्न भागों और प्रसिद्ध नगरों को एक दूसरे से अच्छी सड़कों द्वारा सम्बन्धित कर दिया।

इन सड़कों पर यात्रियों के आराम के लिए सायेदार वृक्ष लगवाये गये, सरायें बनवायी गयीं, और सरायों में हिन्दू-मुसलमानों के लिए भोजन सामग्री तथा जल आदि की सुविधा की गयी। शेरशाह ने अपने शासन काल में १७०० सरायें बनवायी थीं। सरायों का प्रबन्ध सरकार की ओर से होता था। वहीं कुएँ बनवाये गये और चौकीदार नियुक्त किये गये। सरायों में सूचना भेजने के लिए घोड़े रक्खे जाते थे। इस प्रकार के प्रबन्ध और व्यवस्था से थोड़े ही दिनों में राज्य में असंख्य मण्डियाँ बन गयीं और व्यापार तथा यातायात की आशातीत वृद्धि हो गयी। राज्य के प्रत्येक भाग में नये जीवन का संचार हो गया और सर्वत्र चहल-पहल दीख पड़ने लगी।

(२) डाक बिभाग—सड़कों के किनारे स्थित सरायें डाक-चौकियों का भी काम करती थीं। दूर के भागों में घोड़ों से और पास के स्थानों पर पैदल आदमियों से डाक भेजी जाती थी। शेरशाह के पूर्व किसी अफगान सुल्तान के समय में ऐसी डाक-व्यवस्था नहीं थी।

(३) इमारतों का निर्माण—शेरशाह का अधिकांश समय युद्ध में व्यतीत हुआ। पर उसने समय निकाल कर अनेक इमारतों का निर्माण कराया। सहसराम में बना हुआ उसका मकबरा उस समय की एक श्रेष्ठ इमारत है। इसकी बाहरी बनावट और शैली मुस्लिम ढंग की है, पर अंदर की बनावट हिन्दू शैली पर आधारित है। देखने में यह मकबरा बहुत ही आकर्षक और सौम्य है। पंजाब में शेरशाह ने एक नगर बसा कर वहाँ एक बहुत बड़ा दुर्ग बनवाया और उसका नाम रोहतास रक्खा। १७०० सरायों के निर्माण की बात ऊपर लिखी जा चुकी है। इसके अतिरिक्त दिल्ली का बहुत बड़ा भाग यमुना के किनारे पुनः बनवाया गया। शेरशाह ने अपने शासन काल में अनेक मस्जिदें, मकतब और अन्य इमारतें बनवाईं जो आज भी मौजूद हैं।

(४) दानशीलता—शेरशाह दीन-दुखियों और गरीबों की प्रायः मदद किया करता था। उसने मुफ्त औषधि-वितरण और भोजन की व्यवस्था की थी। राजा के भोजनालय में प्रति दिन ५०० अशर्फियाँ खर्च होती थीं क्योंकि जो भूखा व्यक्ति भोजन के लिए समय पर आ जाता था, उसे निराश

नहीं लौटना पड़ता था। राज्य की ओर से गरीब विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता मिलती थी।

इन बातों से स्पष्ट मालूम होता है कि शेरशाह एक आदर्श शासक था। वह सदा प्रजा के हित का ध्यान रखता था, उनके आराम के लिए प्रयत्नशील रहता था और उचित न्याय की व्यवस्था लिए चिन्तित रहता था। लोक हित के कार्यों में उसकी विशेष अभिरुचि थी। वह निरंकुश सुल्तान होते हुए भी प्रजा-हित-चिन्तन में सदा रत रहा और सबके साथ समान व्यवहार किया। कभी धर्म के आधार पर हिन्दू-मुसलमान के भेदभाव या पक्षपात का दोष उस पर नहीं लगाया गया। प्रो० कीन के शब्दों में "किसी भी सरकार ने, यहाँ तक कि ब्रिटिश सरकार ने भी, अपने शासन में इस पठान की तरह दूरदर्शिता का प्रदर्शन नहीं किया।"

शेरशाह की महानता—मध्यकालीन शासकों में शेरशाह का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। भारत के प्रसिद्ध सम्राटों की पंक्ति में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य, अलाउद्दीन, अकबर आदि बादशाहों के साथ शेरशाह भी सम्मान के साथ अपना स्थान ग्रहण करने योग्य है। उसके कार्यों के मूल्यांकन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शेरशाह में एक साथ मनुष्य, विजेता, शासक और राजनीतिज्ञ के अनेक सर्वमान्य गुण मौजूद थे।

सेनापति और विजेता के रूप में शेरशाह असाधारण प्रतीत होता है। सहसराम का एक साधारण जागीरदार शेर खाँ अपनी संगठन-शक्ति से अफगानों को मिला कर धीरे-धीरे एक ठोस सेना संगठित कर लेता है और वह भारत में उस समय राष्ट्रीय पुनरुत्थान का एक प्रतीक हो जाता है। एक-एक कर उसने बिहार के सब स्थानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। चुनार विजय के बाद भी वह अपनी चालाकी से अपने को दुश्मन के सामने कमजोर बता उसे बंगाल की ओर बढ़ने देता है। जब हुमायूँ थक कर मुसीबतों में फँस जाता है तो वह उसका सामना चौसा और कन्नौज में करता है। सैन्य संचालन और संगठन का इससे अच्छा उदाहरण भारतीय इतिहास में कम ही मिलता है। दिल्ली का सुल्तान होने के बाद भी उसने जो तत्परता और

कौशल दिखलाया, वह उसकी पूर्व योग्यता के अनुकूल ही सिद्ध हुआ। शेरशाह को किसी युद्ध में मात नहीं खानी पड़ी। इस प्रकार कुशल सेनापति और सफल विजेता के रूप में उसकी कीर्ति स्थायी हो गयी।

शासक के रूप में भी शेरशाह महत्तर सिद्ध हुआ। उसे केवल पाँच वर्षों तक ही शासन-सूत्र संचालित करने का अवसर मिला, पर उसी अवधि में उसने जो कार्य किये, उससे उसका नाम भारतीय इतिहास में अमर हो गया। निरंकुश होकर भी प्रजा-हित का सदा ध्यान रखना और देश की समृद्धि की वृद्धि में तत्पर रहना; युद्ध में सदा उलझे रहने पर भी कृषि, कृषक, लगान, न्याय आदि का प्रबन्ध करना; इस्लाम का पक्का अनुयायी होकर भी सब के साथ समान रूप से उदारता की नीति अपनाना और देश में राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित करना शेरशाह के चरित्र की विशेषता थी। वह एक पक्का मुसलमान था, परन्तु उसमें धर्मान्धता, हठवादिता और संकुचित दृष्टिकोण जैसे सामयिक दोष नहीं थे। "उसका दृष्टिकोण व्यापक और बौद्धिक था।" वह एक राजनीतिज्ञ की तरह अपनी सब प्रजा से प्रेम करता था ताकि उसे सहयोग और राजभक्ति प्राप्त हो सके। इसीलिए शासक के रूप में शेरशाह महान अकबर के समकक्ष समझा जाता है।

राष्ट्र-निर्माता के रूप में भी शेरशाह का नाम आदर के साथ लिया जाता है। वह जाति, धर्म या रंग का भेदभाव नहीं करता था। शासन के काम में, सैनिक सेवा के क्षेत्र में तथा दान और सहायता के समय हिन्दू-मुसलमान का विचार नहीं करता था। उस युग में शेरशाह की यह भावना उसके उच्च विचार और विशाल हृदय के द्योतक थे और इसी नीति का अनुकरण कर अकबर ने इतिहास में गौरवमय स्थान प्राप्त कर लिया था। यदि समय मिला होता तो शेरशाह भी अकबर की तरह अपने उद्देश्य और कार्य-क्षेत्र को और अधिक व्यापक बनाये होता।

इसके अतिरिक्त शेरशाह में परिश्रम-शीलता, महत्वाकांक्षा, क्रियात्मक प्रतिभा और दूरदर्शिता के गुण कूट-कूट कर भरे थे। विपत्तियों से वह घबड़ाता नहीं था। सुल्तान होकर भी वह उद्दण्ड नहीं हुआ। निर्माता के रूप में

सड़कों तथा सरायों का निर्माण करा कर वह अमर हो गया है। इस तरह हर प्रकार उसके जीवन के कार्यों की मर्मीक्षा करने से यह ज्ञात होता कि शेरशाह एक योग्यतम शासक और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। इसीलिए इतिहासकारों ने मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा की है। "वह अपनी प्रतिभा के बल से सिंहासन पर पहुँचा था और जिस उच्च पद पर वह पहुँचा था उसके योग्य उसने अपने को सिद्ध कर दिया। बुद्धिमत्ता और अनुभव में, शासन तथा राजस्व के प्रबन्ध में एवं सामरिक कौशल में वह भारत के सुल्तानों में सब से अधिक महान स्वीकार किया गया है।" एक दूसरे विद्वान का कहना है कि "शेर-शाह के राज्यारोहण से उदार इस्लाम का वह युग प्रारम्भ हुआ जो औरंगजेब के सत्तारूढ़ होने के पूर्व तक चलता रहा। भारतीय राष्ट्र का प्रथम निर्माता बनने के लिए यह अकबर की प्रतिद्वन्द्विता कर सकता है। शेरशाह की शासन व्यवस्था आधुनिक काल की शासन-व्यवस्था की आधार-शिला है।" अन्य अफगान सुल्तान प्रयास करने पर भी मुगल आक्रमणकारियों को सफलतापूर्वक रोकने में समर्थ नहीं हुए, पर शेरशाह ने जमी जमायी मुगल शक्ति को उखाड़ फेंका और भारत की एक इञ्च भूमि पर उनका अस्तित्व नहीं रहने दिया। इस दृष्टि से भी शेरशाह की योग्यता का लोहा सब को मानना पड़ता है। शासन-प्रबन्ध के विषय में भी अब्बास खाँ सरवानी ने ठीक ही लिखा है कि "जिस दिन शेरशाह सिंहासन पर बैठा है उस दिन से किसी व्यक्ति को उसका विरोध करने का साहस नहीं हुआ और न किसी ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। उसके साम्राज्य-उपवन में हृदय भेदी कण्टक न उत्पन्न हुआ और न उसका कोई अमीर अथवा सैनिक या चोर अथवा डाकू दूसरे की सम्पत्ति को बुरी निगाह से देखने का साहस करता था। उसके राज्य में चोरी अथवा डाका पड़ता भी नहीं था। शेरशाह के राज्य में यात्रियों को खबरगीरी करने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। उसके शासन काल में एक वृद्धा स्त्री भी टोकरी में सोने के आभूषण भर कर उसे अपने सिर पर रख यात्रा के लिए जा सकती थी और शेरशाह के दण्ड के भय से कोई चोर या डाकू उसके निकट नहीं आ सकता था।" अतः यह बात निर्विवाद है कि दिल्ली के पठान शासकों में शेरशाह का स्थान सर्वोच्च है और वह

अपने आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए आदर्श और अनुकरण की प्रेरणा देने वाला है।

शेरशाह के उत्तराधिकारी—२२ मई सन् १५४५ ई० को कालिञ्जर के किले में शेरशाह का स्वर्गवास हुआ। शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका एक लड़का सलीमशाह गद्दी पर बैठा। वह उग्र स्वभाव का व्यक्ति था और गद्दी पर बैठते ही अमीरों के साथ क्रूर तथा उद्दण्ड व्यवहार करने लगा। अमीरों की जागीरें छीन ली गयीं और उन्हें अपमानित किया गया। सलीम-शाह की इन बातों से अमीर बहुत अप्रसन्न हुए। उसने अपने भाइयों के साथ भी वैसा ही बर्ताव किया। अतः देश में असंतोष और विद्रोह की भावना बढ़ने लगी। उन्हीं असन्तुष्ट अमीरों को दबाने में सलीमशाह का अधिकांश समय लग गया। सन् १५५४ ई० में उसका देहान्त हुआ।

सलीमशाह की मृत्यु के बाद सन् १५५४ ई० उसका एक पुत्र फीरोज शाह गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी। अतः उसके विरुद्ध षड्यंत्र करके उसके चाचा ने उसे तीन दिन के बाद ही मार डाला और स्वयं महमूद शाह आदिल के नाम से सुल्तान बना। वह स्वभाव का दुष्ट और आचरण का दुराचारी था। उसने हेमू नामक एक हिन्दू दूकानदार को अपना सारा शासन सौंप दिया। इससे अमीरों में बहुत असन्तोष फैला। जगह-जगह विद्रोह शुरू हो गये। उसके चचेरे भाई इब्रा-हीम ने दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया और महमूदशाह स्वयं पूर्व की ओर हट गया। पञ्जाब में उसी वंश का एक व्यक्ति सिकन्दरशाह स्वतन्त्र हो गया। सिकन्दरशाह ने इब्राहीम को परास्त कर दिल्ली आगरा पर भी अधिकार कर लिया। इसके कुछ ही दिनों बाद जून सन् १५५५ में हुमायूँ ने अवसर से लाभ उठाकर भारत में प्रवेश किया और सरहिंद के पास सिकन्दर को परास्त किया। सिकन्दर भाग गया और कुछ दिनों बाद बंगाल में उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार शेरशाह की मृत्यु के केवल १० वर्ष बाद उसके वंश का अंत हो गया।

सूर वंश के पतन के कई कारण थे। शेरशाह के वंशज अयोग्य और अदूरदर्शी थे। किसी में इतने बड़े साम्राज्य को संभालने की क्षमता नहीं थी।

अतः सूरवंश शेरशाह के मरते ही पतनोन्मुख हो चला। उत्तराधिकार के नियमों की गड़बड़ी के कारण राजवंश के सब लोग सुल्तान होने का दावा करते थे, अतः षड्यन्त्र और विद्रोह की आग भड़क उठती थी और राजशक्ति की मर्यादा क्षीण होती गयी। आन्तरिक कलह से साम्राज्य खोखला होता गया और अमीरों के असंतोष से उसे बिगड़ते देर नहीं लगी। शेरशाह के सब उत्तराधिकारियों के दुर्व्यवहार और क्रूरता से अमीर उबल पड़े और राज्य के शत्रु बन गये। शेरशाह के बाद सुल्तानों ने विलासिता के कारण राजकोष खाली कर दिया और आवश्यकता उपस्थित होने पर आर्थिक संकट पैदा हो गया। हेमू को राज्य-शक्ति दे देने से सब अमीर और अफगान राज्य से असंतुष्ट हो गये। इधर हुमायूँ ऐसे ही अवसर की ताक में बैठा था। फारस के शाह ने उसी समय उसकी सहायता की और हुमायूँ बैरम खाँ के योग्य नेतृत्व में दिल्ली की ओर बढ़ चला। सिकन्दर युद्ध में परास्त हो भाग गया और हुमायूँ के दिन लौट आये। सूरवंश के शासन का उसने अन्त कर दिया।

तीसवाँ परिच्छेद

मुगल साम्राज्य की स्थापना और प्रसार

सम्राट् अकबर

(सन् १५५५-१६०५ ई०)

मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक कौन था ? — साधारण दृष्टि से विचारकर कुछ लोग बाबर को भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक मानते हैं। यह सच है कि सन् १५२६ ई० में बाबर ने पानीपत के मैदान में इब्राहीम लोदी को परास्त किया और उसके बाद दिल्ली और आगरा बाबर के अधिकार में आ गया। इसके १ वर्ष बाद बाबर ने खानवा नामक गाँव के पास सीकरी से १० मील की दूरी पर राना साँगा को भी परास्त किया। इन दो युद्धों के बाद बाबर हिन्दुस्तान का बादशाह हो गया। उसने अपनी सैनिक शक्ति से लोदी सुल्तान इब्राहीम और राजपूत शक्ति के द्योतक राना साँगा को परास्त किया। पर अभी इन दोनों युद्धों में बाबर की सैनिक शक्ति को ही विजय प्राप्त हुई थी। उसकी यह सैनिक विजय स्थायी नहीं बन पायी थी और इसके पूर्व ही सन् १५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। बाबर इतने कम समय में न तो कोई शासन सम्बन्धी सुधार कर पाया और न अपने नये साम्राज्य की रक्षा का कोई स्थायी प्रबन्ध करने में सफल हो सका। यही कारण था कि बाबर के पुत्र हुमायूँ को उस साम्राज्य से हाथ धोना पड़ा और उसे हिन्दुस्तान के बाहर भाग कर अपने प्राण बचाने पड़े। न तो अफगान शक्ति पूर्ण रूप से परास्त हुई थी और न राजपूतों ने ही आशा त्याग दी थी। अतः बाबर के मरते ही ये दोनों शक्तियाँ उभर पड़ीं और बाबर की विजय का सारा प्रभाव मिट गया। इस समय तक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मुगलों को विदेशी समझते थे और बाबर का जी भी अन्त तक इस देश में नहीं जम पाया था। वह यहाँ की गर्मी और जलवायु से अभ्यस्त नहीं हो सका और उसे सदा अपने

पूर्व देश तथा जन्म स्थान की याद सताती रही। अतः बाबर ने इस देश के आर्थिक तथा राजनैतिक उत्थान या नव निर्माण की कोई योजना नहीं बनायी और उसे भारतीयों की सद्भावना नहीं प्राप्त हो सकी। निस्सन्देह बाबर की भारतीय विजय की नींव सबल और ठोस नहीं हो सकी और फल-स्वरूप उसके पुत्र हुमायूँ को १५ वर्ष तक प्रवास में व्यतीत करना पड़ा। सन् १५५५ ई० में हुमायूँ पुन भारत लौट आया और उसने सूर वंश के अन्तिम बादशाह को पराजित किया। पर उस समय भी उसके अधिकार में केवल दिल्ली और आगरा ही था। केवल छः महीने के बाद उसकी मृत्यु हो गयी और इस बीच में न तो वह अपने छोटे राज्य को संगठित कर सका और न सुव्यवस्थित ही कर सका। अतः वास्तव में मुगल शक्ति की नींव डालने का श्रेय बाबर और हुमायूँ में से किसी को नहीं दिया जा सकता।

हुमायूँ की मृत्यु के बाद अकबर को पुनः उन सब कठिनाइयों और उलझनों का सामना करना पड़ा जो एक नये राज्य-संस्थापक के मार्ग में आती हैं। उसे सन् १५५६ ई० में दिल्ली और आगरा पर अधिकार करने के लिए पानीपत के मैदान में हेमू से युद्ध करना पड़ा। इसके बाद एक-एक कर देश के प्रायः सब प्रांतों को उसने जीत लिया और ५० वर्ष तक शान शौकत तथा प्रभुत्व के साथ वह भारत का सम्राट बना रहा। अपने इस शासन काल में उसने अपनी एक सुनिश्चित शासन-व्यवस्था और नीति तैयार की और उसी के अनुसार सब की सद्भावना प्राप्त करने की कोशिश की। उसने देश की सर्वांगीण उन्नति का कार्यक्रम सफल बनाया और अपनी दूरदर्शिता तथा लगन से मुगल साम्राज्य की इमारत इतनी सुदृढ़ बना दी कि वह उसके बाद भी लगभग ढाई सौ वर्ष तक खड़ी रही। अतएव अकबर ही मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और निर्माता था।

अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ और मुगल साम्राज्य की नींव का प्रारम्भ—अकबर का जन्म सन् १५४२ ई० में अमरकोट में हुआ था। उस समय उसका पिता हुमायूँ शेरशाह द्वारा पराजित होकर मारा-

मारा फिरता था। वहाँ से अपने पुत्र अकबर को लेकर हुमायूँ कन्दहार पहुँचा। कन्दहार में मिर्जा असकरी के पास अपने एक वर्षीय पुत्र को छोड़कर हुमायूँ फारस की ओर चला गया। मिर्जा असकरी ने कुछ दिनों तक अकबर और उसकी माता हमीदा बेगम को अच्छी तरह रक्खा। सन् १५४५ ई० में अकबर को काबुल भेज दिया गया और वहाँ बाबर की बहन ने उसे बड़े लाड़-प्यार से रक्खा। कुछ दिनों बाद हुमायूँ और कामरान में जो काबुल का मालिक था, आपस में शत्रुता हो गयी और अकबर के लिये अब और बुरे दिन आ गये। जिस समय हुमायूँ और कामरान में युद्ध हो रहा था, उस समय कामरान ने अकबर को किले की उस दीवार पर बैठा दिया, जहाँ गोली चल रही थी। सौभाग्य से अकबर बाल-बाल बच गया। कामरान परास्त हुआ और भाग गया। इसके बाद अकबर और हुमायूँ प्रायः साथ-साथ रहे। सन् १५५५ ई० में हुमायूँ ने लाहौर पर अधिकार कर लिया और वहाँ अकबर अपने पिता का उत्तराधिकारी घोषित हुआ। उसी समय बैरमखाँ उसका संरक्षक बना। इसके कुछ ही दिनों बाद हुमायूँ की मृत्यु हो गयी। उस समय अकबर पंजाब के गुरदास पुर जिले में कालानूर नामक स्थान पर था। वहाँ १४ फरवरी १५५६ ई० को अकबर को एक साधारण चबूतरा पर बैठाकर हुमायूँ का उत्तराधिकारी बनाया गया। अकबर की अवस्था उस समय केवल १३ वर्ष थी। अकबर की कठिनाइयाँ पुनः आशातीत रूप में अचानक उसके समक्ष आ उपस्थित हुईं।

अकबर की सबसे बड़ी कठिनाई उसकी छोटी अवस्था थी। वह उस समय १३ वर्ष का अनुभव-शून्य एक बालक था। उसे बैरम खाँके संरक्षण में काम करना पड़ता था। अकबर की दूसरी कठिनाई सूर-वंश तथा अन्य अफगान सरदारों की शक्ति थी जो मुगल शक्ति को उखाड़ फेंकने की ताक में मौका देख रही थी। हुमायूँ ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया था, पर उसका प्रभाव-क्षेत्र दिल्ली के बाहर बिलकुल नहीं के बराबर था। सिकन्दर शाह सूर पंजाब में था। मुहम्मद शाह सूर का सेनापति हेमू आगरा और उसके आस-पास के इलाकों का मालिक था और एक बड़ी सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ रहा था। अकबर के पास न अच्छी सेना थी, न प्रचुर धन था और न

अच्छे तथा निश्चित मददगार थे। सर्वत्र अराजकता तथा लूट-मार मची थी। कुछ मुगल सरदार किशोर अकबर को काबुल भेजकर उसकी रक्षा करना चाहते थे। देश में सर्वत्र मुगलों के प्रति अश्रद्धा और घृणा का भाव व्याप्त था। इस स्थिति में केवल बैरम खाँ ही एक व्यक्ति था जो साहस के साथ इन प्रतिकूल कठिनाइयों का सामना करना चाहता था और सदा अकबर को उत्साहित करता रहता था।

अकबर ने बैरम खाँ की मदद से विद्रोहियों को दबाना शुरू किया। शिवालिक पर्वत के पास उसने सिकन्दर सूर को परास्त किया और उसे बंगाल भेज दिया गया।

पानीपत का दूसरा युद्ध—(सन् १५५६ ई०)—अभी तक पंजाब के कुछ भागपर ही अकबर का अधिकार हुआ। देश में अन्यत्र स्वतंत्र सूबेदार और शासक थे। अतः उनके साथ युद्ध करना अकबर के लिए अनिवार्य हो गया। सर्व प्रथम उसका ध्यान मुहम्मदशाह के सेनापति हेमू की ओर गया जो इस समय तक बहुत शक्तिशाली बन गया था। प्रारम्भ में वह एक साधारण वैश्य परिवार का था। धीरे-धीरे बादशाह का प्रिय हो गया और शासन का पूरा अधिकार उसके हाथ में आ गया। हुमायूँ के मरते ही उसने आगरा पर अधिकार कर लिया और दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली नगर उस समय हुमायूँ के एक विश्वास-पात्र व्यक्ति तार्दी बेग के अधिकार में था। हेमू की बड़ी सेना को देखकर तार्दी दिल्ली छोड़ भाग गया। इस प्रकार दिल्ली पर भी हेमू का अधिकार हो गया। तार्दी की इस कायरता के लिए बैरम खाँ ने उसे कत्ल करा दिया। अकबर और बैरम खाँ अब दिल्ली की ओर बढ़े। उनकी सेना पानीपत के मैदान में आ डटी। हेमू भी अपनी बड़ी सेना के साथ युद्ध के लिए तैयार था। नवम्बर के प्रथम सप्ताह में दोनों दलों में मुठभेड़ हुई। एक ओर हेमू की विशाल सेना, तोपखाना और हाथियों के झुण्ड थे और दूसरी ओर बैरम खाँ का उत्साह और अकबर का भाग्य था। प्रारम्भ में हेमू ने मुगलों को मार भगाया। पर "५ नवम्बर को हेमू की एक आँख में तीर लगा और मूर्छित हो अपने हाथी के हौदे में गिर पड़ा। इस दुर्घटना ने हेमू की विजय को पराजय में परिवर्तित कर दिया।" उसकी सेना भाग गयी, हेमू

कैदी बना। बैरम खाँ की राय से अकबर ने उसका सिर काट गाजी की उपाधि धारण की।

पानीपत के युद्ध में अकबर की विजय अनेक कारणों से हुई। पानीपत के युद्ध में हेमू का तोपखाना सर्व प्रथम नष्ट हो गया और उस पर मुगलों का अधिकार हो गया। हाथियों के प्रयोग से भी हेमू को नुकसान हुआ। मुगलों के तीर से घायल हो हाथी भाग खड़े हुए और इससे हेमू के सैनिक कुचल गये। हेमू लोक प्रिय व्यक्ति नहीं था और अफगान उससे घृणा करते थे। अतः हेमू को उनका सच्चा सहयोग नहीं मिल सका। हेमू के साथ देश की ताकत नहीं थी, अन्य सरदारों ने उसका साथ नहीं दिया। हेमू का रण क्षेत्र में घायल होकर गिर जाना बहुत घातक हुआ। इसके विपरीत बैरम खाँ एक योग्य और दूरदर्शी व्यक्ति था और उसकी सेना में संगठन और संयम अपेक्षाकृत अधिक था। अतः इस युद्ध में अकबर विजयी हुआ।

पानीपत के युद्ध का परिणाम—पानीपत में विजयी होकर अकबर ने बड़ी शान से दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली पर अधिकार करते ही उसका साहस और विजय की महत्त्वाकांक्षा खिल उठी। भारत के सम्राट होने का स्वप्न साकार हो उठा और अकबर के भाग्य के साथ-साथ भारत के राजनैतिक मानचित्र का एक नवीन रूप निखरने लगा। दिल्ली के बाद तुरन्त ही आगरा भी उसके अधिकार में आ गया। इस प्रकार शेष भारत की विजय का मार्ग भी खुल गया। सूर-वंश के राज्य-स्थापना की आशा भी कमजोर पड़ गयी। सन् १५२६ ई० में इसी पानीपत के मैदान में जिन अफगानों की हार हुई थी, वे अपनी सैनिक शक्ति की पराजय के बाद भी मन में नहीं पराजित हुए थे और किसी न किसी समय पुनः अपनी सत्ता स्थापित करने की आशा में थे। अपनी उसी आशा को वे सन् १५५६ ई० में पूरा करना चाहते थे। पर इस द्वितीय युद्ध में उनकी आशाओं पर पानी फिर गया और वे भस्म हो गये। वास्तव में इसी युद्ध के बाद भारत में मुगल सत्ता की वास्तविक नींव पड़ी।

अकबर और बैरम खाँ—अकबर के प्रारम्भिक जीवन में बैरम खाँ के व्यक्तित्व का बहुत अधिक प्रभाव था। उसने बाबर, हुमायूँ और अकबर

तीनों की यथा समय बहुत सी सेवाएँ कीं। विपत्ति के दिनों में वह सदा हुमायूँ के साथ रहा। चौसा और कन्नौज के युद्ध में, हुमायूँ के प्रवास-काल में और पुनः भारत वापस लौटने में बैरम खाँ सदा अपनी स्वामि-भक्ति से बादशाह को मदद देता रहा। इसी प्रकार की गहरी स्वामि-भक्ति और सेवा से प्रसन्न हो हुमायूँ ने उसे खानखाना की उपाधि प्रदान की। हुमायूँ की मृत्यु के समय बैरम खाँ अकबर के पास गुरुदासपुर में था। उसने मृत्यु की खबर पाते ही धैर्य और साहस के साथ अकबर को सिंहासन पर बैठाने का काम पूरा किया।

बैरम खाँ सबको साहस देता रहा और अकबर को सदा विपत्तियों से लड़ने के लिए तैयार करता रहा। बहुत सम्भव था कि "बैरम खाँ जैसे योग्य, अनुभवी, विवेकशील तथा स्वामि-भक्त संरक्षक के अभाव में अल्प-वयस्क तथा अनुभव-शून्य अकबर फिर से भारत में मुगल-सत्ता स्थापित करने में असफल हुआ होता। पानीपत के द्वितीय युद्ध में सफलता प्राप्त करने का बहुत बड़ा श्रेय बैरम खाँ को था।" बैरम खाँ की सहायता से अकबर के अधिकार में आगरा, ग्वालियर, जौनपुर भी आगये।

बैरम खाँ का जन्म बदख्शाँ में हुआ था। वह शिया था और बाबर के साथ भारत आया था। तब से लगातार मुगल बादशाहों की सेवा करता रहा। बालक अकबर के शासन के प्रारम्भिक काल में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया। शासन की असली बागडोर उसी के हाथ में आ गयी। हेमू को कत्ल कराने का श्रेय उसी को है। मुगल सरदारों और सैनिकों को एक सूत्र में प्रभावकारी ढंग से संगठित करने का काम भी बैरम खाँ का ही था। शक्ति-सम्पन्न होकर बैरम खाँ कुछ उद्दण्ड और गर्वीला हो चला। अन्य सरदार उससे डरने लगे और अकबर धीरे-धीरे वयस्क होकर इन बातों को समझने लगा। बैरम के विरुद्ध अन्य लोगों अकबर के कान भरने लगे। अकबर ने बैरम खाँ को एक पत्र लिखा और कहा कि अब वह स्वयं राज्य-अधिकार अपने हाथ में करना चाहता है। अकबर ने उसे मक्का जाने की राय दी। बैरम खाँ तैयार हो गया और उसने मक्का की ओर प्रस्थान किया। पर अकबर की ओर से अपमानित होकर उसे खिन्न होना

पड़ा। अन्त में उसने विद्रोह किया, परास्त हुआ। पुनः मक्का के रास्ते में सन् १५६१ ई० में किसी ने उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार सम्राट के इस सेवक की जीवन लीला समाप्त हुई।

अकबर का राज्य का सच्चा अधिकारी होना—बैरम खाँ की मृत्यु के समय अकबर की अवस्था १८ वर्ष की थी। अब तक वह राज्य के सब कार्यों को समझने लगा था। पर बैरम खाँ से छुटकारा पाकर वह कुछ दिनों तक अपनी धाय माहम अनगा के प्रभाव में रहा। वह बहुत प्रभावशालिनी स्त्री थी और राजकाज में अपना हाथ रखती थी। पर अकबर स्वयं मेधावी और प्रतापी व्यक्ति था अतः उसने स्थिति को काबू से बाहर नहीं होने दिया। सन् १५६४ ई० में सम्राट ने उस धाय के पुत्र को गुस्से में किले की दीवार के नीचे फेंकवा दिया जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। पुत्र-शोक से दुखी हो वह धाय भी कुछ ही दिनों बाद मर गई। सन् १५६४ ई० मे अकबर पूर्ण स्वतंत्र हो शासन करने लगा। ये आठ वर्ष अकबर के शासक काल के प्रारम्भिक भाग थे। इस काल में वह बैरम खाँ और पुनः अपनी धाय के संरक्षण तथा प्रभाव में रहा।

साम्राज्य का विस्तार—सन् १५६४ ई० के बाद शासन की पूरी शक्ति और सब अधिकार अकबर के हाथ में आ गये। पानीपत के युद्ध के बाद बैरम खाँ ने आगरा, जौनपुर, ग्वालियर, अजमेर और मालवा का कुछ भाग दिल्ली के अधीन कर लिया था। पर बैरम खाँ की मृत्यु के बाद जौनपुर और मालवा में विद्रोह का सूत्रपात हुआ। सम्राट ने बहुत ही होशियारी के साथ इन दोनों स्थानों को पुनः अपने अधिकार में किया और सम्राट की प्रतिष्ठा बढ़ायी। अकबर ने इसी समय उजबेगों को भी दबाया और पुनः उत्तरी भारत पर अपना स्वामित्व स्थापित किया।

मालवा की विजय (१५६२ ई०)—तैमूर के आक्रमण के बाद मालवा दिल्ली की अधीनता से स्वतंत्र हो चुका था और वहाँ अकबर के समय में बाज बहादुर राज्य करता था। मालवा का प्रदेश खानदेश के उत्तर और ग्वालियर के दक्षिण में स्थित है। यह प्रदेश काफी उपजाऊ है। अकबर

उसे अधिकार में करना चाहता था। बाज बहादुर आमोद-प्रमोद-प्रिय व्यक्ति था, अतः अकबर ने अच्छा अवसर देखकर अपने दो प्रमुख अमीरों की देखरेख में एक सेना भेजी। बाज बहादुर भाग कर खान देश की ओर चला गया। विजय के बाद अकबर को स्वयं अपने उद्दण्ड सरदारों को दबाने मालवा जाना पड़ा। धीरे-धीरे मालवा के सब उपद्रव शांत हो गये और वह साम्राज्य का एक स्थायी अंग हो गया।

गोण्डवाना की विजय—गोण्डवाना का राज्य वर्तमान उड़ीसा और उसके आस पास के इलाके के कुछ भाग में स्थित था। अकबर के शासन काल में वीर नारायण अपनी माता दुर्गावती की संरक्षता में गोण्डवाना में राज्य करता था। महारानी दुर्गावती एक वीर और चतुर महिला थी। अकबर की महत्वाकांक्षा ने उसका ध्यान गोण्डवाना की ओर आकर्षित किया और सम्राट ने कड़ा के हाकिम आसफ खाँ को गोण्डवाना-विजय का आदेश देकर भेजा। रानी और उसके पुत्र ने बड़ी वीरता से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने की कोशिश की, पर मुगल सेना विजयी हुई। वीर नारायण युद्ध में लड़ते-लड़ते मारा गया और महारानी ने जौहर कर लिया। इस प्रकार गोण्डवाना मुगल-साम्राज्य का एक अंग बन गया।

अकबर तथा राजपूत—मुसलमानों ने भारत के अधिकांश भाग को राजपूत राजाओं से ही जीत लिया था। पराजित राजपूत राजा अवसर पाकर समय-समय पर पुनः स्वतन्त्र हो जाते थे। वे वीर थे, देश प्रेम की भावना से ओतप्रोत थे और अपनी आन बान के पक्के थे। अकबर के समय में भी देश के अधिकांश भागों में उनका बोलबाला था। बुद्धिमान अकबर राजपूत-शक्ति का महत्व भली भाँति समझता था। उस समय के प्रमुख राजपूत राजाओं में आमेर के कछवाहा, चित्तौड़ के सिसौदिया, रणथम्भौर के हाड़ा, और कालिंजर के चन्देल थे। इसके अतिरिक्त जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर भी राजपूत राजाओं के केन्द्र थे। अकबर यह जानता था कि भारत में साम्राज्य स्थापना और शक्तिपूर्ण शासन-व्यवस्था के लिए राजपूत शक्ति पर सैनिक बल और कूटनीतिक चाल से प्रभाव डालना और अपनी ओर खींचना आवश्यक है।

राजपूत युद्ध-प्रिय वर्ग के थे। अतः अकबर का विश्वास था कि उनकी मैत्री मुगल सम्राट के लिए हितकर होगी। अकबर का यह भी विश्वास था कि राजपूत अपने वचन के पक्के होते हैं, अतः एक बार मित्रता का वचन ले अकबर सदा उनकी सहायता पर भरोसा कर सकता था। इसके अतिरिक्त राजपूताना के राजपूत राज्य दिल्ली और आगरा के पास थे और दिल्ली तथा आगरा की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए उनको अपनी ओर मिलाना आवश्यक था। अकबर स्वभाव से भी उदार और दूरदर्शी था, अतः वह शान्ति तथा साम्राज्य की दृढ़ता के लिए राजपूतों को अपना मित्र बनाना जरूरी समझता था। बिना उनकी सद्भावना और सहयोग के वह अपने मनोनुकूल शासक बनने का स्वप्न पूरा नहीं कर सकता था। अतः अकबर ने राजपूतों के विषय में बड़ी सतर्कता से काम लिया और समय-समय पर परिस्थिति और व्यक्ति के अनुकूल कभी भय, कभी सहानुभूति और कभी मैत्री की नीति का अनुसरण किया। उसकी इच्छा थी कि जहाँ तक सम्भव हो सके वह राजपूतों के साथ युद्ध न करे और उन्हें प्रेम, सहानुभूति और उदारता से अपनी ओर खींच सके। इस नीति के सर्वथा असफल होने पर ही वह इस दिशा में सैन्य शक्ति का प्रयोग करता था। अपनी नीति को सफल बनाने के लिए अकबर ने इन उपायों से काम लिया :—

(१) हिन्दुओं के धर्म और आचार-विचार का आदर करना और उन्हें पूरी धार्मिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता देना, (२) उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना, (३) उन्हें शासन के उच्चतम पदों पर नियुक्त करना और उन पर विश्वास रखना, (४) राजदरबार में उन्हें सम्मानित करना और मुसलमान अमीरों के समक्ष राजपूतों का आदर करना, (५) उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, (६) प्रशासकीय मामलों में उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव न रखना, (७) समय पड़ने पर सैनिक शक्ति का प्रयोग करना।

इस प्रकार की नीति से अकबर राजपूतों के हृदय पर विजय प्राप्त करना चाहता था। इसी से उसने इस स्वतंत्रता-प्रेमी जाति को अपनी शक्ति का

स्रोत और अपने साम्राज्य का स्तम्भ बनाने का प्रयास किया। सम्राट की इस नीति से भारतीय इतिहास में एक नया अध्याय शुरू होता है।

अकबर और आमेर का राजवंश—अकबर को सर्व प्रथम आमेर के राजवंश को अपना दृढ़ तथा सच्चा मित्र बनाने का अवसर मिला। उस समय आमेर में कछवाहा वंश के राजा भारमल (बिहारीमल) राज्य करता था। उसे उसके पास-पड़ोस के शासक और उसी के परिवार के कुछ लोग बहुत तंग कर रहे थे। इस प्रकार की शत्रुता से वह बहुत तंग आ गया था। उसी समय भारमल की भेंट अकबर से हुई। सम्राट ख्वाजा मुईनुद्दीन की दरगाह के दर्शन के लिये अजमेर जा रहे थे। मार्ग में भारमल ने अकबर से मैत्री की याचना की और सम्राट ने अवसर से लाभ उठाकर भारमल की प्रार्थना तुरन्त स्वीकार कर ली। भारमल ने सम्राट की सेवा और वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। अकबर ने भारमल की पुत्री से विवाह किया और भारमल अपने पुत्र भगवानदास और पौत्र मानसिंह के साथ आगरा आये। अकबर ने भारमल को पंच हजारी का मनसब पद प्रदान किया और उसके पुत्र तथा पौत्र को भी ऊँचे पद दिये। आगे चलकर मानसिंह अकबर का एक विश्वस्त सहायक हो गया। इतिहासकारों ने अकबर और भारमल के इस सम्बन्ध को बहुत महत्त्व दिया है। इस सम्बन्ध से सम्राट के हृदय और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा और भारतीय इतिहास में एक नये युग का आरम्भ हुआ। अकबर को इस वंश के सदस्यों के रूप में योग्यतम सेनापतियों और कूटनीतिज्ञों की सेवाएँ प्राप्त हुईं। कुछ अन्य राजपूत राजवंश भी इसी प्रकार अकबर के मित्र हो गये।

अकबर की राजपूत नीति के परिणाम—अकबर प्रथम मुसलमान सम्राट था जिसने अपने शासन की नींव को दृढ़ करने के लिए इस प्रकार की नयी नीति अपनायी। इससे उसे अनेक लाभ हुए। राजपूतों की सेवा और सहायता प्राप्त होने से उसकी शक्ति बढ़ गयी, सम्राट का विरोध कम हो गया क्योंकि भारत में राजपूत ही एक ऐसी जाति थी जो मुसलमानों से डट कर लोहा लेने को तैयार रहती थी। राजपूत वंश के राजाओं के सम्पर्क

में आने से अकबर की धार्मिक और सामाजिक भावना और नीति में युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। इसी परिवर्तन के कारण अकबर इस क्षेत्र में उदार बन गया और उसने एक राष्ट्रीय मार्ग का अवलम्बन किया जिससे भारत में सब धर्मों के लोग शान्ति और प्रेम से 'सह जीवन' व्यतीत करने की बात मानने लगे। राजपूत अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खोकर भी सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अपनी रुचि के अनुसार रह सकते थे। इससे उन्हें सन्तोष हुआ और देश में राजनैतिक एकता का मार्ग साफ हो चला। अकबर की इस नीति की सफलता का द्योतक यही माना जाता है। राजपूतों के सम्पर्क से अकबर में इतनी उदारता और सहिष्णुता आ गयी कि वह धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में समन्वयवादी बन गया और पठान युग की धार्मिक कट्टरवादिता का लेश मात्र भी नहीं रह गया। कुछ इतिहासकार अकबर के इस कार्य को कूटनीति मानते हैं और उनका कहना है कि अकबर समझ बूझ कर राजपूतों को मूर्ख बना रहा था। उसका मन साफ नहीं था और अपने स्वार्थ साधन के लिए ऐसी मैत्री का दिखावा कर रहा था। पर यह बात अधिक सत्य नहीं मालूम होती क्योंकि उस समय भी राजपूत सतर्क और बुद्धिमान थे और उन्हें आसानी से मूर्ख नहीं बनाया जा सकता था। अकबर की इस नीति के अन्य लाभदायक फल भी हुए। राजपूताना युद्ध और नर-संहार की विभीषिका से बच गया, हिन्दुओं के मन्दिर और पूजा-गृह सुरक्षित बच गये। पर साथ ही इस नीति से राजपूतों की वीरता पर एक कलंक लग गया, उन्होंने अपनी बेटी अकबर को देकर अपनी आन-बान को ठेस पहुँचायी और जिस जाति पर भारतीय अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आशा लगाये हुए थे, वे धराशायी हो गये और उनकी कमर टूट गयी। फिर भी अकबर के व्यक्तित्व की दृष्टि से यह नीति पूर्ण सफल रही और उसके शासन तथा राज्य को दृढ़ करने में उसकी राजपूत-नीति पूरी खरी सिद्ध हुई। यह नीति सम्राट की दूरदर्शिता, युग की परख, व्यापक दृष्टिकोण और शासन-पटुता की परिचायिका मानी जा सकती है।

चित्तौड़ की विजय—अकबर राजपूत राजाओं के साथ उदारता का बर्ताव करता था और उनके साथ मैत्री बनाये रखने का इच्छुक था। पर

पर उसकी यह नीति कमजोरी की निशानी नहीं थी। आवश्यकता पड़ने पर वह उन्हें सैनिक शक्ति से दबाने में भी नहीं हिचकता था। राजपूताना के सिसौदिया वंश के राजपूत राजाओं के साथ अकबर ने इसी नीति से काम लिया। यह वंश चित्तौड़ में राज्य करता था और इसने राणा संग्राम सिंह के नेतृत्व में बाबर के साथ जम कर लोहा लिया था। अकबर के समय में यहाँ उदय सिंह राज्य करते थे। वे आत्माभिमानी थे और अकबर की उदारता और कूटनीति के प्रभाव में अपनी स्वतन्त्रता छोड़ने को तैयार नहीं थे। पर अकबर चित्तौड़ पर अधिकार करना आवश्यक समझता था क्योंकि अन्य राजपूतों को अपनी अधीनता में लाने के लिए ऐसा करना जरूरी था। सन् १५६७ ई० में उसे चित्तौड़ पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया और उसने अवसर से लाभ उठा कर एक बड़ी सेना चित्तौड़ विजय के लिए भेजी। उदय सिंह पर यह दोष लगाया गया कि उसने मालवा के शासक बाज बहादुर को, जो अकबर का शत्रु था, अपने यहाँ शरण दी थी। कुछ अन्य विद्रोहियों को भी उसने मदद दी थी। इसी बात का बहाना लेकर मुगल सेना ने चित्तौड़ को घेर लिया। उदय सिंह अपने पिता संग्राम सिंह की तरह वीर नहीं था। वह अपने दुर्ग की रक्षा का भार अपने सेनापति जयमल और पत्ता को देकर स्वयं उदयगिरी की पहाड़ियों की ओर चल पड़ा। इन सेनापतियों ने कई महीने तक दुर्ग की रक्षा की और मुगल सेना की दाल नहीं गलने दी। एक दिन रात को जयमल किले की मरम्मत कराते समय तीर का निशाना बन गया और बुरी तरह घायल हो गया। इससे राजपूतों की हिम्मत टूट गयी। स्त्रियों ने जौहर कर लिया और वीर राजपूत केसरिया बाना पहन नंगी तलवार ले रण क्षेत्र में उतर आये। जयमल और पत्ता युद्ध करते हुए मारे गये। चित्तौड़ पर अकबर का अधिकार हो गया। इस विजय से उसकी मर्यादा और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी।

रणथम्भौर की विजय—सन् १५६८ ई० में अकबर ने राजपूताना के दूसरे प्रसिद्ध दुर्ग रणथम्भौर पर आक्रमण किया। वहाँ सुर्जन हाड़ा शासन करता था। रणथम्भौर का दुर्ग पहाड़ी पर स्थित होने कारण अजेय समझा जाता था। अतः अकबर स्वयं वहाँ जा पहुँचा। मुगल तोपखाने की मार से

हाड़ा घबड़ा गया और उसने अकबर के पास संधि का प्रस्ताव भेजा। उसी के साथ उसने अपने दो पुत्रों को भी अकबर की सेवा में भेज दिया। अकबर ने उनका सत्कार किया। बाद को सुर्जन हाड़ा स्वयं भी अकबर के समक्ष आया। अकबर ने उसका समुचित आदर किया और उसे चुनार तथा बनारस के इलाके का शासक बना दिया। इस प्रकार एक पराजित वीर का आदर कर अकबर ने उसे अपना मित्र और सहायक बना लिया।

कालिंजर की विजय—सन् १५६६ ई० में अकबर का ध्यान विन्ध्य मेखला में स्थित प्रसिद्ध दुर्ग कालिञ्जर की ओर गया। उस समय वहाँ का शासक रामचन्द्र था। मुगल सेना की शक्ति से घबड़ा कर उसने संधि कर ली और किला मुगलों को सौंप दिया। अकबर ने रामचन्द्र के साथ भी उदारता का बर्ताव किया और उसे प्रयाग के निकट एक अच्छी जागीर दे दी गयी। कालिञ्जर की विजय से अकबर की शक्ति और अधिक बढ़ गयी।

जोधपुर-बीकानेर-जैसलमेर पर अधिकार—चित्तौड़, रणथम्भौर और कालिञ्जर की पराजय के बाद अन्य राजपूत राजा हताश हो गये और उन्हें अब अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं रह गया। वे अकबर की उदारता और मैत्री की भावना से भी आकर्षित हुए थे। फलस्वरूप जोधपुर-बीकानेर और जैसलमेर के राजाओं ने सन् १५७० ई० में अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। सम्राट ने उनके साथ अच्छा व्यवहार किया।

अकबर और महाराणा प्रताप सिंह—राजपूताना में केवल उदयसिंह का परिवार ही अकबर की अधीनता न मानने वाला रह गया था। चित्तौड़ दुर्ग पर अकबर का अधिकार हो जाने के बाद वह सपरिवार उदयगिरि की पहाड़ियों में भाग गये। वहीं उन्होंने उदयगिरि नामक नगर बसाया। सन् १५७२ ई० में उदय सिंह की मृत्यु हो गयी और उनका पुत्र प्रताप सिंह उनका उत्तराधिकारी हुआ। राणा प्रताप अपने पिता से अधिक तेजस्वी, स्वतन्त्रता प्रेमी और अपने कुल की मर्यादा के अभिमानी थे। सन् १५७२ ई० में गद्दी पर बैठते समय राणा प्रताप के पास न सेना थी, न राज्य था और न अन्य कोई साधन था। पर मन की दृढ़ता और कुछ वीर सरदारों की सहा-

यता मात्र से प्रताप ने अपनी खोयी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प किया। कूटनीति में चतुर अकबर ने राजपूताना के अन्य राजपूत राजाओं को अपनी ओर मिलाकर प्रताप के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार किया। पर प्रताप विपदाओं की अधिकता और साधनों की कमी के बीच और अधिक दृढ़ और तेजोमय हो उठे। अकबर के लिए यह चुनौती थी। अकबर ने मानसिंह को उनके पास भेजा और उन्होंने प्रताप को समझाने का प्रयास किया। भोजन के समय प्रताप ने मानसिंह के साथ भोजन करने के लिए स्वयं न जाकर अपने पुत्र अमर सिंह को भेज दिया। इससे मानसिंह ने अपना अपमान समझा और वे समझ गये कि मेरी बुआ के साथ अकबर का विवाह होने से प्रताप मुझे नीच समझ रहा है और मेरे साथ भोजन करना नहीं चाहता। मानसिंह तिलमिला गये, बदला लेने की धमकी दी। प्रताप ने निडर होकर कह दिया कि बदला लेने के लिए साथ में अपने फूफा अकबर को भी लेते आइयेगा। मानसिंह ने ये सब बातें अकबर से दिल्ली पहुँचते ही कहीं। अकबर ने प्रताप के मान-मर्दन का दृढ़ संकल्प किया।

सन् १५७६ ई० में मानसिंह और आसफ खाँ की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना मेवाड़ विजय के लिए भेजी गयी। मुग़ल सेना हल्दीघाटी पहुँची और वहीं राणा के साथ उसका भीषण युद्ध हुआ। हजारों की संख्या में राजपूत हताहत हुए। प्रताप हार गये और अरावली की पहाड़ियों में छिपकर अनेक यातनाओं के बीच जीवन व्यतीत करने लगे। उन्होंने जीवन-पर्यन्त स्वतंत्रता की पूजा की और सम्मान और वंश की मर्यादा में दाग नहीं लगने दिया। इसके बाद भी कई बार प्रताप और मुगल सेना में संघर्ष हुए, पर प्रताप सदा अपने को बचाने में सफल रहे। इस जीवन में उन्होंने अपने बच्चों को रोते-बिलबिलाते देखा, जमीन पर सो कर रातें काटीं और सूखी रोटियों पर संतोष किया। इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करते हुए प्रताप सन् १५९७ को स्वर्गवासी हुए। मरते समय उन्होंने अपने पुत्र अमर सिंह को भी देश-प्रेम और वंश-मर्यादा की बात स्मरण करायी। तब से आज तक हम उस वीर सेनानी और स्वतन्त्रता-प्रेमी के गौरव के गीत गाते आ रहे हैं। उनका जीवन चरित्र हमें देश-प्रेम के लिए अनुप्राणित करता आ रहा है।

राणा की मृत्यु के बाद अमर सिंह उनके उत्तराधिकारी हुए। अमर सिंह ने भी अपने पिता के पग-चिन्हों का अनुसरण किया। उनके विरुद्ध भी मुगल सेना भेजी गयी, उन्हें बार-बार प्रलोभन और भय दिखाया गया। पर वीर राजपूतों ने मुगल प्रयत्नों को विफल बनाने में सफलता प्राप्त की। अकबर के शासन के अन्त तक पूरे मेवाड़ पर अकबर का अधिकार नहीं हो पाया।

गुजरात की विजय—सन् १५७२ ई० में अकबर गुजरात विजय के लिए एक सेना लेकर चल पड़ा। गुजरात का प्रांत उपजाऊ था; समुद्री व्यापार का मार्ग था और हुमायूँ के समय में उस पर मुगल सत्ता स्थापित हो चुकी थी। अतः अकबर उसे अपने राज्य में मिलाना चाहता था। आसानी से अकबर का अधिकार गुजरात पर हो गया। इसी समय सूरत पर भी अकबर का अधिकार हो गया। इसके बाद खम्भात में जाकर उसने अपना सिक्का जमाया। यहां उसका सम्पर्क पुर्तगालियों के साथ हुआ। इसी विजय के बाद अकबर ने सीकरी के पास फतेहपुर नाम का नगर बसाया था। गुजरात की विजय से अकबर के साम्राज्य को बहुत लाभ हुआ।

बंगाल की विजय—भारत के पूर्व में बंगाल का सूबा स्वतन्त्र था। अकबर को यह बात खटकती थी। अतः उसने सन् १५७५ ई० में राजा टोडर मल को बंगाल-विजय के लिये भेजा। मुगल सेना को सफलता मिली और बंगाल का शासक दाऊद कैदी बनाया गया। इस प्रकार बिहार-बंगाल अकबर के साम्राज्य का एक अंग बन गया।

काबुल की विजय—काबुल में इस समय मिर्जा मुहम्मद हकीम शासन करता था। वह अकबर का सौतेला भाई था। अवसर से लाभ उठाकर और कुछ लोगों के बहकाने से वह स्वतन्त्र हो गया और सन् १५८० ई० में उसने पंजाब पर आक्रमण किया। इससे अकबर बहुत क्रोधित हुआ और उसने एक बड़ी सेना के साथ काबुल पर आक्रमण किया। उसका पीछा करता वह काबुल तक पहुँच गया। इस विजय के बाद काबुल अकबर के साम्राज्य का एक सूबा हो गया।

इसके बाद अकबर ने **काश्मीर, सिंध, उड़ीसा** और **बिलोचिस्तान** पर आक्रमण कर इन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार सन् १५६५ तक अकबर काबुल से बंगाल तक के सम्पूर्ण उत्तरी भारत का एक-छत्र सम्राट हो गया।

अकबर की दक्षिण विजय—दिल्ली के सम्राट सदा उत्तर भारत की विजय के बाद दक्षिण भारत की विजय का कार्यक्रम पूरा करना चाहते थे। अकबर ने भी उत्तर के सब प्रांतों को अपने अधिकार में करने के बाद दक्षिण-विजय की ओर ध्यान दिया। अकबर के समय में दक्षिण भारत में पुर्तगालियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, अतः वह उनकी बढ़ती शक्ति को दबाने के लिए दक्षिण पर अधिकार करना आवश्यक समझता था। अकबर स्वयं एक महत्वाकांक्षी सम्राट था, अतः सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार में करना चाहता था। अपनी सैनिक शक्ति को अक्षुण्य बनाये रखने और सैनिक व्यय को प्राप्त करने के लिए सेना को सदा युद्ध में संलग्न रखना और नये प्रांतों को जीतना जरूरी था। इसके लिए अकबर के समक्ष दक्षिण विजय से बढ़ कर और कोई अन्य क्षेत्र अधिक उपयुक्त नहीं था।

उन दिनों दक्षिण के विजयनगर राज्य के पराजय के बाद बहमनी राज्य अनेक राज्यों में विभाजित हो गया था। उनमें से खानदेश, अहमदनगर, गोलकुण्डा तथा बीजापुर अधिक शक्तिशाली थे। सन् १५६१ ई० में अकबर ने इन चारों राज्यों के पास एक प्रस्ताव भेज कर यह सुझाव रक्खा कि वे दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर लें। पर खानदेश के अतिरिक्त अन्य किसी ने अकबर के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

असीरगढ़ की विजय (सन् १६०० ई०)—खानदेश की आन्तरिक स्थिति इस समय अच्छी नहीं थी। सर्व प्रथम खानदेश के राजा अली खाँ ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया, पर उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्वतंत्र होना चाहता था। उस समय उस राज्य में स्थित असीरगढ़ का किला अजेय समझा जाता था और उस पर खानदेश वालों को नाज था। अकबर ने इस समाचार को सुनते ही खानदेश पर चढ़ाई करने के लिए एक

बड़ी सेना भेजी। उसने सर्व प्रथम खानदेश की राजधानी बुरहानपुर को अविलम्ब जीत लिया और तत्पश्चात असीरगढ़ के प्रसिद्ध किले का घेरा डाला। कूटनीति और छल से काम लेकर अकबर इस कार्य में सफल हुआ। किले पर अकबर का अधिकार हो गया। कूटनीति और युद्धनीति के आधार पर अकबर के इस कार्य का कुछ इतिहासकार अनुमोदन करते हैं, पर शुद्ध नैतिक दृष्टि से सम्राट का ऐसा करना निन्दनीय ही है क्योंकि उसने किले में प्रवेश पाने के लिए घूस दिया था और झूठ का सहारा लेकर विश्वासघात किया था।

अहमद नगर की विजय (सन् १६०० ई०)—खानदेश के बाद अहमद नगर का राज्य स्थित था। उस समय अहमद नगर में आन्तरिक झगड़े चल रहे थे। राजधानी में कई दल थे। एक दल ने अकबर से संधि कर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और दूसरा दल चाँदबीबी की संरक्षता में अकबर से लोहा लेने के लिए तैयार हो गया। सम्राट ने शाहजादा मुराद और अब्दुर्रहीम की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना चाँदबीबी के विरुद्ध भेजी। वीराङ्गना की भाँति चाँदबीबी स्वयं रणक्षेत्र में उतर आयी। मुगलों के छक्के छूट गये। पर चाँदबीबी मुगल शक्ति को जानती थी अतः संधि के लिए तैयार हो गयी। अकबर को बरार का इलाका मिला और वह अहमद नगर के राज्य के शेष भाग की मलका रही। पर अमीरों को चाँदबीबी का यह प्रबन्ध पसन्द नहीं आया। इसलिए दोनों पक्षों में पुनः युद्ध छिड़ गया। अन्त में अकबर की सेना विजयी हुई। मालूम होता है कि इसी बीच चाँदबीबी की हत्या उसके सरदारों ने कर दी। सन् १६०० ई० में अहमद नगर पर मुगलों का अधिकार हो गया।

अकबर का साम्राज्य—सन् १५५६ ई० से १६०० ई० तक अकबर लगातार अपने साम्राज्य के विस्तार में लगा रहा। प्रारम्भ में दिल्ली और आगरा उसके अधिकार में आया। धीरे-धीरे उसका दाँव बैठता गया और उसने अजमेर, ग्वालियर, जौनपुर, मालवा, गोंडवाना, चित्तौड़, रणथम्भौर, कालिंजर, गुजरात, बंगाल को अपने अधिकार में किया। उसका यह काम

सन् १५७६ तक पूरा हो गया। इसके बाद सन् १५८० से लेकर १५९६ ई० तक अकबर ने काबुल, काश्मीर, सिंध, उड़ीसा पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अन्त में सन् १५९८ से १६०० ई० तक उसने दक्षिण के खानदेश और अहमद नगर को जीत कर अपने अधीन किया। इस प्रकार अकबर का साम्राज्य काश्मीर से अहमद नगर तक और काबुल से बंगाल तक फैला था। उसके इस विस्तृत साम्राज्य में १८ सूबे थे *।

अकबर की सीमान्त नीति—भारतीय इतिहास में पश्चिमोत्तर प्रान्त और काबुल तथा कन्दहार इस देश की राजसत्ता के समक्ष सदा एक टेढ़ी समस्या के रूप में रहे हैं। मध्य एशिया और फारस की ओर से भारत-विजय की आकांक्षा और देश की सम्पत्ति लूटने के लिए प्रायः आक्रमण होते रहे हैं। काबुल और कन्दहार दो ऐसे स्थान थे जहाँ उन दिनों राजसत्ता के भूखे आक्रमणकारी इकट्ठे होते थे और भारत पर चढ़ाई करते थे। साथ ही ये दोनों स्थान उधर से आने जाने वालों व्यापारियों के भी केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त उस इलाके के निवासी स्वयं लड़ाकू और स्वतन्त्रता-प्रेमी थे जो किसी की सत्ता को सहन करने को तैयार नहीं रहते और सदा लूट-पाट और लड़ाई करने को उद्यत रहते थे। इन्हीं कारणों से यह प्रदेश मुगल बादशाहों के लिए एक समस्या बना रहा और सब को इनके प्रति बहुत सतर्क रहना पड़ता था।

काबुल प्रारम्भ से ही मुगल बादशाहों के प्रभुत्व और अधिकार में था। सन् १५२२ ई० में कन्दहार पर भी बाबर ने अधिकार प्राप्त किया। बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ ने कन्दहार अपने भाई कामरान को दे दिया। हुमायूँ ने अपने शासन-काल में कन्दहार को अपने अधीन रक्खा, पर उसकी मृत्यु के बाद फारस के शाह ने उसे अपने अधिकार में कर लिया। अकबर कन्द-हार को अपने अधीन करना चाहता था। इसके लिए उसने उस प्रदेश के

* (१) काबुल, (२) लाहौर, (३) मुल्तान, (४) दिल्ली, (५) आगरा, (६) अवध, (७) इलाहाबाद, (८) अजमेर, (९) गुजरात, (१०) मालवा, (११) बिहार, (१२) बंगाल, (१३) खानदेश, (१४) बरार, (१५) अहमद-नगर, (१६) उड़ीसा, (१७) काश्मीर, (१८) सिंध।

आस-पास रहने वाली लड़ाकू जातियों (उजबेग, और यूसुफज़ाई) को परास्त किया और उन्हें अपने प्रभुत्व में किया। इन्ही जातियों के साथ युद्ध करते समय राजा बीरबल की मृत्यु हो गयी और अपने उस प्रिय सहयोगी और दरबारी की मृत्यु से सम्राट को बहुत अधिक दुख हुआ था। कहा जाता है कि बीरबल की मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर अकबर ने दो दिन तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। इसके बाद यूसुफज़ाइयों को दबाने के लिए राजा टोडरमल और अपने पुत्र मुराद को एक बड़ी सेना के साथ सम्राट ने भेजा। इन्होंने उस लड़ाकू और अर्द्ध सभ्य जाति को बुरी तरह परास्त किया और कड़ा दण्ड दिया।

कन्दहार पर भी सन् १५९४ ई० में अकबर का अधिकार हो गया। इसके लिए उसे फारस के शाह के साथ युद्ध नहीं करना पड़ा। उसने उजबेगों से परेशान होकर स्वयं कन्दहार अकबर को सौंप दिया। इस प्रकार अकबर अपनी सीमान्त-नीति में पूरा सफल रहा और काबुल तथा कन्दहार उसके साम्राज्य के अंग बने रहे।

अकबर के अन्तिम दिन—दिल्ली के सबसे बड़े और योग्य मुगल के सम्राट जीवन के अन्तिम दिन बहुत व्यथा और कष्ट में व्यतीत हुए। उसे सबसे अधिक क्षोभ और कष्ट अपने पुत्रों की विचार-धारा, उनके दुष्ट व्यवहार और अविश्वास के कारण हुआ। उसके दो पुत्र मुराद और दानियाल अति मदिरा-पान के कारण मर गये। उसका बड़ा पुत्र **सलीम** अविश्वासी और उद्धत हो गया और बार-बार विश्वास दिलाने और क्षमा करने पर भी विद्रोह करने लगा। सन् १६०० ई० में जब सम्राट दक्षिण में असीरगढ़ का घेरा डाले था, सलीम ने अपने कुछ साथियों के बहकावे में आकर इलाहाबाद में अपने को स्वतंत्र घोषित कर लिया। बाद को बादशाह ने उसे क्षमा कर दिया। कुछ ही दिनों बाद सलीम के कुकृत्य से अकबर को मार्मिक वेदना हुई। सलीम ने सम्राट के मित्र अबुल फज्ल की ओरछा के राजा द्वारा हत्या करवा दी। अपने इस अत्यन्त प्रिय दरबारी के वियोग में सम्राट पागल की भाँति विलाप करता रहा और उसने अत्यन्त करुण शब्दों में कहा कि "यदि सलीम सम्राट ही बनना चाहता था तो उसे अबुल फज्ल के स्थान पर मेरी ही हत्या कर डालनी

थी।" इसके बाद भी अकबर ने उसे क्षमा कर दिया पर दुष्ट सलीम ने पुनः इलाहाबाद आकर अपने को स्वतंत्र घोषित किया। अपने पुत्र की इस दुष्टता से अकबर को मार्मिक आघात पहुँचा। उसका स्वास्थ्य गिरने लगा और वह पेट की बीमारी से पीड़ित रहने लगा। अन्त तक सम्राट की दशा में बिगड़ती ही गई। सलीम आगरा आया, पर अकबर का रोग इतना बढ़ गया था कि उसके मुँह से आवाज भी नहीं निकल सकी। संकेत से उसने सलीम को अपना उत्तराधिकारी बनाया और दिल्ली का वह यशस्वी और योग्य सम्राट १७ अक्टूबर सन् १६०५ ई० को इस लोक से चल बसा। उसकी इच्छानुसार उसका शव आगरा के निकट सिकन्दरा के मकबरे में दफना दिया गया।

अकबर और यूरोप निवासी—सोलहवां शताब्दी में यूरोप के कुछ लोग व्यापार के लिए भारत आये। इनमें सर्व प्रथम **पुर्तगाल के निवासियों** का प्रयास उल्लेखनीय है जिन्होंने गोआ को अपना मुख्य अड्डा बना देश के विभिन्न भागों से व्यापार करना शुरू किया। पुर्तगाली व्यापारियों ने उस समय कुछ दिनों के लिए फारस की खाड़ी और अरब सागर पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया और नइ इलाकों का सारा व्यापार उनके हाथों में आ गया। उनके ही जहाज अरब सागर में प्रमुख रहे और उन्हीं जहाजों से धार्मिक यात्रियों का आना-जाना भी होने लगा। इस प्रकार पुर्तगाली जहाज और व्यापारी उन दिनों इस इलाके में अत्यधिक प्रभावशाली हो रहे थे।

सन् १५७२ ई० में अकबर ने जब गुजरात-विजय का कार्य पूरा किया, तो वह पुर्तगालियों के सम्पर्क में आया। पुर्तगाली व्यापारियों ने सम्राट को अनेक बहुमूल्य भेंट दिये और यह वादा किया कि मक्का जाने वाले मुसलमान यात्रियों को ईसाई लोग किसी प्रकार का कष्ट नहीं देंगे।

इसके बाद अकबर ने ईसाई धर्म के विषय में अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए जेसुइट पादरियों से मिलना शुरू किया। वाद-विवाद का क्रम चलता रहा। कुछ प्रमुख ईसाई पादरी फतेहपुर सीकरी पहुँचे। सम्राट ने उनका बहुत सत्कार किया। कुछ दिनों बाद वे गोआ लौट गये। सम्राट ने राजवंश के कुछ लोगों को पुर्तगाली भाषा का ज्ञान कराने के लिए राजधानी में एक

स्कूल भी खोला था। कुछ दिनों के बाद सम्राट ने अपनी ऐसी प्रजा को जो ईसाई धर्म स्वीकार करना चाहें, धर्म परिवर्तन की आज्ञा दे दी। मुसलमानों ने सम्राट की इस नीति का विरोध भी किया।

इसके बाद अकबर का सम्पर्क **इंगलैन्ड के व्यापारियों** से हुआ। भारत से व्यापार करने के लिए उन दिनों एक कम्पनी स्थापित हुई और कुछ व्यापारी भारत आये। इनमें से रल्फ फिच (Ralph Fitch) नामक एक यात्री आगरा तक आया और पुनः लन्दन वापस लौट सका।

इसके बाद सन् १६०३ ई० में इंगलैण्ड की महारानी एलिजाबेथ के एक सिफारशी पत्र के साथ मिण्डेनहाल नामक एक अंग्रेज अकबर के पास लाहौर आया और सम्राट को अमूल्य भेंट दी। उसने सम्राट से प्रार्थना की कि अंग्रेज व्यापारियों को वही सुविधाएँ दी जायँ जो पुर्तगालवालों को प्राप्त हैं। पुर्तगाली व्यापारी इससे बहुत नाराज हुए। पर अकबर ने अंग्रेजी कम्पनी को व्यापारिक सुविधा देने की प्रार्थना स्वीकार कर लीया और मिण्डेलहाल अपने प्रयास में सफल हुआ।

पुर्तगालियों और अंग्रेजों के इन प्रारम्भिक प्रयासों से और भारतीय सम्राटों की अनावश्यक उदारता से धीरे-धीरे भारत का भावी इतिहास अपना स्वरूप खड़ा कर रहा था और अनजाने ही उसकी नींव पड़ती जा रही थी। भारतीय इतिहास पर इन प्रारम्भिक घटनाओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा जिससे देश के इतिहास का क्रम भी बदल गया। पर उस समय अकबर जैसे कूटनीतिज्ञ और चतुर सम्राट को भी इन भावी घटनाओं और कुचक्रों के प्रति किसी प्रकार की आशंका नहीं हो सकी।

अकबर की हिन्दुओं के प्रति नीति—अकबर ने प्रारम्भ से ही एक दूरदर्शी और प्रतिभाशाली शासक होने का परिचय दिया। वह अपने को इस्लाम का प्रचारक और हठधर्मी शासक मात्र नहीं मानता था। उसे विश्वास था कि यदि उसे भारत जैसे देश का शासक होना है तो उसे धार्मिक पक्षपात से ऊपर उठना पड़ेगा और वह देश के प्रत्येक वर्ग का शासक तथा सम्राट होना होगा। इसी नीति से उसके शासन में स्थायित्व आयेगा और उसके राज्य की

इमारत दृढ़ और शान्तिमय हो सकेगी। अकबर को यह ज्ञात था कि उन दिनों भारतीय समाज की रक्षा और नेतृत्व का भार राजपूतों के हाथ में था। अतः राजपूतों को अपनी ओर मिलाना मुगल साम्राज्य के लिए जीवन-शक्ति प्राप्त करने के समान था। इसके लिए अकबर ने कोई प्रयास नहीं छोड़ा। इस सम्बन्ध में अकबर की नीति का स्पष्टीकरण इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। "अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अकबर ने उदारता और सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया और राजपूतों के अधिक से अधिक निकट आकर उनकी सहायता तथा सहानुभूति प्राप्त करने और उनका विश्वास पात्र बनने का प्रयास किया। राजपूतों के गुणों से वह परिचित था, वह जानता था कि "प्राण जाहि बरु बचन न जाहीं" के आदर्श में विश्वास रखने वाली यह जाति है।" अतः उनकी मैत्री और सहयोग प्राप्त करने का भरपूर प्रयत्न उसने किया। इस नीति को कार्यान्वित करने में अकबर को सफलता भी प्राप्त हुई। इस दिशा में सम्राट के प्रयास-स्वरूप कुछ कार्य इस प्रकार हैं।

धार्मिक स्वतंत्रता—अकबर ने अपने पूववर्ती सम्राटों की तरह अपने राजकीय और व्यक्तिगत जीवन में धार्मिक संकीर्णता को कोई स्थान नहीं दिया। उसकी सब प्रजा अपने अपने धर्म के विषय में पूरी स्वतन्त्र थी। उसके हिन्दू नौकर और दरबारी तथा राजकर्मचारी सबको अपने अपने धर्म के विषय में पूरी स्वतन्त्रता थी। सम्राट सबको समान दृष्टि से देखता था और हिन्दुओं के देवी-देवताओं तथा मन्दिरों का आदर करता था। उसके राज्य में धार्मिक पक्षपात वाले किसी प्रकार के कर नहीं लिये जाते थे। इससे वह हिन्दुओं का विश्वास-पात्र बन गया। सम्राट स्वयं समय-समय हिन्दू भेश-भूषा अपनाता था और हिन्दुओं के व्रत तथा त्यौहार मनाता था। इससे वह हिन्दू जनता की श्रद्धा और विश्वास का भाजन बन गया।

वैवाहिक सम्बन्ध—अकबर ने राजपूतों को अपनी ओर मिलाने के लिए उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। इन वैवाहिक सम्बन्धों का आधार प्रेम और सद्भावना बनाया गया, सैनिक विजय और शक्ति का

दुरुपयोग नहीं। इसलिए इनसे कटुता के स्थान पर स्निग्धता और सहयोग का स्रोत निकला। सन् १५६२ ई० में आमेर के शासक राजा भारमल की पुत्री से सम्राट ने स्वयं विवाह किया। इसी सम्बन्ध से जहाँगीर पैदा हुआ था। पुनः सन् १५७० ई० में अकबर ने जैसलमेर और जोधपुर की राजकुमारियों के साथ विवाह किया। सन् १५८४ ई० में जहाँगीर का विवाह भारमाल की पोती के साथ सम्पन्न हुआ। इस प्रकार इन सम्बन्धों से अकबर ने कई राजपूत वंशों को अपना मित्र, सहायक और राजभक्त बना लिया। इन्हीं सम्बन्धों से मुगल वंश में अनेक प्रतापी और योग्य शासक हुए और साम्राज्य की सेवा में तत्पर रहने वाले वीर सैनिक और प्रशासक दिल्ली दरबार को मिले। इसीलिए इस प्रकार के सम्बन्ध को भारतीय इतिहास में एक नये युग का प्रेरक और प्रवर्तक माना गया है।

प्रशासन में उच्चपद प्रदान—सम्राट अकबर केवल मुसलमानों का राजा नहीं था। अतः राजकाज में वह हिन्दुओं को ऊँचे से ऊँचे पद देता था। वह गुणग्राही और योग्यता का सम्मान करने वाला था। भूमि समस्या के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व राजा टोडरमल के हाथ में था। राजा भारमल, भगवान दास तथा मानसिंह को पंच हजारी का मनसब देकर सेना में उच्चतम पदों पर रक्खा था। बीरबल अकबर का सभासद और अभिन्न था। दक्षिण विजय और सीमान्त की लड़ाइयों में हिन्दुओं को सेनापति बना कर अकबर ने विजय प्राप्त की थी। अकबर के इस विश्वास से हिन्दुओं में राजभक्ति का प्रवाह और दृढ़ हो गया और साम्राज्य की नींव मजबूत हो गयी।

सामाजिक सुधार—अकबर ने हिन्दुओं के समाज में प्रचलित कुछ बुराइयों को दूर करने का भी प्रयास किया। सती प्रथा, बाल विवाह को रोकने और विधवा विवाह तथा अन्तर्जातीय सम्बन्ध को दृढ़ प्रोत्साहन देने का प्रयास सम्राट ने समय-समय पर किया। हिन्दुओं की शिक्षा की ओर भी उसका ध्यान गया। हिन्दू-मुसलमान में सद्भावना पैदा करने की भी अनेक योजनाएँ सम्राट द्वारा चालू की गयीं।

हिन्दू राजाओं के साथ सद्व्यवहार—अन्य मुसलमान बादशाहों की तरह अकबर ने हिन्दू राजाओं को पराजित करने के बाद बदला लेने की भावना नहीं दिखायी। उसने अनावश्यक हत्या और अत्याचार भी नहीं किया। हिन्दुओं की सम्पत्ति और देवालयों को लूटने और तोड़ने का कोई उदाहरण उसके शासन-काल में नहीं मिलता। पराजित हिन्दू राजाओं के साथ भी उसका व्यवहार समयानुसार सौहार्द्र और सम्मानपूर्ण होता था।

अकबर की इस नीति का प्रभाव—अकबर की हिन्दू-नीति भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखती है। भारतीय इतिहास के गत पाँच सौ वर्षों में इस प्रकार की व्यापक उदारता और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ओत-प्रोत राजकीय नीति और कार्य-प्रणाली का दूसरा उदाहरण नहीं है। अकबर ने अपनी इस नीति से हिन्दू-मुसलमानों के व्यापक और परंपरागत वैमनस्य को दूर किया और प्रतिशोध तथा विद्रोह की भावना को शान्त किया। इससे हिन्दुओं और मुगल साम्राज्य दोनों का हित हुआ। सम्राट को हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतों की सहायता और सद्भावना प्राप्त हो गई। साम्राज्य-विस्तार और प्रशासन के काम में अकबर को इस नीति से लाभ मिला। इसी नीति के परिणाम स्वरूप अमीरों की शक्ति पर रोक लग गयी क्योंकि वे मित्र राजपूत राजाओं के समक्ष फीके पड़ गये और शक्ति का केन्द्र उनसे हट कर दूसरों के हाथ में आ गया। वास्तव में अकबर की यह नीति उसकी राष्ट्रीय भावना और दृष्टिकोण की द्योतक है। इसी सफल प्रयोग के कारण सम्राट का गौरव बढ़ा और उसकी गणना एक महान राष्ट्र निर्माता के रूप में होने लगी। इस नीति के अभाव में अकबर को महान सम्राट होने का गौरव नहीं प्राप्त हो सकता था।

अकबर का शासन-प्रबन्ध

राजतंत्र—अकबर अपने साम्राज्य का असीमित अधिकार सम्पन्न सम्राट था। सिद्धान्त में वह स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासक था और व्यवहार में भी उसकी इस असीमित शक्ति पर कोई नियंत्रण नहीं था। उस युग की परंपरा के अनुसार सीमित अधिकार वाले राजतन्त्र की आशा करना गलत

था। अकबर को स्वेच्छाचारी बनने और मनमानी करने से रोकने वाला कोई नहीं था। उसने इस्लाम और मुल्लाओं के बंधन और दबाव को भी तोड़ दिया था और अन्य अधिकांश मुसलमान सुल्तानों की तरह उनके हाथ की कठपुतली बनना स्वीकार नहीं किया। पर साथ ही यह भी सच है कि उसकी निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता उसकी बुद्धि और उच्च भावनाओं के अंकुश में रही और उसने सदा उदार और व्यापक दृष्टिकोण से काम किया और प्रजा की भलाई और निष्पक्षता को अधिक महत्व दिया। उसकी सल्तनत का ढाँचा एकात्मक था और राज्य तथा सरकार की सारी शक्ति उसी में केन्द्रित थी। वही राज्य का सर्वोच्च संचालक था। उसकी सत्ता अनियंत्रित थी, उसके आदेश कानून थे और वह सब कर्त्ता-धर्ता था। पर यह भी सत्य है कि उसने कभी अपनी इस अपरिमित शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया, सदा अधिक-से-अधिक लोगों की भलाई का ध्यान रक्खा और वह कहीं भी धार्मिक संकुचित नीति का शिकार नहीं हुआ। उस अनियंत्रित राजसत्ता पर सम्राट का विवेक और व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण अंकुश का काम करते थे। किसी परिषद् या व्यक्ति का उस पर किसी प्रकार का दबाव या प्रतिकूल प्रभाव नहीं था। उसके परामर्शदाता या मन्त्री तो थे, पर सम्राट स्वयं उन सब के ऊपर था और उसकी अपनी स्वेच्छा सर्वोपरि थी। वह किसी की राय मानने को किसी प्रकार बाध्य नहीं था। पर सम्राट सही और उचित परामर्श या सुझाव का सदा आदर करता था क्योंकि वह स्वभाव से गुणग्राही था। उस युग में किसी भी देश के लिए इस प्रकार के उदार और विवेकशील सम्राट का होना गौरव और कल्याण की बात थी। इस दृष्टि से अपने समकालीन सम्राटों में अकबर निस्सन्देह अग्रणी माना जा सकता है।

केन्द्रीय प्रशासन—सम्राट ने प्रशासन की सुविधा के लिए राज्य के सब कार्यों को कई विभागों में बाँट दिया था। प्रत्येक विभाग के प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति और उनके काम की जाँच सम्राट स्वयं करता था। इस काम में सम्राट को उसका वजीर (प्रधान मन्त्री) सहायता देता था। उसे 'वकील' भी कहते थे। सम्राट के बाद उसी का अधिक प्रभाव और महत्व

होता था। उसका नियंत्रण और निरीक्षण शासन के सब विभागों पर होता था। केन्द्रीय प्रशासन में निम्नलिखित मुख्य विभाग थे —

राज कोष—यह राज्य का एक प्रमुख विभाग था और इसका मुख्य प्रबन्धक 'दीवान' होता था। वह राजकोष और राज्य के आय-व्यय के हिसाब और प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होता था। राज्य की आर्थिक नीति के संचालन में उसका विशेष हाथ होता था।

न्याय विभाग—इस विभाग के प्रधान को 'काजी उलकुजात' कहते थे। न्याय के उचित व्यवस्था करना उसका मुख्य काम था। सम्राट स्वयं सबसे बड़ा न्यायाधीश था। वह दरबार-आम में बैठकर अपीलें सुनता था और अन्तिम निर्णय देता था। उसके बाद काजी-उलकुजात होता था और पुनः उसके नीचे न्यायालय होते थे। प्रत्येक न्यायालय में तीन पदाधिकारी बैठते थे। 'काजी' मामले की जाँच करता था, 'मुफ्ती' कानून की व्याख्या करता था और 'मीरअदल' फैसला सुनाता था। हिन्दुओं के मामले में उनके रीति-रिवाज का ध्यान रखा जाता था। न्याय का कोई निश्चित विधान नहीं था और मुकदमें की कार्यवाही लिखी नहीं जाती थी। दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। कोड़े लगवाने से लेकर प्राण-दण्ड तक की सजा दी जाती थी। गाँव वाले प्रायः अपने झगड़ों का निपटारा ग्राम पञ्चायतों द्वारा करते थे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए काजी के न्यायालय में पहुँचना सम्भव नहीं था।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय प्रशासन में दान-विभाग, आचरण निरीक्षण-विभाग, गुप्तचर विभाग, डाक विभाग, मुद्रा-विभाग प्रमुख थे जिनका प्रबन्ध विभागीय अध्यक्षों की देखरेख में राज कर्मचारी किया करते थे।

सेना-विभाग—साम्राज्यवादी शासक के लिए सेना का अत्यधिक महत्व होता है। अतः सेना का विभाग अकबर के शासन काल में एक प्रमुख विभाग था जिसकी देखरेख स्वयं सम्राट किया करता था। पर इस विभाग का प्रमुख अधिकारी 'बख्शी' होता था। सैनिकों की भर्ती, वेतन तथा अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध करना उसका काम था। उसके पास सब सेनापतियों, मनसबदारों तथा अन्य अधिकारियों की सूची होती थी और युद्ध के पूर्व वह

सामरिक स्थिति की उलझनों को ठीक करने की कोशिश करता था। उसकी सहायता के लिए अन्य कतिपय अधिकारी रहते थे जो उसके नीचे काम करते थे। सेना में एक प्रमुख विभाग तोपखाना का था जिसका प्रधान 'मीर आतिश' कहलाता था।

सेना-विभाग का प्रबन्ध —उस समय कई प्रकार की सेना रखने की प्रथा थी। सम्राट के आधीन कुछ राजाओं को अपने शासन में पर्याप्त स्वतन्त्रता थी और उन्हें अपनी सेना रखने की भी सुविधा थी। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अपने सैनिकों सहित सम्राट के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था।

सम्राट की सेना का मुख्य भाग मनसबदारी-प्रथा के सैनिकों में था। मनसब का अर्थ होता है पद या ओहदा। सैनिक प्रबन्ध के लिए इस प्रकार के ३३ ओहदे थे और मनसबदारों को अपने पद के अनुसार निश्चित संख्या में सैनिक रखने पड़ते थे। सबसे छोटे मनसबदार को १० और सबसे बड़े मनसबदार को १० हजार सैनिक रखना आवश्यक था। सात हजार से दस हजार तक के सैनिकों को रखने वाले मनसबदार राजपरिवार के ही होते थे। राजा टोडरमल और मानसिंह को भी इसी उच्च श्रेणी में मनसबदार होने का श्रेय प्राप्त था। मनसबदारों की नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था यह पद वंशगत नहीं होता था। प्रत्येक वर्ग के मनसबदार का वेतन निश्चित था। प्रत्येक मनसबदार अपने वेतन से हथियार, घोड़े आदि का प्रबन्ध करता था। इन बातों का विचार कर मनसबदारों का वेतन निश्चित किया जाता था। मनसब का पद बिना किसी जाति-गत भेदभाव के योग्यता और राजभक्ति के आधार पर निश्चित किया जाता था। घोड़े, हथियार आदि का प्रबन्ध मनसबदारों के हाथ में देना सैनिक दृष्टि से उचित और लाभकर नहीं माना जा सकता है। वे कभी-कभी अपने इस उत्तरदायित्व का दुरुपयोग करते थे। अच्छा होता यदि इन सब बातों का प्रबन्ध राज्य की ओर से सीधे होता।

कुछ सैनिकों को सम्राट स्वयं भर्ती करता था। वे मनसबदारों के आधीन नहीं रहते थे। ऐसे सैनिक सम्राट के अंग रक्षक थे और उनका नियंत्रण

सम्राट द्वारा नियुक्त उपयुक्त अधिकारी द्वारा होता था। उनको सीधे राजकोष से वेतन मिलता था। इनका वेतन भी अन्य सैनिकों की अपेक्षा अधिक होता था।

सेना में निम्नलिखित मुख्य विभाग थे—(१) पैदल सेना, (२) तोपखाना (३) घुड़सवार (४) नौसेना, (५) हाथी। इनमें सबसे प्रभावशाली और प्रमुख विभाग तोपखाना और घुड़सवारों के थे। राज्य की शक्ति की रीढ़ ये ही दो विभाग थे।

अकबर की सेना काफी शक्तिशाली थी और उसी के बल पर उसने इतना बड़ा राज्य स्थापित किया था। पर उसके सैन्य विभाग में कुछ विशेष दोष भी थे जो उसकी मृत्यु के बाद अपेक्षाकृत कम योग्यता वाले सम्राटों के समय में प्रकट हुए। सेना में अधिक अधिकार उसने मनसबदारों को दे रखा था। प्रत्येक मनसबदार अपनी टुकड़ी के प्रति उत्तरदायी होता था और उसका ध्यान केवल उसी दायरे तक सीमित होता था। सैनिकों की श्रद्धा भक्ति सम्राट के प्रति कम और अपने मनसबदार के प्रति अधिक होना स्वाभाविक था। अकबर के सैन्य संगठन के इस दोष को सब इतिहासकार स्वीकार करते हैं। यह सच है कि अकबर की व्यक्तिगत योग्यता और प्रतिभा के कारण उसके जीवन-पर्यन्त यह दोष दबा रहा, पर उसकी मृत्यु के बाद इस पद्धति का विष फैलकर साम्राज्य की कमजोरी का कारण बन गया।

भूमि और लगान का प्रबन्ध—अकबर का ध्यान भूमि और लगान सम्बन्धी व्यवस्था की ओर विशेष रूप से गया। भूमिकर-राज्य की आमदनी का प्रधान स्रोत था। अकबर इस महत्व को समझता था। बाबर का अधिक समय युद्ध में व्यतीत हुआ और हुमायूँ का जीवन मुसीबतों में बीता। अतः अकबर के पूर्व किसी मुगल सम्राट ने इस दिशा में कोई श्लाघनीय कार्य नहीं किया। शेरशाह ने अपने अल्प शासन-काल में भूमि की समस्या को सुधारने का अच्छा प्रयत्न किया और उसे सफलता भी मिली। पर अकबर को इस कार्य के लिए अधिक साधन और समय मिला, अतः उसने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किये जिनसे राज्य और प्रजा दोनों को अत्यधिक लाभ हुआ। इस

कार्य में सम्राट को उसके सुयोग्य अधिकारियों से अच्छी मदद मिली जिनमें मुजफ्फर तुरबती और राजा टोडरमल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। राजा टोडरमल शेरशाह के समय में भी माल मंत्री रह चुके थे। अतः उनके सुधार अनुभव पर आधारित थे।

सन् १५८२ ई० में राजा टोडरमल 'दीवाने असरफ' बनाये गये और इसके बाद आपने माल-विभाग का पुनः संगठन किया। (१) सर्वप्रथम राजा टोडरमल ने भूमि की नाप का विस्तृत आयोजन किया। उन्होंने बाँसों में लोहे के छल्ले गड़वाकर जरीबें तैयार करायीं जिससे भूमि की ठीक-ठीक नाप हो सके। इस प्रकार कृषि योग्य सारी भूमि की नाप करायी गयी और उसका ब्यौरा सरकारी कागज में लिखा गया। (२) दूसरा कदम जमीन के वर्गीकरण का उठाया गया। साम्राज्य की सब भूमि को चार भागों में विभाजित किया गया। प्रथम श्रेणी की भूमि **पोलज** कहलाती थी जो बड़ी उपजाऊ थी और जिसमें प्रतिवर्ष दो फसलें होती थीं। द्वितीय श्रेणी में **पड़ौती** जमीन थी जिसकी उत्पादन शक्ति प्रथम श्रेणी की जमीन से कम थी और इसे कुछ दिन खेती करने के बाद एक वर्ष के लिए परती छोड़ देनी पड़ती थी। तृतीय श्रेणी की भूमि को **चाचर** कहते थे। इसे दो या तीन वर्ष तक परती छोड़ना पड़ता था क्योंकि इसकी उर्वरा शक्ति कम थी। चौथी प्रकार की जमीन **बंजर** थी जिसमें बहुत कम खेती होती थी। (३) इस प्रकार वर्गीकरण करने के बाद सब प्रकार की भूमि की प्रतिवर्ष औसत उपज का हिसाब लगाया गया ताकि उसीके अनुसार राजकर की न्यायोचित व्यवस्था हो सके। (४) इसके पश्चात चौथा काम राजकर की दर और रकम का निश्चित करना था। अकबर के समय में उपज का $\frac{1}{3}$ भाग लगान के रूप में लिया जाता था। (५) टोडरमल का इस दिशा में पाँचवा सुधार यह निश्चित करना था कि लगान नकद लिया जाय अथवा पैदावार के रूप में लिया जाय। दस वर्ष की उपज का औसत निकालकर लगान की रकम निश्चित हुई और यह तय हुआ कि लगान नकद रुपयों में लिया जाय। कहीं-कहीं अनाज भी स्वीकृत किया जाता था, पर नकद रुपया पर ही अधिक जोर दिया जाता था। अकाल, अति वर्षा और

सूखा पड़ने पर लगान में छूट दी जाती थी। कभी-कभी राज्य की ओर से 'तकावी' भी बाँटी जाती थी।

लगान वसूल करने का काम ठेकेदारों से छीन कर राजकर्मचारियों को दिया गया। इसके लिए 'अमीन', 'कानूनगो', और 'पटवारी' नियुक्त किये गये। इन्हें राज्य की ओर से आदेश था कि लगान वसूली के काम में अनावश्यक कड़ाई न करें। पटवारी को लगान और जमीन का विवरण वसूली की रसीद में लिखना पड़ता था। प्रजा को सुविधा थी कि वह समय पर अपना लगान स्वयं सरकारी खजाने में जमा कर दे।

इन सुधारों का प्रभाव—लगान और जमीन सम्बन्धी इन सुधारों से राजा और प्रजा दोनों का हित हुआ। राज्य की आय निश्चित हो गयी। सरकारी कोष का रुपया मारा पड़ने का कोई भय नहीं रहा। प्रजा का अधिकार भूमि पर निश्चित और सुरक्षित हो गया अतः वे मन लगा कर खेती करने लगे। इससे भूमि की पैदावार बढ़ गयी और लोगों की माली हालत अच्छी हो गयी। इस दिशा में अकबर के सुधार शेरशाह की अपेक्षा अधिक ठोस और हितकर हुए। जमीन की नाप का ढंग और उसका वर्गीकरण इस समय पहले से अधिक अच्छा हुआ। अब तक जमीन और लगान के कागज हिन्दी तथा अन्य स्थानीय भाषाओं में लिखे जाते थे, पर अकबर के समय में यह काम फारसी में होने लगा।

गुप्तचर-विभाग—उस युग में प्रत्येक सम्राट अपनी और साम्राज्य की रक्षा के लिए एक सुसंगठित गुप्तचर-विभाग रखता था। अकबर ने भी अपने शासन-काल में इस विभाग की उचित व्यवस्था की। वे गुप्तचर सरकारी कर्मचारियों के कार्यों की, प्रजा के आचरण और व्यवहार की तथा भ्रष्टाचार सम्बन्धी दोषों की सूचना प्राप्त करते थे और उसे सम्राट तक पहुँचाते थे।

डाक और यातायात विभाग—समाचार और पत्रादि एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए और व्यापार तथा सेना के यातायात के लिए डाक और यातायात की व्यवस्था बहुत जरूरी थी। डाक भेजने के लिए सड़कों के किनारे बनी सरायों में घोड़े और डाकिये रखे जाते थे।

प्रत्येक आठ-दस मील पर एक डाक-चौकी होती थी। एक निश्चित दूरी के बाद हरकारे और घोड़े बदल दिये जाते थे ताकि इस काम में विलम्ब न होने पावे। यातायात की व्यवस्था के लिए एक सार्वजनिक विभाग था। उसका काम सड़कें बनवाना, सड़कों के किनारे सरायें बनवाना था। यात्रियों की सुविधा और रक्षा का भी प्रबन्ध होता था। सरायों के पास बाजार लगवाये जाते थे। नदियों पर नाव और पुल बनवाये जाते थे। उस समय व्यापार की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था।

शिक्षा का प्रबंध—अकबर स्वयं पढ़ा-लिखा नहीं था, पर उसका मानसिक स्तर और दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। उसने अपनी रुचि के अनुसार अनेक विद्यालयों की स्थापना करवायी। राजकुमारों के लिए पुर्तगाली भाषा का एक स्कूल राजधानी में खोला गया था। जिसमें जेसुइट पादरी अध्यापन कार्य करते थे। गरीब विद्यार्थियों को राज्य की ओर से मदद दी जाती थी। कुछ मेधावी छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती थीं। फारसी पढ़ना अनिवार्य था। फतेहपुर-सीकरी में एक बालिका-विद्यालय भी चलता था।

सूबों का शासन—शासन की सुविधा के लिए सम्राट ने अपने साम्राज्य को १८ सूबों में विभाजित किया था। प्रत्येक सूबे का सबसे बड़ा अधिकारी **सूबेदार** होता था। वह सम्राट द्वारा नियुक्त किया जाता था। सूबेदार अपने सूबे के प्रशासन और सेना दोनों का प्रधान होता था। उसका काम अपने सूबे में सम्राट जैसा ही था। वह भी अपने सूबे के मुकदमों की अपील सुनता था, सम्राट की आज्ञा से युद्ध या संधि करता था, कुछ उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त अपने प्रान्त में अन्य सब कर्मचारियों की नियुक्ति करता था, वह गुप्तचर नियुक्त करता था जो प्रान्त की खबरें उसे दिया करते थे। सम्राट के सब प्रकार के फरमानों का समुचित ढंग से पालन करना उसका कर्तव्य था। वह अपने प्रान्त के राजकर्मचारियों की तरक्की के लिए सम्राट के पास सिफारिश भेजता था। लगान वसूली की जिम्मेदारी भी उस पर थी।

और उसे आदेश था कि वह प्रजा की भलाई और कृषि की उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे।

सूबे में दूसरा प्रमुख अधिकारी **दीवान** था जो सूबे में माल विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी होता था। दीवान की नियुक्ति भी सम्राट स्वयं करता था और वह सीधे सम्राट के ही प्रति उत्तरदायी होता था। इस प्रकार दीवान और सूबेदार एक दूसरे की मातहती में नहीं थे, बल्कि समकक्ष अधिकारी थे। उसका मुख्य काम आय-व्यय तथा माल सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करना था। माल विभाग के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति भी उसी के हाथ में थी।

सूबे के अन्य पदाधिकारियों में **आमिल** का स्थान भी महत्वपूर्ण था। उसका मुख्य काम लगान वसूल करना था, पर वह अपने क्षेत्र में शांति और व्यवस्था रखने में भी मदद करता था और लगान वसूल कर राजकोष में भेजता था।

सब प्रमुख नगरों में पुलिस का प्रधान कोतवाल होता था। नगर में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना उसका मुख्य काम था। अपराधों का पता लगाना, चोरी डाके को रोकना, बाहर से आने वालों का विवरण रखना, तोल-बाँट का निरीक्षण करना आदि उसके काम थे। इन विविध कार्यों में उसकी मदद के लिए उसकी मातहती में अन्य कर्मचारी होते थे।

जिले का प्रबन्ध—अकबर के समय में उसके सूबे शासन की सुविधा के लिए 'सरकार' (जिला) में विभक्त थे। सरकार को पुनः 'महाल' (परगना) और प्रत्येक महाल को पुनः गाँवों में बाँट दिया गया था। सरकार अर्थात जिले का शासक **फौजदार** होता था। लगभग उसे उस समय वही काम करने पड़ते थे जो आज कल जिला में कलक्टर को करने पड़ते हैं। अपने क्षेत्र में शान्ति-सुव्यवस्था रखना, अपराधों को रोकना, अपराधियों को दण्ड देना, अन्य राजकीय उत्तरदायित्व का निर्वहन करना फौजदार के काम थे। इन कार्यों में उसकी सहायता के लिए कोतवाल; आमिल, पोतदार आदि कर्मचारी होते थे। **कानूनगो** परगने का और **मुकद्दम** गाँव का प्रधान होता था।

गाँव का प्रबन्ध—शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे। कुछ गाँवों में लगान वसूल करने का काम जमींदारों का था और कुछ गाँवों से सरकारी कर्मचारी स्वयं लगान वसूल करते थे। प्रथम श्रेणी के गाँव जमींदारी और दूसरे प्रकार के गाँव रैयतवाड़ी कहलाते थे। गाँव का प्रधान अधिकारी **मुकद्दम** होता था। उसका सम्पर्क सरकार और गाँव दोनों से था। उसे कुछ रुपये सरकार से मिलते थे। प्रायः वह प्रतिष्ठित और अच्छे परिवार का व्यक्ति होता था और गाँव में उसका रोब-दाब रहता था। गाँव में लगान वसूली के कार्य में वह सरकारी कर्मचारियों की मदद करता और शान्ति-सुव्यवस्था के काम में तत्पर रहता था। गाँव के मामूली झगड़ों का निपटारा भी वह करता था। गाँव से सम्बन्धित अन्य कर्मचारियों में पटवारी और थानेदार मुख्य थे।

अकबर की धार्मिक नीति और दीन इलाही—अकबर जिज्ञासु और उदार प्रकृति का व्यक्ति था। उसमें धार्मिक कट्टरपन और संकुचित भाव का लेशमात्र भी नहीं था। धार्मिक द्वेष और पक्षपात को देखकर उसे दुख होता था। उसका हृदय सत्य और शान्ति की खोज करने वाला था, इस दृष्टिकोण से अकबर अपने सब पूर्ववर्ती सम्राटों से आगे था। अकबर की इस विशेषता के पीछे कई शक्तियाँ काम कर रहीं थीं। अकबर के पूर्वज कभी भी धर्मान्ध नहीं रहे। तैमूर, बाबर, हुमायूँ के लिए भी धार्मिक कट्टरपन और संकुचित दृष्टिकोण का दोष नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार अकबर के रक्त में उदारता के कण थे। अकबर के शिक्षक और संरक्षक भी उदार विचार वालेथे। बैरम खाँ और अब्दुल लतीफ के नाम इस सम्बन्ध में पेश किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अकबर पर सूफी सन्तों, राजपूत मित्रों, हिन्दू रानियों, धार्मिक वाद-विवादों और राष्ट्रीय भावनाओं का भी अच्छा और अनुकूल प्रभाव पड़ा था जिससे अकबर का दृष्टिकोण व्यापक बन गया था। सन् १५७५ ई० में सम्राट ने फतेहपूर सीकरी में धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों पर विवाद करने के लिए एक "इबादतखाना" अर्थात् पूजागृह की स्थापना की थी जहाँ सभी धर्मों के आचार्य एकत्रित हो धर्म के जटिल प्रश्नों

पर वाद-विवाद करते थे और अकबर बड़े प्रेम से उन्हें सुनता था। इन विविध प्रभावों की छाया और प्रेरणा में अकबर के विचार क्रमशः बदलते गये और अन्त में उसने सब धर्मों के उच्च विचारों और उपदेशों के समन्वय स्वरूप सन् १५८१ ई० में 'दीन-इलाही' की घोषणा की।

दीन-इलाही के सिद्धान्त—दीन-इलाही में प्रायः सब प्रमुख धर्मों के मूल सिद्धान्त शामिल किये गये थे। सब विरोधी तत्वों को काट-छाँट कर इसे सर्वमान्य बनाने की कोशिश की गयी थी। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

(१) ईश्वर एक है और अकबर उसका सर्वोच्च पैगम्बर है।

(२) इस धर्म के माननेवालों को मांस नहीं खाना चाहिए। सबके साथ भलाई करनी चाहिए।

(३) इसमें सूर्य और अग्नि की उपासना करनी पड़ती थी।

(४) प्रत्येक रविवार को सम्राट इस धर्म की दीक्षा दिया करता था।

वास्तव में दीन इलाही कोई नया मत या धर्म नहीं था। इसमें उन सब को शामिल होने की सहूलियत थी जो सम्राट के सिद्धान्तों तथा विचारों से सहमत थे। इस धर्म के अनुयायी आपस में मिलने पर "अल्लाहो अकबर" और "उल्लजल्लालहू" कह कर अभिवादन करते थे। प्रत्येक सदस्य को सम्राट के प्रति अटूट भक्ति रखनी पड़ती थी। उन्हें सम्राट के लिए अपनी सम्पत्ति, जीवन, सम्मान तथा धर्म को अर्पित करने के लिए उद्यत रहना पड़ता था।

दीन-इलाही का प्रचार—अकबर ने अपने इस धर्म के प्रचार में भी अपनी व्यापक उदारता का परिचय दिया। उसने किसी को इसे मानने के लिए बाध्य नहीं किया। कहा जाता है कि इस धर्म के मानने वालों की संख्या केवल १८ थी। उनमें से मुख्य अबुल फजल, फैजी, मिर्जा जानी तथा बीरबल थे। राजा भगवान दास और मानसिंह ने इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया, पर अकबर ने इसका जरा भी बुरा नहीं माना। अकबर

कभी किसी पर इस धर्म के मानने के लिए किसी प्रकार के प्रलोभन या दबाव का सहारा नहीं लिया।

कुछ विद्वानों ने दीन-इलाही चलाने के प्रयास की तीव्र आलोचना की है। उनका कहना है कि सम्राट ने गर्व और अहंकार से प्रेरित होकर दीन-इलाही की स्थापना की थी। वे इस प्रयास को अव्यावहारिक और उपाहासास्पद मानते हैं। इसकी अफसलता ही इस प्रयास की मूर्खता को सिद्ध करती है। सम्राट का पैगम्बर बनना इस मत की सबसे बड़ी कमजोरी थी क्योंकि भारत में आजतक किसी शासक ने इस प्रकार का प्रयास कर कभी सफल होने का उदाहरण उपस्थित नहीं किया है। पर इतिहासकारों का एक दूसरा दल अकबर के इस प्रयास को बुरा नहीं मानता है। उनका कहना है कि सम्राट एक नम्र और उदार स्वभाव का व्यक्ति था और "यह मत केवल बौद्धिक प्रकाश द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों का एक समुदाय मात्र था।" इस मत के प्रचार से उस समय एक ऐसा वातावरण पैदा हुआ जो राष्ट्रीय राजतंत्र के लिए आवश्यक था और जिससे सदियों के धार्मिक द्वेष और पक्षपातपूर्ण ग्रंथियों को दूर करने में मदद मिली। यदि अकबर की उस नीति का अनुसरण और कुछ दिनों तक किया गया होता तो निसन्देह भारत की राष्ट्रीय एकता का भविष्य ठोस और विघ्न-रहित हुआ होता। वास्तव में राष्ट्र-निर्माण के लिए इस प्रकार की विचार-धारा का प्रचार पहला कदम है। हिन्दू-मुसलमानों को एक बनाने और भारतीयों के दृष्टकोण को व्यापक बनाने के लिए ऐसे प्रयास की आवश्यकता थी। दीन-इलाही के अधिक प्रचार न होने और केवल १८ व्यक्तियों तक ही इसकी सदस्यता सीमित रहने के बाद भी इसने जिज्ञासा की जो उदार भावना पैदा की, वह प्रेरणा के न होते हुए भी कुछ दिनों तक इस देश में चलती रही। इस मत का उद्देश्य एक राष्ट्रीय धर्म की स्थापना, समन्वयवाद को बल देना, तुच्छ और क्षुद्र धार्मिक भावनाओं को दूर कर सहिष्णुता का वातावरण स्थापित करना और देश में राजभक्ति का वातावरण पैदा करना था। यदि अकबर अपने इस मत का प्रचार राजशक्ति के प्रभाव तथा दबाव से करता तो वह अपने उद्देश्य से च्युत हो जाता और उसके विरुद्ध विद्रोह और आतंक

का वातावरण पैदा हो जाता। अतः दीन-इलाही के सम्बन्ध में अकबर की नीति और प्रयास को धर्म-प्रणेता और प्रचारक के रूप में नहीं, बल्कि राज-नीति और राष्ट्र-निर्माता की दृष्टि से समझना चाहिए।

अकबर का व्यक्तित्व और उसकी महानता—अकबर के व्यक्तित्व और चरित्र में इतने गुण थे और वह इतना महान था कि भारत के ही नहीं, वरन विश्व के इतिहास में उसकी गणना महान शासकों में की जाती है। उसका शारीरिक अंग-विन्यास सम्राट्-जैसा ही था। उसका ललाट ऊँचा, उसकी भुजाएँ लम्बी, उसका कद मझोला और आँखें चमकीली थीं। उसका रंग गेहुँआ और शरीर औसत दर्जे का था। उसकी आवाज बुलन्द थी। वह बलवान और परिश्रमी था और एक दिन में अजमेर से आगरा २४० मील अपने घोड़े पर सवार होकर चला आया था। युद्ध में वह अधिक परिश्रम करता था। उसकी वेश-भूषा आकर्षक और प्रभावशाली थी।

अकबर का दैनिक जीवन नियमित और संयमी था। नियमित आहार-विहार, नियमित सोना-उठना, संयमित वाद-विवाद उसके गुण थे। वह सदा सतर्क रहता था और बहुत कम क्रोध करता था। प्रसन्नचित और स्नेहमय स्वभाव से वह अपनी ओर मिलने-जुलने वालों को आकर्षित करता था। हास्य और मनोविनोद का बहुत शौकीन था। मनहूसियत उसके पास फटकती ही नहीं थी। आखेट से उसे विशेष अभिरुचि थी।

अकबर सम्भवतः निरक्षर ही था, पर उसमें विद्या-प्रेम और स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। वह जटिलतम समस्याओं को शीघ्र समझ लेता था और सही निर्णय कर लेता था। समय पर कुशाग्र बुद्धि ही उसकी सहायक होती थी। इस विषय में उसकी प्रतिभा अलौकिक थी और उसकी तर्क-शक्ति का लोहा बड़े-बड़े विद्वान भी मानते थे। साथ ही उसकी बुद्धि प्रयोगात्मक थी और उसके प्रत्येक कार्य में उसकी व्यावहारिक चातुरी का पुट रहता था।

अकबर का साहित्य और कला-प्रेम आदर्श था। भिन्न-भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकें उसके समक्ष पढ़ी जाती थीं, ऊँचे-से-ऊँचे विद्वान उसके समक्ष तर्क करते थे और सम्राट कभी घबड़ाता नहीं था, अरुचि नहीं प्रकट

करता था; बल्कि धैर्य के साथ वाद-विवाद में भाग लेता था। उसके पास उत्कृष्ट पुस्तकों का अच्छा संग्रह था। कला और संगीत का वह प्रेमी था। तत्कालीन संगीत-शिरोमणि तानसेन उसकी कृपा और सम्मान का पात्र था।

अकबर स्वभाव से ही धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति था, पर तत्कालीन धार्मिक कट्टरता और स्वार्थ उसे छू तक नहीं गये थे। वह धर्म को सत्य की खोज का साधन मानता था। सभी धर्मों के प्रति समान आदर के भाव उसके मन में थे। अबुल फजल के शब्दों में "सम्राट के जीवन का प्रत्येक क्षण आत्मान्वेषण तथा ईश्वर की उपासना में व्यतीत" होता था।

इन विविध गुणों के कारण अकबर संसार के इतिहास में एक महान सम्राट समझा जाता है। "वह एक साहसी सैनिक, महान विजेता, महत्वाकांक्षी साम्राज्य निर्माता, कुशल तथा प्रजा पालक शासक, साहित्य तथा कला का प्रेमी और विद्वानों तथा कवियों का आश्रयदाता था। उसका व्यक्तित्व बहुत उन्नत तथा प्रभावशाली था। उसका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक तथा तर्क-पूर्ण था।" सन् १५५६ ई० में उसके पास कुछ भी नहीं था। कुछ दिनों बाद दिल्ली और आगरा पर उसका अधिकार हुआ और फिर धीरे-धीरे अपनी बुद्धि, उत्साह, योग्यता और कार्यकौशल के कारण उसने एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया जिसकी नींव अत्यन्त दृढ़ और ठोस हो गयी। वह योग्य व्यक्तियों के परख में बेजोड़ था और सदा अपनी सेना के लिए योग्यतम तथा विश्वासपात्र सेनापतियों को नियुक्त करता था। समय आने पर वह स्वयं सैन्य-संचालन करता था और युद्ध में वीरता और कूटनीति दोनों से काम लेता था। अतः जीवन में कहीं भी उसे असफल नहीं होना पड़ा।

अकबर केवल एक महान विजेता और युद्ध-विशारद ही नहीं था, साथ ही वह एक सफल शासक भी था। उसने जैसे उदार राजतन्त्र की कल्पना की थी, शासन के जितने अच्छे एवं उपयोगी प्रयोग किए थे, जैसा राष्ट्रीय दृष्टिकोण उसने अपनाया था, वे सब उसकी योग्यता और बुद्धिमत्ता के परिचायक हैं। उसका शासन आत्म-सुख तथा स्वार्थ-साधन के लिए नहीं था, वह सदा प्रजानुरागी और प्रजा-रंजक होना चाहता था। धार्मिक पक्षपात की दुर्गन्ध उसकी

प्रशासकीय नीति में नहीं थी। उसकी दृष्टि में उसकी सब प्रजा समान थी और उसने कभी हिन्दू-मुसलमान में भेद-भाव नहीं किया। साम्राज्य-विस्तार और सुगठित शासन का ऐसा सुन्दर सामंजस्य अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है।

अकबर की विचार-शैली समय से आगे थी। वह भारत का पहला मुसलमान शासक था जिसने यह समझ लिया कि इस देश में स्थायी और दृढ़ साम्राज्य स्थापित करने के लिए हिन्दुओं का सहयोग तथा सद्भावना प्राप्त करना अनिवार्य है। इसके अभाव में सारा प्रयास और पूरी इमारत चकनाचूर हो जायगी। अतः उसने व्यापक निष्पक्ष और उदार, नीति से सबको अपनी ओर खींचने का प्रयास किया। भारत को एक राष्ट्र में संगठित करने के लिए समन्वय की जरूरत थी और इस दिशा में सम्राट ने भगीरथ प्रयास किया। अपने जीवन में अन्य धर्मावलम्बियों की अनेक बातें अपनाकर, धार्मिक वाद-विवाद गृह की स्थापना कर और दीन इलाही चला कर अकबर ने तत्कालीन विचारधारा और जन-जीवन में एक नयी धारा बहा दी। "अकबर अपने समकालीन तुलसीदास की भाँति महान समन्वयकारी था। उसका सम्पूर्ण शासन-काल इस समन्वय की विराट चेष्टा है और इसी में अकबर की महानता परिलक्षित है।"

इन सब बातों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट है कि "अकबर में नैपोलियन की रण-चातुरी, अशोक की करुणा और दया, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की गुण ग्राह्यता, अलाउद्दीन और शेरशाह की शासन-पटुता तथा एलिजाबेथ की कूट-नीति का एक साथ और एक स्थान पर सुन्दर सामंजस्य था। वह मनुष्यों का जन्म-सिद्ध नेता और शासक था। वह साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और संगठनकर्ता था। वह मुगल साम्राज्य के स्वर्णयुग का प्रतीक था। पचास वर्ष के राज्यकाल में उसने एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया जो किसी अधिक-से-अधिक शक्तिशाली साम्राज्य से होड़ कर सकता था। उसने एक राज्य की स्थापना की जिसको चुनौती देने वाला सौ वर्ष तक कोई नहीं हुआ।" डा० स्मिथ के शब्दों में "अकबर संसार के महानतम शासकों में उच्च स्थान पाने का अधिकारी है। यह अधिकार उसे अपनी अलौकिक

प्राकृतिक प्रतिभा, मौलिक विचारों तथा गौरवपूर्ण कार्यों के आधार पर प्राप्त है।" वास्तव में अकबर हर दृष्टि से महान था।

अकबर का विद्या-प्रेम और उसके नवरत्न—अकबर पढ़ा-लिखा नहीं था, पर उसमें प्रतिभा थी और उसके आस-पास अद्वितीय विद्वानों का समागम था। उसके दरबारियों में नौ-रत्न थे जो अपनी प्रतिभा और योग्यता के कारण विक्रमादित्य के नौ-रत्नों की तरह प्रसिद्ध थे। वे विद्वान इस प्रकार थे—

(१) अब्दुर्रहीम खानखाना—वह बैरम खाँ के पुत्र थे और सम्राट के विशेष कृपा-पात्र थे। आप बहुत बड़े विद्वान थे और तुर्की में लिखित 'बाबरनामा' का फारसी में आपने अनुवाद किया था। आप के हिन्दी के दोहे भी बड़े चाव से पढ़े जाते हैं। विद्वान होने के साथ-साथ आप योग्य सेनापति भी थे और गुजरात के युद्धों में अपनी बहादुरी से सम्राट को प्रसन्न किया था। उसी कारण से आप को 'खानखाना' की उपाधि मिली थी।

(२) अबुल फजल—आप का जन्म सन् १५५१ ई० में आगरे में एक स्वतन्त्र विचारक के परिवार में हुआ था। अबुल फजल अपनी प्रतिभा के कारण सम्राट के सम्पर्क में आते ही उनके प्रिय और अभिन्न हो गये। आपने 'आइन अकबरी' और 'अकबर नामा' दो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जो इनकी योग्यता के परिचायक हैं। आप एक कुशल योद्धा भी थे। सन् १६०२ ई० में दक्षिण से आगरा लौटते समय शाहजादा सलीम ने इन्हें मरवा डाला इनकी हत्या करा दी जिससे अकबर को बहुत दुख हुआ।

(३) शेख फैजी—आप अबुल फजल के बड़े भाई थे। आप एक उच्चकोटि के कवि और लेखक थे। सम्राट की आप पर बड़ी कृपा थी। अपनी स्वतन्त्र विचार-शैली से सम्राट की धार्मिक भावनाओं को बहुत प्रभावित किया। आप फारसी के अद्भुत विद्वान थे।

(४) मिर्जा तानसेन—आप ग्वालियर के निवासी और अद्भुत संगीतज्ञ थे। अकबर के दरबार में तानसेन की बड़ी प्रतिष्ठा थी। सन् १५८६ ई० में

आप का स्वर्गवास हुआ। आप सूरदास के मित्र थे। बाद को आपने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया।

(५) राजा मानसिंह—आप अम्बर और जयपुर के राजा भगवान दास के दत्तक पुत्र थे। आपके परिवार से अकबर का वैवाहिक सम्बन्ध हुआ और आप सम्राट के अभिन्न और विश्वासपात्र हो गये। आपने सम्राट की ओर से अनेक युद्धों में भाग लिया और काबुल तथा बंगाल के शासक के पद पर कार्य किया।

(६) राजा टोडर मल—आप का जन्म अवध के एक गाँव में हुआ था। आप ने शेरशाह के समय में ही अपनी योग्यता का परिचय दिया था। अकबर ने आप की प्रतिभा से प्रभावित होकर आप को 'वकील' के पद पर नियुक्त किया। अकबर के शासन-काल में भूमि-सुधार की योजना को सफल बनाने का पूरा श्रेय आप ही को है। आपने दीन इलाही स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था।

(७) राजा बीरबल—आप का जन्म सन् १५२८ ई० में कालपी में हुआ था। आप एक साधारण ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। अपने विनोद-प्रिय स्वभाव के कारण आप अकबर के प्रिय बन गये। केवल आप ही एक ऐसे हिन्दू थे जिन्होंने दीन इलाही स्वीकार किया था। सम्राट ने आपको जागीरें दी थीं। आप एक कुशल सैनिक भी थे। सन् १५८६ ई० में यूसुफजाई कबीले से युद्ध करते समय आपकी मृत्यु हो गयी।

(८) मुल्ला—आप अरब के निवासी थे और हुमायूँ के शासन-काल में भारत आये थे। अपनी बुद्धिमता और वाक्-पटुता के कारण आप सम्राट के कृपा-पात्र बन गये।

(९) हकीम हुमाम—आप सम्राट के घनिष्ठ मित्र थे और विश्वास-पात्र थे। सम्राट के रसोई घर का पूरा प्रबन्ध आपके ही अधिकार में था।

साहित्य और कला का सृजन—अकबर स्वयं जिज्ञासु और विद्वानों का आदर करनेवाला था। उसके शासन-काल में सुव्यवस्था और शान्ति थी। लोगों की आर्थिक दशा अच्छी थी। अतः इस काल में साहित्य

और कला के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। अबुल फजल ने 'अकबरनामा' और 'आइने अकबरी' नाम के दो ग्रंथ लिखे। इनसे तत्कालीन इतिहास का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता। इसी समय सम्राट की प्रेरणा से 'तारीखे अलफी' नाम का एक वृहत ऐतिहासिक ग्रंथ लिखा गया जिसमें अकबर के पूर्व एक हजार वर्ष तक का इतिहास लिखा गया। इसी काल में बदाऊनी ने 'तारीखे बदाऊनी' नाम का ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा। निजामुद्दीन कृत 'तबकाते अकबरी' भी इसी काल का ग्रन्थ है।

अकबर के शासन-काल में अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में हुआ। रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, कादम्बरी आदि का अनुवाद इस युग की विशेषता है। फारसी का प्रसिद्ध विद्वान लेखक फैजी अकबर के नवरत्नों में से था जिसने गीता का फारसी में अनुवाद किया। सूफी सन्तों ने इस युग में भक्ति और दर्शन की अनेक रचनाएँ कीं।

अकबर का शासन काल हिन्दी भाषा की उन्नति की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण था। सूरदास, तुलसीदास, रहीम, केशव इस युग के उज्ज्वल रत्न हैं जिनके बिना हिन्दी निर्धन रह गयी होती। सूर के गेय पद्य, तुलसी का राम-साहित्य, रहीम के दोहे और केशव की राम चन्द्रिका हिन्दी साहित्य की अनुपम देन हैं। इस प्रकार की साहित्यिक देन से अकबर के शासन का बहुत महत्व बढ़ गया है।

संगीत और चित्रकारी के क्षेत्र में भी अकबर का शासन-काल स्मरणीय है। युग-गायक तानसेन इसी युग की देन है जिसके जोड़ का गायक आजतक नहीं हुआ। अकबर के दरबार में चित्रकारों का भी समान रूप से सम्मान होता था। उस समय का प्रसिद्ध चित्रकार अब्दुस समद था जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह पोस्ते के दाने पर कुरान की पूरी आयत लिख लेता था। हिन्दू कलाकारों में बसावन और दसवन्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, ये सम्राट के बड़े कृपा पात्र थे और ये रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों की कथाओं का चित्रमय रूप देने में बहुत प्रवीण थे।

इमारतों के निर्माण में भी इस युग में विशेष क्रियाशीलता रही। मुस्लिम शैली की इमारतों में हुमायूँ का मकबरा और फतेहपुर सिकरी का

बुलन्द दरवाजा अधिक प्रसिद्ध है। हिन्दू शैली के उदाहरण के लिये फतेहपुर में जोधबाई का महल, आगरे के किले का जहाँगीरी महल, मथुरा का सती बुर्ज (जिसे जयपुर के राजा बिहारी मल की स्त्री की स्मृति में १५७० में बनवाया गया था) आदि इमारतों का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों शैलियों के मिश्रण का नमूना फतेहपुर-सीकरी की इमारतों में देखने को मिलता है। राजा बीरबल का महल, इबादत-खाना, दीवाने खास तथा ग्वालियर का मुहम्मद गौस का मकबरा इस युग की मिश्रित शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। साहित्य और कला की दृष्टि से भी अकबर का शासन-काल शानदार और महत्वपूर्ण है। इन्हीं कारणों से अकबर का शासन-काल भारतीय इतिहास में विशेष महत्व रखता है। संसार के इतिहास में उसका स्थान सदैव ऊँचा रहेगा और आगे आने वाली पीढ़ियाँ उसका नाम आदर के साथ याद करेंगी।

एकतीसवाँ अध्याय

जहाँगीर और शाहजहाँ

जहाँगीर (सन् १६०५—१६२७ ई०)

जहाँगीर का सिंहासन पर बैठना—अकबर की मृत्यु के बाद राजकुमार सलीम, नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी के नाम से, ३६ वर्ष की अवस्था में २४ अक्टूबर सन् १६०५ ई० को मुगल साम्राज्य का बादशाह हुआ। गद्दी पर बैठते ही जहाँगीर ने मुसलमानों को सन्तुष्ट रखने के लिए यह घोषणा की कि वह कभी इस्लाम के प्रतिकूल कोई काम नहीं करेगा। पर साथ ही यह भी विश्वास दिलाया कि राजनीति के मामलों में वह अकबर का अनुसरण करेगा। वह उदार स्वभाव का व्यक्ति था और गद्दी पर बैठते ही उसने १२ आदेश निकाले जिनके अनुसार कुछ कर माफ कर दिये गये, *सड़कों पर चोरी-डकैती रोकने के लिए कड़े नियम बनाये गये*, मृत-व्यक्तियों की सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार के उदार नियम बने, मादक वस्तुओं पर रोक लगा दी गयी, मनसबदारों और जागीरदारों के पद स्थायी बना दिये गये और कतिपय कैदियों को मुक्त कर दिया गया।

खुसरो का विद्रोह (सन १६०६ ई०)—खुसरो जहाँगीर का प्रथम पुत्र था। उसकी माता आमेर के राजा भगवान दास की पुत्री मानबाई थी जिसकी शादी जहाँगीर के साथ सन् १५८५ ई० में हुई थी। खुसरो होनहार और चरित्रवान लड़का था। अकबर के शासन काल में जब सलीम (जहाँगीर) ने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था तब कुछ लोगों को यह आशा हो गयी थी कि खुसरो को सम्राट अकबर अपना उत्तराधिकारी बनायेगा। पर उस समय ऐसा न हो सका। जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के बाद भी कुछ लोग खुसरो को आगरा का बादशाह बनाना चाहते थे। ऐसे व्यक्तियों में

मानसिंह और अजीज कोका प्रमुख थे। इन्हीं लोगों के प्रभाव से जहाँगीर और उसके पुत्र खुसरो में मनमुटाव बढ़ता गया। सन् १६०६ ई० में कुछ सवारों को लेकर खुसरो किले के बाहर निकल गया और उसने प्रत्यक्ष रूप से विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। वह पंजाब में गया और उसने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। पंजाब में सिक्खों के गुरु अर्जुन ने उसे आशीर्वाद दिया और उसके लिए शुभ कामना प्रकट की। पर जहाँगीर स्वयं उसका पीछा करता हुआ पंजाब पहुँच गया और उसे परास्त कर कैद कर लिया। बादशाह ने खुसरो के साथियों को बहुत कठोर दण्ड दिया और गुरु अर्जुन को फाँसी दी गयी और उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली गयी। जहाँगीर के इस कार्य से सिक्ख बहुत नाराज हुए और मुगल बादशाह के कट्टर शत्रु हो गये। खुसरो को अन्धा कर जेल में डाल दिया। इसके बाद इस शाहजादे का जीवन कष्टमय रहा। सन् १६२२ ई० में शाहजादा खुर्रम ने उसे मरवा डाला। उसके मृतक शरीर को दक्षिण के किसी अपरिचित कब्र से निकाल कर प्रयाग लाया गया और खुसरो बाग में पुनः दफनाया गया।

नूरजहाँ—जहाँगीर के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना नूरजहाँ के साथ उसका विवाह है। नूरजहाँ तेहरान निवासी मिर्जा गयास बेग की पुत्री थी। दुर्दिन का मारा मिर्जा गयास अकबर के शासन-काल में आगरा आया था। मार्ग में ही उसकी पत्नी को एक पुत्री हुई जो आगे चल कर नूरजहाँ के नाम से भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हुई। उसके बचपन का नाम मिहरुन्निसा था। उसका पिता अकबर की कृपा से एक अच्छे पद पर नियुक्त हुआ। नूरजहाँ जब सयानी हुई तो उसका विवाह अलीकुली (शेर अफगान) नामक एक विदेशी मुसलमान के साथ हुआ। वह बंगाल का जागीरदार बनाया गया। उन दिनों बंगाल विद्रोह का अड्डा हो रहा था। कुछ दिनों बाद जहाँगीर को मालूम हुआ कि अली कुली भी सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करने का षड्यंत्र कर रहा है। अतः उसे सजा देने की तैयारी की गयी। बंगाल के सूबेदार ने सम्राट की आज्ञा से अलीकुली को कैदी बनाना चाहा, पर उस मार-पीट में अलीकुली मारा गया। नूरजहाँ आगरा भेज दी गयी। वह बहुत सुन्दरी थी। सन् १६११ ई० में उसके रूप लावण्य पर मुग्ध होकर

जहाँगीर ने उसके साथ विवाह कर लिया और उसे 'नूरजहाँ' की उपाधि से विभूषित किया।

नूरजहाँ एक बुद्धिमती और कार्यकुशल स्त्री थी। उसमें साहस, मानसिक प्रतिभा, कला प्रेम, उदारता, महत्वाकांक्षा और व्यवहारकौशल कूट-कूट कर भरा था। जहाँगीर के साथ शादी होने के बाद उसका प्रभाव शासन-क्षेत्र में व्यापक और गहरा होने लगा। नूरजहाँ ने क्रमशः अपना प्रभाव बढ़ाया और शासन की सर्वेसर्वा बन गयी। "जहाँगीर शासन का सारा काम उसी पर छोड़कर ऐश-आराम में डूबा रहता था। वास्तव में नूरजहाँ राज्य की मलका बन गयी। सिक्कों और शाही फरमानों पर उसका नाम निकलता था। बड़े-बड़े अमीर अपनी उन्नति के लिए उसकी कृपा प्राप्त करने का उद्योग करते थे।

राजकाज में नूरजहाँ अपने पिता, भाई और दामाद की राय के अनुसार काम करती थी। धीरे-धीरे नूरजहाँ का गुट प्रबल होता गया और यह बात दरबार के अन्य अमीरों और पदाधिकारियों को बुरी लगने लगी। उनमें असन्तोष फैला। इस असन्तुष्ट दल का नेता महावत खाँ था। महावत खाँ ने खुसरो का पक्ष लिया और नूरजहाँ खुर्रम में दिलचस्पी लेती थी। दोनों दलों में कुछ दिनों तक विरोध चलता रहा। सन् १६२२ ई० में इसी दलबन्दी के फल-स्वरूप शाहजादा खुसरो की हत्या की गयी। इस प्रकार अपने इस नये जीवन के प्रथम ११-१२ वर्षों में नूरजहाँ सफल होती गयी।

शाहजहाँ का विद्रोह (सन् १६२२—२५ ई०)—जहाँगीर के चार पुत्र थे—खुसरो, परवेज, खुर्रम * तथा शहरयार। खुसरो किस प्रकार जहाँगीर का अप्रिय बन गया और किस प्रकार उसकी जीवन-लीला सन् १६२२ ई० में समाप्त हुई, यह ऊपर लिखा जा चुका है। परवेज बिल्कुल अयोग्य और विलासी था। अतः उसके सिंहासन पर बैठने का प्रश्न ही नहीं था। खुर्रम अपने भाइयों में योग्य और प्रतिभावान था। जहाँगीर उसीको अपना उत्तराधिकारी

---

*खुर्रम बाद को शाहजहाँ के नाम से बादशाह हुआ।

बनाना चाहता था। पहले नूरजहाँ भी खुर्रम के पक्ष में थी। पर बाद में दोनों में अनबन हो गयी। अतः नूरजहाँ शहरयार के पक्ष में हो गयी और उसे गद्दी का उत्तराधिकारी बनाने का उपक्रम करने लगी। वह इस प्रकार की राय जहाँगीर को देती थी जिससे शाहजहाँ को राजधानी से दूर रहना पड़े। उसने अपने प्रथम पति से पैदा हुई पुत्री का विवाह शहरयार के साथ कर दिया। इन सब बातों से शाहजादा खुर्रम सशंकित रहने लगा। इसी समय नूरजहाँ ने बादशाह से कह कर खुर्रम को कन्दहार के विद्रोह को दबाने के लिये वहाँ जाने का आदेश दिलाया। शाहजहाँ नूरजहाँ की नियत पर संदेह करता था, अतः उसने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। इसके बाद बादशाह उससे बहुत नाराज हुआ और उसकी जागीर छीनने का आदेश दिया। शाहजहाँ ने इसके विरोध में विद्रोह कर दिया। एक फौज की टुकड़ी के साथ उसने आगरा और दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। पर शाही सेना से वह पराजित होकर दक्षिण की ओर भाग गया। अंत में मुसीबतों के मारे शाहजहाँ ने सन् १६२५ ई० में पिता से क्षमा-याचना की। जमानत के तौर पर शाहजहाँ ने अपने दो पुत्र दारा और औरंगजेब को एक लाख रुपये की भेंट के साथ सम्राट के पास दरबार में भेज दिया। वह स्वयं शांत हो नासिक में रहने लगा।

महाबत खाँ का विद्रोह—नूरजहाँ की बढ़ती हुई शक्ति से महाबत खाँ सशंकित था। वह एक शक्तिशाली अमीर था। नूरजहाँ उसे अपने मार्ग से हटाना चाहती थी। महाबत खाँ ने राज्य की बड़ी सेवाएँ की थी, पर उस पर नूरजहाँ के उसकाने से गबन का अभियोग लगाया गया। उसे दरबार में हाजिर होने का आदेश दिया गया, पर महाबत खाँ ने इसमें अपना अपमान समझकर विद्रोह कर दिया। उस समय जहाँगीर झेलम के तट पर कैम्प डाले था। महाबत खाँ ने अन्य लोगों से मिलकर बादशाह को कैदी बना लिया। नूरजहाँ ने इस समय बड़ी होशियारी से काम किया। प्रथम तो उसने अपने पति को कैद से मुक्त कराने की कोशिश की, पर सफलता न मिलने पर पति के साथ स्वयं कैदी बन कर रहना पसन्द किया। महाबत खाँ भी इस बात पर राजी हो गया और बाद को चौकसी में ढील-ढाल कर दी गयी। अवसर पाकर नूरजहाँ कैद से पति के साथ निकल गयी और महाबत खाँ परेशानी में

पड़ा। अब कोई चारा न देख महाबत खाँ दक्षिण की ओर भाग गया। क्योंकि वह अपनी स्थिति को समझता था।

प्रान्तीय विद्रोह—जहाँगीर के समय में मुगल साम्राज्य की सीमा में कोई वृद्धि नहीं हुई। पर उसने अकबर के साम्राज्य को ज्यों का त्यों रक्खा और प्रान्तीय विद्रोहों का सफलतापूर्वक दमन किया।

बङ्गाल—का प्रान्त राजधानी से अति दूर होने के कारण प्रायः विद्रोह का केन्द्र बन जाता था। जहाँगीर के समय में भी सन् १६१२ ई० में वहाँ के अफगान नेता उस्मान खाँ ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। मुगल सुबेदार ने बड़े धैर्य के साथ विद्रोहियों का सामना किया और उन्हें पराजित किया। इस प्रकार बंगाल में अफगान राज्य की स्थापना का अन्तिम प्रयास विफल हुआ। इसके बाद अफगानी सरदारों के साथ उदारता की नीति अपनायी गयी और वे मुगल दरबार के भक्त हो गये।

मेवाड़—का झगड़ा पुराना था। राणा प्रताप की मृत्यु के बाद सन् १५९७ ई० में उनका पुत्र अमर सिंह मेवाड़ का राजा हुआ। उसने भी अपने पिता की भाँति मुगलों से युद्ध जारी रखा। इधर जहाँगीर ने भी अकबर की भाँति मेवाड़-विजय की तैयारी में किसी प्रकार की ढिलाई नहीं की। कई बार अमर सिंह को पराजित करने के लिए विश्वासपात्र सेनापतियों के साथ फौजें भेजी गयीं। मुगल फौज ने सब तरह से नाकेबन्दी कर दी। राजपूतों का धैर्य टूटने लगा। अमर सिंह ने आत्म-समर्पण कर दिया। बादशाह ने उसके साथ उदारता और सम्मान का व्यवहार किया। उसने अमर सिंह के पुत्र कर्ण को पाँच हजार का मनसबदार बनाया। राणा को मुगल दरबार में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया गया और उन्हें उनका पुराना किला वापस दे दिया गया। इस व्यवहार से अमर सिंह सन्तुष्ट रहे और मेवाड़ इस समय से औरंगजेब के समय तक मुगल सम्राट का मित्र रहा। मेवाड़ सम्बन्धी नीति से जहाँगीर की बुद्धिमानी प्रकट होती है। बादशाह ने इस विषय में बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया और इसीलिए उसे आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई।

अहमदनगर—अकबर के समय मुगल-साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया गया था। जहाँगीर के समय में अहमदनगर का प्रबन्ध मलिक अम्बर के हाथ में था। वह एक योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति था। धीरे-धीरे उसे स्वतन्त्र होने की सूझी और उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। इस बात की सूचना मिलते ही जहाँगीर ने एक सेना दक्षिण भेजी। प्रारम्भ में मुगलों को अम्बर के विरुद्ध सफलता नहीं मिली। अन्त में शाहजादा खुर्रम वहाँ भेजा गया। उसने मलिक अम्बर को संधि करने पर विवश किया। इसके बाद सन् १६२२ ई० में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी और अहमदनगर पर मुगलों का पूरा अधिकार हो गया। इसी युद्ध की सफलता के बाद जहाँगीर शाहजादा खुर्रम पर बहुत प्रसन्न हुआ था और उसने उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि प्रदान की।

काँगड़ा—का प्रसिद्ध दुर्ग पंजाब में स्थित था। अकबर के समय में भी वहाँ के राजपूतों ने हार नहीं मानी थी। जहाँगीर को यह बात खटक रही थी। उसने सन् १६२० ई० में शाहजहाँ को उस किले पर अधिकार करने के लिए भेजा। शाहजहाँ ने किले का घेरा डाल कर राजपूतों को आत्म-समर्पण करने के लिए विवश किया। इस प्रकार काँगड़ा के प्रसिद्ध दुर्ग पर जहाँगीर का अधिकार हो गया।

कन्दहार का साम्राज्य से निकल जाना—कन्दहार गजनी के दक्षिण में स्थित ऐसा भाग है जहाँ से फारस और मध्य एशिया का रास्ता खुलता है। बाबर ने सन् १५२२ ई० में कन्दहार पर अधिकार कर लिया था बाद को यह प्रदेश फारस के शाह के हाथ में चला गया था, पर अकबर ने इसके महत्व को समझ कर उसे जीत लिया और अपने साम्राज्य का एक अंग बनाया था। अकबर की मृत्यु के बाद फारस के शाह ने पुनः इस पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहा। जहाँगीर को इसकी चिन्ता हुई और उसने शाहजादा खुर्रम को वहाँ जाने का आदेश दिया। पर उन्हीं दिनों नूरजहाँ और खुर्रम में अनबन चल रही थी, अतः खुर्रम ने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। पारस्परिक पारवारिक कलह के कारण फारस के शाह की बन आयी

और कन्दहार का इलाका जहाँगीर के हाथ से निकल गया। इससे मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को बहुत धक्का लगा।

जहाँगीर और यूरोप के यात्री—जहाँगीर के समय में यूरोप की दो जातियों के साथ भारतीयों का सम्पर्क रहा। इस देश में सर्व प्रथम पुर्तगाली व्यापार के लिए आये और पश्चिमी घाट पर अपनी व्यापारिक मण्डियाँ बनायीं। जहाँगीर के समय में इन व्यापारियों ने शाही पदाधिकारियों के साथ उद्दण्डता का व्यवहार किया। इससे जहाँगीर बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने पुर्तगालियों की सब सुविधाएँ बन्द करने का आदेश दिया।

इनके अतिरिक्त इस समय अंग्रेज व्यापारी भी भारत पहुँचे। उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए सुविधा प्राप्त करने के इरादे से मुगल दरबार में अपने प्रतिनिधियों को भेजा जिनमें हाकिंस और सर टामस रो के नाम प्रमुख हैं।

सन् १६०८ ई० में इंगलैंड के सम्राट के दूत के रूप में हाकिंस जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ। वह साथ में मुगल सम्राट के लिए मूल्यवान भेंट लाया था। पुर्तगालियों और जेसुइट पादरियों ने उसका कड़ा विरोध किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। हाकिंस तीन वर्ष तक मुगल दरबार में रहा।

उसके बाद सन् १६१५ ई० में सर टामस रो मुगल दरबार में उपस्थित हुआ। वह भी मुगल दरबार में तीन वर्ष तक रहा, पर हाकिंस की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। उसने जहाँगीर से अंग्रेजों के व्यापार की अनुमति प्राप्त कर ली। इन दोनों यात्रियों ने मुगल दरबार और तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का अच्छा वर्णन किया है। मालूम होता है कि इस समय तक सूबों पर नियन्त्रण और शासन की चुस्ती कुछ ढीली पड़ गयी थी और दरबार तथा राजप्रासाद विलास और प्रमाद अड्डे बन रहे थे।

जहाँगीर का चरित्र—अपने शासन-काल के अंतिम दिनों में जहाँगीर अस्वस्थ रहने लगा। स्वास्थ्य-लाभ के लिए वह काश्मीर गया, पर वहाँ भी कोई सुधार नहीं हुआ। अतः वह निराश होकर वहाँ से लौट आया।

मार्ग में ही १६२७ ई० में जहाँगीर की मृत्यु हो गयी और इस प्रकार उसके २२ वर्षीय शासन का अंत हो गया। अपने शासन के प्रारम्भ में उसने कुछ उदार परिवर्तन किये, पर वे स्थायी नहीं हो सके। बाद को वह आराम-पसन्द हो गया और राज्य का सारा काम नूरजहाँ के हाथ में दे दिया। शासन के विषय में उसने अपने पिता की उदारता की नीति का अनुसरण किया। पर विलासी होने से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और राजकाज में शिथिलता आने लगी। उसके स्वभाव में कुछ विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण था जिसमें उदारता के साथ-साथ वह क्रूर भी हो जाता था। न्याय-प्रिय होकर भी उसके स्वभाव में झक्कीपन की मात्रा अधिक पायी जाती थी। वह शिष्ट भी था और कभी-कभी बर्बरता का मूर्त रूप बन जाता था। क्रोध होने पर वह अपराधियों को अपने सामने हाथियों के पैरों तले रौंदवा देता था।

जहाँगीर में साहित्य-प्रेम था। वह स्वयं एक अच्छा लेखक भी था। उसने 'बाबरनामा' की टिप्पणी लिखी और स्वयं अपना जीवन चरित्र 'तुजके जहाँगीरी' नामक ग्रन्थ में लिखा। वह कविता करता था और उसके दरबार में मिर्जा गयासबेग तथा अब्दुल हक देहलवी जैसे विद्वान आश्रय पाते थे। वह चित्रकला का भी प्रेमी था। इमारत बनवाने का भी शौक था। आगरा में इतमादुद्दौला का मकबरा और लाहौर की प्रसिद्ध इमारत उसकी कला-प्रियता के श्रेष्ठ नमूने हैं। शासक के रूप में भी जहाँगीर का स्थान ऊँचा है। उसने अकबर से प्राप्त साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने का सफल प्रयास किया। बंगाल और दक्षिण के विद्रोहों को दबाया। मेवाड़ की समस्या उसकी बुद्धिमत्ता से अच्छी तरह तय हो गयी और उसने राणा प्रताप के वंशजों को मुगल दरबार का मित्र बना लिया। काँगड़ा के किले पर मुगलों का अधिकार हो गया, केवल कंदहार के मामले में उसे असफलता हुई। इसका प्रधान कारण पारिवारिक कलह ही था। अपनी कुछ स्वभाव-गत दुर्बलताओं के होते हुए भी जहाँगीर ने अकबर की कीर्ति और साम्राज्य की सुरक्षा की।

शाहजहाँ (सन् १६२८—१६५८ ई०)

शाहजहाँ का गद्दी पर बैठना—जहाँगीर की मृत्यु के समय उसके

केवल दो लड़के जीवित थे—एक शाहजहाँ और दूसरा शहरयार। शहरयार को नूरजहाँ गद्दी पर बैठाना चाहती थी, पर शाहजहाँ भी सतर्क था। दोनों शाहजादों में गद्दी के लिए युद्ध हुआ, पर उसमें शहरयार पराजित हुआ और इस प्रकार शाहजहाँ का मार्ग साफ हो गया। शाहजहाँ सन् १६२८ ई० में गद्दी पर बैठा और उसने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को मरवा डाला। नूरजहाँ राज-काज से अलग हो गयी और दो लाख रुपये की सालाना पेंशन उसे दी गयी। वह लाहौर में रहने लगी और वहीं सन् १६४५ में उसकी मृत्यु हुई।

राज विद्रोह—(१) शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद दक्षिण के मुगल सूबेदार खानजहाँ लोदीने सम्राट के विरुद्ध विद्रोहकिया। वह एकअफगान सरदार था और उसकी लालसा पूर्ण स्वतन्त्र होने की थी। नूर-जहाँ ने उसे दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया था। जहाँगीर की मृत्यु के बाद उसने दक्षिण के अन्य सरदारों को अपनी ओर मिलाना शुरू किया। शाहजहाँ ने उसे राजधानी में बुलाकर मैत्री और सद्‌व्यवहार का आश्वासन दिया, पर खानजहाँ को विश्वास नहीं हुआ। वह एक दिन राजधानी से भाग निकला। शाहजहाँ ने उसका पीछा करने के लिए सैनिकों को भेजा। युद्ध में वह पराजित हुआ, उसके दो लड़के मारे गये। इस प्रकार शाहजहाँ ने अपने शासन काल के इस प्रथम विद्रोही को दबा दिया।

(२) दूसरा विद्रोही बुन्देलखण्ड का प्रबन्धक जुझार सिंह बुन्देला था। वास्तव में शाहजहाँ ने उस पर अविश्वास किया और इसे अपना अपमान समझ कर जुझार सिंह ने विद्रोह किया। पर वह तुरन्त परास्त हो गया। अन्तिम रूप से शाहजादा औरंगजेब ने जुझार सिंह को हराया। ओरछा का दुर्ग और सारी सम्पत्ति मुगलों के हाथ लगी। बादशाह ने अन्त में उसके सम्बन्धियों के साथ बहुत निर्दयता का बर्ताव किया।

गुजरात और दक्षिण में दुर्भिक्ष—सन् १६३१-३२ में गुजरात तथा दक्षिण भारत में भयंकर अकाल पड़ा। सहस्रों व्यक्ति भूखों मर गये। वहाँ के निवासियों को घोर यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। एक टुकड़ी रोटी के लिए लोग जान देने-लेने को तैयार रहते थे। कहा जाता है कि मनुष्य-मनुष्य को

खाने लगे। मरने वालों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि बदबू से जीवित रहना असम्भव हो गया। लोगों में अन्न-जल के बिना चलने-फिरने की शक्ति नहीं रही। सड़कें मुर्दों से पट गयीं। इस विषम परिस्थिति का सामना करने के लिए शाहजहाँ ने भोजनालय खुलवाये और मुफ्त भोजन दिया। रुपये दुर्भिक्ष पीड़ितों को बाँटे गये। अन्य प्रान्तों से अन्न मँगवाया गया और सरकारी लगान माफ कर दिया गया।

पुर्तगालियों के साथ युद्ध—पुर्तगाली व्यापारी पश्चिमी घाट से बढ़ कर शाहजहाँ के समय में धीरे-धीरे बंगाल तक पहुँच गये। उन्होंने हुगली में अपनी बस्ती बसा ली। थोड़े ही दिनों में वह नगर एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया। उस समय तक पुर्तगालियों ने नमक के व्यापार का एकाधिकार प्राप्त कर लिया था और इसके लिए वे मुगल दरबार को १० हजार टन वार्षिक कर दिया करते थे। धीरे-धीरे वे राजनैतिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे और बंगाल में इधर-उधर लूट-मार भी करते थे। कभी-कभी भारतियों को कैदी बना उन्हें गुलाम बना लेते थे और गुलामों का व्यापार करते थे। वे लोगों को बलपूर्वक ईसाई बनाते थे। वे राजदरबार के आपसी झगड़ों में भी हस्तक्षेप करते थे। इन्हीं कारणों से शाहजहाँ पुर्तगालियों से नाराज़ रहता था। सन् १६२६ ई० में पुर्तगालियों ने ढाका के निकट कुछ गाँवों को लूटा और स्त्रियों का सतीत्व भंग किया। बंगाल के गवर्नर ने बादशाह से इन बातों की शिकायत की।

सन् १६३२ ई० में संयोग से पुर्तगालियों में आपस में झगड़ा हो गया। सम्राट ने उन्हें दबाने का आदेश दिया और मुगल सेना ने हुगली पर आक्रमण किया। लगभग साढ़े तीन महीने के घेरे के बाद हुगली पर मुगलों का अधिकार हो गया। युद्ध में लगभग १० हजार पुर्तगाली मारे गये और लगभग चार हजार कैदी बनाये गये। लगभग एक हजार मुगल सैनिक इस युद्ध में खेत रहे। पुर्तगाली व्यापारी अपने अधिकार के बाहर काम कर रहे थे और शासन का अनादर करना उनके लिए खिलवाड़ हो गया था। ऐसी स्थिति में उन्हें दण्ड देना सर्वथा न्यायोचित था।

शाहजहाँ की दक्षिण नीति—मुगलों का सर्वप्रथम दक्षिण में सम्पर्क अकबर के शासन काल में हुआ था। उसने सन् १६०५ ई० तक खानदेश, अहमदनगर तथा बरार को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। जहाँगीर के समय में मलिक अम्बर ने विद्रोह किया और स्वतंत्र होने की चेष्टा की। सन् १६२५ तक (जब तक मलिक अम्बर जीवित था) दक्षिण में मुगल प्रभाव बहुत कम हो गया था। पर उसकी मृत्यु के बाद मुगलों का प्रभाव पुनः बढ़ गया। जहाँगीर की मृत्यु के कुछ दिनों तक दक्षिण के गवर्नर खानजहाँ लोदी ने मनमानी किया पर शाहजहाँ ने स्थिति सम्भाल ली और पुनः दक्षिण के राज्यों पर मुगल सत्ता स्थापित हो गयी।

शाहजहाँ ने यह अनुभव किया कि दक्षिण के राज्य सदा विद्रोह करने को तैयार रहते हैं और मौका पाकर के मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को बहुत बुरी तरह धक्का देते हैं। उसने यह भी अनुभव किया कि राजपूताना और उत्तरी भारत के विद्रोहियों को दक्षिण के में सहायता और बल मिलता है। अतः उसने दक्षिण राज्यों का समाप्त करने का पक्का इरादा किया। शाहजहाँ स्वयं एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था और दक्षिण के मुसलमान शिया थे। इसलिए भी शाहजहाँ उन राज्यों को नष्ट करना चाहता था। मुगल दरबार का फारस के शाह के साथ सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। फारस का शाह शिया था और दक्षिण के मुसलमान उसे अपना संरक्षक समझते थे। इससे शाहजहाँ को बहुत चिढ़ थी। दक्षिण के राज्य धनी थे अतः इस तरफ भी शाहजहाँ की आँखें लगी थीं। वह मौका की ताक में था। जब दक्षिण के सरदार खानजहाँ लोदी ने सन् १६३१ ई० में विद्रोह किया तो अहमद नगर के राजाओं ने उसे सहायता दी। इसी कारण शाहजहाँ नाराज हो गया और उसने अहमद-नगर पर चढ़ाई कर दी।

अहमद नगर की विजय (सन् १६३३)—ऐसी अनुकूल परि-स्थिति में शाहजहाँ ने अहमदनगर के निजामशाही राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मुगल सेना ने नगर का घेरा डाल दिया। कूटनीति और सैनिक बल का सहारा लेकर दौलताबाद के किले पर मुगलों ने अधिकार कर

लिया। सुल्तान हुसेनशाह बन्दी बना लिया गया और वह ग्वालियर दुर्ग में भेज दिया गया। पूरा अहमदनगर मुगल साम्राज्य का एक अङ्ग बन गया। "इस प्रकार बहमनी राज्य की दो रियासतें मुगलों के आधीन हो गयीं। बरार के इमादशाही वंश का राज्य अकबर ने समाप्त किया था और अहमदनगर के निजामशाही वंश के राज्य को शाहजहाँ ने समाप्त किया।"

गोलकुण्डा और बीजापुर के साथ युद्ध—शाहजहाँ ने अहमदनगर की विजय के बाद गोलकुण्डा और बीजापुर पर हमला किया। इन राज्यों के सुल्तानों ने अहमदनगर के युद्ध के समय मुगलों के शत्रुओं की मदद की थी। शाहजहाँ ने आसफ खाँ को बीजापुर की विजय के लिए भेजा। उसने नगर को घेर लिया। मराठों ने बीजापुर के शासक आदिल शाह की मदद की। उनकी सहायता से मुगलों को खाद्य-सामग्री मिलनी बन्द हो गयी। इसी समय मुमताज महल की मृत्यु हो गयी। अतः शाहजहाँ का ध्यान दक्षिण की ओर से हट गया।

सन् १६३२ ई० में शाहजहाँ ने पुनः बीजापुर और गोलकुण्डा के शासकों को लिखा कि वे सम्राट की कुछ शर्तें मान लें और उसकी अधीनता स्वीकार कर लें। मुगल शक्ति के भय से गोलकुण्डा के शासक ने मुगल सम्राट की शर्तें मान लीं, पर बीजापुर के शासक ने उन शर्तों को अस्वीकार कर दिया। शाही सेना ने तीन ओर से बीजापुर को घेर लिया। विवश होकर बीजापुर के शासक ने संधि कर ली और उसने मुगलों की अधीनता में रहना स्वीकार किया। उसने २० लाख रुपये शाहजहाँ को भेंट दिये।

औरंगजेब का दक्षिण में सूबेदार होना—इन युद्धों के बाद शाहजहाँ ने अपने तीसरे बेटे औरंगजेब को, जिसकी अवस्था उस समय १८ वर्ष की थी, दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। उसके आधीन दक्षिण के चार प्रान्त खानदेश, बरार, तेलंगाना और दौलताबाद थे। सन् १६३३ से १६४४ ई० तक औरंगजेब दक्षिण का सूबेदार रहा। इसके बाद उसने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। पर दक्षिण की दशा बिगड़ते देख बादशाह ने उसे पुन सन् १६५३ ई० में दक्षिण भेजा। औरंगजेब ने इस बार दक्षिण को

प्रशासकीय और आर्थिक दशा सुधारने का अथक प्रयत्न किया। अकबर के समय की भूमि-व्यवस्था को दक्षिण में लागू करने की कोशिश की गयी। औरंगजेब के परिश्रम से दक्षिण की आर्थिक दशा में विशेष सुधार हुआ। इस काम में औरंगजेब को एक योग्य और अनुभवी दीवान मुर्शिद कुली खाँ से बड़ी सहायता मिली। जमीन की पैमाइश करायी गई, सिंचाई की व्यवस्था हुई, ईमानदार कर्मचारी नियुक्त किये गये और गरीब किसानों को बीज-बैल की सहायता देने का प्रबन्ध किया गया।

इन सुधारों के बाद औरंगजेब का ध्यान गोलकुण्डा और बीजापुर की ओर गया। ये दोनों राज्य कुछ मनमानी करते थे। समय पर राज-कर भी चुकता नहीं किया जाता था। अतः औरंगजेब ने उन्हें समाप्त करने का संकल्प किया। समय पर कर न देने का बहाना लेकर औरंगजेब ने पहले गोलकुण्डा पर हमला कर दिया। मुगल सेना ने बड़ी निर्दयता से सर्वत्र लूट मचायी। इसी समय शाहजहाँ ने युद्ध बन्द करने का आदेश दिया, अतः विवश होकर औरंगजेब ने संधि कर ली। औरंगजेब ने शाह के साथ उदारता का व्यवहार किया और उसने भी औरंगजेब की सब शर्तें स्वीकार कर ली।

इसके बाद बीजापुर की बारी आयी। मुगल सेना चारों ओर से टूट पड़ी। विजय होने वाली थी, पर शाहजहाँ ने युद्ध बन्द करने का आदेश दिया क्योंकि औरंगजेब के विरुद्ध दारा सम्राट के कान भर रहा था। औरंगजेब की इस बढ़ती हुई शक्ति से दारा सशंकित था और उससे ईर्ष्या करता था। सम्राट का आदेश पाते ही औरंगजेब को युद्ध बन्द करना पड़ा। औरंगजेब को एक बड़ी रकम हरजाने में मिली और बीदर, कल्याणी के दुर्ग भी मुगलों को दे दिये गये।

शाहजहाँ की मध्य एशिया और पश्चिमोत्तर प्रान्त की नीति—शाहजहाँ की इच्छा थी कि वह अपने पूर्व पुरुषों की जन्म भूमि तुर्किस्तान को जीत ले। इस समय वहाँ बलख और बदखशाँ नामक दो राज्यों में युद्ध चल रहा था। अतः शाहजहाँ का हौसला बढ़ गया और

उसने १६४५ ई० में शाहजादा मुराद और अली मर्दान खाँ को एक बड़ी सेना के साथ उत्तर-पश्चिम की ओर रवाना किया। पर यह योजना व्यर्थ और असफल सिद्ध हुई और सम्राट को किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली। उसने औरङ्गजेब को भी वहाँ भेजा था, पर इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। उजबेगों ने मुगलों को बहुत तङ्ग किया और वे निराश हो लौट आये।

इसी समय कन्दहार पर फारस के शाह की आँख लगी हुई थी। फारस के शाह ने अपनी सेना भेज कन्दहार पर अधिकार कर लिया। शाहजहाँ ने तीन बार कन्दहार को जीतने का प्रयास किया। औरंगजेब और दारा को भी फौज के साथ वहाँ भेजा, पर कुछ हाथ न लगा। इस प्रकार कन्दहार मुगलों के हाथ से सदा के लिए निकल गया।

शाहजहाँ का शासन—शाहजहाँ के समय में साम्राज्य और शासन का ढाँचा अकबर-जैसा ही था। उसने कुछ मामूली परिवर्तन अपनी सुविधा-नुसार किये। दक्षिण के कुछ नये राज्यों को जीत कर उस तरफ साम्राज्य की सीमा बढ़ायी, पर कन्दहार का प्रदेश साम्राज्य से पृथक हो गया। उस समय साम्राज्य में २२ सूबे थे जिनसे लगभग २२ करोड़ रुपये की आमदनी होती थी। भूमि-कर के अतिरिक्त अफसरों की मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति से, चुङ्गी, युद्ध के समय लूट और हरजाना तथा अधीनस्थ राजाओं से कर द्वारा राज्य की आय होती थी। राज्य की बढ़ती आमदनी से राजधानी का जीवन शान-शौकत तथा विलासमय हो गया था। कहा जाता है कि इस समय सेना में १,४८,२०० अश्वारोही थे। पर सेना में नियंत्रण और चुस्ती के क्षेत्र में अकबर जैसी निपुणता नहीं थी। इसके कई कारण थे। जागीर-दारी की प्रथा पुनः जारी कर दी गयी थी, नाबालिगों को मनसबदार बनाया जाता था, दाग की प्रथा में ढील-ढाल हो गयी थी और नियमों का पालन कड़ाई के साथ नहीं होता था। सैनिकों में भी विलासिता घुसती जा रही थी। इतनी बड़ी सेना पर नियंत्रण रखना असम्भव-सा हो रहा था।

शाहजहाँ न्याय के काम में दिलचस्पी लेता था। वह स्वयं बड़े-बड़े मुकदमों का निर्णय करता था। नीचे की अदालतों से अपीलें भी उसके पास

आती थीं। अपराध सिद्ध हो जाने पर सम्राट बड़े-बड़े कर्मचारियों को भी कड़ा दण्ड देता था। दण्ड-व्यवस्था कड़ी थी और फाँसी तथा आजन्म कारावास की सजा भी दी जाती थी।

शाहजहाँ ने अपने शासन-काल में कुछ परिवर्तन किया। अकबर जागीर-प्रथा का विरोधी था और अपने कर्मचारियों को नकद वेतन देता था। पर शाहजहाँ ने जागीर प्रथा पुनः चालू की। साम्राज्य की अधिकांश भूमि ठेका पर दी जाती थी। ठेकेदार किसानों से लगान वसूल कर एक निश्चित रकम राजकोष में जमा करते थे। अकबर की लगान-वसूली की प्रथा में इस प्रकार शाहजहाँ ने परिवर्तन कर दिया। लगान निश्चित करने के ढंग में भी परिवर्तन किया गया। अकबर के समय में प्रत्येक किसान का लगान अलग-अलग निश्चित किया जाता था, पर अब गाँवों के एक बड़े समुदाय का लगान एक साथ निश्चित किया जाता था। यह सच है कि किसान और कृषि की उन्नति के लिए शाहजहाँ ने विशेष ध्यान दिया, नई नहरें बनवाईं, अच्छे कृषि अफसरों को पुरस्कार दिया जाता था, पर अकबर के समय के लगान निश्चित करने का ढंग त्याग कर उसने गलती की।

शाहजहाँ ने शासन के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन अपनी धार्मिक नीति के विषय में किया। वह पक्का सुन्नी था और उसमें धार्मिक कट्टरता और पक्षपात की मात्रा अधिक थी। अकबर के समय की धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का धीरे-धीरे लोप हो रहा था। यह परिवर्तन साम्राज्य के स्थायित्व के लिए घातक सिद्ध हुआ। वह हिन्दुओं के साथ कठोरता का व्यवहार करता था। उसने कट्टर मुसलमानों को खुश करने के लिए सिजदा की प्रथा बन्द करवा दी। उसके आदेश से बनारस के कुछ मन्दिर जो नये बने थे, तुड़वा दिये गये। हिन्दू और मुसलमान में भेदभाव किया जाने लगा। कट्टर सुन्नी होने के कारण शिया मुसलमानों से भी सम्राट घृणा करता था उसने 'तबर्रा' का निषेध कर दिया। धार्मिक उदारता की जो नीति अकबर ने अपनायी थी, उसे त्याग कर शाहजहाँ ने साम्राज्य का सबसे बड़ा अहित किया। उसकी नीति का यह पक्ष अनुदार और दोषपूर्ण है और इससे सम्राट की अदूरदर्शिता प्रकट होती है।

शाहजहाँ के अन्तिम दिन और राजगद्दी के लिए युद्ध—शाहजहाँ के चार पुत्र थे। उसके सबसे बड़े लड़के का नाम **दारा** था। वह उच्चकोटि का विद्वान और दार्शनिक था और विचारों में उदार तथा स्वभाव में सहिष्णु था। वह पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश का सूबेदार था। उसके दूसरे पुत्र का नाम **शाहशुजा** था। उसका स्वभाव भी अच्छा था। सन् १६४२ से १६५८ तक वह बंगाल का सूबेदार रहा। तीसरे पुत्र का नाम **औरंगजेब** था। शाहजहाँ ने उसे दक्षिण का सूबेदार बनाया था। वह योग्य पर कट्टर था और दक्षिण में अपनी योग्यता, साहस तथा कट्टरपन का सबूत दे चुका था। चौथे पुत्र का नाम **मुराद** था। वह मालवा तथा गुजरात का सूबेदार था। शाहजहाँ को जहाँनारा और रोशनारा नाम की दो पुत्रियाँ भी थीं। शाहजहाँ के इन चारों लड़कों में आपस में नहीं बनती थी। प्रत्येक पिता के बाद राजगद्दी का उत्तराधिकारी होना चाहता था। अतः उत्तराधिकार के निर्णय के लिए इनमें संघर्ष होना जरूरी था। इस प्रकार के संघर्ष के और भी कारण थे।

मुगल वंश में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष की कुप्रथा पहले से चली आ रही थी। हुमायूँ के समय में भी उसके भाई उससे ईर्ष्या तथा द्वेष रखते थे और उसे जीवन भर तंग करते रहे। अकबर के गद्दी पर बैठने के समय भी उसका भाई हकीम ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया था। अकबर के पुत्र सलीम ने बादशाह को अपने विद्रोही स्वभाव से बहुत कष्ट और नुकसान पहुँचाया। जहाँगीर के शासन काल में खुसरो और खुर्रम ने राजगद्दी के लिए विद्रोह किया। जहाँगीर की मृत्यु के बाद शाहजहाँ ने अपने भाइयों तथा निकट सम्बन्धियों की हत्या करा दी थी। अतः परम्परानुसार शाहजहाँ के चारों पुत्रों में संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। वास्तव में इस गन्दी और हानिकर परम्परा का सूत्रपात बाबर की मृत्यु के बाद ही शुरू हुआ था। प्रत्येक पीढ़ी के बाद उसका रूप और बदतर होता गया।

इसके अतिरिक्त उस समय यह भी आशंका थी कि यदि एक पुत्र गद्दी पर आसीन होगा तो अन्य सब को वह तलवार के घाट उतार देगा। शाह-

जहाँ ने स्वयं गद्दी पर बैठने के बाद ऐसा ही किया था। उत्तराधिकार सम्बन्धी मुगलवंश के नियम भी संघर्ष पैदा करने वाले थे क्योंकि इसका निर्णय अधिकांशतः तलवार के बल पर ही होना था। इन कारणों का कुप्रभाव शाहजहाँ की लम्बी बीमारी के कारण और भी अधिक उभड़ने लगा। दिसम्बर सन् १६५७ ई० में शाहजहाँ बीमार पड़ा और उसका रोग बिगड़ता ही गया। उस समय उसके चारों पुत्र अच्छे पद पर थे और सबके पास अपनी-अपनी सेना तथा शक्ति थी। इस प्रकार युद्ध के प्रचुर साधनों के होने से इन चारों भाइयों में आपसी संघर्ष होना अनिवार्य हो गया और परिस्थितियों वश युद्ध का उग्रतर होना भी निश्चित था।

दारा अधिकतर दरबार में रहता था और शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र था। पहले से ही शाहजहाँ उसे अधिक चाहता था। बीमार होते ही उसने दारा को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। दारा की स्थिति मजबूत करने के लिए विश्वासपात्र सेनापति और सरदार राजधानी में बुला लिए गये। उसी समय यह अफवाह फैल गयी कि शाहजहाँ मर चुका है। इस अफवाह के फैलते ही सब शाहजादे राजगद्दी प्राप्त करने के लिए तैयारी करने लगे।

उत्तराधिकार के युद्ध की घटनाएँ—सन् १६५७ ई० में सर्व प्रथम मुराद ने अहमदाबाद में अपने को सम्राट घोषित कर दिया। अपने नाम की मुद्राएँ निकलवायीं। औरंगजेब भी सतर्क हो गया। उसने मुराद को एक पत्र लिखा कि दोनों भाई मिलकर काम करें। मुराद पंजाब, अफगानिस्तान, काश्मीर तथा सिंध का मालिक होगा और साम्राज्य का शेष भाग औरंगजेब को मिलेगा। युद्ध के बाद प्राप्त धनराशि का एक तिहाई मुराद को मिलेगा और शेष औरंगजेब के हाथ रहेगा। मुराद इस चकमे में आ गया और अपनी सेना के साथ मालवा में औरंगजेब से मिला। इसी समय औरंगजेब को मीरजुमला जैसे सेनापति भी मिल गया जिससे उसकी शक्ति बढ़ गयी। इधर दारा भी युद्ध की तैयारी कर रहा था। दारा की ओर से जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह तथा कासिम खाँ औरंगजेब का सामना करने के लिए चल पड़े। उज्जैन से १४ मील उत्तर-पश्चिम धरमत नामक स्थान पर दोनों पक्ष की सेनाओं में

मुठभेड़ हुई। भीषण युद्ध हुआ और रणक्षेत्र रक्तरंजित हो गया। अन्त में विजय-श्री औरंगजेब के हाथ लगी।

धरमत के युद्ध के बाद औरंगजेब आगरा की ओर बढ़ा। दारा ने उसका सामना आगरा के निकट सामूगढ़ नामक स्थान पर सन् १६५८ ई० में किया। पुनः युद्ध में दारा की पराजय हुई और वह आगरा की ओर भागा। वहाँ से अपने बालबच्चों को लेकर दिल्ली ओर चल पड़ा। शर्म के कारण उसने शाहजहाँ से भेंट तक नहीं की। इधर औरंगजेब ने आगरा पहुँच कर अपने पिता को कैद कर लिया। उसके बाद उसने दारा का पीछा किया। पर मुराद का इरादा खराब होते देख वह लौट पड़ा। मुराद को बहकाकर खूब शराब पिलाई गयी और बाद को उसे कैद कर ग्वालियर भेज दिया गया। जब मुराद वहाँ से भागने का प्रयत्न कर रहा था तो उसका वध करवा दिया गया।

उधर दारा दिल्ली होता हुआ लाहौर पहुँचा। अब औरंगजेब ने उसका पीछा किया। दारा को पीछा करते हुए औरंगजेब सक्कर और थट्टा पहुँच गया। दारा वहाँ से गुजरात भाग गया। वहाँ पुनः दारा और औरंगजेब में युद्ध हुआ पर औरंगजेब ही विजयी हुआ। भाग्य ने दारा का साथ नहीं दिया। दारा ने दादर के शासक के यहाँ शरण ली, पर उसने दारा को पकड़ कर औरंगजेब के हवाले किया। औरंगजेब ने दारा को अपमानित कर उसका वध करवा दिया।

उधर शुजा ने भी शाहजहाँ की बीमारी का समाचार पाकर बंगाल में अपने को सम्राट घोषित कर दिया। एक सेना के साथ वह बनारस की ओर चल पड़ा। पर दारा ने उसका सामना करने के लिए एक बड़ी सेना पूरब की ओर भेजी। शुजा पराजित होकर मुंगेर की ओर भाग गया। पर दारा के पलायन की खबर पाकर वह पुनः आगरा की ओर चल पड़ा। औरंगजेब ने उसे रोकने के लिए एक सेना भेजी जिसने शुजा को खजवा नामक स्थान पर बुरी तरह परास्त किया। युद्ध से पराजित होकर शुजा पुनः पूरब की ओर भाग खड़ा हुआ। वह हारता हुआ ढाका पहुँचा। बाद में उसके दुश्मन अराकानियों ने उसका वध कर डाला।

उत्तराधिकार के युद्ध का परिणाम—इस प्रकार शाहजहाँ के इन चारों पुत्रों के आपसी युद्ध का अन्त सन् १६५८ ई० के समाप्त होते-होते हुआ। दारा, मुराद और शुजा का अन्त हो गया और साम्राज्य का मालिक औरंगजेब हुआ। इन युद्धों से देश की तबाही हो गयी, साम्राज्य के गौरव को गहरा आघात पहुंचा, आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी और शाहजहाँ को कैदी बनना पड़ा।

शाहजहाँ के अन्तिम दिन—शाहजहाँ को अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्ष कारागार में बिताने पड़े। उसे अपार शारीरिक कष्ट और मानसिक वेदना का शिकार होना पड़ा। सन् १६५८ के बाद शाहजहाँ की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। औरंगजेब उसे कड़ा पहरा में रखता था और वह उसकी आज्ञा के बिना किसी से मिल भी नहीं सकता था। उसे पत्र लिखने की सुविधा नहीं दी गयी, उसे उसके अमूल्य प्रिय वस्त्रों और आभूषणों से वंचित कर दिया गया और उसे पग-पग पर साधारण कैदी की तरह अपमानित किया जाने लगा। उन दिनों उसकी पुत्री जहाँनारा ही शाहजहाँ को एक मात्र सान्त्वना देने वाली थी। गद्दी पर बैठते ही औरंगजेब उन सब कर्तव्यों को भूल गया जो एक पुत्र का अपने पिता के प्रति होता है। उसके भोजन और वस्त्र पर भी अनावश्यक और अनुचित प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। इस प्रकार लगभग साढ़े सात साल तक एक साधारण कैदी-सा जीवन व्यतीत करने के बाद २२ जनवरी सन् १६६६ ई० को शाहजहाँ ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। मर कर ही वह अपने पुत्र के बंधन से मुक्त हो सका। कहा जाता है कि शाहजहाँ कैदी के इस जीवन में साधारण सुविधाओं के लिए तरसता रहता था। वास्तव में औरंगजेब का अपने पिता के साथ ऐसा दुर्व्यवहार अक्षम्य और अशोभनीय है।

छत्तीसवाँ अध्याय

औरंगजेब और मुगल सल्तनत को नई दिशा

(सन् १६५८—१७०७ ई०)

औरङ्गजेब का गद्दी पर बैठना—अपने सब भाइयों को परास्त कर और उन्हें तलवार के घाट उतार कर सन् १६५८ ई० में औरंगजेब मुगल साम्राज्य का सम्राट बन गया। एक वर्ष बाद सन् १६५६ ई० में उसने राज्याभिषेक का उत्सव मनाया। वह जानता था कि उसने गद्दी प्राप्त करने के लिए अथक प्रयास किया है, पर साथ ही उस प्रयास में उसकी क्रूरता और नीचता का भी नग्न-प्रदर्शन हो गया है। पिता को बन्दी बना कर उस दशा में रखना आलोचना का विषय बन चुका है। अतः इन विपरीत बातों को दबाने के लिए उसने राज्याभिषेकके समय अपार धन लुटाया जिससे दरबारी और जनता उसके नृशंस कार्यों को भूल जाँय।

औरंगजेब का जन्म मुमताजमहल के पेट से सन् १६१८ ई० में हुआ था। सम्राट शाहजहाँ ने उसकी शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबन्ध किया। वह तीव्र बुद्धि का व्यक्ति था। सन् १६३४ ई० में पिता ने उसे दस हजा अश्वारोहियों का सेनापति बना दिया। उसकी वीरता और योग्यता से प्रसन्न हो बादशाह ने सन् १६३६ ई० में उसे दक्षिण का सूबेदार बना दिया। सन् १६४४ ई० तक उसने उस पद पर काम किया। दारा के द्वेष के कारण उसने उस पद को त्याग दिया। पुनः सन् १६४५ में वह गुजरात का सूबेदार बनाया गया। सन् १६४७ ई० में वह बल्ख और बदखशाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया, पर वहाँ उसे पूरी सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इसके बाद वह मुल्तान और सिंध का गवर्नर रहा। कंधार-विजय के प्रयास में भी उसे सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं। सन् १६५२ ई० में उसे पुनः

दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया। उसने गोलकुण्डा और बीजापुर को पूर्णरूप से जीतने का प्रयास किया, पर दारा की ईर्ष्या के कारण उसकी योजना पूर्ण नहीं हो सकी। फिर भी दक्षिण में उसने मुर्शिद कुली खाँ की मदद से कृषि और व्यापार की उन्नति के लिए अनेक सुधार किये। यदि सम्राट उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता तो वह निश्चय ही बीजापुर और गोलकुण्डा को पूरी तरह जीत लेता। इसके बाद उत्तराधिकार का युद्ध शुरू हो गया और इस युद्ध में भी औरंगजेब पूरी तरह विजयी हुआ। युद्ध के बाद "उसने अबुल मुजफ्फर मुईनुद्दीन मुहम्मद औरंगजेब आलमगीर बादशाह गाजी की उपाधि धारण की। कवियों ने अपनी उत्तमोत्तम रचनाओं द्वारा बादशाह का गुणगान किया और दरबारियों ने एक दूसरे से बढ़ कर उत्सव मनाया।"

शासन-काल के दो भाग—औरंगजेब के शासन के पचास वर्ष का काल दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम पच्चीस वर्षों में (सन् १६५८ से १६८२ ई०) बादशाह उत्तरी भारत के विद्रोहों को दबाने और साम्राज्य की व्यवस्था करनेमें व्यस्त रहा और अंतिम पच्चीस वर्ष दक्षिण-विजय में व्यतीत हुए। इस द्वितीय भाग के युद्धों और दक्षिण-नीति के कारण साम्राज्य के प्रबन्ध में शिथिलता आ गयी, दरबार का संरक्षण बिगड़ गया, राजकोष रिक्त हो गया और देश में सर्वत्र अराजकता-सी फैलने लगी। कृषि, व्यापार, कारीगरी और शान्ति को गहरा धक्का लगा। साम्राज्य के पतन के लक्षण जड़ पकड़ने लगे और सेना पतनोन्मुख हो चली। सरकारी कर्मचारी मनमानी करने लगे, कर्तव्य-भ्रष्ट हो गये और सामाज्य की प्रतिष्ठा समाप्त हो चली। दक्षिण भारत में मराठे शक्तिशाली हो गये, हिन्दू और राजपूत साम्राज्य के विरोधी हो गये, सिक्खों का एक नई शक्ति के रूप संगठन हो गया। "इस काल के अंतिम दिनों में मुगल साम्राज्य का भौतिक और नैतिक पतन स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा।" प्रारम्भ से ही औरंगजेब से अधिक लोग असंतुष्ट थे अतः अपनी स्थिति ठीक रखने के लिए उसने निरंकुशता और अविश्वास की नीति से काम लेने का निश्चय किया।

आरम्भिक सुधार--गद्दी पर बैठते ही औरङ्गजेब ने देश की बिगड़ती दशा को सुधारने के लिए कुछ आदेश निकाले। आर्थिक दशा सुधारने के लिए अनेक प्रकार के कर हटा दिये गये। कुछ समकालीन लेखकों के कथनानुसार बादशाह ने ८० करों को हटा दिया। धार्मिक मामलों में औरङ्गजेब कट्टर सुन्नी था। इस सम्बन्ध में भी उसने अनेक आज्ञाएँ निकालीं। मुद्राओं पर 'कलमा' अंकित करना बन्द करा दिया। नौरोज का उत्सव बन्द करा दिया। पैगम्बर की शिक्षाओं के अनुसार चलने के लिए और लोगों के आचरण के निरीक्षण के लिए 'मुहतासिब' नामक अधिकारी नियुक्त हुए और भाँग, शराब और जुआ पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सब टूटी मस्जिदों की मरम्मत का आदेश हुआ, सङ्गीत पर प्रतिबन्ध लगाया गया। सन् १६७० ई० में सम्राट ने अपने दरबारियों को आज्ञा दी कि वे हिन्दू रीति से प्रणाम करना बन्द कर दें और 'सलाम अलेकुम' कहें। मस्तक पर तिलक लगाने की प्रथा बन्द कर दी गयी, कुरान के नियमों का पालन कठोरता से होने लगा। सड़कों पर होली मनाना बन्द हो गया।

पूर्वी सीमान्त नीति--औरङ्गजेब ने बङ्गाल के सूबे में मीरजुमला को सूबेदार नियुक्त किया। वह औरङ्गजेब की साम्राज्यवादी नीति का समर्थक था। उसी समय आसाम में मंगोल जाति की एक उपशाखा 'अहोम' जिसने हिन्दू धर्म और संस्कृति को अपना लिया था, शक्ति-सम्पन्न हो रही थी। गोहाटी तक का इलाका मुगलों के अधिकार में था; पर अहोम जाति के लोग कूच बिहार और गोहाटी की ओर बढ़ रहे थे। अहोम के राजा को दण्ड देने की योजना बनाने का काम मीर जुमला के हाथ में दिया गया। उसने एक बड़ी सेना लेकर अहोमों पर आक्रमण कर दिया। मुगल विजयी हुए और उनके हाथ बहुत धन-सम्पत्ति लगी। वर्षा ऋतु में मीर जुमला की सेना को अधिक नुकसान उठाना पड़ा, पर अंत में विजय उसी की हुई। युद्ध के बाद मीरजुमला बीमार पड़ा और सन् १६६३ में उसका स्वर्गवास हो गया। उसके बाद शाइस्ता खाँ वहाँ का सूबेदार हुआ। उसने अराकान के राजा से चटगाँव छीन लिया, और बङ्गाल की खाड़ी में पुर्तगालियों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रबन्ध किया।

पश्चिमोत्तर सीमान्त नीति—भारत और अफगानिस्तान के बीच में कई ऐसी लड़ाकू जातियाँ निवास करती थीं जो स्वतंत्रतापूर्वक रहने के लिए सदा मार-पीट किया करती थीं। उनमें युसूफजाई, अफरीदी और खतक अधिक लड़ाकू और स्वच्छन्द थीं। वे निरंतर लूट-पाट करती थीं। उनकी सामरिक प्रवृत्ति बहुत उभड़ी हुई थी। चूँकि ये जातियाँ काबुल और लाहौर तथा दिल्ली के व्यापार-मार्ग में पड़ती थीं अतः उन्हें शान्त रखना आवश्यक था। अकबर से लेकर औरङ्गजेब के समय तक यह समस्या दिल्ली सम्राटों के लिए एक टेढ़ी समस्या थी। औरङ्गजेब के समय में सन् १६६७ ई० में युसूफजाइयों ने विद्रोह किया। इन्होंने सिंधु नदी को पार कर हजारा जिले को लूटा। कड़ी चेतावनी के बाद भी उन्होंने लूटपाट बन्द नहीं की। अतः उन्हें दबाने के लिए एक बड़ी सेना भेजी गयी। वे परास्त हुए और इस प्रकार इस इलाके में शांति स्थापित हुई।

सन् १६७२ ई० में एक दूसरी लड़ाकू जाति अफरीदियों के नेता ने विद्रोह किया। अनेक पठान कबीले इनसे आ मिले। उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। काबुल के मुगल सूबेदार मुहम्मद अमीन खाँ के प्रयास करने पर भी विद्रोह शांत नहीं हुआ। मुगल सेना पीछे भगा दी गयी और लगभग दस हजार मुगल सैनिक मार डाले गये और बीस हजार कैदी बनाये गये। विद्रोहियों को दबाने के लिए जसवन्त सिंह और अन्य सेनापति भेजे गये, पर उन्हें भी सफलता नहीं मिली। बादशाह स्वयं उधर गया और कूटनीति से काम लेना प्रारंभ किया। उसने अनेक कबीले के सरदारों की पेंशन नियत की, कुछ को जागीरें दीं, कुछ को सरकारी नौकरी दी गयी। इस प्रकार उन्हें शांत करने और अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न बादशाह ने किया। बाद को आस-पास में बड़ी सेनाएँ भी रक्खी गयीं।

इस प्रकार औरंगजेब अपनी सीमान्त नीति में अंशतः सफल हुआ। पर उसे इन कबीलों के साथ युद्ध करने में अधिक व्यय करना पड़ा और इसका प्रभाव साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था पर बुरा हुआ। साथ ही मुगल सेना के बहुत-से सैनिक मार डाले गये। मुगलों पर पराज्य का बुरा नैतिक प्रभाव भी

पड़ा और सेना का नियंत्रण और उसकी क्षमता भी ढीली पड़ गयी। सम्राट को अफगानी सैनिकों की भर्ती में कठिनाई होने लगी अतः राजपूत और मराठा शक्ति के साथ संघर्ष करने में औरंगजेब की सेना को कठिनाई महसूस होने लगी। मुगल सेना के इस प्रकार कमजोर हो जाने से राजपूत और मराठे उन पर छापा मारने का साहस करने लगे और इनसे साम्राज्य को गहरी क्षति उठानी पड़ी।

औरंगजेब की धार्मिक नीति—अकबर द्वारा जिस उदार, सहिष्णु और राष्ट्रीय नीति का सूत्रपात हुआ था और जिस नीति को जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में यथासम्भव चलाने की कोशिश की गयी थी, उस परम्परा को औरंगजेब ने बिल्कुल उलट दिया। वह स्वभाव और शिक्षा से कट्टर और धर्मान्ध सुन्नी था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों औरंगजेब के धार्मिक विचार संकुचित और अराष्ट्रीय होते गये। कुछ दिनों तक उसने एक साधारण मुसलमान की भाँति काम किया। उसके आचार-विचार इस्लाम धर्म के एक पक्के पर सच्चे अनुयायी जैसे थे। वह धर्म के सामने आराम की चिन्ता नहीं करता था। ऐसा मालूम होता था कि वह एक फकीर-सा जीवन व्यतीत कर रहा है। अवकाश के समय अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह टोपियाँ तैयार कर पैदा पैसा करता था। उसे सम्पूर्ण कुरान कंठस्थ था। पर धीरे-धीरे वह धर्मान्ध और कट्टर होता गया। उसकी यह नीति सीमा का उल्लंघन कर गई और वह बड़ी नृशंसता एवं निर्दयता के साथ दूसरे धर्मावलम्बियों के साथ व्यवहार करने लगा।

हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस—अपनी धर्मान्धता में औरंगजेब हिन्दुओं का कट्टर विरोधी और शत्रु बन गया। उसने एक-एक कर हिन्दू विरोधी कार्य करने प्रारम्भ किये। मन्दिरों को ध्वस्त किया, गो हत्या की, और अनेक तरह से अपनी हिन्दू प्रजा को अपमानित किया। अहमदाबाद का नव निर्मित चिन्तामणि मन्दिर तोड़ दिया गया। उसने अपने शासन के बारहवें वर्ष में यह आज्ञा निकाली कि हिन्दुओं के सभी मन्दिर तोड़ दिये जाँय और पुराने मन्दिरों, की मरम्मत की निषेधाज्ञा निकाली गयी। सोमनाथ का दूसरा

मन्दिर, बनारस का विश्वनाथ मन्दिर, मथुरा का केशव राय का मन्दिर, जयपुर के अनेक मन्दिर ध्वस्त कर दिये गये। मथुरा का नाम बदलकर इस्माईलाबाद रक्खा गया। औरंगजेब की इस नीति से हिन्दू जनता त्रस्त हो गयी और उसे अत्याचारी समझकर छुटकारा पाने के लिए उपाय सोचने लगी। जितने हिन्दू मन्दिर तोड़े जाते थे, उनके स्थान पर मस्जिदें बनवायी जाती थीं जो आज भी बनारस, मथुरा, अयोध्या में इस क्रूर और नृशंस नीति की साक्षी हैं। मन्दिरों को तोड़ कर उनकी मूर्तियों का विध्वंस किया गया और कुछ मूर्तियाँ दिल्ली भेज दी जाती थीं जहाँ मस्जिदों की सीढ़ियों पर उन्हें लगाया जाता था ताकि मुसलमानों के पैरों तले रौंदी जायँ।

हिन्दू पाठशालाओं का विध्वंश—औरङ्गजेब ने हिन्दू पाठशालाओं को बन्द करने की आज्ञा निकाली। उसने यह भी आदेश दिया कि किसी हिन्दू पाठशाला में कोई मुसलमान लड़का शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता। उसकी आज्ञा से बनारस, मथुरा, मुल्तान आदि स्थानों में अनेक ऐसी पाठशालाएँ बन्द हो गयीं।

हिन्दुओं पर जजिया कर – औरंगजेब ने पुनः जजिया कर हिन्दुओं पर लगाने का आदेश दिया। इस कर को अकबर ने हटाया था और जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासनकाल में भी हिन्दू इससे मुक्त रहे। इस कर को जारी करने के बाद इसे वसूल करने के लिए सम्राट ने विशेष पदाधिकारी नियुक्त किये। यह कर हिन्दुओं से बड़ी कड़ाई के साथ वसूल किया जाता था।

भेदभाव की नीति —साम्राज्य में सर्वत्र चुंगी की दर में हिन्दू मुसलमानों में भेदभाव किया जाता था। हिन्दुओं को मुसलमानों से दो गुना अधिक चुंगी देनी पड़ती थी। एक बार मुसलमानों को चुंगी से बिल्कुल मुक्त कर दिया गया, पर हिन्दुओं से उसी दर से चुंगी वसूल की गयी।

सरकारी नौकरियों में स्थान रिक्त होने पर हिन्दुओं के स्थान पर केवल मुसलमानों को भर्ती करने का आदेश दिया गया। प्रायः हिन्दू कर्मचारी पदच्युत कर दिये जाते थे और वह स्थान मुसलमानों को दे दिया जाता था।

अनेक प्रलोभनों द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जाने लगा। पद का लोभ, कारागार से मुक्ति का लोभ, रुपये-पैसे, वस्त्र आदि का लोभ देकर हिन्दुओं को इस्लाम धर्म स्वीकार करने का प्रलोभन दिया जाता था। विद्रोहियों तथा साम्राज्य की खिलाफत करने वालों को भय दिखाकर बलपूर्वक मुसलमान बनाया जाता था। उसने वैरागियों का दमन किया क्योंकि वे हिन्दू धर्म का प्रचार करते थे।

इसके अतिरिक्त हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के सामाजिक प्रतिबन्ध लगाये गये। उन्हें हाथी, पालकी तथा अच्छे घोड़ों पर सवारी करने की मनाही कर दी गयी। तीर्थस्थानों के पास मेला लगाने या उत्सव मनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। होली-दीवाली मनाने के ढंग पर भी रोक लगा दी गयी। सिक्खों के गुरु तेगबहादुर की हत्या करवा दी गयी और उनके साथ अनेक प्रकार के अत्याचार किये गये।

हिन्दू विरोधी नीति का परिणाम—औरङ्गजेब की हिन्दू विरोधी नीति मुगल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। उसके विरुद्ध व्यापक असन्तोष फैल गया, देश में हिन्दू जनता खिन्न हो गयी, उनकी आर्थिक दशा बिगड़ गयी। हिन्दू भयभीत होकर व्यापार आदि से दूर रहने की कोशिश करने लगे। देश में पुनः एक बार मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव फैल गया। आपस में ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य का जोर हो गया। स्थान-स्थान पर विद्रोह की आग भड़क उठी और अकबर की राष्ट्रीय नीति का जनाज़ा निकल गया। देश में सर्वत्र अशान्ति, आशंका और क्रुंदन के बादल घने हो गये। साम्राज्य के विरुद्ध नयी-नयी शक्तियाँ उठ खड़ी हुईं।

जाटों का विद्रोह—मथुरा के आस-पास जाट जाति के लोग रहते थे। उन्होंने देखा था कि मथुरा के मन्दिरों की कैसी दुर्दशा औरंगजेब के कारण हुई है। मथुरा का मुगल फौजदार बड़ा ही धर्मान्ध व्यक्ति था। उसने अनेक मन्दिरों को तुड़वा कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवायीं। केशव राय के मन्दिर को नष्ट किया गया। इस प्रकार के अत्याचार देखकर जाटों ने गोकुल के नेतृत्व में साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने मुगल फौजदार की

हत्या कर दी। उनको दबाने के लिए मुगल फौज आयी और उन्हें बड़ी बुरी तरह कुचल दिया गया। बाद को वह केशवराय का मन्दिर जिसे वीरसिंह बुन्देला ने ३३ लाख रुपये व्यय करके बनवाया था, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। जाट सरदार गोकुल की हत्या कर दी गयी और उसके परिवार को बलात् मुसलमान बना लिया गया। इतने पर भी जाटों की क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई। वे पुनः राजाराम के नेतृत्व में उठ खड़े हुए। मुगल सेना ने राजाराम को भी मार डाला पर विद्रोह शान्त नहीं हुआ। औरङ्गजेब के शासन के अन्त तक राजाराम के भतीजे चूड़ामणि ने मुगल साम्राज्य का विरोध किया और उसकी अत्याचारी नीति का सामना किया। औरङ्गजेब इतना धर्मान्ध हो गया था कि राजधानी के इतने होने वाले विद्रोह के मूल कारण को ठीक से नहीं समझ पाया और अपने पूर्वजों की राष्ट्रीय नीति को तिलांजलि दे दी।

सतनामियों का विद्रोह—सत्नाम से सतनामी शब्द बना है। सतनामी ब्राह्मण वर्ण के थे और उनका नारा सत् नाम था। इस सम्प्रदाय के लोग दिल्ली से दक्षिण-पश्चिम लगभग ७५ मील की दूरी पर नारनौल के आस-पास रहते थे। उन दिनों बात-बात में हिन्दुओं को अपमानित किया जाता था। एक मुगल सिपाही ने एक सतनामी को अकारण मार डाला। वे पहले ही चिढ़े हुए थे। अतः इसी घटना को लेकर उन्होंने साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पास-पड़ोस के कुछ जमींदार भी उनसे आ मिले। उन्होंने नार-नौल के फौजदार को मार डाला। स्थिति भयानक हो गयी। बादशाह ने स्वयं इस विद्रोह को शान्त करने का भार अपने ऊपर लिया। सन् १६७२ ई० में भीषण युद्ध के बाद सतनामियों की पराजय हुई। लगभग दो हजार सत-नामी युद्ध में मारे गये। औरङ्गजेब की कड़ाई से वे वह प्रदेश छोड़ कर भाग गये और उस हिस्से में एकभी सतनामी नहीं रहा।

सिक्खों का विद्रोह—आरम्भ में सिक्ख मुगलों के सहायक और मित्र थे। जहाँगीर के समय में विद्रोही शाहजादा खुसरो की सहायता का दोषा-रोपण कर सम्राट ने सिक्खों के पांचवें गुरू अर्जुन देव को मरवा डाला।

इससे सिक्ख नाराज हुए थे। पर उस समय भी सिक्खों ने विद्रोह नहीं किया क्योंकि साम्राज्य की नीति सिक्खों के विरुद्ध नहीं थी। पर औरंगजेब के अत्याचारों से तङ्ग आकर गुरु तेगबहादुर ने इस्लाम का विरोध करना प्रारम्भ किया। औरंगजेब की आज्ञा से उन्हें कैदी बनाया गया और बाद को उनका सिर काट लिया गया। इस घटना के बाद सिक्ख और मुगल एक दूसरे के घोर शत्रु हो गये। सिक्खों ने गुरु गोविन्द सिंह के नेतृत्व में खुलकर दिल्ली साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने पंजाब में कई स्थानों पर मुगलों को परास्त किया। अन्त में मुगलों की एक बड़ी सेना ने उन्हें हराया। युद्ध में गुरु गोविन्द सिंह के दो पुत्र रणक्षेत्र में काम आये और दो पकड़ लिये गये जिन्हें औरंगजेब की आज्ञा से जीवित दीवारों में चुनवा दिया गया। इतने पर भी गुरुगोविन्द सिंह शान्त नहीं हुए। स्थान-स्थान पर हार कर भी वे मुगलों के पकड़ में नहीं आये और अन्त में दक्षिण की ओर चले गये।

औरंगजेब की संकुचित धार्मिक नीति और अदूरदर्शी कार्यों ने शान्ति-प्रिय सिक्ख जाति को एक सैनिक जाति में बदल दिया। औरंगजेब की असहिष्णुता के साथ साथ उनकी शक्ति और जोश बढ़ता गया और वे सम्राट के लिए जीवन-पर्यन्त एक समस्या बने रहे।

औरंगजेब की राजपूत नीति—साम्राज्य के सबसे बड़े सहायक और शक्ति के स्तम्भ राजपूत जाति को भी औरंगजेब ने अपना शत्रु बना लिया। अकबर इस ऐतिहासिक तथ्य को जानता था कि भारतीय संस्कृति और धर्म के रक्षक और अग्रदूत इस समय राजपूत ही थे। अतः उसने उन्हें अपनी ओर मिलाने का सफल प्रयास किया। पर औरंगजेब ने बना बनाया खेल बिगाड़ दिया। उसने अपनी क्षुद्रता से इस वीर जाति को अपना घोर शत्रु बना लिया। राजपूत औरंगजेब की धार्मिक नीति, मन्दिरों-मूर्तियों के विध्वंस, हिन्दुओं के प्रति अविश्वास तथा पक्षपात पूर्ण व्यवहार से जले-भुने थे।

शाहजहाँ के समय में बुन्देले राजपूतों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए एक बार विद्रोह किया था। पर उस समय वे पराजित होकर शान्त हो गये थे।

औरंगजेब की हिन्दू धर्म विरोधी नीति ने उन्हें पुनः उभाड़ दिया। उन्होंने आस-पास के अन्य असंतुष्ट राजाओं तथा सरदारों को अपनी ओर मिला लिया। छत्रसाल उनका नेता था। उसने पूर्वी मालवा में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिया। पन्ना को राजधानी बनाकर ये राजपूत अन्त तक औरंगजेब से लड़ते रहे।

मारवाड़ को हड़पने का चक्र—औरंगजेब राजपूतों का पक्का विरोधी और दुश्मन था। उन पर उसका तनिक विश्वास नहीं था। कहा जाता है कि जोधपुर नरेश जसवन्त सिंह को औरंगजेब ने खैबर दर्रे के पास वहाँ के अफगानी कबीलों के साथ युद्ध करने के लिए भेजा था। ये कबीले साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। वहाँ जसवन्त सिंह ने साम्राज्य की सेवा बड़ी तत्परता के साथ की थी। सब कुछ होने के बाद भी औरंगजेब को जसवन्त सिंह पर विश्वास नहीं था। सन् १६७८ ई० में पश्चिमोत्तर प्रान्त में जसवन्त सिंह की मृत्यु हो गयी। कहा जाता है कि इस मृत्यु में औरंगजेब का भी हाथ था। उस समय तक जसवन्त सिंह को कोई पुत्र नहीं था, अतः औरंगजेब मारवाड़ को हड़पने की ताक में था। शीघ्र ही बादशाह ने समस्त जोधपुर राज्य को अपने अधिकार में करने की योजना बना ली। मुसलमान अधिकारियों ने तुरन्त मन्दिरों-मूर्तियों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। वहाँ से सम्पत्ति दिल्ली भेजी जाने लगी।

जसवन्त सिंह की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद उनकी दो रानियों को दो पुत्र पैदा हुए। उनमें से एक मर गया और दूसरा जीवित रहा जिसका नाम अजीत सिंह रक्खा गया। राजपूत सरदार रानी और अजीत सिंह को लेकर दिल्ली पहुँचे और बादशाह से प्रार्थना की कि वह अजीत सिंह को जोधपुर का राजा घोषित करे। औरंगजेब का मन साफ नहीं था। वह रानी और उसके पुत्र को वहीं रख कर मुसलमानों की भाँति उसका पालन-पोषण करना चाहता था। राजपूत सरदार इसके लिए तैयार नहीं थे। औरंगजेब ने उन्हें कैदी बनाने का आदेश दिया। जसवंत सिंह के सुयोग्य मंत्री दुर्गादास की सहायता और साहस से रानियाँ वेश बदल अजीत सिंह को साथ ले मुगल सम्राट के जाल से निकल कर जोधपुर पहुँच गयीं।

औरंगजेब ने तुरन्त मारवाड़ पर आक्रमण करने का आदेश दिया। मुगल सैनिकों ने तीन ओर से उस राजपूत राज्य को घेर लिया। राजपूत बड़ी वीरता से लड़े, पर शाही सेना द्वारा पराजित हुए। राजधानी लूटी गयी, मन्दिर तोड़े गये। इसके बाद भी युद्ध चलता रहा क्योंकि अन्य राजपूत जसवन्त सिंह की रानी की मदद करने को तैयार हो गये। औरंगजेब के पास इतना साधन होते हुए भी राठौर राजपूत पस्त नहीं हुए। दुर्गादास के नेतृत्व में उन्होंने तीस वर्ष तक युद्ध जारी रक्खा। औरंगजेब के मर जाने के बाद बहादुरशाह को सन् १७०६ ई० में अजीत सिंह को मारवाड़ का राणा स्वीकार करना पड़ा।

मेवाड़ के साथ युद्ध—मेवाड़ के राणा और मुगल सम्राट में वंशगत शत्रुता थी। यह युद्ध बाबर के समय में ही प्रारम्भ हुआ था और अकबर के समय में महाराणा प्रताप सिंह जीवन-पर्यन्त दिल्ली सम्राट से लड़ते रहे। जहाँगीर ने अपनी उदारता से प्रताप के पुत्र अमर सिंह को अपना मित्र बना लिया। शाहजहाँ के शासन काल में भी वह सद्भावना बनी रही। पर औरंगजेब की स्वार्थी और धर्मान्ध नीति से मेवाड़ का सिसौदिया वंश पुनः मुगल साम्राज्य का पूर्ववत शत्रु हो गया। मेवाड़ के राणा राजसिंह मारवाड़ की विजय के बाद बहुत संशंकित हो गये और उन्हें अपने राज्य पर भी खतरा की आशंका हो गयी क्योंकि औरंगजेब एक-एक कर राजपूत राज्यों को हड़पने की कोशिश कर रहा था। औरंगजेब राजसिंह से अप्रसन्न भी था क्योंकि उन्होंने मारवाड़ के राजपूतों को सम्राट के विरुद्ध मदद दी थी।

अतः सन् १६८० ई० में औरंगजेब ने मेवाड़ पर आक्रमण कर राज सिंह को परास्त किया। राणा राजपूतों के साथ अर्वली पहाड़ियों में चले गये और वहीं से लुक छिप कर मुगलों पर छापा मारते रहे। औरंगजेब इससे बहुत नाराज हुआ और उसने पहाड़ी इलाके को तीन ओर से घेर लिया। उसी समय उसे यह सूचना मिली कि शाहजादा अकबर राजपूतों से मिल गया है और स्वयं सिंहासन प्राप्त करने का षड्यंत्र कर रहा है। उस समय औरंगजेब ने बड़ी होशियारी से काम लिया और कूटनीति से अपने पुत्र अकबर को

राजपूतों की ओर मिलने से बचा लिया। इस लम्बे घेरे में दोनों दलों को बहुत क्षति उठानी पड़ी और राजपूतों को अन्न के अभाव में बहुत कष्ट भोगना पड़ा। भूख से तड़पकर राजपूतों ने सन् १६८१ में संधि करने का प्रस्ताव रखा और निम्नलिखित शर्तों के साथ दोनों दलों में संधि हुई—

(१) चूँकि राज सिंह की मृत्यु हो चुकी है अतः उसका पुत्र जय सिंह मेवाड़ का राणा स्वीकार किया जाय और उसे पाँच हजार का मनसब दिया जाय।

(२) राणा जजिया से मुक्त कर दिया जाय, पर इसके बदले में उसे कुछ इलाके देने पड़े।

(३) राणा को मुगल दरबार को ३० लाख रुपये हर्जाना देना पड़ा।

(४) राजपूतों के घुड़सवारों की सेना की संख्या अधिक से अधिक एक हजार होगी। चित्तौड़ के किले की मरम्मत न होगी।

(५) राणा विद्रोही राठौरों को अपने यहाँ शरण नहीं देगा।

औरङ्गजेब की राजपूत नीति के परिणाम—औरंगजेब ने अपनी इस नीति से सम्राज्य के सबसे बड़े सहायक वर्ग को अपना शत्रु बना लिया। इस शत्रुता के कारण शाही फौजों को रेगिस्तानी भूमि में अथक परिश्रम करना पड़ा, राजकोष के बहुत से रुपये खर्च हो गये और इस प्रकार औरंगजेब को इस नीति के कारण बहुत धन तथा जन की क्षति उठानी पड़ी। इतना होने के बाद भी युद्ध का निर्णय नहीं हुआ और औरंगजेब के पक्ष को सफलता नहीं मिली। इससे मुगल सेना पर अच्छा नैतिक प्रभाव नहीं पड़ा। अब तक मुगल सम्राटों को अच्छे राजपूत सेनापति मिल जाते थे, औरंगजेब इस लाभ से भी वंचित हो गया। इन राजपूतों के युद्ध के कारण दक्षिण के इलाके में अशान्ति रही और औरंगजेब निश्चिन्त होकर कभी अपने दूसरे शत्रुओं से लोहा नहीं ले सका। इन युद्धों में अत्यधिक व्यय हुआ जिससे राजकोष और साम्राज्य का आर्थिक सन्तुलन बिगड़ गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि औरंगजेब अपनी मूर्खता और जिद्दीपन के कारण ऐसे दलदल में फँस गया कि उससे अन्त तक उसका उद्धार नहीं हो सका।

औरङ्गजेब की दक्षिण नीति—औरंगजेब एक महत्वाकांक्षी सम्राट था। उसके शासन-काल के प्रथम पच्चीस वर्ष उत्तरी भारत के राज्यों को जीतने और विद्रोहों को दबाने में व्यतीत हुआ। अन्तिम २५ वर्ष का सम्राट का समय दक्षिण भारत की विजय के लिये युद्ध करने में लगा। उस समय दक्षिण में तीन राज्य प्रमुख थे—(१) बीजापुर, (२) गोलकुण्डा और (३) मराठा राज्य। बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों से अकबर के समय से ही युद्ध होता चला आ रहा था। इन युद्धों में इन दो राज्यों को मुगलों ने कई बार पराजित किया, पर इन दोनों राज्यों को अभीतक बिल्कुल श्री-हीन करने और पूरी तरह मुगल साम्राज्य में मिलाने का अवसर नहीं आया था। औरंगजेब ने इन्हें परास्त कर ध्वस्त करने का पक्का इरादा किया था, पर शाहजहाँ के हस्तक्षेप से उस समय उसका इरादा पूरा न हो सका। औरंगजेब जानता था कि इन राज्यों की आन्तरिक दशा अच्छी नहीं है, अतः इन्हें मुगल साम्राज्य में मिलाना स्वाभाविक होगा। साथ ही इन राज्यों के शासक शिया सम्प्रदाय के थे। औरंगजेब सुन्नी था, अतः उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता और उनको ध्वस्त करना अपना कर्तव्य समझता था। उसी समय शाहजादा अकबर विद्रोही बन दक्षिण चला गया और उसने शिवा जी के पुत्र शम्भा जी के यहाँ शरण लिया। मराठों की शक्ति बढ़ती जा रही थी, अतः उनसे साम्राज्य को खतरा भी बढ़ता जा रहा था। उत्तराधिकार के युद्ध और उत्तरी भारत के युद्धों के कारण दक्षिण के राज्य मनमानी करने लगे थे और उन्होंने राजकर का अपना हिस्सा बहुत दिनों से चुकता नहीं किया था। शिवाजी से औरंगजेब को बहुत घृणा थी क्योंकि सम्राट की धार्मिक भावनाओं से उनका सीधा विरोध और टक्कर था। दक्षिण के मराठे हिन्दू धर्म और हिन्दू राज्य के संरक्षक और पोषक थे। चूँकि औरंगजेब को किसी पर विश्वास नहीं था और वह किसी सेनापति को या अपने पुत्र को सेना का एक मात्र संचालक बनाकर दूर के दक्षिण प्रान्त में भेजना नहीं चाहता था, अतः दक्षिण-विजय का पूर्ण उत्तरदायित्व सम्राट ने अपने हाथ में लिया। सन् १६८० ई० में मेवाड़ में उदयपुर के राणा जयसिंह के साथ सम्राट की संधि

हो गयी, अतः उत्तरी भारत से कुछ अवकाश मिलते ही वह दक्षिण की ओर चल पड़ा।

बीजापुर की विजय (सन् १६८६ ई०)—सबसे पहले मुगलों ने बीजापुर पर आक्रमण किया। बीजापुर का शासक शिया था, वह मराठों से मिला हुआ था और उनकी सहायता करता था। वहाँ के शासक ने निश्चित कर की रकम देना बन्द कर दिया था। सम्राट के कहने पर उसने आनाकानी की। अतः पहले औरंगजेब ने बारी-बारी से अपने दो पुत्रों को बीजापुर की विजय के लिये भेजा। पर उन्हें सफलता नहीं मिली। सम्राट ने स्वयं कुछ शर्तों के साथ बीजापुर के शासक सिकन्दर अली को एक पत्र लिखा और उसे इन शर्तों को स्वीकार करने की धमकी दिना। पर बीजापुर के शासक ने उन शर्तों को अस्वीकार कर दिया। अतः औरंगजेब स्वयं सेना के साथ बीजापुर पहुँचा और नगर का घेरा डाल दिया। घोर युद्ध के बाद सन् १६८६ ई० में बीजापुर की सेना पराजित हुई और सिकन्दर अली कैदी बनाया गया। बीजापुर को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। औरंगजेब की आज्ञा से राज-प्रासाद को ध्वस्त कर दिया गया और नगर की भी बड़ी दुर्गति हुई। औरंगजेब अपने इस प्रयास में सफल हुआ।

गोलकुण्डा की विजय (सन् १६८७ ई०)—बीजापुर के बाद गोलकुण्डा की बारी आयी। उससे भी औरंगजेब बहुत नाराज था क्योंकि उसने बीजापुर की सहायता की थी, अपने यहाँ मराठों को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया था, वहाँ का शासक शिया था, बहुत दिनों से मुगल सम्राट को पूर्व निश्चित कर नहीं चुकता किया था। अतः गोलकुण्डा के विरुद्ध घेरा डाला गया। यह घेरा आठ महीने तक चलता रहा, पर दुर्ग में प्रवेश पाने का कोई उपाय नहीं मालूम हो सका। अतः औरंगजेब ने घूस देकर गोलकुण्डा के अधिकारियों को अपनी ओर मिला लिया। अबुलहसन की सेना हार गयी और असंख्य मुगल सैनिक दुर्ग पर टूट पड़े। गोलकुण्डा पर भी मुगलों का अधिकार हो गया।

इन दो प्रमुख मुसलमानी राज्यों के विनाश से औरंगजेब को अवश्य बहुत सन्तोष और प्रसन्नता हुई होगी, पर इन राज्यों की हार का प्रभाव-

वास्तव में मुगलों के लिए अच्छा नहीं हुआ। ये प्रान्त स्थायी रूप से मुगलों की अधीनता में नहीं रहे। इनकी विजय में अत्यधिक व्यय हुआ और सैनिकों को बहुत परेशानी उठानी पड़ी थी। इन हारे हुए राज्यों के अधिक सैनिक मराठों की सेना में भर्ती हो गये और वे मुगलों के पक्के दुश्मन बन गये। यदि इन राज्यों को ध्वस्त नहीं किया जाता तो मराठों की शक्ति इतनी नहीं बढ़ जाती क्योंकि इन तीनों राज्यों में प्रायः आपस में तनातनी रहा करती थी और ये एक दूसरे को रोकने का प्रयास करते थे। मराठों और मुगलों के बीच ये रियासतें दीवार का काम कर रही थीं और अब इनकी पराजय के बाद मराठों का मुगलों से सीधा सम्पर्क हो गया। यह सच है कि इन दोनों राज्यों की विजय से औरंगजेब के साम्राज्य की सीमा बहुत अधिक बढ़ गयी, पर यह भी निर्विवाद है कि इनको ध्वस्त कर औरंगजेब की परेशानी और अधिक बढ़ गयी।

औरंगजेब और मराठों का संघर्ष—बीजापुर और गोलकुण्डा के साथ युद्ध कर औरंगजेब को जितनी सफलता मिली थी, उसे मराठों के साथ संघर्ष कर उतनी ही उलझनों का सामना करना पड़ा। शिवा जी के पिता शाहजी भोंसले के समय में ही उनका मुगलों के साथ संघर्ष हुआ था। शाहजी ने जहाँगीर के विरुद्ध मलिक अम्बर को सहायता दी थी। उस समय शाहजी अहमदनगर के सुल्तान की मदद किया करते थे। शाहजहाँ के समय में भी यही स्थिति रही। सम्राट ने उस समय शाहजी को आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य किया था।

शिवाजी के समय में मराठों का स्वतंत्र हिन्दू राज्य स्थापित हुआ। पहले शिवाजी ने बीजपुर से कुछ किलों को जीत लिया और बाद में मुगलों के साथ संघर्ष किया। सन् १६६१ ई० में औरंगजेब ने अपने मामा शायस्ता खाँ को इस 'पहाड़ी चूहे' को पकड़ने के लिए भेजा क्योंकि शिवाजी प्रायः मुगल साम्राज्य पर छापा मारा करते थे। शायस्ता खाँ ने पूना में अपना पड़ाव डाला। एक रात्रि को शिवाजी ने छद्म वेष में शायस्ता खाँ पर छापा मारा और उसके पुत्र और संरक्षक की हत्या कर दी। शायस्ता खाँ भी

घायल हुआ, पर खिड़की से कूदकर उसने अपनी जान बचायी। शायस्ता खाँ की इस दशा से औरंगजेब बहुत क्रोधित हुआ और उसे बंगाल भेज दिया गया।

सन् १६६३ ई० में एक दूसरी शाही सेना शिवाजी को पकड़ने चली। पर इसे भी विशेष सफलता नहीं हुई। सन् १६६४ ई० शिवाजी ने राजा की उपाधि धारण की। इससे औरंगजेब और जल उठा। इसके बाद शिवाजी ने सूरत पर धावा किया। अब औरंगजेब के लिए यह सब असह्य हो गया। अतः उसने शिवाजी के विरुद्ध जयसिंह और दिलेर खाँ को एक बड़ी फौज के साथ दक्षिण भेजा। इन सेनापतियों ने मराठों के अनेक दुर्गों पर अधिकार कर लिया, महाराष्ट्र के अधिकांश भाग को नष्ट कर दिया और मराठों को बहुत परेशान किया। अंत में शिवाजी और जयसिंह से भेंट हुई और बात-चीत के बाद शिवाजी ने अपने सब दुर्गों को समर्पण करने और मुगल सम्राट की सेवा करने का वचन दिया। शिवा जी साथ ही दिल्ली गये, पर वहाँ अपना अनादर होते देख वे बहुत नाराज हुए। औरंगजेब ने उन्हें एक नजरबन्द कर लिया। कुछ दिनों के बाद उन्हें एक उपाय सूझी। वे अपने पुत्र के साथ फलों की टोकरी में छिपकर और मुगल सन्तरियों को चकमा देकर कैद से निकल भागे और नौ महीने के बाद पुनः अपनी राज-धानी रायगढ़ आ गये। उन्होंने पुनः कोन्कन पर अपना अधिकार कर लिया और अपनी शक्ति बढ़ा ली। विवश होकर सन् १६६६ ई० में मुगल सम्राट को शिवाजी के साथ संधि करनी पड़ी और उन्हें एक स्वतंत्र राजा मानना पड़ा।

औरंगजेब को शिवाजी की स्थिति खटक रही थी। अतः पाँच वर्ष की शान्ति के बाद पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब ने शिवाजी को पक-ड़ने का जाल फैलाया और शिवाजी ने पुनः १६७० ई० में सूरत पर छापा मारा। खानदेश को लूटा। औरंगजेब प्रयास के बाद भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। पर दुर्भाग्य से इस राष्ट्र-निर्माता की जीवन-लीला सन् १६८० ई० समाप्त हो गयी।

शम्भा जी—(सन् १६८०—१६८९ ई०) शिवा जी के बाद अगले नौ वर्षों तक उनके पुत्र शम्भा जी ने मुगलों से टक्कर लिया। औरंगजेब के विद्रोही पुत्र अकबर ने भाग कर शम्भा जी के पास शरण ली थी। उसी के साथ दुर्गादास भी थे। शम्भा जी ने इनका समुचित सत्कार किया। औरंगजेब को परेशान करने की योजना बनने लगी। औरंगजेब स्थिति की गम्भीरता को समझ गया और उसने अपने दो पुत्रों आजम तथा मुअज्जम को सेना के साथ वहाँ भेजा। इन्हें शम्भा जी के विरुद्ध सफलता नहीं मिली। पर इस समय तक औरंगजेब ने गोलकुण्डा और बीजापुर को भी जीत लिया था। अतः उसने अपनी पूरी शक्ति शम्भा जी के विरुद्ध लगा दी। शाहजादा अकबर मराठा दरबार से घबड़ा कर फारस की ओर भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। अन्त में सन् १६८९ ई० में मुगलों ने शम्भा जी को संगमेश्वर नामक स्थान पर कैद कर लिया। औरंगजेब की आज्ञा से उसे कत्ल कर दिया गया। औरंगजेब ने मार डालने के पूर्व उसे बहुत अपमानित किया था और तरह-तरह की यातनाएँ दी थीं। शम्भा जी के पुत्र शाहू को जो उस समय बालक था, पकड़ कर मुगल दरबार में भेज दिया गया और उसका पालन-पोषण मुसलमान राजकुमारों की तरह होने लगा।

राजाराम—शम्भा जी के कत्ल हो जाने और उनके बड़े पुत्र शाहू के कैदी बना लिए जाने के बाद दूसरा लड़का **राजाराम** अपने पिता की परम्परा निभाता रहा। मुगलों और मराठों में निरंतर युद्ध चलता रहा। राजाराम को रायगढ़ छोड़ कर दक्षिण की ओर भागना पड़ा। रायगढ़ पर मुगलों का अधिकार हो गया पर मराठे लुक-छिप कर मुगलों के विरुद्ध लड़ते रहे। सन् १७०० ई० में राजाराम का स्वर्गवास हो गया। अनेक कष्ट झेलने के बाद भी अन्त तक राजाराम मुगलों से लड़ता रहा और अन्त तक उनके चंगुल में नहीं आया। ग्यारह वर्ष तक मुगलों को परेशान करने के बाद वह परलोक-वासी हुआ।

ताराबाई—राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी स्त्री ताराबाई ने अपने पति और वंश की परम्परा जारी रखा। वह अपने पुत्र शिवाजी तृतीय को

गद्दी पर बिठा कर स्वयं उसकी संरक्षिका बन गयी। ताराबाई ने अदम्य उत्साह और साहस के साथ मुगलों का सामना किया। औरंगजेब का प्रभाव दक्षिण में क्रमशः क्षीण होने लगा। अतः ताराबाई के आदेश से मराठे मालवा तक छापा मारने लगे। मराठों ने सन् १७०३ में बरार और १७०६ में गुजरात तक छापा मारा। ताराबाई ने अद्भुत होशियारी से काम लिया। उसी समय औरंगजेब ने विवश होकर शम्भा जी के पुत्र शाहू जी को कैद से मुक्त कर दिया और मराठों में फूट डालने की कोशिश की। पर औरंगजेब इस समय तक शिथिल हो रहा था। सन् १७०५ ई० में वह दक्षिण में ही बीमार पड़ा। अब वह निराश हो रहा था क्योंकि उसे महसूस हो गया था कि वह अब कब्र की ओर बढ़ रहा है। वह अहमदनगर को लौट आया और सन् १७०७ ई० की २० फरवरी को इस संसार से चल बसा। उसे दौलताबाद में ही दफना दिया गया।

औरंगजेब की दक्षिण नीति के परिणाम—एक चौथाई शताब्दी का लम्बा समय औरंगजेब ने दक्षिण-विजय में व्यतीत किया। उसके बहुत से सैनिक काम आये, अपार सम्पत्ति खर्च हो गयी और सम्राट की अनेक योजनाएँ विफल हो गईं। बीजापुर और गोलकुण्डा की सफलता के बाद औरंगजेब को यह आशा हुई होगी कि अब उसकी आकांक्षाएँ पूरी हो जायगी और दक्षिण भारत में उसकी तूती बोलेगी। इसी आशा में उसने अपने जीवन के अन्तिम कई वर्ष लगा दिये। पर अन्त में उसे निराश होना पड़ा। सचमुच दक्षिण भारत की भूमि उसकी कब्र बन गयी और मुगल सम्राट केवल निराशा का सम्बल ले परलोक के लिए चल पड़ा। औरंगजेब की इस असफलता के कई कारण थे।

(१) औरंगजेब सदा अपने आदमियों पर भी सन्देह करता था अतः उसे विश्वास पात्र व्यक्तियों की मदद मिलना सम्भव न हो सका। (२) उसके पुत्र उससे सदा असन्तुष्ट रहते थे अतः किसी ने मन लगाकर दक्षिण में काम नहीं किया। (३) मुगल सेना उस समम तक बहुत बड़ी हो गयी थी, अतः दक्षिण के पहाड़ी इलाकों में उसका चुस्ती से काम करना सम्भव नहीं

था। (४) इसके विपरीत मराठे नवोदित शक्ति सम्पन्न जाति थी और उनमें अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा करने का अदम्य उत्साह था। (५) मराठे सदा लुकछिप कर वार करते थे। उस प्रदेश के लिए यह युद्ध नीति उपयुक्त थी। (६) मराठों को प्रारम्भ में ही शिवाजी जैसा कुशल नायक मिल गया था जो युद्ध में निपुण होने के साथ-साथ संगठन और शासन में भी अति कुशल थे। शिवाजी जानते थे कि औरंगजेब की सेना बड़ी है, उसके पास पर्याप्त साधन हैं, उसके सेनापति अच्छे हैं। अतः उन्होंने लड़ने का ढङ्ग ऐसा अपनाया कि मुगल अधिक शक्तिशाली होते हुए भी सफल नहीं हो सके। मराठे खुले मैदान में युद्ध नहीं करते थे और लुकछिप कर शत्रु पर धावा मारते थे।

औरङ्गजेब की दक्षिण नीति की असफलता के कारण मुगल साम्राज्य को बहुत नुकसान हुआ। अपार धन-जन की हानि के साथ-साथ मुगल सेना पर मराठों की अजेयता का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उन पर शैथिल्य और नैराश्य के बादल घने होने लगे। औरङ्गजेब की हिन्दू विरोधी नीति ने मराठों को और अधिक सङ्गठित बनाने में मदद दी। इससे औरङ्गजेब के शत्रुओं की शक्ति बढ़ती गयी। दक्षिण में सम्राट के लगे रहने से उत्तरी भारत की व्यवस्था भी बिगड़ गयी और शासन में शिथिलता आ गयी। राजनैतिक दृष्टिकोण से औरङ्गजेब की दक्षिण नीति उसकी अदूरदर्शिता की द्योतक है। वह धर्मान्ध हो गया था और अपने स्वार्थी तथा साम्राज्यवादी नीति के सामने उसका विवेक कुंठित हो गया था। इसीलिए अपनी इस नीति को कार्यान्वित करने के प्रयास के पूर्व उसने दक्षिण की भौगोलिक तथा प्राकृतिक बनावट एवं उलझनों को समझने की कोशिश नहीं की। यदि उसने अकबर की उदारता और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से काम लिया होता तो अधिक सम्भव था कि वह अपने दक्षिण विजय के काम में सफल हो गया होता। पर औरंगजेब जैसे धर्मान्ध सम्राट के लिए, जिसने सारे देश को अपना शत्रु बना लिया था, दक्षिण भारत को जीतना असम्भव ही था। यदि उसमें लेशमात्र भी उदारता, कूटनीति, राजनैतिक मर्मज्ञता होती तो वह दरबार में उपस्थित होने वाले शिवाजी के साथ वैसा व्यवहार नहीं करता। उसे चाहिये था कि

वह शिवाजी का अधिक से अधिक स्वागत करें और ऊँचा से ऊँचा पद दे। इस सम्बन्ध में अकबर का उदाहरण उसके समक्ष था, पर औरङ्गजेब की आँखों पर धार्मिक कट्टरता और राजनैतिक दिवालेपन की पट्टी लगी थी अतः वह इतनी दूरी तक देख भी नहीं सकता था। इन्हीं कारणों से दक्षिण उसका कब्रिस्तान बन गया और वह मन में एक पीड़ा और अशान्ति लेकर इस संसार से चल बसा।

औरंगजेब के अंतिम दिन—औरंगजेब के अन्तिम दिन बड़ी निराशा-पूर्ण थे। "अपने मनोरथ-मरीचिका के पीछे वह तृषित मृग की भाँति आजन्म दौड़ता रहा, परन्तु तृषा से तड़पते ही उसके जीवन के तार टूट गये। उसे अपने जीवन के समक्ष असफलता और निराशा के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता था। उसका साम्राज्य खोखला हो गया था। भविष्य अन्धकारमय दिखाई देता था। इससे वह अत्यन्त खिन्न तथा क्षुब्ध रहा करता था। उसके विद्रोही पुत्रों ने आपस में साम्राज्य बाँट लेने की, उसकी राय को ठुकरा दिया था।" उसने स्वयं लिखा था कि "मैं अकेला आया और अकेला जा रहा हूँ। मैं अपनी दुर्बलता का बोझ अपने साथ ले जा रहा हूँ। जितनी पीड़ा मैंने पहुँचायी है, जितना पाप और अत्याचार मैंने किया है उस सब का भार अपने साथ ले जा रहा हूँ। आश्चर्य की बात है कि मैं संसार में साथ लेकर कुछ नहीं आया था, परन्तु अब पाप का एक भारी काफिला साथ लेकर कूच कर रहा हूँ। मैं बहुत सन्तप्त-हृदय हूँ।" क्या मनुष्य की निराशा और विफलता का इससे अधिक कारुणिक और दुःखद उदाहरण संसार के इतिहास में अन्यत्र कहीं मिल सकता है!

औरंगजेब ने अपने जीवन के बीस-पच्चीस वर्ष मराठों को दबाने में लगाया था। परन्तु वह महाराष्ट्र औरंगजेब के लिए "एक बर्रे का भयानक छत्ता सिद्ध हुआ। उसके हजारों सैनिकों की हड्डिया उस प्रदेश की धूल में मिल गईं। उसके अनेक सेनापति मारे गये और अनेकों ने मराठों से मैत्री कर उन्हें चौथ देना स्वीकार कर लिया। नब्बे वर्ष का बूढ़ा कमर से झुका हुआ, लकड़ी के सहारे चलकर उस दुर्गम प्रदेश में सेना का संचालन करता

था और फिर भी अन्धकार और निराशा के अतिरिक्त उसे कुछ भी हाथ न लगा। सम्राट के जिद्दीपन और अविश्वास के कारण उसके पुत्र और सगे-सम्बन्धी उसे घृणा और शङ्का की दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार व्यथा और आघात का भारी और असह्य बोझ ले मुगल वंश का अन्तिम सम्राट सन् १७०७ ई० में इस संसार से चल बसा।"

औरंगजेब का शासन-प्रबन्ध

साम्राज्य विस्तार—औरंगजेब के समय में मुगल साम्राज्य का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उस समय मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत उत्तर में काश्मीर, हिन्दूकुश तथा अफगानिस्तान सम्मिलित थे। पश्चिम में यह साम्राज्य फारस से मिला हुआ था। केवल कंधार का कुछ भाग इस बड़े साम्राज्य से बाहर था। दक्षिण में मैसूर, तंजौर तथा पूर्वी कर्नाटक तक विस्तृत था। पूरब में गौहाटी तक मुगल साम्राज्य फैला था। इस प्रकार सुदूर दक्षिण के कुछ भाग को छोड़ कर भारत के शेष भाग पर औरंगजेब शासन करता था। यह बात सच है कि दक्षिण की सीमा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते थे और वहाँ मुगल साम्राज्य की सीमा बदलती रहती थी। उस समय साम्राज्य में कुल मिला कर २१ सूबे थे। १४ सूबे उत्तरी भारत में, ६ दक्षिणी भारत में तथा एक अफगानिस्तान का सूबा था जिसकी राजधानी काबुल थी। उत्तरी भारत में सिन्ध, गुजरात, अजमेर, मुल्तान, लाहौर, काश्मीर, दिल्ली, आगरा, अवध, इलाहाबाद, बिहार, बंगाल, उड़ीसा और मालवा नाम के प्रान्त थे। दक्षिण के सूबों में खानदेश, बरार, औरंगाबाद (अहमदनगर) बीदर (तेलिंगाना), बीजापुर तथा हैदराबाद थे।

शासन प्रबन्ध—औरंगजेब स्वेच्छाचारी, धर्मान्ध और निरंकुश शासक था। उसके साम्राज्य में २१ सूबे थे और प्रत्येक सूबे का प्रबन्ध एक सूबेदार द्वारा होता था। सम्राट शासन के सब कामों को अपनी धार्मिक धारणाओं के अनुसार ही करता था। वह धर्म का पाबन्द था और उसकी राजनीति धर्म की अनुगामिनी थी। शासन के काम में उसका पथ-प्रदर्शन कुरान शरीफ द्वारा होता था और साम्राज्य की नीति का आधार धर्म ही था।

उस नीति और उद्देश्य को कार्यान्वित करने का साधन सैन्य-बल था। यह सच है कि औरंगजेब पढ़ा लिखा सम्राट था और शासन के कामों को बड़े ध्यान से देखता था। वह हर काम में स्वयं आदेश देता था। लोगों के चरित्र सम्बन्धी मामलों की देखरेख के लिए एक पृथक विभाग की स्थापना की गयी थी, पर राज्य के सब काम धार्मिक आधार पर ही किये जाते थे। बड़े-बड़े पदों पर नियुक्ति के लिए भी धार्मिक पक्षपात का बोलबाला था।

प्रान्तीय सूबेदार सम्राट के प्रतिरूप थे। वे अपने-अपने क्षेत्र में प्रबन्ध और सेना दोनों के प्रमुख थे। सम्राट के संकुचित विचारों के कारण उसके प्रान्तीय सूबेदार भी धार्मिक पक्षपात और निरंकुशता के मूर्तरूप बन गये थे। प्रान्त में लगान और राजस्व सभी कार्यों के प्रबन्ध के लिए 'दीवान' होता था। 'दीवान' को न्याय सम्बन्धी कार्य भी करना पड़ता था। प्रान्तीय कोष का प्रधान अधिकारी 'बख्शी' होता था और उसी के नियंत्रण में प्रान्त के व्यय का प्रबन्ध था। न्याय का विभाग 'काजी' के हाथ में था। प्रत्येक प्रान्त को कई 'सरकारों' में विभाजित किया जाता था। 'सरकार' आज के जिले के समान थे। 'सरकार' के प्रधान को 'फौजदार' कहते थे। वह अपनी 'सरकार' में सूबेदार का प्रतिनिधि होता था। अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था की पूरी जिम्मेदारी उसी पर थी। उसे सदा प्रान्तीय सूबेदार से सम्पर्क रखना पड़ता था। उसके नियंत्रण में 'क्रोरी' नाम के कर्मचारी होते थे जो लगान वसूल करते थे। प्रत्येक 'सरकार' को प्रबन्ध की सुविधा के लिए 'महाल' अर्थात परगनों में विभाजित किया गया था। 'महाल' का प्रधान अफसर 'कानूनगो' होता था। 'महाल' को 'दस्तूरों' में और प्रत्येक 'दस्तूर' को गाँवों में विभाजित किया जाता था। गाँव का प्रधान 'मुकद्दम' कहलाता था। शहरों का प्रबन्ध कोतवाल करता था। कोतवाल को उसके क्षेत्र में विविध प्रकार के विस्तृत अधिकार प्राप्त थे।

लगान का प्रबन्ध—साम्राज्य की भूमि का प्रबन्ध और विभाजन अकबर-जैसा ही था। उसी प्रकार सारी भूमि चार भागों में (पोलज, पड़ौती, चाचर तथा बंजर) विभाजित थी। लगान की दर निश्चित करने के लिए

उपज की औसत को ही आधार माना जाता था। लगान नकद या उपज दोनों ही रूप में लिया जाता था। फसल के नष्ट होने पर लगान माफ किया जाता था या उसमें छूट दी जाती थी। लगान वसूली की रसीद नियमित रूप से दी जाती थी। औरंगजेब ने शासन के प्रारम्भ में ही अनेक प्रकार के करों को हटा लेने का आदेश दिया था। सरकारी कर्मचारियों और लगान वसूल करने वालों को प्रजा के साथ उचित व्यवहार करने का कड़ा आदेश था। लगान से अधिक एक पैसा भी किसानों से नहीं लिया जाता था। यह सच है कि औरंगजेब के शासन काल के अन्तिम भाग में किसानों की दशा अच्छी नहीं रही। महामारी तथा अकाल के कारण उनकी स्थिति बिगड़ गयी थी। सैनिक भी किसानों के साथ उतनी सतर्कता और सावधानी से नहीं पेश आते थे जितनी सावधानी पहले दिखायी जाती थी।

न्याय-व्यवस्था—सम्पूर्ण साम्राज्य में सर्वोच्च न्यायाधीश बादशाह स्वयं था। प्रत्येक व्यक्ति को आदेश था कि वह सम्राट के समक्ष अपनी शिकायत उपस्थित कर सकता है। प्रत्येक बुधवार को औरंगजेब न्याय करता था। औरंगजेब ने दण्ड-विधान (फतवा-ए-आलमगीरी) भी बनवाया था। प्रायः अपराधियों को कारागार, कोड़े लगाने तथा अंग-भंग करने का दण्ड दिया जाता था; जुर्माना भी होता था। इस विभाग के मुख्य अधिकारी काजी और मुफ्ती होते थे। गाँवों के अधिकांश मुकदमे पंचायतों द्वारा तय किये जाते थे। शेष बातें अकबर के शासन काल जैसी ही थीं।

सेना का प्रबन्ध—सेना का आकार औरङ्गजेब के समय में बढ़ गया था। सेना में चार वर्ग—अश्वारोही, पैदल, तोपखाना और हाथी—थे। अब भी मनसबदारी प्रथा थी। सेना में औरंगजेब के समय ऊँटों की संख्या बढ़ गयी थी। सेना का सबसे प्रधान अंग घुड़सवारों का था। सैनिकों को नकद वेतन के स्थान पर जागीरें देने की प्रथा चल गई थी। जागीर सैनिक के जीवन पर्यन्त के लिये होती थी और उसके मरने पर राज्य को वापस मिल जाती थी।

औरंगजेब द्वारा शासन-व्यवस्था में नये परिवर्तन—औरङ्गजेब के समय में साम्राज्य की सीमा कुछ विस्तृत हो गयी थी, अतः उस समय

सूबों की संख्या २१ हो गयी थी। औरङ्गजेब किसी पर विश्वास नहीं करता था, अतः वह शासन के प्रत्येक काम को स्वयं करना चाहता था। इसीलिए शासन में निरंकुशता का अंश अधिक आ गया था और राज्य के अफसरों तथा कर्मचारियों के अधिकार सीमित हो गये थे। प्रत्येक अफसर सम्राट के इशारे पर काम करना चाहता था।

औरङ्गजेब के शासन काल की सबसे अप्रिय बात उसकी संकुचित धार्मिक नीति थी। उसने इस विषय में सुन्नियों के अतिरिक्त अन्य सबके साथ कड़ी नीति से काम लिया। हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार होता था, टैक्स में पक्षपात किया जाता था, सरकारी नौकरियों का द्वार हिन्दुओं के लिए बन्द हो गया था। उसका शासन और राज्य पूर्ण रूप से धर्म-सापेक्ष हो गया था। वह इस्लाम की सेवा के लिए धर्म को एक साधन-मात्र समझता था। इस्लाम के प्रचार के लिए एक पृथक राजकीय विभाग था। उस विभाग का सब व्यय राजकोष से किया जाता था। इस्लाम के नियमों के अनुसार जुआ, शराब, संगीत आदि पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये थे। मुद्राओं पर कलमा अंकित करना, झरोखे से दर्शन देना, मुहर्रम मनाना आदि प्रथाएँ बन्द कर दी गयी थीं। हिन्दुओं को सड़कों पर होली मनाना बन्द था। शिक्षा के क्षेत्र में भी मुसलमानों को विशेष सुविधाएँ दी जाती थीं। धार्मिक जोश में औरङ्गजेब इस बात को भूल गया कि अन्याय और पक्षपात की नीति धर्म के अनुसार उचित हो सकती है, पर साम्राज्य के लिए घातक होगी।

औरङ्गजेब के शासन काल का लगभग आधा भाग दक्षिण में व्यतीत हुआ, अतः उत्तरी भारत की व्यवस्था शिथिल हो गयी। राजकोष पर लगातार होने वाले युद्धों और विद्रोहों के कारण बुरा प्रभाव पड़ा और आम जनता की आर्थिक दशा पर भी इन युद्धों का कुप्रभाव पड़ा। व्यापार, उद्योग और कृषि की दशा सम्राट के शासन काल के अन्तिम भाग में शिथिल हो गयी और लोगों में घूस लेने-देने का प्रचार अधिक हो गया। इससे शासन की प्रतिष्ठा और शक्ति दोनों ही पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। बादशाह की अरुचि के कारण कला का ह्रास हो गया और जन जीवन शुष्क और नैराश्य-पूर्ण बन गया। एक विद्वान के शब्दों में "औरङ्गजेब के दीर्घकालीन शासन

के परिणाम थे—आर्थिक दिवाला, देशव्यापी विद्रोह और राजनैतिक सर्वनाश।"

औरङ्गजेब का चरित्र और उसके कार्यों का मूल्यांकन—औरङ्गजेब के चरित्र की एक प्रमुख बात यही थी कि वह काम में 'अति' की ओर चलता था। उसे समझौता या मेल-मिलाप की साधारण गति पसन्द नहीं थी। बचपन में पढ़ने-लिखने के काम में भी वह शाहजादों से भिन्न था। उसे पूरा कुरान शरीफ कंठाग्र था। वह प्रारम्भ से ही वीर और साहसी था और जब कभी और जहाँ कहीं भी उसे अवसर मिला, वह शत्रुओं से निश्चयात्मक युद्ध करने के पक्ष में रहता था। वह पक्का आदर्शवादी था और अपनी समझ के अनुसार उसने अपना जीवन सादगी और पवित्रता के साथ व्यतीत किया। वह काम से कभी घबड़ाता नहीं था और उसने जीवन-पर्यन्त अथक परिश्रम किया। न्याय करते समय वह धनी-गरीब का भेदभाव नहीं करता था। इस्लाम की रक्षा और प्रचार उसके जीवन का सर्वोच्च ध्येय था। इस काम को पूरा करने के लिए उसे अपने प्राण तक देने में हिचक नहीं थी।

पर औरंगजेब धर्मान्ध था और इसीलिए उसके प्रत्येक गुण पर धर्मान्धता की गहरी छाप थी। वह सबको सन्देह की दृष्टि से देखता था। उसमें अपने पिता, पुत्र आदि के लिए श्रद्धा और प्रेम का बिल्कुल अभाव था। वह एक अच्छा सुलेखक और ज्ञानी था, पर उसके इन गुणों को इस्लाम के प्रति पक्षपात ने धो डाला था और वह अवसर पाकर भी उससे लाभ नहीं उठा सका। शिवाजी उसके दरबार में स्वयं उपस्थित हुए थे, पर हिन्दुओं के प्रति उसकी घृणा ने उसे उन्हें अपमानित करने को बाध्य किया और इस प्रकार उसने अपनी राजनैतिक अदूरदर्शिता दिखलायी। न्यायी होकर भी वह संकुचित मनोवृत्ति का बन जाता था और सम्राट के प्रचुर गुणों से सम्पन्न होते हुए भी वह एक विफल शासक बन गया। वह अपने जीवन में कभी फजूल खर्च नहीं करता था, पर युद्ध में उसने जो धन की बर्बादी की, उससे उसका पतन हुआ। उसकी धार्मिक भावनाओं के कारण मुसलमान उसे जिन्दा

पीर (जीवित साधु) समझते थे, पर वह अन्य धर्म वालों के लिए बड़ा ही असाधु सिद्ध हुआ। संक्षेप में कहा जा सकता है कि "वह एक कट्टर पंथी और हठ धर्मी सुन्नी मुसलमान था और अकबर की सहिष्णुता, जहाँगीर विलास-प्रियता और शाहजहाँ की शान-शौकत का घोर विरोधी था।" औरंगज़ेब के चरित्र में कुछ विरोधी गुण थे। उसका व्यक्तिगत जीवन आदर्श था, पर शासक के नाते वह पूर्ण असफल रहा। उसमें भारत जैसे देश के नेता और सर्वप्रिय सम्राट होने के गुण नहीं थे। वह प्रजा के हृदय पर कभी शासन नहीं कर सकता था क्योंकि विश्वास, प्रेम और उदारता का उसमें सर्वथा अभाव था। उसके समय में साम्राज्य की सीमा बढ़ गयी, पर वह विस्तृत साम्राज्य उसी के शासन-काल में उसी के दोषों के कारण शिथिल और खोखला बनने लगा। उसमें राष्ट्र निर्माण की वह अलौकिक प्रतिभा नहीं थी, वह आवश्यक राजनैतिक व्यापक दृष्टिकोण नहीं था, वह सहिष्णुता नहीं थी, जो उसके महापितामह अकबर में थी। उसकी नीति और उसके कार्य संकीर्ण और राष्ट्र-विरोधी थे, अतः मुगल साम्राज्य उसी के जीवन में पतनोन्मुख हो चला। वह भारत-जैसे देश के सम्राट होने के लिए सर्वथा अयोग्य था।

तैंतीसवाँ अध्याय

मुगल साम्राज्य का पतन और विनाश

औरंगजेब के बाद उत्तराधिकार-युद्ध—औरंगजेब के पाँच पुत्र थे जिनमें से एक की मृत्यु पिता के जीवन काल में ही हो चुकी और एक पुत्र जिसका नाम अकबर था, विद्रोही बन कर फारस भाग गया था। शेष तीन के नाम इस प्रकार थे—मुअज्जम, आजम और कामबख्श। औरंगजेब ने मरने के पूर्व एक वसीयत की जिसके द्वारा मुगल साम्राज्य उसके तीनों पुत्रों में विभाजित होना चाहिए था। पर मुगलवंश में ऐसी इच्छा और वसीयत-नामा के अनुसार काम करने की परम्परा नहीं थी, अतः उत्तराधिकार के प्रश्न का तलवार द्वारा ही निर्णय होना अनिवार्य-सा हो गया था। हुआ भी यही और इन तीनों के युद्ध में मुअज्जम विजयी हुआ। उसने पहले आजम को हराया और उसके बाद कामबख्श को परास्त किया। ये दोनों भाई युद्ध में घायल होकर मर गये। मुअज्जम इस विजय के बाद बहादुर शाह के नाम से गद्दी पर बैठा।

बहादुरशाह (सन् १७०७—१२)—बहादुरशाह ने गद्दी पर बैठते ही मराठों के साथ उदारता और मैत्री का व्यवहार किया। उसने शम्भा जी के पुत्र शाहू को जो मुगल राजधानी में कैद था, मुक्त कर दिया। इससे मराठों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। शाहू को मुक्त करने में उदारता के साथ कूटनीतिज्ञता भी थी। शाहू के मराठा राजधानी में पहुँचते ही मराठों में आपस में शक्ति तथा अधिकार के लिए प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो गयी। इस प्रकार बहादुरशाह की नीति से मराठों में घरेलू युद्ध प्रारम्भ हुआ जिससे उनकी शक्ति क्षीण होने लगी और मुगल बादशाह को कुछ निश्चिन्तता हो गयी।

बहादुरशाह ने उसी कूटनीति और उदारता की नीति से राजपूतों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया। उन दिनों जोधपुर, जयपुर और उदयपुर की तीन राजपूत रियासतें प्रसिद्ध थीं। मारवाड़ की राजधानी जोधपुर, मेवाड़ की राजधानी उदयपुर और आमेर की राजधानी जयपुर थी। औरंगजेब ने मारवाड़ को जीत लिया था, पर दुर्गादास के नेतृत्व में राजपूतों ने पुनः कुछ दिनों के बाद मुगलों को वहाँ से खदेड़ दिया था। बहादुरशाह ने मारवाड़ की राजधानी जोधपुर पर हमला किया। अजीतसिंह सन्धि के लिए तैयार हो गया। बहादुरशाह ने अकबर की नीति अपनायी और उनके साथ परास्त होने पर भी सम्मान के साथ व्यवहार किया। अजीत सिंह को महाराजा की उपाधि दी। इस प्रकार उन राठौर राजपूतों के साथ मुगल सम्राट ने सद्भावना पैदा करने की कोशिश की।

आमेर अर्थात जयपुर के राजपरिवार में उस समय पारस्परिक फूट और कलह चल रहा था। पर विजय सिंह ने बहादुरशाह के साथ सन्धि कर ली और इस प्रकार इनका सम्बन्ध भी पूर्ववत हो गया। उदयपुर के राणा के साथ कुछ दिनों मुगल दरबार से अनबन रही, बाद को बहादुरशाह ने उनके साथ संधि कर लिया। इस प्रकार इन तीनों राजपूत रियासतों से मुगल दरबार का सम्बन्ध अपेक्षाकृत अच्छा हो गया।

बहादुरशाह ने औरंगजेब की नीति से असन्तुष्ट सिक्खों को भी शान्त करने की कोशिश की। सन् १७०८ ई० में गुरुगोविन्द सिंह की मृत्यु हो गयी। उनके साथ बहादुरशाह की मैत्री थी। उनकी मृत्यु के बाद बन्दा बैरागी गुरु बने। उनके समय में सिक्ख पुनः संगठित होकर लूटपाट करने लगे। सन् १७०९ ई० में बन्दा ने सरहिन्द के गवर्नर को मार डाला और अपने नाम का सिक्का चलाया। उस समय बहादुरशाह राजपूताने में राजपूतों के साथ उलझन में फँसा था। वह पंजाब की ओर आया और शाही सेना ने पुनः सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। पर बन्दा अपने सैनिकों के साथ कभी-कभी लूटपाट करते रहे। बहादुरशाह बन्दा को पकड़ने के कार्य में असफल रहा।

बहादुरशाह वास्तव में एक होशियार और उदार बादशाह था। पर औरंगजेब के कुकृत्यों और उसकी कमजोरियों से मुगल दरबार और साम्राज्य

में जो गड़बड़ पैदा हो गयी थी, उसे रोकने में बहादुर सफल नहीं हो सका। दरबार की दलबन्दी और उग्र हो उठी जो आगे चल कर साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। चूँकि वह बहुत बड़ी अवस्था में गद्दी पर बैठा था, अतः उसका शासनकाल अल्पकालीन रहा। ७१ वर्ष का होकर सन् १७१२ ई० में वह परलोकवासी हुआ। यदि वह प्रौढ़ावस्था में गद्दी पर बैठा होता तो सम्भवतः वह गिरते हुए मुगल साम्राज्य को सम्भाल सकता था क्योंकि उसमें कुछ विशेष गुण थे।

जहाँदार शाह—बहादुरशाह के चार लड़के थे। उनमें परम्परा के अनुसार उत्तराधिकारी बनने के लिए बादशाह के मरते ही युद्ध आरम्भ हो गया। इस आपसी युद्ध में मुईजुद्दीन की जीत हुई और वह जहाँदारशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा ही निर्दयी, डरपोक और निकम्मा व्यक्ति था। उसकी विलासिता से दरबार में असन्तोष और गड़बड़ी फैल गयी। अमीरों को अपमान असह्य हो उठा। अब्दुल्ला खाँ और हुसेन अली नामक **सैयद भाइयों** की सहायता से बादशाह के भतीजे फर्रुखसियर ने, जो बंगाल का गवर्नर था, विद्रोह किया और बादशाह की हत्या करवा दी और स्वयं बादशाह बन बैठा। इस प्रकार केवल ग्यारह महीने के निन्दनीय शासन के पश्चात् जहाँदारशाह का अन्त हुआ।

फर्रुखसियर (सन् १७१३—१९ ई०)—उत्तरकालीन मुगल सम्राटों की की भाँति फर्रुखसियर भी निकम्मा, अयोग्य और दुश्चरित्र था। उसमें किसी प्रकार के राज-काज के लिए सोचने विचारने की शक्ति नहीं थी। वह सदा धूर्त आदमियों की बातों में आ जाता था। उसके शासन-काल में राज्य की शक्ति पूरी तरह सैयद भाइयों के हाथ में रही। अब्दुल्ला खाँ बादशाह का प्रधान मंत्री और हुसेन अली प्रधान सेनापति बन गये।

राजपूतों के साथ सम्बन्ध—मुगल दरबार के पारस्परिक झगड़ों के कारण राजपूतों की शक्ति बढ़ गयी थी। मारवाड़ के राणा अजीत सिंह ने मुगल अफसरों को अपने राज्य से निकालना शुरू कर दिया था, और अजमेर पर अपना अधिकार कर लिया। हुसेन अली एक सेना लेकर मारवाड़

की राजधानी जोधपुर पहुँचा और उसने सम्पूर्ण जोधपुर को रौंद डाला। अजीत सिंह को अपने पुत्र को दरबार में भेजने और अपनी पुत्री का विवाह फर्रुखसियर के साथ करने के लिए विवश होना पड़ा।

सिक्खों के साथ सम्बन्ध—बहादुरशाह के समय में सिक्ख बन्दा बैरागी के नेतृत्व में मुगलों से लोहा लेते रहे। उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध में वे और अधिक शक्तिशाली हो गये। मुगलों की एक बड़ी सेना भेजी गयी और मुगल सेना ने सन् १७१५ ई० में बन्दा और दस हजार सिक्खों को गुरुदासपुर में आठ महीने तक घेर रखा। अन्त में खाद्य सामग्री के अभाव में सिक्खों को आत्म-समर्पण करना पड़ा। बन्दा और उसके अनुयायी बड़ी निर्दयता के साथ मार डाले गये। पहले बन्दा को कैद कर एक लोहे के पिंजरे में रक्खा गया और तरह-तरह की यातनाएँ दी गयीं। पर उसने इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं किया। अतः अन्त में उसे तलवार के घाट उतारना पड़ा। इससे मुगलों और सिक्खों में आपसी वैमनस्य और भी तीव्र हो गया।

जाटों के साथ सम्बन्ध—आगरे के आस-पास जाटों का संगठन उनके नेता चूड़ामणि की अध्यक्षता में शक्तिशाली होने लगा। वे आस-पास लूटपाट मचाने लगे थे। भरतपुर और उसके आस-पास का क्षेत्र उनका प्रधान केन्द्र था। जयपुर के राजा सवाई सिंह की अध्यक्षता में जाटों को दबाने के लिए एक बड़ी सेना भेजी गयी। अन्त में जाट हार गये और उन्हें संधि करने के लिये विवश होना पड़ा।

मराठों के साथ सम्बन्ध—ऊपर संकेत किया जा चुका है कि बहादुरशाह ने शाहू को मुगल दरबार से मुक्त कर दिया था। शाहू के मराठा राजधानी में पहुँचते ही दरबार में आपसी ईर्ष्या पैदा हो गयी। पर मुगल दरबार की गड़बड़ी के कारण मराठों की शक्ति बढ़ती गयी और वे दूर-दूर तक चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने लगे। आगे चलकर मुगल सम्राट ने मराठों के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया।

फर्रुखसियर का अन्त—सम्राट सैयद-भाइयों की कृपा और सहायता से दिल्ली की गद्दी पर बैठा था। कुछ दिनों के बाद फर्रुखसियर और

सैयद भाइयों में आपस में वैमनस्य हो गया। अन्त में स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि हुसेन अली ने दिल्ली पर आक्रमण किया और सम्राट को कैद कर लिया। उसने बादशाह की आँखें निकलवा लीं और दो महीने बाद उसे मरवा डाला।

सैयद भाइयों का उत्थान-पतन—सैयद भाइयों ने फर्रुखसियर को गद्दी पर बैठाया था। इसके बाद वे स्वयं बड़े-बड़े पद पर आसीन हो गये और उन्होंने राज्य की सारी शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली। अब्दुल्ला खाँ और हुसेन अली दो भाई थे और मुगल दरबार में इनका प्रभाव अत्यधिक हो गया था। ये भारतीय इतिहास में सैयद-भाइयों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी शक्ति मुगल दरबार में इतनी बढ़ गयी कि वे "सम्राट-निर्माता" कहलाने लगे और अपनी रुचि के अनुसार किसी को गद्दी पर बैठाने तथा उतारने में सफल रहे।

सैयद-भाइयों के पिता का नाम सय्याद अब्दुल खाँ था और वह सहारनपुर तथा मेरठ जिले में बारह गाँवों के जमींदार थे। कहा जाता है कि इनके पूर्वज मैसोपोटामिया के निवासी थे और कई शताब्दी पहले वे भारत में आकर बस गये थे। औरङ्गजेब के शासन-काल में सैयद-भाइयों के पिता बीजापुर और अजमेर के क्रमशः गवर्नर रह चुके थे। उन्होंने बादशाह को खुश कर शाही मनसब का पद प्राप्त किया था। इन्हीं के दो पुत्र अब्दुल्ला खाँ और सुसेन अली बड़े होनहार निकले और भारतीय इतिहास में "सैयद-भाइयों" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

औरङ्गजेब के समय में ये दोनों भाई ऊँचे शाही पद पर थे। उसके बाद भी इनकी उत्तरोत्तर उन्नति होती गयी। फर्रुखसियर को इन्हीं की मदद से गद्दी मिली थी। बादमें अब्दुल्लाखाँ प्रधान मन्त्री और हुसेन अली प्रधान सेनापति के पद पर आसीन हो गये। ये दोनों भाई बुद्धिमान और योग्य थे। ये दोनों धार्मिक मामलों में उदार विचार रखते थे और शासन के काम में हिंदू-मुसलमान का भेदभाव नहीं करते थे। इनके पक्ष में हिंदू, राजपूत, जाट तथा अन्य साधारण श्रेणी के लोग थे।

इसी समय मुगल दरबार में और दो दल प्रमुख और शक्तिशाली हो गये। इन दो दलों के नाम इस प्रकार थे—**ईरानी और तूरानी**। ईरानी दल के लोग शिया थे और राज्य में अच्छे-अच्छे पदों पर नियुक्त थे। तूरानी दल के लोग सुन्नी थे। इनका और भारत के मुगलों का असली निवास स्थान एक था अतः मुगल सम्राटों की इन पर विशेष कृपा थी। तीसरा **दल देशी मुसलमानों और हिंदुओं** का था और उसका नेतृत्व सैयद-भाइयों के हाथ में था।

सैयद भाइयों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति तथा प्रभाव से अन्य दल के लोगों में ईर्ष्या और घृणा पैदा हो गयी। वे लोग सैयद-भाइयों के विरुद्ध सम्राट के कान भरने लगे और इन कान भरने वालों में सबसे अधिक प्रभावशाली मीर जुमला नामक अमीर था। फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों की उपेक्षा करनी शुरू कर दी, अतः सम्राट और सैयद-भाइयों में संघर्ष अनिवार्य हो गया। फर्रुखसियर के शासन के अंतिम काल में हुसेन अली दक्षिण में था। उसने मराठों से चौथ तथा सरदेशमुखी के प्रश्न पर समझौता कर लिया और इनकी वसूली का अधिकार मराठों को दे दिया। बहाना बना कर वह एक बड़ी फौज के साथ दिल्ली आया। फर्रुखसियर को अपमानित कर कैद कर लिया गया और उसकी हत्या करवा दी गयी। फर्रुखसियर के बाद एक-एक कर सैयद भाइयों ने मनमानी ढङ्ग से शाहजादों को गद्दी पर बैठाया। वे सब सैयद-भाइयों के हाथ की कठपुतली थे। वास्तविक शक्ति उन्हीं भाइयों के हाथ में थी। अन्त में सन् १७१६ ई० में उन्होंने बहादुरशाह के पोते मुहम्मदशाह को गद्दी पर बैठाया।

सैयद भाइयों की नीति से मुगल अमीर बहुत असन्तुष्ट हो गये। वे अपने को हिन्दुस्तानी मानते थे और हिन्दुओं के साथ उनका व्यवहार बहुत उदार था। सैयद भाई शिया थे और अधिकांश मुगल सुन्नी थे, अतः मुगल उनसे घृणा करते थे। सैयद भाइयों की नीति 'सह-अस्तित्व' की थी और वे अकबर की तरह उदार तथा राष्ट्रीय विचार के थे, पर सुन्नी मुसलमान औरंगजेब की तरह प्रतिक्रियावादी थे। सैयदों के हाथ में साम्राज्य की पूरी शक्ति आ गयी थी और वे गद्दी पर शाहजादों को बैठाने के काम में मनमानी करने

लगे थे। उन्होंने राजकोष पर भी अपना अधिकार कर लिया था। अतः सैयद भाइयों की अनियंत्रित शक्ति के विरुद्ध अन्य अमीरों का असंतोष व्यापक और उग्र होने लगा।

सैयद भाइयों के विरुद्ध सन् १७१६-२० ई० में तीव्र विद्रोह प्रारम्भ हुआ। आगरे के पास सैनिकों ने एक शाहजादा को नेता बना सैयद-भाइयों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। हुसेन अली ने इस विद्रोह को बड़ी कड़ाई से दबाया। इसके बाद सैयद भाई और अधिक उदार हो गये। उन्होंने हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। मुगल अमीरों को ये बातें असह्य हो गयीं। सम्राट मुहम्मदशाह ने भी अमीरों का साथ दिया। अमीरों का पक्ष मालवा के गवर्नर निजामुल्मुल्क ने लिया और अब युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। सैयद भाइयों के लिए स्थिति बिगड़ती गयी और सन् १७२० ई० में कुछ षड्यंत्रकारियों ने हुसेन अली को मार डाला। सम्राट के विरुद्ध युद्ध में दूसरा भाई अब्दुल्ला खाँ पराजित हुआ और कैदी बनाया गया। कारागार में ही सन् १७२२ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार सैयद-भाइयों का अन्त हुआ। जिन सैयद भाइयों की कृपा से सन् १७१३ ई० में एक शाहजादा को दिल्ली की गद्दी मिली थी, उन्हीं भाइयों के साथ सन् १७२० ई० में मुगल सम्राट मुहम्मदशाह का युद्ध हुआ और उस युद्ध के फलस्वरूप सैयद भाइयों का अंत हो गया। वे नौ वर्ष तक राज्य के मालिक रहे और सबको कठपुतली की तरह नचाया। उनका सबसे बड़ा दोष यही था कि उन्होंने अमीरों का अपमान किया और अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया। उनमें हिम्मत थी, पर वे अभिमानी भी थे। "हुसेनअली ने एक बार कहा था कि जिसके ऊपर वह अपने जूते की साया डाल देगा, वही दिल्ली का बादशाह हो जायगा।" पर वे राजकाज में उदार थे। यदि उनमें शासन कौशल होता और उनका बर्ताव अन्य दल वालों के साथ उचित एवं संयत होता तो उनका पतन इतना शीघ्र नहीं होता।

मुहम्मद शाह (१७१६–१७४८ ई०)—सैयद-भाइयों की कृपा से ही मुहम्मदशाह सन् १७१६ ई० में मुगल सम्राट बना। उसने २६ वर्ष तक राज्य किया और मुगल साम्राज्य का विनाश अपनी आँखों देखा।

गद्दी पर बैठते ही मुहम्मदशाह ने सैयद-भाइयों से छुटकारा पाने का सफल प्रयास किया। उसने षड्यन्त्र कर हुसैन का वध करवा डाला और अब्दुल्ला को युद्ध में परास्त किया। पर वह स्वयं विलासी, चरित्र-हीन और निकम्मा व्यक्ति था। अनुभव-शून्य इस सम्राट को चाटुकारों ने अपने वश में कर लिया। साम्राज्य का शासन छिन्न-भिन्न हो गया। सम्राट और अमीर मदिरा पान में ही लीन रहने लगे। सम्राट की बुरी आदतों से तंग आकर उसका सुयोग्य वजीर निजामुल्मुल्क दिल्ली छोड़ दक्षिण की ओर चला गया। इससे राज्य की व्यवस्था और अधिक बिगड़ गयी। निजामुल्मुल्क ने दक्षिण में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया; अवध भी एक स्वतन्त्र राज्य बन गया और सन् १८५७ ई० तक स्वतन्त्र बना रहा। इसी प्रकार बंगाल में गवर्नर अलीवर्दी खाँ ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर लिया। रुहेलखण्ड में रुहेला सरदारों ने भी अपने को स्वतन्त्र कर लिया और दाउद खाँ वहाँ का राजा बना। इसी समय भरतपुर में जाटों के राज्य की स्थापना हुई। दक्षिण में मराठों की शक्ति बहुत बढ़ गयी। पेशवा बाजीराव के नेतृत्व में मराठे सरदार दिल्ली तक धावा मारने लगे। इस प्रकार मुहम्मदशाह के शासनकाल में उसकी अयोग्यता एवं विलासिता के कारण मुगल साम्राज्य का सर्वनाश हो गया। दरबार के सब लोग आमोद-प्रमोद में डूबे रहते थे। दरबारी आपस में लड़ा करते थे। खजाना खाली हो गया था। उसी समय सन् १७३९ ई० में नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल साम्राज्य की रही-सही प्रतिष्ठा को रौंद डाला और अकबर के वंश का गौरव समाप्त हो गया।

नादिरशाह का आक्रमण (सन् १७३९ ई०)—नादिरशाह एक साधारण तुर्कमन वंश में पैदा हुआ था। वह अपनी योग्यता और साहस के कारण सन् १७३६ ई० में फारस का बादशाह बन बैठा। नादिरशाह हौसलामन्द व्यक्ति था। उसने सन् १७३७ ई० में कंदहार पर आक्रमण किया और एक वर्ष बाद उस पर अधिकार कर लिया। वह अपना साम्राज्य भारत की ओर बढ़ाना चाहता था। अतः उसने भारत पर आक्रमण करने के लिए कई बहाना बनाये। वह जानता था कि मुगल साम्राज्य मरणासन्न है, अतः महत्वाकांक्षी व्यक्ति ऐसे सुअवसर की ताक में रहता है। उसने मुहम्मदशाह पर

आक्षेप लगाया कि उसने फारस से भागे हुए अफगानियों को अपने यहाँ शरण दी है। सन्तोषजनक उत्तर के अभाव में उसने सन् १७३६ ई० में भारत पर आक्रमण कर दिया।

नादिरशाह ने अफगानिस्तान को जीत लिया और आसानी से काबुल के खजाने पर अधिकार कर लिया। चूँकि सीमान्त की रक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध उस समय नहीं था, पेशावर और लाहौर पर अधिकार करने में नादिरशाह को कोई कठिनाई नहीं हुई। उस समय तक दिल्ली में आमोद-प्रमोद चल रहा था। थोड़े ही समय में तक नादिरशाह कर्नाल तक पहुँच गया। वहीं पर मुहम्मदशाह की अस्तव्यस्त सेना ने आक्रमणकारी का सामना किया। दिल्ली की सेना को हराने में उसे तनिक देर नहीं लगी।

तपश्चात् नादिरशाह ने आगे बढ़ कर दिल्ली में प्रवेश किया। कुछ समय के बाद नगर में एक अफवाह फैल गई कि नादिरशाह की मृत्यु हो गयी है। स्थान-स्थान पर दंगे होने लगे। उसके सिपाहियों पर कुछ लोगों ने हमले किये। नादिरशाह के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने आम जनता के कत्ल का आदेश दे दिया। लगभग ५ घंटे तक मार-काट चलती रही, अन्त में मुहम्मदशाह की प्रार्थना पर कत्ले आम बन्द हुआ। असंख्य नर-नारी मार डाले गये, अपार धन सम्पत्ति लूटी गयी। हजारों व्यक्ति गुलाम बनाये गये। मुगलों की राजधानी दिल्ली की दुर्दशा हो गयी। नादिरशाह दो महीने तक दिल्ली में रहा। लगभग २० हजार व्यक्ति तलवार के घाट उतारे गये और नादिरशाह लौटते समय लगभग ७० करोड़ रुपये की सम्पत्ति साथ ले गया। सिन्ध नदी के पश्चिम का प्रदेश नादिरशाह को मिला। कहा जाता है कि शाहजहाँ का 'तख्त ताऊस' भी वह अपने साथ ले गया। लौटते समय नादिरशाह ने दिल्ली की गद्दी पर पुनः मुहम्मदशाह को बैठाया।

नादिरशाह की आसान विजय के अनेक कारण थे। वास्तव में साम्राज्य की रक्षा करने वाला कोई योग्य व्यक्ति नहीं था। दिल्ली के सेनापति और दरबारी अयोग्य और विलासी थे और उनमें युद्ध करने का साहस नहीं था। बादशाह के सैनिक और सेनापति आपस में ईर्ष्या करते और लड़ा करते थे। उनमें नियंत्रण का अभाव था। उनके हथियार पुराने थे, उनमें साहस नहीं

था और वे अनुभव हीन थे। नादिरशाह की सेना गोला-बारूद का प्रयोग करती थी अतः तलवार से लड़ने वाले मुगल सैनिक उनके सामने टिक नहीं सकते थे। भारतीय सेना का हाथी वाला भाग ऐसे युद्ध में अनुपयुक्त था क्योंकि फारसी सेना के बन्दूकों की मार के सामने वे टिक नहीं सकते थे। देश में सर्वत्र अराजकता फैली थी और कोई किसी की परवाह नहीं करता था।

आक्रमण का प्रभाव—(१) दिल्ली और दिल्ली साम्राज्य की दुर्दशा नादिरशाह के आक्रमण के कारण पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। (२) सिन्धु नदी के पश्चिम का पूरा इलाका फारस के अन्तर्गत चला गया। (३) दिल्ली की केन्द्रीय सरकार की शक्ति अति क्षीण हो गयी। शासन व्यवस्था शिथिल हो गयी और सर्वत्र मनमानी होने लगी। (४) इस आक्रमण से मुगल साम्राज्य का पतन अति द्रुतगति से होने लगा। सर्वत्र नये-नये स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। मराठे और जाट दूर-दूर तक धावा मारने लगे। (५) मुहम्मदशाह का प्रभाव दिल्ली में भी नहीं रहा। सन् १७४८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद षड्यंत्र और दलबन्दी का जोर बढ़ गया और दिल्ली सम्राटों की शक्ति केवल स्मरण की बात रह गयी। (६) नादिरशाह के आक्रमण ने देश की पश्चिमोत्तर सीमा को बिल्कुल अरक्षित बना दिया।

अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण—नादिरशाह का प्रभुत्व फारस में अधिक दिनों तक नहीं चल सका। सन् १७४७ ई० में उसका वध कर दिया गया और उसके स्थान पर अहमदशाह अब्दाली फारस का बादशाह हुआ। उसने भारत पर कई बार आक्रमण किया और देश को बर्बाद कर डाला। वह एक अफगान सरदार था और भारत में पुनः अफगान राज्य की स्थापना का स्वप्न पूरा करना चाहता था। सब मिला कर उसने पाँच बार इस देश पर आक्रमण किया।

प्रथम आक्रमण (सन् १७४८) में उसने पंजाब और दिल्ली तक धावा मारा। पर इस बार अहमदशाह की सेना को पराजित हो पीछे लौटना पड़ा। उसने अपनी पराजय का बदला लेने के लिए पुनः सन् १७४६ ई० में भारत पर आक्रमण किया। इस बार उसने पंजाब के गवर्नर को परास्त किया और

उस पर अपना अधिकार कर लिया। तीसरे आक्रमण (सन् १७५२) में उसने काश्मीर पर भी अपना अधिकार कर लिया। चौथी बार सन् १७५६ ई० में उसने पुनः भारत पर आक्रमण किया। उसने लाहौर, दिल्ली, वृन्दावन और मथुरा को खूब लूटा। अवध में भी उसने बड़ी नृशंसता से धन वसूल किया। इस प्रकार उत्तरी भारत के अधिकांश स्थानों को रौंदकर सन् १७५७ ई० में वह काबुल लौट गया।

अहमदशाह का अन्तिम आक्रमण सन् १७६१ ई० में हुआ। इस बार उसने मराठों के विरुद्ध चढ़ाई की थी। मराठे सरदार पंजाब तक धावा मारने लगे थे। मराठों ने सन् १७५८ ई० में अहमदशाह के अधीनस्थ पंजाब के प्रान्तीय गवर्नर को हटाकर लाहौर पर अधिकार कर लिया। खबर यह सुन कर अहमदशाह बहुत क्रोधित हुआ और एक बड़ी सेना के साथ उन्हें दण्ड देने के लिए भारत की ओर चल पड़ा। मराठों ने भी एक बड़ी सेना तैयार की और सदाशिवराव को सेनापति बना पानीपत के मैदान में आ डटे। उस समय अन्य मराठा सरदारों ने, राजपूतों तथा जाटों ने भी पेशवा की मदद की।

पानीपत का तीसरा युद्ध—(सन् १७६१ ई०) पानीपत के मैदान में दोनों दलों की सेनाएँ आ डटीं। मराठों ने अहमदशाह की सेना को विश्राम लेने का मौका दिया क्योंकि वे शीघ्र आक्रमण नहीं कर सके। मराठों के युद्ध का ढंग प्राचीन पद्धति पर आधारित था। मराठा सरदार युद्ध के मैदान में भी एकमत नहीं थे। अतः एक घमासान युद्ध के बाद मराठों की हार होने लगी। मराठा पक्ष के दो सेनापति (सदाशिव राव और विश्वासराव) रणक्षेत्र में मारे गये। सिंधिया के पैर में चोट लगी, अतः उसने मैदान छोड़ दिया। होल्कर भी भाग गया। पेशवा दक्षिण से पानीपत की ओर आ रहे थे, मार्ग में उन्हें इन सेनापतियों की मृत्यु का समाचार मिला। पेशवा बालाजी बाजीराव यह दुखद समाचार सुनकर हतोत्साह हो गये और क्षोभ की पीड़ा से इस संसार से चल बसे। पेशवा की मृत्यु से सारा महाराष्ट्र निराश हो गया और उत्तरी भारत से मराठों का प्रभुत्व उठ गया। इस युद्ध के बाद मराठों की पूरे देश में हिन्दू राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा समाप्त हो गयी। मुगल सत्ता भी समाप्त-सी हो गयी।

मुगल साम्राज्य का अन्त—सन् १७४८ ई० में मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद उसका बेटा **अहमदशाह** गद्दी पर बैठा। उसने छः वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद एक-एक करके कई सम्राट दिल्ली की गद्दी पर बैठे। पर वे सब नाम-मात्र के लिए सम्राट थे। उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। वे केवल सम्राट होने की परम्परा को निभा रहे थे। उनमें न योग्यता थी, न क्षमता थी और न शक्ति थी। राजकोष खाली रहता था, दिल्ली की सड़कों पर दंगे होते थे और बादशाह उपद्रवियों को दण्ड देने में असमर्थ था। एक तरफ मराठों की शक्ति बढ़ती जा रही थी और दूसरी ओर अंग्रेज धीरे-धीरे देश पर अधिकार स्थापित करने में सफल होते जा रहे थे। सन् १८३७ ई० में बहादुरशाह द्वितीय दिल्ली की गद्दी पर बैठा। वह नाम-मात्र का अधिकार-हीन व्यक्ति था। कुछ दिनों तक अंग्रेजों द्वारा पेंशन पाता रहा, पर सन् १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध में उसने भारतीयों का साथ दिया। अतएव अंग्रेजों ने उसे कैद कर रंगून भेज दिया। सन् १८६२ ई० में उसका देहान्त हो गया। इस प्रकार सन् १५२६ ई० में बाबर ने जिस मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी, उस शाही बंश का अन्त सन् १८५७ ई० में इन कारुणिक स्थितियों में हुआ।

मुगल साम्राज्य के पतन के कारण—दिल्ली के मुगल वंश की परम्परा लगभग ३५० वर्षों तक चलती रही। भारतीय इतिहास में इस वंश का शासन-काल अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसमें बाबर, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरङ्गजेब जैसे शक्तिशाली सम्राट हुए जिन्होंने अपनी प्रतिभा से भारतीय इतिहास में अनेक नवीन विचार-धाराओं का सूत्रपात किया, हमारे सामाजिक और कलात्मक जीवन को अमर देन से गौरवशाली बनाया और संसार के इतिहास में अपने को भी अमर बना लिया। पर उत्थान एवं विकास के बाद ह्रास और पतन का आना प्राकृतिक नियम है। अतएव पाँच-छः पीढ़ियों तक शान-शौकत के साथ शासन-सूत्र चला कर और दिल्ली का मस्तक ऊँचा कर मुगलवंश पतनोन्मुख हो चला।

इस वंश के पतन के पीछे अनेक शक्तियों का हाथ था जिनमें से कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(१) मुगल साम्राज्य के पतन का बीजारोपण औरङ्गजेब के शासन-काल में ही हो गया था। उसकी **धार्मिक कट्टरता और संकुचित नीति** का बहुत बुरा प्रभाव साम्राज्य की शक्ति और व्यवस्था पर पड़ा। औरङ्गजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था और उसने जीवन और राज्य से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष को धर्म के चश्मे से देखा। इससे उसका दृष्टिकोण पक्षपात पूर्ण और विषाक्त हो गया और उसने अकबर की उदार तथा राष्ट्रीय नीति को पूरी तरह उलट दिया। इस धार्मिक पक्षपात से हिंदुओं की भावनाओं को गहरी ठेस लगी और वे साम्राज्य से केवल उदासीन ही नहीं हुये, बल्कि उसके शत्रु बन गये। कोई भी राज्य तथा सरकार अपनी प्रजा के अधिकांश भाग की सद्-भावना खोकर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। औरङ्गजेब की धार्मिक असहिष्णुता के कारण जाटों ने मथुरा, वृन्दावन, भरतपुर तथा आगरा के आसपास, राजपूतों ने मेवाड़ तथा मारवाड़ में, सिक्खों ने पंजाब में, मराठों ने दक्षिण में, सतनामियों ने दिल्ली के आस-पास विद्रोह किया और औरङ्गजेब के समय में तथा उसके बाद इन्होंने मुगल शासकों को चैन नहीं लेने दिया। औरङ्गजेब ने शिया और सुन्नी में भी भेद किया जिसके फल-स्वरूप स्थान-स्थान पर दंगे हुए और दक्षिण भारत में राजकीय स्तर पर लंबे युद्ध चलते रहे। इससे राज्य की शक्ति खोखली हो गयी और मुगलों का गौरव क्षीण होने लगा।

(२) औरङ्गजेब ने अपनी साम्राज्यवादी नीति को सार्थक बनाने के लिए **दक्षिण के राज्यों के साथ दीर्घकालीन युद्ध** चलाया। इन युद्धों से मुगलों की बड़ी क्षति हुई। अनवरत युद्ध में लगे रहने से राजकोष खाली हो गया और राज्य की व्यवस्था बिगड़ने लगी। लगातार वर्षों तक सैनिकों को वेतन नहीं मिल सका, अतएव वे हतोत्साह हो गये। इसके अतिरिक्त २५ वर्ष के इन युद्धों में असंख्य मुगल सैनिक मारे गये। "कहा जाता है कि उस समय प्रति वर्ष एक लाख सैनिक तथा तीन लाख घोड़े, हाथियाँ, ऊँट, बैल आदि मारे गये जिससे मुगल साम्राज्य को अपार क्षति उठानी पड़ी।

दक्षिण के अधिकांश कृषक उजड़ गये और कृषि नष्ट हो गयी। गाँव-के-गाँव नष्ट हो गये और दक्षिण का अधिकांश भाग वीरान बन गया। इस आर्थिक विनाश का मुगल साम्राज्य पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लगभग पच्चीस वर्ष तक इन युद्धों में फँसे रहने के कारण उत्तरी भारत का नियन्त्रण और शासन ढीला हो गया, कर्मचारी मनमानी करने लगे और कुव्यवस्था बढ़ने लगी।" प्रत्येक दृष्टि से औरङ्गजेब के दक्षिण भारत के राज्यों में युद्धों का विनाशकारी प्रभाव हुआ और वे युद्ध मुगल साम्राज्य की अवनति के प्रधान कारण बन गये।

(३) मुगल साम्राज्य को क्षति पहुँचाने में **मुगलों के उत्तराधिकार का असंयत नियम** भी एक बड़ा कारण सिद्ध हुआ। प्रारम्भ से ही शाहजादों के विद्रोह का एक क्रम बन गया। अकबर जैसे शासक के समय में सलीम (जहाँगीर) ने, जहाँगीर के शासन-काल में खुसरो और खुर्रम ने विद्रोह किया। शाहजहाँ के और औरंगजेब के समय यह सिलसिला पराकाष्ठा को पहुँच गया और उत्तराधिकार के निर्णय के लिए सदा शाहजादों ने तलवार का सहारा लिया। औरंगजेब ने तो इस दिशा में अति कर दी और अपने पिता को सात-आठ वर्ष तक कैद में रखा। इस कुव्यवस्था से राज्य की प्रतिष्ठा पर गहरा आघात होता था, दरबार में लगातार दलबन्दी बनी रहती थी, सरदार तथा अमीर कुचक्र में लीन रहते थे और एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश किया करते थे। इन विद्रोहों के कारण अन्य विजयों में बाधा उत्पन्न होती थी। खुसरो के विद्रोह से मेवाड़-विजय में बाधा हुई और खुर्रम के विद्रोह से कंदहार से हाथ धोना पड़ा। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम वर्षों में ऐसे विद्रोहों से शासन की जड़ हिल गयी।

(४) **औरंगजेब का संदेहशील स्वभाव** भी साम्राज्य को कमजोर करने का एक कारण बन गया। इसी अवगुण के कारण वह साम्राज्य के हर काम को स्वयं करना चाहता था और सदा अपने अफसरों को सन्देह की दृष्टि से देखता था। सम्राट की सन्देह करने की इस नीति का उसके पुत्रों, सम्बन्धियों और राजकर्मचारियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने

अपने विवेक और साहस पर भरोसा करना छोड़ दिया और वे सदा सम्राट का मुँह ताका करते थे। ऐसी स्थिति में काम बिगड़ जाता था, दायित्व का अभाव हो जाता था और सब सम्राट के क्रोध से बचने के लिए टाल-मटोल का मार्ग अपनाते थे। उनमें निरुत्साह और जीवन-विहीनता कूट-कूट कर भर गयी।

(५) **साम्राज्य की विशालता और केन्द्रीय शक्ति द्वारा संचालित राज्य** की पद्धति से भी मुगल शक्ति का ह्रास कालान्तर में हुआ। इतने बड़े साम्राज्य के चलाने का भार बहुत योग्य और उदार पर कुशल व्यक्ति द्वारा ही निभ सकता है। औरंगजेब के समय से अनुदार नीति का सूत्रपात हुआ। इससे इतने विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न भागों में असन्तोष फैलने लगा जिसे दबाना असम्भव हो गया। इस प्रकार की केन्द्रीभूत शासन-व्यवस्था में औरंगजेब के उत्तराधिकारियों जैसे अयोग्य और अप्रतिम शासकों का कोई महत्व नहीं रह सका और इस विशाल साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक-सा हो गया। विकेन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ने लगीं और स्थान-स्थान पर नयी शक्तियाँ पैदा हो गयीं। मौका पाते ही प्रान्तीय सूबेदारों ने अपने को स्वतन्त्र बना लिया और दिल्ली से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

(६) औरंगजेब के बाद शासन-व्यवस्था में **अराष्ट्रीय तत्वों का बोलबाला** हो गया। शासन अल्पसंख्यकों के हित में होने लगा और बहुसंख्यक जनता की सभ्यता, संस्कृति तथा उनके धर्म की अवहेलना और अनादर उग्र रूप में शुरू हो गया। धर्म, सरकारी पद, टैक्स और न्याय एवं शिक्षा के क्षेत्र में राज्य की ओर से पक्षपात की नीति का जोर बढ़ गया। इस स्थिति में साम्राज्य का पतनोन्मुख होना स्वाभाविक था।

(७) **दरबार की दलबंदी** भी इस युग की एक विशेषता थी। अकबर के समय तक उसकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व के कारण ऐसी दलबन्दी दबी रही। उसके बाद शिया-सुन्नी के भेद ने जोर पकड़ लिया। देशी और विदेशी अमीरों का वर्ग आपस में ईर्ष्या करने लगा और प्रत्येक दल इस

अवसर की ताक में रहता था कि वह किस प्रकार दूसरे दल को नष्ट करे और सम्राट पर स्वयं प्रभाव डाल सके। शासन पर हावी होने के लिए ये दल कुछ भी उठा नहीं रखते थे। तूरानी, ईरानी और देशी मुसलमानों के द्वन्द्व ने औरंगजेब की मृत्यु के बाद वीभत्स रूप धारण कर लिया और साम्राज्य के विनाश का कारण बन गया। प्रत्येक दल साम्राज्य की चिन्ता और हित के स्थान पर अपनी ही चिन्ता और लाभ में लीन रहता था और अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए साम्राज्य को अपना शिकार बनाने में तनिक हिचकता नहीं था। विभिन्न दलों के पारस्परिक संघर्ष से मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी।

(८) **सैनिक कुव्यवस्था** को भी कुछ इतिहासकारों ने मुगल शक्ति के पतन का कारण बताया है। उस युग में बड़े साम्राज्य को व्यवस्थित रखने के लिए एक बड़ी और शक्तिशाली सेना की आवश्यकता होती थी। अकबर के शासन काल तक सेना की व्यवस्था ठीक रही। पर उसके बाद जागीर की प्रथा पुनः चालू कर दी गयी, मनसबदारी की प्रथा में दोष घुस गये, सेनापतियों में आपस में अविश्वास और प्रतिस्पर्धा का कुचक्र तेज हो गया। प्रान्तीय सूबेदार भी सेना रखते थे। सैनिकों को प्रान्तीय सूबेदार और मनसबदार के प्रति भक्ति रखनी पड़ती थी, सम्राट से उनका सीधा सम्बन्ध बहुत कम होता था। अकबर के बाद सैनिकों का जीवन विलासी हो गया था, और निरन्तर युद्ध करते रहने से उनका मन ऊब भी जाता था। अतः उत्तरकालीन मुगलों सम्राटों की सेना कुव्यवस्था और अनैतिकता की शिकार हो गयी थी और उसमें न तो साम्राज्य सम्भालने की क्षमता थी और न आक्रमण-कारियों के साथ डट कर सामना करने शक्ति थी। ऐसी सेना नादिरशाह और अहमदशाह जैसे आक्रमणकारियों को भगाने में सर्वथा असमर्थ हो गयी और मराठा तथा यूरोपीय शक्ति के सामने झुक गयी। इन आघातों से साम्राज्य को ऐसी चोटें लगीं जिससे उसका अवसान हो गया।

(९) औरंगजेब के बाद मुगल सम्राटों को **बाहर से सैनिकों को प्राप्त करने में कठिनाई** होने लगी। कन्दहार और तत्पश्चात् अफगानिस्तान पर फारस वालों का अधिकार हो गया, अतः उधर से मुगल सैनिकों की भर्ती

बिल्कुल बन्द हो गयी। कुछ दिनों के बाद भारतीय मुगलों का पतन हो गया और बाहर से लड़ाकू मुगलों का आना बन्द हो गया। अधिक सम्भव है कि यदि बाहर से मुगलों के आने की प्रथा चलती रहती तो शायद मुगल साम्राज्य का पतन इतना शीघ्र न होता होता।

(१०) **कर्मचारियों और अमीरों का नैतिक पतन** भी इस साम्राज्य के विनाश का एक कारण बताया जाता है। शाहजहाँ के समय तक भारतीय और विदेशी अमीर राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद पर थे, उनमें चरित्रबल तथा नैतिकता भी पर्याप्त मात्रा में थी, पर उसके बाद वे स्वार्थी और पथ-भ्रष्ट एवं अनैतिक हो गये। उनकी राजभक्ति दिखावटी रह गयी और वे विलासी तथा कुचक्री हो गये। आपस में उनमें पद के लिए प्रतिद्वन्दिता चलने लगी और स्वार्थ-साधन उनके जीवन का परम लक्ष्य रह गया। सैयद-भाइयों का उदाहरण सबके समक्ष है। ऐसी दशा में किसी भी साम्राज्य का चलना असम्भव ही है।

(११) मुगल शासन काल में **प्रत्येक सम्राट के साथ एक-एक साम्राज्य-निर्माता** भी होता था जिसका सम्राट पर अत्यधिक प्रभाव होता था। बैरम खाँ, मानसिंह, महाबत खाँ, मीरजुमला, सैयद-भाई आदि इसी श्रेणी के थे। समय पाकर इन सम्राट-निर्माताओं और शासकों में आपस में शक्ति तथा अधिकार के लिए प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष पैदा हो जाता था। ऐसी स्थिति साम्राज्य को कमजोर बनाने में सहायक सिद्ध होती थी। विशेषकर कमजोर शासकों के समय में यह पद्धति साम्राज्य की जड़ हिला देती थी। "राजमुकुट एक प्रकार का खिलौना हो जाता था, जिसे दरबार के महत्वाकांक्षी व्यक्ति इच्छानुसार अपने इशारों पर नाचने वाले शाहजादों को देते थे।"

(१२) मुगल साम्राज्य के संचालक और उनके मुगल मददगार भारतीयों द्वारा प्रायः सदा विदेशी समझे जाते थे। इसीलिए यह **साम्राज्य लोकमत का समर्थन नहीं प्राप्त कर सका**। इस विदेशीपन के कारण यह शासन-तंत्र जनता के गले के नीचे कभी नहीं उतर सका और जनता की सच्ची

राजभक्ति अर्जित नहीं कर सका। ऐसी दशा में मुगल साम्राज्य में स्थायित्व आना सम्भव नहीं था।

(१३) अकबर के अतिरिक्त किसी अन्य मुगल सम्राट ने **भारत को एक राष्ट्र बनाने का प्रयास नहीं किया**। किसी ने राष्ट्रीय विचारधारा को शासन में पिरोने की उदारता नहीं दिखायी। वे अपने को जन-समाज से पृथक समझते रहते थे और कई शताब्दियों तक साथ रह कर भी शासक और शासित का भेदभाव दूर करने का कोई गम्भीर प्रयास मुगल सम्राटों की ओर से नहीं हुआ। इसीलिए देश में सच्ची राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हो सका। इस प्रकार **अराष्ट्रीय** वातावरण में पलने वाला मुगल साम्राज्य किस प्रकार स्थायी हो सकता था?

(१४) इन कारणों से जर्जरित मुगल साम्राज्य **विदेशियों के भयंकर आक्रमण से आक्रान्त** हो गया। नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण हुए और जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य की इमारत गिर गयी। इन आघातों को वह साम्राज्य सहन नहीं कर सका।

(१५) मुगलों ने सामुद्रिक शक्ति दृढ़ करने की कोई कोशिश नहीं की। उनका साम्राज्य बड़ा था। उसके तीन तरफ समुद्री किनारा था। पर मुगल सम्राटों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। यह उनकी बड़ी भूल थी। बिना नौ-सेना के उस समय किसी राज्य की रक्षा सम्भव नहीं थी क्योंकि यूरोपीय शक्तियों ने इस दिशा में पर्याप्त उन्नति की थी। उस समय तक अंग्रेज, फ्रांसिसी और डच भारत की सीमा में प्रवेश पा चुके थे और धीरे-धीरे उनके पैर दृढ़तर होते जा रहे थे। इस स्थिति में **नौ-सेना की उपेक्षा** मुगलों के लिए घातक सिद्ध हुई।

इस प्रकार मुगल साम्राज्य के पतन के अनेक कारण एक साथ उपस्थित हो गये थे। धार्मिक कट्टरता, अदूरदर्शी साम्राज्यवादी नीति, निरंतर चलने वाले युद्ध और राजकोष का खाली होना, दरबार की दलबन्दी और अमीरों

के स्वार्थ-संघर्ष, उत्तराधिकार के दोषपूर्ण नियम तथा इसी प्रकार के अनेक अन्य कारणों के उपस्थित हो जाने से मुगल साम्राज्य अपने उत्तरकालीन जीवन में पतनोन्मुख हो गया। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों की कमजोरी और विलासिता से साम्राज्य विनाश की ओर तीव्रगति से गिरने लगा और विदेशी आक्रमणकारियों, मराठा सरदारों और यूरोपीय साम्राज्यवादियों के आघात से इसका देहावसान हो गया। इस साम्राज्य के पतन में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सामरिक और राजनैतिक सभी प्रकार के कारण सम्मिलित थे।

चौतीसवाँ अध्याय

मुगलकालीन सभ्यता और संस्कृति

मुगल शासन-व्यवस्था—पिछले अध्यायों में मुगल सम्राटों की शासन-प्रणाली पर भिन्न-भिन्न पृष्ठों में प्रकाश डाला गया है। यहाँ उस प्रणाली की कुछ मूल बातें दी जाती हैं। मुगल-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी और सम्राट उस प्रणाली का केन्द्र-विन्दु था। सिद्धान्त में सभी मुगल सम्राट निरंकुश थे, पर उनमें से कुछ सम्राटों ने प्रजा के हित का सदा ध्यान रखा और अन्याय करनेवालों को कठोर दण्ड दिया। मुगल राजतन्त्र का मूल आधार विदेशी था, पर उसमें स्थान और समय के अनुसार सम्राटों ने कुछ परिवर्तन कर लिया था। मुगल साम्राज्य की व्यवस्था का आधार फौजी था और सेना ही सम्राट की शक्ति का आधार थी। सम्राट की प्रतिष्ठा और शक्ति बहुत कुछ सेना पर ही निर्भर थी। पर यह भी सच है कि इस साम्राज्य में सेना और सेनापतियों का अनुचित प्रभाव सम्राट पर नहीं था और सम्राट सदा सैनिक नियंत्रण अपने हाथ में रखते थे। राज्य के प्रायः सभी उच्च कर्मचारियों को सैनिक सेवा का काम दिया जाता था और उन्हें मनसब के पद पर नियुक्त किया जाता था।

"सम्राट सम्पूर्ण शासन व्यवस्था का प्राण था।" कुछ बड़े मुगल सम्राट निरंकुश होकर भी उदार थे। वही राज्य की शक्ति का स्रोत था और उसी के नाम से शासन चलता था। इस वंश के अधिक सम्राट इस्लाम और कुरान के आदेशों को राज्य-व्यवस्था के लिए सुविधानुसार तोड़मरोड़ लेते थे। "सम्राट के शब्द ही कानून थे और उसके आदेश के औचित्य अथवा अनौचित्य का प्रश्न करने का किसी को अधिकार नहीं था। कानून बनाने के लिए आधुनिक युग की तरह कौंसिल या संसद नहीं थे।"

अकबर ने 'झरोखा दर्शन' की प्रथा चलायी थी जिसके अनुसार सम्राट

एक निश्चित समय पर अपनी प्रजा को दर्शन देता था। भारतीय प्रजा पर इस प्रथा का अच्छा प्रभाव पड़ा था। औरंगजेब ने इस प्रथा को बन्द कर दिया क्योंकि इसे वह इस्लाम के अनुकूल नहीं समझता था। मुगल सम्राट प्रति दिन अपने 'दीवाने आम' में बैठकर अपने अफसरों के साथ राजकीय विषयों पर विचार-विमर्श करते थे। यहाँ राज्य के गोपनीय प्रश्नों पर भी विचार होता था। प्रति बुधवार को सम्राट एक निश्चित समय पर न्याय का काम भी करता था। वह शेष मामलों को काजियों के पास भेज दिया करता था। युद्ध के समय सम्राट सैन्य-संचालन भी करता था।

मंत्रि-परिषद्—मुगल शासन-व्यवस्था में निश्चित और नियमित मंत्रि-परिषद नहीं थी। प्रत्येक सम्राट अपनी रुचि के अनुसार अपने सलाहकारों को नियुक्त कर लिया करता था। सम्राट के प्रधान सलाहकार को 'दीवान' या वजीर कहते थे। अन्य मंत्री भी होते थे, पर सम्राट की इच्छा सर्वोपरि थी। सम्राट की इच्छा मानने के लिए सभी बाध्य थे, मंत्रियों की राय मानना या न मानना सम्राट के वश की बात थी। वजीर तथा अन्य मंत्रियों का पद सम्राट की इच्छा पर निर्भर था, अतः प्रत्येक मंत्री सम्राट के इशारे पर काम करता था। अपनी बुद्धि और सूझ-बूझ से ही वे सम्राट को प्रभावित कर सकते थे। मंत्रियों के पद की मर्यादा का प्रभाव सम्राट पर नहीं था। आधुनिक युग की मंत्रि-परिषद की व्यवस्था का उस समय सर्वथा अभाव था।

विभिन्न विभाग और पदाधिकारी—मुगल काल में शासन के काम विभिन्न विभागों में बँटे थे। प्रत्येक विभाग के लिए सम्राट द्वारा नियुक्त एक उच्चतम पदाधिकारी होता था। कोष तथा राजस्व विभाग वजीर या दीवान के अधीन था। राजकीय गृहव्यवस्था और भोजनालय खानसामा के अधीन था। सैनिकों के वेतन आदि का प्रबन्ध मीर बख्शी करता था। न्याय विभाग का प्रधान काजी होता था। जनता के सदाचार और आचरण के निरीक्षण के लिए प्रमुख अधिकारी मुहतसीब था। तोपखाना का अधिकारी मीर आतिश तथ टकसाल का प्रबन्धक दारोगा था। शहरों का प्रधान अधिकारी कोतवाल

होता था। इन विभागीय उच्च पदाधिकारियों के नीचे प्रत्येक विभाग में अनेक कर्मचारी काम करते थे।

प्रान्तीय शासन—मुगल साम्राज्य का विस्तार बहुत अधिक हो गया था। एक केन्द्र से इतने बड़े साम्राज्य का शासन चलाना सम्भव नहीं था। अतः प्रत्येक पूरे साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित किया गया। अकबर के समय में १८, जहाँगीर के समय में १६ और शाहजहाँ के समय में २२ सूबे थे। औरंगजेब के समय में साम्राज्य २१ सूबों में विभाजित था। चूँकि प्रान्तीय राजधानियाँ दिल्ली से दूर थीं, यातायात के साधन आजकल की तरह नहीं थे, अतः सूबेदारों की स्थिति सम्राट जैसी ही थी। वे अपने सूबे में प्रशासन और फौज दोनों के प्रधान होते थे। वह अपने क्षेत्र में शक्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी था। वह सम्राट की ओर से युद्ध भी करता था और अपने प्रान्त में न्याय का काम भी करता था। उसे अपने सूबे की सब मुख्य घटनाओं को सम्राट के पास सूचित करना पड़ता था। सम्राट की नीति और आज्ञाओं को समुचित रीति से कार्यान्वित करना उसका कर्तव्य था। प्रान्त में दूसरा प्रमुख अधिकारी 'दीवान' होता था। सूबे की मालगुजारी का पूरा प्रबन्ध उसी के हाथ में रहता था। इनके अतिरिक्त बख्शी, कोतवाल, काजी आदि अधिकारी प्रान्तीय शासन में थे।

सूबे को सुविधानुसार **'सरकारों'** में विभक्त किया जाता था। सरकार का सबसे बड़ा अधिकारी **"फौजदार"** होता था जो सूबेदार के नियंत्रण में काम करता था। उसकी सहायता के लिए करोड़ी अथवा आमिल, कोतवाल, शिकदार, दारोगा आदि कर्मचारी रहते थे। 'सरकार' के बाद परगने और पुनः गाँव शासन की क्रमशः छोटी इकाइयाँ थीं। यहाँ तहसीलदार और मुकद्दम होते थे जो लगान वसूल करने का काम करते थे और अन्य बातों की सूचना फौजदार को दिया करते थे।

राजस्व विभाग—बाबर और हुमायूँ के शासन-काल में इस विभाग की व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका। शेरशाह ने कृषि और लगान के विषय में अत्यन्त रोचक और वैज्ञानिक प्रबन्ध किया। पर

उसकी मृत्यु के बाद वह व्यवस्था बिगड़ गई। अकबर के शासन-काल के आरम्भ में जमीन दो भागों में बाँट दी गई थी। खालसा भूमि सम्राट के अधीन थी और जागीर सामन्तों के अधिकार में थी। सामन्त अपने अधिकार की भूमि से उपज का कुछ भाग सम्राट को देते थे और उपज के शेष भाग को अपने पास रखते थे। कुछ दिनों के बाद अकबर ने इस देश के लिए कृषि और किसान के महत्व को अच्छी तरह समझ लिया। अतः उसने टोडरमल की मदद से लगान की एक निश्चित योजना तैयार करवायी और अपने साम्राज्य में उसे लागू किया। सम्पूर्ण साम्राज्य की नाप करायी गयी और जमीन के क्षेत्रफल और उपज का ठीक-ठीक ब्यौरा तैयार किया गया। पुनः पैदावार की औसत का हिसाब लगा कर भूमि का लगान निश्चित किया गया। लगान दस वर्ष की औसत जमाबन्दी पर निर्धारित हुआ। भूमि की नाप में सावधानी की गयी। सारी भूमि को पोलज, पड़ौती, चाचर तथा बंजर की कोटि में विभाजित किया गया। यह विभाजन भूमि की उर्वरा शक्ति पर आधारित था। किसान को औसत उपज का एक तिहाई राजकर के रूप में देना पड़ता था। यह लगान नकद रुपये या पैदावार में दी जा सकती थी। किसान सीधे सरकार को लगान देता था और इस प्रथा को रैयतवाड़ी प्रथा कहते थे। लगान का एक राजकीय विभाग था। आमिल, कानूनगो, पटवारी आदि इस विभाग में काम करते थे।

लगान के अतिरिक्त कभी-कभी अन्य कर भी लिये जाते थे। इनमें पैदावार पर बिक्री-कर, स्थायी सम्पत्ति पर बिक्री-कर, कुछ व्यापारियों पर लगाया हुआ लाइसेन्स कर, हिन्दुओं पर कर मुख्य थे। औरङ्गजेब ने इनमें से कुछ करों को हटा दिया और जजिया कर हिन्दुओं पर लगाया। इसके अतिरिक्त अधीनस्थ राजाओं से भी कर लिया जाता था। आयात-निर्यात कर की व्यवस्था भी थी। चुंगी का प्रचार था। लावारिस सम्पत्ति राज्य की समझी जाती थी। उस समय नजर और भेंट लेने की प्रथा थी और इससे भी राज्य को अच्छी आय होती थी।

राज्य की यह आमदनी युद्धों के संचालन, सैनिकों और अन्य कर्मचारियों के वेतन, राजा और उसके परिवार तथा दरबार के प्रबन्ध तथा दान

आदि में व्यय किया जाता था। राज्य की आय पर सम्राट का पूर्ण अधिकार था औरङ्गजेब के अतिरिक्त अन्य सब सम्राट विलासी जीवन व्यतीत करते थे तथा राज्य की आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग अपने आराम में खर्च करते थे।

सैनिक व्यवस्था—बाबर और हुमायूँ के समय तक सेना का प्रबंध व्यवस्थित नहीं हो सका था, पर बाबर के सैनिक शक्तिशाली और चुस्त थे। उनके अधिकांश सैनिक बाहरी थे और सम्राट का उन पर सीधा नियंत्रण होता था। अकबर ने अपनी सैनिक व्यवस्था को एक नई प्रणाली पर सङ्गठित किया जिसे मनसबदारी प्रथा कहते हैं।

मनसबदारी प्रथा—मनसब का अर्थ पद होता है। सैनिक सेवा के लिए जो पद निर्धारित किया जाता था, उसे मनसब कहते थे। अकबर के समय में सैनिक सेवा की ३३ श्रेणियाँ थीं। सब से छोटे मनसबपद में २० सैनिक होते थे और जो इनका नियंत्रण करता था, उसे मनसबदार कहा जाता था। इसी प्रकार सब से ऊँची श्रेणी के मनसब में ५००० सैनिक होते थे। ७००० से १०००० तक के मनसबदार राजपरिवार के लोग बनाये जाते थे।

मनसबदारों की नियुक्ति, तरक्की और पदच्युत करना सम्राट के हाथ में होता था। सैनिकों को उनके मनसबदार नियुक्त करते थे। उन्हें युद्ध-सामग्री और घोड़े आदि मनसबदारों द्वारा ही प्राप्त होते थे। मनसबदारों का पद वंशगत नहीं होता था। प्रत्येक श्रेणी के मनसबदार का वेतन निश्चित रहता था। प्रत्येक मनसबदार को अपनी टुकड़ी के लिए सामान और घोड़ों की व्यवस्था करनी पड़ती थी। इतिहासकारों का मत है कि अधिकांश मनसबदार अपने वेतन की रकम बचा लेते थे और आवश्यक सामान तथा घोड़े सदा अपने पास नहीं रखते थे। उनके लिए परेड और दाग की व्यवस्था थी, पर सर्वत्र यह नियम कड़ाई के साथ नहीं पालन किया जाता था।

मनसबदारी प्रथा में झूठी सेना रखने का दोष घुस गया था। दिखाने के लिए मनसबदार लोग आपस में घोड़ों को बदल लिया करते थे या एक दूसरे से उधार ले लिया करते थे। घोड़ों के रखने में भी बेइमानी होती थी

और घटिया किस्म के घोड़े रख लिये जाते थे। इस प्रकार के दोषों से बचने के लिए प्रयास किया जाता था और मनसबदारों का पूर्ण विवरण तथा उनके घोड़ों का पूरा परिचय लिखा जाता था।

मनसबदारी प्रथा के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सैनिक भी होते थे जिन्हें राजकोष से वेतन मिलता था। इन्हें 'अहदी' कहा जाता था। कुछ विशेष सैनिक सम्राट के अङ्गरक्षक होते थे। अकबर के समय में सब को नकद वेतन दिया जाता था, पर बाद को पुनः जागीर देने की प्रथा चालू कर दी गयी।

सेना के अंग—मुगल सेना में पाँच अङ्ग थे अर्थात् पैदल, घुड़सवार, तोपखाना, जलसेना और हस्तिसेना। इनमें अधिक महत्व घुड़सवार और तोपखाना विभाग का था। मुगलों के समय में जलसेना का सङ्गठन अच्छा नहीं था।

दोष—मुगल सेना पर राज्य कोष का एक बहुत बड़ा भाग व्यय होता था। पर उस समय सेना में कुछ दोष विशेष प्रकार के थे। सेना में सैनिकों की भर्ती मनसबदारों द्वारा होती थी, सम्राट का उनसे कोई सम्पर्क नहीं रहता था। अतः साधारण सैनिक सम्राट की अपेक्षा अपने मनसबदार को अधिक महत्व देता था। मुगल युग में देश भर की सेना का नियंत्रण और संचालन विभिन्न सेनापतियों के हाथ में रहता था। इससे सेना की एकता और भक्ति में कमजोरी आ जाती थी और सेनापतियों में ईर्ष्या पैदा हो जाती थी। इसीलिए मुगल सेना में एकता और केन्द्रीय नियंत्रण का अभाव पाया जाता था। मुगल शासन काल के उत्तरार्द्ध में सेना का विस्तार बहुत बढ़ गया था जिसका संचालन और प्रबन्ध करना असम्भव-सा हो गया। इसी से अनुशासन और सामंजस्य का भी अभाव हो जाता था। "उनमें शीघ्र काम करने और शानदार साहसिक प्रयास करने की क्षमता नहीं थी।" प्रायः सामान और हथियार पहुँचाने वाला अंग कमजोर होता था और शत्रु के हाथों का शिकार बन जाता था। इसीलिए मुगल सेना को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी। कुछ वर्षों के बाद मुगल सैनिकों का जीवन विलासी और आलसी हो जाता था। इसका बहुत बुरा प्रभाव सैनिक-नियंत्रण और क्षमता पर

पड़ता था। इन्हीं कमजोरियों के कारण मुगल शासन के उत्तरार्द्ध में सेना की सफलता नगण्य हो गयी थी।

न्याय-व्यवस्था—बाबर और हुमायूँ के बाद ही मुगल सम्राटों ने न्याय-व्यवस्था को ठीक करने में समय लगाया। अकबर सम्राट को ईश्वर का अंश मानता था, अतः सम्राट को न्याय का उद्गम समझता था। वह स्वयं और उसके परवर्ती सम्राट एक निश्चित दिन न्याय करने के लिए बैठते थे। उसके समक्ष कुछ मुकदमें सीधे और कुछ काजी के यहाँ से अपीलें आती थीं, जिनका निर्णय सम्राट करता था। न्याय के समय मीरअर्ज निरन्तर वहाँ उपस्थित रहता था। बाद को कई मीरअर्ज नियुक्त किये गये थे और अब्दुल रहीम उनके सदर या प्रधान थे। न्याय के लिए सम्राट तक पहुँचना सर्व साधारण के लिए कठिन था। सम्राट का आदेश था कि न्याय करने में देर न की जाय। अपराध करने पर सरकारी कर्मचारी भी दण्डित किया जाता था। अपनी न्याय-व्यवस्था पर सम्राट अकबर को गर्व था।

चार प्रकार के न्यायालय थे। एक प्रकार के न्यायलय में राजस्व सम्बन्धी, दूसरे प्रकार के न्यायालय में दीवानी और फौजदारी सम्बन्धी, तीसरे प्रकार के न्यायलय में जाति तथा गाँव पंचायत सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय होता था। चौथे प्रकार की वे अदालतें थीं जहाँ सम्राट, फौजदार, सूबेदार आदि निर्णय किया करते थे और जहाँ इनके समक्ष हर प्रकार के मुकदमें पेश किये जाते थे।

सम्राट द्वारा दिये गये दान सम्बन्धी झगड़ों से सद्र-ए-सुदूर (प्रधान सद्र) न्याय करता था। उसके नीचे प्रान्त में सद्र होता था। न्याय-व्यवस्था आज-कल की तरह सिलसिले से संगठित नहीं थी। इस विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी 'काजी-उलकुजात' था जो न्याय-विभाग का संगठन और प्रशासन सम्बन्धी काम करता था।

पंचायतों के मुकदमों का निर्णय स्थानीय रीति-रिवाज के अनुसार होता था। काजी के न्यायालय में मुसलिम कानून का प्रयोग होता था। इसके प्रधान स्रोत कुरान और शेरियत के नियम थे। जहाँगीर और औरंगजेब ने

अपने अपने समय में कानूनों को संग्रहीत करने की कोशिश की थी। हिन्दुओं के मुकदमों में उनकी ही रीति-रिवाज के अनुसार निर्णय देने की कोशिश की जाती थी।

विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए विभिन्न दण्ड की व्यवस्था थी। राज-द्रोह, डकैती एवं चोरी के लिए कड़ा दण्ड मिलता था। प्राण-दण्ड, हाथ-पैर काट लेने की सजा ऐसे बड़े अपराधियों को दी जाती थी। सरकारी कर्मचारियों को जनता की शिकायत पर पदच्युत, तबादला, वेतन में कमी आदि दण्ड दिये जाते थे। उत्तर मुगल काल में न्याय-व्यवस्था ढीली पड़ गई थी और न्याय करने वाले घूस लेने लगे थे। सुदूर स्थानों पर न्याय की व्यवस्था अच्छी नहीं थी और प्रजा को वहाँ के पदाधिकारियों की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ता था। औरंगजेब के समय और उसके बाद न्याय में धार्मिक पक्षपात भी होने लगा था। यातायात की असुविधा, कानून की किसी व्यवस्थित और प्रामाणिक कानून की पुस्तक का अभाव और धार्मिक भेदभाव के कारण सम्राटों की इच्छा होते हुए भी न्याय का काम उतना संयत और चुस्त ढंग से हो नहीं पाता था जितना इस विषय में आशा की जाती थी।

सामाजिक जीवन—मुगल कालीन सामाजिक व्यवस्था में दो प्रकार के लोग यहाँ मुख्य रूप से थे। देश के अधिकांश लोग हिन्दू थे और अल्पसंख्यक वर्ग मुसलमानों का था। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था और ढांचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। वे पूर्ववत् जाति-उपजातियों में विभाजित थे। जाति बंधन कड़ा होता जा रहा था और छूत-अछूत का भेद-भाव भी गहरा हो रहा था। इन जातियों की विभिन्न श्रेणियों के कारण समाज में बहुत असमानता थी।

मुसलमानों में नये और पुराने मुसलमान-वर्ग में भेद-भाव था। अफगान और मुगल अपने को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ समझते थे। जो हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान हो गये थे, वे अफगान और मुगल वंश के लोगों से हेय समझे जाते थे। इनके आर्थिक स्तर में भी बहुत अन्तर था, अतः इस्लाम की दीक्षा लेने के बाद भी अभी तक भारतीय मुसलमान और अफगान तथा मुगल

वंश के मुसलमानों में भेद-भाव बना हुआ था। सैयद, शेख, पठान और मुगल समान नहीं समझे जाते थे। भारतीय मुसलमान इन सब से पृथक थे।

आर्थिक और राजकीय सम्मान की दृष्टि से समाज का विभाजन उस समय उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग में किया जा सकता था। उच्च-वर्ग में अमीर, दरबारी, उच्च पदाधिकारी, सामन्त, राजा-महाराजा और सम्राट के दया-पात्र लोगों का था। मध्यम वर्ग में व्यापारी और साधारण श्रेणी के किसान आदि आते थे। निम्नकोटि में साधारण किसान, छोटे कर्मचारी और मजदूर वर्ग के लोग थे।

उच्च वर्ग के लोगों के पास बहुत बड़ी सम्पति होती थी। उनका जीवन अधिकांश भोग-विलास में व्यतीत होता था। वे उत्पादन का काम नहीं करते थे, बल्कि दूसरों की कमाई पर मौज करते थे। अधिकतर सम्पति और पद पुश्तैनी नहीं थे, अतः इस वर्ग के व्यक्ति अपनी सम्पति को अपने जीवन में खुलकर खर्च करते थे। इसीलिए इनका जीवन विलासी हो जाता था। अहङ्कार, मिथ्याभिमान और वाह्याडम्बर इनके जीवन की विशेषताएँ थीं। इनके हरम में सैकड़ों स्त्रियाँ रहती थीं। आइने-अकबरी के अनुसार स्वयं अकबर के हरम में लगभग ५००० स्त्रियाँ रहती थीं। इस वर्ग के लोगों में गोश्त खाने की प्रथा अधिक थी। इनका निवास-स्थान आराम और विलास की सामग्रियों से भरा रहता था। शराब, जुआ, नाच-गाना और खेल-शिकार का प्रचलन अधिक था। शाहजहाँ के समय में इस प्रकार की बातें चरम-सीमा तक पहुँच चुकी थीं। औरंगजेब ने अपनी सादगी और व्यक्तिगत जीवन में नियंत्रण के कारण इस प्रकार के व्यसनी और आमोद-प्रमोद के जीवन में रोक लगा दी थी। पर उसकी मृत्यु के बाद पुनः इस वर्ग का जीवन वैसा ही हो गया। इन बुराइयों के बाद भी वे कलाकारों, विद्वानों तथा गुणी व्यक्तियों को अपने यहाँ प्रश्रय देते थे।

मध्यम वर्ग के लोगों का जीवन सरल और सादा था। इस श्रेणी में कम ही लोग थे। वे परिश्रम करते थे और अपनी सम्पत्ति को छिपा कर रखने की कोशिश करते थे।

देश की जनता की अधिकांश संख्या तीसरे वर्ग के लोगों की थी। वे

अशिक्षित और गरीब होते थे। भोजन और वस्त्र में उन्हें आवश्यकता की दृष्टि से भी कमी थी। "उनके पास अपनी सम्पत्ति के नाम पर कुछ मिट्टी के बर्तन, फटे-पुराने कपड़े और झोपड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता था। इस वर्ग के अधिक लोग देहातों में रहते थे और खेतों पर मजदूरी करते थे।" उन्हें बहुत कम मजदूरी मिलती थी। मामूली कारीगरों की गणना भी इसी श्रेणी में थी। बेगार ली जाती थी या उन्हें बहुत कम मजदूरी ही मिलती थी। उनका भोजन बहुत साधारण था और वे प्रायः दिन में एक ही बार भोजन करते थे। इन्हीं के विषय में एक डच यात्री पेलसारेट (Pelsaret) ने लिखा है कि "मजदूर, चपरासी, नौकर और छोटे दुकानदार इन तीन श्रेणियों के लोग कहने के लिए तो स्वतंत्र अवश्य थे, परन्तु उनकी और गुलामों की स्थिति में थोड़ा ही अन्तर था।"

स्त्रियों की दशा—स्त्रियों की दशा उस समय अच्छी नहीं थी। उन्हें पर्दा में रहना पड़ता था। मुसलमानों में पर्दा का कड़ा नियम था। बहु विवाह की प्रथा अधिक थी और अमीर तथा सम्पत्तिवाले लोग दहेज लेने के लिए विवाह करते थे। अमीर के हरम में सैकड़ों स्त्रियाँ रहती थीं। सम्राट अकबर के हरम में लगभग ५००० स्त्रियाँ थीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह की प्रथा, दहेज की प्रथा का बोलबाला था। अकबर ने इन सामाजिक बुराइयों को रोकने के लिए कानून बनाया, पर उन कानूनों का विशेष प्रभाव नहीं हुआ। बर्नियर ने एक स्थान पर लिखा है कि उसने लाहौर के पास १२ वर्ष की एक लड़की को अपने पति के साथ चिता पर जलने के लिए तैयार देखा था। बचपन की शादी के अनेक प्रमाण दिये गये हैं। बंगाल में सती, दहेज, बाल-विवाह, बहु विवाह की प्रथा अन्य स्थानों से अधिक थी। महाराष्ट्र में दहेज प्रथा की कुरीति का जोर नहीं था। स्त्रियों की शिक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। उच्च कुल की लड़कियाँ अपने घरों में ही शिक्षा पाती थीं और साधारण परिवार की लड़कियों को शिक्षा देने की परिपाटी नहीं थी।

उस समय भी हरम की इज्जत का ध्यान सब लोग रखते थे। स्त्रियाँ स्वतः सदाचारिणी होती थीं और आवश्यकता पड़ने पर अपने सतीत्व और

सम्मान की रक्षा के लिए जान पर खेल जाती थीं। इस युग में भी कुछ स्त्रियाँ चाँदबीबी, नूरजहाँ जैसी राजनीति में भाग लेती थीं। शाहजहाँ की लड़की जहाँनारा ने पिता के कष्ट के दिनों में उसकी अनुपम सेवा की थी। विदेशी यात्रियों ने लिखा है कि "भारत की स्त्रियाँ इतनी पवित्र समझी जाती थीं कि युद्ध, हत्या या सर्वनाश के समय भी सैनिक उन्हें नहीं छेड़ते थे।"

अमीर और सम्पन्न लोगों के घरों में आभूषण का प्रयोग अत्यधिक होता था। आभूषण में हीरे-जवाहरात के प्रयोग की चलन थी। कानों में बालियाँ और नाक में नथ पहनने का प्रचार साधारण परिवार में अधिक था। हाथ-पैर में कड़े पहने जाते थे। चूड़ियाँ पहनने की प्रथा थी। अमीर लोग तरह-तरह के वस्त्र पहनते थे।

सामाजिक सम्पर्क—मुगल काल के पूर्वार्द्ध में अकबर और उसके वंशजों की सहिष्णु और उदार एवं राष्ट्रीय नीति के कारण हिन्दू-मुसलमान आपस में बहुत निकट आ गये और उनकी आपस की कटुता का अन्त हो गया। धार्मिक सामंजस्य की विचार-धारा ने दोनों वर्ग की जनता को मिला दिया। हिन्दुओं की होली, दशहरा, दीवाली के उत्सव में मुसलमान भाग लेने लगे। हिन्दू मन्दिरों में मुसलमान पूजा चढ़ाते थे और मुसलमानों की मस्जिदों में हिन्दू शीरनी बाँटते थे। मुहर्रम के अवसर पर हिन्दू मुसलमानों के साथ होते थे। इस प्रकार औरङ्गजेब के शासन काल के पूर्व हिन्दू-मुसलमान आपस में बहुत मिल-जुलकर रहने लगे थे। इनमें पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

त्यौहार—उन दिनों व्रत और त्यौहार बड़े उल्लास के साथ मनाये जाते थे। होली हिन्दुओं में और ईद मुसलमानों में सबसे अधिक उल्लास के त्यौहार थे। शिया और सुन्नी में आपस में शत्रुता थी। हिन्दू व्रत, त्यौहार, गंगा स्नान, तीर्थयात्रा आदि पर विशेष जोर देते थे। अकबर हिन्दू त्यौहारों को भी मानता था। जहाँगीर रक्षा-बंधन के दिन अपने इष्ट मित्रों के हाथ में रक्षा-बंधन बाँधता था। शाहजहाँ भी इन त्यौहारों को अपने दरबार में मनाता था।

साधारण जनता में अन्ध विश्वास अधिक था। भूत-प्रेत, और जादू-टोना में भी अधिक लोग विश्वास करते थे। ज्योतिष में प्रायः सब का विश्वास था। मंत्र-तंत्र का प्रयोग रोग मुक्त होने के लिए भी किया जाता था। जादूगरों का भी समाज में प्रभाव था। देवी-देवताओं के लिए बलि देकर प्रसन्न करने की प्रथा थी।

शाहजहाँ के बाद मुगलों की नीति बदल गयी और औरंगजेब के बाद सम्राट की शक्ति का ह्रास हो गया। अतः भारतीय हिन्दू जनता की दशा पर भी इसका प्रभाव पड़ा। धार्मिक पक्षपात बढ़ गया, हिन्दुओं की दशा अरक्षित हो गयी, उनके मन्दिरों, देवी-देवताओं का अनादर होने लगा, चोरी डकैती का भी जोर बढ़ने लगा। सरकारी कर्मचारी मनमानी करने लगे और लोगों की आर्थिक दशा खराब होने लगी। राज्य की ओर से जनता उदासीन हो गयी, और उनकी प्रतिभा कुंठित होने लगी। प्रतिभाहीन और दुश्चरित्र आमीरों का प्रभाव बढ़ने लगा। उनका समय स्त्रियों, चाटुकारों और विदूषकों के बीच व्यतीत होता था। गरीबी के कारण भिक्षा माँगने वालों की संख्या बहुत बढ़ गयी। साधुओं और फकीरों की संख्या में भी बहुत वृद्धि हुई। वे घूम-घूम कर अपना पेट पालते थे।

धार्मिक दशा—मुगल सम्राट अपने शासन के प्रथम १५० वर्षों तक धार्मिक क्षेत्र में बड़े ही उदार और राष्ट्रीय विचार वाले रहे। वे मुसलमान होकर भी धार्मिक अत्याचार के कट्टर विरोधी थे। उनके समक्ष पिछले ऐसे सन्तों के उदाहरण थे जिन्होंने धार्मिक क्षेत्र में समन्वय का मार्ग खोल दिया था और यह धारणा फैला दी थी कि सब धर्म में ईश्वर और मनुष्य-प्रेम की बात सर्वोपरि है। राजवंश के कितने ही व्यक्ति सूफी सन्तों को अपना गुरु मानते थे।

हिन्दुओं पर इस समय तीन प्रकार के महत्माओं का प्रभाव पड़ा। ज्ञानाश्रयी पंथ के महात्मा कबीर को अपना पूज्य समझते थे। वे आराधना और ज्ञान को ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग मानते थे। इनके लिये हिन्दू-मुसलमान सब बराबर और समान थे। दूसरी श्रेणी के महात्मा कृष्णभक्त थे। उनमें चैतन्य, सूरदास, के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। ये कृष्ण को ईश्वर का साकार अवतार

मानते थे। तीसरी श्रेणी में राम की उपासना का जोर था। ये राम को ईश्वर का अवतार और मनुष्य मात्र का पिता तथा राजा कहते थे।

मुगल सम्राटों ने हिन्दू धर्म के प्रति विशेष रुचि दिखायी। अकबर हिन्दू सन्तों और पण्डितों से बहुत प्रभावित हुआ था। जहाँगीर भी उनके प्रति उदार था। दारा हिन्दू-दर्शन और धर्म का विद्वान था। सैयद-भाइयों ने हिन्दुओं को प्रश्रय दिया। पर औरङ्गजेब और उसके बाद के कुछ सम्राटों ने इस उदात्त परिपाटी को उलट दिया और उन्होंने इस्लाम की रक्षा और प्रचार को ही अपना सर्वस्व बना लिया था।

सोलहवीं सदी की सहिष्णुता की नीति और उदार राजनैतिक वातावरण में अनेक धार्मिक मतों और ग्रंथों का प्रादुर्भाव हुआ। स्वामी बल्लभाचार्य, विट्ठल नाथ, सूरदास ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। मथुरा और वृन्दाबन इनका मुख्य केन्द्र बना जहाँ अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। इसी युग में प्रसिद्ध सन्त राम-भक्त तुलसीदास हुए जिन्होंने 'रामचरित मानस' की रचना कर राम-सीता की कथा को पुनः जन-जन के हृदय में प्लावित कर दिया। दक्षिण भारत में सन्त तुकाराम, एकनाथ ने हृदय की शुद्धि, ईश्वर की प्राप्ति और आचरण की अच्छाई पर विशेष जोर दिया। शिवाजी के गुरु रामदास जी एक वेदान्ती वैष्णव थे। इन महात्माओं और सन्तों के प्रचार से देश के जन-जीवन में एक आशा और उल्लास की धारा फूट निकली और लोगों में ईश्वर के प्रति विश्वास दृढ़ हो गया। आगे चलकर जब राजनैतिक आश्रय का आवरण उन पर से हट गया, तो वे इन्हीं महात्माओं की वाणी के बल पर निराश नहीं हुए और अपनी मुक्ति की आशा में धैर्य धारण करते रहे। शेरशाह और अकबर का शासन-काल इस समय का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। सबको पूजा-पाठ की स्वतंत्रता थी, मन्दिरों की प्रतिष्ठा पर कोई आघात नहीं होता था, गोहत्या नहीं होती थी, धर्मान्धता और कट्टरपंथी का नाम नहीं था। धार्मिक संकीर्णता की नींव हिल चुकी थी। धार्मिक समन्वय के पक्ष में हवा चल रही थी और 'दीन इलाही' उसी का एक रूप था। शाहजहाँ के समय तक यह धारा कुछ कुछ जीवित रही। पर औरङ्ग-जेब ने उसे उलट दिया और उसने हिन्दुओं के धार्मिक विचारों पर गहरी चोट

की। पर उस नैराश्यपूर्ण वातावरण में सूर, तुलसी और तुकाराम की वाणी ने उन्हें जीवित रक्खा।

शिक्षा की व्यवस्था—बाबर, हुमायूँ, शेरशाह और अकबर के शासन काल में सम्राटों ने शिक्षा की ओर विशेष रुचि दिखाई। बाबर अरबी, फारसी और तुर्की का प्रकाण्ड विद्वान था। हुमायूँ भी शिक्षा का प्रेमी था। उसने दिल्ली में स्कूल और पुस्तकालय की स्थापना करवाई थी। शेरशाह भी उच्चकोटि का विद्यानुरागी था। अकबर विद्वानों को प्रश्रय देने में सब से आगे था। उसने कई मदरसे स्थापित किये, हिन्दुओं की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। यही प्रथा आगे भी चलती रही। औरङ्गजेब ने भी शिक्षा को खूब प्रोत्साहन दिया, पर उनका ध्यान केवल मुसलमानों की शिक्षा पर ही केन्द्रित था।

इस युग में शिक्षा का प्रबन्ध और प्रोत्साहन बादशाह के व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित था। राज्य की ओर से व्यापक ढंग पर शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। स्थान-स्थान पर वहाँ के अमीर अपनी प्रेरणा से पाठशालाओं का प्रबन्ध करते थे। गाँवों में हिन्दुओं की अपनी पाठशालाएँ थीं और मुसलमानों के लिए प्रत्येक मस्जिद के साथ एक मकतब होता था जिसमें बच्चे मुसलमानी ढंग पर शिक्षा पाते थे। शाहजहाँ के समय में हिन्दुओं के बच्चे भी मकतब में बैठते थे, पर औरङ्गजेब ने इस प्रथा को बन्द करवा दिया था। पाठशालाओं और मकतबों का प्रबन्ध दान के बल पर चलता था और पढ़ाने वाले पण्डितों को कभी-कभी स्थायी रूप से जमीन आदि भी दी जाती थी।

आर्थिक दशा—बाबर तथा हुमायूँ के समय में देश की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। तत्कालीन लेखों में इस बात का संकेत है कि चीजें सस्ती और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं। हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम ने 'हुमायूँनामा' में लिखा है कि उस समय एक रुपये में चार बकरे मिलते थे। शेरशाह और अकबर ने भूमि की व्यवस्था ठीक करके देश को अधिक समृद्धशाली और सुखी बनाया था। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय की शान-शौकत इस बात के प्रमाण हैं कि देश सम्पत्ति-सम्पन्न था और यहाँ की

आर्थिक दशा अच्छी थी। परन्तु औरङ्गजेब के लगातार चलने वाले युद्धों, धार्मिक करों, और बाद की राजनैतिक अस्थिरता से यहाँ की आर्थिक दशा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और लोगों की दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती गई।

शेरशाह और अकबर ने देश की कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया और पैदावार बढ़ाने के लिए बहुत प्रबन्ध किया क्योंकि वे समझते थे कि यह देश कृषि प्रधान देश है और खेती ही से यहाँ की जनता सुखी रह सकती है। गेहूँ, चावल, जौ, बाजरा, मक्का, ज्वार, गन्ना, नील, तिलहन, कपास, दाल आदि की पैदावार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। नील यहाँ से बाहर भेजा जाता था और उससे अच्छी आय होती थी। किसानों की सुविधा के लिए लगान और सिंचाई की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया जाता था। अकाल और सूखा पड़ने पर लोगों को मदद दी जाती थी और लगान में छूट दी जाती थी।

इस युग में उद्योग धंधों की उन्नति अच्छी हुई। रेशम बनाने का उद्योग अधिक उन्नति पर था। बारीक कपड़े, रेशमी वस्त्र और दुशाले यहाँ से बन कर अन्य देशों के बाजारों में जाते थे और ऊँचे दामों पर बेंचे जाते थे। बङ्गाल के सोनार गाँव, तथा ढाका के अच्छे वस्त्र सर्वत्र पसन्द किये जाते थे। बनारस के वस्त्रों की माँग भी अच्छी थी। कपड़े की छपाई का काम भी अच्छा होता था। दरी, कालीन, हाथी दाँत के सामान, बक्स बहुत अधिक तैयार होते थे और बिक्री के लिए दूर-दूर भेजे जाते थे।

देश में व्यापार भी अधिक होता था। सड़कों की सुरक्षा के लिए विशेष सतर्कता दिखायी जाती थी। विदेशों को भी माल भेजा जाता था। सूरत, गोआ, कालीकट, सुनार गाँव, चटगाँव इस समय अधिक प्रसिद्ध बंदरगाह थे। बाहर भेजी जाने वाली चीजों में रेशमी तथा सूती वस्त्र, नील, हाथी दाँत के बने सामान, मसाला, काली मिर्च मुख्य थीं और सोने-चाँदी के सामान, कीमती पत्थर और कुछ फल बाहर से आने वाली वस्तुओं में प्रधान थे। सत्र-हवीं सदी में यूरोप के व्यापारियों ने भारत के समुद्री किनारे पर अपनी कोठियाँ बना ली थीं और देश के भीतरी भाग से अच्छा व्यापार करते थे। उनको इस देश के व्यापार से बहुत लाभ था। व्यापार के लिए सड़कों के

किनारे सरायें बनायी गयी थीं और व्यापारियों की रक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता था।

यह सच है कि देश की सम्पत्ति का वितरण उचित ढंग पर नहीं था। अमीरों के पास अधिक सम्पत्ति थी और उन्हें परिश्रम नहीं करना पड़ता था। देश की साधारण जनता अपेक्षाकृत गरीब थी और उनका आर्थिक जीवन सन्तोष-जनक नहीं था।

मुगल युग के उत्तरार्द्ध में देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। इसके अनेक कारण थे। केन्द्रीय सत्ता शिथिल हो चली, युद्ध निरन्तर चलने लगे, जिससे शाही कोष खाली हो गया। दक्षिण में मीलों तक गाँव उजड़ गये। अंग्रेजों के आने के बाद उद्योग-धन्धों और कारीगरों का भी ह्रास हो गया। औरंगजेब के बाद सर्वत्र एक प्रकार की अराजकता और अशान्ति छा गयी, स्थान-स्थान पर षड्यंत्र होने लगे। अहमदशाह और नादिरशाह के आक्रमणों से मुगल प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। दिल्ली, पंजाब में घोर राजनैतिक अव्यवस्था हो गई और चोरी-डकैती का बोलबाला हो गया। सरकारी कर्मचारी घूस लेने लगे और न्याय की व्यवस्था ढीली पड़ गयी। इन सारी बातों का देश की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। कृषि और व्यापार ठप्प हो गये। देश का समस्त आर्थिक ढाँचा शिथिल और छिन्न-भिन्न हो गया। अधिकांश लोगों का जीवन गरीबी में व्यतीत होने लगा और शेरशाह तथा अकबर के समय की शान्ति और सम्पत्ति की कथाएँ-मात्र ही शेष रह गयीं।

वास्तु कला—वास्तु कला और भवन निर्माण की दृष्टि से मुगलकालीन युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग माना जाता है। मुगल-सम्राटों की इस देन की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। मुगल युग की यह कला कला मध्य एशिया, दक्षिणी-पूर्वी यूरोप और भारतीय कला के सम्मिश्रण से बनी है और मुगल सम्राटों ने इन्हीं सब शैलियों का सामंजस्य कर अपनी एक विशेष पद्धति को जन्म दिया था। इस युग में दिल्ली-आगरा, गुजरात, बीजापुर, जौनपुर आदि स्थानों पर कुछ अपनी-अपनी विशेषताओं को लिए

विभिन्न शैलियों पर इमारतों का निर्माण हुआ और इन सब को एक नाम देकर मुगल कालनी वास्तु कला (स्थापत्य कला) कहा जाता है। इस युग की वास्तु कला को राजपूतों द्वारा निर्मित भव्य इमारतों, दक्षिण भारत के विशाल मन्दिरों, गुम्बजों एवं मीनारों तथा गुजरात के वेलगोटों से प्रेरणा मिली।

इस युग की वास्तु कला में हिन्दू और मुसलमान शैली का सम्मिश्रण है। उनका आधार फारस की शैली है, पर उनके निर्माण का अन्तिम लक्ष्य भारतीय शैली की उत्कृष्टता प्राप्त करना है। अतः इसे भारत-फारसी कला का नाम दिया जा सकता है। मुगल इमारतों में भारतीय कला के स्तम्भों की सजावट, मेहराब, खिड़की के पर्दे तथा गुम्बज आदि का फारस की कला का कतिपय बातों के साथ मेल हुआ है। फारस में रंगील खपरैल, चित्रकारी, सागदी और नक्काशी की सुन्दरता, बाग, संगमरमर का प्रयोग और घेरा का इमारत-निर्माण में विशेष महत्व माना जाता है। ये सब बातें मुगल युग की निर्मित इमारतों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। इन्हीं दोनों प्रकार की बातों का सम्मिश्रण इस युग की अपनी विशेषता बन गयी है।

बाबर और हुमायूँ का शासन काल—बाबर और हुमायूँ को भारत में निश्चिन्त होकर राज्य करने का अवसर बहुत कम मिला। अतः उनका ध्यान भवन-निर्माण की ओर विशेष रूप से नहीं जा सका। फिर भी बाबर ने आगरा, सीकरी, वियाना, ग्वालियर आदि स्थानों पर भारतीय प्रस्तर-शिल्पियों को काम पर लगाया और अनेक इमारतें बनवाईं। आगरे में इमारत बनवाने के लिए बाबर ने ६८० कारीगरों को और अन्य स्थानों पर प्रतिदिन १५०० कारीगरों को काम में नियुक्त किया था। बाबर की बनवायी हुई इमारतों में केवल दो ही अब तक खड़ी हैं, शेष ध्वस्त हो चुकी हैं। उनमें से एक पानीपत में तथा दूसरी सम्भल में है।

हुमायूँ का शासन-काल भी उथल-पुथल का समय रहा। अतः उस समय कम इमारतें बनीं। उस समय की एक विशाल मस्जिद हिसार जिले में और शेरशाह द्वारा निर्मित किले और भवन सहसराम में (बिहार के शाहाबाद जिले में) पाये जाते हैं। हिसार जिले की मस्जिद का खपरैल ईरानी पद्धति

का अनुकरण है। शेरशाह द्वारा बनवायी हुई सहसराम की इमारतों में बौद्ध स्तूप, हिन्दू-मन्दिर और मुस्लिम मजार का अच्छा सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

अकबर का शासन-काल—अकबर का शासन-काल सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का समय था। इस समय अनेक भव्य और विशाल इमारतों का निर्माण हुआ। अकबर के समय की पहली इमारत दिल्ली स्थित हुमायूँ का मकबरा है। उसमें संगमरमर का प्रयोग सर्व प्रथम हुआ है। उसकी धरातल की बनावट और सजावट भारतीय है और शेष भाग पर ईरानी कला का प्रभाव पड़ा है। अकबर की सृजनात्मक प्रवृति का जीता-जागता चित्र फतेहपुर-सीकरी में मिलता है जहाँ बुलन्द दरवाजा, शेख सलीम चिश्ती का मकबरा, जामा मसजिद, दीवान-खास, पंच महल और मरियम-उज-जमानी का महल प्रसिद्ध इमारतों में हैं। बुलन्द दरवाजा का निर्माण गुजरात-विजय की स्मृति में हुआ था और उसकी पूरी शैली मुस्लिम ढंग की है। यहाँ की दूसरी प्रसिद्ध इमारत पंचमहल की है जो भारतीय बौद्ध विहारों की शैली पर निर्मित है। दीवाने खास भी यहाँ की प्रसिद्ध इमारत है जिसमें मध्य भाग में हिन्दू शैली के कमल के आकार का सिंहासन-स्तम्भ बना हुआ है। राजा बीरबल के महल और इबादतखाना में हिन्दू-मुस्लिम शैली का मिश्रण हुआ है। "वस्तुतः फतेहपुर-सीकरी की इमारतें सम्राट अकबर की राजनैतिक एवं धार्मिक भावनाओं की सुन्दर प्रतीक हैं। इनके द्वारा उसकी समन्वयकारी प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय मिलता है।"

आगरा, इलाहाबाद और अटक के किलों का निर्माण अकबर के ही शासनकाल में हुआ था। आगरा का किला सन् १५६४ ई० में और इलाहाबाद का किला सन् १५७३—८३ ई० तक के समय में बना। आगरा के पास ही अपने जीवनकाल में अकबर ने अपने लिए सिकन्दरा में एक भव्य मकबरे का निर्माण शुरू करवाया जो जहाँगीर के समय में पूरा हुआ। यह मकबरा हिन्दू-मुसलमान दोनों शैलियों के मेल से बना है। आगरा और सिकन्दरा की अधिकांश इमारतों में खिड़कियाँ,

चपटी छतें, मेहराबों के स्थान पर खड़े दरवाजे आदि हिन्दू शैली के प्रधान तत्वों की छाप की स्पष्ट याद दिला रहे हैं।

इसके अतिरिक्त उस समय की दर्शनीय इमारतों में मथुरा का सतीबुर्ज (१५७० ई०) जो जयपुर के राजा बिहारीमल की पत्नी की स्मृति में हिन्दू शैली पर निर्मित है और ग्वालियर में मुहम्मद गौस का मकबरा अधिक उल्लेखनीय हैं। अकबर के शासनकाल में निर्मित अनेक हिन्दू इमारतें और मन्दिर औरंगजेब की धर्मान्धता के शिकार हो गये और आज केवल उनकी याद ही शेष रह गयी है।

अकबर का शासन-काल इस दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। अबुल फजल ने ठीक ही कहा था कि "अकबर ने भव्य और विशाल भवनों की आयोजना की और अपने मस्तिष्क और हृदय की सुन्दरतम भावनाओं को पत्थर की पोशाक पहनाया।" उदारमना अकबर वास्तु कला के क्षेत्र में जो उदात्त कृतियाँ अपनी विरासत में छोड़ गया है, उसके लिए भारत सदा उसका ऋणी रहेगा।

जहाँगीर का शासन-काल—जहाँगीर ने अकबर द्वारा प्रारम्भ किया हुआ सिकन्दरा का मकबरा पूरा करवाया और आगरा में नूरजहाँ के पिता इतमादुद्दौला की कब्र पर एक अत्यन्त सुन्दर मकबरे का निर्माण हुआ। यह इमारत सफेद संगमरमर के बहुमूल्य पत्थरों से जड़ित बनी हुई है। इस मकबरे में पच्चीकारी का काम बहुत सुन्दर हुआ है। इसका निर्माण सन् १६२८ ई० में हुआ था। इसके अतिरिक्त उदयपुर का गोल मण्डल और लाहौर के दुर्ग और राज-प्रासाद इस समय के बने हुए हैं।

शाहजहाँ का काल—स्थापत्य कला के उत्कर्ष में शाहजहाँ का शासन-काल बहुत प्रसिद्ध हो गया है। उसे सुन्दर इमारतों के निर्माण का शौक था। उसने आगरा, दिल्ली, लाहौर, अजमेर, काबुल, कन्दहार और काश्मीर में अनेक दुर्गों, महलों, वाटिकाओं और मस्जिदों का निर्माण करवाया और इन कामों में अपार धन-राशि व्यय किया। आगरे के किले में एक स्थान पर ही शाहजहाँ के समय का वैभव और उसकी निर्माण-शैली का उत्कृष्ट नमूना

देखने को मिलता है। वहाँ **दीवाने आम, दीवाने खास** तथा अन्य प्रासाद बहुत ही विशाल और भव्य इमारतों में हैं। दीवाने-खास की दीवारों पर अंकित शब्द उस इमारत की सुन्दरता और भव्यता का निर्देश करते हुए ठीक ही प्रमाणित करते हैं कि "यदि इस भूमि पर कहीं आनन्द का स्वर्ग है, तो वह यही है, यही है, यही है।" * इन इमारतों के कमरे, बरामदे, मण्डप खम्भे और छतें अपनी नक्काशी, बेल-बूटे और स्वच्छ संगमरमर के काम के लिये प्रसिद्ध हैं। यहीं **मोती** मस्जिद भी है जिसका निर्माण सात वर्षों में हुआ और जो आगरे के किले के भीतर सुन्दरतम इमारत है। इस मस्जिद में भी भारतीय शैली के कुछ स्पष्ट चिन्ह लक्षित होते हैं। किले के बाहर उस युग की बनी हुई **जामा** मस्जिद है जिसे जहाँनारा ने बनवाया था। यह मस्जिद भी अतीव सुन्दर, सुडौल और दर्शनीय है।

आगरे में शाहजहाँ द्वारा निर्मित सर्वोत्तम इमारत **ताज** है जिसे देखने के लिए संसार के हर कोने से यात्री आते हैं। यह विश्व की अनुपम कृतियों में से एक है जिसे सम्राट ने अपनी प्रियतमा की मृत्यु के बाद उसे सजीव करने के लिए बनवाया था। इसके निर्माण में २२ वर्ष लगे और सन् १६५३ ई० में यह पूरा हुआ। इस इमारत में विभिन्न शैलियों का सुन्दर समन्वय है और श्वेत संगमरमर का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। इसकी नकाशी और सजावट, निर्माण कला का संतुलन और सफाई आज भी दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देती है। आज तीन सौ वर्षों के बाद भी यह आज की ही बनी मालूम पड़ती है। 'ताज' के बनवाने में लगभग तीन करोड़ रुपये लगे थे। इसके गुम्बज, इस पर अंकित कुरान की आयतें, बाग, फाटक सभी इसके सौंदर्य को बढ़ाने में अनुपम योग देते हैं।

शाहजहाँ अपनी राजधानी आगरे से हटाकर दिल्ली ले गया और वहाँ एक नया नगर **शाहजहाँनाबाद** बसाया। इस नगर की नींव सन् १६३६ ई० में पड़ी थी। इसके निर्माण में १० वर्ष लगे और सन् १६४८ ई० में यहाँ राजधानी आयी। यहाँ **लाल पत्थर का प्रसिद्ध विशाल किला** बना और

---

* अगर फिरदौस बर रूए जमीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्तो॥

उसके भीतर शाहबुर्ज, रंगमहल, मुमताज महल, दीवाने आम, दीवाने खास आदि इमारतें बनीं। इनमें सबसे अधिक शानदार, वैभव-सम्पन्न और अलंकृत इमारत दीवाने-खास है जो शाहजहाँ की विलासप्रियता और सौंदर्य-प्रेम का उत्कृष्ट नमूना है। दिल्ली की लाल पत्थर से बनी **जामा मस्जिद** भी भारत की बड़ी मस्जिदों में से एक है। कहा जाता है कि इसके बनवाने में १० लाख रुपये खर्च हुए थे और छः वर्षों में यह तैयार हुई थी।

इसके अतिरिक्त इस काल की अन्य इमारतें अजमेर में हैं। अना सागर झील, वहाँ का १२४० फीट लंबा संगमरमर का घाट, पाँच बारादरियाँ और एक हम्माम, जामा मस्जिद आदि इमारतें शाहजहाँ के सौन्दर्य और निर्माण-कला के प्रेम के प्रतीक-स्वरूप आज भी खड़ी हैं।

शाहजहाँ के समय की कला का चित्र **'तख्त ताऊस'** के वर्णन के बिना अधूरा रह जाता है। "यह मयूर-सिंहासन सम्राट के प्रदर्शन की प्रवृत्ति और सौन्दर्य-प्रेम का अद्भुत नमूना है। ७ फीट लंबा, ७ फीट चौड़ा और १५ फीट ऊँचा यह सिंहासन लगभग एक करोड़ से अधिक व्यय में बना था। इसके बनवाने में सात वर्ष लगे थे। इस सिंहासन का ऊपरी भाग (चँदोवा) और स्तम्भ माणिक, रत्न, पन्ने, हीरा, लाल और मोतियों को जड़ कर बनवाये गये हैं। चँदोवा १२ स्तम्भों पर खड़ा था। प्रत्येक स्तम्भ पर दो रत्न जटित मोर बने थे और प्रत्येक दो मोर के बीच में लाल, हीरा, पन्ना और मोती से जड़ा हुआ एक वृक्ष बना था जो देखने में चकाचौंध पैदा कर देता था।" भारत की इस अमूल्य निधि को नादिरशाह अपने साथ उठा ले गया और आज उसका ऐश्वर्य केवल इतिहास के पन्नों में ही देखने को शेष रह गया है।

कला का अन्त—औरङ्गजेब रूखी तबीयत का आदमी था। उसे भवन-निर्माण और कलात्मक चीजों से कोई प्रेम नहीं था। उसके समय की नी एक भी इमारत उच्चकोटि की नहीं है। वह इस प्रकार की चीजों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। उसके समय में शिल्पी और कारीगर मुगल दरबार छोड़ कर अन्यत्र चले गये। उसने अपनी धर्मान्धता में काशी, मथुरा, अयोध्या तथा मालवा आदि स्थानों पर अनेक हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करा

दिया और उनमें से कुछ के स्थान पर वहीं मस्जिद खड़ी कर दी। ये मस्जिदें उन्हीं ध्वस्त मन्दिरों के ईंट, चूना, गारा तथा अन्य सामग्री से बनायी गयीं। इनमें विधर्मियों को अपमानित एवं दण्डित करने का दृष्टिकोण अधिक था, और कलात्मक प्रदर्शन तथा कला-प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं के बराबर थी। औरङ्गजेब के बाद उत्तराधिकार सम्बंधी युद्ध, दरबार की दलबंदी, विलास-प्रियता और राजनैतिक शिथिलता तथा कमजोरी उत्तरोत्तर होती गयी और कला का पूर्ण रूप से ह्रास हो गया।

चित्रकला—मुगल शासकों के समय में चित्रकला को भी पर्याप्त बल मिला। बाबर स्वयं प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा प्रेमी था और हुमायूँ अपने साथ फारस से बड़े-बड़े चित्रकारों को साथ लेकर भारत लौटा था। इन चित्रकारों ने कई ग्रंथों को चित्रमय किया। अकबर के समय में इस क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। फतेहपुर सीकरी के सब भवनों पर अद्भुत चित्रकारी के नमूने देखने को मिलते हैं। कहा जाता है कि उसके दरबार में प्रथम श्रेणी लगभग १०० चित्रकार थे। जहाँगीर चित्रकारी से बहुत प्रेम रखता था। उसके दरबार में आगा रजा अपने समय का अद्वितीय चित्रकार था। उस समय के हिंदू चित्रकारों में बसावन, दसवन्त, साँवलदास आदि के नाम प्रमुख हैं। इन चित्रकारों ने 'महाभारत,' 'बाबरनामा' और 'अकबरनामा' जैसे ग्रंथों को चित्रांकित करने का प्रयास किया था। इस समय पक्षियों और प्राकृतिक दृश्यों के चित्र विशेष रूप से बनाये जाते थे। इस युग के चित्रों में भारतीय और ईरानी कला का सम्मिश्रण हुआ। जहाँगीर के समय तक ईरानी प्रभाव समाप्त हो चुका था और भारतीय कला ने अपने स्वतन्त्र रूप में विकास किया। इसी समय भाव-चित्र की पद्धति का विकास हुआ और आँख, कान, नाक, भौंह, हाथ, होठ के चित्र द्वारा मनुष्य के भाव और चरित्र को प्रकट करने की विशेष योग्यता प्राप्त की गई।

जहाँगीर के बाद चित्रकला का ह्रास हो गया क्योंकि शाहजहाँ को इससे प्रेम नहीं था और औरङ्गजेब धार्मिक कारणों से कला को प्रोत्साहन नहीं देता था।

इस युग में लेखन-कला का भी बहुत विकास हुआ और विभिन्न प्रकार की लेखन शैलियाँ अपनायी गयीं। मुगल-कालीन पुस्तकों और मकबरों पर उत्कृष्ट लेखन शैली के नमूने आज भी देखने को मिलते हैं। 'ताज' की दीवारों पर जो आयतें लिखी हैं, वे अपनी तरह की बे जोड़ हैं। सुन्दर लिखने वालों का मुगल दरबार में बहुत सम्मान होता था और अच्छा पुरस्कार दिया जाता था।

संगीत-विद्या—मुगलों को गान-विद्या से भी बहुत प्रेम था। बाबर अनेक अच्छे संगीतज्ञों को अपने दरबार में रखता था। हुमायूँ के दरबार में प्रसिद्ध संगीतज्ञ बच्चू का बहुत सम्मान था। अकबर की इस कला में बड़ी अभिरुचि थी। वह चाहता था कि उसके दरबार में अच्छे से अच्छे सङ्गीतज्ञ रहें। सम्राट उनका बहुत आदर करता था। सर्वयुग का सर्वश्रेष्ठ गायक **तानसेन** अकबर के नवरत्नों में था। सम्राट के आश्रय और संरक्षण में प्रसिद्ध संगीतज्ञों ने नये-नये राग और रागिनियों का सृजन किया जिनका गौरव आज भी बना हुआ है। जहाँगीर और शाहजहाँ को भी सङ्गीत से बहुत प्रेम था। शाहजहाँ ऐसे कलाकारों की बहुत इज्जत करता था। एक बार सम्राट जगन्नाथ नामक एक संगीतज्ञ के गाने से इतना आत्म-विभोर हो गया कि उसे सोने से तौलवा दिया।

दरबार के बाहर भी गाने का अधिक प्रचार था। सूफी सन्त और कबीर पंथी खूब भजन गाते थे। बङ्गाल के वैष्णव साधु भी कीर्तन और कथा के बड़े प्रेमी थे। रामदास तथा तुकाराम ने गान-विद्या को ही अपने प्रचार का साधन बनाया था। सूर, तुलसी एवं मीरा के गेय पदों का भी अच्छा प्रचार जनता में हुआ।

शाहजहाँ के बाद गान-विद्या का ह्रास हो गया। औरङ्गजेब सङ्गीत से घृणा करता था। उसने अपने दरबार से सङ्गीतज्ञों को निकलवा दिया। उसकी नीति से तङ्ग आकर एक बार सङ्गीतज्ञों ने उसके सामने गान-विद्या का जनाजा निकाला था। दरबार के गायक लखनऊ, ग्वालियर तथा जयपुर चले गये।

साहित्य की उन्नति—मुगल काल में साहित्य के क्षेत्र में भी विशेष उन्नति हुई। राजनैतिक एकता, राष्ट्रीय उत्थान, आर्थिक सुव्यवस्था और सह अस्तित्व की नीति से देश में शान्ति और सन्तोष का वातावरण रहा और ऐसी दशा में साहित्य-सृजन का कार्य होना स्वाभाविक ही था।

मुगल सम्राट वंश-परम्परा से साहित्य-प्रेमी थे। प्रथम मुगल सम्राट बाबर अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं का उच्च कोटि का विद्वान था। वह स्वयं लेकक और कवि दोनों था। उसका 'बाबरनामा' (तुजुके बाबरी) तुर्की भाषा में लिखित एक उत्तम ग्रन्थ है। यह बाबर की आत्म-कथा है। इसका अनुवाद हुमायूँ और पुनः अब्दुर्रहीम खानखाना ने फारसी में किया। कुछ विद्वानों की राय में एशिया के सम्राटों द्वारा लिखी आत्म-कथाओं में यह सब से सुन्दर ग्रंथ है। इस ग्रंथ की शैली सुबोध, सरल पर ओजस्विनी है। हुमायूँ स्वयं भी विद्वान और विद्वानों का आदर करने वाला था। 'तज किरातुल् वाकियात' का प्रसिद्ध लेखक जौहर हुमायूँ का नौकर था। उसकी बहन गुलबदन बेगम उच्चकोटि की लेखिका थी, उसने 'हुमायूँ नामा' नामक ग्रंथ लिखा।

अकबर का शासनकाल साहित्यिक उन्नति की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। उसके शासनकाल में साहित्य के हर क्षेत्र में सराहनीय उन्नति हुई। वह स्वयं पढ़ा लिखा नहीं था, पर उसकी प्रतिभा का लोहा सब मानते थे। फारसी साहित्य में इतिहास, अनुदित साहित्य और पद्य के क्षेत्र में अनेक ग्रंथ लिखे गये। प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथों में मुल्ला दाऊद की 'तारीखे अल्फी', अबुल फजल की 'आईने अकबरी' और 'अकबरनामा', बदाऊनी की 'मुन्तखब उत्तवारीख', निजामुद्दीन अहमद की 'तबकाते अकबरी' और फैजी का 'अकबर नामा' आदि प्रमुख हैं। इस युग के फारसी लेखकों में अबुल फजल सब से श्रेष्ठ माना जाता है। इसी समय अकबर की प्रेरणा से 'महा भारत', 'रामायण' 'अथर्व वेद', 'लीलावती' तथा 'पंचतन्त्र' जैसे ग्रंथों का फारसी में अनुवाद हुआ। इस युग का अरबी का श्रेष्ठ कवि फैजी था। अकबर के दरबार के कवियों में 'गिजाली' का नाम सर्वोपरि था।

अकबर के शासन-काल में हिन्दी साहित्य में भी ऐसे ग्रंथों की रचना हुई जो साहित्य की अमर निधि बन गये। उसी समय सूरदास, तुलसीदास, नन्ददास जैसी साहित्यिक विभूतियों का उदय हुआ। सूर का कृष्ण काव्य, तुलसी का राम काव्य उत्तरी भारत की हिन्दू-जनता के जीवन के अभिन्न अंग बन गये। 'रामचरित मानस' हिन्दी साहित्य का अमूल्य और बेजोड़ ग्रंथ है जिसकी बराबरी आज तक किसी ने नहीं की। सूर-साहित्य ब्रज भाषा और तुलसी-साहित्य अवधी में लिखे गये। इन्हीं दोनों कवियों ने इन दोनों भाषाओं को अमर बना दिया है। ये ग्रंथ लोक कल्याण, सांस्कृतिक विश्लेषण और सामंजस्य, भक्ति और जन जीवन की दृष्टि से अद्वितीय हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' भी अपनी तरह की निराली रचना है। केशवदास अन्य कई ग्रंथों के भी रचयिता हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना के दोहे हिन्दी वाले आज भी बड़े चाव से पढ़ते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' की रचना इसी समय की। आपकी रचनाएँ रहस्यवादी हैं।

कृष्ण काव्य के लेखकों में 'रास पंचाध्यायी' के रचयिता नन्ददास का नाम भी उल्लेखनीय है। गद्य की पुस्तक "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" के लेखक विट्ठलनाथ, परमानन्ददास आदि थे। हिन्दी में गद्य की यह प्रथम पुस्तक मानी जाती है। रसखान की कविता अपनी कोमलता, माधुर्य और सरलता के लिए आज भी चाव के साथ पढ़ी जाती है। मीराबाई के गेय पद अपने तरह के अद्वितीय हैं। 'सूर' का स्थान तो इस वर्ग के कवियों में सर्वश्रेष्ठ है ही। "उनका 'सूर सागर' भक्ति और प्रेम का अथाह सागर है। इस ग्रंथ में अन्धे सूरदास ने राधा और गोपियों के साथ कृष्ण की रास लीला तथा उनके वियोग का जो विशद वर्णन किया है वह विश्व-साहित्य में अपनी बराबरी नहीं रखता।"

तुलसीदास ने रामचरितमानस के अतिरिक्त अन्य अनेक उत्तम ग्रंथों की रचना की। उनकी गीतावली, कवितावली, विनय पत्रिका, जानकी मंगल, पार्वती मंगल आदि उत्तम ग्रंथ हैं। नाभादास ने 'भक्तमाल' लिखा जिसमें उन्होंने राम-कृष्ण के भक्तों का जीवन-चरित्र लिखा है। केशव की रामचन्द्रिका के अतिरिक्त कविप्रिया, रसिकप्रिया, अलंकार मंजरी आदि

प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। सेनापति, मतिराम, भूषण, देव, बिहारी आदि कवि भी इसी युग की देन हैं। बिहारी की 'बिहारी सतसई' भाव और भाषा की दृष्टि से बेजोड़ ग्रंथ हैं। इसमें लगभग ७०० दोहे हैं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि यह युग साहित्य-सृजन के विचार से अभूतपूर्व है।

जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में भी साहित्य की उन्नति आगे बढ़ती रही। उसने स्वयं अपनी जीवनी 'तुजके जहाँगिरी' लिखी। उसके दरबार में गयासबेग और अब्दुलहक दिहलवी जैसे प्रसिद्ध कवि रहते थे। शाहजहाँ के समय में भी अनेक ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना हुई जिनमें शाहजहाँ के शासन का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। अब्दुल तालिब कलीम शाहजहाँ का राजकवि था। केशव, भूषण, बिहारी, देव इसी के समकालीन कवि थे। शाहजहाँ का पुत्र दारा स्वयं एक उच्चकोटि का विद्वान और लेखक था। उसने अनेक ग्रंथ लिखे और उसी के उत्साह और प्रेरणा से उपनिषद, भगवत्गीता तथा योगवसिष्ठ का फारसी में अनुवाद हुआ था। इसी युग में मुल्ला फरीद भूगोल के और अब्दुर्रशीद बीज गणित के विद्वान हुए।

औरंगजेब स्वयं विद्वान सम्राट था। उसके शासन-काल में खाफी खाँ ने 'मुन्तखबुल-लुबूब' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखा। इस युग के अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों में 'आलमगीरनामा' और 'मासिरे आलमगिरी' विशेष प्रसिद्ध हैं। सम्राट स्वयं धार्मिक ग्रंथों को बड़ी लगन से पढ़ता था। उसे सम्पूर्ण कुरान कंठाग्र था। उसने फारसी में अनेक पत्र लिखे जिनमें से लगभग एक हजार पत्र आज भी उपलब्ध हैं।

बंगला और मराठी साहित्य—मुगल शासनकाल में बंगला में भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इस युग के बंगला साहित्य में महाप्रभु चैतन्य देव की जीवनी की प्रधानता है। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'चैतन्य चरितामृत', 'चैतन्य भागवत', 'चैतन्य मंगल', 'भक्ति रत्नाकर' अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त गीता, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों का बंगला में अनुवाद हुआ। कासीराम दास द्वारा बंगला में लिखित 'महाभारत' आज भी बहुत लोकप्रिय है।

मराठी साहित्य में तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित, एकनाथ जैसे महात्माओं की अनेक रचनाओं से साहित्य का भण्डार बढ़ा। इनकी वाणी से महाराष्ट्र में नव जागरण और समानता की लहर दौड़ने लगी। इनके भजन और गीत आज भी बड़े प्रेम से पढ़े जाते हैं।

उर्दू का विकास—दिल्ली सल्तनत के युग में फारसी और हिन्दी के मिश्रण से एक नई भाषा का श्रीगणेश हुआ था। उसी नयी भाषा का नाम उर्दू पड़ा। इस भाषा को मुगल सम्राटों का संरक्षण प्राप्त हुआ। मुगल दरबार में अनेक उर्दू कवि आश्रय पाते थे। दिल्ली उर्दू का प्रधान केन्द्र बन गया। इसी समय गालिब और जौक उर्दू के श्रेष्ठ कवि हुए। वास्तव में मुगल युग के उत्तरार्ध में उर्दू की प्रगति तेज हुई और औरंगजेब की मृत्यु के बाद इसका सितारा चमका। दिल्ली के बाद उर्दू को अधिक संरक्षण लखनऊ में मिला जहाँ के नवाबों को इस भाषा से अधिक प्रेम था।

इस प्रकार मुगल काल में साहित्य और भाषा के क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई। फारसी, अरबी, तुर्की, हिन्दी, मराठी, बँगला तथा उर्दू में इस युग में गद्य, पद्य, इतिहास, गणित, धर्म और अन्य विषयों के उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे गये और विषय, भाव, अभिव्यक्ति तथा ओज के कारण इस युग के अनेक ग्रंथों ने विश्व-साहित्य में अपना अजेय स्थान बना लिया है। साहित्य की इस अभूतपूर्व उन्नति में मुगल सम्राटों की उदारता, गुण-ग्राह्यता और सफल प्रशासन का बहुत अधिक श्रेय है।

मुगल काल में विदेशी यात्री—मुगल बादशाहों के समय में अनेक विदेशी यात्री भारत आये। उन्होंने देश में भ्रमण कर जो कुछ देखा, उसे लिखने का प्रयास किया है। उनमें से कुछ यात्री दरबार में भी रहे और जन साधारण के जीवन से भी परिचय प्राप्त करने की कोशिश की। इस युग के इतिहास की बहुत-सी घटनाओं पर उनके लेखों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। सबसे पहले अकबर के दरबार में जेसुइट पादरी आये थे जो अकबर द्वारा संचालित वाद-विवाद में भाग लेते थे और अपनी योग्यतानुसार सम्राट को प्रभावित करने की कोशिश करते थे। इन पादरियों में फादर जूलियन पेदेरा

(१५७६ ई०), रुडोल्फ अक्वेविवा और फ्रैन्सिस हेनरिक (सन् १५८० ई०) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सम्राट ने अपने दरबार में इनका बहुत आदर-सत्कारकिया और इनकी सुविधा का विशेष प्रबन्ध किया। सन् १५६१ ई० में गोआ से पुनः एडवर्ड लीटन और क्रिस्टोफर डी वेगा नाम के पादरी आये। सम्राट ने इन्हें अपने शाहजादों को पुर्तगाली पढ़ाने के लिए रख लिया था और एक स्कूल भी खोला गया।

उसी समय कुछ अंग्रेज यात्री भी भारत आये थे। ये अंग्रेज यात्री अपनी महारानी एलिजाबेथ के फरमान के साथ अकबर के दरबार में आये थे। वे भारत में अंग्रेजों के लिए व्यापार की सुविधा चाहते थे। उस समय उन्हें अपने ध्येय में विशेष सफलता नहीं मिली।

जहाँगीर के समय में कैप्टन हाकिन्स नामक एक अंग्रेज व्यापारिक कोठियाँ बनवाने की अनुमति प्राप्त करने इंगलैण्ड के बादशाह का दूत होकर भारत आया था। हाकिन्स तीन वर्ष तक जहाँगीर के दरबार में रहा। उसने मुगल दरबार का और सम्राट के स्वभाव तथा आचरण का वर्णन लिखा है। उसके कथनानुसार जहाँगीर क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति था। वह अपराधियों को बड़ी निर्दयता से दण्ड दिया करता था। हाकिन्स ने लिखा है कि सम्राट विरोधी प्रकृति का व्यक्ति था और कभी-कभी बड़ी उदारता के साथ पेश आता था। सम्राट प्रजा के साथ न्याय करता था। उस समय रिश्वत खूब चलती थी। शिक्षा पर राज्य की ओर से बहुत कम व्यय होता था। दण्ड-व्यवस्था कठोर थी।

उसके बाद सर टामस रो सन् १६१५ ई० में मुगल दरबार में आया। वह भी व्यापारिक सुविधा के लिए प्रार्थना करने जहाँगीर के दरबार में पहुँचा। वह भी मुगल दरबार में तीन वर्ष तक रहा। उसने सम्राट को प्रभावित कर भारत में व्यापार करने की सुविधा प्राप्त कर ली। उसके साथ एडवर्ड टेरी नामक पादरी भी था। दरबार में उपहार और घूस देने लेने की प्रथा अधिक थी। मुगल दरबार बहुत ऐश्वर्य और वैभव-सम्पन्न था और राजपरिवार तथा दरबारी लोग विलास का जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु साधारण जनता का जीवन दुखी और शोचनीय था। टामस रो के विचार से शासन-व्यवस्था

ढीली थी। यातायात के मार्ग सुरक्षित नहीं थे, प्रान्तीय सरकारें अधिक स्वतंत्र थीं और प्रान्तीय गवर्नर मनमानी करते थे। उसने लिखा है कि जहाँगीर को चित्रकला से विशेष प्रेम था। इस यात्री ने जहाँगीर की प्रशंसा की है पर यह भी लिखा है कि सम्राट विलासी और असंयमी जीवन व्यतीत करता था। टामस रो ने सम्राट को एक चित्र भेंट किया था जिसकी कई प्रतियाँ उसने करवाईं क्योंकि वह चित्र सम्राट को बहुत पसन्द था।

इनके अतिरिक्त एक डच लेखक पेल सारेट भी जहाँगीर के शासन काल में भारत आया। उसने सूबेदारी और मनसबदारी के विषय में सविस्तार लिखा है। उसका कहना है कि उस समय कारीगरों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी और उन्हें बहुत कम पैसे मिलते थे। उनके घर मिट्टी और फूस के बने हुए थे। राज्य के कर्मचारी व्यापारियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। उस समय सम्राट ने गाय-बैल का वध बन्द करा दिया था और इस आज्ञा के उल्लंघन करने वालों को सम्राट प्राण-दण्ड देता था।

सत्रहवीं सदी में दो फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियर और बर्नियर भारत आये थे। उन्होंने सम्राट की शान शौकत और सम्पत्ति का वर्णन किया है। बर्नियर भारत में १२ वर्ष तक रहा और यहाँ लोगों के जीवन के हर पहलू को देखा। उसने लिखा है कि उस समय कृषि की अवस्था ठीक नहीं थी। सेना बड़ी थी और सैनिक व्यवस्था में राजकोष का बहुत अंश व्यय होता था। देश में सस्ती थी और चीजें प्रचुर मात्रा में मिलती थीं। बंगाल का सूबा समृद्धशाली था। रुई और रेशम विदेशों को भेजा जाता था।

मनूची नामक इटली के यात्री ने भी बहुत दिनों तक भारत का भ्रमण किया। उसने बहुत मनोरंजक रीति से यहाँ की सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित बातों को अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से लिखा है। उसके लेखों से मालूम होता है कि देश में सम्पत्ति का बँटवारा असन्तुलित था। अमीर और दरबारी लोगों के पास मनूची के कथनानुसार अत्यधिक सम्पत्ति थी और किसान तथा कारीगर निर्धन और दुखी थे।

मुगल युग के पूर्वार्द्ध में राजनैतिक एकता और शान्ति के कारण देश में

यात्रियों के भ्रमण में सुविधा थी और उनके लिए खतरा नहीं था। पर औरंगजेब के बाद यह परिस्थिति बदल गयी। कुछ दिनों के बाद यूरोपीय व्यापारियों का जोर बढ़ने लगा और वे अपनी साम्राज्यवादी नीति को कार्यान्वित करने में अधिक तत्पर हो गये। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण की स्थिति से उन्हें सुनहला अवसर हाथ लगा और वे इस देश पर हावी हो गये। उत्तर-कालीन मुगल वंश के बादशाहों के समय में वे भ्रमण करने वाले यात्रियों के रूप में नहीं आये, बल्कि वे सैनिक की हैसियत से देश के भीतरी भागों में भी घुस गये और उन्होंने अन्तिम मुगल सम्राट बादशाह को अपना कैदी बनाया।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

मुगल सम्राटों की सीमान्त और दक्षिण नीति

सीमान्त नीति

भारतीय इतिहास में पश्चिमोत्तर प्रान्त की सीमा और उसके आसपास के पहाड़ी और जङ्गली इलाके भारत के शासकों के लिए सदा एक टेढ़ी समस्या रहे हैं। उस इलाके से होकर फारस, मध्य एशिया आदि के सैनिकों और आक्रमणकारियों को भारत में प्रवेश करने का मार्ग मिलता है। अतः सीमान्त पर स्थित खैबर और बोलन के दर्रों के इस पार दुश्मन से लोहा लेने के लिए पर्याप्त सेना और हथियार रखने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इस इलाके के रहने वाले कुछ ऐसे कबीलों से सम्बन्धित हैं जो लूट, मार और युद्ध को ही अपना पेशा बनाये हुए हैं। इनको काबू में रक्खे बिना भारत की इस सीमा की रक्षा सम्भव नहीं है। भारत का एक प्रवेश-द्वार कन्दहार भी यहीं स्थित है। अतः भारत की रक्षा के लिए कन्दहार। को अपने अधिकार में रखना या उस इलाके के शासक से मैत्री का सम्बंध रखना आवश्यक है।

बाबर तथा हुमायूँ का शासनकाल—मुगल साम्राज्य की स्थापना का श्री गणेश इन्हीं सीमांत द्वारों के कारण हो पाया। बाबर ने पहले अफगानिस्तान को जीता और पुनः अवसर से लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण किया। भारत में आने के पूर्व उसने सन् १५२२ ई० में कन्दहार को भी जीत लिया था। अंत तक बाबर काबुल और कन्दहार को अपने अधिकार में रखनें में सफल रहा।

सन् १५३० ई० में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद कन्दहार और काबुल हुमायूँ के भाई कामरान को मिला। इस स्थिति से हुमायूँ को

कठिनाई उठानी पड़ी क्योंकि कामरान उसे सहायता सुविधा व देने को तैयार नहीं था। जब हुमायूँ अपने प्रवास-काल में फारस में था तो उसने फारस के शाह को कन्दहार देने का वचन देकर उससे सहायता की याचना की। पर हुमायूँ अपने इस वचन का निर्वाह नहीं कर सका, अतः सन् १५५८ ई० में फारस के शाह ने कन्दहार को अपने सैन्यबल से जीत लिया।

अकबर के समय में सीमांत अरक्षित था क्योंकि हुमायूँ के शासन काल में वह इलाका मुगलों के हाथ से निकल चुका था। पर अकबर इस स्थिति की गम्भीरता को समझता था। उसने काबुल तथा कन्दहार प्राप्त करने के लिए विशेष प्रबन्ध किया। अकबर ने अपने भाई मिर्जा हकीम की मृत्यु (१५८४ ई०) के बाद काबुल पर अधिकार कर लिया और उसकी सुरक्षा का भार राजा मान सिंह को दिया। इसके बाद वहाँ सामरिक प्रवृति के उजबेग और यूसुफजाई जाति के लोगों ने विद्रोह किया और मुगल प्रभाव को नष्ट करना चाहा। उनको दबाने के लिए पहले बीरबल और जानी खाँ भेजे गये। पर उपद्रव शान्त नहीं हुआ और लगभग ८००० मुगल सैनिकों की हत्या कर दी गयी। अतः अकबर ने क्रोधित होकर राजा टोडरमल और शाहजादा मुराद को सीमांत के उपद्रवी कबीलों को दबाने के लिए भेजा। उन्होंने इस प्रकार उपद्रवियों को अच्छी तरह दबाया और वहाँ पूर्ण शांति स्थापित की।

इसी समय (सन् १५९५) कन्दहार भी अकबर को मिल गया, क्योंकि वहाँ के शासक ने विद्रोहियों से तङ्ग आकर स्वतः कन्दहार को मुगल सम्राट के सुपुर्द कर दिया। अकबर ने अन्य उपद्रवी कबीलों को भी अच्छी तरह दबाया और सीमान्त में पूर्ण शान्ति स्थापित कर दी। हर दृष्टिकोण से अकबर अपने इस प्रयास में पूर्ण सफल रहा।

जहाँगीर के शासन-काल में कन्दहार की समस्या पुनः उठ खड़ी हुई। खुसरो के विद्रोह से लाभ उठाकर फारस के शाह ने कन्दहार का घेरा डाल दिया और उसको अपने अधिकार में करने का प्रयास करने लगा। पर जहाँगीर ने अपने सेनापतियों को उसकी रक्षा के

लिए भेजा और फारस के शाह ने अपनी सेना कन्दहार से वापस बुला लिया। जहाँगीर ने कन्दहार की रक्षा के लिए पन्द्रह हजार घुड़सवारों को वहाँ तैनात किया। पर फारस के शाह की आँखें कन्दहार पर लगी रहीं और उसने मैत्री का दिखावा कर जहाँगीर को धोखा दिया। सन् १६२२ ई० में फारस की सेना कन्दहार में घुस गयी। जहाँगीर ने उसकी रक्षा का प्रबन्ध किया, पर इस बार शाहजादों की आपसी शत्रुता के कारण कन्दहार हाथ से निकल गया। जहाँगीर ने बार-बार प्रयास करने के बाद भी कन्दहार प्राप्त करने में सफलता नहीं प्राप्त की।

शाहजहाँ के समय में—शाहजहाँ ने भी कंदहार को जीतने का प्रयास किया। पहले वह कूटनीति से काम लेना चाहता था, पर सम्राट को इसमें सफलता नहीं मिली। कुछ दिनों के बाद कंदहार का शासक फारस के शाह के व्यवहार से खिन्न होकर शाहजहाँ के पास आ गया। इस प्रकार कंदहार पर अनायास मुगल-सम्राट का अधिकार हो गया।

कंदहार की सफलता से प्रोत्साहित होकर शाहजहाँ ने मध्य एशिया के कुछ प्रदेशों को जो काबुल के उत्तर में स्थित थे, विजय करने की तैयारी की। शाहजादा मुराद और अली मर्दान खाँ की अध्यक्षता में ५० घुड़सवार और १० हजार पैदल सेना बलख और बदखशाँ को जीतने के लिए भेजी गयी। मुगल सेना को इस बार (सन् १६४६) सफलता भी मिली। इसके बाद पुनः सन् १६४७ ई० में शुजा और औरंगजेब को सम्राट ने भेजा। पर इस द्वितीय प्रयास में मुगल सेना असफल रही और उन्हें पूर्व विजीत प्रदेश को छोड़ कर वापस लौटना पड़ा। इस असफलता से मुगल शक्ति की प्रतिष्ठा पर धब्बा लगा और दुश्मनों का दिल बढ़ गया।

फारस के शाह ने मुगल पराजय से लाभ उठाकर सन् १६४८ ई० में कंदहार पर धावा कर दिया। कंदहार के शासक ने ५७ दिन के घेरे के बाद आत्म-समर्पण कर दिया। बाद में औरङ्गजेब और सम्राट शाहजहाँ स्वयं स्थिति को सम्भालने के लिए वहाँ पहुँचे। पर इस बार कुछ भी हाथ न लगा और कंदहार मुगल आधिपत्य से बाहर निकल गया।

इस प्रकार शाहजहाँ अपनी सीमान्त नीति में पूरी तरह असफल रहा। मुगलों को सेना, धन और इज्जत की हानि उठानी पड़ी और सम्राट श्री-हीन होकर वहाँ से खाली हाथ लौटने के लिए विवश हुआ।

औरंगजेब के शासन काल में प्रारम्भ ही से पश्चिमोत्तर प्रांत की हालत ठीक नहीं था। कंदहार हाथ से निकल चुका था। यूसुफजाई विद्रोह कर रहे थे और वे पञ्जाब में घुसकर लूट-पाट कर रहे थे। औरङ्गजेब ने उन्हें सेना भेज कर दबाया और सन् १६७१ ई० में राजा जसवन्तसिंह को वहाँ का शासक नियुक्त किया।

सन् १६७२ ई० में अफरीदियों ने विद्रोह किया। उन्होंने मुगल सेनापति को मार भगाया। उसी समय अन्य कबीलों ने भी विद्रोह किया और मुगल सेना को अपार क्षति उठानी पड़ी। स्थिति गम्भीर हो गयी। अन्त में सन् १६७४ ई० में औरङ्गजेब उन्हें दबाने के लिए स्वयं चल पड़ा। सम्राट ने शक्ति और कूटनीति दोनों का सहारा लिया। कुछ उपद्रवी कबीलों के सरदारों को उपहार, पेंशन, जागीर देकर अपनी ओर मिला लिया और उन्हें ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। जो इस प्रकार शान्त नहीं हुए, उनको सेना से दबाया। अन्त में सफल होकर वह दिल्ली लौटा। उसने काबुल में नये शासक असीन खाँ को नियुक्त किया। इस प्रकार सीमान्त की नीति में सम्राट को पर्याप्त सफलता मिली। औरङ्गजेब के बाद काबुल भी स्वतन्त्र हो गया और मुगल साम्राज्य पर उस ओर से नादिरशाह और अहमदशाह ने भयङ्कर आक्रमण किये जिससे मुगल साम्राज्य धराशायी हो गया।

औरङ्गजेब को सीमान्त पर अधिकार करने के लिए तथा विद्रोहियों को दबाने के लिए लगभग चार वर्ष तक पश्चिमोत्तर प्रान्त में रहना पड़ा। इस समय उसे अनेक बार युद्ध करने पड़े। इन युद्धों में मुगल राजकोष रिक्त हो गया और देश तथा राज्य की आर्थिक दशा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इस स्थिति का राजनैतिक प्रभाव भी बहुत प्रतिकूल हुआ। उन दिनों सम्राट की अनुपस्थिति और झंझटों से लाभ उठाकर राजपूत और मराठे शक्तिशाली बन गये। इसी समय शिवाजी ने गोलकुंडा से कर्नाटक और मैसूर तक के

इलाकों को अपने अधिकार में कर लिया। इसी समय शिवाजी अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गये और यह अफरीदियों तथा सीमान्त के अन्य कबीलों के विद्रोह से ही सम्भव हो सका। औरङ्गजेब ने अपनी सीमान्त नीति में जो कुछ भी पाया, उससे अधिक उसने दक्षिण भारत में खो दिया।

मुगल और दक्षिण भारत

भारत की सांस्कृतिक और राजनैतिक एकता सर्वमान्य है और सदा से भारत के प्रत्येक सम्राट की यह चेष्टा रही है कि उसका आधिपत्य पूरे उत्तरी और दक्षिणी भारत पर हो। मुगल सम्राटों ने भी यह नीति अपनायी और अपने साम्राज्य की सीमा सुदूर दक्षिण तक फैलाने की कोशिश की। बाबर और हुमायूँ को उत्तर भारत से आगे बढ़ने का समय नहीं मिला और वे दक्षिण की ओर नहीं बढ़ पाये। पर बाद के सम्राटों ने भारत को जीतने का दृढ़ संकल्प और प्रयास किया।

अकबर की दक्षिण-विजय की नीति—अकबर एक महत्वकांक्षी सम्राट था। उत्तर भारत के सब राज्यों को जीत लेने के बाद उसने दक्षिण के राज्यों को जीतने का उपक्रम किया। उस समय दक्षिण में चार स्वतंत्र राज्य थे—बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर और खानदेश। इन चारों राज्यों में आपस में शत्रुता थी और वे प्रायः एक दूसरे से लड़ा करते थे। अतः अकबर को दक्षिण विजय के कार्य में प्रोत्साहन मिला। अकबर दक्षिण को जीत कर पूरे भारत का सम्राट होना चाहता था। वह वहाँ की सम्पत्ति और राज्य को प्राप्त कर अपना वैभव बढ़ाना चाहता था। साथ ही वह जानता था कि दक्षिण में पुर्तगाली लोग अधिक शक्तिशाली होते जा रहे हैं और दक्षिण का पूरा व्यापार उनके हाथ में चला जा रहा है। इससे देश की आर्थिक दशा पर बहुत विपरीत प्रभाव पड़ रहा था। इन्हीं बातों के कारण अकबर ने सन् १५९१ ई० में दक्षिण के चारों मुख्य राज्यों के शासकों को अपने दूत द्वारा यह सन्देश भेजा कि वे मुगल सम्राट का आधिपत्य स्वीकार कर लें।

केवल खानदेश ने अकबर का प्रस्ताव स्वीकार किया और उसकी अधी-

नता स्वीकार कर ली। शेष तीन राज्यों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

सन् १५६३ ई० में अब्दुर्रहीम खानखाना के नेतृत्व में अहमदनगर के विजय के लिए एक सेना दक्षिण भेजी गयी। अहमदनगर का शासन उस समय चाँदबीबी के हाथ में था। वह एक वीर महिला थी और उसने डट कर मुगल सेना का सामना किया। मुगल सेना की शक्ति को देख कर चाँद बीबी ने सम्राट से संधि कर ली और अकबर की प्रभुता स्वीकार करने का आश्वासन देकर बरार का इलाका मुगल सम्राट को दे दिया। पर चाँद बीबी के सरदारों और दरबारियों को यह बात पसन्द नहीं आयी और पुनः युद्ध शुरू हो गया। अकबर को स्वयं दक्षिण जाना पड़ा। अहमदनगर के सैनिकों ने बड़ी वीरता से अकबर की सेना का सामना किया, पर आन्तरिक कलह के कारण उनके पैर जम नहीं पाये। सन् १६०० ई० में अहमदनगर पर मुगलों का अधिकार हो गया और चाँदबीबी को धोखा देकर मार डाला गया।

कुछ दिनों के बाद खानदेश के नये शासक मीरन बहादुर खाँ ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। अकबर ने खबर पाते ही पूरी शक्ति के साथ खानदेश की राजधानी बुरहानपुर और असीरगढ़ के प्रसिद्ध किले पर आक्रमण किया। अकबर ने उस समय असीरगढ़ के कुछ सैनिकों को घूस देकर अपनी ओर मिला लिया और मुगल सैनिकों ने दुर्ग में प्रवेश किया। अकबर के इस कृत्य की कुछ इतिहासकारों ने कटु आलोचना की है और इसे अपमानजनक और लज्जास्पद कार्य बताया है। पर १६०१ ई० में पूरे खानदेश पर अकबर का आधिपत्य स्थापित हो गया।

अकबर ने इस विजय के बाद दक्षिण को तीन प्रान्तों में विभाजित किया—अहमदनगर, बरार और खानदेश। इस प्रकार दक्षिण में मुगल साम्राज्य की सीमा कृष्णा नदी तक पहुँच गयी।

जहाँगीर की दक्षिण-नीति—अकबर के समय में दक्षिण के राज्यों में मुगल सत्ता अच्छी प्रकार नहीं जम सकी थी क्योंकि अकबर को इस कार्य के लिए कम समय मिला और तीन-चार वर्ष के बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी।

दक्षिण की भौगोलिक स्थिति भी इस अव्यवस्था में सहायक हुई और दक्षिण के राज्य स्वतंत्र होने के लिए अवसर की ताक में थे। इस समय अहमदनगर का वास्तविक शासक मलिक अम्बर था जिसके हाथ में शासन की वास्तविक शक्ति थी। वह योग्य और अनुभवी व्यक्ति था। उसने अपनी सेना में अधिक संख्या में मराठों को भर्ती किया और उन्हें गुरिल्ला युद्ध प्रणाली की शिक्षा दी। इस प्रकार उनकी सहायता से अम्बर मुगलों का सामना करने की तैयारी करने लगा।

सन् १६०८ ई० में जहाँगीर ने अब्दुर्रहीम खानखाना के साथ एक सेना भेजी, पर उसे सफलता नहीं मिली। सन् १६१२ ई० तक बारबार प्रयास करने के बाद भी मुगल सेनापतियों को अहमदनगर के विरुद्ध सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। सन् १६१७ ई० में शाहजादा खुर्रम ने अम्बर पर दबाव डाला और मुगल सम्राट की रुचि के अनुसार संधि करने पर विवश किया। खानदेश के साथ मुगल दरबार को पन्द्रह लाख रुपये भी उपहार के रूप में मिले। पर कुछ ही दिनों बाद स्थिति पुनः बिगड़ गयी। शाहजादा खुर्रम विद्रोही बन गया और दक्षिण में जाकर अम्बर के पास शरण ली। मलिक अम्बर ने उस विद्रोही शाहजादे का स्वागत किया। दोनों को दबाने के लिए सम्राट ने दो सेनापतियों को अहमदनगर भेजा। पर उन्होंने सम्राट को धोखा दिया और एक मुगल सेनापति खानजहाँ लोदी ने दुश्मन से मिलकर बालाघाट का इलाका उन्हें दे दिया। इस प्रकार जहाँगीर के समय में अहमदनगर मुगल अधिकार से निकल गया और इतने सैनिक और धन की बर्बादी के बाद भी अपमान और उपहास के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगा। इसके अतिरिक्त इन युद्धों में मराठों को अच्छी सैनिक शिक्षा मिली जिससे भविष्य के लिये एक और शक्तिशाली शत्रु को सैनिक शिक्षा में निपुणता प्राप्त हो गयी। इस दृष्टि से मुगल सम्राट के लिए दक्षिण अभियान की आकांक्षा असफल सिद्ध हुई।

शाहजहाँ की दक्षिण नीति—गद्दी पर बैठते ही शाहजहाँ को **अहमदनगर** की स्थिति खटकने लगी। वह सन् १६३२ ई० में स्वयं दक्षिण की

ओर चल पड़ा। उसने दौलताबाद का किला घेर लिया। उस समय दौलताबाद पर शिवाजी के पिता शाहजी और गोलकुण्डा के शासक की आँखें लगी थीं। शाहजहाँ ने दौलताबाद के किले के रक्षकों को रिश्वत देकर दुर्ग पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। सन् १६३३ ई० में दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया। सुल्तान हुसेनशाह को कैद कर ग्वालियर भेज दिया गया और निजामशाही वंश का अंत हो गया। मुगल सम्राटों की तीन पीढ़ियों के प्रयास के बाद अहमदनगर पर पूर्ण रूप से मुगलों का अधिकार हो सका।

अब **बीजपुर और गोलकुण्डा** की बारी आयी। बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तानों को मुगल आधिपत्य स्वीकार करने को लिखा गया। भयभीत होकर गोलकुण्डा के शासक अब्दुल्ला कुतुबशाह ने शाहजहाँ का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। बीजापुर के शासक आदिलशाह के विरुद्ध मुगल सेना भेजी गयी। दोनों पक्षों में घोर युद्ध हुआ। मुगल सेना के दबाव से आदिलशाह ने संधि करली। उसने शाहजहाँ की अधीनता स्वीकार की, खिराज देना मंजूर किया और वादा किया कि वह भविष्य में शाहजी को किसी प्रकार की मदद नहीं करेगा।

इस विजय के बाद सन् १६३६ ई० में शाहजहाँ ने अपने पुत्र औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार बना दिया। कुछ वर्षों के अतिरिक्त औरङ्गजेब सन् १६५७ ई० तक दक्षिण में रहा और बड़ी योग्यता और कौशल से उन इलाकों का प्रबन्ध किया।

औरङ्गजेब की दक्षिण नीति—औरङ्गजेब को गद्दी पर बैठने के पूर्व दक्षिण की राजनीति और स्थिति का पूरा ज्ञान था। वह दक्षिण की सभी रियासतों को धर्म-विभेद के कारण भी समाप्त करना चाहता था। सम्राट को शिवाजी से भी बहुत चिढ़ थी, अतः उसने दक्षिण को पूरी तरह अपने नियन्त्रण में करने की ठान ली। औरङ्गजेब के शासन के अन्तिम २५ वर्ष दक्षिण में ही व्यतीत हुए।

औरङ्गजेब ने धन, साम्राज्य और धर्म से प्रेरित हो **गोलकुण्डा** के शासक

के विरुद्ध सेना भेजी। उस पर वर्षों से खिराज न देने का अभियोग लगाया गया। सन् १६८४ ई० में गोलकुण्डा के शासक अबुल हसन के विरुद्ध सेना भेजी गयी। आठ महीने के घेरे के बाद गोलकुण्डा पर अधिकार करने में मुगलों को सफलता मिली। गोलकुण्डा के शासक अबुल हसन को ५० हजार वार्षिक पेन्शन देकर दौलताबाद के किले में रक्खा गया और गोलकुण्डा मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया।

बीजापुर के सुल्तान के विरुद्ध भी मराठों को मदद देने का दोष लगाया गया। औरंगजेब राजनैतिक तथा धार्मिक कारणों से बीजापुर को भी आत्मसात करना चाहता था। सन् १६८५ ई० में बीजापुर के सुल्तान सिकन्दर अली आदिल शाह को कुछ शर्तों के मानने लिए के मुगल सम्राट का एक पत्र मिला। बीजापुर के सुल्तान को वे शर्तें मान्य नहीं थीं, अतः युद्ध हुआ। सन् १६८६ ई० में बीजापुर की पराजय हुई। सुल्तान कैदी बनाया गया और उसे एक लाख की वार्षिक पेंशन देकर दौलताबाद के दुर्ग में रखा गया। बीजापुर का राज्य मुगल साम्राज्य का अंग बन गया।

मराठा राज्य—अब मराठों के साथ औरंगजेब का संघर्ष अनिवार्य हो गया। सन् १६६४ ई० में अपने पिता शाहजी की मृत्यु के बाद मराठों को नेतृत्व शिवा जी के हाथ में आ गया। शिवाजी एक अनुभवी, योग्य और कुशल राजनीतिज्ञ और योद्धा थे। पहले आपने अपनी स्थिति बीजापुर के साथ युद्ध कर दृढ़ कर ली, बाद को आप मुगल साम्राज्य पर भी छापा मारने लगे। इससे चिढ़कर इस 'पहाड़ी चूहे' को रोकने और पकड़ने के लिए औरंगजेब ने अपने मामा शायस्ता खाँ को शिवाजी के विरुद्ध बड़ी तैयारी के साथ भेजा। पर शिवाजी ने शायस्ता खाँ को मात दिया और उसे अपनी जान लेकर पूना से भागाना पड़ा।

सन् १६६३ ई० में औरंगजेब ने क्रोधित हो राजा जसवन्त सिंह को एक बड़ी सेना के साथ शिवाजी के विरुद्ध भेजा। इस बार भी शिवाजी का कुछ बिगड़ न सका और उन्होंने सन् १६६४ ई० में राजा की उपाधि धारण की। अब शिवाजी के विरुद्ध राजा जयसिंह भेजे गये। जयसिंह ने कूटनीति

से काम लिया और मराठों को अपनी ओर मिलाना शुरू किया। शिवाजी पर बहुत दबाव पड़ा और सन् १६६५ ई० में उन्हें जयसिंह के साथ संधि करने पर विवश होना पड़ा। शिवाजी को अपने २३ किले मुगलों को देने पड़े और उनके पास केवल १२ किले रह गये। शिवाजी ने मुगल साम्राज्य की सेवा करने और राजभक्त बने रहने का वचन दिया। जयसिंह ने शिवाजी को आगरे चलने के लिए भी राजी कर लिया।

सन् १६६६ ई० में शिवाजी अपने पुत्र शम्भाजी के साथ आगरा पहुँचे। वहाँ सम्राट द्वारा यथोचित सम्मान न पाकर वे क्रोध में आगये और औरंगजेब के लिए कुछ कड़े शब्दों का प्रयोग किया। अतः औरंगजेब ने उन्हें पुत्र सहित कैद में डाल दिया। लगभग आठ महीने तक कारावास में रहने के उपरान्त उन्होंने सन्तरियों को चकमा दिया और कैद से निकल भागे। पुनः दक्षिण पहुँच अपनी शक्ति संचित की और साम्राज्य के साथ संघर्ष किया। सन् १६८० ई० में आप का देहान्त हुआ और तब तक आपने मुगल सम्राट को परेशान किया।

शिवाजी के बाद उनका पुत्र **शम्भाजी** राजा बना। उसने सन् १६८० ई० से १६८६ ई० तक शासन किया। विद्रोही शाहजादा अकबर शम्भाजी से जा मिला। औरंगजेब इस स्थिति की गम्भीरता से चिन्तित हो स्वयं दक्षिण की ओर चल पड़ा। बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय के बाद सम्राट ने मराठों को दबाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। सन् १६८६ ई० में शम्भाजी कैदी बनाया गया। सम्राट की आज्ञा से निर्दयता पूर्वक शम्भाजी की हत्या करा दी गयी।

इसके बाद शिवाजी के दूसरे पुत्र **राजाराम** को मराठों का नेतृत्व मिला। इस समय दोनों पक्षों में अनेक स्थानों पर भिड़न्त हुई। राजाराम को पीछे भागना पड़ा। मुगलों ने मराठा सरदारों से अनेक किले छिन लिये। पर सन् १७०० ई० में राजाराम की मृत्यु हो गयी।

राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी स्त्री **ताराबाई** ने अपनी स्वतंत्रता का युद्ध जारी रक्खा। उसकी वीरता साहस से पुनः पासा पलट गया और मराठे सैनिकों ने कई किले मुगलों से छीन लिये। उसने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय

को गद्दी पर बैठाया और उसकी संरक्षिका बन शासन का कार्य चलाने लगी। औरंगजेब की बड़ी सेना की शक्ति काम न दे सकी। सम्राट इस समय तक रोगी हो चुका था और अहमदनगर में सन् १७०७ ई० में अपनी मृत्यु शैय्या पर पड़े-पड़े अपने बीस वर्षीय दक्षिण की नीति की असफलता पर पश्चाताप कर रहा था। वहीं उस निराश सम्राट की मृत्यु हो गयी और मराठों को परास्त करने का उसका इरादा अधूरा रह गया।

सन् १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु के बाद शम्भाजी का पुत्र शाहू जो अब तक मुगल दरबार में कैदी था, मुक्त कर दिया गया। उसने दक्षिण में पहुँच राजगद्दी का दावा किया। इससे ताराबाई और शाहू में पारवारिक कलह पैदा हो गयी। राजशक्ति की यह प्रतिद्वन्द्विता मराठों की प्रतिष्ठा के लिए घातक सिद्ध हुई। यदि यह स्थिति नहीं होती तो औरंगजेब की मृत्यु के बाद कमजोर मुगल सम्राटों से मराठों को बहुत कुछ मिल सकता था। इन्हीं अशोभनीय घात-प्रतिघात के बीच सन् १७४८ ई० में शाहू की मृत्यु हो गयी और राज्य की वास्तविक शक्ति पेशवा के हाथ में चली गयी। मुगल साम्राज्य का सितारा भी इस समय तक डूब चुका था और इस बड़े साम्राज्य के पतन में मराठा शक्ति के साथ औरंगजेब का लगातार संघर्ष भी एक बड़ा कारण था।

औरंगजेब की दक्षिण-नीति के अनेक हानिकारक परिणाम हुए। उसने बीजापुर और गोलकुंडा को जीतकर मुगल साम्राज्य की सीमा अवश्य बढ़ायी, पर उसे इन विजयों से गहरी हानि उठानी पड़ी। आर्थिक संकट के अतिरिक्त इन दोनों राज्यों के विनाश से मराठा शक्ति के उत्कर्ष के लिए अधिक उपयुक्त वातावरण मिल गया। बीजापुर और गोलकुंडा के भागे हुए सैनिक मराठों से जा मिले और मुगलों के कट्टर शत्रु बन गये। शिवाजी ने मुगलों के विरुद्ध जो युद्ध किया, उसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का रूप दे दिया। इसका प्रभाव उत्तरी भारत में भी पड़ा और देश में औरंगजेब के विरुद्ध एक व्यापक रोष का वातावरण बन गया। औरङ्गजेब अपनी हठवादिता के कारण दक्षिण में जम गया और उसने २० वर्ष मराठों को ध्वस्त करने के असफल प्रयास में लगा दिये। इस बीच उत्तर भारत का प्रशासन शिथिल हो

गया और राजपूतों, जाटों तथा सिक्खों को अपनी शक्ति बढ़ाने और स्थिति मजबूत करने का अवसर मिल गया। इन लगातार चलने वाले युद्धों से दक्षिण का अधिकांश भाग उजड़ गया और वहाँ अकाल की परिस्थिति पैदा हो गयी। राज्य की आर्थिक स्थिति पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और राज-कोष रिक्त हो गया। इन युद्धों से मुगल सैनिकों की हिम्मत टूट गयी और वे घबड़ा कर असन्तोष दिखलाने लगे। मुगल सेना पर यह प्रतिकूल प्रभाव मुगल शक्ति के लिए घातक सिद्ध हुआ क्योंकि उनका आत्मविश्वास उठ गया और वे शत्रु से डरने लगे। इस प्रकार मुगलों की दक्षिण-नीति का लेखा-जोखा साम्राज्य के हित के प्रतिकूल रहा और इससे दिल्ली-आगरा की तत्कालीन साम्राज्यवादी सत्ता का अहित हुआ।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

मराठा और सिक्ख शक्ति का उदय

महाराष्ट्र—भारतीय आर्यवंश के लोगों की एक शाखा मरहठा जाति के नामसे विख्यात है। ये लोग महाराष्ट्र में निवास करते हैं और मराठी भाषा बोलते हैं। महाराष्ट्र उस भूभाग को कहते हैं जो दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट पर डामन से लेकर कारवार तक फैला है और डामन से नागपुर होकर गोन्दिया तक चला जाता है। यह भूभाग एक त्रिभुज के आकार का है जो सह्याद्रि पर्वत श्रेणियों से विन्ध्याचल और सतपुड़ा तक जाता है। प्राचीन काल में इस प्रदेश के निवासी रट्ठ, महारट्ठ अथवा राष्ट्र के नाम से पुकारे जाते थे। प्राचीन सातवाहन, कदम्ब, यादव, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि वंश इन्हीं मरहठों की विभिन्न शाखाएँ थीं।

मरहठा शक्ति का प्रादुर्भाव—महाराष्ट्र का इलाका पहले पहल अलाउद्दीन के शासन काल में मुसलमान सल्तनत के अधीन हुआ। तुग-लक शासन के अन्तिमकाल में वहाँ एक स्थानीय मुसलमानी सत्ता बहमनी वंश के नाम से खड़ी हुई। कुछ दिनों के बाद उसी के समकक्ष विजयनगर का राज वंश दक्षिण में पनपा और इन दोनों में आपसी युद्ध चलते रहे। सन् १३३६ ई० में तालीकोट के मैदान में बहमनी शासकों ने विजयनगर के राज वंश को ध्वस्त कर दिया। मुगलों में अकबर प्रथम सम्राट था जिसकी सेना ने दक्षिण में प्रवेश किया। धीरे-धीरे मुगल साम्राज्य की सीमा दक्षिण में बढ़ने लगी। उस समय खानदेश, बीजापुर, गोलकुण्डा की रियासतों में मराठा सरदार और उस जाति के अन्य लोग विभिन्न पदों पर काम करते थे। कुछ सैनिक थे, कुछ इन रियासतों में दीवान और मन्त्री के पद पर काम कर रहे थे। उस समय इन्हें यह आशा थी कि उनके दिन पुनः आने वाले थे और वे एक दिन इन छोटी-छोटी मुसलमानी रियासतों के स्थान पर एक शक्ति-

शाली मरहठा राज्य स्थापित करने में सफल होंगे। उसी समय मरहठा जाति में कुछ धार्मिक सुधारक और प्रचारक पैदा हुए थे जिनमें एकनाथ, तुकाराम, रामदास के नाम प्रमुख हैं। इन महात्माओं ने अपनी ओजस्विनी वाणी से इस जाति के कानों में पुनर्जागरण का एक ऐसा मन्त्र फूँक दिया था कि उनमें एक नई आशा और जागृति का भाव पैदा हो गया। इन्हीं उपदेशों के कारण मरहठा समाज में राष्ट्रीयता के भाव का बीजारोपण हुआ। ऐसी दशा में उनमें हिंदुत्व और धार्मिकता की भावना प्रबल हो उठी। जब इस उत्साह के वातावरण में उन्होंने एक नवीन मुसलमानी शक्ति को अपनी साम्राज्यवादी भुजायें फैलाते देखा, तो उन्हें शंका हुई और वे इसका मुकाबिला करने को विशेष रूप से संगठित हो गये। इन परिस्थितियों में शिवाजी ने उस नयी राष्ट्रीयता का प्रतीक बन एक नयी शक्ति का संगठन किया और मरहठा जाति में नव जीवन, उत्तेजना और स्फूर्ति का संचार किया।

शाहजी भोंसले—मरहठा राष्ट्रीयता के उन्नायक शिवाजी के पिता का नाम शाहजी था। आपका जन्म १५६४ ई० में हुआ था। आपका विवाह जीजाबाई के साथ सन् १६०५ ई० में हुआ। आप अहमदनगर के निजामशाही सुल्तान के दरबार में एक अच्छे पद पर थे। जिस समय मुगल सम्राट बीजापुर और गोलकुंडा के शासकों को परास्त करने के लिए युद्ध कर रहा था, शाहजी मुगलों के विरुद्ध उनकी सहायता करते थे। अहमदनगर की अंतिम पराजय के बाद शाहजी ने सन् १६३६ ई० में बीजापुर के सुल्तान के यहाँ नौकरी कर ली। वहीं उनकी योग्यता का परिचय मिला और उनका प्रभाव बढ़ने लगा। आपकी मृत्यु सन् १६६४ ई० में घोड़े पर से गिरने के कारण हो गयी।

शिवाजी (सन् १६२७—८० ई०)—शिवाजी का जन्म सन् १६२७ ई० में शिवनेर दुर्ग में हुआ था। कुछ लोग उनकी जन्म-तिथि १६३० मानते हैं। पिताजी के जीवन-काल में शिवाजी प्रायः अपनी माता के पास रहते थे क्योंकि शाहजी सदा अपने काम से इधर-उधर भ्रमण करते रहते थे और घर के बाहर ही रहा करते थे। आपके जीवन पर माता का अत्यधिक

प्रभाव पड़ा। जीजाबाई एक धार्मिक और दृढ़ विचार की महिला थीं। शाहजी ने अपनी पूना की जागीर का प्रबन्ध जीजाबाई और दादा कोणदेव नामक एक ब्राह्मण को सौंप दिया और शिवाजी को भी उन्हीं की देखरेख में रख दिया। शिवाजी माता से रामायण, महाभारत, गीता आदि की बातें सुनते थे और दादा कोणदेव से घुड़सवारी, शस्त्र-विद्या और शिकार की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार आरम्भ से ही शिवाजी में स्वस्थ धार्मिकता के साथ-साथ साहस और शौर्य जैसे गुण भी पैदा हो गये। कुछ बड़े होने पर शिवाजी समर्थ गुरु रामदास के सम्पर्क में आये। रामदास ने शिवाजी में हिन्दुत्व के प्रति ममता और ओज भर दिया। उनके उपदेश थे कि "ईश्वर ने तुम्हें इसलिए उत्पन्न किया है कि तुम मरहठों को संगठित करो, धर्म को जीवित रक्खो अन्यथा हमारे पूर्वज स्वर्ग में हमारा उपहास करेंगे।" शिवाजी ने अपनी पैनी दृष्टि से आने वाले खतरे को समझ लिया और उससे बचने के लिए उन्होंने अपने को हर प्रकार से तैयार किया।

प्रारम्भिक विजय—"शिवाजी ने स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा तथा हिन्दुत्व की पुनर्स्थापना का निश्चय कर लेने के बाद महाराष्ट्र के सङ्गठन का कार्य प्रारम्भ किया।" सर्व प्रथम उन्होंने सह्याद्रि पर्वत के पास के मावली लोगों का संगठन किया और सन् १६४४ ई० में सिंहगढ़ के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। एक-एक कर आस-पास के अनेक स्थानों पर आपका अधिकार हुआ। तत्पश्चात् आपने रायगढ़ के दुर्ग का स्वयं निर्माण करवाया। इस बढ़ती हुई शक्ति को देखकर बीजापुर के सुल्तान को चिन्ता हुई और उसने उनके पिता शाहजी को बन्दी बना लिया। पर शिवाजी के प्रयास के फलस्वरूप कुछ दिनों बाद शाहजी मुक्त कर दिये गये। इस प्रकार पूना के आस-पास के इलाके में दस वर्ष के भीतर शिवाजी ने कई दुर्गों पर अधिकार किया और उन स्थानों की अच्छी सुव्यवस्था भी की। इससे शिवाजी बड़े लोकप्रिय हो गये।

सतारा जिले के उत्तर-पश्चिम में **जावली** नाम का एक स्थान है। सामरिक दृष्टि से इस स्थान का महत्व अधिक था। यह स्थान मोरे जाति

के एक मरहठा सरदार के हाथ में था। वह सरदार शिवाजी से घृणा करता था और उन्हें देखकर जलता था। उस समय जावली का प्रबन्ध हनुमन्त राव मोरे के हाथ में था। शिवाजी ने उन्हें अपनी ओर मिलाने का कई बार प्रयत्न किया। पर वे अपने इस काम में असफल रहे। अन्त में उन्होंने कूटनीति का सहारा लिया। शिवाजी ने अपना एक दूत हनुमन्त राय के पास भेजा और कहलवाया कि वे मोरे सरदार की कन्या से विवाह करना चाहते हैं। जब हनुमन्त राय उस दूत से बातचीत करने एकान्त में आये तो उनकी हत्या कर शिवाजी का दूत भाग निकला। उसी समय शिवाजी अपनी एक सेना के साथ किले पर टूट पड़े और जावली पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार शिवाजी ने "सङ्गठित विश्वासघात और अचूक हत्या द्वारा जावली पर" सन् १६५६ ई० में अपना अधिकार प्राप्त किया। धीरे धीरे शिवा का अधिकार पूरे कोनकन पर हो गया। अपने अच्छे व्यवहार और सफल प्रबन्ध के कारण शिवाजी ने कोनकन की जनता को अपने पक्ष में कर लिया और सब को अपने झण्डे के नीचे संगठित करने में पूर्ण सफल हुए।

बीजापुर के साथ संघर्ष और अफजल खाँ का वध—शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति से बीजापुर के सुल्तान को बहुत चिन्ता हुई। कोनकन की विजय के बाद वह और घबड़ा उठा। पर उस समय उस पर दरबार की दलबन्दी और औरंगजेब के दबाव की परेशानी थी। कुछ अवकाश पाते ही बीजापुर दरबार ने शाहजी को लिखा कि वह अपने पुत्र शिवाजी को रोके अन्यथा उसके विरुद्ध आवश्यक कारवाई की जायेगी। शाहजी ने उत्तर दिया कि उनका पुत्र उनके नियंत्रण में नहीं है और बीजापुर सरकार उसके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। ऐसी दशा में बीजापुर और शिवाजी में संघर्ष अनिवार्य हो गया।

सन् १६५६ ई० में बीजापुर दरबार ने अफजल खाँ नामक एक अमीर को शिवाजी के दबाने और रोकने के लिए भेजा। उसे आदेश था कि वह शिवाजी को जीवित या मृत पकड़ लाये। अफजल खाँ ने कई बार अपना

दूत शिवाजी के पास भेज कर उन्हें विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि शिवाजी के साथ मित्र जैसा व्यवहार किया जायगा। शिवाजी आकर अफजल खाँ से मिलें। उन्होंने अफजल खाँ की चाल समझ ली। और उससे भेंट करने का निश्चय किया। दुर्ग के बाहर एक चबूतरा बनाया गया। शिवाजी ने अफजल खाँ के स्वागत के लिए खूब तैयारियाँ कीं। उन्होंने अपनी सेना को पास की झाड़ियों में छिपा दिया। उधर अफजल खाँ भी सतर्क था और इसी चाल में था कि शिवाजी को ठीक अवसर पर पकड़ लिया जाय। दोनों पक्ष अपनी-अपनी होशियारी में एक दूसरे की नाक काटना चाहता था। शिवाजी ने ऐसा प्रबन्ध किया कि अफजल खाँ के साथ बहुत कम व्यक्ति रहें। अपनी सुरक्षा के लिए शिवाजी ने अपने पंजे में एक बघनख और कमर में एक कटार छिपा ली। मुलाकात के समय अफजल खाँ ने आलिंगन किया और शिवाजी ने तुरन्त अपने बघनख और कटार से चोट की। अफजल खाँ ने भी शिवाजी की गर्दन पकड़ने की कोशिश की, पर शिवाजी ने शत्रु का काम तमाम कर दिया। चारों ओर भगदड़ मच गयी और शिवाजी के छिपे सैनिक मुसलमानों पर टूट पड़े। शिवाजी बीजापुर की चाल से बच गये और अफजल खाँ का वध कर अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ा ली। इससे शिवाजी का साहस बहुत बढ़ गया और आस-पास उनका दबदबा छा गया। अफजल खाँ विश्वास घात कर शिवाजी को पकड़ना चाहता था, पर उसे अपने मुँह की खानी पड़ी।

शिवाजी और मुगल—शिवाजी का मुगलों से सम्बन्ध शाहजहाँ के शासन काल में प्रारम्भ हुआ। उस समय शिवाजी ने मुगल सम्राट से मैत्री-भाव रक्खा। बीजापुर के विरुद्ध मुगलों ने शिवाजी को यदा-कदा मदद दी थी। पर शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति से औरंगजेब चिन्तित हुआ। अफजल खाँ के वध से उसकी आशंका और चिन्ता बढ़ गयी। धार्मिक विद्वेष के कारण औरंगजेब ने शिवाजी को दबाने का निश्चय कर लिया। उस समय शिवाजी और उनके सैनिक मुगल साम्राज्य के भीतर छापा मारने लगे।

सन् १६५६ ई० में औरंगजेब ने शायस्ता खाँ को शिवाजी के दबाने

के लिए भेजा। वह सम्राट का मामा था और उस समय दक्षिण का सूबेदार था। शायस्ता खाँ एक बड़ी सेना लेकर पूना की ओर बढ़ा। दो वर्ष तक युद्ध चलता रहा। मुगल सेना ने शिवाजी के राज्य को रौंद डाला। इस घोर आपत्ति में शिवाजी ने धैर्य नहीं छोड़ा। सन् १६६३ ई० में एक रात को अपने कुछ चुने हुए सैनिकों के साथ शिवाजी चुपके से वेश बदल कर पूना में घुस पड़े। शायस्ता खाँ उस समय सो रहा था। दुर्ग में अचानक मार-काट प्रारम्भ हो गया। शायस्ता खाँ का एक अंगूठा कट गया और वह घबड़ाकर खिड़की के मार्ग से निकल भागा। शायस्ता खाँ के पुत्र, फौजी अफसर और अनेक नौकर चाकर तलवार के घाट उतार दिये गये। शिवाजी जानते थे कि मुगल सेना से खुल्लमखुल्ला युद्ध करना उनकी शक्ति के बाहर है। इसीलिए निराश होकर उन्होंने यह मार्ग अपनाया। इस गड़बड़ी में मुगल सेना तितर-बितर हो गयी और मराठों ने पुनः अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। औरंगजेब यह समाचार पाकर झुँझला उठा और शायस्ता खाँ को दक्षिण से हटा कर बंगाल में भेज दिया। इसके बाद शिवाजी ने सन् १६६४ ई० में सूरत पर छापा मारा और चार दिन-चार रात शहर को घेर रक्खा था। वहाँ उन्हें लगभग एक करोड़ की सम्पत्ति मिली।

शिवाजी का जयसिंह के साथ संघर्ष—शायस्ता खाँ की पराजय और सूरत की लूट के कारण औरंगजेब और अधिक चिन्तित हुआ। इस बार सम्राट ने अत्यन्त चतुर व्यक्ति जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह एक चतुर सेनापति और कुशल राजनीतिज्ञ था। जयसिंह ने शिवाजी के आदमियों को एक-एक कर फोड़ना शुरू किया और अधिकांश सेनापतियों को अपनी ओर मिला लिया। साथ ही उसने शिवाजी को सेना से दबाना शुरू किया। एक-एक कर शिवाजी को अनेक दुर्ग छोड़ने पड़े। अन्त में लड़ना व्यर्थ समझ कर शिवाजी ने संधि करने का निश्चय किया।

पुरन्दर की सन्धि (सन् १६६५ ई०)—शिवाजी और जयसिंह के बीच पुरन्दर नामक स्थान पर सन्धि हुई। इस संधि के अनुसार शिवाजी को २३ दुर्ग मुगल सम्राट को देने पड़े और केवल १२ दुर्ग शिवाजी के पास शेष

रहे। शिवाजी ने मुगल साम्राज्य की सेवा और भक्ति के लिए वादा किया। उन्होंने दक्षिण के युद्धों में मुगल सम्राट को सहायता देने का वचन दिया। जयसिंह कूटनीति द्वारा दूसरों को वश में करने में बड़ा दक्ष था। उसने शिवाजी को मुगल दरबार में जाने के लिए राजी कर लिया।

मुगल दरबार में शिवाजी—सन् १६६६ ई० में शिवाजी आगरे पहुँचे। उन्हें दरबार में उपस्थित होने का आदेश मिला। सम्राट ने शिवाजी को पंच हजारी मनसबदारों का पंक्ति में खड़ा होने का संकेत किया। शिवाजी ने इसे अपना अपमान समझा और क्रोधित हो सम्राट के लिए अपशब्द कहा। शिवाजी के साथ उनका पुत्र शम्भाजी भी था। सम्राट ने दोनों को कैद करने का आदेश दिया। पिता-पुत्र दोनों कारागार में बन्द कर दिये गये और सम्राट के आदेश से उन पर कड़ा पहरा बैठा दिया गया।

शिवाजी ने इस विकट परिस्थिति में धैर्य नहीं छोड़ा। वे दिन-रात अपनी मुक्ति की चिन्ता में रहते थे। अन्त में उन्हें एक उपाय सूझी। उन्होंने बीमार होने का दिखावा किया। कुछ दिनों बाद स्वस्थ होने के उपलक्ष में उन्होंने मिठाइयाँ बटवाने की तैयारी की। बाहर से मिठाइयों को गरीबों में बाँटने के लिए बड़े बड़े टोकरे आये। उनमें भर कर मिठाइयाँ बाहर भेजी गयीं। एक टोकरे में स्वयं शिवाजी और दूसरे में उनके पुत्र शम्भाजी छिपकर बाहर निकल गये। बाहर निकल वे एक सन्यासी का वेष धारण कर मथुरा, इलाहाबाद, बनारस, गया, पुरी होते हुए अपनी राजधानी पहुँच गये। इस प्रकार दस महीने की अनुपस्थिति के बाद शिवाजी पुनः अपनी जन्मभूमि पहुँच गये। शिवाजी को अपने बीच पाकर मराठों ने खुशियाँ मनायीं और पुनः अपने को संगठित कर लिया।

पुनः संघर्ष—कुछ दिनों तक शिवाजी शान्त रहे। उन्होंने इस समय को अपनी स्थिति दृढ़ करने में लगाया। उन्होंने पुनः अपने किलों को प्राप्त कर लिया और 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' वसूल करने के लिए दूर-दूर छापा मारने लगे। सन् १६७० ई० में सूरत पर दूसरी बार धावा किया। उसके बाद खानदेश पर आक्रमण किया। सन् १६७४ ई० में बड़ी शान-शौकत से

शिवाजी का राज्याभिषेक रायगढ़ में हुआ। उसी समय उन्होंने 'छत्रपति' की उपाधि धारण की। शिवाजी की शक्ति इस समय पराकाष्ठा पर थी। उन्होंने बीजापुर, गोलकुण्डा, समुद्री किनारे के दूर-दूर के स्थान, कर्नाटक-क्षेत्र आदि पर आतंक जमा लिया। सन् १६७७ ई० में जिञ्जी के प्रसिद्ध किले पर भी शिवाजी का अधिकार हो गया।

सन् १६७८ ई० में शिवाजी और मुगलों के बीच पुनः संघर्ष शुरू हो गया। शाही सेनाध्यक्ष दिलेर खाँ ने शम्भाजी (शिवाजी के पुत्र) को अपनी ओर मिला लिया। इससे उसका हौसला बढ़ गया और वह बहुत प्रसन्न हुआ। शिवाजी ने मुगलों पर धावा किया पर उन्हें इस बार विशेष सफलता नहीं मिली। अभी संघर्ष चल ही रहा था, कि शिवाजी सन् १६८० ई० में इस संसार से चल पड़े।

शिवाजी का राज्य विस्तार—शिवाजी की राजधानी पूना के पास रायगढ़ थी। उनके राज्य में सूरत से लेकर दक्षिण में करवार तक का इलाका शामिल था। इस पश्चिमी समुद्र-तट पर केवल डामन, सालसट, बेसिन गोआ उनके अधिकार में नहीं थे। इन स्थानों पर पुर्तगालियों का अधिकार था। पूर्व में उसके राज्य की सीमा नासिक, पूना होती हुई कोल्हापुर तक पहुँचती थी। इसके अतिरिक्त बेलगाँव से लेकर तुंगभद्रा तक का समस्त पश्चिमी कर्नाटक उनके अधिकार में था। इसके अतिरिक्त आस-पास के अन्य कतिपय इलाकों पर शिवाजी का प्रभुत्व था जहाँ से वे चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे। इस प्रकार उनके अधिकार में मद्रास और मैसूर के कुछ स्थान भी थे जिनमें बेलारी, बंगलोर, जिंजी, बेलोर और तंजौर मुख्य थे।

शिवाजी का शासन-प्रबन्ध—शिवाजी एक योग्य सैनिक सफल सेनापति और कुशल शासक थे। उन्होंने अपनी प्रशासकीय निपुणता का परिचय प्रारम्भ में ही दिया था जब वे बीजापुर की मातहती में एक जागीरदार थे और कोनकन के प्रदेश को अपने अधिकार में किया था। बाद को उनकी प्रतिभा और अधिक विकसित हुई। वे बराबर युद्ध में लगे रहे, पर साथ-साथ अपने राज्य का प्रबन्ध बड़ी सावधानी एवं तत्परता के साथ किया।

शिवाजी अपने समय के अनुसार अपने राज्य के एक मात्र शासक थे। उसकी स्थिति स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासकों की भाँति थी, पर उन्होंने शासन और शक्ति को प्रजा-पीड़न के लिए नहीं, बल्कि लोकरंजन के लिए प्रयोग किया। वे उदार थे और व्यवहार में सदा अपनी प्रजा की भलाई के लिए अपने मंत्रियों से राय लिया करते थे। वे स्वयं अपने मंत्रियों तथा सरकारी पदाधिकारियों की नियुक्ति करते थे। राज्य की आमदनी और खर्च का प्रबन्ध करना उन्हीं के हाथ में था। घरेलू और परराष्ट्र नीति के निर्धारण का उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर था।

अष्ट प्रधान—शिवाजी सदा अपने आठ मंत्रियों की राय से शासन का काम करते थे। उनके आठ मंत्रियों की समिति को 'अष्ट प्रधान' कहा जाता है। उसकी तुलना आजकल की मंत्रि-परिषद् से नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक मंत्री को शिवाजी स्वयं अपनी इच्छा से नियुक्त करते थे और प्रत्येक को अलग-अलग शिवाजी की आज्ञानुसार काम करना पड़ता था। उन्हें नियुक्त करने और पदच्युत करने का एकमात्र अधिकार शिवाजी के हाथ में था। इस 'अष्ट प्रधान' में निम्नलिखित आठ मंत्री होते थे—

(१) प्रधान अथवा पेशवा, (२) आमात्य (३) मंत्री अथवा वाकिया नवीस, (४) सचिव (५) सुमन्त या दबीर (६) सेनापति (७) पण्डित राय अथवा दानाध्यक्ष, (८) न्यायाधीश।

पेशवा—शिवाजी का प्रधान मन्त्री होता था। राजा की अनुपस्थिति में वह उसके प्रतिनिधि के रूप में काम करता था। **आमात्य** अर्थ मन्त्री होता था और उसी के अधिकार में राज्य के आय-व्यय का हिसाब रहता था। **मंत्री** राजा का निजी सेक्रेटरी था और उसके दैनिक कार्यों का संचालन और देख-भाल करता था। **सचिव** राजा के पत्र-व्यवहार के लिये जिम्मेदार था। **सुमन्त** परराष्ट्र सचिव था। वह राजा को युद्ध-सन्धि आदि के विषय में राय दिया करता था। **सेनापति** राज्य की सेना का प्रधान था और सैन्य संचालन और सेना का प्रबन्ध उसका मुख्य काम था। **पण्डितराव** दान

तथा धर्म विभाग का अध्यक्ष था। न्यायाधीश न्याय-विभाग का सङ्गठन करता था और सर्वोच्च न्यायिक था।

राज्य-प्रशासन के कुल तीस विभाग थे। इन विभागों का संचालन और देख भाल मन्त्रियों को करना पड़ता था। सभी मन्त्रियों को वेतन नकद दिया जाता था। पेशवा को अन्य मन्त्रियों से कुछ अधिक वेतन मिलता था। मन्त्रियों के पद वंशागत नहीं थे। राजा जब चाहे, उन्हें उनके पद से पृथक कर सकता था। इनसे राय लेना या इनकी राय मानना न मानना राजा की इच्छा पर निर्भर था। सेनापति के अतिरिक्त अन्य सभी मन्त्री ब्राह्मण होते थे।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के लिए शिवाजी ने अपने राज्य के एक प्रमुख भाग को सीधे अपने नियन्त्रण में रक्खा था और उस भाग को 'स्वराज्य' कहते थे। शेष हिस्से को तीन सूबों में विभाजित किया गया था। प्रत्येक सूबा एक सूबेदार के नियन्त्रण में रक्खा गया था। सूबेदार को राजा नियुक्त करता था। सूबेदार भी अपने सूबे में आठ मन्त्रियों की सलाह से काम करता था। सूबेदार का पद वंशानुगत नहीं था। वह राजा द्वारा अपने पद से पृथक किया जा सकता था।

न्याय-व्यवस्था—प्रशासन एक मुख्य विभाग न्याय-विभाग था और उसका नियन्त्रण न्यायाधीश के हाथ में था। न्याय के लिए शिवाजी अपने शासन-काल में अपने पूरे राज्य में एक प्रकार की समान व्यवस्था नहीं कर सके थे। न्याय का काम हिंदू-स्मृतियों तथा रीति रिवाजों के अनुसार होता था, उस समय कानून की कोई निश्चित पुस्तक नहीं थी। हिन्दू कानूनों की व्याख्या विद्वान पण्डित करते थे। ग्राम-पंचायतों की प्राधानता थी। फौजदारी के झगड़ों का फैसला पटेल नामक सरकारी कर्मचारी किया करते थे। मालूम पड़ता है कि शिवाजी की न्याय-व्यवस्था प्राचीन पद्धति की थी। सब प्रकार के मुकदमों की अपीलें न्यायाधीश के पास जाती थीं।

सैनिक व्यवस्था—शिवाजी जन्म से ही एक योग्य सैनिक थे। सेना और सैनिक गुणों के बल पर ही उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया और

बड़े-बड़े सम्राटों से लोहा लिया था। उन्होंने अपनी सेना के संगठन पर विशेष ध्यान दिया और उसे शक्तिशाली बनाने का भरपूर प्रयास किया।

(१) स्थायी सेना—सेना के महत्व को बढ़ाने के लिए शिवाजी ने अपने लिए स्थायी सेना रखने की व्यवस्था की। उनके सैनिकों में पुनीत राष्ट्रीयता के भाव भरे थे और इसका पूरा श्रेय शिवाजी को ही था। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को रोकने के लिए उन्होंने जागीरदारी की प्रथा बन्द कर दी। इस काम के लिए शिवाजी ने शेरशाह और अकबर का अनुसरण किया। सब सैनिकों को नकद वेतन मिलता था। शिवाजी ने घोड़ों के दाग और उनके विवरण रखने की प्रथा भी अपनायी। सैनिकों की नियुक्ति उनकी योग्यता पर होती थी। उनका पद वंशानुगत नहीं था। सैनिकों की भर्ती में जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं था। सभी जाति के लोग सेना में भर्ती किये जाते थे।

शिवाजी की स्थायी सेना में ४० हजार अश्वारोही, १० हजार पैदल, १२ हजार हाथी और २० हजार के लगभग ऊँट थे। उनके पास एक नौ सेना भी थी जिसमें दो सौ जवान थे। आपके पास एक अच्छा तोपखाना भी था। इस स्थायी सेना के अतिरिक्त शिवाजी आवश्यकता के अनुसार अस्थायी सैनिकों को भी रखते थे।

(२) घुड़सवार सेना—शिवाजी की सेना का सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रमुख अंग अश्वारोही वर्ग का था। देश की बनावट और लुक छिपकर युद्ध करने की प्रणाली में इस प्रकार की सेना अधिक लाभदायक सिद्ध होती थी। अश्वारोही सेना के दो वर्ग थे। एक वर्ग को राज्य की ओर से हथियार, घोड़े और निश्चित वेतन मिलता था। दूसरे वर्ग में सैनिक अपने पास से घोड़े और हथियार का प्रबन्ध करते थे। युद्ध के समय राज्य की ओर से इन्हें निश्चित रकम दी जाती थी। घुड़सवार-सेना की सबसे छोटी इकाई २५ सैनिकों की होती थी। इसके हाकिम को हवलदार कहते थे। ५ हवलदारों के ऊपर एक जुमलादार और १० जुमलादारों के ऊपर एक हजारी होता था। ५ 'हजारी' अफसरों के ऊपर एक पंच हजारी होता था। इन सबके ऊपर इस सेना का एक घुड़सवार-सेनापति होता था।

(३) **पैदल सेना**—पैदल सेना भी कई इकाइयों में विभक्त थी। इस सेना की सबसे सबसे छोटी इकाई का नियंत्रण एक 'नायक' के हाथ में रहता था। ५ नायकों के ऊपर एक हवलदार, तीन हवलदारों के ऊपर जुमलादार, १० जुमलादारों के ऊपर एक हजारी और सात हजारियों के ऊपर एक सरे नौबत या सेनापति होता था।

(४) **दुर्ग**—शिवाजी के समय में दुर्गों का महत्व अधिक था। उनके अधीन दुर्गों की संख्या २४० थी। शिवाजी ने अनेक पुराने किलों की मरम्मत करायी थी, अनेक नये किले भी बनवाये थे। उस पहाड़ी प्रदेश में इन दुर्गों का महत्व अधिक था और इन्हें शरण देने वाली 'माता' कह कर पुकारा जाता था। प्रत्येक दुर्ग का प्रबन्ध तीन अफसर मिलकर करते थे। दुर्ग के आस-पास की भूमि की रक्षा और देखभाल में विशेष दिलचस्पी और सावधानी दिखाई जाती थी।

(५) **अनुशासन**—शिवाजी अपनी उदारता और सहृदयता के लिए प्रसिद्ध थे, पर सैनिक मामलों में उनका नियंत्रण आदर्श और पूर्ण था। प्रत्येक सैनिक से यह आशा की जाती थी कि उसका आचरण उच्च रहेगा। भर्ती के समय उसे इसके लिए जमानत देनी पड़ती थी। सेना के साथ स्त्रियाँ, नर्तकियाँ या दासियाँ रखना सख्त मना था। इस आदेश के उल्लंघन करने वालों को प्राण-दण्ड की सजा दी जाती थी। यह आदेश था कि युद्ध और लूट के समय कोई सैनिक किसी स्त्री, असहाय, रोगी या बच्चे को न सतावे। लूट में प्राप्त सोना, चाँदी, वस्त्र आदि राजकोष में जमा करना पड़ता था। सैनिकों को वेतन के अतिरिक्त और किसी प्रकार की चीज स्वीकार करने की कठोर मनाही थी। शिवाजी की सेना चुस्त और फुर्तीली थी और तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा सकती थी। सैनिकों का भोजन साधारण और रहन-सहन सादा था। वे खुले मैदान में लड़ने की अपेक्षा लुक-छिप कर लड़ना अधिक पसन्द करते थे। ऐसी ही युद्ध-प्रणाली महाराष्ट्र प्रान्त के लिए उपयोगी थी। अचानक शत्रु पर हमला कर वे शत्रु पक्ष में आतंक और

खलबली मचा देते थे। वर्षा ऋतु में तो मराठा सेना छावनियों में रहती थी और शेष समय में वे दुश्मन के इलाके में छापा मारा करते थे।

राजस्व-विभाग—शिवाजी का राज्य, राजस्व की व्यवस्था के लिए प्रान्तों, परगनों और तरफों तथा गाँवों में विभक्त था। राजस्व-अधिकारियों को एक निश्चित वेतन मिलता था। शिवाजी ने इस विभाग के प्रबन्ध में टोडरमल का अनुसरण किया था। राज्य की सब भूमि 'काठी' द्वारा नाप ली गयी थी और उपज का ३० प्रतिशत राजकर के रूप में वसूल किया जाता था। किसान को यह सुविधा थी कि वह अपनी सुविधानुसार लगान अपनी पैदावार के रूप में या नकद पैसे दे। शिवाजी ने अपने राज्य में जागीरदारी प्रथा को समाप्त कर दिया और समस्त भूमि को राज्य के सीधे अधिकार में ला दिया। इससे राजा और प्रजा के बीच सीधा सम्बन्ध हो गया और पटेलों, कुलकर्णियों तथा देशपाण्डे के अत्याचारों से बच गये। किसानों की सुविधा के लिए राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। सैन्य संचालन के समय किसानों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायी जाती थी। नयी भूमि को कृषि योग्य बनाने में राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी।

चौथ और सरदेशमुखी—राज्य के व्यय के लिए शिवाजी को अधिक पैसे की आवश्यकता होती थी। यह व्यय अपने राज्य की आय से पूरा नहीं होता था। अतः शिवाजी ने बाहर के प्रदेशों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करना प्रारम्भ किया। शिवाजी जिस इलाके से 'चौथ' वसूल करते थे, बाहरी आक्रमणों और घरेलू विद्रोहों से उस इलाके की रक्षा का भार स्वयं लेते थे। नैतिक दृष्टि से इस प्रकार की 'चौथ' वसूल करने की नीति का अनुमोदन नहीं किया जा सकता, पर सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिवाजी ऐसा करने को विवश थे क्योंकि उन्हें चारों ओर अपने दुश्मनों से लड़ना पड़ता था। इसी प्रकार 'सरदेशमुखी' भी एक प्रकार का कर था जो आय का दसांश था। शिवाजी अपने को सारे महाराष्ट्र का सरदेशमुख समझते थे।

धार्मिक नीति—शिवाजी हिन्दू संस्कृति, सभ्यता और धर्म के रक्षक कहे जाते हैं। वे गौ-ब्राह्मण की सेवा करना अपना धर्म समझते थे। हिन्दू मंदिरों की रक्षा में वे अपना सर्वस्व समर्पण करते हिचकते नहीं थे। पर वे धर्मान्ध या स्वार्थी और संकुचित प्रवृति के व्यक्ति नहीं थे। सब धर्मों और देवालयों के प्रति वे श्रद्धा रखते थे और सब के साथ समान उदारता का वर्ताव करते थे। वे मंदिर और मस्जिद दोनों के लिए राजकोष से मदद देते थे। युद्ध के समय सैनिकोंको यह कड़ा आदेश था कि वे किसी मस्जिद को न तोड़ें और कभी किसी धर्मग्रंथ का अपमान न करें। यदि कभी युद्ध के समय विधर्मी वर्ग की कोई स्त्री या धर्मग्रंथ किसी सैनिक के हाथ में पड़ जाता तो शिवाजी सम्मान के साथ उसे उचित स्थान पर लौटाने का प्रबन्ध करते थे। शिवाजी के इस बड़प्पन और उनकी विशाल उदारता से उनकी सारी प्रजा उनसे प्रसन्न रहती थी, और वे अपने समय के अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्ति बन गये थे।

इस प्रकार शिवाजी अपने समय के एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित शासन प्रणाली की स्थापना करने वाले थे। साथ ही उनके शासन की नीति लोक-हित और प्रजानुरंजन करना था। वे स्वार्थ या धर्मान्धता के लिए राजशक्ति नहीं चाहते थे। उनके राज्य का आधार लोकहित, न्याय और दुश्मन से रक्षा करने की प्रबल इच्छा थी। चूँकि उस समय लगातार युद्ध चलते रहते थे और शिवाजी सब तरफ से शक्तिशाली शत्रुओं से घिरे थे, अतः उन्हें सामाजिक सुधार या प्रजातंत्रीय प्रयोग का अवसर बहुत कम मिला। शिवा-जी के शासन की विशेषताओं में दुर्गों का महत्व, जाति-पाँति के भेदभाव का अभाव, जागीरदारी प्रथा की समाप्ति, अष्ट प्रधान की स्थापना, वंशानु-गत पदाधिकारियों की समाप्ति, सब धर्मों के प्रति आदर और उदारता की नीति आदि बातें विशेष उल्लेखनीय हैं।

शिवाजी का चरित्र—भारत के इतिहास में शिवाजी का स्थान अति आदरणीय और उच्च समझा जाता है। उन्हें एक राष्ट्र-निर्माता और सफल शासक कहा जाता है। वे मध्यकालीन हिन्दू शासकों में अग्रगण्य माने जाते

हैं। पर कुछ यूरोपीय और मुसलमान इतिहासकारों ने शिवाजी को एक लुटेरा और पहाड़ी चूहा कहा है और उनकी कटु आलोचना की है। आधुनिकतम खोजों के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों की इस राय को अब गलत माना जाता है और शिवाजी को एक वीर सफल सेनानायक और कुशल राजनीतिज्ञ कहा गया है। आप के चरित्र के कुछ प्रमुख गुण इस प्रकार हैं—

(१) पारिवारिक प्रेम का आदर्श—शिवाजी पिता के आज्ञाकारी और माता के भक्त पुत्र थे। वे अपनी माता को देवी मानते थे और उनकी सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य समझते थे। शम्भा जी जैसे विद्रोही पुत्र के प्रति उनके मन में सदा स्नेह था। समय की गति-विधि के अनुसार शिवाजी ने सात स्त्रियों से विवाह किया था। पर सब से साथ समान व्यवहार करते थे। इस सम्बन्ध में वे प्रचलित रीति रिवाज से ऊपर नहीं उठ सके और इस प्रकार के बहुविवाह से भविष्य में दरबारमें वैमनस्य और षड़यंत्र होने लगे।

(२) धार्मिकता—शिवाजी में धार्मिकता की नींव बचपन में ही पड़ गयी थी। वे सन्तों का सदैव आदर करते थे, मन्दिरों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते, गौ-ब्राह्मण का विशेष ध्यान रखते थे। पर साथ ही उनकी उदारता और सहिष्णुता भी अनुकरणीय थी। वे सब धर्मों को समान समझते थे और किसी का अपमान करना नहीं चाहते थे। इस दृष्टि से शिवाजी का चरित्र उनके समकालीन शासकों से बहुत ऊँचा था और कट्टर पंथी व्यक्ति भी इनके इन गुणों की प्रशंसा करते थे।

(३) व्यक्ति के पारखी—शिवाजी में अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के गुण-दोष पहचानने की विशेष परख थी। उन्हें कोई चालबाजी या धूर्तता से धोखा नहीं दे सकता था। इसी प्रतिभा के कारण उन्हें जीवन में इतनी सफलता मिली।

(४) अच्छे संगठन कर्ता और सेना-नायक—शिवाजी में बचपन से ही संगठन का गुण पाया जाता था। आप आसपास के बच्चों को संगठित कर तरह-तरह के वीरता के खेल खेला करते थे और उन सबके सरदार बन जाते थे। इसी गुण के कारण आप एक छोटे जागीरदार से एक बड़े राज्य

के संस्थापक बनने में सफल हुए। उनकी अभूतपूर्व सैनिक प्रतिभा और नियंत्रण का गुण उन्हें योग्य तथा कुशल सेनानायक बना देते थे। युद्ध के संकट काल में एक सफल सेनापति की तरह आप सदा धैर्य से काम लेते थे। इसीलिए हार कर भी बड़े शत्रु के सामने आप अन्त में सदा विजयी हुए और सबको चकमा देने में सफल हुए। अफजल खाँ का वध, शायस्ता खाँ को मार भगाना और मुगल सम्राट के कैद से भाग निकलना इन्हीं गुणों के कारण सम्भव हो सका। आपकी क्रियात्मक बुद्धि कभी आपको धोखा नहीं देती थी और किस काम को कब और कैसे करना चाहिए, इसे शिवाजी से अच्छा और कोई नहीं समझता था।

(५) **लक्ष्य की प्रधानता**—शिवाजी ने मुगलों का सामना करना और हिन्दू राज्य की स्थापना करना मुख्य लक्ष्य बनाया था। इसकी प्राप्ति के लिए आप सदा तत्पर रहते थे। इस लक्ष्य को आपने कभी अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दिया। इसे प्राप्त करने के लिए आपने कभी-कभी अनैतिक उपायों का भी सहारा लिया। राजनीति में ऐसे साधन आज भी काम में लाये जाते हैं।

(६) **राष्ट्र संस्थापक**—शिवाजी विश्वासघाती नहीं थे। उन्होंने अपने आदर्श के विषय में किसी को धोखा नहीं दिया। आत्मरक्षा और राष्ट्र निर्माण के लिए उन्होंने कपटी शत्रुओं का वध किया। यदि शिवाजी एक कोरे डाकू होते तो उस समय अपने समकालीन व्यक्तियों पर कभी ऐसा गहरा प्रभाव नहीं डाल सकते थे। उन्होंने शताब्दियों से दबे हुए जन-जीवन में राष्ट्रीयता का मंत्र फूँक दिया और उन्हें ऐसा अनुप्राणित किया कि वे बड़े से बड़े सम्राट की सेना का सामना सफलता पूर्वक करने को सन्नद्ध हो गये। उन्होंने महाराष्ट्र में नवीन चेतना पैदा की और आत्मशक्ति और साहस का संचार कराया। शिवाजी ने महाराष्ट्र को "नवजीवन नवशक्ति और नव बल प्रदान किया जिससे हिन्दुत्व के जर्जर एवं क्षतिग्रस्त वृक्ष में नयी पत्तियाँ और शाखायें फूट निकलीं, सुप्त महाराष्ट्र पुनः जाग्रत होकर हुंकार कर उठा जिससे उसके समक्ष विशाल मुगल साम्राज्य भी नगण्य हो गया।" वास्तव में

शिवाजी में इस कार्य के लिए स्वाभाविक प्रतिभा और मेधा थी जिसके आधार पर उन्होंने "एक प्रबल विजय-वाहिनी का संगठन किया और अपने राज्य में एक सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था का निर्माण किया।" उन्होंने अपने सैनिक संगठन में और अपने प्रशासन के निर्माण में किसी विदेशी की सहायता नहीं ली। यदि उनकी परम्परा का त्याग और सीमाओं का अतिक्रमण महाराष्ट्र के आगे आने वाले शासक नहीं करते तो भारत के इतिहास की रूप रेखा आने वाले दिनों में सर्वथा भिन्न होती। उनके सैनिक उनके शब्दों पर जान देने को तैयार रहते थे। उनका अनुपम व्यक्तित्व हमें आज भी पथ-प्रदर्शन करने में सबल है। उनका स्वच्छ व्यक्तिगत जीवन, अद्भुत राष्ट्र और धर्म प्रेम, उनकी अनुकरणीय उदारता, साहस और शौर्य तथा कुशल प्रशासकीय एवं संगठन कर्ता के गुण चिरस्मरणीय रहेंगे।

शिवाजी के वंशज और पेशवा-पद का विकास—पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि शिवाजी की मृत्यु के बाद सन् १६८० से १७४९ ई० तक किस प्रकार शम्भा जी, राजाराम, ताराबाई और शाहू ने एक-एक कर मराठा राज्य सम्भालने की कोशिश की। इनमें से प्रथम तीन शासकों को औरंगजेब का सामना करना पड़ा और मुगल सम्राट से निरन्तर युद्ध चलता रहा। शाहू के गद्दी पर बैठने के एक वर्ष पूर्व औरङ्गजेब का देहान्त हो चुका था। पर दुर्भाग्य से उस समय पारिवारिक झगड़े तीव्र हो गये और आपस में राजवंश के लोगों तथा सेनापतियों में प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष चलने लगा। इन्हीं झगड़ों और कौटुम्बिक वैमनस्य के बीच शाहू का सन् १७४९ ई० में परलोकवास हो गया और उसके स्थान पर रामराजा छत्रपति बना।

शाहू के शासन-काल में एक नवीन प्रशासकीय परम्परा की नींव पड़ी। अभी तक पेशवा मराठा राज्य का प्रधान मंत्री होता था और उसका पद वंश क्रमानुगत नहीं चलता था। राजा अपने विश्वास-पात्र किसी योग्य व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करता था। वास्तव में पारिवारिक झगड़ों के कारण पेशवा के पद का महत्व बहुत बढ़ गया और यह पद वंशागत चलने लगा। शाहू की कठिनाइयों और अशान्ति के कारण पेशवा की शक्ति बढ़ गयी। शाहू में

धैर्य और कार्य-सम्पादन की क्षमता बहुत कम थी, अतः पेशवा ने शक्ति अपने हाथ में कर ली। उस समय अष्ट-प्रधान के सदस्य अपेक्षाकृत कम योग्य थे, अतः पेशवा की बन आयी और उसकी शक्ति बढ़ने लगी। वास्तव में उस समय केन्द्रीय शक्ति कमजोर हो गयी थी क्योंकि राजाराम ने अपने शासन-काल में जागीरदारी की प्रथा पुनः जारी कर दिया था और जागीरदार क्रमशः प्रबल होने लगे थे। ऐसी दशा में राजा को अपने अधिकार के लिए पेशवा पर निर्भर रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त शाहूजी का पेशवा बालाजी विश्वनाथ अद्वितीय प्रतिभा और योग्यता का व्यक्ति था। उसकी अपनी योग्यता ने पेशवा-पद को शक्तिशाली स्थायी बनाने में अत्यधिक योग दिया। उसकी योग्यता के समक्ष शिवाजी के वंशज फीके पड़ गये और शासन की बागडोर पूर्णरूप से उसके हाथ में आ गयी। आगे का मराठा इतिहास पेशवाओं का ही इतिहास बन गया।

बालाजी विश्वनाथ—(सन् १७१३—२० ई०) बालाजी विश्वनाथ एक साधारण चितपावन नामक ब्राह्मण के परिवार में कोंकण में पैदा हुए थे। प्रारम्भिक जीवन में बालाजी विश्वनाथ ने सूबेदारी की और अपनी सैनिक तथा शासन सम्बन्धी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया। उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सन् १७१३ ई० में शाहूजी ने उन्हें पेशवा के पद पर नियुक्त कर दिया।

आन्तरिक शान्ति की व्यवस्था—मुगल दरबार में अधिक दिनों तक रहने के कारण शाहूजी विलासी और काहिल हो गया था, अतः शासन के काम में उसे रुचि नहीं थी। इसीलिए राज्य का सारा काम पेशवा के हाथ में चला आया। बालाजी विश्वनाथ ने अपनी चतुरता और योग्यता से मराठा-शासन को पुनः संगठित किया और सारी दलबन्दियों को समाप्त करने की कोशिश की। विद्रोहियों को दबाया और पराजित किया। विरोधी मराठा सरदारों को शान्त करने में पेशवा ने शक्ति और राजनीति दोनों से काम लिया।

बालाजी तथा मुगल—औरंगजेब की मृत्यु के बाद (१७०७ ई०) कुछ दिनों के लिए मराठा दरबार आपसी कलह और वैमनस्य का अड्डा बन

गया। इससे प्रोत्साहित होकर दक्षिण के मुगल सूबेदारों ने कतिपय मराठा सरदारों को (चन्द्रसेन, निम्बालकर तथा शम्भजी द्वितीय) अपनी ओर मिला लिया। पर पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने स्थिति सम्भाल ली और दक्षिण के सूबेदार हुसेन अली से मराठा दरबार की सन्धि हो गयी।

इस संधि के अनुसार 'स्वराज्य' का सारा प्रदेश, खानदेश, गोण्डवाना, बरार तथा हैदराबाद के कुछ भाग भी शाहू को मिले। मुगल सूबेदार ने यह वादा किया कि वह शाहू के राज्य में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगा। चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के विषय में शाहू का अधिकार मुगलों ने स्वीकार किया। इस संधि से दक्षिण में मराठों की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी। बालाजी विश्वनाथ की होशियारी से यह भी निश्चित हुआ कि १५००० सैनिकों की एक सेना पूना दरबार में मुगलों के लिए रक्खी जायगी जिसका सारा व्यय मुगल सूबेदार को देना पड़ेगा। संधि की यह धारा पेशवा की राजनीतिज्ञ चतुराई का एक अच्छा प्रमाण है। इससे मराहठों की धाक बढ़ गई और उनकी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो गयी।

आन्तरिक सुधार—मराठों की शक्ति और सम्मान को बढ़ाने के लिए बालाजी विश्वनाथ ने एक 'मराठा सहयोग मण्डल' की स्थापना की। उसने केन्द्रीय शासन को दृढ़ किया, सरदारों और सेनापतियों को केन्द्रीय सरकार से उचित पुरस्कार देने की व्यवस्था की। चौथ और सरदेशमुखी से प्राप्त रकम को अपने सरदारों में वितरित करने का उसने प्रबन्ध किया।

बालाजी विश्वनाथ ने भूमिकर की वसूली के विषय में कुछ सुधार किये। मराठा राज्य को उसने जिलों में बाँट दिया और नकद वेतन की जगह पर राज्य के प्रधान अधिकारियों को जिलों की मालगुजारी का कुछ भाग सौंप दिया गया। पर एक अधिकारी को भिन्न-भिन्न स्थान के गाँवों की मालगुजारी आंशिक रूप में सौंप दी गई इससे अधिकारियों की रुचि एक स्थान पर केन्द्रित न होकर व्यापक हो गयी। इन सुधारों से एक ही जिले में लगान वसूली का भार कई व्यक्तियों पर आ गया अतः हिसाब-किताब रखने का काम अत्यन्त जटिल हो गया। हिसाब रखने का काम केवल ब्राह्मण वर्ग ही करने लगा।

उसने चौथ और सरदेशमुखी की रकम और वसूली का समय भी निश्चित कर दिया। उसकी वसूली के निश्चित नियम भी बनाये गये।

बाजीराव प्रथम (सन् १७२०—१७४०)—बालाजी विश्वनाथ के बाद उसका पुत्र बाजीराव प्रथम पेशवा बना। बाजीराव एक हौसलामन्द और सैनिक प्रतिभा का व्यक्ति था। उसने मुगल साम्राज्य के स्थान पर मराठा साम्राज्य स्थापित करने का संकल्प किया। इसके लिए उसका ध्यान असंतुष्ट राजपूतों की ओर गया और उसने उन राजपूतों से मैत्री स्थापित करने की कोशिश की।

सन् १७२४ ई० में बालाजी ने मालवा पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। चार वर्ष बाद उसने निजाम से सब बकाया 'चौथ' वसूल किया वचन लिया कि वह मराठा सरदारों में फूट डालने की कोशिश न करे। सन् १७३१ ई० में उसने चौथ और सरदेशमुखी के लिए गुजरात पर धावा किया। उसके बाद बुन्देलखण्ड और बरार पर भी पेशवा का अधिकार हो गया।

इन विजयों से बाजीराव का हौसला बढ़ गया। उसने सन् १७३७ ई० में दिल्ली तक धावा किया। मुगल सम्राट मुहम्मद शाह की एक न चली और अनेक प्रयास करने पर भी उसे झुकना पड़ा। मराठों को मालवा और नर्मदा तथा चम्बल के बीच का सारा इलाका मिल गया और मुगल दरबार ने इन इलाकों पर मराठा-आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त पेशवा ने ५० लाख रुपये लड़ाई के खर्च में वसूल किया। इसी समय बाजीराव ने पुर्तगालियों को हराकर बेसीन का किला छीन लिया।

बाजीराव तथा अन्य सरदार—इस समय तक मराठों का प्रभाव बहुत व्यापक हो गया था। वे पहली बार नर्मदा के उत्तर दूर-दूर तक राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे। चूँकि राजाराम के समय में चालू की हुई जागीरदारी की प्रथा अब तक समाप्त नहीं हो सकी थी, अतः मराठे सरदारों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और उनमें सामन्तवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही थी। उनकी आपसी प्रतिस्पर्धा और वैमनस्य शान्त करने के लिए

बाजीराव ने मुगलों से जीते हुए प्रान्तों को मराठा-सरदारों में विभाजित कर दिया। वह समझता था कि इससे उनके विद्वेषों का अन्त हो जायगा। इन सरदारों में गायकवाड़, भोंसला, होल्कर और सिंधिया अधिक प्रभावशाली थे। आगे चलकर इन लोगों ने अपने लिए स्वतंत्र राज्यों की स्थापना किया।

बाजीराव निस्सन्देह एक वीर और कुशल सेनापति था। उसके समय में मराठा राज्य की सीमा बहुत बढ़ गयी। "वह साम्राज्यवादी था और बृहत्तर महाराष्ट्र का संस्थापक था।" उसने निजाम के प्रभाव को रोका, मराठा प्रभाव को दिल्ली तक पहुँचाया और मुगल सम्राट को नत मस्तक किया। पर यह सच है कि उसमें शिवाजी की प्रतिभा एवं योग्यता नहीं थी। वह अपने सहायकों और निजी लोगों के हृदयों पर शासन करना नहीं जानता था। उसकी आर्थिक व्यवस्था बहुत पेचीदी थी और मराठा सरदारों को खुश करने में उसने जो नीति अपनायी और जो मार्ग पकड़ा, उससे भविष्य में मराठा-शक्ति को नुकसान उठाना पड़ा। फिर भी उसने अपनी विजयों से महाराष्ट्र के गौरव को ऊँचा उठाया और मराठा दरबार को तत्कालीन भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली बना दिया।

बालाजी बाजीराव (सन् १७४०-६१ ई०)—बाजीराव की मृत्यु के बाद शाहू ने उसके पुत्र बालाजी बाजीराव को जो नाना साहब के नाम से भी विख्यात था, अपना पेशवा बनाया। उस समय उसकी अवस्था १८ वर्ष की थी, पर वह योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति था। इसके समय में मराठा-शक्ति उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई और मराठों के प्रभाव तथा प्रभुत्व की सीमा और अधिक व्यापक हो गयी।

उत्तराधिकार का प्रश्न—शाहू को कोई सन्तान नहीं थी। अतः उसके उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। पेशवा बालाजी बाजीराव शम्भाजी के द्वितीय पुत्र को पेशवा बनाना चाहता था। पर शाहू को उससे घृणा थी। उधर ताराबाई शिवाजी के एक पुत्र रामराजा को गद्दी पर बैठाना चाहती थी। पर उसके वंश परम्परा के विषय में कुछ मतभेद था। फिर भी शाहू उसी के पक्ष में था। इस प्रकार पारस्परिक वैमनस्य और कलह के कारण

राजा की शक्ति कम होती गयी और पेशवा के पद की मर्यादा बढ़ती जा रही थी। सन् १७४८ ई० में शाहू का देहान्त हो गया। बालाजीराव ने उससे यह लिखित आज्ञा प्राप्त कर ली थी कि उसकी मृत्यु के बाद पेशवा राजा के नाम से शासन तथा साम्राज्य का संचालन करेगा। इस प्रकार बालाजी बाजीराव मराठा राज्य का वास्तविक शासक हो गया।

मराठा शक्ति की वृद्धि—मराठा सरदारों ने उड़ीसा को रौंद डाला और वे बंगाल की ओर बढ़े। उस समय बंगाल का सूबेदार अलीवर्दी खाँ था। मराठों ने उसे परास्त किया। वे मुर्शिदाबाद तक पहुँच गये और सारे बंगाल को अपने अधिकार में कर लिया। अन्त में मराठा सरदार राघोजी के साथ अलीवर्दी खाँ की संधि हुई और यह तय हुआ कि राघोजी को प्रतिवर्ष १२ लाख रुपये 'चौथ' के बदले में मिलेगा। मराठों ने यह वादा किया कि वे एक निर्धारित सीमा के भीतर बंगाल पर धावा नहीं करेंगे।

इसके बाद रघुजी भोंसले की शक्ति बहुत बढ़ गयी। वह पेशवा का प्रतिद्वन्दी हो गया। पेशवा ने अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए उसके साथ युद्ध का सहारा लिया। अन्त में रघुजी को पेशवा ने कई बार परास्त किया। बाद को दोनों में सन्धि हो गयी और पेशवा की स्थिति दृढ़तर हो गयी।

सन् १७४८ ई० में मुगल सम्राट मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा और भी क्षीण हो गयी। मुगल गद्दी के उत्तराधिकारियों में युद्ध छिड़ गया। पेशवा ने हस्तक्षेप कर वहाँ भी अपना प्रभाव बढ़ा लिया। मराठा सरदार रघुनाथ राव ने दिल्ली तक धावा किया। दोआब में मराठों को चौथ वसूल करने का अधिकार मिल गया। मराठे सरदार पंजाब में भी बढ़ गये और वहीं मराठों और अफगानों के बीच भिड़न्त का मौका मिला। इसी के अन्तिम परिणाम के रूप में सन् १७६१ ई० में पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ।

सन् १७४८ ई० में ही निजाम की मृत्यु के बाद हैदराबाद में भी युद्ध छिड़ गया। राज्याधिकार के लिए दो दलों में लड़ाई हुई। वहाँ इस समय तक अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का प्रभाव काफी बढ़ गया था। इस शक्ति और प्रभाव-वृद्धि की दौड़ में उस समय फ्रांसीसियों के पैर जमने लगे थे।

'बुर्सी' की अध्यक्षता में वे हैदराबाद में प्रतिष्ठित हो गये। पर सन् १७५८ ई० में बुर्सी वापस बुला लिया गया और तब पेशवा को मौका मिला। बाजीराव ने सन् १७५६ ई० में निजाम को बुरी तरह परास्त किया। इसके बाद असीरगढ़, दौलताबाद, बीजापुर, अहमदनगर और बुरहानपुर के किले पेशवा को मिले और ६२ लाख की वार्षिक आय की अन्य जमीन भी मिली। इससे पेशवा की शक्ति और प्रभाव और अधिक बढ़ गया और निजाम की शक्ति बिलकुल घट गयी। इसके बाद मराठा सरदारों ने राजपूत राजाओं के अपने मामले में भी हस्तक्षेप किया। उनमें से कुछ युद्ध में हार गये और कुछ राजाओं से मराठों ने भूमि और रुपये वसूल किये। मराठों की इस नीति से राजपूत राजा असन्तुष्ट भी हुए और उन्हें मराठा सरदारों से चिढ़ हो गयी।

पानीपत का तीसरा युद्ध (सन् १७६१ ई०)—नादिरशाह के बाद अफगान सरदार अहमदशाह अब्दाली के हाथ में शक्ति आ गयी। उसने भारत पर कई बार आक्रमण किया। उसने पंजाब पर अपना अधिकार कर लिया और उसका शासन अपने एक सूबेदार को दे दिया। मराठे मुगल बादशाह की कमजोरी से लाभ उठाकर दिल्ली पर आक्रमण करने के बाद पञ्जाब की ओर बढ़ गये। वहाँ उन्होंने अहमदशाह अब्दाली के सूबेदार को परास्त किया और लाहौर पर अधिकार कर लिया। इस बात को सुन कर अब्दाली बहुत क्रोधित हुआ और एक बड़ी सेना के साथ मराठों को दण्ड देने के लिए भारत की ओर चल पड़ा। इधर मराठों ने भी पेशवा की संरक्षता में बड़ी तैयारी प्रारम्भ कर दी। एक बड़ी सेना एकत्रित की गयी और उसके संचालन का काम **सदाशिव राव** तथा पेशवा के पुत्र **विश्वास राव** के हाथों में सौंप दिया गया। दोनों वीर अनेक मराठे सेनापतियों, घुड़सवारों तोपखाने तथा पैदल सैनिकों के साथ अब्दाली का सामना करने के लिए पूना से चल पड़े। उनकी सहायता के लिए होल्कर, सिंधिया, गायकवाड़ तथा राजपूत और जाट सरदार एवं अन्य राजा भी और उनसे आ मिले।

अन्त में पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में दोनों पक्ष की सेनाएँ आ डटीं। सदाशिव की सेना ने दिल्ली पर पहले ही अधिकार कर लिया था। पर

पानीपत के मैदान में दोनों दल की फौजें दो महीने तक आमने सामने डटी रहीं। मराठा-पक्ष के सेनापतियों में युद्ध-प्रणाली के विषय में एक मत नहीं था। जाट-सरदार सूरजमल ने मराठों की प्राचीन युद्ध-प्रणाली से काम लेने की राय दी, होल्कर ने भी इसी बात का समर्थन किया, पर सदाशिव राव ने उनकी बात नहीं मानी क्योंकि उसे अपने तोपखाने पर पूरा विश्वास था, अतः वह खुले मैदान में युद्ध करना चाहता था। इसी बीच मराठा-पक्ष के रसद-मार्ग पर शत्रु-पक्ष का अधिकार हो गया और इससे उनके लिए टेढ़ी समस्या उठ खड़ी हुई। अन्त में १४ जनवरी सन् १७६१ ई० को दोनों सेनाओं में भिड़न्त हुई। मराठा-सेना में बायीं ओर तोपखाना, बीच में सदाशिव राव और दाहिनी ओर मल्हार राव की सेना थी। प्रातःकाल तीन बजे तक युद्ध चलता रहा। पेशवा का बड़ा पुत्र विश्वास राव जो मराठा सेना का उपाध्यक्ष था, युद्ध में मारा गया। खबर पाते ही सदाशिव राव शत्रु दल पर पागल की भाँति टूट पड़ा, पर वह भी मारा गया। उसके मरते ही मराठा सेना भाग खड़ी हुई और अब्दाली के सैनिकों ने उसका पीछा किया। सिंधिया के पैर में चोट लगी, वह भी भाग उठा; होल्कर ने भी मैदान छोड़ दिया। समाचार पाकर पेशवा स्वयं पूना से उत्तर की ओर चल पड़ा पर मार्ग में उसे एक पत्र मिला जिसमें लिखा था—

"दो मोती नष्ट हो गये, सत्ताइस सोने की मोहरें खो गईं और चाँदी तथा ताम्बे की कितनी हानि हुई, इसका तो अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता।"

पेशवा इस समाचार से मर्माहत हो गया। उसे ऐसा धक्का लगा कि वह इस संसार से चल बसा। पानीपत की पराजय और पेशवा की मृत्यु से सारा महाराष्ट्र निराशा के अन्धकार में डूब गया और उनकी शक्ति को गहरी ठेस लगी।

मराठों की इस पराजय के अनेक कारण बताये जाते हैं। छापामार रणनीति को त्यागना उनकी सबसे बड़ी भूल थी। साथ ही उनमें संगठन का अभाव था। राजपूतों और सिक्खों ने मराठों का साथ अच्छी तरह नहीं दिया। युद्ध के मैदान में उपस्थित भिन्न-भिन्न टुकड़ियों के सेनापतियों में

आपस में एकता नहीं थी। प्रारम्भ से ही वे युद्ध-प्रणाली के विषय में मतभेद रखते थे। इसके विपरीत अब्दाली की सेना और उसका संगठन ठोस था और उसमें नेतृत्व की पूर्ण एकता थी। मराठा पक्ष में सिंधिया और होल्कर में प्रतिद्वन्दिता चल रही थी और वे साथ-साथ युद्ध करना नहीं चाहते थे। मराठों की हार का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उन्होंने शत्रु पर चोट करने और युद्ध छेड़ने में अति विलम्ब किया। उन्होंने अफगानों पर अन्तिम दिन हमला किया तो जब भूखों मर रहे थे क्योंकि उनके रसद के मार्ग को शत्रुओं ने पहले ही काट दिया और मराठे इस प्रकार एक नैराश्य-पूर्ण स्थिति में फँस गये थे। इसके अतिरिक्त निजाम, अवध के नवाब और रुहेला अब्दाली के पक्ष में थे और वे अब्दाली की हर प्रकार से मदद कर रहे थे। इन स्थितियों में मराठों की हार में कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

पानीपत की हार के कारण मराठा-शक्ति की रीढ़ टूट गयी। मराठापक्ष के अपार धन-जन की क्षति इस युद्ध में हुई। उसके अतिरिक्त उत्तरी भारत से मराठों का प्रभाव उठ गया। राजपूताना, मालवा, दोआब उनके हाथ से निकल गये और दक्षिण में भी निजाम और हैदर अली शक्तिशाली हो उठे। इस युद्ध के बाद पेशवा का नेतृत्व बिल्कुल समाप्त हो गया और विभिन्न मराठा सरदार स्वतन्त्र हो गये। प्रकारान्तर से इस युद्ध का भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना में बहुत बड़ा हाथ रहा क्योंकि इसके बाद भारत में एक नयी शक्ति को आगे बढ़ने का अच्छा मौका मिला और अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का मार्ग अधिक सुन्दर और स्वच्छ हो गया। इस प्रकार पानीपत का यह युद्ध अन्य पूर्ववर्ती दो युद्धों की तरह देश के भाग्य का निर्णायक सिद्ध हुआ। इसी युद्ध के बाद मुगल सम्राट का वास्तविक अस्तित्व भी समाप्त हो गया। वह चार साल के बाद सन् १७६५ ई० में अंग्रेजों का पेन्शनर हो गया।

पानीपत के युद्ध के बाद पेशवा-पद—पानीपत के युद्ध के बाद चार पेशवा हुए—

माधवराव प्रथम — सन् १७६१—१७७२ ई०

राघोबा — सन् १७७३—१७७४ ई०

माधवराव द्वितीय — सन् १७७४—१७९५ ई०
बाजीराव द्वितीय — सन् १७९६—१८१८ ई०

इनमें माधवराव प्रथम योग्य और कुशल व्यक्ति था। उसने मराठा-प्रभुत्व को पुनः स्थापित किया और निज़ाम को बुरी तरह परास्त किया। उधर मैसूर में हैदरअली प्रबल हो रहा था। माधवराव ने उस पर कई बार आक्रमण किया और उसे हराया। उसके समय में मराठों का प्रभाव पुनः उत्तरी भारत में बढ़ गया। कठपुतली मुगल सम्राट शाहआलम मराठों से आ मिला और दिल्ली में रहने लगा। उसने कड़ा और इलाहाबाद के लिए मराठों को सनद दे दी। पर दुर्भाग्य से दिसम्बर सन् १७७२ ई० में माधवराव का देहान्त हो गया।

माधवराव के बाद राघोबा पेशवा बना, पर दलबन्दी के कारण वह अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। उसके विरुद्ध नाना फड़नवीस ने एक प्रबल दल तैयार करवा लिया। उसे गद्दी से वंचित कर एक बालक को जिसका नाम माधवराव द्वितीय हुआ, पेशवा बनाया गया। राघोबा अंग्रेजों से जा मिला और उसने गद्दी प्राप्त करने के लिए उनसे संधि कर ली। इसी पारस्परिक झगड़े के कारण अंग्रेजों को मराठा दरबार में घुसने का अवसर मिला जो आगे चलकर मराठों के लिए घातक सिद्ध हुआ। अन्तिम पेशवा बाजीराव द्वितीय कमजोर व्यक्ति था। उसके समय में सर्वत्र षड्यंत्र होने लगे। मराठा सरदार आपस में खूब लड़ते थे। इसी घरेलू युद्ध में सन् १८०२ ई० में पेशवा को अंग्रेजों के यहाँ शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार पेशवा-पद की मर्यादा का अन्त हो गया और उसका प्रभाव शून्य हो गया। पेशवा ने अंग्रेजों की 'सहायक-संधि' को भी स्वीकार कर लिया और इस प्रकार महाराष्ट्र के गौरव को समाप्त कर लिया। सन् १८१८ ई० तक मराठा शक्ति को अंग्रेजों ने समाप्त कर दिया।

मराठा-मंडल और पेशवा के प्रभाव कम होने और शक्ति क्षीण होने के कई कारण थे। छत्रपति शिवाजी के बाद ही उनके उत्तराधिकारी आपस में लड़ने लगे और उनमें से कुछ उस वंश और पद के लिए बहुत ही अयोग्य सिद्ध हुए। शिवाजी के बाद जागीरदारी प्रथा को चालू कर मराठों ने बहुत

बड़ी गलती की। इससे कुछ ही दिनों में मराठा राज्य कई टुकड़ों में विभाजित हो गया और स्थान-स्थान पर गायकवाड़ों, होल्कर, सिंधिया और भोंसला ने अपने को स्वतन्त्र बना लिया। इस प्रकार मराठा सहयोग मण्डल का क्रम टूट गया और सब मनमानी करने लगे। एक दूसरे से ईर्ष्या और युद्ध में ही उनकी शक्ति क्षीण होने लगी क्योंकि वे आपस में बहुत जलते थे। मराठों की लूट और 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' वसूल करने की नीति तथा साम्राज्यवादी युद्धों से राजपूत, जाट तथा अन्य लोग उनसे अप्रसन्न हो गये और बदला लेने का अवसर देखने लगे। शिवाजी के बाद मराठा सरदारों और संचालकों ने ठोस राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में सफलता नहीं प्राप्त की और अपना-अपना राग अलापने लगे। उनका आन्तरिक कलह और असहयोग उनकी कमजोरी का सबसे बड़ा कारण बन गया। पुनः उन्होंने अपनी सेना बहुत बड़ी बना ली, पर उसके नियंत्रण के लिए कोई उपयुक्त कार्यक्रम नहीं बनाया, तोपखाने की प्रायः उपेक्षा होती रही और वे पानीपत की हार के बाद उच्चतर कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों के विरुद्ध टिक नहीं सके। पेशवा राज्य की आर्थिक व्यवस्था भी वैज्ञानिक नहीं थी और वे युद्ध के व्यय के लिए प्रायः लूट पर ही निर्भर रहते थे। साथ ही उन्होंने राजनैतिक दूरदर्शिता से भी काम नहीं लिया। वे दूर-दूर के प्रान्तों को लूटते थे, वहाँ के सूबेदारों तथा शासकों को परास्त और आक्रान्त करते थे, पर लौटते समय अपनी विजय को स्थायी दृढ़ बनाने का प्रयास नहीं करते थे और इस प्रकार अपने अव्यवस्थित प्रभाव-क्षेत्र से ही संतुष्ट हो व्यवस्थित राजसत्ता और राज्य के संगठन की सर्वथा उपेक्षा करते रहे। इन्हीं सब कारणों से अवसर पाकर भी मराठा अपनी शक्ति को स्थायी और व्यापक नहीं बना सके।

सिक्ख और उनका उत्कर्ष

सिक्ख और गुरु नानक—'सिक्ख' शब्द का अर्थ शिष्य है। सिक्ख धर्म के अनुयायी ही सिक्ख वर्ग के लोग हैं। सिक्ख धर्म के प्रणेता गुरु नानक थे जिनका प्रादुर्भाव चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी के भक्ति आन्दोलन के युग में

हुआ था। आपका जन्म सन् १४६९ ई० में लाहौर के पास नानकाना नामक स्थान पर हुआ था। कबीर की भाँति आप भी समन्वयवादी और सुधारक थे। आप हिन्दू समाज की कमजोरियों, जाति-पाँति और मिथ्याडम्बर के विरोधी थे। गुरु नानक ईश्वर की एकता और जीवन की पवित्रता पर जोर देते थे। आपका देहान्त सन् १५३८ ई० में हुआ। पंजाब में आपके उपदेशों और सत्संग का अच्छा प्रभाव पड़ा और बड़ी संख्या में वहाँ के लोग आपके शिष्य हो गये।

गुरु नानक के बाद गुरु आनन्द (१५३८-५२ ई०) गुरु अमरदास (१५५२-७४ ई०) गुरु रामदास (सन् १५७४-८१) सिक्खों के गुरु हुए। गुरु आनन्द ने बड़ी तत्परता और उत्साह के साथ अपने आदि गुरु के सिद्धान्तों का प्रचार किया। आपके ही समय में गुरुमुखी लिपि का आरम्भ हुआ और उसी में गुरु नानक के उपदेशों का संकलन हुआ। उस संकलन का नाम आदि ग्रंथ पड़ा जो सिक्खों का मूल धर्म ग्रंथ बन गया। चौथे गुरु रामदास अकबर के समकक्ष थे। अमृतसर के निकट गुरु रामदास को अकबर ने एक विस्तृत भूमि दान में दी जहाँ उन्होंने एक बड़ा तालाब और एक स्वर्ण मन्दिर बनवाया। तभी से वह स्थान सिक्खों का प्रधान धार्मिक केन्द्र बन गया है।

गुरु अर्जुन –(सन् १५८१-१६०६) पाँचवें गुरु अर्जुन के समय में सिक्खों का संगठन अधिक दृढ़ हो गया। आपने आदि ग्रंथ का पुनः संकलन कराया और उसका नाम "ग्रंथ साहब" पड़ा। इसमें सब गुरुओं के उपदेश संगृहीत हैं। आपके समय में सिक्खों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी होने लगी क्योंकि उन्होंने अपने उपदेशों में भी इस पहलू पर भी जोर दिया। सिक्ख अच्छे व्यापारी और परिश्रमी होने लगे। अमृतसर इस समय सिक्खों का प्रधान केन्द्र बन गया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में गुरु ने विद्रोही शाहजादा खुसरो को अपने यहाँ रक्खा और उसे 'प्रसाद' दिया। इसी कारण बादशाह जहाँगीर ने क्रुध होकर गुरु अर्जुन को कत्ल करा दिया। इस दुखद घटना के बाद सिक्ख और मुगल एक दूसरे के पक्के शत्रु बन गये।

इसके बाद के गुरुओं ने सिक्खों को सैनिक प्रवृत्ति का बना दिया।

उन्होंने भेंट में घोड़े, अस्त्र और युद्ध के अन्य सामान देने पर जोर दिया। गुरु को "सच्चा बादशाह" कह कर पुकारा जाने लगा। आत्म रक्षा के लिए छोटी सेना और अपने वर्ग के भीतर न्याय की व्यवस्था का प्रबन्ध भी उन्होंने किया। धीरे-धीरे उनमें एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की भावना दृढ़तर होने लगी। औरंगजेब की धार्मिक भेदभाव की नीति और सिक्खों तथा हिंदुओं के विरुद्ध अत्याचार ने इस सम्प्रदाय को और अधिक संगठित कर दिया। औरंगजेब ने क्रुध होकर नवें गुरु तेग बहादुर को दरबार में बुलवाया और उनसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने को कहा। गुरु ने अपना सिर देना स्वीकार किया, पर 'सर' (धर्म) नहीं दिया। इस भाँति गुरु तेगबहादुर सन् १६७५ ई० में शहीद हो गये।

गुरु गोविन्द (सन् १६७५-१७०८ ई०)—गुरु तेगबहादुर के बाद गुरु गोविंद गद्दी पर आसीन हुए। आप ने गुरु तेगबहादुर की हत्या का बदला लेने का दृढ़ संकल्प किया। अतः आप ने सिक्खों को पूर्ण रूप से सैनिक शिक्षा देनी प्रारम्भ की। आपकी प्रतिभा और व्यक्तित्व के आकर्षण से कायरों में जोश भर जाता था। अतः प्रसिद्ध हो गया कि आप में गौरैया को बाज बनाने की शक्ति है। बात सच थी गुरु गोविन्द ने सिक्खों में अब तक चलने वाली जाति-प्रथा को समाप्त कर दिया। सब को एक सूत्र में बाँधने के लिए कृत संकल्प हुए और सब के लिए केश, कृपाण, कच्छ, कंकण और कंघा रखना अनिवार्य बताया। सिक्ख सम्प्रदाय का नाम 'खालसा' दिया गया जिसका मतलब था कि सिक्ख ईश्वर द्वारा चुने हुए हैं और वे अजेय हैं। गुरु ने स्वयं अपने शरीर पर लौह आवरण धारण किया और अपने शिष्यों को वीरता, शौर्य और त्याग की मूर्ति बनने को उत्साहित किया। संगठन करने बाद आप ने मुगलों से खुल्लम-खुल्ला लोहा लेना शुरू कर दिया। उन दिनों औरंगजेब दक्षिण में फँसा था, अतः उन्हें अच्छा मौका मिला। अन्त में एक बड़ी मुगल सेना ने सिक्खों को परास्त किया। गुरु गोविन्द के दो पुत्र युद्ध में मारे गये और दो को जीवित पकड़ कर दीवार में चुनवा दिया गया। पर गुरु का उत्साह कम नहीं हुआ। अंत में औरंगजेब ने उन्हें मित्र-वत ढंग से आमंत्रित किया पर मुगल सम्राट की मृत्यु गुरु से मिलने का

पूर्व ही हो गयी। सन् १७०८ ई० में एक पठान ने गुरु की अचानक हत्या कर दी।

आप की मृत्यु के बाद भी सिक्खों का उत्साह कम नहीं हुआ। वे बराबर अपनी शक्ति संगठित करते जा रहे थे। गुरु गोविन्द ने सिक्ख जाति में एक अपूर्व साहस और वीरता का भाव भर दिया और उन्हें एक सैनिक संगठन में परिवर्तित कर दिया था। अपनी मृत्यु के समय उन्होंने गुरु की गद्दी समाप्त कर दी। आप सिक्खों के दसवें गुरु थे। आपने किसी को अपना उत्तराधिकारी नहीं नियुक्त किया। आपने अपने शिष्यों से कहा कि "जो गुरु को देखना चाहता है, उसे गुरु नानक के ग्रंथों को देखना चाहिए। गुरु खालसा के साथ रहते हैं। जहाँ कहीं भी पाँच सिक्ख एकत्रित हैं मैं वहीं उपस्थित रहूँगा।"

गुरु गोविन्द के बाद सिक्खों का नेतृत्व बन्दा वैरागी के हाथ में आया। आप का जन्म सन् १६७० ई० में हुआ था। आप ने डटकर मुगलों का सामना किया और अपने को स्वतंत्र रखने का प्रयास किया। बहादुरशाह और उसके उत्तराधिकारियों ने सिक्खों को बहुत तंग किया। एक बार बन्दा गुरुदासपुर के किले में घिर गया और पकड़ कर दिल्ली लाया गया। उसी के सामने उसके पुत्र की आँखें निकाल ली गयीं और उसके शरीर का माँस गरम भाले से नोंच लिया गया। पर इन यातनाओं को बन्दा ने साहस और धैर्य के साथ सहन किया। सन् १७१६ ई० में उसका देहान्त हुआ।

इसके बाद सिक्खों को बहुत धक्का लगा, पर वे अपना संगठन बनाये रखने में समर्थ रहे। पंजाब के सूबेदारों ने सिक्खों के साथ बहुत अत्याचार किया। अब्दाली के हाथ से लगभग १२००० सिक्ख मारे गये। पर इससे वे निराश और हताश नहीं हुए। बाद की राजनैतिक परिस्थिति में पंजाब पर सिक्खों का अधिकार हो गया। उन्होंने पूरे पंजाब को १२ संघों में जो 'मिसिल' कहलाये, बाँट लिया। प्रत्येक 'मिसिल' का प्रबन्ध एक नेता के हाथ में होता था। भविष्य में ऐसी ही एक 'मिसिल' का नेता रणजीत सिंह हुआ जिसने अन्य सब 'मिसिलों' को एक मिलाकर पंजाब में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना में सफलता प्राप्त की। भारत में आज भी सिक्ख जाति का

अपना एक विशेष स्थान है। ये आज भी अच्छे सैनिक या व्यवसायी होते हैं। इस्लाम के प्रभाव और सम्पर्क से भारत में मध्यकालीन युग में जो सुधारवादी भक्ति-आन्दोलन चला, उसी का एक पक्ष सिक्ख धर्म के रूप में इस देश में प्रस्फुटित हुआ। प्रारम्भ में यह एक धार्मिक वर्ग रहा। पर मुगल सम्राटों की धर्मान्धता और अदूरदर्शिता ने इस वर्ग को एक सुसंगठित सैनिक जाति में बदल दिया और धीरे-धीरे यह जाति पंजाब में शासक बन गयी। मुगल साम्राज्य के पतन एवं विनाश के कारणों में सिक्ख जाति का भी हाथ था और उसके बाद बहुत दिनों तक पंजाब, काश्मीर आदि की राज्यव्यवस्था इनके हाथ में रही। रणजीत सिंह और उसके वंशजों की यह व्यवस्था सन् १८४९ ई० तक चलती रही, जब पंजाब की स्वतंत्र सत्ता समाप्त कर उसे अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

यूरोप में आधुनिक युग का विकास

(१) सांस्कृतिक और बौद्धिक पुनरुत्थान

प्राचीन-काल में यूरोप में यूनान और रोम की सभ्यता, संस्कृति, राज-व्यवस्था तथा विद्या के प्रभाव का बोलबाला था। लेकिन काल के चक्र में वह सभ्यता फीकी पड़ गयी, वह राज-व्यवस्था शिथिल हो गयी और यूरोप पर कुछ दिनों के लिए आवरण-सा पड़ गया जिससे विश्व के इतिहास में उनकी प्रगति रुक गयी और वे बहुत दिनों तक अपने सीमित क्षेत्र के बाहर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सके। समाज और सभ्यता पर थोथे धर्माधिकारियों का प्रभुत्व हो गया जो बुद्धि और तर्क का सहारा त्याग आँख बन्द कर धार्मिक ग्रंथों की रूढ़ियों को ही अपना मार्ग-प्रदर्शक मानते थे। स्वतन्त्र विचारों के लिए उस युग के समाज में कोई स्थान नहीं था। बाद को सामन्तवाद का प्राधान्य हो गया और उन्होंने धर्म के पण्डे-पुजारियों से गठबंधन कर लिया। पर यह स्थिति निरन्तर नहीं चल सकती है क्योंकि मनुष्य का दिल और दिमाग किसी संकुचित दायरे में सदा के लिए बन्द नहीं रक्खा जा सकता है। कुछ शताब्दियों के बाद यूरोप की इस बौद्धिक शिथिलता का अन्त हुआ और १५वीं-१६वीं शताब्दी में उसमें एक नयी धारा फूट निकली। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोगों की सूझ-बूझ पैनी होने लगी और यूरोप में एक प्रकार की विकास-धारा का पुनः सूत्रपात हुआ। इस परिवर्तन को **पुनरुत्थान, नव जागरण या 'रेनेसाँ'** कहते हैं।

पुनरुत्थान के कारण—यूरोप में इस पुनरुत्थान के कई कारण थे। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। लगातार वर्षों तक अनेक घटनाओं का क्रम चलता रहा और उन्हीं के फल-स्वरूप यूरोप में युग-परिवर्तन सम्भव हो

सका। मध्यकालीन धार्मिक युद्धों में लोगों में धर्मान्ध युद्ध और विद्वेष से अशान्ति पैदा होने लगी और धर्म गुरु पोप की धाक धूल में मिल गयी। अभी तक धर्म और पोप को लोग पवित्रतम और सर्वोच्च समझते थे। पर उनके विलासी, विद्वेषी जीवन को देखकर लोगों का विश्वास उनसे उठने लगा।

सन् १४५३ में कुस्तुन्तुनिया जो विद्या का केन्द्र था, तुर्कों द्वारा आक्रांत हो गया। उसके पतन के बाद अधिकतर विद्वान और विचारक कुस्तुन्तुनिया छोड़ कर यूरोप के विभिन्न नगरों में फैल गये। वे अपने साथ अनेक प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथों को लेते गये। उसी समय प्रेस तथा छापेखाने का आविष्कार हुआ और पुस्तकें अधिक संख्या में छपने लगीं। विभिन्न प्रकार की पुस्तकों के सुलभ होने से साधारण जनता को भी पढ़ने की सुविधा हो गयी और इस प्रकार ज्ञानार्जन से जनता में सोचने-विचारने का क्रम चल पड़ा। पर्याप्त संख्या में स्थानीय भाषाओं में पुस्तकें बाजारों में बिकने लगीं। लोग अन्धविश्वास के दलदल से निकलकर ज्ञान प्रकाश में आ गये और बुद्धि पर भरोसा रखने की आदत उनमें दृढ़तर होने लगी। लैटिन के साथ-साथ अन्य स्थानीय भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, इटालियन आदि) का विकास हुआ और विद्या कुछ इने-गिने लोगों तक ही सीमित नहीं रह गयी। समाचार-पत्रों की बाढ़-सी आ गयी, लोगों में आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रवृति को प्रोत्साहन मिला। लोगों की भावनाओं में परिवर्तन हुआ और समाज के समक्ष नये आदर्श उपस्थित होने लगे।

इन नयी परिस्थितियों में मनुष्य के प्रति मनुष्य के भावों में परिवर्तन हुए। मानव व्यक्तित्व का मूल्य बढ़ा। स्वाभाविकता, यथार्थता एवं उपयोगिता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। बाइबिल का अनुवाद इटालियन भाषा में हुआ। धर्म की बातें इस प्रकार साधारण जनता की समझ में आने लगीं। इसी समय भौतिक विद्याओं का भी प्रचार हुआ और पाठ्यक्रम में धर्म ग्रन्थों के स्थान पर इतिहास, विज्ञान, कला आदि विषयों का प्राधान्य हो गया। सर्वप्रथम इस प्रकार की नवीन विचार-धारा का श्रीगणेश इटली में हुआ क्योंकि वहाँ कुस्तुन्तुनिया से भागे विद्वान अधिक संख्या में बस गये। साथ ही इटली उन दिनों यूरोप के व्यापार का केन्द्र था और यहाँ

बड़े-बड़े नगरों की संख्या अधिक थी। ऐसे वातावरण में इटली यूरोपीय पुनर्जागरण का प्रथम केन्द्र बना। इटली में दाँते जैसे विद्वान, वैज्ञानिक दार्शनिक कवि और पेट्रार्क जैसे प्राचीन भाषाओं के अद्भुत विद्वान पैदा हुए जिनकी लेखनी में जादू का असर था। ये दोनों विद्वान इस नवीन जाग्रति के मार्ग-प्रदर्शक कहे जा सकते हैं।

पुनरुत्थान की प्रगति—मध्यकालीन समाज सामन्तों का युग था। नये युग में गोला-बारूद का आविष्कार हो गया, अतः शक्ति सम्राट में केन्द्रित हो गयी। समाज का सामन्तवादी ढाँचा गिरने लगा और साधारण जनता के हाथ में शक्ति आने लगी। व्यापार का ढंग भी बदल गया। आधुनिक ढंग के बैंकों का विकास इसी युग में शुरू हुआ। नये-नये व्यापार, नये-नये नगर और नयी राष्ट्रीयता का विकास हुआ। धर्म-प्रधान एक रोमन साम्राज्य के स्थान पर प्रत्येक देश में पृथक-पृथक राष्ट्रीय भाव जाग्रत हो उठे। नयी राष्ट्रीयता के साथ-साथ कुछ लोगों ने धार्मिक अन्ध विश्वास की खुली आलोचना करनी शुरू कर दी। धर्म का स्थान जीवन में गौण हो गया और राजनीति प्रधान बन गयी।

इसी प्रकार साहित्य, कला, मूर्तिकला तथा संगीत आदि के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए। लोग राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने को अब तैयार नहीं थे। दैवी अधिकार के सिद्धान्त के दिन लद गये और राज्य को लोक कल्याणकारी संस्था का रूप समझा जाने लगा। मुद्रणकला से लोगों के विचारों में तीव्रगति से परिवर्तन होने लगे। सन् १४५४ ई० में लैटिन भाषा की बाइबिल प्रथम बार मुद्रित हुई। इटली के नगर-नगर में मुद्रणालय खुलने लगे। अन्य देशों ने इसका अनुकरण किया। इस प्रकार ज्ञान पर कुछ ही पण्डितों का एकाधिकार समाप्त हो गया। नयी-नयी साहित्यिक रचनाएँ लोगों के समक्ष देखते-देखते आ गयीं। शिल्प, मूर्ति और चित्रकला के क्षेत्र में भी युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। उस युग के कलाकर ल्योनार्डो डी विन्सी और रैफैल आज भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय बने हुये हैं। कला, मूर्तिकला और चित्रकला में मानव स्वभाव की वस्तविकता पर अधिक जोर दिया जाता था।

रोम में सेन्ट पीटर का गिरजा का निर्माण नयी शैली के आधार पर हुआ। धीरे-धीरे सांस्कृतिक पुनरुत्थान की यह लहर पश्चिमी यूरोप के सब देशों में फैल गयी। विभिन्न देशों में शेक्सपीयर, राबेले और सर्वेन्टीज इस नवीन युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार हुए।

इसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में भी आशातीत उन्नति हुई। इसी युग में सर्व प्रथम प्रयोगात्मक विज्ञान की पद्धति निकली। पोलैण्ड निवासी कोपर-निकस (१४७३—१५४३ ई०) नामक विद्वान ने यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है और उसी से रात-दिन होते हैं। इटली के विद्वान गैलीलियो (१५६४—१६४२ ई०) ने दूरबीन का निर्माण किया। गणित शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान आइजक न्यूटन ने (१६४२—१७२७ ई०) पृथ्वी की आक-र्षण-शक्ति का सिद्धान्त स्थापित किया। इसी प्रकार रसायन और चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में भी नयी खोजें हुईं। चर्च और पोप ने इस प्रकार अनुसंधान करने वालों को दमन करना चाहा, पर ज्ञान का प्रकाश और तेज होता गया और भविष्य में वैज्ञानिक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

(२) भौगोलिक अन्वेषण

प्राचीन काल में यातायात के साधन सीमित थे और बड़े-बड़े समुद्रों को पार करना सम्भव नहीं था। लोगों को दूर-दूर के देशों की जानकारी नहीं हो पाती थी। समुद्री यात्रा खतरनाक थी। दिशा-ज्ञान का अच्छा साधन नहीं था। लोगों के पास पूँजी का अभाव था। व्यापार क्षेत्र सीमित थे। अधिकांश व्यापार स्थलमार्ग से होता था। पर इस नये युग में इस दिशा में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई क्योंकि इस समय भौगोलिक अन्वेषण के क्षेत्र में विशेष प्रोत्साहन मिला।

भौगोलिक अन्वेषण के कारण—पहले स्थलमार्ग से यात्रा होती थी। मंगोल विजय के कारण दूर-दूर के देशों से स्थलमार्ग द्वारा सम्बन्ध और अधिक बढ़ गया। इसीलिए यूरोप के कुछ धर्म प्रचारक भारत और चीन तक पहुँच गये। इन यात्रियों ने अपनी यात्राओं का वर्णन लिखा और इस दिशा में लोगों की रुचि बढ़ने लगी। धीरे-धीरे पूर्वी देशों के साथ

व्यापार बढ़ने लगा और इससे अधिक आर्थिक लाभ हुआ। व्यापारियों के हौसले बढ़ने लगे। पर उस समय पूर्वी व्यापार पर इटली के व्यापारियों का ही एकाधिकार था। वे ईर्ष्या के कारण दूसरों को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए सुविधा देने को तैयार नहीं थे। अतः अन्य देश के व्यापारी नये मार्ग की खोज के लिए उत्सुक हो गये। उसी समय यूरोप की जनसंख्या में भी काफी वृद्धि हुई। अतः नये-नये स्थानों में जाकर बसने की समस्या भी उठ खड़ी हुई। अभी तक का सारा व्यापार कुस्तुन्तुनिया द्वारा होता था, पर सन् १४५३ में तुर्कों ने इस नगर पर अपना अधिकार कर लिया। अतः यूरोपवालों के लिए यह मार्ग बन्द हो गया। इसी समय यह सिद्ध हो चुका था कि पृथ्वी गोल है और संसार के किसी भाग में अन्य मार्गों से भी पहुँचा जा सकता है। पहले की अपेक्षा बड़े जहाजों का निर्माण हो गया और कुतुबनुमा के प्रयोग से दिशा-ज्ञान की समस्या आसान हो गयी थी। अतः इस युग में भौगोलिक अनुसंधानों को प्रोत्साहन मिला।

अन्वेषण कार्य—भौगोलिक अन्वेषण का श्रीगणेश पुर्तगाल निवासियों ने किया। सर्वप्रथम उन्होंने अफ्रीका के पश्चिमी तट का अन्वेषण किया। इस काम में पुर्तगाल के शासक हेनरी (१३९४–१४६० ई०) ने बहुत प्रशंसनीय काम किया। उसने बड़े और मजबूत जहाज बनवाये, अपने आश्रय में नाविकों को प्रोत्साहन दिया और उनकी रक्षा का भी प्रबन्ध किया। सन् १४८७ तक पुर्तगाली नाविक अफ्रीका के दक्षिणी-छोर तक पहुँच गये। चूँकि इस छोर के पता लग जाने से भारत पहुँचने की आशा बलवती हो उठी, अतः इसका नाम उत्तमाशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) रक्खा गया। पुर्तगाल वालों की यह आशा सचमुच १० वर्षों के भीतर ही पूरी हो गयी। सन् १४९७ ई० में वास्कोडिगामा नामक नाविक उसी अन्तरीप की परिक्रमा करते हुए भारत के पश्चिमी तट पर कालीकट पहुँच गया। आधुनिक युग के इतिहास में इस प्रयास की सफलता का मूल्यांकन करना आसान नहीं है क्योंकि इससे संसार की घटनाओं का क्रम ही बदल गया।

पुर्तगालियों के साथ ही स्पेन-निवासी भौगोलिक अन्वेषण के काम में

बराबर दिलचस्पी ले रहे थे। सन् १४९२ ई० में स्पेन-निवासी कोलम्बस ने अटलांटिक महासागर को पार कर अमेरिका तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की। स्पेन का मैगलेन नामक एक साहसी नाविक पूरी दुनियाँ की परिक्रमा करने में सफल रहा। वह अमेरिका होकर प्रशान्त महासागर को पार करता, पुनः फिलीपाइन्स और उत्तमाशा अन्तरीप होते हुए तीन वर्ष में स्वदेश लौटा, रास्ते में उसकी मृत्यु हो गयी, पर उसके साथियों को इसमें सफलता मिली। मैगलेन संसार का प्रथम नाविक था जिसने विश्व के पूरा चक्कर करने का स्वप्न समुद्री मार्ग से पूरा किया। वह सन् १५१९ ई० में स्पेन से चला था। इसके बाद स्पेन के नाविकों ने दक्षिणी अमेरिका के तट की खोज की और उन्हीं में से (अमेरिगो) एक के नाम पर उस देश का नाम अमेरिका पड़ा। इसी के बाद उन्होंने पेरू और मेक्सिको को अपने अधिकार में कर लिया। उनके बाद अंग्रेज नाविक जान डेविस और मार्टिन फ्रोबिशर ने अमेरिका के के तट तक पहुँचने का सफल प्रयास किया।

इन अन्वेषणों से अटलांटिक महासागर का महत्व बढ़ गया और उसके पास के और देशभी —स्पेन, पुर्तगाल फ्रान्स, इंगलैण्ड आदि—अधिक क्रियाशील हो गये। अटलांटिक होकर अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका की परिक्रमा करके भारत तथा अन्य एशियाई देशों तक पहुँचने का मार्ग खुल गया। इन नये जाग्रत देशों में आपस में व्यापार और लाभ के लिए ईर्ष्या और स्पर्धा बढ़ गयी। इनमें नये व्यापारिक नगर उठ खड़े हुए और देश समृद्धशाली होने लगे। स्पेन के निवासी दास-व्यापार में दक्ष हो गये और अन्य प्रतिद्वन्दियों के साथ समुद्री डाका और युद्ध की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। धीरे-धीरे साम्राज्यवादी भावना का सूत्रपात होने लगा और समय की प्रगति के साथ साम्राज्यवाद जोर पकड़ने लगा। इस काम में सर्वप्रथम पुर्तगाल और स्पेन निवासी आगे थे। पर कालान्तर में फ्रान्स, इंगलैण्ड, हालैण्ड तथा जर्मनी के निवासियों को भी चसका लगा और वे भी अपनी पूरी शक्ति के साथ इस क्षेत्र में टूट पड़े। इस युग के प्रारम्भ में मालूम होता था कि सारे विश्व में पुर्तगाली और स्पेन-निवासी फैल जायँगे और उनका प्रभुत्व सर्व व्यापक हो जायगा। एक समय ऐसा भी आया कि उन्होंने पृथ्वी को दो भागों में बाँट

लिया और पूर्वी हिस्से पर पुर्तगाल तथा पश्चिमी भाग पर स्पेन का अधिकार समझ लिया गया। स्पेन वालों ने अमेरिका को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया और पुर्तगाल निवासी भारत की ओर आकृष्ट हुए। पर ऐसा विभाजन कृत्रिम था अतः व्यवहार में ऐसा सम्भव नहीं हो सका। जिसे जैसी सुविधा मिली और जो जहाँ तक पहुँच सका, अपनी ओर से अपने प्रभाव-क्षेत्र को व्यापक बनाने का पूरा प्रयास किया।

(२) व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता का सूत्रपात

नवीन भौगोलिक खोजों ने यूरोप के प्रत्येक देश में अपने देश के गौरव बढ़ाने के लिए वहाँ के शासकों और नागरिकों को उन्मुख किया। पुनर्जागरण के कारण प्रत्येक देश में अपनी-अपनी भाषा, सभ्यता और कला के प्रति एक प्रकार की ममता बढ़ने लगी और देश-प्रेम का एक नया रंग उनमें पैदा हुआ जो आधुनिक राष्ट्रीयता का प्रारम्भिक स्वरूप माना जा सकता है। यही राष्ट्रीयता का वेग यूरोप के देशों में शक्तिशाली राजतंत्रों के अभ्युदय का प्रधान कारण बन गया और इंगलैण्ड, फ्रान्स, आस्ट्रिया, प्रशा, रूस तथा अन्य देशों में सशक्त राजवंश प्रतिष्ठित हो गये। इस प्रकार के व्यवस्थित और दृढ़ शासन की छत्रछाया में विभिन्न देशों के व्यापारी और नाविक पूर्व और पश्चिम के देशों के साथ व्यापार करने और धन कमाने की अभिलाषा में निकल पड़े। इनमें भारत और अमेरिका के सम्पर्क में आने वाली जातियों में सर्वप्रथम पुर्तगाल और स्पेन निवासियों को अच्छी सफलता मिली।

पुर्तगालियों का भारत-आगमन—पुर्तगाली नाविक अपने सम्राट से उत्साह प्राप्त कर भौगोलिक खोज के काम में बहुत सचेष्ट थे। कई प्रयासों के बाद सन् १४९८ में वास्को-डि-गामा भारत के पश्चिमी घाट पर स्थित कालीकट पहुँचा। वहाँ के राजा से बातचीत कर उसने व्यापारिक सुविधा प्राप्त की। उस समय भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर कालीकट एक प्रसिद्ध व्यापारिक नगर था और वहाँ का राजा जमोरिन था। अरब सागर का सारा व्यापार उस समय अरब लोगों के हाथ में था। पुर्तगालियों ने बड़ी लगन और धैर्य के साथ काम किया और भारतीय तट पर अपनी कई बस्तियाँ बसा

लीं। इन बस्तियों के प्रबन्ध के लिए पुर्तगाल सरकार ने अपनी ओर से गवर्नर नियुक्त करना शुरू किया। सन् १५०५ ई० में अलमिडा (Almeida) नामक व्यक्ति इन बस्तियों की देख रेख और व्यापार की उन्नति के लिए भारत आया। उसने अपनी बस्तियों में किले बनवाने शुरू किये।

अलबुकर्क (Albuquerqule) (१५०६-१५ ई०)—अलमिडा के बाद भारत की पुर्तगाली बस्तियों का गवर्नर अलबुकर्क नियुक्त हुआ। वह एक योग्य और साहसी व्यक्ति था। वह चाहता था कि भारत भूमि पर पुर्तगाली शक्ति अच्छी तरह जम जाय और उसका पैर इतना दृढ़ हो जाय कि प्रतिस्पर्धा रखने वाली कोई दूसरी यूरोपीय शक्ति उसके समक्ष न टिक सके। साथ ही उसका विचार था कि भारत में व्यापार के लिए पुर्तगाल का एकाधिकार स्थापित हो जाय। इन दोनों उद्देश्यों के लिए अलबुकर्क ने सराहनीय कार्य किये। उसने सन् १५१० ई० में गोआ पर अधिकार कर लिया और एक वर्ष के बाद उसने अन्य कतिपय स्थानों पर अपने प्रभुत्व में कर लिया। वह आगे बढ़ कर पूर्वी द्वीप समूह की ओर अग्रसर हुआ और उसने मलक्का को भी जीत कर उसे अपने अधिकार में किया। उसके पास एक अच्छा जहाजी बेड़ा भी हो गया। इस प्रकार अलबुकर्क के समय पुर्तगाली शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी।

अलबुकर्क यहाँ अपने देशवासियों के लिए उपनिवेश भी स्थापित करना चाहता था उसने भारतियों के साथ। वैवाहिक सम्बन्ध करना प्रारम्भ कर दिया। अपने धर्म के प्रचार का कार्यक्रम भी चालू किया। वह प्रायः विधर्मियों से घृणा और कठोरता का बर्ताव करता था। कुछ लोगों को बलपूर्वक ईसाई धर्म स्वीकार करने पर विवश किया। इसी संकुचित और धर्मान्ध नीति के कारण अलबुकर्क की सारी योजनाओं और सैनिक सफलताओं पर कुछ ही दिनों बाद पानी फिर गया। उसके उत्तराधिकारी उतने योग्य नहीं थे और उनमें प्रायः स्वार्थ और धन-लोलुपता का दोष था। इस प्रकार अपने निजी स्वार्थ और लाभ के सामने वे देश के हित की बलि कर दिया करते थे। धार्मिक असहिष्णुता के कारण भारत में एक प्रबल जनमत

पुर्तगालियों के विरुद्ध हो गया। इन्हीं कारणों से पुर्तगाली जिस प्रकार प्रारम्भ में व्यापार और उपनिवेश बसाने के काम में तेजी से सफलता प्राप्त कर रहे थे, वह तेजी स्थायी नहीं रह सकी और उनकी प्रगति में शिथिलता आगयी। सन् १५८० ई० में स्पेन ने पुर्तगाल को अपने में मिला लिया और इस तरह पुर्तगाल की अपनी निजी सत्ता समाप्त हो गयी। अन्त में गोआ, डामन, ड्यू के अतिरिक्त पुर्तगाल के अधिकार में भारत में और कुछ नहीं रह सका और इस देश में पुर्तगाली साम्राज्य स्थापित करने की योजना असफल हो गयी।

हालैण्ड निवासी डच लोगों का भारत में आगमन— पुर्तगालियों के समान डच लोग भी बड़े अच्छे नाविक थे। पुर्तगाल की सफलता देख डच लोगों ने सन् १६०१ ई० में एक कंपनी की स्थापना की। कुछ ही दिनों में इस डच कंपनी ने अच्छी उन्नति कर ली। लगभग ५० वर्षों के भीतर ही इन्होंने अफ्रीका से पूर्वी द्वीप समूह तक अपना प्रभुत्व जमा लिया और वे भारत, लंका तथा अन्य देशों के समुद्री किनारों पर सब से अधिक प्रभावशाली हो गये।

डच लोगों के प्रतिद्वन्दी अंग्रेज और फ्रान्सीसी व्यापारी थे। अतः डचों और अंग्रेजों में प्रायः युद्ध हो जाया करता था। सन् १६१६ ई० तक इनके युद्धों का प्रथम दौरा चलता रहा। पुनः १६२३ ई० में डचों द्वारा आयोजित अम्बोयना के एक हत्याकांड में बड़ी संख्या में अंग्रेजों का वध हो गया। इससे पुनः दोनों देशों में वैमनस्य बढ़ गया और आये दिन आपस में युद्ध होने लगे। इन युद्धों का डच कंपनी पर बहुत बुरा असर पड़ा क्योंकि अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के समक्ष डच कमजोर थे। फलस्वरूप पूर्वी द्वीप समूह में डचों की स्थिति अच्छी रही, पर भारत से उनके पैर उखड़ गये और अपने सभी कारखाने एक-एक कर छोड़ देना पड़ा।

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी—इंगलैण्ड के व्यापारी भारतीय व्यापार से होने वाले लाभ की बातें सुन और देखकर किसी अवसर की ताक में थे जिससे उन्हें भी भारत तथा अन्य ऐसे देशों में घुसने का रास्ता मिल

सके। इस व्यापारिक दौड़ में स्पेन उनका सबसे बड़ा रोड़ा था क्योंकि अमेरिका और अफ्रीका के बीच स्पेन के नाविक डाकू अंग्रेजों से खार खाये बैठे थे। सन् १५८८ई० के बाद परिस्थितियाँ कुछ अनुकूल होने लगीं क्योंकि उसी वर्ष अंग्रेजों ने स्पेन के बड़े जहाजी बेड़े 'आरमडा' (Armada) को पराजित किया। अंग्रेजों की सामुद्रिक शक्ति का सिक्का अब जमने लगा था और वे शक्ति-संचय में सब से आगे बढ़ते जा रहे थे। अतः सन् १६०० ई० में कुछ अंग्रेजों ने महारानी एलिजाबेथ की स्वीकृति से 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की स्थापना की।

इस कम्पनी ने पूर्वी देशों के साथ व्यापार की पूरी तैयारी की। सुमात्रा में सर्वप्रथम एक फैक्टरी खोली गयी। अकबर के दरबार में मिडेनहाल नामक एक अंग्रेज व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए आया। सन् १६०८ ई० में जहाँगीर के दरबार में दूसरा व्यक्ति विलियम हाकिंस उसी अभिप्राय से पहुँचा। उसने अपनी भेंट और बात से बादशाह को प्रभावित किया और सूरत में एक अंग्रेजी कोठी खोलने की आज्ञा प्राप्त की। उस समय पुर्तगालियों ने चालबाजी से इस आज्ञा को रद्द करा दिया और हाकिंस का अभिप्राय सफल नहीं हो सका।

चूँकि पुर्तगाल और डच कंपनियों को उनकी अपनी-अपनी सरकार से सहायता मिल रही थी, अब अंग्रेजों ने भी अपने तत्कालीन सम्राट जेम्स प्रथम से मुगल दरबार को प्रभावित करने की प्रार्थना की। सन् १६१५ ई० में सर टामस रो नामक एक अंग्रेज इंगलैण्ड के बादशाह जेम्स प्रथम का पत्र लेकर राजदूत की हैसियत से भारत आया और उसने मुगल सम्राट के समक्ष अपनी बात रक्खी। उसकी इस यात्रा का "उद्देश्य मुगल बादशाह से अंग्रेजों के लिए व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करना तथा भारतीय समुद्र तट पर अंग्रेजी फैक्टरियाँ खोलने के लिए आज्ञा प्राप्त करना था" वह अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल नहीं हो सका, पर सूरत में व्यापार करने के लिए उसे और अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो गयीं। पर सर टामस रो अपने काम में लगा रहा। वह निरन्तर मुगल सम्राट को प्रभावित करने की कोशिश करता रहा और अन्त में उसे सफलता भी मिली। जहाँगीर ने कुछ दिनों बाद अंग्रेजों को यह सुविधा दी

कि वे बिना किसी प्रकार का कर दिये देश में व्यापार कर सकते हैं और उनकी जान-माल की रक्षा का दायित्व सरकार के ऊपर रहेगा। इससे ईस्ट इण्डिया कंपनी का काम चमक उठा और कुछ ही दिनों के बाद सूरत एक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बन गया। सन् १६३२ में मछलीपट्टम और १६४० ई० में मद्रास की नींव पड़ी। मद्रास में उसी समय फोर्ट विलियम का निर्माण हुआ जिससे कंपनी के धन-जन की रक्षा हो सके। बंगाल में हुगली नामक स्थान पर भी एक फैक्टरी खोली गयी। इस समय ईस्ट इण्डिया कंपनी का प्रभाव व्यापक हो गया था और उनका विरोध करने वाले केवल डच ही रह गये थे। इन दोनों में प्रायः संघर्ष हुआ करता था। फिर भी अंग्रेजी कंपनी का काम तेजी से आगे बढ़ रहा था क्योंकि शक्ति में वे लोगों से अधिक मजबूत थे। सन् १६६१ ई० में कंपनी अपने बादशाह चार्ल्स द्वितीय से एक नया आज्ञा पत्र प्राप्त किया जिससे उसे अपना सिक्का ढालने, किला बनवाने, न्याय करने तथा गैर ईसाई देशों से युद्ध अथवा संधि करने का अधिकार प्राप्त हो गया। उसी समय चार्ल्स द्वितीय का विवाह पुर्तगाल की राजकुमारी से हुआ और पुर्तगाल ने बम्बई का बन्दरगाह दहेज में इंगलैंड के बादशाह को दे दिया। इंगलैण्ड के बादशाह ने सन् १६६८ ई० में उस बम्बई नगर को कंपनी के हवाले कर दिया। कुछ ही दिनों में बम्बई पश्चिमी समुद्रतट पर सब से अधिक व्यस्त बन्दरगाह बन गया। उसी समय कंपनी ने बंगाल में अपना प्रधान व्यापार-केन्द्र-स्थान हुगली से हटा लिया और कलकत्ता को बसाकर उसे ही अपना प्रमुख केन्द्र बनाया। प्रारम्भ के इन ८० वर्षों में व्यक्तिगत रूप से चलने वाली ईस्ट इण्डिया कंपनी का पैर भारत में काफी दृढ़ हो गया और कलकत्ता से लेकर सूरत तक उनकी फैक्टरियों का एक जाल-सा बिछ गया।

औरंगजेब के शासन-काल के अन्तिम दिनों में कंपनी के संचालकों ने भारत की राजनैतिक कमजोरी से लाभ उठाकर व्यापार के क्षेत्र से और आगे बढ़ने का इरादा किया। वे इस देश में अपनी राजनैतिक प्रभुता स्थापित करने की बात सोचने लगे। जब यह बात औरंगजेब को मालूम हुई तो वह अत्यन्त अप्रसन्न हुआ और उनके विरुद्ध युद्ध कर उनकी सब प्रमुख फैक्टरियों

को छीन लेने का आदेश दिया। अंग्रेजों को राज्य से बाहर निकालने का भी फरमान निकाला गया। इससे अंग्रेज बहुत घबड़ाये और भयभीत होकर क्षमा याचना की। अन्त में औरंगजेब ने उन्हें क्षमा कर दिया, सन् १६९० ई० में कम्पनी को १७००० पौ० जुर्माना देना पड़ा। उन्हें भविष्य में फिर ऐसा न करने की कड़ी चेतावनी दी गयी। इसी समय जौब चारनौक ने कलकत्ता की नींव डाली।

इसी समय इंगलैंड के कुछ लोगों ने भारत के साथ व्यापार करने के लिए एक कम्पनी की स्थापना की। कुछ दिनों तक दोनों कम्पनियों ने भारत में व्यापार किया, पर वे आपस में लड़ा करती थीं। यह झगड़ा लगभग १० वर्ष तक चलता रहा, पर सन् १७०८ में दोनों कम्पनियों के संचालकों में संधि हो गयी और दोनों को सम्मिलित कर एक नयी कम्पनी "यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी" (United East India Company) के नाम से काम करने लगी। सन् १७१५ ई० में बादशाह फर्रुखसियर बीमार पड़ा और रोग भयंकर हो गया। उस समय एक अंग्रेज डाक्टर हैमिल्टन की दवा से वह चंगा हो गया। इससे प्रसन्न होकर उसने मद्रास और कलकत्ता के पास कुछ भूमि कम्पनी को दे दी। इससे कम्पनी की स्थिति और दृढ़ हो गयी।

फ्रांसिसी कम्पनी—यूरोप के अन्य देशों के मुकाबिले में फ्रांस के व्यापारियों ने भारत के साथ व्यापार करने के लिए सबसे बाद में संगठन किया। उनकी एक कम्पनी १६१२ ई० में स्थापित हुई थी, पर वह सफल नहीं हुई। पुनः १६४१ ई० में एक और प्रयास हुआ, पर वह भी विफल ही रहा। अन्त में सन् १६६४ ई० में फ्रांस के सम्राट लूई चौदवें के समय में फ्रांसिसी ईस्ट इण्डया कम्पनी की स्थापना हुई जिसने अपने कार्य को सुदृढ़ किया।

सन् १६६८ ई० फ्रांस की कम्पनी ने सूरत में अपना कार्यालय खोला। इसके बाद मछलीपट्टम और पाण्डीचेरी को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। सन् १६७३ ई० में कलकत्ते के पास चन्द्रनगर में फ्रांसिसी कम्पनी की कोठी बनी। इस दौड़ में फ्रांस की कम्पनी को डच कम्पनी से कई बार लड़ना पड़ा। इन युद्धों में फ्रांस की कम्पनी को बहुत क्षति उठानी पड़ी। सन् १६९३ ई० में

पाण्डीचेरी भी उनके हाथ से निकल गया। पर बाद को स्थिति सम्भल गयी और डच पराजित हुए। उसके बाद माही और कारीकल पर फ्रांसिसी कम्पनी का अधिकार हो गया। इसी कम्पनी ने मारीशस पर भी अधिकार किया। सन् १७४१ ई० में डूप्ले (Dupleix) फ्रांसिसी गवर्नर ड्यूमा का उत्तराधिकारी होकर भारत आया। उसके आगमन से फ्रांसिसी कम्पनी के इतिहास में एक युग प्रारम्भ हुआ। इस समय तक भारत में केवल दो ही कम्पनियों का अधिक प्रभाव रहा और इंगलैण्ड तथा फ्रांस की इन दोनों कम्पनियों की शक्ति तथा स्थिति लगभग संतुलित थी।

अन्य देशों में व्यापार और उपनिवेश के लिए प्रतिद्वन्द्विता—जिस समय यूरोप के विभिन्न देशों के नाविक और व्यापारी भारत तथा पूर्व के अन्य देशों के साथ व्यापार करने की होड़ कर रहे थे, उसी समय उन्होंने अफ्रीका और अमेरिका में भी अपनी दृष्टि लगायी थी। पुर्तगाल और स्पेन के निवासी इस दौड़ में सबसे पहिले थे और इन दोनों महाद्वीपों के कतिपय प्रदेशों पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया था। पेरु और मैक्सिको उनके नियंत्रण में आया, पर अधिक उपयोगी और उपजाऊ क्षेत्रों में बसने के कार्य में इंगलैंड और फ्रांस के निवासियों को अधिक सफलता मिली। इस अधिकार और प्रभाव क्षेत्र को प्राप्त करने और प्रसार करने में प्रायः इन देशों के बीच संघर्ष हुआ करता था। उन युद्धों में उभय-पक्ष की हार-जीत बारी-बारी से होती रहती थी और प्रत्येक को समय-समय पर गहरी क्षति उठानी पड़ती थी। पर स्वार्थ और लाभ के लोभ में अवसर पाते ही सब उठ खड़े होते थे और पुनः शक्ति संचय में लग जाते थे। इसी प्रकार के संघर्ष का क्रम वर्षों चलता रहा। एक-एक कर इंगलैंड को स्पेन, फ्रांस और हालैण्ड के साथ युद्ध करना पड़ता था और कभी फ्रांस को इनके साथ एक-एक कर लड़ना पड़ता था। इनके युद्ध-क्षेत्र अफ्रीका, यूरोप, अमेरिका और भारत में फैले हुए थे और प्रायः एक स्थान पर युद्ध छिड़ते ही अन्यत्र सब स्थानों पर वे लड़ने लगते थे। इन सब युद्धों के पीछे प्रधान कारण व्यापारिक प्रतिस्पर्धा और उपनिवेशवाद का लोभ था।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना

भारत में अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कम्पनी और फ्रांसिसी कम्पनी के पैर जम रहे थे। इन दोनों कम्पनियों ने व्यापार का लाभ उठाने के लिए ही भारत में समुद्री तट के विभिन्न स्थानों पर अपनी बस्तियाँ बसायी थीं; पर इस देश की राजनैतिक स्थिति की कमजोरी से लाभ उठाकर इनके संचालकों और कार्यकर्त्ताओं ने अपना विचार बदल दिया और वे अपनी-अपनी शक्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाने में लग गये। इस राजनैतिक शक्ति के संचय और वृद्धि में दोनों में संघर्ष आवश्यक हो गया।

प्रथम युद्ध—१८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोपीय राजनीति की गुत्थियों के कारण इंगलैण्ड और फ्रांस में शत्रुता चल रही थी। अस्ट्रिया के उत्तराधिकार के प्रश्न पर दोनों देश आपस में लड़ने को तैयार थे। भारत में भी इन दोनों देशों की व्यापारिक कम्पनियों के स्वार्थ में टक्कर हो रहा था। अतः यहाँ भी अपने देश की राजनीति के कारण वे आपस में उलझने का मौका ढूँढ़ रहे थे। यूरोप में युद्ध छिड़ते ही अंग्रेज और फ्रांसिसी भारत में भी लड़ पड़े।

सन् १७४० ई० में फ्रांसिसी सेनापति ला बूर्दोने को भारत में स्थित अंग्रेजी कोठियों तथा बस्तियों पर आक्रमण करने का आदेश मिला। भारत के फ्रांसिसी गवर्नर डूप्ले के साथ मिलकर उस सेनापति ने मद्रास पर आक्रमण करने की तैयारी की। मद्रास पर फ्रांसिसियों का अधिकार हो गया। इस सफलता के बाद भी ला बूर्दोने और डूप्ले आपस में लड़ गये। इसी बीच अंग्रेजों ने पांडीचेरी पर आक्रमण किया, पर उन्हें अधिक क्षति उठानी पड़ी और फ्रांसिसियों ने नगर पर कब्जा नहीं होने दिया। इस प्रकार जब भारत में इन दोनों दलों में युद्ध चल ही रहा था कि उस बीच यूरोप में दोनों देशों

में सन् १७४६ ई० में संधि हो गयी। इस संधि की सूचना भारत पहुँचते ही यहाँ भी युद्ध बन्द हो गया और एक दूसरे ने जीते हुए स्थानों को वापस कर दिया।

यद्यपि इस युद्ध में किसी पक्ष की विजय नहीं हुई, पर इससे फ्रांसिसियों की प्रतिष्ठा खूब बढ़ गयी। डूप्ले अधिक उत्साहित हुआ और उसका हौसला अधिक बढ़ गया। इस युद्ध ने यह भी सिद्ध कर दिया कि विदेशी भारत में अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार जिस प्रकार चाहें, युद्ध या संधि कर सकते हैं; यहाँ के राजा या शासक इतने कमजोर हैं कि वे किसी प्रकार इनके मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। भारतीय राजाओं की इस निर्बलता के स्पष्ट होने से विदेशी कम्पनियों के संचालकों को भारत की राजनीति में खुलकर भाग लेने का प्रोत्साहन मिला और वे इस प्रकार के अवसर की ताक में रहने लगे।

द्वितीय युद्ध—(सन् १७४८–५४ ई०) दक्षिण भारत में उस समय तंजौर, कर्नाटक, मैसूर और हैदराबाद की रियासतें लगभग स्वतंत्र हो गयी थीं और इन छोटी-छोटी रियासतों के आपसी और घरेलू झगड़ों में हस्तक्षेप कर अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने की ताक में अंग्रेज और फ्रांसिसी व्यापारी लगे थे। ये कम्पनियाँ अब केवल व्यापारिक नहीं रह गयी थीं, बल्कि उनका अस्तित्व पूर्णरूप से राजनैतिक होता जा रहा था। इनके पास संगठित सेना थी और वे अब राजनैतिक मामलों में देशी राजाओं से मैत्री स्थापित करने की धुन में लगे रहते थे। सर्व प्रथम तंजौर के मामले में अंग्रेजों ने हस्तक्षेप किया। इसे देखकर डूप्ले अधिक सक्रिय हो गया। इसी समय उसे ऐसा करने का मौका भी मिल गया।

हैदराबाद के निजाम की मृत्यु के बाद सन् १७४८ ई० में वहाँ राजगद्दी के लिए विभिन्न दावेदारों में झगड़ा शुरू हो गया। एक तरफ गद्दी का हकदार नाजिरजंग और दूसरी ओर मुजफ्फरजंग हो गया। इसी समय कर्नाटक में भी गद्दी के लिए दो व्यक्ति झगड़ने लगे। वहाँ अनवरुद्दीन और चाँदा साहब दो विरोधी हकदार खड़े हो गये। अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिये

चाँदा साहब ने मुजफ्फर जंग से गठबन्धन किया और इन दोनों ने मिलकर डूप्ले से सहायता की याचना की। डूप्ले ऐसे ही अवसर की ताक में था, अतः उसने झट इनकी बात मान ली और उन्हें सैनिक सहायता देने के लिये वचनबद्ध हो गया। इस चाल को देखकर अंग्रेजों ने इनके विरोधियों का पक्ष लिया और उन्होंने नाजिरजंग तथा अनवरुद्दीन की मदद करने का वादा किया। इस प्रकार दक्षिण में दो पक्ष युद्ध के लिए तैयार हो गये और उनका सहारा लेकर अंग्रेज और फ्रांसिसी आपस में भिड़ गये। इन विभिन्न दलों का संगठन इस प्रकार हुआ—

हैदराबाद	कर्नाटक	मददगार
(क) नाजिरजंग	अनवरुद्दीन मुहम्मद अली	अंग्रेज
(ख) मुजफ्फरजंग	चाँदा साहब	फ्रांसिसी

मुजफ्फरजंग, चाँदा साहब और डूप्ले की सेनाओं ने सर्वप्रथम अनवरुद्दीन पर आक्रमण किया। सन् १७४६ ई० में अम्बर के युद्ध में अनवरुद्दीन मारा गया। इसके बाद उसका पुत्र मुहम्मद अली त्रिचनापल्ली को भाग गया, इसी समय नाजिरजङ्ग ने मुजफ्फरजंग पर आक्रमण किया और पराजित किया। पर विजय प्राप्त करने के कुछ ही दिनों बाद नाजिरजंग मारा गया और इससे मुजफ्फरजंग की बन आयी। वह डूप्ले की सहायता से दक्षिण का सूबेदार बना दिया गया।

इस प्रकार एक वर्ष के युद्ध के बाद फ्रांसिसियों और उसके पक्ष के राजाओं की स्थिति दक्षिण में अच्छी हो गयी। नाजिर जङ्ग और अनवरुद्दीन दोनों ही मर गये और डूप्ले की सहायता से मुजफ्फर जङ्ग दक्षिण का सूबेदार बन गया। इससे उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। दक्षिण के नये सूबेदार ने फ्रांसिसियों को दो नगर (दिरी, मछलीपट्टम) तथा प्रचुर मात्रा में उपहार दिया। इस प्रकार दक्षिण की राजनीति का सूत्रधार डूप्ले हो गया। इस स्थिति से अंग्रेजों की चिन्ता बढ़ गई और वे अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गये।

अब अंग्रेजों के लिए एक ही मार्ग था। उन्होंने अनवरुद्दीन के पुत्र मुहम्मद अली को मदद देने का निश्चय किया। मुहम्मद अली उस समय त्रिचनापल्ली में भागकर छिपा था। अंग्रेजों की योजना की सूचना पाते ही चाँदा साहब ने डूप्ले की सहायता से त्रिचनापल्ली को घेर लिया। उस समय मुहम्मद अली की स्थिति संकटमय हो गयी। पर अंग्रेजों को उस विपत्ति के समय क्लाइव नामक एक सेनापति की सहायता मिली। क्लाइव ने सुझाव दिया कि उसे चाँदा साहब की राजधानी अर्काट का घेरा डालने की अनुमति दी जाय ताकि चाँदा साहब त्रिचनापल्ली छोड़ अपनी राजधानी की रक्षा के लिए अर्काट की ओर बढ़े। उसकी राय में मुहम्मद अली को बचाने का सबसे अच्छा ढङ्ग यही था।

क्लाइव का ऐसा सोचना बिलकुल ठीक निकला। ज्योंही उसने भारतीय और अंग्रेजी सेना की टुकड़ियों को लेकर अर्काट में घेरा डाला, त्योंही चाँदा साहब ने अपनी आधी सेना त्रिचनापल्ली से हटाकर अर्काट की ओर रवाना किया। क्लाइव ५३ दिन तक अर्काट को घेरे पड़ा रहा और चाँदा साहब की सेना ने उसे भी अच्छी तरह घेर लिया था जहाँ से निकलना क्लाइव और उसके सैनिकों के लिए अति दुष्कर था। अन्त में जीत क्लाइव की हुई। उसके केवल ४५ अंग्रेज और ३० भारतीय सिपाही मारे गये। क्लाइव के धैर्य और उसकी वीरता की चर्चा सर्वत्र होने लगी। अंग्रेजी फौज तुरन्त मुहम्मद अली की सहायता के लिए त्रिचनापल्ली पहुँची और उसका उद्धार किया। वह कर्नाटक का नवाब बनाया गया। अब दक्षिण की राजनीति का पासा पलटा। डूप्ले की योजना असफल हो गयी और वह चिन्तित हुआ। अंग्रेजों ने कई स्थानों पर फ्रांसिसियों को परास्त किया। डूप्ले से नाराज होकर फ्रांस की सरकार ने उसे वापस बुला लिया। नये फ्रांसिसी गवर्नर ने अंग्रेजों से संधि का प्रस्ताव किया और इस प्रकार १७५४ ई० में इस युद्ध का अन्त हुआ।

संधि की शर्तों के अनुसार दोनों कम्पनियों ने देशी नरेशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वादा किया। पर वास्तव में यह संधि फ्रांस के अनुकूल नहीं रही। कर्नाटक में अंग्रेजों का प्रभाव अधिक हो गया और

मुजफ्फरजंग को कुछ असंतुष्ट पठानों ने मार डाला था। फिर भी हैदराबाद में सन् १७५८ ई० तक फ्रांस का प्रभाव बना रहा क्योंकि बूसी (Bussy) नामक फ्रांसिसी कूटनीतिज्ञ और सेनापति संरक्षक के रूप में सन् १७५८ तक हैदराबाद में डटा रहा। पर इस दूसरी होड़ में भी इन दोनों कम्पनियों की स्थिति अस्पष्ट बनी रही और दोनों पक्षों की निश्चित सफलता भविष्य के अनुमान की बात बनी रही।

तृतीय अंग्रेजी तथा फ्रांसिसी युद्ध—(सन् १७५६-१७६३ ई०) इस समय इंगलैंड और फ्रांस में अमेरिका के उपनिवेशों को लेकर बहुत तनातनी बढ़ गयी थी। दोनों ने अपने-अपने किलों की मरम्मत करा ली और हथियारों को इकट्ठा किया। यूरोप की राजनीति में भी इंगलैंड और फ्रांस विरोधी दलों के समर्थक थे। यूरोप में युद्ध छिड़ते ही भारत और अमेरिका में इंगलैंड और फ्रांस की सेनाओं में लड़ाई आरम्भ हो गयी। दोनों दल पहले ही से तैयार बैठा था। सात वर्षों तक यूरोप, अमेरिका और अफ्रीका में लगातार युद्ध होता रहा।

भारत में फ्रांस की ओर से युद्ध का संचालन लैली नामक सेनापति था। उसने सर्व प्रथम सेगट डैविड (St. David) के किले पर आक्रमण किया। उसे अपने अधिकार में कर वह मद्रास की ओर बढ़ा। पर वहाँ उसे तत्काल सफलता नहीं मिली। मदद के लिए उसने हैदराबाद से बूसी को बुला लिया। वास्तव में ऐसा कर लैली ने गलती की क्योंकि बूसी के हटते ही हैदराबाद से फ्रांसिसियों का प्रभाव भी कम हो गया। मद्रास की रक्षा के लिए अंग्रेजों ने क्लाइव को कलकत्ता से बुलवाया। अन्य सेनापतियों की सहायता से मद्रास पर अंग्रेजों का अधिकार बना रहा और लैली ने निराश होकर सन् १७५६ ई० में मद्रास छोड़ दिया। उसी के बाद अंग्रेजों ने मछलीपट्टम पर अधिकार किया और निजाम के साथ संधि कर ली। अंग्रेजी सेनापति सर आयरकूट ने वाण्डवाश नामक स्थान पर उसी समय फ्रांसिसी सेना को बुरी तरह परास्त किया। एक-एक कर फ्रांसिसी अन्य देशों के युद्धस्थलों की तरह भारत में भी हारते गये। पाण्डेचेरी पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया और लैली बन्दी बनाया गया। इस समय फ्रांस की स्थिति

बहुत नाजुक हो गयी। सन् १७६३ ई० में यूरोप में दोनों देशों के बीच पेरिस में संधि हो गयी अतः भारत में भी युद्ध बन्द हो गया। इस प्रकार पेरिस की इस संधि के बाद फ्रांसिसी कम्पनी का अस्तित्व भारत से समाप्त हो गया और साम्राज्य स्थापित करने का उनका स्वप्न चकनाचूर हो गया। दक्षिण भारत में अंग्रेजों का दबदबा और प्रभाव बहुत बढ़ गया। तंजौर, कर्नाटक, हैदराबाद तथा बंगाल से फ्रांस का प्रभाव समाप्त हो गया। पाण्डेचेरी, कारीकल और माही फ्रांसिसियों को लौटा दिये गये, पर सैनिक शक्ति के रूप में भारत में उनका अस्तित्व बिल्कुल समाप्त हो गया। इस सप्तवर्षीय युद्ध से यह निश्चित हो गया कि अब अंग्रेजी कम्पनी ही एक ऐसी बाहरी शक्ति है जो सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न है और उसके मार्ग में रुकावट डालने की शक्ति किसी विदेशी कम्पनी या संगठन में नहीं है। कर्नाटक में अंग्रेजों का मित्र मुहम्मद अली नवाब बना। निजाम ने नयी संधि के अनुसार उत्तरी सरकार का इलाका अंग्रेजों को दे दिया। अतः अंग्रेजों की शक्ति दृढ़तर हो गयी और वे विदेशी शक्तियों की प्रतिद्वन्दिता से मुक्त हो गये। यह बात भी निश्चित हो गयी कि फ्रांसिसी भारत में गढ़ न बना सकेंगे। अमेरिका में कनाडा का निचला भाग, मिसीसिपी नदी के पूर्व की सारी भूमि, सेंट लारेंस पर बसे हुए सब बन्दरगाह और पश्चिमी एण्डिज के कुछ टापू इंगलैंड को फ्रांस से मिले। इस प्रकार कुछ दिनों के लिए यूरोप में भी इंगलैंड की शक्ति बहुत बढ़ गयी और फ्रांस का प्रभाव कुछ फीका पड़ गया।

फ्रांसिसियों की पराजय और अंग्रेजों की विजय के कारण— भारतीय व्यापार और राजनीति में अंग्रेजों की विजय और फ्रांसिसियों की पराजय का अन्तिम निर्णय सप्तवर्षीय युद्ध के बाद पेरिस की सन्धि द्वारा हुआ। इस देश के इतिहास में यह घटना अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बाद अंग्रेजों के साम्राज्यवाद का स्वरूप साकार होने लगा और उन्हें अपनी स्थिति की दृढ़ता का पूर्ण अनुभव हो गया। वास्तव में इस ऐतिहासिक चक्र के कई कारण थे। अंग्रेजी कम्पनी का संगठन वैयक्तिक था और फ्रांसिसी कम्पनी का आधार राजकीय था। यह सच है कि फ्रान्स की कम्पनी को उसकी

सरकार से आर्थिक तथा सैनिक सहायता मिलती थी, पर उनके नियंत्रण पर फ्रांस में रहने वाले ऐसे लोगों का हाथ रहता था जोभारत की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ थे और उन्हें यहाँ की राजनैतिक दशा की जानकारी नहीं थी। ऐसी दशा में प्रायः उनके आदेश फ्रांसिसी कम्पनी के हित के लिए लाभदायी सिद्ध नहीं होते थे। साथ ही सरकारी कर्मचारी कम्पनी के कामों में अधिक सक्रिय रुचि नहीं लेते थे। कम्पनी के लाभ हानि की चिन्ता उन्हें कम रहती थी। इसके विपरीत इंगलैण्ड की कम्पनी में काम करने वाले स्वयं मालिक थे और वे यहाँ की स्थिति के अनुसार सदा काम करते थे। इसके अतिरिक्त फ्रान्स की कम्पनी ने प्रारम्भ में ही युद्ध में अधिक भाग लिया और इससे उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। अंग्रेजी कम्पनी प्रारम्भिक स्थित में फूँक-फूँक कर पैर उठाती थी और सदा अपनी आर्थिक स्थिति दृढ़ रखने की कोशिश करती थी। उसके कार्यकर्त्ता कम्पनी की भालाई के लिए जी-जान लगाकर काम करते थे। राजनीति के पीछे उन्होंने अपना आर्थिक और व्यापारिक पक्ष कभी कमजोर नहीं होने दिया। चूँकि अंग्रेजी कम्पनी स्वतंत्र थी अतः इंगलैण्ड की सरकार की ओर से उसके कामों में बहुत कम हस्तक्षेप होता था।

अंग्रेजी कम्पनी के संचालकों और अधिकारियों में अधिकांश कुशल सैनिक और राजनीतिज्ञ थे। उनमें उच्च कोटि का अनुशासन-प्रेम था और वे अच्छे अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहते थे। पर फ्रान्सिसी कम्पनी के अधिकारी वीर होते हुए भी नीति कुशल नहीं थे। वे स्वार्थ के सामने झुक जाते थे और प्रायः आपस में लड़ा करते थे। उनमें संगठन और नियंत्रण का भी अभाव था और वे एक दूसरे पर अविश्वास करते थे। डूप्ले, लैली आदि इसके उदाहरण थे। अंग्रेजों का संगठन भी फ्रांसिसियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर था। अंग्रेजों के पास जहाजी बेड़ा भी अच्छा था। फ्रांस की सामुद्रिक शक्ति अंग्रेजों की अपेक्षा कम और कमजोर थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों का अधिकार दक्षिण भारत के युद्धों के समय बंगाल जैसे धनी और उपजाऊ प्रदेश पर हो गया था जहाँ से उन्हें युद्धों के समय बहुत पैसे प्राप्त हो सकते थे। इन्हीं सब कारणों से अंग्रेज अपनी प्रतिद्वन्दी फ्रांसिसी कम्पनी का मूलोच्छेद कर सके और स्वयं भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बंगाल की स्थिति

उत्तरी भारत में अंग्रेजी प्रभुत्व का प्रथम केन्द्र बंगाल बना। कम्पनी के व्यापारी बंगाल की स्थिति से परिचित थे। वहाँ डच और फ्रांसिसी कम्पनियाँ अपना-अपना काम कर रही थीं। अतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी वहाँ अपनी कोठियाँ बनाने की अनुमति प्राप्त करने की कोशिश की। पहले हुगली तत्पश्चात कलकत्ता में उन्होंने अपना काम शुरू किया। कलकत्ता में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का काम बहुत चमक उठा। उन्हें आस-पास की जमीन भी मिल गयी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुर्शिदाबाद का शासक मुर्शिदकुली खाँ था। उसी की आज्ञा से कासिम बाजार में अंग्रेजों ने अपनी फैक्टरी खोली। सन् १७१३ ई० में मुर्शिदकुली खाँ पूरे बंगाल का सूबेदार हो गया। उसके समय में बंगाल में शान्ति और व्यवस्था बनी रही। पर १७२५ ई० में उसकी मृत्यु के बाद बंगाल तक मराठों का धावा होने लगा।

सन् १७३६ ई० अलीवर्दी खाँ बंगाल का सूबेदार हुआ। मुगल सत्ता की कमजोरी के कारण बंगाल का सूबेदार स्वतंत्र शासक की स्थिति में था और मनमानी किया करता था। पर अलीवर्दी खाँ वास्तव में चतुर शासक था। उसने सदा अंग्रेजों को मनमानी करने से रोका और जब वे बंगाल में किला बनवाना चाहते थे तो अलीवर्दी खाँ उनसे स्पष्ट कह दिया करता था कि "तुम सब व्यापारी हो। तुम्हें किलों की क्या आवश्यकता? हमारे संरक्षण में रहते हुए तुम्हें किसी भी शत्रु से डरने की आवश्यकता नहीं।" अलीवर्दी खाँ अच्छी तरह जानता था कि अंग्रेज अपनी चाल से राजसत्ता अपने हाथ में लेना चाहते हैं अतः वह बंगाल की राजनीति से विदेशियों को दूर रखना चाहता था। अंग्रेज हर प्रकार से बंगाल में अपने व्यापारिक और राजनैतिक स्वार्थ को आगे बढ़ाने की कोशिश किया करते थे, पर अलीवर्दी खाँ के समय में उनकी एक न चल सकी। सन् १७१७ ई० में अंग्रेजों ने मुगल सम्राट फर्रुखसियर को प्रसन्न कर बंगाल में कतिपय व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं, पर अलीवर्दी खाँ की जागरूकता के कारण वे उससे आगे और कुछ नहीं कर सके।

सन् १७५६ ई० में अलीवर्दी खाँ की मृत्यु हो गयी। उसके बाद सिराजुद्दौला गद्दी पर बैठा। वह अयोग्य और अदूरदर्शी था। उसके कर्मचारी उसके प्रति वफादार नहीं थे और अयोग्यता के कारण जनता भी उसके साथ सहानुभूति नहीं रखती थी। उसके गद्दी पर बैठते ही फ्रांसीसी और अंग्रेज अपने-अपने किलों की मरम्मत कराने लगे। उसने उन्हें ऐसा करने से मना किया। फ्रांसिसी तो मान गये, पर अंग्रेजों ने उसके आदेश की उपेक्षा की। उस समय अंग्रेजों का नाजायज व्यापार करना भी उसके लिए अहितकर था क्योंकि उससे नवाब की आर्थिक स्थिति गिरती जा रही थी। इस प्रकार सिराजुद्दौला और अंग्रेजों में मनमुटाव बढ़ता जा रहता था। उसी समय नवाब के कुछ अपराधियों को जिन्हें वह दण्ड देना चाहता था, अंग्रेजों ने अपने अपने यहाँ शरण दी और नवाब द्वारा उन अपराधियों को लौटा देने का आदेश भी अनसुनी कर दिया। इस धृष्ठता से सिराजुद्दौला आगबबूला हो गया।

अंग्रेजों से युद्ध—नवाब की फौज ने कासिम बाजार की अंग्रेजी कोठियों पर आक्रमण कर दिया और उस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद वह कलकत्ता की ओर बढ़ा। नवाब की सेना से अंग्रेज घिर गये और घबड़ा गये। कुछ अंग्रेज भाग निकले और कुछ मार डाले गये। बहुत से अंग्रेज बन्दी बनाये गये। कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि नवाब के सेनापतियों ने १४६ अंग्रेजों को एक तंग कोठरी में बन्द कर दिया और सुबह तक उसी में दम घुटकर १२३ व्यक्ति मर गये। केवल २३ जीवित बचे। यह घटना इतिहास में 'ब्लैकहोल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। पर आधुनिक ऐतिहासिक खोज से यह सिद्ध हुआ है कि यह घटना बिल्कुल मनगढ़न्त थी और इसमें सत्यता का कुछ भी अंश नहीं था। अंग्रेजों ने अपने आदमियों को उभाड़ने के लिए ऐसी कथा गढ़ ली थी ताकि उनमें प्रतिहिंसा की भावना पूरी तरह भर जाय और नवाब से बदला लिया जा सके।

कलकत्ता पर पुनः अंग्रेजों का अधिकार—अंग्रेजों की हार और ब्लैकहोल की घटना की सूचना जब मद्रास पहुँची तो अंग्रेज बहुत चिन्तित

हुए। शीघ्र ही क्लाइव की अध्यक्षता में एक सेना कलकत्ता की ओर रवाना हुई। क्लाइव की सहायता के लिए और अन्य सेनापति भी भेजे गये। दिसम्बर सन् १७५६ में क्लाइव कलकत्ता पहुँच गया। अंग्रेजों ने क्लाइव की देख-रेख में पूरी तैयारी की थी। उसने हुगली और कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों का सामना किया, पर उसकी अस्त-व्यस्त सेना क्लाइव के समक्ष नहीं टिक सकी। वह पराजित हुआ और निराश होकर उसे अंग्रेजों के साथ संधि करनी पड़ी। संधि की शर्तों के अनुसार अंग्रेजों को उनके सब स्थान और उनकी कोठियाँ उनको वापस मिल गईं। अंग्रेजों को मुद्रा निर्माण का भी अधिकार मिला और नवाब ने उनका एक दूत मुर्शिदाबाद में रखना स्वीकार किया। अंग्रेजों ने उसी समय आगे बढ़कर फ्रांसीसी बस्ती चन्द्रनगर को भी अपने अधिकार में कर लिया; इस प्रकार बङ्गाल में अंग्रेजों की स्थिति पर्याप्त दृढ़ हो गयी।

सिराजुद्दौला के साथ पुनः शत्रुता—सिराजुद्दौला अपनी पराजय से बहुत दुखी था। वह किसी प्रकार अंग्रेजों से बदला लेना चाहता था। उसने इस सम्बन्ध में फ्रांसिसियों से बातचीत शुरू की। पर दुर्भाग्यवश इसकी सूचना क्लाइव को मिल गयी। उसने सिराजुद्दौला के दरबार के कुछ आदमियों को अपनी ओर मिलाना प्रारम्भ किया। ऐसे व्यक्तियों का प्रधान मीर जाफर नामक व्यक्ति हुआ। वह अलीवर्दी खाँ का दामाद था और स्वयं बङ्गाल का नवाब बनना चाहता था। क्लाइव को ऐसे ही एक व्यक्ति की जरूरत थी। सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड़यन्त्र का काम प्रारम्भ हुआ। इसमें दो अन्य व्यक्तियों से भी मदद ली गयी। एक का नाम था जगत सेठ और दूसरा व्यक्ति था अमीचन्द। इनके साथ सिराजुद्दौला ने कभी दुर्व्यवहार किया था। अतः इन्होंने मीर जाफर को मदद देने का वचन दिया। अमीचन्द ने यह माँग की कि यदि यह योजना सफल हो गयी तो मैं नवाब के कोष का ५ प्रतिशत और जवाहिरात का चतुर्थांश कमीशन के रूप में लूँगा। क्लाइव को इतना धन देना मन्जूर नहीं था। पर अमीचन्द ने धमकाया कि यदि ये शर्तें पूरी नहीं की जायेंगी तो वह इस षड़यन्त्र का भण्डाफोड़

कर देगा। क्लाइव किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं हुआ। उसने उसके साथ दो कागजों पर शर्तनामा लिखा उनमें से एक कागज वास्तविक था और दूसरा फर्जी। क्लाइव ने दोनों पर वाट्सन को हस्ताक्षर करने को कहा, पर उसने जाली पत्र पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। क्लाइव ने तुरन्त स्वयं वाट्सन का भी हस्ताक्षर कर लिया और इस प्रकार अमीचन्द को शान्त किया।

सारी योजना बन गयी। मीर जाफर ने वादा किया कि नवाब होते ही वह अंग्रेजों को सब प्रकार की व्यापारिक सुविधाएँ देगा, उन्हें ढाका और कासिम बाजार में किले बनवाने की अनुमति देगा और कलकत्ता पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार स्वीकार करेगा। उसने कम्पनी को २४ परगना की जमींदारी देने का वचन दिया और क्लाइव को प्रचुर धन देना का वादा किया। "इस प्रकार मीरजाफर ने स्वार्थ सिद्धि के लिए एक ऐसी निन्दनीय योजना का आश्रय लिया जिसके कारण भारतीय इतिहास में वह सदैव एक देश-द्रोही के रूप में देखा जायगा। उसके काले कारनामें वास्तव में भारतीय इतिहास के काले धब्बे हैं।"

प्लासी का युद्ध (सन् १७५७ ई०)—सब तैयारी करने के बाद क्लाइव ने सिराजुद्दौला को लिखा कि उसने अंग्रेजों को धोखा दिया है और संधि की शर्तों का तोड़ा है। उत्तर की प्रतिक्षा किये बिना ही क्लाइव अपनी सेना के साथ कलकत्ता से चल पड़ा। उधर नवाब भी यह खबर पाकर मुर्शिदाबाद से चला। मुर्शिदाबाद से २३ मील की दूरी पर प्लासी के मैदान में दोनों सेनाएँ रुकीं। क्लाइव नवाब की बड़ी सेना देख कर परेशान हुआ, पर उसने साहस और होशियारी से काम लिया। २३ जून को प्रातःकाल यह ऐतिहासिक युद्ध प्रारम्भ हुआ।

सिराजुद्दौला ने डटकर युद्ध किया। उसकी सेना में कुछ फ्रांसिसी भी थे। पर उसकी सबसे बड़ी कमजोरी मीर जाफर था जो उसके साथ होते हुए भी क्लाइव से मिला हुआ था। सिराजुद्दौला को क्या मालूल था कि उसका एक सेनापति प्रच्छन्न रूप से अपने गर्हित स्वार्थ वश शत्रु से मिला हुआ है। जब नवाब के सैनिक जीवन-मरण के युद्ध में अपनी जान हथेली पर रख कर

शत्रु के साथ युद्ध कर रहे थे तो मीर जाफर निष्क्रिय होकर रणक्षेत्र में खड़ा था। अतः नवाब की हार हुई और उसे प्राण रक्षा के लिए युद्ध क्षेत्र से भागना पड़ा। पर वह अभागा सिद्ध हुआ और पकड़ कर मीर जाफर के पुत्र द्वारा मार डाला गया। विश्वासघात देश प्रेम के समक्ष विजयी हुआ और बंगाल पर अंग्रेजी सत्ता की आँधी गहरी हो चली।

प्लासी के युद्ध का परिणाम—भारतीय इतिहास की युगान्तरकारी घटनाओं में प्लासी के युद्ध की गणना की जाती है। वास्तव में क्लाइव की सफलता का रहस्य भारतवासियों का स्वार्थ तथा उनकी नीचता थी। उस समय बंगाल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने नीच देशद्रोह का नग्न प्रदर्शन किया। इस विजय से क्लाइव और कम्पनी की प्रतिष्ठा बहुत ऊँची उठ गयी और उत्तर भारत में उसकी शक्ति का सिक्का सब पर जम गया। बंगाल का नवाब अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गया और वहाँ से फ्रांसिसियों के पैर भी उखड़ गये। बंगाल पर विजय हो जाने से उत्तर भारत के अन्य प्रदेशों की ओर बढ़ने का मार्ग खुल गया और अंग्रेजों को उस धनी प्रदेश के मिल जाने से दक्षिण के सप्तवर्षीय युद्ध में धन की कमी कभी नहीं हुई। बंगाल की नवाबी मीर जाफर को मिली। वास्तविक सत्ता तो क्लाइव के हाथ में रही और इस बड़ी सफलता के लिए क्लाइव इंगलैण्ड का बहुत ही नामी व्यक्ति हो गया। उसे व्यक्तिगत लाभ भी हुआ। कीर्ति के साथ-साथ उसे एक अच्छी जागीर मिली जिसकी वार्षिक आय ३०,००० पौंड थी। कम्पनी को २४ परगना का इलाका मिला जिससे उसकी आय बहुत बढ़ गयी। मीर जाफर ने मुक्त-हस्त से कम्पनी के अन्य अधिकारियों को उपहार दिये। पर अमी-चन्द को क्लाइव ने कुछ नहीं दिया और युद्ध के बाद उसे क्लाइव की धूर्तता का पता चला।

मीर जाफर की नवाबी—सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध के बाद मीर जाफर को बंगाल का नवाब बनाया गया। उसने उपहार देकर अपना सारा कोष खाली कर दिया। चारों ओर अराजकता फैल गयी और सर्वत्र स्वार्थ सिद्धि का बोलबाला हो गया। नवाब को अंग्रेज हर प्रकार चूसने लगे। उसे

सब काम अंग्रेजों के इशारे पर करना पड़ता था। वास्तव में प्लासी के युद्ध के बाद स्वतन्त्र बंगाल की सत्ता समाप्त हो गयी। क्लाइव भी अस्वस्थ होने के कारण १७६० ई० में इंगलैण्ड चला गया। उसके बाद बंगाल की दशा और बिगड़ गयी। चारों ओर कुशासन और भ्रष्टाचार का जोर हो गया। सन् १७६० ई० में अंग्रेजों ने मीर जाफर पर दोषारोपण कर उसे नवाबी से पृथक कर दिया।

मीर कासिम—सन् १७६० ई० में मीर जाफर के बाद उसका दामाद मीरकासिम बंगाल का नवाब बनाया गया। गद्दी पर बैठने के बाद नये नवाब ने **बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव** की जमींदारी कंपनी को दी। इस प्रकार कलकत्ता के आसपास की अच्छी जमीन कंपनी के अधिकार में आ गयी। २४ परगना पहले ही मिल चुका था।

मीरकासिम एक योग्य और होशियार व्यक्ति था। वह अंग्रेजों की उत्तरोत्तर बढ़ती शक्ति से घबड़ा रहा था। उसने प्रयास किया कि बंगाल की दशा में सुधार हो। उसने पटना के शासक को जो अंग्रेजों का बहुत ही प्रिय था, पदच्युत किया। राज्य के अन्दर लूट-पाट करने वाले जमींदारों को मीर कासिम ने दबाया और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली। स्थान-स्थान पर नये अधिकारी नियुक्त किये गये। उसने सेना का भी पुनः संगठन किया। उसने अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से मुंगेर को स्थानान्तरित कर लिया ताकि अंग्रेजों के हस्तक्षेप से मुक्त हो सके। उसने अपने सब किलों की मरम्मत करानी शुरू कर दी और स्थान-स्थान पर योग्य तथा अनुभवी अफसर नियुक्त किया। अंग्रेज इस बात को समझने लगे कि मीर कासिम अपनी शक्ति बढ़ा रहा है। ऐसी स्थिति में इन दो शक्तियों में संघर्ष आवश्यम्भावी हो गया।

अंग्रेजों से झगड़ा—कंपनी का प्रभाव बढ़ जाने बाद अंग्रेज व्यापारी अपने पुराने निःशुल्क व्यापार के अधिकार का दुरुपयोग करने लगे। वे नमक, पान, तम्बाकू आदि पर बिना टैक्स दिये ही व्यापार करते थे। इससे नवाब की आमदनी बहुत कम हो गयी। अनेक अन्य व्यापारी भी अंग्रेज व्यापारियों के परमिट पर निःशुल्क व्यापार करने लगे। इससे नवाब को और नुकसान हुआ। मीरकासिम ने इस बात की शिकायत की। पर उत्तर में उस पर अन्य

दोष लगाये गये और रेशम पर भी व्यापार शुल्क हटा लिया गया। इससे चिढ़कर नवाब ने सब प्रकार के व्यापार को निःशुल्क कर दिया। यह सुनते ही अंग्रेज आगबबूला हो गये क्योंकि उनका एकाधिकार समाप्त हो गया और उन्हें बहुत नुकसान उठाना पड़ा। अतः मीर कासिम को पदच्युत करने की घोषणा की गयी। नवाब भी युद्ध के लिए तैयार हो गया क्योंकि उसके सामने लड़ने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था।

मीर कासिम २०,००० सैनिकों के साथ कासिम बाजार की ओर बढ़ा। उसने उस नगर पर अधिकार कर लिया, पर वहाँ अंग्रेजी सेना भी तुरन्त पहुँच गयी और नवाब को मात खानी पड़ी। इसके बाद मीरकासिम अत्यन्त क्रुद्ध और दुखी हुआ। उसने अन्त तक लड़ कर अंग्रेजों से बदला लेने का निश्चय किया। उसी समय उसके आदेश से पटना में सब अंग्रेज कैदियों को कत्ल कर दिया गया। इससे अंग्रेज बहुत उबल पड़े। नवाब स्थिति की गम्भीरता को समझता था। वह पटना के हत्याकाण्ड के बाद अवध की ओर भागा। वहाँ उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से मदद की याचना की। शुजाउद्दौला इसके लिए तैयार हो गया और उसने मुगल सम्राट शाह आलम को भी और मिला लिया। इस प्रकार इन तीनों की सम्मिलित सेनाएँ पटना की ओर बढ़ीं। खबर पा कर अंग्रेज भी तैयारी के साथ मैदान में आ डटे। सन् १७६४ ई० में बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। मीर कासिम जी तोड़कर लड़ा, पर वह हार गया। उसके लगभग २००० सैनिक मारे गये और उतने ही नदी में डूब गये।

बक्सर की विजय के बाद अंग्रेजी सेना आगे बढ़ी। चुनार और इलाहाबाद पर उनका निर्विरोध अधिकार हो गया। इस प्रकार अंग्रेज अब उत्तर प्रदेश के समस्त पूर्वी इलाके के मालिक बनने की स्थिति में हो गये।

इलाहाबाद की संधि—सन् १७६५ ई० में कम्पनी की धाक सारे उत्तरी भारत में हो गयी। मीर जाफर पुनः बंगाल का नवाब बनाया गया। पर कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर उसका एक पुत्र गद्दी पर बैठाया गया। वह बिल्कुल ही अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली था। कम्पनी की इस बढ़ती प्रतिष्ठा और प्रभाव-क्षेत्र से ... [illegible]

करने के लिए क्लाइव जो सन् १७६० ई० में इंगलैण्ड चला गया था, भारत भेजा गया। उसने यहाँ आकर बक्सर के युद्ध में पराजित राजाओं से संधि की बातचीत शुरू की। यह एक पैनी राजनैतिक दृष्टिकोण का ही व्यक्ति कर सकता था और क्लाइव से अधिक योग्य व्यक्ति कम्पनी के लिए इस अवसर पर कोई दूसरा नहीं हो सकता था।

अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मुगल सम्राट शाह आलम दोनों ही कम्पनी की सेना के समक्ष नत मस्तक हो चुके थे। यदि क्लाइव चाहता तो उनके राज्यों को आसानी से कम्पनी के अधिकार में ले सकता था। पर उसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि उस स्थिति में इतने बड़े साम्राज्य का सम्भालना कम्पनी के लिए आसान नहीं था। अतः उसने अवध के राज्य को अपने अधिकार में न लेकर प्रभाव-क्षेत्र में ही रक्खा। इसके लिए इलाहाबाद में नवाब के साथ संधि हुई। इस संधि के अनुसार दोनों पक्षों ने युद्ध के समय एक दूसरे को मदद देने का वादा किया। अंग्रेजों ने यह भी विश्वास दिलाया कि युद्ध के समय युद्ध-व्यय लेकर अंग्रेज अपनी सेना से नवाब की मदद करेंगे। नवाब को बक्सर के युद्ध की क्षति-पूर्त्ति के लिए ५० लाख रुपया हर्जाना देने का वादा करना पड़ा। कड़ा और इलाहाबाद के जिले नवाब से शाह आलम को दिलवा दिये गये।

क्लाइव ने शाह आलम के साथ भी इसी प्रकार की संधि की। उसे कड़ा और इलाहाबाद के जिले दिलवा दिये गये। शाह आलम इलाहाबाद ही में रहने लगा। इस प्रकार क्लाइव ने शाह आलम को दिल्ली से हटा कर अपने प्रभाव-क्षेत्र में कर लिया। यह उसकी बड़ी भारी चाल थी क्योंकि अब तक मुगल सम्राट पर मराठों का प्रभाव अधिक था। क्लाइव ने इस संधि से उस प्रभाव को समाप्त कर दिया। शाह आलम ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी कम्पनी को दे दी और उसके बदले में शाहआलम को २६ लाख रुपये की वार्षिक पेंशन नियत कर दी गयी। दीवानी का अधिकार प्राप्त होने से कम्पनी की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। इन प्रदेशों की माल-गुजारी वसूल करने का अधिकार कम्पनी को मिला और प्रबन्ध का उत्तर-दायित्व बंगाल के नवाब के सर पर पड़ा। वास्तव में दीवानी का अधिकार

मिलते ही कम्पनी की स्थिति बदल गयी और उसके हाथ में इतने बड़े इलाके का शासन-कार्य आगया। इससे बंगाल, बिहार और उड़ीसा में तो कम्पनी सर्वेसर्वा हो गयी। अवध का नवाब भी अंग्रेजों के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया और मुगल सम्राट शाह आलम तो कम्पनी का पेंशनर हो गया। इस राजनैतिक लाभ के अलावे कम्पनी की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गयी। प्लासी के युद्ध में भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी थी, पर इलाहाबाद की संधि से नींव तो मजबूत हुई ही, साम्राज्य की इमारत ने मूर्त्त रूप धारण कर लिया। प्लासी के युद्ध का कार्य वास्तव में बक्सर के मैदान में पूरा हुआ और इलाहाबाद की संधि से उस पर पक्की मुहर लगी। उत्तरी भारत में अब कम्पनी की शक्ति को उखाड़ने वाला कोई दूसरा न रहा और भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पैर अच्छी तरह जम गये। कौन कह सकता था कि भारत का राजनैतिक मानचित्र इतनी तेजी से इस रूप में बदल जायगा!

क्लाइव के सुधार—कम्पनी का अधिकार-क्षेत्र इतना बढ़ गया, अतः उसका उत्तरदायित्व भी अधिक हो गया। क्लाइव ने इस उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए अनेक प्रकार के शासन-सुधार के काम किये। उसने निजी व्यापार की मनाही कर दी और प्रत्येक कर्मचारी को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वे बहुमूल्य भेंट न लें। कम्पनी के कर्मचारियों की माली दशा ठीक करने के लिए उसने नमक के व्यापार का एकाधिकार दिला दिया। उसने सैनिक सुधार भी किये। नवाब की सेना घटा दी गयी। सिपाहियों का दोहरा भत्ता बन्द करा दिया। इस प्रकार आवश्यक सुधार कर क्लाइव १७६७ ई० में इंग-लैण्ड लौट गया। वहाँ पार्लियामेंट ने एक प्रस्ताव स्वीकृत कर उसकी भारत-विषयक सेवाओं की प्रशंसा की। सन् १७७४ ई० में उसने आत्म-हत्या कर ली और इस प्रकार भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना करने वालों में एक बहुत ही दृढ़, वीर और कूटनीतिज्ञ तथा सफल सेनापति के जीवन का अन्त हुआ। उसके स्वभाव में कुछ दोष थे, पर अंग्रेजी साम्राज्य की उसने जो सेवाएँ कीं, वे अभूतपूर्व थीं और उस दृष्टि से उनका मूल्यांकन करना आसान नहीं है। अंग्रेजी साम्राज्य के संस्थापकों में क्लाइव सदा अग्रगण्य माना जायेगा।

उन्तालीसवाँ परिच्छेद

पाश्चात्य देशों की नयी प्रगति

इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति

पुरातन काल से १८ वीं सदी के मध्य तक मानव इतिहास की प्रगति का आधार मनुष्य का मस्तिष्क और शरीर रहा। परन्तु १८ वीं सदी के मध्य में और उसके बाद मानव इतिहास के विकास में यंत्रों का बहुत अधिक हाथ हो गया। जो काम सैकड़ों व्यक्ति मिलकर पहले बड़ी कठिनाई से कर सकते थे, वे सब काम यंत्रों की सहायता से बहुत कम समय में सम्पन्न होने लगे। कुछ ऐसे काम जो पहले असम्भव समझे जाते थे, उनको भी मनुष्य ने यंत्रों की सहायता से सम्भव कर दिया। इन यंत्रों के प्रयोग से मनुष्य की राजनीति, इतिहास, उसके सामाजिक जीवन, उसके रहन-सहन और विचार तथा कार्य-पद्धति में आमूल परिवर्तन हो गये। इस परिवर्तन में कहीं रक्तपात नहीं हुआ। सब कार्य शान्तिपूर्ण ढङ्ग से सम्पन्न हो गया। क्रमशः मनुष्य के जीवन की धारा ही बदल गयी। इसी परिवर्तन को इतिहासकारों ने 'औद्योगिक क्रांति' का नाम दिया।

औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात सर्वप्रथम इंगलैण्ड में हुआ और पुनः वहाँ से यूरोप तथा अमेरिका के विभिन्न देशों में इस क्रान्ति की लहरें पहुँचीं। उस क्रान्ति की धारा आजकल चलती जा रही है। पर इसका विशेष उत्थान सन् १७५० ई० से लेकर १८५० ई० तक हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण—यह क्रांति किसी राजनैतिक विचार-धारा के कारण नहीं हुई, न इसमें किसी सम्राट या शासक का अधिक हाथ रहा। विज्ञान के आविष्कारों और उनके प्रयोग की चेष्टा से इस क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ। यूरोप में बौद्धिक जाग्रति के कारण पुनर्जागरण का उदय

हुआ था और उसके बाद का मानव बुद्धिजीवी बन गया था। धीरे-धीरे उसने अपने बुद्धि के विकास से वैज्ञानिक अनुसंधान किया और उन अनुसंधानों को कृषि तथा उद्योग-धंधों के क्षेत्र में प्रयोग किया। इससे उद्योग-धन्धों के विविध प्रकार के नये ढङ्ग निकल गये, यातायात के साधनों में आशातीत उन्नति हुई और खेती के क्षेत्र में नये यंत्रों का प्रयोग होने लगा। अतः मनुष्य का आर्थिक जीवन बदल गया और मूलतः औद्योगिक क्रांति का सब से बड़ा कारण यही था। चूँकि इंगलैंड की राजनैतिक व्यवस्था अपेक्षाकृत दृढ़ और सुरक्षित थी; वह एक समुद्री किनारावाला देश था, जहाँ बन्दरगाहों की अधिकता है; इंगलैंड में पूँजी की कमी नहीं थी और उस समय मजदूर अधिक थे; वहाँ कोयला, लोहा तथा अन्य खनिज पदार्थों की खानें अधिक थीं, नये बने सामान की खपत के लिए भारत तथा अन्य उपनिवेश उनके पास थे जहाँ उन्हें अपनी चीजों के लिए अच्छा बाजार प्राप्त था; यूरोप महाद्वीप के युद्धों से इंगलैंड को राहत मिल जाती थी और वह उस समय भी स्वतन्त्रता-पूर्वक व्यापार कर सकता था; अतः इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति का प्रारम्भ सर्वप्रथम हुआ। ब्रिटेन ने अपने खोज करनेवालों का अच्छा सम्मान किया जिससे वैज्ञानिक आविष्कारकों का उत्साह बढ़ गया।

औद्योगिक क्रांति का अर्थ था मानव सम्बन्धी तीन क्षेत्रों में परिवर्तन— कृषि, उद्योग-धन्धा और यातायात।

कृषि में परिवर्तन—१८ वीं सदी के पूर्व इंगलैण्ड एक कृषि प्रधान देश था। वहाँ खेती का ढंग पुराना था। उपज कम होती थी और लोगों का जीवन-स्तर निम्नकोटि का था। पर १८ वीं सदी के इंगलैण्ड में आबादी कुछ अधिक बढ़ गयी और खाद्यान्न की कमी पड़ने लगी। इसी परेशानी से बचने के लिए लोगों का ध्यान कृषि की उन्नति और पैदावार की वृद्धि की ओर आकर्षित हुआ। बर्कशायर में जेथ्रोटल नाम के एक व्यक्ति ने अपने खेतों को जोतने-बोने का काम अधिक सावधानी से किया। कुछ समय बाद खेत की गुड़ाई के लिये उसने एक मशीन तैयार की जिसे 'ड्रिल' कहा जाता था। उसने 'होइंग' नामक एक प्रकार का विशेष हल तैयार किया जिससे खेत जोतने के काम में आसानी हो गयी। पुनः खेतों में क्रमानुसार भिन्न-

भिन्न फसल बोने की पद्धति का प्रयोग किया गया। इससे भी उपज बढ़ने लगी। पशुओं की नस्ल में भी सुधार किये गये। कुछ नयी खाद भी बनायी गयीं। इसके लिए सामूहिक प्रयोग होने लगे। छोटे-छोटे खेतों को मिला कर बड़े-बड़े फार्म बनाये गये। इन सुधारों से इंगलैण्ड की खेती में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। देश की पैदावार पाँच गुनी बढ़ गयी।

उद्योग धन्धों में परिवर्तन—कृषि के बाद ही जब पैदावार में वृद्धि होने लगी, तो लोगों का ध्यान उद्योग-धन्धों की ओर गया। सर्वप्रथम कपड़े बुनने के काम में परिवर्तन हुए। सन् १७३३ ई० में लंकाशायर में जान के ने "फलाईंग शटल" का आविष्कार किया जिससे सूत कातने और बुनने के काम में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। सन् १७६४ ई० में जेम्स हारग्रीव्स ने "स्पिनिंग जेनी" का आविष्कार किया जिससे १६ तकुए एक साथ एक पहिये से काम करने लगे। उसके बाद सन् १७६६ ई० में 'वाटर फ्रेम' के द्वारा पानी की शक्ति से चरखा चलाने की पद्धति का आविष्कार हुआ। इसका आविष्कारक आर्क राइट था। सन् १७८५ ई० में कार्ट राइट ने 'पावरलूम' का आविष्कार किया जिससे पानी की शक्ति द्वारा करघा चलाने की व्यवस्था हुई।

सन् १७६६ ई० जेम्स वाट ने वाष्प-शक्ति से इंजन चलाने का आविष्कार किया। सन् १७८५ ई० में कताई तथा बुनाई की मशीनों में भी इस वाष्प-शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा। सन् १८१४ ई० में इसी से रेल के इंजन भी चलाये जाने लगे। इस काम का श्रेय जार्ज स्टीफेन्सन को है जो इस आविष्कार के कारण अमर बन चुका है।

इंजनों को चलाने के लिए लोहे और कोयले की खानें खोदी जाने लगीं। लोहे की ढलाई का काम भी शुरू हो गया। सन् १७७६ ई० में लोहे का प्रथम पुल बना और १७६० ई० में लोहे के जहाज बनाने का काम प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे लोहे और कोयले का महत्व बहुत बढ़ गया और उन खानों में दिन-रात काम होने लगा।

यातायात की उन्नति—कल-कारखानों की वृद्धि से चीजों को इधर-उधर ले जाने का काम अधिक होने लगा। अतः यातायात की उन्नति की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया। अब नयी-नयी लम्बी चौड़ी सड़कें बनने लगीं और डाक-व्यवस्था का भी प्रबन्ध शुरू हो गया। सन् १७५६ ई० में इंगलैण्ड में सर्वप्रथम नहर का निर्माण हुआ। सन् १८१६ ई० में सर्वप्रथम वाष्प द्वारा चालित नाव से अटलांटिक महासागर को पार किया गया। सन् १८०४ ई० में रेल के इंजन का आविष्कार हुआ और १८२५ ई० में सर्वप्रथम रेल चलायी गयी। जार्ज स्टीफेन्सन ने एक ऐसा इंजन तैयार किया जो ३५ मील प्रति घंटे की चाल से दौड़ सकता था। सन् १८७६ ई० में टेलीफोन का अविष्कार हुआ। फैरेडे ने बिजली का अविष्कार किया। सन् १८८० ई० में पेट्रोल की खोज हुई और उसके सहारे मोटरें चलने लगीं। सन् १८६७ ई० में सर्व प्रथम वायुयान उड़ा जिसका निर्माण प्रोफेसर लैंगले ने किया। सन् १६०३ ई० में अमेरिका के राइट बन्धुओं ने वायुयान में बैठ कर उड़ने का प्रदर्शन किया। इसी प्रकार एक के बाद दूसरे नये आविष्कार होते गये। इनकी मदद से मनुष्य ने पृथ्वी पर समय, दूरी और गहराई पर विजय प्राप्त की।

प्रभाव—इन विभिन्न आविष्कारों तथा तत्सम्बन्धी प्रयोगों के कारण मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित हर क्षेत्र में अचानक आमूल परिवर्तन हो गये। स्थान-स्थान पर कल-कारखाने खड़े हो गये। हर प्रकार की चीजों का बाहुल्य हो गया और कारखानों में काम करने वालों का जमघट लगा। कृषि के नये ढंग निकल गये, यंत्रों के अद्भुत आविष्कार हो गये। इससे देश की आकृति बिल्कुल बदल गयी। कृषि पर जीवित रहने वाला इंगलैण्ड व्यवसाय प्रधान हो गया। अतः वहाँ के व्यापार में खूब उन्नति हुई। इंगलैण्ड को व्यापार के लिए और कच्चे माल के लिए अन्य देशों का सहारा लेना पड़ा। इसीलिए इंगलैण्ड के जहाज दुनियाँ के हर हिस्से में दौड़ने लगे और भारत जैसे देश पर आधिपत्य स्थापित करने की नीति ने ठोस रूप धारण किया।

इंगलैण्ड में इस क्रान्ति के कारण राष्ट्रीय सम्पत्ति में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। लोगों की आमदनी बहुत बढ़ गयी और देश की आय में भी अत्यधिक

वृद्धि हुई। इसी कारण इंगलैण्ड उस समय दूर-दूर फैले हुए अपने प्रति-द्वन्दियों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध कर सका। नैपोलियन के साथ लम्बे युद्धों का भार वहन इंगलैण्ड इसी बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय द्वारा कर सका, अन्यथा उसके सामने टिकना सम्भव न था।

इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के कारण जनसंख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १३७० ई० में वहाँ की आबादी २१-२२ लाख थी, पर १८०० ई० तक यह संख्या दस गुनी बढ़ गयी। इसके साथ-साथ इस क्रान्ति के कारण इंगलैण्ड अब शहरों का देश हो गया। कुछ ही दिनों में इंगलैण्ड में अनेक नये शहर खड़े हो गये। उसी के फलस्वरूप मैन्चेस्टर, लिवरपूल, लंकाशायर जैसे नगर बस गये।

औद्योगिक क्रान्ति ने उपज और चीजें बढ़ा दी, साथ ही धन-सम्पत्ति भी बढ़ गयी। इस-वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक असमानता भी पैदा हो गयी। कुछ लोग व्यापार तथा कारखानों के कारण लखपति और करोड़पति हो गये और कुछ निर्धन हो गये। समाज दो विशिष्ट वर्गों में विभाजित हो गया—एक पूँजीपति और दूसरा मजदूर या श्रम जीवी वर्ग।

इसके अतिरिक्त लोगों का जीवन-स्तर बहुत ऊँचा हो गया। खाने-पीने, पहनने तथा उपयोग में आने वाली अन्य प्रकार की चीजों का ढेर लग गया। भोग-विलास की चीजें भी अधिक बनने लगीं। समाज में जीवन का दृष्टिकोण भौतिकवादी हो गया। लोग धर्म की बातों की परवाह कम करने लगे। उन्हें अपनी बुद्धि का भरोसा अधिक हो गया।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप घरेलू उद्योग धन्धे समाप्त होने लगे। कुछ बेकारी भी बढ़ने लगी क्योंकि अधिक आदमियों का काम एक ही मशीन कर सकती थी। लोग मुनाफा की ओर अधिक ध्यान देने लगे। इसके साथ-साथ मजदूरों की दासता बढ़ गयी और वे अपने मालिकों के सहारे पर रह गये। उनकी स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गयी। उनका रहन-सहन अस्वास्थकर और संकटपूर्ण हो गया। धीरे-धीरे मजदूरों का एक ऐसा वर्ग बन गया जिनकी अपनी विशेष स्थिति समाज में हो गयी। उनकी स्थिति से तरह-तरह की गुत्थियाँ राजनीति और समाज में पैदा हो गयीं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए

राजनीति और प्रशासन में कतिपय सुधारों की आवश्यकता महसूस होने लगी। पूँजीवाद का जन्म हुआ और तत्पश्चात वर्ग-संघर्ष का उदय हुआ। मजदूरों के संगठन बनने लगे और उनकी माँगें बढ़ने लगीं। वे राजनीति में भाग लेने लगे और धीरे-धीरे समाजवाद का सिद्धान्त जोर पकड़ने लगा। इसी के बाद समाजवादी सरकार की स्थापना की कोशिश होने लगी और मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार अधिक हो चला।

इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मनुष्य के विचार और उसके जीवन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए और मनुष्य मध्यकालीन युग की बातों को भूलने लगा। उसके समक्ष नयी-नयी चीजें बनने लगीं और वह अपना प्राचीन आवरण उतार कर नया मानव बन गया जिसकी अभिलाषाएँ, कार्य-प्रणाली, रहन-सहन का तरीका और विचार-पद्धति में आमूल परिवर्तन हो गया। वास्तव में इस क्रान्ति ने विश्व के इतिहास को एक नये साँचे में ढाल दिया।

अमेरिका का स्वातंत्र्य-संग्राम

यूरोप में आधुनिक युग के प्रादुर्भाव के साथ जब वहाँ पुनर्जागरण हुआ तो भौगोलिक खोजों का एक ताँता लग गया। उसी समय अमेरिका का पता लगा। उसके बाद धार्मिक सुधार-आन्दोलनों के साथ-साथ बहुत-से यूरोप निवासी अमेरिका जाकर बस गये। सत्रहवीं सदी तक उत्तरी अमेरिका में अंग्रेजों ने १२ उपनिवेश बसा लिये थे। अंग्रेजों के अतिरिक्त वहाँ डच, जर्मन, फ्रांसिसी और स्पेनिश भी काफी थे, पर अंग्रेजों की संख्या सब से अधिक थी। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती जा रही थी। उन अमेरिकन उपनिवेशों का शासन इंगलैण्ड की सरकार के हाथ में था और इंगलैण्ड का सम्राट अपने कर्मचारियों द्वारा वहाँ मनमाने ढंग से शासन करता था। अंग्रेजों ने अमेरिका पर अधिकार बनाये रखने के लिए यूरोप के कतिपय अन्य देशों के साथ युद्ध किया और अन्त में सप्तवर्षीय युद्ध के बाद उन्हें फ्रांसिसियों को वहाँ से निकालने में पूरी सफलता मिली। सैकड़ों वर्षों तक इंगलैण्ड ने अमेरिका के अपने उपनिवेशों को निरंकुश शासन के आधीन

रक्खा पर १८ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में उन उपनिवेशों ने इंगलैण्ड के अधिकार के विरुद्ध विद्रोह किया और उन्हें अपने को पूर्ण स्वतंत्र बनाने में सफलता मिली। इसी विद्रोह या क्रान्ति को अमेरिका का स्वातंत्र्य-युद्ध कहते हैं। उस युद्ध के पूर्व भारत की तरह अमेरिका भी इंगलैण्ड की अधीनता में था।

अमेरिका के स्वातंत्र्य-युद्ध के कारण—(१) अमेरिका के अधिकांश निवासी इंगलैण्ड की धार्मिक असहिष्णुता की नीति से दुखी होकर इस नयी दुनियाँ में आये थे। उन्होंने जिस स्वतंत्रता के लिए अपनी जन्म-भूमि छोड़ी थी, वे वही स्वतंत्रता अपने नये स्थान में आकर पुनः प्राप्त करना चाहते थे। वे इंगलैण्ड की नीति से असन्तुष्ट थे, अतः इंगलैण्ड की मनमानी शास-प्रणाली से मुक्त होना चाहते थे। अमेरिका में जाकर उन्हें औरों की अपेक्षा स्वतंत्रता का चसका अधिक लग गया था। उन्हें वहाँ उस दूर स्थित देश में पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त थीं। अतः इंगलैण्ड की थोड़ी कड़ाई भी उन्हें असह्य हो जाती थी।

अमेरिका में बसने वाले अंग्रेज इंगलैण्ड के निवासियों की ही सन्तान थे। उनकी धमनियों में भी स्वतंत्र बाप-दादे का खून था अतः वे स्वभाव से ही स्वतंत्रता-प्रेमी थे और अंग्रेजों के गुलाम बन कर रहना नहीं चाहते थे।

इसके अतिरिक्त उन दिनों इंगलैण्ड उपनिवेशों की शासन प्रणाली बहुत असन्तोषजनक थी। प्रायः उनके गवर्नरों और कौंसिल के सदस्यों में झगड़ा हुआ करता था। प्रत्येक उपनिवेश में सम्राट गवर्नर को नियुक्त करता था और वह गवर्नर उसी सम्राट के प्रति उत्तरदायी होता था। वह अपने विधान-मण्डल की अवहेलना किया करता था। इस बात से अमेरिका-निवासी बहुत ही असन्तुष्ट थे।

अभी तक इंगलैण्ड अपने उपनिवेशों के व्यापार पर पूर्ण अधिकार और नियंत्रण रखता था। अमेरिका की जनता को इस बात के विरुद्ध सब से कड़ी शिकायत थी। उनका कहना था कि इंगलैण्ड अपने धनोपार्जन का साधन अमेरिका को बनाये हुए है। उनकी पैदावार, व्यापार, निर्माण आदि पर इंगलैण्ड ने अनेक प्रतिकूल प्रतिबंध लगा रक्खा था। वे ऊन पैदा कर सकते थे, पर ऊन की कोई चीज बना कर बेंच नहीं सकते थे। वे लोहे की

खानों से लोहे का सामान नहीं तैयार कर सकते थे। दूसरे देशों से सीधा व्यापार का अधिकार भी उन्हें नहीं था। इन बातों से अमेरिका की जनता बड़ी क्षुब्ध थी क्योंकि इनसे उनका बहुत नुकसान होता था।

अमेरिका निवासी चाहते थे कि व्यापार तथा निर्माण-सम्बन्धी नियम उनकी राय से बनाये जाँय, पर इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट उनकी बातें ठुकरा दिया करती थी। इससे वे बहुत असंतुष्ट थे। जब सप्तवर्षीय युद्ध के बाद अमेरिका से फ्रांसिसी-सत्ता का अन्त हो गया तब वहाँ के निवासी किसी बाहरी सत्ता के भय से मुक्त हो गये। ऐसी दशा में वे अपनी शिकायतों के विषय में अधिक जोश के साथ सोचने-विचारने लगे।

इन्हीं कारणों से अमेरिका में इंगलैण्ड की सत्ता के विरुद्ध आवाज जोर पकड़ने लगी। इंगलैण्ड वालों ने आतंकित हो वहाँ सेना की संख्या बढ़ानी चाही और इसके लिये नये टैक्स लगाने का नियम स्वीकृत होने लगा। इंग-लैण्ड की सरकार ने इस भावी अतिरिक्त व्यय के लिए "स्टाम्प ऐक्ट" बनाया जिससे सभी कानूनी कागजों पर एक निश्चित रकम का स्टाम्प लगाना अनिवार्य बनाया गया। सन् १७६५ ई० में "स्टाम्प ऐक्ट" पार्लियामेंट में पास हो गया।

अमेरिका के लोगों ने इस ऐक्ट का घोर विरोध किया। पर इंगलैण्ड की हठधर्मी को देख वहाँ बड़ी उत्तेजना पैदा हुई। उनका कहना था कि इंगलैण्ड की संसद् को तब तक अमेरिका निवासियों पर टैक्स लगाने का अधिकार नहीं है, जब तक उसमें हमारे प्रतिनिधियों को स्थान नहीं दिया जाता। पर इंगलैण्ड की सरकार ने अनसुनी कर दी। जब टैक्स वसूल करने का समय आया तो अमेरिका निवासियों ने टैक्स देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। उन्होंने ब्रिटेन के विरुद्ध मोर्चा तैयार किया और १३ उपनिवेशों में से ६ उपनिवेश के प्रतिनिधि न्यूयार्क में इकट्ठा हुए।

इसके बाद अमेरिका पर अप्रत्यक्ष कर लगाये गये। चाय पर ऐसा ही कर लगाया गया था और इससे अमेरिका के लोग बहुत क्रुद्ध थे।

बोस्टन बन्दरगाह की घटना (सन् १७७३ ई०)—बोस्टन की जनता ने चाय की चुंगी के विरुद्ध संगठित आन्दोलन किया। स्थान-स्थान

पर सरकारी कर्मचारियों और बोस्टन की जनता के बीच संघर्ष शुरू हो गया। लूटपाट मचने लगी। एक दिन जब चाय से लदा हुआ जहाज बोस्टन के बन्दरगाह पर पहुँचा, तो वहाँ के कुछ निवासी जहाज में घुस पड़े और चाय के ३४० बक्स उठाकर समुद्र में फेंक दिये। यह घटना "बोस्टन टी पार्टी" के नाम से प्रसिद्ध है। आन्दोलन उग्र होता गया और चाय खरीदने वालों के घर जला दिये गये।

इस प्रकार की घटना की सूचना पाकर इंगलैंड निवासी क्रुद्ध हुए और कड़ाई से काम करने की तैयारी करने लगे। वहाँ नये गवर्नर और अतिरिक्त सेना भेजी गयी। बोस्टन का बन्दरगाह सब प्रकार के व्यापार के लिए बन्द कर दिया गया। पर ब्रिटिश सरकार की दमन की नीति का फल प्रतिकूल हुआ।

फिलेडल्फिया की कांग्रेस (१७७५ ई०)—बोस्टन की घटना के दो वर्ष बाद अमेरिका के लोगों ने फिलेडल्फिया में अपनी कांग्रेस की बैठक बुलायी। उसमें एक के अतिरिक्त अन्य सब उपनिवेश के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उस कांग्रेस में सर्व सम्मति से यह तय हुआ कि सब लोग मिलकर इंगलैण्ड का विरोध करें, इसके लिए जार्ज वाशिंगटन को सेनापति चुना गया। सन् १७७५ ई० में इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में युद्ध छिड़ गया। युद्ध के साथ-साथ उन्होंने सन् १७७६ ई० में पुनः कांग्रेस की एक बैठक बुलाई। ४ जुलाई को उस कांग्रेस ने यह घोषणा की कि "१४ जुलाई से उपनिवेश इंगलैण्ड के शासन से स्वतन्त्र हो जायेंगे, क्योंकि वे स्वतन्त्रता पाने योग्य हैं। अंग्रेजों को चाहिये कि वे उपनिवेश छोड़ कनाडा या इंगलैण्ड वापस चले जाँय" इसी घोषणा को अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा कहते हैं। उस घोषणा की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(क) सभी मनुष्य को स्वतन्त्रता प्राप्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

(ख) सरकार की शक्ति का स्रोत लोकमत है।

(ग) किसी भी देश की जनता को यह अधिकार है कि लोकमत विरोधी सरकार को बदल दे।

इंगलैण्ड की पराजय—इन सब बातों के साथ-साथ युद्ध चलता रहा। सन् १७७८ ई० में फ्रांस ने भी उपनिवेशों की मदद दी। अंग्रेजी सेना साराटोगा नामक स्थान पर बुरी तरह परास्त हुई। सन् १७८१ ई० में अंग्रेजी सेना लार्ड कार्नवालिस के नेतृत्व में आत्म-समपर्ण करने पर विवश हो गयी। युद्ध लगभग सात वर्ष तक चलता रहा। अन्त में सन् १७८३ ई० में ब्रुसेल्स की संधि द्वारा युद्ध का अन्त हुआ।

स्वतन्त्र अमेरिका—इङ्गलैण्ड ने अमेरिकी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता मान ली। इस प्रकार स्वतन्त्र "संयुक्त राज्य अमेरिका" की स्थापना हुई जो आप विश्व का एक प्रधान राज्य है और जिसने उसके बाद के विश्व की ऐतिहासिक घटनाओं पर विशेष प्रभाव डाला है। स्वतन्त्र होने के दो वर्षों के अन्दर अमेरिकी जनता के प्रतिनिधियों ने अपना स्वतन्त्र संविधान बना लिया। उनका प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन हुआ।

अमेरिकी स्वतन्त्रता के प्रभाव—अमेरिका का स्वातंत्र्य-युद्ध विश्व इतिहास की एक महान घटना समझी जाती है। इससे भावी विश्व के इतिहास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इङ्गलैण्ड ने अपनी हार के बाद यह समझ लिया कि अब उपनिवेशों को पुरानी पद्धति के अन्दर रखकर उनसे अच्छा सम्बन्ध रखना सम्भव नहीं है। शोषण और आतंक की नीति से अधिक दिनों तक काम नहीं चलेगा। इङ्गलैण्ड ने अपने अन्य उपनिवेशों के साथ सम्बन्ध बदल दिया क्योंकि उन्हें मालूम हो गया कि प्रत्येक उपनिवेश में किसी-न-किसी समय राष्ट्रीय चेतना का जन्म होगा। इङ्गलैंड की इस असफलता से उसकी आन्तरिक शासन प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ और वहाँ भी संसद् और मन्त्रि-परिषद के अधिकार अधिक हो गये। सम्राट की निरंकुशता पर अब रोक लगने लगी।

जहाँ तक इस युद्ध और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध अमेरिका से है, यह सब विदित है कि वहाँ एक संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे राज्य का उदय हुआ। वह राष्ट्र का सबसे अधिक धनी और शक्तिशाली राज्य बन गया। इस स्वतंत्र अमेरिका ने ब्रिटेन के अन्य उपनिवेशों तथा यूरोप के कुछ देशों में स्वतन्त्रता

तथा लोकमत के महत्व को जनता के समक्ष रख दिया और भिन्न-भिन्न देशों की सरकारें तथा जनता लोकमत तथा प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना की बातें सोचने लगे। आयरलैंड और फ्रांस की राज्यक्रान्ति के मूल कारणों में अमेरिकी स्वातंत्र्य युद्ध का ही प्रभाव प्रमुख माना जाता है। पाश्चात्य दुनियाँ में प्रजातन्त्रात्मक विचार पद्धति का सूत्रपात इसी स्वातन्त्र युद्ध के कारण हुआ। इसीलिए इस युद्ध का सामरिक महत्व गौण माना जाता है, और राजनैतिक महत्व प्रधान है। यह युद्ध इङ्गलैण्ड के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध लोकमत की महान विजय का प्रतीक है। अमेरिका ऐसा प्रथम राज्य था जो इङ्गलैंड के वंश क्रमानुगत राजवंश की अवहेलना करने में सफल हुआ और जिसने आधुनिक प्रणाली का प्रजातन्त्र शासन स्थापित किया। संसार में संघात्मक संविधान और सरकार की स्थापना का प्रथम उदाहरण यही देश बना। यहीं से लिखित संविधान की प्रणाली का प्रचार हुआ। सरकार के विभिन्न अङ्गों के अधिकार विभाजन, स्वतन्त्र न्यायपालिका और मौलिक अधिकारों का विचार इसी युद्ध के बाद अमेरिका में आया और वहाँ से छन-छन कर यह पद्धति और विचार-प्रणाली संसार के अन्य देशों में पहुँची। इस दृष्टि से अमेरिकी स्वातन्त्र्य युद्ध का महत्व विश्व के इतिहास में अत्यधिक माना जाना है।

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति

संसार की कुछ प्रसिद्ध राज्यक्रान्तियों में फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का स्थान विशिष्ट माना जाता है। १८वीं सदी के राजाओं की निरंकुश स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का बोलबाला था और वहाँ राजाओं की तूती बोल रही थी। राज्य की सारी सम्पत्ति पर राजा का एकाधिकार था और उस अपार धन को वह अपनी इच्छानुसार अपने लाभ तथा आराम में खर्च करता था। राजा दैवी सिद्धान्त का समर्थक था और किसी को उसकी आलोचना का अधिकार नहीं था। शासन का पूरा यंत्र उसके इशारे पर चलता था। वह किसी के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं था। फ्रांस का प्रसिद्ध निरंकुश सम्राट लूई चौदहवाँ कहा करता था कि "मैं ही राज्य हूँ।" उसका दंभ पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। वह अपने विरोधियों को सदा के लिए जेल में बन्द

कर दिया करता था। अपने नाम और अपनी प्रतिष्ठा के लिए वह सदा अनावश्यक युद्धों में भाग लेता था और राजकोष का सब धन पानी की तरह यों ही बहा दिया करता था। जनता के प्रतिनिधियों की सभा की बैठक लगभग १७५ वर्ष से नहीं बुलायी गयी थी। राजा का व्यक्तिगत जीवन ऐश-आराम और भोग-विलास में व्यतीत होता था। उसके राज प्रासाद के निर्माण में ३० करोड़ रुपये खर्च हुए थे और उसकी सेवा में ५०० से अधिक दास-दासियाँ लगी रहती थीं। इस प्रकार के राजतंत्र से जनता का क्या हित हो सकता था?

फ्रांस की सामाजिक दशा विषमताओं से भरी थी। उच्चवर्ग के लोगों के पास प्रचुर सम्पत्ति थी और निम्नवर्ग दरिद्रता की चक्की में पिसता जा रहा था। एक वर्ग को केवल अधिकार थे और दूसरा वर्ग केवल काम करने के लिए था। प्रथम वर्ग में पादरी और सामन्त थे और द्वितीय श्रेणी में साधारण जनता थी। कर का बोझ साधारण जनता ही पर था। वही सामन्तों और राजाओं के ऐश-आराम के लिए चूसी जाती थी। किसानों की दशा बड़ी दयनीय थी। उनसे कर बलपूर्वक वसूल किये जाते थे, उन्हें अनिच्छा होते हुए भी सेना में भर्ती किया जाता था। उनकी खेती को सामन्त शिकार के समय नष्ट कर दिया करते थे। अधिकांश किसानों का जीवन नारकीय हो गया था।

इस प्रकार १८ वीं सदी का फ्रांस विषमताओं का केन्द्र बना हुआ था। धनी और गरीब में आकाश-पाताल का अन्तर था। साधारण जनता को न्याय नहीं प्राप्त होता था। एड़ी-चोटी का पसीना एक करने वाला किसान और कारीगर भूखों रह जाता था और निष्क्रिय सामन्त वैभव में लोटा करता था। सामन्तशाही की प्रथा का रूप बिल्कुल विकृत हो गया था, पादरी चरित्रहीन और कर्तव्य भ्रष्ट हो गये, पर वे अपने विशेष अधिकारों को नहीं छोड़ना चाहते थे।

इसी समय सौभाग्य से फ्रांस में कुछ दार्शनिक पैदा हुए। उनमें वाल्टेयर, मांटेस्क्यू और रूसो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने राजतन्त्र की खिल्ली उड़ाई और राजकोष के अपव्यय की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित

किया। कुछ लेखकों ने वैधानिक शासन प्रणाली की प्रशंसा की। रूसो ने अपने विचारों का प्रतिपादन अत्यन्त रोचक और प्रभावशाली ढंग से किया और जनता के समक्ष सामाजिक विषमताओं का उपहास किया। उसने मनुष्य की स्वतन्त्रता को दैवी बताया और लोकमत को सर्वोच्च सत्ता का आधार तथा स्रोत कहा। इस विचार-धारा से उसने फ्रांस की जनता को उत्तेजित और प्रभावित किया।

इन विचारकों और लेखकों की पुस्तकों से भावुक फ्रांसिसी जनता की चेतना जाग्रत हो उठी और वे नयी विचार-धारा में बह चले। उन्होंने अपनी गिरी दशा को समझ लिया और यह भी मान लिया कि इन विपत्तियों का एकमात्र कारण निरंकुश राजतन्त्र है। उन्होंने अत्याचार, अन्याय तथा पशु-बल का सामना करने और उससे छुटकारा पाने का विचार अपने मन में बैठा लिया। उनके समक्ष इंगलैंड की शासन-व्यवस्था और अमेरिका के स्वातंत्र्य-संग्राम के उदाहरण अभी ताजे थे। अतः किसी अवसर की ताक में वे थे।

सन् १७८९ ई० में ऐसा अवसर फ्रांस की जनता के सम्मुख उपस्थित हुआ। महान युद्धों के कारण फ्रांस का राजकोष खाली हो गया था। राज-कर्ज बढ़ता जा रहा था, स्थिति बिगड़ती जा रही थी। सामन्तों के विरोध के भय से उन पर कर लगाना असम्भव हो रहा था। अन्त में फ्रांस के सम्राट को लाचार होकर धन प्राप्त करने के लिए स्टेट्स जेनरल की बैठक बुलानी पड़ी।

स्टेट्स जेनरल की बैठक—स्टेट्स जेनरल में सदस्यों की संख्या १२०० थी। राजा और सामन्त वर्ग ने जन-प्रिय नेता मिराब की राय ठुकरा दी क्योंकि वह चाहता था कि सब सदस्यों की सम्मिलित बैठक हो और सब प्रश्न बहुमत के आधार पर निर्णीत हों। सामन्त वर्ग अपने मन की करना चाहता था। उसे क्या पता था कि आज की जनता के प्रतिनिधि रूसो के विचारों से ओत-प्रोत हैं और उनकी राय ठुकरा देने का कैसा भयंकर परिणाम होगा। अतः जनता के प्रतिनिधियों ने अपने को राष्ट्रीय संसद के रूप में परिणत कर लिया और राजा की अनुमति न मिलने पर उन्होंने अपनी बैठक एक टेनिस कोर्ट में कर ली। यह कार्य राजतन्त्र के लिये एक महान

चुनौती थी। २० जून, १७८९ ई० को इस घटना ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति का श्रीगणेश किया।

बैस्टील पर अधिकार—उस समय पेरिस में एक दुर्ग को जेल में परिवर्तित कर दिया गया और उसमें राजनैतिक कैदी रक्खे जाते थे। जनता की दृष्टि में वह बैस्टील का किला राजतन्त्र की स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता का प्रतीक था। स्टेट्स् जेनरल की बैठक के बाद आम जनता ने रोष में आकर उस जेल पर आक्रमण कर दिया। उग्र जनसमूह ने जेल के प्रमुख अधिकारी का सर काट लिया, जेल का फाटक तोड़कर सब कैदियों को मुक्त कर दिया। यह घटना १४ जुलाई सन् १७८९ ई० को घटित हुई। इसके बाद पूरे फ्रांस में उत्साह और जोश की धारा फूट निकली। जनता की शक्ति के समक्ष निरंकुश राजतन्त्र की शक्ति धूल की तरह उड़ गयी। लूई को झुकना पड़ा।

पर जनता की सदियों दबी हुई भावना का जोर बढ़ता गया। एक दिन पेरिस में एक विराट जुलूस निकला और अपार जन-समूह ने राज महल को घेर लिया। राजा, उसकी स्त्री और बच्चे कैद कर लिये गये। इसके बाद राजा जो शक्ति का प्रतीक समझा जाता था, मुक्त नहीं हो सका। इससे पेरिस में जनता की शक्ति का प्रभाव बढ़ने लगा।

राष्ट्रीय सभा—राष्ट्रीय सभा ने देश का शासन अपने हाथ में ले लिया। दो वर्ष तक शांतिपूर्ण ढङ्ग से काम चलता रहा। फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने अपने देश के नागरिकों के मूल अधिकारों की घोषणा की। सभा ने दूसरा मुख्य काम विशेषाधिकारों को समाप्त करने का किया। सामन्त-प्रथा को समाप्त कर दिया गया। उनकी जमीन किसानों में बाँट दी गयी। चर्च की संपत्ति छीन ली गयी और चर्च भी राज्य का एक विभाग बना दिया गया। राष्ट्रीय सभा ने देश के शासन के लिए एक संविधान का निर्माण किया और उसके अनुसार जनता के मूल अधिकारों तथा लोकमत को सर्वोपरि माना। जन संख्या के आधार पर फ्रांस का प्रशासकीय विभाजन हुआ। इस प्रकार जनशक्ति का उत्साह साकार रूप धारण करता गया।

दुर्भाग्यपूर्ण घटनायें—दो वर्ष के बाद फ्रांस के राजा और रानी ने विदेश भागने का प्रयास किया। वे तो इस कार्य में सफल नहीं हुए, पर इससे फ्रांस की स्थिति बड़ी नाजुक हो गयी। सब राजपरिवार को शंका की दृष्टि से देखने लगे और उन्हें कैदी बनाया गया। यूरोप के अन्य राजाओं ने फ्रांस के राजा की मदद की घोषणा की। इससे आग और भड़क उठी और फ्रांसिसी जनता उत्तेजित हो उठी। सन् १७६२ ई० में पेरिस में अराजकता फैलने लगी। जनता के उग्रदल के नेताओं ने सब राजभक्तों की हत्या करने का आदेश दिया। फ्रांस को उसी समय गणतन्त्र घोषित किया गया। लूई पर देशद्रोह का अपराध लगाकर १७६३ ई० में उसे प्राण दण्ड दिया गया।

इस घटना से यूरोप का राजतन्त्र बौखला उठा। सर्वत्र आतंक छा गया। सबने मिल कर फ्रांस के विरुद्ध संघ बनाया। फ्रांस भी उग्रदल वालों के हाथ में आ गया। उस दल के नेता रोब्सपीयर ने फ्रांस के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली और उसने कठोरतम नीति अपनायी। सभी विरोधियों को फाँसी पर लटका देने का कार्य-क्रम बना। इस प्रकार हजारों व्यक्ति मार डाले गये। पेरिस में रक्त की नदियाँ बह चलीं। सर्वत्र आतंक छा गया। उसी हिंसा की लहर में आतंक के संगठनकर्ता रोब्सपीयर को भी तलवार के घाट उतरना पड़ा। "ये रक्त रंजित दृश्य क्रान्ति के जीवन काल के काले धब्बे हैं जिनसे इतिहास के पृष्ठ कलुषित हुए बिना नहीं रहते। इस काल में भीषण रक्तपात हुआ और खून की होलियाँ खेली गयीं।" लगभग डेढ़ वर्ष के बाद पुनः शान्ति स्थापित हुई। देश में वैधानिक शासन की स्थापना हुई और उसी के अनुसार सन् १७६५ से १७६६ ई० तक फ्रांस का शासन होता रहा। प्रबन्ध के विचार से यह काल भी बहुत सफल नहीं रहा। अतः लोगों में क्रान्ति के उद्देश्य और उत्साह कुछ धूमिल पड़ गये। उसी विषम परिस्थिति में नेपोलियन बोनापार्ट का उदय हुआ जिसने कुछ दिनों के लिए क्रांति के सिद्धान्तों को कुचलकर एक साम्राज्यवादी ढाँचे का निर्माण किया।

फ्रांसिसी राज्यक्रान्ति का महत्व—यह सच है कि इस क्रान्ति के दौरान में अनेक व्यक्तियों की हत्या हुई, कुछ दिनों तक अराजकता का बोल-बाला हो गया और सहस्रों नर-नारी का संहार हुआ, पर इस राज्यक्रान्ति के

उद्देश्य तथा अन्य प्रभाव बहुत ही व्यापक तथा उच्च थे। "फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति उपेक्षित जनता-जनार्दन के युग संचित दिल-दर्द का भीषण तथा भयंकर विस्फोट थी।" इसने जनता को शोषण और अत्याचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने का अधिकार दिया और मानव अधिकारों तथा समानता एवं स्वतंत्रता के सिद्धान्तों को अग्रसर किया। क्रान्तिकारियों का नारा था—स्वतन्त्रता, समानता और विश्वबंधुत्व। ये उद्देश्य आज भी जनता की अमूल्य निधि बने हुए हैं। यह प्रगति का द्योतक है और जनता में आत्म विश्वास के भाव भरने के लिए अमोघ मंत्र हैं।

इस क्रान्ति ने शक्तिशाली राजतंत्र का गर्व चकनाचूर कर दिया। जन शक्ति और लोकमत की प्रतिष्ठा को बढ़ाया और लिखित विधान द्वारा मूल अधिकारों को जनता के लिए सुरक्षित करने की प्रथा को आगे बढ़ाया। कानून की विषमता का अन्त हुआ, धार्मिक पक्षपात और दम्भ के दिन लद गये, सहिष्णुता और धर्म-निरपेक्षता की नींव पड़ी और विशेषाधिकारों की समाधि बन गयी। संक्षेप में कह सकते हैं कि फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। राष्ट्रीयता और जनतंत्र का मार्ग प्रशस्त हो गया और व्यक्ति के व्यक्तित्व का महत्व सुरक्षित हो गया।

नैपोलियन का साम्राज्यवाद—फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय कुछ अतिरंजित काम हुए। कुछ अनुभव-शून्यता के कारण जनता का प्रारम्भिक शासन पूर्ण सफल नहीं हुआ। फ्रान्स को त्रस्त करने के लिए यूरोप के सब राजतंत्र सजग हो गये। अतः फ्रान्स में भी एक ऐसे व्यक्ति का उदय हुआ जो परिस्थितियों से लाभ उठा कर क्रान्ति के उद्देश्यों के विरुद्ध स्वयं एकतंत्र सम्राट बन गया और सारी शक्ति उसी में केन्द्रित हो गयी। वह व्यक्ति नैपोलियन बोनापार्ट था। उसने धीरे-धीरे सन् १८००.ई० तक राज्य की सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली। सन् १८०४ ई० में फ्रान्स का गणतंत्र पुनः राजतंत्र में परिणित हो गया। नैपोलियन ने यूरोप के प्रत्येक देश को आक्रान्त कर दिया। इंगलैण्ड से रूस तक और स्वीडन से मिश्र तक के सब देश उसकी चोट से व्यथित हो उठे। मानव अधिकारों की घोषणा करने वाले फ्रान्स के इस सैनिक ने अपने देश की जनता को नहीं, बल्कि सारे यूरोप की

जनता को अधिकार-वंचित कर दिया। सबको उसके सामने नीचा देखना पड़ा। पर शोषित और पीड़ित जनता की बेड़ी तोड़ फेंकने का जो मंत्र फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने यूरोप को दी थी, वह अधिक दिनों तक नहीं दबायी जा सकी। उसे कुचलना असम्भव था। अन्त में इस भावना को दबाने वाले को स्वयं उसमें बह जाना पड़ा। नैपोलियन द्वारा पराजित और शासित विभिन्न देशों में स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता का जोर बढ़ने लगा और नैपोलियन उसी में स्वाहा हो गया। अभी तक केवल फ्रान्स में क्रान्ति के सन्देश का जोर था, पर नैपोलियन की साम्राज्यवादी और सैनिक शासन की नीति ने उसे अन्य देशों में भी प्रसारित कर दिया। राष्ट्रीयता का वायु-मण्डल व्यापक बन गया और स्पेन, यूनान, सर्बिया, इटली, जर्मनी आदि सब देशों में राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना हुई। नैपोलियन सन् १८१५ में इस नयी शक्ति के समक्ष पराजित हुआ और अपने पीछे यूरोप के प्रायः सब देशों में राष्ट्रीयता का मन्त्र दे गया। इसे फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तों की विजय ही समझना चाहिए। राष्ट्रीयता, लोकसत्ता, समानता और स्वतंत्रता—ये फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के मंत्र और सन्देश थे। नैपोलियन के उत्थान-काल में इन सिद्धान्तों पर धूल पड़ गयी थी, पर नैपोलियन पराजित हुआ, कैदी बनाया गया और अन्त में मर गया। पर क्रान्ति के सिद्धान्त आज भी अमर हैं।

चालीसवाँ परिच्छेद

भारत में कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार

हम देख चुके हैं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने किस प्रकार दक्षिण में मद्रास और उत्तर में बंगाल में अपना पैर जमाने में सफलता प्राप्त की। इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने अंग्रेजों को उपनिवेश बसाने तथा नये देशों को जीतने के लिए और अधिक प्रोत्साहित किया और कम्पनी के संचालकों तथा अधिकारियों ने अधिक उत्साह के साथ काम करना शुरू किया। इलाहाबाद की सन्धि के कारण उनका प्रभुत्व भारत में बहुत बढ़ गया था। इसके बाद उन्होंने दक्षिण की ओर पुनः ध्यान दिया।

मैसूर का अंग्रेजी राज्य में विलयन—दक्षिण भारत का एक प्रमुख राज्य मैसूर था। उसकी स्थापना विजयनगर राज्य के पतन के कुछ दिनों बाद हुई थी। कुछ दिनों तक मैसूर के इस हिन्दू राज्य को निजाम ने अपने अधीन कर लिया था। मराठों ने भी उस पर आक्रमण किया और चौथ वसूल की। सन् १७६६ ई० में मैसूर के राजा की मृत्यु के बाद उसके सेनापति हैदरअली ने शासन के सब अधिकारों को अपने हाथ में ले लिया। उस समय हैदर ने अपनी वीरता से बेदनूर, मलाबार, बराहमहल और कोयम्बटूर आदि को मैसूर में मिला लिया था।

उस समय दक्षिण में चार शक्तियों में संघर्ष चल रहा था। मराठे, निजाम, मैसूर तथा अंग्रेज अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने की धुन में थे। मराठों ने हैदर को कई बार पराजित किया और हर्जाना वसूल किया। एक बार ३२ लाख रुपये जुर्माना देने के लिए मराठों ने हैदर को विवश किया था। हैदर का उत्कर्ष देखकर सब उससे जलते थे। एक बार मराठों और निजाम की सेनाओं ने मिल कर हैदरअली को दबाया। अंग्रेजों ने भी निजाम को मदद दी। इस विकट स्थिति में हैदर ने धैर्य से काम लिया। उसने मराठों को

रुपये देकर हटा दिया और निजाम से भी संधि कर ली। उसने केवल अंग्रेजों से युद्ध करने का निश्चय किया। युद्ध में अंग्रेजों का नुकसान हुआ। हैदर अली के पुत्र टीपू ने मद्रास नगर को लूटा। इससे घबड़ाकर अंग्रेजों ने निजाम को अपनी ओर भय दिखा कर फोड़ लिया। मराठों को भी चौथ देने का वचन देकर अंग्रेजों ने अपनी ओर मिलाया। इस प्रकार हैदर अली पुनः अकेला हो गया।

हैदरअली और अंग्रेजों में सन् १७६७ ई० में युद्ध हुआ। युद्ध में हैदरअली ने अंग्रेजों को बुरी तरह दबाया और वह अपनी सेना के साथ मद्रास के निकट पहुँच गया। विवश होकर अंग्रेजों को हैदर के साथ अपमान जनक संधि करनी पड़ी। एक दूसरे के जीते हुए देश लौटा दिये गये। अंग्रेजों ने वचन दिया कि आक्रमण के समय वे हैदरअली की मदद करेंगे।

सन् १७७१ ई० में मराठों ने हैदरअली पर आक्रमण किया। उस समय उसने अंग्रेजों से मदद की याचना की, पर अंग्रेजों ने अपने वादे को पूरा नहीं किया। अतः हैदर पुनः अंग्रेजों से चिढ़ गया।

द्वितीय युद्ध (सन् १७८०-८४)—अंग्रेजों के वचन-भंग के कारण हैदर सदा उनसे सशंकित रहा करता था। इसीलिए उसने अपनी शक्ति दृढ़ करने की योजना बनायी। उसने कुर्ग के राजा को हराया, मराठों से अपना खोया हुआ प्रदेश ले लिया। इसी समय यूरोप में फ्रान्स और इंगलैण्ड में युद्ध छिड़ गया। अंग्रेजों ने पाण्डेचेरी और कारीकल पर अधिकार कर लिया और माही की ओर बढ़ना शुरू किया। माही के तट पर हैदरअली अपना अधिकार समझता था। अतः उसने अंग्रेजों की माही-विजय की योजना का विरोध किया। पर अंग्रेजों ने एक न सुनी और सन् १७७९ ई० में माही पर आक्रमण कर दिया।

स्थिति बिगड़ते देख हैदरअली ने निजाम और मराठों से संधि कर ली। सन् १७८० ई० में उसने एक बड़ी सेना लेकर कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। हैदर ने अंग्रेजी सेनापति कर्नल बेली को कत्ल कर दिया और कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सर आयर कूट

अंग्रेजी सेना का सेनापति और मद्रास का प्रशासक बनाया गया। उसने हैदर को बड़े भयंकर युद्ध के बाद पोर्टोनोवो नामक स्थान पर पराजित किया। हैदर के लगभग १०,००० सैनिक मारे गये और उसे बहुत क्षति उठानी पड़ी। इसके बाद भी वह लड़ता रहा, पर अन्त में उसे हार माननी पड़ी। युद्ध के मध्य में ही सन् १७८२ ई० में हैदर की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद भी टीपू ने युद्ध जारी रक्खा, पर अंग्रेजी सेना उसकी राजधानी श्रीरंगपट्टम तक पहुँच गयी। टीपू ने संधि की बातचीत शुरू कर दी और सन् १७८४ ई० में मंगलोर की संधि पर हस्ताक्षर हो गया। दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते हुए देश वापस कर दिये और स्थिति पुनः पहले-जैसी हो गयी।

टीपू सुलतान और उसकी पराजय—हैदर के बाद टीपू उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने अंग्रेजों से बदला लेने और उन्हें भारत से बाहर निकालने का पक्का इरादा किया। इसके लिए उसने फ्रांस की राजधानी पेरिस में अपना दूत भेजा और उनसे मदद प्राप्त करने के लिए बातचीत शुरू की। अंग्रेज इस बात को जानते थे और वे भी टीपू के विरुद्ध थे। एक बहाना लेकर दोनों पक्षों में सन् १७९० ई० में युद्ध छिड़ गया। उस समय कार्नवालिस कम्पनी का गवर्नर- जनरल था। उसने स्वयं युद्ध का संचालन किया और टीपू को परास्त किया। विवश होकर सन् १७९२ ई० में टीपू को संधि करनी पड़ी। इस श्रीरंगपट्टम की संधि के अनुसार टीपू को अपना आधा राज्य और युद्ध का हर्जाना देना पड़ा। इससे अंग्रेजों को बड़ामहाल, सलेम, डिंडीगल और मलाबार के प्रदेश मिले।

मैसूर का अन्तिम युद्ध सन् १७९९ ई० में हुआ। उस समय लार्ड वेलेजली भारत का गवर्नर जनरल था। वह भारत से फ्रांसिसी प्रभाव की जड़ उखाड़ना चाहता था। टीपू पर नैपोलियन के साथ बात चीत करने का और भारत आक्रमण के लिए निमंत्रण देने का दोषारोपण किया। तृतीय युद्ध के बाद टीपू कमजोर हो चुका था। पर उसने साहस नहीं छोड़ा। निजाम और मराठे भी उसके विरुद्ध थे। फिर भी वह मैदान में आ डटा। अंग्रेजी सेनाओं ने मैसूर को चारों ओर से घेर लिया। बड़ी लड़ाई के बाद टीपू की हार हुई। वह युद्ध करते हुए मारा गया। अंग्रेजों ने मैसूर की स्वतंत्र सत्ता समाप्त कर

दी। अंग्रेजों को कनारा, कोयम्बटूर, दारपुरम् और श्रीरंगपट्टम मिला। निजाम और मराठों को भी मैसूर का कुछ भाग मिला। मैसूर के एक छोटे भाग को प्राचीन हिन्दू राजवंश के एक लड़के को दिया गया। उसके संरक्षण के लिए एक अंग्रेजी फौज वहाँ रख दी गयी है।

इस प्रकार सन् १७६७ और १७९९ ई० के बीच समय-समय पर मैसूर और अंग्रेजों के बीच चार बड़े युद्ध हुए। चौथे युद्ध के बाद मैसूर पूर्ण रूप से अंग्रेजों के अधिकार में आ गया और उसकी स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गयी। एक छोटे भाग पर केवल नाम मात्र के लिए अंग्रेजों ने अपने संरक्षण में एक बालक को राजा बनाया जो पूरी तरह उनके हाथ की कठपुतली था।

हैदराबाद के निजाम और अंग्रेजी कम्पनी का सम्बन्ध

निजाम पहले मुगल सम्राट का दक्षिण में प्रतिनिधि था। लेकिन अट्ठारहवीं सदी के प्रारम्भ में ही उसने अपने को स्वतंत्र बना लिया था और अपनी इच्छानुसार काम करने लगा था। सन् १७४८ ई० में वहाँ एक निजाम आसफजाह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़ा उठ खड़ा हुआ। उस झगड़े में गद्दी के दो हकदारों में से एक का साथ अंग्रेजों ने और दूसरे का साथ फ्रांसिसियों ने दिया। इसी प्रश्न को लेकर दोनों पक्षों में लगभग छः वर्ष तक युद्ध चलता रहा। अन्त में अंग्रेजों का प्रभाव हैदराबाद में कम हो गया और फ्रांसिसी सेनापति बुसी निजाम की राजधानी में रहने लगा। उस समय भी निजाम को मराठे और मैसूर के शासकों ने समय-समय पर तंग किया। पर बुसी वहाँ लगातार डटा रहा। सन् १७५८ ई० तक बुसी की उपस्थिति से अंग्रेजों की दाल हैदराबाद में नहीं गल सकी। पर सप्त वर्षीय युद्ध के समय जब बुसी हैदराबाद से वापस बुला लिया गया। और युद्ध में फ्रांसिसी हार गये, तो अंग्रेजों को निजाम के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का मौका मिला।

सप्तवर्षीय युद्ध के बाद निजाम ने हैदरअली से मित्रता कर ली, पर कुछ ही दिनों बाद अंग्रेजों ने उसे अपनी ओर मिला लिया। मराठों और मैसूर के शासकों के डर से निजाम प्रायः सदा अंग्रेजों का मित्र बना रहा। सन्

१७८८ ई० में .लार्ड कार्नवालिस ने निजाम से गुण्टूर का इलाका माँगा। उस प्रदेश की स्थिति बड़ी नाजुक थी क्योंकि वह मद्रास और उत्तरी सरकार के बीच में स्थित था। कुछ आनाकानी करने के बाद निजाम ने गुण्टूर अंग्रेजों को देना स्वीकार किया। उसी समय निजाम के साथ अंग्रेजों ने एक नयी संधि की और टीपू के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने का वचन लिया।

सन् १७६० ई० में अंग्रेजों मराठों और निजाम ने मिलकर एक संधि की जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि यदि निजाम पर कोई आक्रमण करेगा तो अंग्रेज उसकी मदद करेंगे। सन् १७६५ ई० में मराठों ने निजाम पर आक्रमण और निजाम ने अंग्रेजों से मदद की प्रार्थना की। अंग्रेजों ने यह उत्तर दिया कि जिस समय आपसी सहायता की बातचीत हुई थी उस समय मराठे भी उसमें एक पक्ष थे, अतः उनके विरुद्ध निजाम को सहायता नहीं दी जा सकती। फलस्वरूप मराठों ने निजाम को खर्दा के युद्ध में बुरी तरह परास्त किया।

इस विश्वासघात से निजाम बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने अंग्रेजों को अपने यहाँ से निकालना शुरू किया। उनकी जगह पर उसने फ्रान्सिसियों को अपने यहाँ रखना शुरू कर दिया। पर उस समय वेलेजली भारत में कम्पनी का गवर्नर जनरल था। वह इस बात के लिए तैयार नहीं था कि फ्रांस का प्रभाव किसी प्रकार भारत-सीमा के भीतर घुस सके। वेलेजली जानता था कि निजाम की स्थिति सदा से नाजुक रही है। उसके राज्य में हिन्दुओं का बहुमत है। मराठों की आँख उस पर सदा लगी रही है। अतः उसे अकेला छोड़ना खतरनाक है और वह अवश्य फ्रांसिसी प्रभाव में आ जायगा। तटस्थता की नीति के कारण सर जानशोर ने मराठों के विरुद्ध निजाम को सहायता न देकर उसे नाराज कर लिया था। अतः वह फ्रांसिसी प्रभाव की ओर झुकता जा रहा था। वेलेजली ने इस परिस्थित को समझ कर निजाम के मंत्री को अपनी ओर मिला लिया और सहायक-संधि की शर्तों को निजाम के पास भेजकर उसे स्वीकार करने को कहा। अपनी कमजोरी के कारण निजाम ने झट सहायक-संधि की शर्तों को स्वीकार कर लिया। उसके अनुसार :—

(१) निजाम को अपने राज्य में एक बड़ी अंग्रेजी स्थायी सेना रखनी थी और उस सेना का खर्च भी निजाम को देना था।

(२) निजाम को वादा करना पड़ा कि वह अपने राज्य में फ्रांसिसियों को नहीं रक्खेगा।

(३) अंग्रेजों ने मराठों से निजाम की रक्षा करने का वादा किया।

सन् १८०० ई० में निजाम के साथ पुनः अंग्रेजों की एक संधि हुई। इस संधि के अनुसार निजाम ने अंग्रेजी सैनिकों की संख्या अपने यहाँ बढ़ा ली और अतिरिक्त व्यय के लिए उसने और इलाके कम्पनी को दिये। निजाम ने इस समय यह भी वचन दिया कि वह भविष्य में कभी किसी विदेशी सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खेगा। अन्य राज्यों से सम्भावित सब झगड़े भी अंग्रेजों द्वारा तय किये जायेंगे। निजाम केवल अपने आन्तरिक मामलों के लिए जिम्मेदार रह गया और बाह्य मामलों के लिए उसकी स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गयी। वह सदैव के लिए अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गया। वह अब अंग्रेजी सेना के भरोसे रहने लगा, अतः उसकी अपनी सैनिक शक्ति क्षीण हो गयी। इन्हीं कारणों से निजाम की स्थिति नाजुक हो गयी और उसका आन्तरिक प्रबन्ध भी शिथिल और दोषपूर्ण हो गया। इसके बाद निजाम कभी ऐसी स्थिति में नहीं उठ सका कि वह अंग्रेजों के चंगुल से अपने को बचा सके। बाद में अंग्रेजों के साथ होने वाली संधियों द्वारा वह बन्धन-मुक्त नहीं हो सका। आधुनिक युग में भी निजाम ने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय सदा अंग्रेजों की मदद की। जब सन् १९४७ ई० में भारत स्वतन्त्र हुआ और देश का विभाजन हुआ तो निजाम ने भारत संघ में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। वहाँ के रजाकार जनता को लूटने और कष्ट देने लगे; आन्तरिक अशान्ति को बढ़ते देख भारत-सरकार ने पुलिस-कार-वाई की और हैदराबाद को भारत संघ का एक अंग बना लिया।

कर्नाटक का अंग्रेजी राज्य में विलयन

भारत के दक्षिण में कर्नाटक का एक राज्य था। वहाँ के नवाब की मृत्यु के बाद सन् १७४८ ई० में उत्तराधिकार के लिए दो दलों में आपस में

युद्ध शुरू हो गया। अंग्रेजों और फ्रांसिसियों ने एक-एक का पक्ष लिया और युद्ध वर्षों चलता रहा। इन्हीं युद्धों में अर्काट के घेरे के समय क्लाइव का नाम हो गया था। इन युद्धों के अन्त होते ही कर्नाटक में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ गया और नवाब अंग्रेजों के संरक्षण में आ गया। नवाब का जीवन विलासी हो गया और वह कम्पनी के कर्मचारियों के चंगुल में रहने लगा। अपने खर्चीले स्वभाव के कारण वह कम्पनी के ऋण से लद गया और कम्पनी उसी अनुपात से कर्नाटक के राजकोष पर अपना अधिकार बढ़ाती गयी। कर्ज चुकता करने के लिए कर्नाटक की आय का एक निश्चित भाग पृथक कर दिया गया। अन्त में सन् १७८१ ई० में राज्य के पूरे कोष पर कम्पनी का अधिकार हो गया और आय का केवल छठाँ भाग नवाब को व्यक्तिगत खर्च के लिए नियत कर दिया गया।

सन् १७८७ ई० में कार्नवालिस ने कर्नाटक के नवाब के साथ एक संधि की। इसके अनुसार नवाब को एक अंग्रेजी फौज अपने यहाँ स्थायी रूप से रखनी पड़ी और उसका व्यय भी उसे देना पड़ा। युद्ध के समय में अतिरिक्त व्यय भी देने के लिए नवाब वचन बद्ध हुआ। पर जब मैसूर का युद्ध प्रारंभ हुआ तो कार्नवालिस ने कर्नाटक को पूरी तरह अपने अधिकार में कर लिया। युद्ध समाप्त होने पर कर्नाटक के नवाब को राज्य तो मिल गया, पर उसे यह वादा करना पड़ा कि वह किसी विदेशी के साथ कभी किसी प्रकार का संबन्ध नहीं रक्खेगा। वेलेजली के समय में कर्नाटक की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त कर दी गई। सन् १८०१ ई० में नवाब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी का अधिकार कम्पनी ने स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार कर्नाटक अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। यह सच है कि कर्नाटक का प्रबन्ध उस समय बहुत खराब था और सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। इसी का बहाना लेकर वेले-जली ने कर्नाटक को आत्मसात् कर लिया। पर यह बात भी विचारणीय है कि इस परिस्थिति का उत्तरदायित्व कम्पनी के अधिकारियों पर ही था। वेले-जली की साम्राज्यवादी नीति का शिकार कर्नाटक हुआ और कोई उचित कारण ऐसा नहीं था जिसके आधार पर कर्नाटक को हड़प लेने के कार्य का किसी प्रकार सत्य और नैतिकता के आधार पर समर्थन किया जा सके। इस

प्रकार इस समय तक दक्षिण से लेकर गोदावरी तक के इलाकों पर कम्पनी का अधिकार हो गया और मराठों के अतिरिक्त उनका सामना करने वाला और कोई नहीं शेष रहा।

इसी समय तंजौर के राजा की मृत्यु हुई और उसके उत्तराधिकारी को भी गद्दी पर बैठने का अधिकार कम्पनी की ओर से नहीं मिला। सन् १७९९ ई० में उसके एक उत्तराधिकारी को पेंशन देकर तंजौर का राज्य कम्पनी ने अपने अधिकार में ले लिया। यही हालत सूरत की भी हुई। सूरत की रक्षा का उत्तरदायित्व सन् १७५९ ई० में कम्पनी को प्राप्त हो गया था। तब से कम्पनी का प्रभाव सूरत पर बढ़ता जा रहा था। वेलेजली ने अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए सूरत के नवाब से बहुत अधिक धन की माँग की, पर नवाब के पास इतना धन नहीं था और उसने वार्षिक एक लाख रुपये से अधिक देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इस पर वेलेजली ने सूरत पर अधिकार कर लिया। अंग्रेज इतिहासकारों ने भी वेलेजली के इस कार्य को बहुत ही गर्हित और निरंकुश बताया है। पर साम्राज्यवादी व्यक्ति केवल अपने साम्राज्य-लिप्सा को ही नैतिकता की सर्वोच्च कसौटी मानता है। अतः सूरत अकारण साम्राज्यवादी लोलुपता का शिकार हुआ।

अंग्रेज और मराठा-संघ

मुगलों की शक्ति क्षीण होने के बाद उनकी सत्ता का वास्तविक उत्तराधिकारी मराठे ही थे। वे शिवाजी के ही समय में एक प्रतिष्ठित और प्रभावशाली शक्ति के रूप में संगठित हो गये थे और उनकी सत्ता को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। शिवाजी के समय से लेकर पेशवा माधव राव की मृत्यु तक अंग्रेजों की दाल मराठा दरबार में नहीं गल सकी। उसके अधिकार में महाराष्ट्र, गुजरात से लेकर उड़ीसा तक के सब प्रदेश और दिल्ली-पंजाब तक का इलाका था। दुर्भाग्य से शिवाजी के बाद मराठा दरबार में सामन्तवादी तथा जागीरदारी के प्रथा का उदय हो गया और स्थान-स्थान पर मराठा सरदारों ने अपनी-अपनी पृथक सत्ता स्थापित कर ली। केवल नाम मात्र के लिए वे पेशवा के अधिकार में थे, पर वास्तव में उनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं की

तरह थी। सतारा का राजा केवल कहने के लिए मराठा-मण्डल का राजा था। कुछ दिनों तक पेशवा का अधिकार दृढ़ रहा, पर अन्त में वह भी क्षीण हो गया। मराठा-मण्डल के प्रमुख राज्य ये थे—

(१) सतारा तथा पूना—पेशवा
(२) नागपुर—भोंसला
(३) बड़ौदा—गायकवाड़
(४) इन्दौर—होल्कर
(५) ग्वालियर—सिंधिया

इन मराठा सरदारों में आपस में मतभेद, ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती थी। वे एक दूसरे पर कभी विश्वास नहीं करते थे। व्यक्तिगत रूप से इनमें कुछ बहुत ही चालाक और योग्य सरदार हुए, पर उनमें भी कभी एकता नहीं स्थापित हो सकी। ऐसे योग्य व्यक्तियों में महादाजी सिंधिया, नाना फड़नवीस और अहिल्याबाई के नाम उल्लेखनीय हैं। मराठा सरदार आपस में लड़ने के साथ-साथ अपने सब पड़ोसियों से भी लड़ा करते थे। कर्नाटक, मैसूर, हैदराबाद, बंगाल, उड़ीसा, अवध और दिल्ली तथा राजपूताना के विभिन्न राजाओं तथा शासकों से उनका झगड़ा था। वे सरदेशमुखी और चौथ के लिए सबको तंग करते थे। उनकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि अपने प्रभाव को व्यापक बनाने के साथ-साथ उन्होंने उसे दृढ़ करने की बात कभी नहीं सोची। पर वे अन्य देशी राजाओं से अधिक शक्तिशाली थे, अतः जब तक उनके घर में फूट नहीं हुई, तबतक अंग्रेजों को मराठा-मण्डल में प्रवेश करने का अवसर नहीं मिला।

प्रथम मराठा युद्ध (सन् १७७५—८२ ई०)—पानीपत के तृतीय युद्ध के बाद पेशवा बालाजी बाजीराव का हृदय टूट गया और उसकी तुरन्त मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका पुत्र माधोराव पेशवा हुआ। चूँकि वह अल्पायु था अतः उसके संरक्षक का काम उसके चाचा रघुनाथ राव (राघोबा) ने किया। बड़े होने पर पेशवा माधोराव और उसके चाचा राघोबा में अनबन हो गयी। राघोबा ने अपने को राजकाज से पृथक कर लिया और उसके

स्थान पर पेशवा ने नाना फड़नवीस को नियुक्त किया। राघोबा ने चिढ़ कर और दूसरों की बातों में आकर निजाम को पूना पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया। इस धमकी से पेशवा पुनः राघोबा के अधिकार में आ गया। इसी प्रकार पूना दरबार में आपस में झगड़े चलते रहे। माधोराव ने कभी निजाम पर हमला किया और कभी उसने हैदरअली पर आक्रमण किया। सन् १७७२ ई० में पेशवा माधोराव की मृत्यु हो गयी।

माधो राव के बाद उसका भाई नारायण राव पेशवा हुआ। पर कुछ ही दिनों बाद वह मार डाला गया। तत्पश्चात राघोबा पेशवा बना। पर राघोबा के पेशवा बनते ही नाना फड़नवीस ने उसका सक्रिय विरोध करना शुरू कर दिया। राघोबा के विरोध में नारायण राव के एक छोटे पुत्र को जो उसकी मृत्यु के कुछ दिनों बाद पैदा हुआ था, नाना फड़नवीस ने पेशवा बनाया। राघोबा ने अन्य मराठा सरदारों से सहायता की याचना की। पर सब तरफ से असफल होकर वह अंग्रेजों की शरण में गया।

सूरत की संधि (१७७५ ई०)—राघोबा ने बम्बई सरकार से सन् १७७५ ई० में एक संधि की। अंग्रेजों ने उसे सहायता देना स्वीकार किया। उसने वचन दिया कि इस मदद के लिए वह अंग्रेजों को सालसट और बेसीन के टापू दे देगा। पर बम्बई सरकार की यह संधि वारेन हेस्टिंग्ज को मंजूर नहीं थी। उसकी आज्ञा से पूना दरबार के साथ एक दूसरी संधि सन् १७७६ ई० में हुई।

इस नयी सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने राघोबा का साथ छोड़ दिया और उसे ३ लाख रुपये की पेंशन देने का प्रबन्ध किया गया। नाना फड़नवीस ने भी अंग्रेजों को सालसट-बेसीन देना स्वीकार किया। सब कुछ होने के बाद कंपनी के डायरेक्टरों ने इस नयी सन्धि को अस्वीकृत कर दिया और उन्होंने इङ्गलैंड से यह आदेश दिया कि कंपनी राघोबा के पक्ष का समर्थन करे। पुनः पासा पलट गया और राघोबा को पेशवा बनाने का उपक्रम होने लगा। नाना फड़नवीस बहुत नाराज हुआ और दोनों तरफ से युद्ध की तैयारी होने लगी।

अंग्रेजी सेना पूना की ओर रवाना हुई। नाना फड़नवीस भी तैयार बैठा

था। उसकी मदद के लिए होल्कर और सिंधिया भी तैयार थे। अतः पूना पहुँचते ही अंग्रेजी सेना को मात खानी पड़ी और मराठों ने उसे बुरी तरह परास्त किया। विवश होकर अंग्रेजों को संधि करनी पड़ी। अंग्रेजों को क्षति के लिए ४१,००० रुपये देने पड़े। इससे अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को बहुत क्षति पहुँची। इस सन्धि के बाद हेस्टिंग्ज ने एक बार और प्रयास कर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाही। पर उसे इस काम में अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अन्त में सन् १७८२ ई० में सालबाई की सन्धि हो गयी और प्रथम मराठा युद्ध का अन्त हुआ। सन्धि के अनुसार सालसट और बेसीन अंग्रेजों को मिल गये। राघोबा को पेंशन देना निश्चित हुआ। एक दूसरे के जीते हुए देशों को लौटा दिया गया और अंग्रेजों ने वादा किया कि वे राघोबा को भविष्य में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे।

इस युद्ध और सालाबाई की सन्धि से मराठों को नुकसान हुआ। अंग्रेज अभी तक मराठा-दरबार के झगड़ों में भाग लेने से हिचकते थे। अब उन्होंने स्थिति को समझ लिया और उनकी शक्ति तथा कमजोरी को मालूम कर लिया। पेशवा का दबदबा समाप्त हो गया और अन्य मराठा सरदार खुलकर मनमानी करने लगे। महादाजी सिंधिया अभी तक अपने को पेशवा का एक अधीनस्थ सरदार समझता था, पर अब वह अधिक शक्तिशाली हो गया और स्वतन्त्र राजा की तरह काम करने लगा।

महादाजी सिंधिया की शक्ति—इस समय महादाजी सिंधिया अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। पूना दरबार के आपसी झगड़ों से वह अधिक निर्भीक होकर अपनी शक्ति बढ़ाने के काम में लग गया। उसने अपनी सेना में राजपूत, मुसलमान और अन्य लोगों को भी रक्खा और उन्हें यूरोपीय ढंग की सैनिक शिक्षा दी। उसने सन् १७८३ ई० में ग्वालियर के राजा को पराजित किया और राजधानी को अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद धौलपुर को जीत लिया। मुगल सम्राट शाहआलम उसके हाथ की कठपुतली हो गया और उसी की कृपा पर रहने लगा। शाह आलम ने उसे अपना सेनाध्यक्ष (वकील-ए-मुतलक) बनाया। महादाजी सिंधिया ने जाटों और राजपूतों को परास्त किया और वह उत्तरी भारत में

सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति बन गया। कंपनी की पेंशन पर पलने वाले मुगल सम्राट को महादाजी ने अपने अधिकार में कर लिया। अपने जीवन के उच्चतम शिखर पर महादाजी सिंधिया का देहांत सन् १७९४ ई० में पूना में हुआ जहाँ वह अपना प्रभुत्व स्थापित करने गया था।

महादाजी की मृत्यु से अंग्रेजों को राहत मिल गयी। यदि वह कुछ दिनों और जीवित रहता तो निश्चय ही उत्तरी भारत में अंग्रेजों के साथ उसका संघर्ष हो जाता।

नाना फड़नवीस—जिस समय महादाजी सिंधिया उत्तरी भारत में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, उस समय दक्षिण की राजनीति में नाना फड़नवीस अधिक सक्रिय भाग ले रहा था। सालबाई की संधि के बाद भी वह अंग्रेजों से जलता था और उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखता था। उसने सन् १७८५ ई० में टीपू के साथ युद्ध किया और उसे अपने मनोनुकूल संधि करने के लिए विवश किया। इसके बाद उसने निजाम पर चढ़ाई की और उसे भी परास्त किया। अंग्रेजों ने निजाम के सहायता मांगने पर भी तटस्थता की नीति अपनायी। इस विजय ने नाना फड़नवीस का प्रभाव पूना दरबार में अधिक बढ़ा दिया। अभी तक वह मराठा सरदारों को अपने प्रभाव में रखने में समर्थ था। पर सब कुछ होते हुए भी वह महादाजी सिंधिया से जलता था। सन् १८०० ई० में जब ऐसे चतुर राजनीतिज्ञ की आवश्यकता मराठा दरबार को थी, उसका देहान्त हो गया। उसके साथ मराठा दरबार की बुद्धिमानी और गौरव समाप्त हो गया। नाना फड़नवीस के जीवन के अन्तिम दिनों में पेशवा-पद के लिए पुनः झंझट शुरू हो गयी। नाना फड़नवीस ने उस झगड़े को शान्त करने और सुलझाने की कोशिश की और उसे कुछ सफलता भी मिली, पर इसी बीच उसका देहान्त होगया।

लार्ड वेलेजली और मराठे—लार्ड वेलेजली सन् १७९८ ई० में भारत में कम्पनी के राज्य का गवर्नर-जेनरल होकर आया। वह साम्राज्यवादी तबीयत का व्यक्ति था और भारतीय राजनीति के विषय में उसका ज्ञान भी अच्छा था। उस समय यूरोप में फ्रान्स का बोलबाला था और नैपोलियन

का ध्यान भारत की ओर भी लगा था। ऐसी दशा में उसने तय किया कि तटस्थता की नीति को त्याग कर अंग्रेजी साम्राज्य को हर प्रकार के दुश्मनों से बचाना आवश्यक है। उसके मस्तिष्क में उस समय दो बातें थीं। सर्वप्रथम वह 'सहायक सन्धि' द्वारा अपने उद्देश्य को सफल बनाना चाहता था। शक्तिहीन राजाओं के लिए उसने इस अस्त्र का प्रयोग किया और उसे अपने कार्य में पूरी सफलता मिली। उसका दूसरा उद्देश्य कम्पनी को भारत में एक मात्र सार्वभौम राज्य में परिवर्तित कर देना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वेलेजली टीपू के विरुद्ध मराठों को खींच कर अपनी ओर लाना चाहता था। इसके लिए उसने पेशवा बाजीराव द्वितीय से वार्ता प्रारम्भ की, पर उसे अधिक सफलता नहीं मिली। इसी बीच में उसने निजाम के साथ 'सहायक सन्धि' कर ली। इस संधि से मराठे बहुत चिन्तित हुए। पर उसी समय नाना फड़नवीस की मृत्यु के बाद मराठा दरबार में ईर्ष्या और विद्वेष का बोलबाला हो गया, अतः वे निजाम या कम्पनी के विरुद्ध कुछ नहीं कर सके। मराठा सरदार दौलतराम सिंधिया और जसवन्त राव होल्कर में इस समय बड़ी शत्रुता चल रही थी। आये दिन दरबार में षड़यंत्र चल रहे थे और इससे मराठा राजनीति में अव्यवस्था फैल गयी थी।

इस अव्यवस्था और आन्तरिक झगड़ों को वेलेजली ध्यान से देख रहा था। वह अवसर की ताक में था कि किस प्रकार मराठा-शक्ति को अपने प्रभुत्व के अन्दर किया जा सके। दरबार के षड़यंत्र में पेशवा ने होल्कर के भाई को मरवा डाला और इससे क्रुध होकर जसवन्त राव होल्कर ने पूना पर आक्रमण कर दिया। उसने पेशवा और सिंधिया की सम्मिलित सेना को सन् १८०२ ई० में परास्त किया। पेशवा ने भाग कर बेसीन में अंग्रेजों के यहाँ शरण ली। बस, वेलेजली की बन आयी। वह ऐसे ही अवसर की ताक में था।

बेसीन की सन्धि (सन् १८०२)—अंग्रेजों ने पेशवा को सहायक संधि स्वीकार करने को कहा। बेसीन की संधि के अनुसार दोनों ने एक दूसरे को सहायता देने का वचन दिया। पेशवा ने अपने यहाँ अंग्रेजी सेना रखने का वादा किया। उसने यह भी वादा किया कि वह अंग्रेजों की आज्ञा

के बिना अपने राज्य में किसी विदेशी को नौकर नहीं रक्खेगा। ।सहायक-सेना के व्यय के लिए पेशवा ने अपने कुछ जिले अंग्रेजों को दिये। अन्य झगड़ों में पेशवा ने अंग्रेजों की मध्यस्थता स्वीकार की। इस प्रकार बेसीन की संधि की शर्तों के अनुसार पेशवा की भी वही स्थिति हो गयी जो निजाम की थी। वह पूर्ण रूप से अंग्रेजों के अधीन हो गया। चूँकि पेशवा मराठों का अध्यक्ष था, और उसका प्रभाव-क्षेत्र भारत में प्रायः सर्वत्र व्याप्त था, अतः उसकी इस संधि की स्वीकृति से सम्पूर्ण भारत का मस्तक नीचा हो गया और कम्पनी को सार्वभौम बनाने की वेलेजली की योजना अक्षरशः सफल हो गयी। "इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से अंग्रेज सम्पूर्ण भारत के स्वामी बन गये। भारत के लिए यह अभाग्य की बात थी कि मराठों ने अपने पारस्परिक झगड़ों के कारण अंग्रेजों को अपनी आन्तरिक राजनीति में प्रवेश करने दिया।"

मराठों के साथ युद्ध—सन् १८०३ ई० में आर्थर वेलेजली (लार्ड वेलेजली का भाई) की संरक्षता में अंग्रेजी सेना ने पेशवा को लेकर पूना में प्रवेश किया। जसवन्त राव ने यह समाचार सुन पूना छोड़ दिया और मालवा चला गया। पर सिंधिया और भोंसला ने युद्ध की तैयारी की। सिंधिया का कहना था कि "बेसीन की सन्धि ने मेरे सिर की पगड़ी उतार ली है।" दोनों पक्षों में लड़ाई शुरू हुई। सर्वप्रथम वेलेजली ने अहमद-नगर पर अधिकार कर लिया। पुनः भोंसला और सिंधिया की सम्मिलित सेना को असाई नामक स्थान पर परास्त किया। अरगाँव के युद्ध में भोंसला भी परास्त हुआ। दिसम्बर सन् १८०३ ई० में उसने हार स्वीकार कर ली और हथियार डाल दिये। उसने देवगाँव में अंग्रेजों के साथ सन्धि कर ली।

अंग्रेजों ने उत्तरी भारत में भी एक साथ ही युद्ध छेड़ दिया था। उत्तरी भारत की अंग्रेजी सेना का सेनापति जनरल लेक था। उसने अलीगढ़ पर अधिकार किया। दिल्ली पर भी उसका अधिकार हो गया। मुगल सम्राट शाहआलम को उसने अपने संरक्षण में कर लिया। इसी प्रकार आगरा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। अन्तिम बड़ा युद्ध लासवाड़ी नामक स्थान

पर हुआ और सिंधिया की सेना वहाँ भी परास्त हुई। सन् १८०३ में सुर्जी अर्जुन नामक गाँव में विवश होकर सिंधिया ने भी अंग्रेजों से संधि कर ली।

देवगाँव की संधि के अनुसार भौंसला ने नागपुर में अंग्रेजी रेजिडेण्ट रखना स्वीकार किया। उसने यह भी वादा किया कि वह अपने यहाँ किसी विदेशी को नौकर नहीं रक्खेगा। कटक एवं वर्धा नदी के पश्चिम की अपनी भूमि उसने अंग्रेजों को दे दी। सहायक-सेना रखने पर अंग्रेजों ने उस समय जोर नहीं दिया।

सुर्जी अर्जुन गाँव की सन्धि के अनुसार सिंधिया ने गंगा-यमुना के बीच की सारी भूमि अंग्रेजों को दे दिया। उसने भड़ौच, जयपुर, जोधपुर आदि को भी छोड़ दिया। उसने भी वादा किया कि वह किसी विदेशी को अपने राज्य में नौकर नहीं रक्खेगा, अंग्रेज रेजिडेन्ट रखने की स्वीकृति भी उसने दी।

भोंसिला और सिंधिया ने अपनी-अपनी संधि में बेसीन की संधि और पेशवा की शर्तों को अक्षरशः स्वीकार किया। इस प्रकार वेलेजली ने अपने साहस और चालाकी से भारत में कम्पनी को सर्वशक्तिमान बना दिया। कम्पनी की सबलता सर्वमान्य हो गयी। मराठा सरदारों की स्वार्थ-परायणता और संकीर्णता ने उनका सर्वनाश कर दिया और भारत को अंग्रेजों के हाथ में रख दिया।

होल्कर के साथ युद्ध—होल्कर अभी तक इस युद्ध से बचा था। पर वेलेजली उसकी शक्ति का अन्दाज कर चुका था, अतः उसने तुरन्त उसके समक्ष सहायक संधि की शर्तों को रक्खा। आनाकानी करने पर अंग्रेजी सेना ने सन् १८०४ ई० में होल्कर के विरुद्ध तीन ओर से आक्रमण कर दिया। युद्ध के प्रथम दौरान में होल्कर को सफलता मिली। पर अन्त में उसकी हार हुई। उसकी राजधानी इन्दौर पर अंग्रेजी सेना ने अधिकार कर लिया। अभी युद्ध चल ही रहा था कि इसी बीच सन् १८०५ ई० में वेलेजली वापस बुला लिया गया और उसके स्थान पर लार्ड कार्नवालिस पुनः गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। उसने होल्कर के साथ संधि का प्रस्ताव

किया। संधि की शर्तों के अनुसार होल्कर ने पूना पर अधिकार छोड़ दिया। चम्बल के उत्तर का प्रदेश और बुन्देलखण्ड अंग्रेजों के अधिकार में दे दिया। दक्षिणी सीमा के सब प्रदेशों को अंग्रेजों ने उसे वापस कर दिया।

अपनी अदूरदर्शिता और संकीर्णता के कारण मराठा सरदारों को नीचा देखा पड़ा। उनकी रीढ़ टूट गयी और अब भारत के शक्तिशाली राज्यों में उनका स्थान नहीं रहा। पूरे देश पर शासन करने का पेशवा और सिंधिया का स्वप्न चकनाचूर हो गया। अंग्रेजी साम्राज्य की सीमा दिल्ली तक पहुँच गयी। सारा दोआब कम्पनी के अधिकार में आ गया। उनमें अब अंग्रेजों के विरुद्ध संघ बनाने की शक्ति नहीं रही। अंग्रेजी राज्य मंगलौर से लेकर कर्नाटक, तंजौर, मद्रास, उत्तरी सरकार, कटक, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, तथा लगभग पूरा उत्तर प्रदेश तक विस्तृत हो गया।

मराठों द्वारा शक्ति-संचय का अन्तिम प्रयास—वेलेजली ने मराठों को परास्त किया था। उन्हें युद्ध में हरा कर उनकी शक्ति पर्याप्त कम की। पर उनमें अभी जान थी और अवसर पाकर उन्होंने पुनः एक बार शक्ति-संचय करने के लिए प्रयास किया। वेलेजली के बाद सात वर्ष तक कम्पनी के गवर्नर-जनरल शान्ति-प्रिय नीति के समर्थक थे। उनकी शान्ति-प्रधान नीति से लाभ उठाकर मराठों ने पुनः अपने को शक्ति-सम्पन्न बनाने की कोशिश की। वे जानते थे कि अंग्रेज भारत के लिए एक महान आपत्ति के रूप में विद्यमान हैं। पर अपनी गलती से वे उनके चङ्गुल में फँस चुके थे। उनकी स्वतंत्रता खतरे में पड़ चुकी थी और उनकी स्थिति अपमान-जनक हो गयी थी। पर वे फिर भी येन-केन प्रकारेण अपनी सत्ता बनाये रखना चाहते थे और इस चिन्ता में थे कि किस प्रकार पुनः उन्हें उस अप-मान-जनक स्थिति से छुटकारा मिल सके। विवश होकर उन्होंने अंग्रेजों के साथ संधि की थी। अब वे उससे मुक्त होना चाहते थे। पेशवा भी अपनी स्थिति से असन्तुष्ट था। भोंसला और सिंधिया ने अपनी स्थिति में पर्याप्त सुधार कर लिया। उनकी शक्ति पुनः बढ़ने लगी।

हेस्टिंग्ज और भोंसला—सन् १८१३ ई० में लार्ड हेस्टिंग्ज भारत का गवर्नर-जनरल होकर यहाँ आया। वह मराठों की इस बढ़ती शक्ति को

समझता था और उसे शङ्का की दृष्टि से देखता था। उसने पुनः वेलेजली की नीति से काम लिया। सर्वप्रथम उसका ध्यान भोंसला की ओर आकृष्ट हुआ। पारिवारिक झगड़े के कारण हेस्टिंग्ज की दाल वहाँ गल गयी। गद्दी के एक हकदार अप्पा साहब ने अंग्रेजी सहायता के चक्कर में सहायक संधि स्वीकार कर ली।

हेस्टिंग्ज और पेशवा—उसी समय पेशवा की ओर भी हेस्टिंग्ज का ध्यान गया। पेशवा अपनी स्थिति से मुक्त होना चाहता था और अंग्रेजों के चंगुल से निकलना चाहता था। अंग्रेज इस बात को जानते थे। अतः आपस में मनोमालिन्य बढ़ने लगा। पेशवा का एक मंत्री त्र्यम्बक जी थे। वे पेशवा को अंग्रेजी-प्रभाव से मुक्त करना चाहते थे। उन्होंने यह प्रयास किया कि एक बार सब मराठा सरदार संगठित हो जाँय। इसके लिए उसने सब के पास दूत भेजा। पर इस समय भी आपस का द्वेष समाप्त नहीं हुआ। कहा जाता है कि बड़ौदा के गायकवाड़ का एक मंत्री पूना दरबार में गया और पेशवा तथा उसके मंत्री त्र्यम्बक जी ने उसकी हत्या करा दी। इससे पेशवा और गायकवाड़ में कटुता हो गयी। कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने इस घटना से लाभ उठाया। इस हत्या का दोष त्र्यम्बक जी पर लगाया गया और उसे कैद कर लिया गया। किसी प्रकार त्र्यम्बक जी कैद से भाग गये। भागने के लिए पेशवा को अंग्रेजों ने दोषी बताया। भयभीत कर पेशवा से पुनः मनोनुकूल संधि की गयी। पेशवा ने डर कर अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर कर दिया और अपने मंत्री त्र्यम्बक जी को अंग्रेजों के हवाले कर दिया।

इसी प्रकार दोषारोपण करके हेस्टिंग्ज ने सिंधिया के साथ भी एक संधि की जिसके अनुसार सिंधिया ने वादा किया कि वह पिण्डारियों को किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा। उसने राजपूत राज्यों पर से अपना अधिकार हटा लिया और वे राज्य अंग्रेजों के संरक्षण में आ गये।

मराठों के साथ युद्ध—पेशवा अपनी स्थिति से बहुत असन्तुष्ट था। उसने तंग आकर एक दिन अंग्रेज रेजिडेन्ट की कोठी पर आक्रमण कर दिया और उसे जला दिया। रेजिडेण्ट किसी प्रकार बच कर भाग गया।

कुछ दिनों के बाद अंग्रेजी सेना आ गयी और पूना पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। पेशवा सन् १८१८ ई० में कई स्थानों पर पराजित हुआ। निराश होकर उसने आत्म-समर्पण कर दिया। उसके साथ अंग्रेजों ने एक संधि की। सतारा के राज्य पर शिवाजी का एक वंशज बैठाया गया पेशवा-पद समाप्त कर दिया गया। उसे ८ लाख रुपये वार्षिक पेंशन दे। बिठूर (कानपुर जिले में स्थित) में रक्खा गया। पेशवा का शेष राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया।

नागपुर में भोंसला अप्पा साहब ने भी असन्तुष्ट हो रेजिडेन्ट पर आक्रमण किया। पर अंग्रेजों ने उसे भी पराजित किया। अप्पा साहब पदच्युत कर दिया गया। नर्मदा के उत्तर का सारा राज्य कम्पनी के अधिकार में आ गया। शेष बचे भाग को एक बच्चे के नाम दे उसके संरक्षण के लिए एक अंग्रेज रेजिडेन्ट रख दिया गया।

होल्कर के साथ भी अंग्रेजों का युद्ध हुआ, पर पराजित होने पर होल्कर ने सहायक संधि स्वीकार कर ली। अपने राज्य का कुछ भाग अंग्रेजों को देकर उसने सहायक-सेना अपने यहाँ रख ली।

सिंधिया ने भी उसी प्रकार एक संधि की। उसने अजमेर अंग्रेजों को दे दिया। गायकवाड़ ने भी एक संधि द्वारा अंग्रेजी सेना अपने यहाँ रखना स्वीकार किया और उसके खर्चे के लिए उसने अहमदाबाद अंग्रेजों को दे दिया।

इस प्रकार काश्मीर, पंजाब और सिंध के अतिरिक्त सारा भारत अंग्रेजी प्रभुत्व के अन्दर आ गया। मराठों की शक्ति अन्तिम रूप से समाप्त हो गयी। सन् १८४८ ई० में लार्ड डलहौजी ने सतारा की रियासत भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। उसी समय झाँसी और नागपुर को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। उत्तराधिकार के नियम को अस्वीकृत कर डलहौजी ने इन राज्यों को हड़प लिया। उसने पेशवा के दत्तक पुत्र नाना साहेब की पेंशन जो लार्ड हेस्टिंग्ज के समय में स्वीकृत हुई थी, बन्द कर दी। डलहौजी की इस अनीति से अप्रसन्न होकर नाना साहब और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने सन् १८५७ के विद्रोह में अंग्रेजों को खदेड़ने का प्रयास किया और सशस्त्र क्रान्ति की

चेष्टा में पूरा सहयोग दिया। पर अन्त में उनकी हार हुई और उन्हें सदा के लिए दबा दिया गया। इस प्रकार मराठों का अन्त हुआ और उनकी लाश पर अंग्रेजी साम्राज्य की इमारत पूरी हुई।

मराठों के पतन के कारण—मराठों की हार और पतन का सबसे प्रधान कारण उनकी अदूरदर्शिता और संकीर्णता थी। पारस्परिक अविश्वास और विद्वेष के कारण उन्होंने कभी मिलकर काम नहीं किया। उनके पतन का दूसरा मुख्य कारण मराठा राज्य में विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों का पैदा हो जाना था। भोंसला, गायकवाड़, होल्कर और सिंधिया ने पृथक-पृथक अपना राज्य स्थापित कर लिया। वे सदा एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश किया करते थे। मराठा-संघ नाम मात्र के लिए पेशवा के अधीन था, पर कोई किसी के नियंत्रण या आधिपत्य में रहना नहीं चाहता था। सत्ता और शक्ति के लिए उनमें सदा होड़ लगी रहती थी। मराठा-संघ के पतन का सब से बड़ा और प्रमुख कारण यही था। मराठों के पतन का तीसरा मुख्य कारण उनकी लूट करने और चौथ वसूल करने की नीति थी। इससे सब पड़ोसी राज्य मराठों को अपना शत्रु समझते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे राज्य मराठों के शत्रुओं को उभाड़ते थे और उनकी सहायता भी करते थे। निज़ाम, हैदर अली, राजपूत सब मराठों से जलते थे और उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश करते थे। चौथा प्रमुख कारण मराठों में ऊँची तथा व्यापक राष्ट्रीयता का अभाव था। उन्होंने पूरे देश के हित की बात प्रायः सोची ही नहीं। उनका दृष्टि-कोण संकुचित था और वे केवल अपने राज्य के ही विषय में सोचते रहते थे। यह दोष महादाजी सिंधिया और नाना फड़नवीस जैसे व्यक्तियों में भी पाया जाता था। अतः वे एक-एक करते परास्त होते गये और कभी-कभी उन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध भी शत्रु को मदद दी। फिर दरबार और राज-परिवार की कलहपूर्ण स्थिति ने मराठों को ध्वस्त कर दिया। इसी दोष का लाभ उठा कर अंग्रेजों को मराठा दरबार और उनकी राजनीति में घुसने का साहस हुआ। शिवाजी के बाद मराठों ने यूरोपीय युद्ध प्रणाली को अपनाने की कोशिश की। उन्होंने अपनी पुरानी प्रणाली को त्याग दिया, पर नयी प्रणाली में उन्हें दक्षता नहीं प्राप्त हो सकी। अतः वे अंग्रेजों के कुशल सैनिकों के समक्ष

मात खा जाते थे। अंग्रेजों की अपेक्षा उनका सैन्य संगठन सदा शिथिल और कमजोर रहा। इन्हीं कारणों से अवसर पाकर भी मराठे भारत की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सके। यदि वे समय की गति को समझ कर काम करते और अपनी राष्ट्रीयता को व्यापक बनाने की कोशिश करते तो भारत के सिर पर पराधीनता का कलंक नहीं लगने पाता और इस देश का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

अवध का अंग्रेजी राज्य में विलयन

प्रारम्भ में अवध मुगल साम्राज्य का एक सूबा था। मुगल सम्राट की कमजोरी से लाभ उठा कर अवध भी अपने को स्वतंत्र समझने लगा। सन् १७६०-६१ के पूर्व अवध का अंग्रेजों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। पर बंगाल के नवाब मीर कासिम की प्रार्थना पर अवध के नवाब ने उसे अंग्रेजों के विरुद्ध मदद देना स्वीकार किया। बक्सर के युद्ध में मीर कासिम और उसके साथियों की हार हुई। अंग्रेजी सेना ने अवध के नवाब का लखनऊ तक पीछा किया और उसे परास्त किया। नवाब शुजाउद्दौला की पराजय के बाद भी क्लाइव ने इलाहाबाद की संधि के अनुसार प्राप्त सूबे को अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाया क्योंकि वह जानता था कि अवध को अपने अधिकार में कर लेने से कम्पनी के राज्य की सीमा अचानक इतनी विस्तृत हो जायगी कि उसका प्रबन्ध करना दुष्कर होगा। साथ ही अवध के आत्मसात् करने से उत्तरी भारत में अंग्रेजों का सीधा सम्पर्क मराठों के साथ हो जाता जिससे संघर्ष बढ़ जाने की सम्भावना अधिक थी। अतः क्लाइव ने सन् १७६५ ई० में बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया और अवध नवाब के साथ इस प्रकार की शर्तों के साथ संधि की—

(१) अंग्रेज और नवाब ने यह वादा किया कि वे एक दूसरे को आवश्यकता पड़ने पर मदद देंगे।

(२) अंग्रेजों ने यह विश्वास दिलाया कि युद्ध के समय कम्पनी की सेना नवाब को मदद देगी और उसका व्यय नवाब को देना होगा।

(३) नवाब ने इस युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिए ५० लाख रुपये कम्पनी को देने का वचन दिया।

(४) कड़ा और इलाहाबाद के जिले नवाब से कम्पनी को प्राप्त हो गये। ये जिले पुनः कम्पनी ने मुगल सम्राट को दे दिया।

(५) इसके अतिरिक्त नवाब ने यह वादा किया कि वह भविष्य में मीर कासिम तथा किसी शत्रु को अपने यहाँ शरण नहीं देगा और न किसी प्रकार उनकी मदद करेगा।

इस प्रथम बार में ही नवाब कंपनी का आश्रित बन गया। लगभग उसकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गयी।

हेस्टिंग्ज और अवध—इस समय अवध में आसफुद्दौला नवाब था। उसने बहुत दिनों से कंपनी का ऋण नहीं चुकता किया और वह रकम लगभग १½ करोड़ रुपये तक पहुँच चुकी थी। वास्तव में आन्तरिक स्थिति खराब होने के कारण अवध की आमदनी बहुत कम हो गयी थी। विश्वास था कि अवध की बेगमों के पास बहुत धन था और वे उसे गुप्त रखती थीं। अंग्रेजों के बार-बार तकाजा पर उसने हेस्टिंग्ज से कहा कि वह किसी प्रकार बेगमों से रुपया वसूल कर ले तो कंपनी का ऋण चुक जायगा। हेस्टिंग्ज को उस समय रुपये की आवश्यकता थी क्योंकि कंपनी के साथ मैसूर और मराठों का युद्ध चल रहा था। अतः हेस्टिंग्ज ने झट उसकी बात स्वीकार कर ली। बेगमों पर बनारस के राजा चेतसिंह की सहायता का दोष लगाया गया।

एक सेना भेज कर हेस्टिंग्ज ने बेगमों का महल घेर लिया। उनके आदमी गिरफ्तार किये गये। उनके अन्नादि सामान प्राप्त करने का मार्ग बन्द कर दिया गया और अनेक प्रकार की यातनाएँ दी गयीं। इन कठोर यातनाओं से घबड़ाकर बेगमों को अपना धन देना पड़ा।

वास्तव में हेस्टिंग्ज का यह काम बहुत ही गर्हित था। उसे नवाब के घरेलू मामलों में इस प्रकार हस्तक्षेप करने का कोई नैतिक आधार नहीं था। "असहाय अबलाओं का घर घेरना, उनके नौकरों को बन्दी बनाना, उन्हें भूखा रखना और अन्य तरह-तरह की यातनाएँ देना आदि कामों का समर्थन किसी भी दृष्टिकोण से नहीं से नहीं किया जा सकता।" वास्तव में यह एक प्रकार की बर्बरता थी जिससे हेस्टिंग्ज को बहुत बदनामी उठानी पड़ी।

कार्नवालिस के समय में अवध—अवध का ऋण दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा था। नवाब भी अंग्रेजों के प्रभाव से चिन्तित और वह नहीं चाहता था कि अंग्रेज अपनी व्यापारिक सुविधाओं का दुरुपयोग करें। नवाब अंग्रेजी सेना के व्यय को कम करना चाहता था। कार्नवालिस ने उससे बातचीत करने के लिए अपना एक दूत भेजा। समझौता हो गया और उसके अनुसार सेना का व्यय ७४ लाख से घटा कर ५० लाख रुपये कर दिये गये। इसके अतिरिक्त कार्नवालिस ने नवाब के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का आवश्वासन दिया। नवाब ने पुनः वादा किया कि अंग्रेजों की पूर्व लिखित आज्ञा के बिना नवाब किसी यूरोपीय को अपने राज्य में नहीं रक्खेगा।

सर जान शोर के समय में नवाब आसफुद्दौला की मृत्यु के बाद गद्दी के लिये झगड़ा शुरू हो गया। सर जान शोर ने उसमें हस्तक्षेप किया और अपने प्रभाव से नवाब के बड़े भाई सादत अली को गद्दी पर बैठाया। उसी समय सन् १७९८ ई० में यह तय हुआ कि इलाहाबाद का किला अंग्रेजों को दे दिया जाय। नये नवाब ने सब पुरानी शर्तों को भी स्वीकार कर लिया।

वेलेजली और अवध—अवध का शासन प्रबन्ध बिगड़ता ही गया। उसी समय सन् १७९९ ई० में वेलेजली यहाँ गवर्नर-जनरल होकर आया उसकी साम्राज्यवादी नीति से अवध का त्राण नहीं था। शासन की कुव्यवस्थता का दोष लगा कर उसने अवध को हड़पने का निश्चय किया। "बकरी को खाने के लिए भेड़िया कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ ही लेता है। साम्राज्यवादी शासक अपने कलुषित मन्तव्यों को न्याय-संगत सिद्ध करने के लिए मनमानी अनर्गल तर्कों का सहारा लेते हैं।" सेना का भय दिखाकर उससे 'सहायक सन्धि' पर हस्ताक्षर करा लिया गया।

इसके अनुसार अंग्रेजों को रुहेलखण्ड और दक्षिणी दोआब नवाब से मिला। नवाब की सेना घटा दी गयी और अंग्रेजी सैनिकों की संख्या बढ़ा दी गयी। नवाब ने शासन-सुधार के काम में रेजिडेन्ट की सहायता लेने का वादा किया। इस प्रकार अवध भी अंग्रेजी छत्रछाया में आ गया।

अवध का विलयन—सन् १८०१ ई० के बाद अवध पूर्ण तरह से अंग्रेजी प्रभुता में आ गया। वह अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गया। प्रभुता अंग्रेजों के हाथ में रही और उत्तरदायित्व नवाब के जिम्मे रहा। इससे शासन बिगड़ता ही गया। पर नवाब सदा अंग्रेजों के हाथ में रहा और उनके मनोनुकूल काम करता रहा। सन् १८१९ ई० में लार्ड हेस्टिंग्ज ने उसे राजा की उपाधि दी। अनेक बार नवाब से शासन-सुधार के लिए अंग्रेजों ने कहा। पर इस प्रकार के दोहरे शासन के अधीन अवध में सुधार सम्भव नहीं था। अतः लार्ड डलहौजी ने सन् १८५६ ई० में अवध की सत्ता समाप्त कर उसे अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। अन्तिम नवाब वाजिदअली को १२ लाख की पेंशन देकर कलकत्ता रक्खा गया। इस प्रकार अवध की नवाबी का अन्त हुआ।

राजपूत रियासतें और अङ्गरेज

राजपूताना मध्यकालीन इतिहास में अपनी बहादुरी और त्याग के लिए देश में प्रसिद्ध हो चुका था। मुसलमानों के भारत में प्रवेश करते समय राजपूत राजाओं ने ही जम कर उनसे मोर्चा लिया था। अपने शौर्य और बलिदान के कारण अनुकरण के लिए आदर्श समझे जाते थे। पर पठान और मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद धीरे-धीरे उनमें अनेक दोष आ गये। वे पंगु होकर भी आपसी ईर्ष्या और द्वेष के कारण कमजोर बन गये। कम्पनी के आगमन के समय उनमें शक्ति नहीं थी। वे प्रायः आपस में लड़ा करते थे। उनके राज्य की सीमा अनिश्चित और शासन अव्यवस्थित हो गया था। वे सैकड़ों छोटी-छोटी रियासतों में विभाजित और विश्रृङ्खलित थे। उनकी कमजोरी से होल्कर, सिंधिया और पेशवा जैसे मराठा सरदारों के राजवंश उन्हें तंग किया करते थे और उनसे मनमाने ढंग से चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल किया करते थे। वे कभी रियासतों को [illegible] करते थे और कभी रुपये वसूल कर उन्हें छोड़ देते थे। इधर कम्पनी को मैसूर, कर्नाटक, हैदराबाद तथा बंगाल आदि में लगातार युद्ध में व्यस्त रहना पड़ा था। मराठों से भी कम्पनी का युद्ध चल रहा था। ऐसी दशा में कम्पनी के

प्रशासकों को राजपूताना की रियासतों की ओर ध्यान देने का न तो समय मिला और उन्होंने अभी इसके लिए उचित अवसर ही अपने सामने पाया। लार्ड वेलेजली और लेक ने क्रमशः जयपुर और जोधपुर के राजाओं के साथ संधियाँ कीं, पर उनके अनुसार कार्य नहीं हो सका, क्योंकि उनका ध्यान अभी अन्यत्र था।

सर्वप्रथम लार्ज हेस्टिंग्ज ने राजपूत रियासतों की ओर ध्यान दिया। उस समय तक कम्पनी की स्थिति काफी दृढ़ हो चुकी थी। मराठों की शक्ति भी लगभग क्षीण हो गयी थी। वह भारत में कम्पनी की प्रभुता पूर्ण करना चाहता था। अतः स्वभावतः उसका ध्यान राजपूत राज्यों की ओर गया। उसने इन रियासतों की भौगोलिक स्थिति का महत्व समझा और भारत में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए उन रियासतों को अपने प्रभुत्व में करना आवश्यक समझा। वह जानता था कि राजपूत कम्पनी की सेना में भर्ती होकर अंग्रेजों की शक्ति स्थायी करने में और हर प्रकार के शत्रुओं से रक्षा करने में बड़े सहायक होंगे।

सन् १८१७ ई० में दिल्ली स्थित अंग्रेज रेजिडेंट मेटकाफ को राजपूत राजाओं से बातचीत करने का आदेश मिला। उस समय अंग्रेजों का विचार इन रियासतों को मराठा-मण्डल के प्रभुत्व से निकालकर अंग्रेजी प्रभाव-क्षेत्र में लाना था। वे चाहते थे कि राजपूत रियासतें सीधे किसी अन्य शक्ति को किसी प्रकार का टैक्स न दें और किसी बाहरी शक्ति से उनका सम्बन्ध अंग्रेजों की आज्ञा बिना न हो सके।

इस उद्देश्य को समक्ष रख सर्व प्रथम करौली के राजा के साथ अंग्रेजों की संधि हुई। राजा ने संधि में यह वादा किया कि वह किसी अन्य शक्ति के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रक्खेगा, और आवश्यकता पड़ने पर अपनी शक्ति और साधन के अनुसार अंग्रेजों को सैनिक सहायता भी देगा। अंग्रेजों ने आश्वासन दिया कि कम्पनी उनके घरेलू और आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसी प्रकार की संधि कोटा, जोधपुर, उदयपुर, बूँदी, किसनगढ़, बीकानेर, जैसलमेर, सिरोही आदि सभी राजपूताना की रियासतों के साथ दो-एक साल के भीतर ही हो गयीं। किसी ने इन शर्तों के मानने

में बहुत आनाकानी नहीं की। देखते-देखते पूरे राजपूताना पर कम्पनी का प्रभाव-क्षेत्र स्थापित हो गया और इन रियासतों की ओर से अंग्रेज निश्चिन्त हो गये।

अङ्गरेजों की इस कूटनीतिक सफलता ने कंपनी को बहुत लाभ हुए। कम्पनी को इतने मित्र-राज्य मिल गये जिन पर संकट के समय कम्पनी भरोसा कर सकती थी। राजपूताना की इन रियासतों के राजा पदवी में राजा और शासक मान लिये गये। इससे उनको आत्म-सन्तोष हुआ और कम्पनी ने उनके सब बाहरी अधिकारों को अपने हाथ में लेकर उन्हें अपने चंगुल में कर लिया। वे इतने कमजोर बना दिये गये कि उन्हें कभी कम्पनी के विरुद्ध उठने का साहस नहीं हुआ और। यदि कभी किसी ने ऐसा दुस्साहस किया, तो उसे मुँह की खानी पड़ी। इसके साथ ही इन संधियों से मराठा-मण्डल की आमदनी पर गहरी चोट पड़ी क्योंकि इसके बाद कभी इन रियासतों से मराठों को टैक्स नहीं मिला और न अब वे इस क्षेत्र में कभी लूटमार करने का साहस कर सकते थे। पिण्डारियों के दमन में भी कम्पनी को इससे आसानी हुई क्योंकि वे अब इन रियासतों में कभी शरण नहीं ले पाते थे। हेस्टिंग्ज ने सेना के बल से पिंडारियों को परास्त किया और उनके सरदारों को पकड़ कर कठोर दण्ड दिया। इस प्रकार राजपूताना की ये सैकड़ों रियासतें अन्त तक ब्रिटिश शासकों की मित्र बनी रहीं। भारत स्वतन्त्र होने के बाद ही उनको भारत-संघ में सम्मिलित किया जा सका और उस क्षेत्र में शासन की एक रूपता स्थापित हो सकी।

सिंध का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना

सिंध पहले अफगानों के अधिकार में था। धीरे-धीरे वह स्वतन्त्र हो गया। इस प्रदेश में तीन राज्य थे खैरपुर, मीरपुर, और हैदराबाद। इन तीनों राज्यों का शासन पृथक-पृथक अमीर करते थे। अफगानिस्तान के साथ युद्ध छिड़ने पर अंग्रेजों को सिंध से होकर मार्ग की आवश्यकता पड़ी। सन् १८३९ ई० में गवर्नर जनरल ने इन अमीरों को धमकी देकर इस बात पर राजी कर लिया कि अंग्रेजी फौज, युद्ध सामग्री आदि सिंध से होकर काबुल जायगी और अमीरों को इसके लिए मार्ग देना पड़ेगा। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने सिंध में

पैर जमाना प्रारम्भ कर दिया। भक्कर के किले पर अङ्गरेजी सेना ने अचानक और अकारण अधिकार कर लिया। इसी प्रकार कराची और सक्खर पर भी अङ्गरेजों ने अधिकार किया। धीरे-धीरे उनकी नीति पूरे सिंध को हड़पने की हुई। क्योंकि सिंध के मिल जाने से बोलन दर्रे पर अंग्रेजों का अधिकार हो जायगा और वहाँ फौज रख के बाहर से आने वाले शत्रु का सामना आसानी से कर सकेंगे। पञ्जाब के स्वतन्त्र शासकों को भी आगे बढ़ने से रोकने में सिंध से आसानी होगी। इन्हीं सब कारणों से अंग्रेज सिंध के अमीरों की कमजोरी से लाभ उठाने के लिये कृत-संकल्प हो गये।

अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए अंग्रेजों ने थट्टा में स्थित अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए अमीरों से तीन लाख रुपये की माँग की। अमीरों ने सब स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों की इच्छा कुछ दूसरी ही थी। उन्होंने अमीरों पर अनेक प्रकार के निराधार दोष लगाये। उनकी जाँच के लिए सर चार्ल्स नेपियर को सिंध भेजा गया। मामला पहले ही से सधा-बधा था। अमीर दोषी घोषित किये गये। अतः भय दिखाकर सन् १८४२ ई० में उन्हें एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया। "इसके अनुसार अमीरों को सिंध का अधिकांश भाग कम्पनी को दे देना पड़ा, साथ ही सिंधु नदी में चलने वाले अंग्रेजी जहाजों के लिए इन्धन का प्रबन्ध अमीरों को करना पड़ा।

सन्धि की शर्तों को स्वीकार करने के बाद भी अंग्रेजों ने सिंध में युद्ध बन्द नहीं किया। स्थान-स्थान पर अंग्रेजी सेना आतंकपूर्ण ढंग से काम कर रही थी। इससे ऊब कर अमीरों ने युद्ध करने का निश्चय किया। प्रतिकार की भावना से उन्होंने रजिडेंसी पर आक्रमण कर दिया। अतः अंग्रेजी सेना सिंध पर टूट पड़ी। सन् १८४३ ई० में अङ्गरेजी सेना ने अमीरों को मियानी और हैदराबाद के युद्ध में पराजित किया। अमरकोट में भी अमीर पराजित हुए। उनकी शक्ति टूट गयी और उन्होंने विवश होकर हथियार डाल दिया। सारा सिंध अङ्गरेजी राज्य में मिला लिया गया। अमीरों को सिंध से निष्कासित कर दिया गया और नेपियर को वहाँ का गवर्नर बनाया गया। सिंध कम्पनी के आधीन एक सूबा हो गया।

पंजाब का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना

यथा स्थान सिक्ख सम्प्रदाय और उनके गुरु-परम्परा के विकास का परिचय दिया जा चुका है। परिस्थितियों से लाभ उठा कर गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख जाति का एक सैनिक संगठन में परिवर्तित कर दिया था। वह संगठन मुगल सम्राटों के विरोध और अत्याचार के साथ-साथ दृढ़तर होता गया। अन्त में पूरे पंजाब पर सिक्खों का अधिकार हो गया और उस प्रदेश में सिक्खों के १२ राज्य स्थापित हो गये।

रणजीत सिंह—सिक्खों के इन्हीं १२ राज्यों में से एक राज्य के शासक महासिंह के पुत्र रणजीत सिंह थे। आपका जन्म सन् १७८० ई० में हुआ था। पिता का देहान्त उसी समय हो गया, जब रणजीत सिंह की अवस्था १२ वर्ष का थी। पर उन्होंने बुद्धिमानी से काम लिया और १७९८ ई० में उन्हें लाहौर मिल गया। रणजीत सिंह की शक्ति बढ़ती गयी और धीरे-धीरे पंजाब के सब सिक्ख राज्यों पर आपका अधिकार हो गया। सन् १८०७ ई० में रणजीत सिंह का लुधियाना पर अधिकार हो गया। रणजीत सिंह अपनी सीमा सुदृढ़ करने के लिए सतलज और यमुना के बीच की भूमि पर अधिकार करना चाहता था। इससे उसकी सीमा ठीक हो जाती, पर इस विचार से अंग्रेज सशंकित हुए क्योंकि रणजीत सिंह के राज्य की सीमा इस प्रकार कम्पनी के साम्राज्य से मिल जाती।

अमृतसर की संधि (सन् १८०९ ई०)—अंग्रेजों का विचार था कि रणजीत सिंह का राज्य किसी प्रकार यमुना से आगे न बढ़ने पावे। पर इस समय वे रणजीत सिंह से युद्ध करना नहीं चाहते थे क्योंकि इंगलैण्ड नैपोलियन के साथ युद्ध में फंसा हुआ था। अतः लार्ड मिण्टो ने जो उस समय यहाँ गवर्नर जनरल था, एक दूत सिक्ख दरबार में भेजा। रणजीत सिंह भी अंग्रेजों की सैनिक शक्ति से परिचित था। उसने भी विचार-विनिमय के बाद में मैत्री पूर्ण संधि की शर्तें स्वीकार कर ली। अतः अमृतसर में दोनों पक्षों में संधि हो गयी। इसके अनुसार रणजीत सिंह ने अपने राज्य की सीमा सतलज तक ही स्वीकार की और उसने वादा किया वह इसके आगे पूर्व की ओर नहीं बढ़ेगा। दोनों ने एक दूसरे के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखने का वचन

दिया। इस संधि से अंग्रेजों को बहुत लाभ हुआ और रणजीत सिंह अपने जीवन भर अंग्रेजों का मित्र बना रहा।

इसके बाद रणजीत सिंह ने काँगड़ा, कटक, मुल्तान, काश्मीर आदि स्थानों को अपने अधिकार में कर लिया। पेशावर भी उसके अधिकार में आ गया। अंग्रेजों की सतर्कता के कारण रणजीत सिंह की सिंध-विजय की आशा पूरी नहीं हो सकी। सन् १८३९ ई० में रणजीत सिंह की मृत्यु हुई। इस समय सिक्ख राज्य सुदृढ़ और विस्तृत हो चुका था। इसका सारा श्रेय केवल उसी की योग्यता को है।

रणजीत सिंह में अद्भुत कार्य क्षमता थी। वह शरीर का कुरूप था, पर उसके कार्य उतने ही अच्छे थे उसके व्यक्तित्व में प्रभाव और आकर्षण था। साहस के साथ-साथ उसमें कूटनीतिज्ञता अच्छी थी। वह वीर सेनापति होते हुए एक सफल शासक भी था। उसके राज्य में व्यवस्था अच्छी थी। वह विचारों में उदार और स्वभाव में सहिष्णु था। उसके राज्य में लगान, न्याय, पुलिस और सेना की व्यवस्था अति उत्तम थी। उसकी सेना अंग्रेजों की तरह सुसज्जित और नियंमित्र थी।

रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात्—रणजीत सिंह के मरते ही पंजाब में अव्यवस्था-सी फैल गयी। सेना की सहायता से उसका पुत्र दिलीप सिंह राजा बना। उसके समय में सेना का महत्व अधिक बढ़ गया। सैनिकों की इच्छा से सतलज के पास के किलों को मरम्मत करया गया। धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होने लगी कि दरबार के षणयंत्रों में अंग्रेजों का हाथ है। अंग्रेजों ने उसी समय लुधियाना के पास कुछ गाँवों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सिक्खों और अंग्रेजों में मनोमालिन्य बढ़ने लगा। सिक्ख सरदारों में षणयंत्र और हत्या का जोर अधिक बढ़ गया। इस स्थिति में सेना का महत्व अधिक हो जाना स्वाभाविक था। साधारण सिक्ख जनता भी अंग्रेजों को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगी थी। कुछ लोगों ने सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़-काया। बहकावे में आकर सिक्ख सेना ने सन् १८४५ ई० में सतलज को पार कर लिया। चूँकि यह कार्य अमृतसर की संधि के विरुद्ध था, अतः अंग्रेजों ने युद्ध की घोषणा कर दी।

प्रथम सिक्ख युद्ध—सिक्खों और अंग्रेजों में जमकर कई स्थानों पर युद्ध किया। प्रथम बार युद्ध फीरोजपुर में हुआ। पर यह युद्ध अनिर्णीत रहा है। इसके बाद अलीवाल और पुनः सुबरांव नामक स्थानों पर दोनों पक्ष के सैनिकों में घमासान युद्ध हुआ। यहाँ अंग्रेजों ने सिक्खों को मात दिया। इसके बाद अंग्रेजी सेना ने लाहौर पर अधिकार कर लिया। सिक्खों को विवश होकर संधि करनी पड़ी। युद्ध के प्रारम्भिक स्थिति में लाल सिंह और तेजा सिंह नामक सिक्ख सरदारों ने अपने पक्ष को धोखा दिया और उन्हीं के विश्वासघात से सिक्खों की विजय नहीं हो सकी। अपनी स्वार्थपरता के कारण उन्होंने अपनी जाति और देश को धोखा दिया और दुश्मन से जा मिले।

लाहौर की संधि (सन् १८४६)—सिक्खों को युद्ध के खर्च के लिए १½ करोड़ रुपये का अर्थदण्ड देना पड़ा। चूँकि गुलाब सिंह ने युद्ध के दिनों में अंग्रेजों को मदद की थी, अतः उसे देश तथा जाति के प्रति विश्वासघात के लिए पुरस्कार के रूप में काश्मीर एवं व्यास तथा सिन्ध के बीच का भू-भाग दिया गया। एक दूसरे देश द्रोही लाल सिंह को अल्पायु दिलीप सिंह का मंत्री बनाया गया और राजमाता को उसका संरक्षक नियुक्त किया गया। सतलज के पूर्व का सारा प्रदेश अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। इसके अतिरिक्त जालन्धर का दाआब, तथा हजारा भी उन्हें मिला। सिक्ख सेना बहुत घटा दी गयी। दिलीप सिंह राजा मान लिया गया और उसने वादा किया कि वह किसी विदेशी को अपने राज्य में स्थान नहीं देगा। राजधानी लाहौर में एक अंग्रेजी सेना रक्खी गया और वहाँ एक अंग्रेज रेजिडेन्ट नियुक्त हुआ।

इस संधि के अनुसार गुलाब सिंह काश्मीर का राजा बनाया गया था। पर इस बात को कोई पसन्द नहीं करता था। उसके विरुद्ध काश्मीर में विद्रोह हो गया और उसे गद्दी पर बैठाने के लिए अंग्रेजी सेना भेजनी पड़ी। इस विद्रोह में रानी का हाथ बताया गया। अतः उसे हटा कर पंजाब को अंग्रेजों ने अपने हाथ में ले लिया। अंग्रेजों के पक्षपाती सिक्ख सरदारों की एक कौंसिल की सहायता से पंजाब का शासन होने लगा। यह व्यवस्था दिलीप सिंह के बालिग होने तक के लिए की गयी।

द्वितीय युद्ध की तैयारी—सिक्ख अंग्रेजों की इस कड़ी साम्राज्य-वादी नीति से बहुत चिढ़े थे। अंग्रेजी सेना के आने से अनेक सिक्ख सेना से निकाल दिये गये। कुछ का वेतन घटा दिया गया। अन्त में रानी झिण्डन को चुनार निर्वासित कर दिया गया। इससे सारा पंजाब क्षुब्ध हो उठा।

सन् १८४८ ई० में मुलतान के गवर्नर का मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका लड़का मूलराज गवर्नर हुआ। मूलराज से पूर्व पद्धति के अनुसार अँग्रेजों ने लाहौर दरबार की ओर से २० लाख रुपये एवं एक तिहाई राज्य की माँग की। इसके अतिरिक्त अँग्रेजों ने उसके दरबार में एक रेजिडेंट और कुछ अँग्रेज कर्मचारियों को भी वहाँ भेजा। मूलराज ने क्रुद्ध होकर उन्हें मार डाला। इस बात की सूचना मिलते ही अंग्रेजों ने एक बड़ी सेना मुलतान भेज दी। अब युद्ध अनिवार्य हो गया। पंजाब के अन्य असन्तुष्ट सरदार मूलराज की ओर आ गये।

द्वितीय युद्ध—(सन् १८४८ ई०) लार्ड डलहौजी ने बड़ी तैयारी के साथ सन् १८४८ में पंजाब पर आक्रमण करने का आदेश दिया। अँग्रेजों ने कूटनीति से भी काम लिया। उन्होंने जाली पत्रों द्वारा मूलराज और उसके सहायकों में मतभेद और शत्रुता पैदा कर दी। इसके बाद अँग्रेजी सेना ने रावी नदी को पार किया। रामनगर में पहला युद्ध हुआ, पर युद्ध अनिर्णीत रहा। अचानक मूलराज के तोपखाने में आग लग गयी और उसका तोपखाना नष्ट हो गया। मूलराज को आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसके बाद चिलियाँ वाला स्थान पर दूसरे युद्ध में अँग्रेजों को पीछे हटना पड़ा, पर मुलतान के निकल जाने से और मूलराज के आत्मसमर्पण करने से सिक्खों की दशा नाजुक हो चली थी। पर फिर भी गुजरात के पास भयानक युद्ध हुआ। सिक्ख पराजित हुए और उन्हें हताश होकर हार माननी पड़ी। सन् १८४९ ई० में डलहौजी ने पंजाब को अँग्रेजी राज्य में मिला लेने की घोषणा की।

दिलीपसिंह को राजच्युत कर ५० हजार पौण्ड की वार्षिक पेंशन दी गयी। कुछ दिनों बाद वह इंगलैण्ड चला गया और ईसाई धर्म स्वीकार कर वहीं रहने लगा। मूलराज पर अँग्रेजों की हत्या का आरोप लगा उसे प्राण दण्ड दिया गया। इस प्रकार पंजाब अँग्रेजी राज्य का एक अंग बन गया। स्मरण रहे कि काश्मीर पहले ही अँग्रेजों को मिल चुका था और उन्होंने उसे एक

मित्र गुलाबसिंह को वहाँ का राजा बनाया था। गुलाब सब प्रकार से अँग्रेजों की मातहती में था। केवल नाम मात्र के लिये वह काश्मीर का राजा था और उसकी सत्ता का आधार अँग्रेजों की मदद थी।

अँग्रेजी राज्य अपनी चरम सीमा पर—इस समय तक कम्पनी के राज्य का पूर्ण विस्तार हो चुका था। इसके बाद भारत का कोई भाग ऐसा नहीं था जहाँ अँग्रेजों की तूती न बोलती हो। कुछ बचे खुचे छोटे और कमजोर राज्यों को डलहौजी ने अपने राज्य हड़पने की नीति (Doctrine of Lapse) से अँग्रेजी सत्ता के अधीन कर कम्पनी के राज्य में मिला लिया। उसने यह आदेश दिया कि कोई भी देशी नरेश कम्पनी के अनुमति के बिना अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं कर सकता है और अँग्रेजी सरकार की आज्ञा के बिना किसी को गोद लेने का अधिकार नहीं होगा। इसी नीति का सहारा लेकर सतारा, झाँसी, नागपुर, अवध तथा अन्य कतिपय छोटे-छोटे राज्यों को डलहौजी ने अँग्रेजी राज्य में मिला लिया। साम्राज्य की वृद्धि का यह एक बहाना मात्र था। उसने कर्नाटक और तंजौर के राजाओं की उपाधियाँ छीन लीं। उसने पेशवा को मिलने वाली पेंशन बन्द कर दी। निजाम से ऋण के चुकता के रूप में बरार ले लिया। इस प्रकार डलहौजी के शासन-काल तक कम्पनी के साम्राज्य की सीमा पूर्ण हो चुकी थी। कन्याकुमारी से हिमालय तक, पंजाब से आसाम तक पूरा देश अँग्रेजी प्रभुत्व में आ गया था। भारत में अँग्रेजी साम्राज्यवाद की नीति पूरी तरह सफल होकर चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। अँग्रेजों की प्रभुता इस समय अविच्छिन्न और अविभाजित थी। उसकी सत्ता सार्वभौम थी और पूरे देश में उनका शासन स्थापित हो गया। सन् १६०८ ई० में विलियम हाकिन्स जहाँगीर के दरबार में व्यापार करने की याचना करने आया था। सन् १७५७ ई० में प्लासी का युद्ध हुआ और याचना करने वाले व्यापारियों ने अब अँग्रेजी साम्राज्य की नींव दृढ़ता से रख दी। सन् १८५७ ई० तक अर्थात् १०० वर्षों में भारत में अँग्रेजों के साम्राज्य की वह नींव एक पक्की और विशाल इमारत के रूप में खड़ी हो गयी। विदेशियों की पक्की कूटनीति और सफल सैनिक संगठन ने भारतीयों की फूट, अदूरदर्शिता तथा स्वार्थपरता पर अट्टहास किया और उन्हें अपमान-जनक पराधीनता के पाश में बाँध दिया।

इकतालीसवाँ अध्याय

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शासन-व्यवस्था

प्रारम्भिक व्यवस्था—प्रारम्भ में कम्पनी का काम व्यापार करना था। कुछ दिनों तक व्यापार के अतिरिक्त कम्पनी के कर्मचारियों का उद्देश्य और कुछ नहीं रहा। पर भारत की तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था और पारस्परिक विद्वेष की नीति से उन्हें शक्ति-संचय का प्रलोभन हुआ। उस समय की अराजकता में शक्ति-संचय, आत्म-रक्षा तथा व्यापार की सुविधा के लिए भी जरूरी था। पर कुछ ही दिनों में कम्पनी की नीति और उद्देश्य में परिवर्तन होने लगा। अंग्रेजों ने देशी राजाओं के आपसी झगड़ों में भाग लेना शुरू किया। इससे उन्हें लाभ हुआ। व्यापारिक सुविधा के साथ उन्हें राजनीतिक शक्ति और भारत की जमीन पर अधिकार प्राप्त करने का मौका मिला। इसके बाद सन् १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध से यह बात निश्चित हो गयी कि अब कम्पनी एक व्यापारिक संस्था नहीं रह गयी है, बल्कि उसके हाथ में राजनैतिक शक्ति भी धीरे-धीरे आती जा रही है। काल-क्रम के साथ बंगाल, मद्रास और बम्बई का अधिकांश भाग कम्पनी के अधिकार में आ गया। कम्पनी के डायरेक्टरों ने प्रत्येक प्रान्त के लिए एक-एक गवर्नर नियुक्त किया। प्रत्येक गवर्नर अपने अपने क्षेत्र में सर्वोच्च प्रशासक होता था और उनका सम्बन्ध सीधा कम्पनी के डायरेक्टरों से रहता था। प्रत्येक प्रान्त का शासन गवर्नर करता था। प्रशासन सम्बन्धी अधिक काम उस समय तक बंगाल में ही था, क्योंकि वहाँ सन् १७६५ ई० में इलाहाबाद की सन्धि के अनुसार कम्पनी को बंगाल बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी मिल गयी थी। शासन का शेष काम बंगाल के नवाब के हाथ में था। यह द्वैध शासन कुछ दिनों तक चलता रहा। सन् १७७२ तक कम्पनी के शासन की रूप रेखा ऐसी ही रही।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट (सन् १७७३ ई०)—कम्पनी की शक्ति और जिम्मेदारी बढ़ जाने से अब तक की व्यवस्था अनुकूल नहीं रह गयी। अब परिस्थितियाँ जटिल हो गयी थीं और कार्य अत्यधिक बढ़ गया। कम्पनी की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। राजनीतिक काम व्यापारिक काम से अधिक हो गये थे। अतः उस स्थिति की जाँच करने के लिए इंगलैण्ड की संसद ने एक समिति बनायी जिसकी सिफारशों के आधार पर इंगलैण्ड की पार्ल्यामेन्ट ने सन् १७७३ ई० में एक ऐक्ट स्वीकृत किया जो रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ऐक्ट के अनुसार कम्पनी का प्रशासकीय ढाँचा बदल गया और कम्पनी के कार्यों में इंगलैण्ड को सरकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार सिद्ध हो गया। इसके अनुसार निम्नलिखित विशेष परिवर्तन हुए—

(१) भारत में बंगाल का गवर्नर अब गवर्नर जनरल बना दिया गया।

(२) उसके कार्यकाल की अवधि ५ वर्ष रक्खी गयी।

(३) बम्बई और मद्रास के गवर्नर उसके आधीन रक्खे गये। वे गवर्नर-जनरल की राय के बिना युद्ध या संधि नहीं कर सकते थे।

(४) गवर्नर जनरल को राय देने के लिए चार सदस्यों की एक कौंसिल बनाई गयी।

(५) गवर्ननर जनरल का वेतन निश्चित कर दिया गया।

(६) कम्पनी के संचालकों के लिए राजनीतिक और सैनिक प्रशासन की सूचना सेक्रेटरी आफ स्टेट को देना आवश्यक हो गया।

(७) इस ऐक्ट के द्वारा एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना हुई और उसका स्थान कलकत्ता निश्चित हुआ।

(८) कम्पनी के कर्मचारियों को बिना लाइसेन्स लिए निजी व्यापार करने की मनाही हो गयी।

यह सच है कि इस ऐक्ट में अनेक दोष थे और उनसे शासन में कठिनाइं उपस्थित हुईं, पर यह भी निर्विवाद है कि यही ऐक्ट ब्रिटिश भारत की शासन व्यवस्था का मूलाधार था। इसी ऐक्ट के सुधारों को आधार मान कर इंगलैंड की संसद द्वारा कम्पनी के लिए प्रशासकीय नियम भविष्य में बनाये गये।

इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड की सरकार ने इसी समय यह भी तय कर दिया कि इसके बाद प्रत्येक २० वर्ष पर संसद् कम्पनी के कामों की जाँच करेगी और कम्पनी को प्रशासन के विषय में उचित आदेश देगी। इसी नियम के अनुसार सन् १७६३ ई० में इंगलैण्ड की संसद की ओर से कम्पनी को नया आज्ञा-पत्र मिला। इस आज्ञा-पत्र में पूर्ववत व्यवस्था बनी रही। सन् १८१३ ई० में भी पुनः कम्पनी को नया आज्ञा-पत्र मिला। इसके द्वारा कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन इस प्रकार हुए।

(१) इसके अनुसार बंगाल का गवर्नर समस्त ब्रिटिश भारत का गवर्नर-जनरल हो गया।

(२) गवर्नर जनरल की कौंसिल में एक न्याय-सदस्य भी होगा।

(३) कम्पनी से भारतीय व्यापार का एकाधिकार छीन लिया गया।

(४) कम्पनी को आदेश दिया गया कि वह प्रति वर्ष १ लाख रुपया भारतीयों की शिक्षा के लिए अवश्य खर्च करे।

सन् १८३३ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार गवर्नर-जनरल से अपनी कौंसिल की सहायता से सम्पूर्ण भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार मिल गया। गवर्नर जनरल की कौंसिल में न्याय के एक मेम्बर का स्थान स्थायी बना दिया गया। इस आज्ञा-पत्र में, कम्पनी को यह आदेश दिया गया कि कम्पनी अपने अधीन किसी पद की नियुक्ति में योग्यता का ध्यान रक्खे, जाति और धर्म आदि के आधार पर सरकारी नौकरियाँ न दी जाँय।

कम्पनी के शासन-काल में अन्तिम आज्ञा-पत्र १८५३ ई० में प्राप्त हुआ। इस आज्ञा-पत्र द्वारा इंगलैंड की पार्ल्यामेण्ट ने कम्पनी के अनेक अधिकारों को अपने हाथ में ले लिया। अब कम्पनी से व्यापार करने का अधिकार छीन गया। उसके डारेक्टरों में से ६ की नियुक्ति इंगलैण्ड के सम्राट द्वारा होने लगी। भारत में उच्च पदों पर काम करने के लिए चुने जाने वाले व्यक्तियों के लिए परीक्षा की व्यवस्था की गयी। इस आज्ञा-पत्र के अनुसार गवर्नर-जनरल का एक पृथक पद बनाया गया और इसके बाद बंगाल के गवर्नर का पद भी पृथक कर दिया गया।

कम्पनी के शासन-काल में प्रशासकीय तथा अन्य सुधारों की प्रगति

शासन सम्बन्धी सुधारों का क्रम क्लाइव के समय से प्रारम्भ होता है। पर उसके अधिकांश सुधार कम्पनी के कर्मचारियों के दोषों को दूर करने तक ही सीमित रहे। उसने घूस लेने की प्रथा को रोकने के लिए कर्मचारियों का वेतन बढ़ाया, उन्हें बहुमूल्य भेंट स्वीकार करने की मनाही की गयी और उनकी आमदनी बढ़ाने के लिए उन्हें नमक के व्यापार का ठेका दिला दिया। सिपाहियों का दोहरा भत्ता बन्द करा दिया। पर ये सब सुधार शासक वर्ग के लिए थे। जनता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। वास्तविक सुधारों का सिलसिला वारेन हेस्टिंग्ज के शासन-काल से शुरू हुआ।

वारेन हेस्टिंग्ज के सुधार—सर्व प्रथम हेस्टिंग्ज का ध्यान बंगाल-बिहार-उड़ीसा के द्वैध-शासन की ओर गया जिससे जनता को बहुत असुविधाएँ उठानी पड़ती थी और सूबे में सर्वत्र अराजकता फैली थी। अतः हेस्टिंग्ज ने इलाहाबाद की सन्धि के आधार पर चलने वाली दोहरी-शासन-प्रणाली का अन्तकर दिया और शासन के सब कार्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। दीवानी के काम के लिए उसे कलकत्ता में एक रेवेन्यू बोर्ड स्थापित किया। जिलों में अंग्रेज कलक्टर नियुक्त किये गये। हेस्टिंग्ज ने प्रत्येक जिले में दीवानी और फौजदारी के पृथक-पृथक न्यायलय स्थापित किये। कलकत्ता में सदर अदालत दीवानी और फौजदारी के मुकदमों के लिए पृथक-पृथक स्थापित हुईं। नीचे की अदालतों से मुकदमों की अपील उच्च न्यायलयों में जाती थीं। प्रत्येक अदालत में जजों का पद वैतनिक बना दिया गया ताकि वे आसानी से प्रलोभनों के शिकार न हो सकें। पुलिस के प्रबन्ध को ठीक करने की कोशिश की गयी।

व्यापार की उन्नति के लिए भी अनेक सुधार किये गये। बंगाल में स्वतंत्र व्यापार की प्रथा चलायी गयी। टैक्स की व्यवस्था दूर की गयी और समान टैक्स लगाने का नियम बनाया गया। व्यापार के लिए सब को समान सुविधा प्रदान की गयी। मालगुजारी के सम्बन्ध में भी उस समय अनेक सुधार किये गये। भूमि जमींदारों को ५ वर्ष के लिए दी गयी। कलक्टरों को जमींदारों से

भेंट लेने की मनाही कर दी गयी। किसानों को पट्टे देने की व्यवस्था की गयी जिसमें उनकी जमीन और पैदावार तथा लगान का उल्लेख रहता था। अपराधियों का पता लगाने के लिए प्रत्येक जिले में फौजदार नियुक्त किये गये।

कार्नवालिस के सुधार—सन् १७८६ से १७९३ ई० तक कार्नवालिस भारत का गवर्नर जनरल रहा। उसके शासन काल में अनेक प्रकार के शासन सम्बन्धी सुधार हुए।

कार्नवालिस ने भ्रष्टाचार रोकने के लिए कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा चलने वाला निजी व्यापार रोक दिया। कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया। भारतीयों के स्थान पर सभी उच्च पदों पर अंग्रेजों की नियुक्ति की गयी। कार्नवालिस की एक यह गलत धारणा थी कि भारतीयों की अपेक्षा अंग्रेज अधिक योग्य होते हैं। इस प्रकार उसके समय में इस देश के लोगों के लिए कम्पनी में उच्च पदों पर एक प्रकार की रोक लग गयी।

अभी तक पुलिस का प्रबन्ध जमींदारों के हाथ में था। वे ही चोर-डाकुओं को पकड़ने का काम करते थे। कार्नवालिस ने यह काम पुलिस-विभाग को सुपुर्द किया। उसने बीस-बीस मील की दूरी पर थाने स्थापित करवाये और उसमें दारोगा की नियुक्ति की गयी। प्रत्येक गाँव में एक चौकीदार की व्यवस्था की गयी। जिले में पुलिस-विभाग का एक बड़ा अफसर रहने लगा।

न्याय-विभाग के सुधार के लिए भी अनेक परिवर्तन किये गये। जिलों की फौजदारी की अदालतें तोड़ दी गयी और उनके स्थान पर चार प्रान्तीय अदालतों की स्थापना हुई। जजों को समय-समय पर अपने जिले में दौरा करने की व्यवस्था की गयी। जिले में मजिस्ट्रेटों को फौजदारी के मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया। जिलों की दीवानी अदालतों में पंडित तथा मौलवी रखने की व्यवस्था की गयी। अपील की अदालतें ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना और कलकत्ता में स्थापित हुई। सर्वोच्च अपील प्रिवी कौंसिल में होती थी। अपीलीय अदालतों में तीन अंग्रेज जज रखने की व्यवस्था की गयी।

इस्तमरारी बन्दोबस्त—बहुत दिनों से राजनीतिक अव्यवस्था के कारण किसानों क बहुत कष्ट था। उनकी दुर्दशा हो रही थी। अतः कार्नवालिस का ध्यान इस ओर गया। इस सम्बन्ध में बहुत वाद-विवाद और छान-

बीन के बाद एक निश्चित योजना तैयार हुई और उसी के अनुसार कार्न-वालिस ने काम किया। उस योजना को इस्तमरारी बन्दोबस्त कहते हैं। इसके अनुसार एक निश्चित लगान पर जमीन सदा के लिए जमींदारों को दे दी गयी। जमींदार एक नियत रकम किसानों से वसूल करते थे और उसका एक निश्चित भाग कम्पनी को दे देते थे।

इस प्रकार के प्रबन्ध से किसानों को जमीन पर सदा के लिए अधिकार हो गया और वे समझ गये कि उन्हें कितनी रकम लगान के रूप में प्रति वर्ष जमींदार को देनी है। जमीन के विषय में उनकी अनिश्चितता समाप्त हो गयी और वे खेती में विशेष रुचि लेने लगे। इससे पैदावार भी बढ़ गयी। अब किसानों से मनमना लगान वसूल नहीं किया जा सकता था।

सरकार को भी इस प्रबन्ध से यह लाभ हुआ कि वह प्रत्येक वर्ष के बन्दो-बस्त के झंझट से बच गयी। पर साथ ही सरकार की आय में इससे कमी हो गयी और पुनः भविष्य में इस प्रकार की आय में वृद्धि की कोई गुंजायश नहीं रही।

इस्तमरारी बन्दोबस्त से समाज में एक नया वर्ग पैदा हो गया जो जमींदार कहलाया। यह वर्ग अब पुश्तैनी हो गया। बिना किसी प्रकार के विशेष परिश्रम के उन्हें अच्छी आमदनी होने लगी। इसीलिए वे विलासी जीवन के आदी हो गये। हाँ, यह वर्ग सरकार के लिए सदा सहायक के रूप में रहने लगा। इस प्रकार इस प्रबन्ध से सरकार को भारतीयों का एक राजभक्त वर्ग मिल गया जो उसकी मदद के लिए हर दशा में तैयार रहता था। अंग्रेजी शासन को दृढ़ता प्रदान करने में इस वर्ग ने बहुत योग दिया है। वास्तव में इस प्रबन्ध से सब से अधिक लाभ जमींदार वर्ग को ही हुआ। आज तक बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में कार्नवालिस द्वारा चलाये हुए इस्तमरारी बन्दोबस्त के अनुसार ही लगान की व्यवस्था चलती है। जमींदार-वर्ग की समाप्ति तो अभी हाल ही में हुई है, पर अन्य सब बातें उसी पद्धति पर चल रही हैं। उनमें अभी तक कोई आमूल परिवर्तन नहीं हो सका है।

लार्ड बैंटिङ्क के सुधार—कार्नवालिस के बाद सन् १८२८ ई० तक अंग्रेजों को साम्राज्य-प्रसार के लिए निरन्तर युद्ध में लगा रहना पड़ा। उन्हें सुधार-

सम्बन्धी कार्यों की न चिन्ता रहती थी और न अवकाश मिलता था कि वे सुधार की बात सोच सकें। अतः एक लम्बे अरसे तक सुधार की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। सन् १८२८ ई० में जब लार्ड विलियम बेंटिङ्क भारत का गवर्नर जनरल होकर आया तो उसके समय में पुनः अनेक प्रकार के सुधार सम्बन्धी काम हाथ में लिये गये। उसे इन कामों में विशेष रुचि भी थी। मोटे तौर पर बेंटिङ्क के सुधारों को तीन श्रेणियों में रक्खा जा सकता है—शासन सम्बन्धी सुधार, आर्थिक सुधार और सामाजिक सुधार।

शासन सम्बन्धी सुधार—लार्ड बेंटिङ्क ने उच्च नौकरियों का दरवाजा भारतीयों के लिए खोल दिया क्योंकि ऐसा न करने से इस देश के बड़े लोगों में असन्तोष फैला हुआ था। चूँकि अब तक साम्राज्य का विस्तार भी बढ़ गया था अतः अब अधिक आदमियों की सेवा की आवश्यकता हो रही थी। इस विचार से भी भारतीयों की उच्च पदों पर नियुक्ति उपयोगी हुई क्योंकि उन्हीं पदों पर अंग्रेजों को अधिक पैसा वेतन के रूप में देना पड़ता था। अब अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार भी शुरू हो गया था, अतः उपयुक्त आदमियों का मिलना सम्भव हो चला था। बेंटिङ्क ने बंगाल में जजों के पद पर भारतीयों को नियुक्त किया।

न्याय-विभाग का पुनः संगठन हुआ। न्याय के काम में विलम्ब, अपव्यय और अनिश्चितता के दोष थे। अतः दौरा-जज का पद तोड़ दिया गया। अपील की प्रान्तीय अदालतें भी भंग कर दी गयीं। दीवानी अदालतों का काम सदर अदालत और दौरा-जज का काम कमिश्नरों की अदालत को सौंप दिया गया। कमिश्नरों का काम सन्तोष-जनक नहीं सिद्ध हुआ अतः कुछ दिनों के बाद पुनः जिला जज की अदालतों की व्यवस्था करनी पड़ी।

बेंटिङ्क ने इलाहाबाद में एक बोर्ड आफ रेवेन्यू का दफ्तर खोला। यहाँ कमिश्नरियाँ स्थापित की गयीं। अदालतों में फारसी के स्थान उर्दू का प्रयोग होने लगा।

आर्थिक सुधार—कम्पनी की आर्थिक दशा सुधारने के लिये बेंटिङ्क ने कई अनावश्यक पदों को समाप्त कर दिया। कुछ ऊँचे पदों पर काम करने वालों के वेतन में कमी की गयी। अफीम के व्यापार का नियंत्रण इस प्रकार किया गया कि उससे आमदनी में वृद्धि हो जाय। बहुत सी पुरानी जागीरें जिनका

प्रमाण-पत्र नहीं था, कम्पनी ने अपने अधिकार में कर लिया। इससे कम्पनी की आय ३० लाख बढ़ गयी। आगरा और अवध की सब भूमि की पैमायश करायी गयी और पैदावार के आधार पर ३० वर्षीय बन्दोबस्त जारी किया गया। इससे कम्पनी की आय निश्चित हो गयी। पर किसानों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

अन्य सुधार—बैंटिङ्क पहला गवर्नर जनरल था जिसने भारतीयों की शिक्षा और समाज के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। शिक्षा के लिए १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र में कम्पनी को यह आदेश प्राप्त हुआ था कि कम्पनी अपनी आय से १ लाख रुपया प्रतिवर्ष भारतीयों की शिक्षा पर व्यय करे। अभी तक उस रुपये का कोई उपयोग नहीं हो सका था। इस समय तक इस देश में अनेक कालेज स्थापित हो चुके थे। सन् १८१६ ई० में कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई थी। श्रीरामपुर में भी एक कालेज खुल गया गया था। दक्षिण भारत में भी अनेक शिक्षा-संस्थाएँ काम कर रही थीं। पर अभी तक शिक्षा के माध्यम और पाठ्य-विषय के प्रश्न पर बड़ा मतभेद था। सब लोग अपनी-अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार काम करते थे। अतः बैंटिङ्क ने शिक्षा को व्यवस्थित करने और उसे एक निश्चित साँचे में ढालने के निमित्त रिपोर्ट तैयार करने के लिए लार्ड मैकाले को यह काम सौंपा। बहुत वाद-विवाद और छान बीन के बाद यह तय हुआ कि भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो। इस प्रकार की सिफारिश करते समय लार्ड मैकाले ने सर्वप्रथम शासकों की सुविधा को ध्यान में रक्खा था। अंग्रेजी साम्राज्य को कायम रखने के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रचार आवश्यक समझा गया। उसका विचार था कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षित युवक रंग और आकृति में भारतीय होगा पर मस्तिष्क, सभ्यता और संस्कृति में वह पूरा अंग्रेज हो जायगा। अस्तु, मैकाले के प्रयत्नों के फल-स्वरूप ७ मार्च सन् १८३५ ई० को यह निश्चित हुआ कि शिक्षा के लिए कम्पनी जो धन एकत्रित करती है, उसे केवल अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षा पर व्यय किया जाय। इस प्रकार बैंटिङ्क के समय में शिक्षा-विषयक जो निर्णय हुआ उसका प्रभाव भारतीयों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हुआ और भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन, बोलचाल, खान-पान को यूरोपीय

प्रभाव में ले जाने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इस तिथि के बाद की भारतीय विचार-पद्धति और सभ्यता को प्रभावित करने में इस निर्णय का सबसे अधिक हाथ रहा। सन् १८३५ ई० में कलकत्ता में एक मेडिकल कालेज की स्थापना हुई। इससे इस देश में पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली का सूत्रपात हुआ।

अब तक अंग्रेजों ने भारतीयों के सामाजिक जीवन में बहुत कम हस्तक्षेप किया था। पर बैंटिङ्क ने तत्कालीन सामाजिक बुराइयों की ओर ध्यान दिया। इसके लिए उसने प्रमुख भारतीयों से विचार-विनिमय किया और जन-मत को सुधार के पक्ष में करने का प्रयास किया गया। इसके बाद सन् १८२९ ई० में सती प्रथा को कानून द्वारा बन्द कर दिया गया। इस कानून के अनुसार सती होने में सहायता देना हत्या के अपराध के बराबर समझा गया। कट्टर हिन्दुओं ने इस कानून को धर्म के विरुद्ध बताया और उन्होंने प्रिवी कौंसिल तक इसके विरुद्ध अपील की। पर अपील खारिज हो गयी। इसके बाद कुछ अन्य सामाजिक कुरीतियाँ बन्द करायी गयीं। उड़ीसा के कुछ भाग में नर-बलि, देश के कुछ भागों में स्त्रियों का व्यापार और लड़कियों का वध होता था। बैंटिङ्क ने इन सब बुराइयों को बन्द करने के लिए कानून बनाया। गुलामी की प्रथा भी कानून द्वारा बन्द कर दी गयी।

मध्य भारत और राजपूताना के कुछ भागों में ठगों का बहुत प्रभाव था। उनका यह काम पुश्तैनी था। लोगों को रास्ते से बहका ले जाना और उनकी हत्या कर या मारपीट कर उनको लूट लेना इनका काम था। प्रायः वे साधु के वेश में घूमा करते थे। उनकी अपनी अलग भाषा थी और वे प्रायः संकेत से काम लेते थे। इनके अत्याचार से उन इलाकों में हाहाकर मचा हुआ था। बैंटिङ्क ने इन्हें दबाने के लिए एक पृथक विभाग खोला और फौज की सहायता से ठगों का पीछा कर उन्हें पकड़ा गया। उन्हें कैद या फाँसी की सजा दी गयी। शेष को शिक्षित बनाने के लिए स्कूल भी खोले गये। इस प्रकार इस प्रथा को बन्द कर बैंटिङ्क ने बड़ा उपकार किया और लोगों को बहुत सन्तोष हुआ।

इन सुधारों के कारण बैंटिङ्क का स्थान अंग्रेज शासकों में बहुत ऊँचा माना जाता है। जनता के सुख और हित की बात उसके लिए सबसे अधिक

महत्व रखती थी। उसने हर क्षेत्र में सुधार करने की कोशिश की। सामाजिक बुराइयों को दूर कर उसने यहाँ के लोगों का बड़ा उपकार किया। उसी के समय में गंगा में जहाज चलाने की योजना शुरू हुई थी। वह पहला गवर्नर जनरल था जिसने भारतीयों के कल्याण की ओर ध्यान दिया। उसके शासनकाल की शिक्षा-योजना ने आगे आने वाली पीढ़ियों को अत्यधिक प्रभावित किया और आज भी उसका प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में स्पष्ट दीख पड़ता है।

डलहौजी के सुधार—कम्पनी के शासन-काल में शासन-सम्बन्धी सुधार का काम डलहौजी ने भी तत्परता के साथ किया पर उसके सुधारों का मुख्य उद्देश्य केन्द्रीय शासन को शक्तिशाली बनाना था। अतः शासन के सम्पूर्ण अधिकारों को उसने गवर्नर-जनरल के हाथ में केन्द्रित कर दिया। जिला अधिकारियों के हाथ में न्याय, व्यवस्था, पुलिस तथा लगान आदि का प्रबन्ध आ गया। इस प्रकार जिला-अधिकारियों का महत्व अधिक हो गया और उनके अधिकार बहुत बढ़ गये।

डलहौजी के समय में तार और डाक की व्यवस्था नये ढंग से हुई। उसी के समय में रेलवे और तार का प्रबन्ध शुरू हुआ। इससे कालान्तर में देश को बहुत लाभ हुआ। यातायात और सेना-संचार के काम में बहुत सुविधा हो गयी। स्वतंत्र व्यापार की नीति का अवलम्बन कर उसने भारत के सब समुद्री बन्दरगाहों को सब के लिए खोल दिया। इससे अंग्रेजों की स्थिति दृढ़ हो गयी क्योंकि उनकी समुद्री शक्ति अच्छी थी और उनके पास अधिक जहाज थे। भारत का सब समुद्री व्यापार अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

डाक व्यवस्था के सुधार की ओर भी डलहौजी ने ध्यान दिया। पूरे देश में डाक की दर समान कर दी गयी। पत्रों पर टिकट लगाने की प्रथा चालू हुई। इसके पूर्व डाक खाने में कर्मचारियों को पत्र भेजने के लिए जनता नकद पैसा देती थी। इससे कर्मचारी प्रायः अधिक पैसा ले लिया करते थे। डाक की आधुनिक व्यवस्था का प्रारम्भ इसी समय से हुआ। सारे देश में पत्र भेजने के लिए ½ तोला पर दो पैसे की दर निश्चित की गयी और इस रकम को टिकट के रूप में देने का नियम बना।

शिक्षा के क्षेत्र में डलहौजी ने अनेक सुधार किये। शिक्षा- विभाग के सुधार और उसकी व्यवस्था के लिए सन् १८५७ ई० में एक ऐक्ट पास हुआ, उसी समय बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विश्व विद्यालय खोले गये। प्रारम्भिक शिक्षा देशी भाषाओं में दी जाने लगी।

सैनिक संगठन में भी अनेक सुधार किये गये। अभी तक सेना का केन्द्र कलकत्ता था। पर अब सम्पूर्ण देश में साम्राज्य का विस्तार हो गया था। अतः कलकत्ता से तोपखाना हटाकर मेरठ में रख दिया गया। वहाँ एक बड़ी छावन खोली गयी। उसने देश में स्थान-स्थान पर अंग्रेजी सेना की टुकड़ियाँ रख दी। देशी सैनिकों की संख्या घटा कर उसने अंग्रेजी सैनिकों की संख्या बढ़ा दी क्योंकि डलहौजी को देशी सेना पर अधिक विश्वास नहीं था।

डलहौजी के समय में एक नया विभाग खोला गया। निर्माण कार्य के लिए उसने पब्लिक वर्क्स डिपार्ट मेण्ट खोला और इस विभाग में एक चीफ इंजिनियर और अन्य कतिपय पदाधिकारी नियुक्त किये गये।

इस प्रकार डलहौजी का शासन-काल अन्य बातों के साथ-साथ सुधारों के लिए भी प्रसिद्ध हुआ। यह बात सच है कि सुधारों के पीछे उसकी साम्राज्यवादी नीति काम कर रही थी, पर उनके कुछ सुधारों से देश को लाभ हुआ। कम्पनी के शासन काल में सुधार का यह अन्तिम प्रयास था क्योंकि इसके बाद कम्पनी का अस्तित्व ही समाप्त हो गया और भारत का शासन सन् १८५८ से अंग्रेजी सरकार के हाथ में आ गया।

बयालीसवाँ परिच्छेद

सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति

भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति का प्रथम प्रयास

लगभग सौ वर्ष के प्रयास के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत में अपनी पूर्ण प्रभुता स्थापित करने में सफलता मिली थी। सन् १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध के बाद भारत में अँग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी। पर १८५७ ई० में उस साम्राज्य के मूलोच्छेदन करने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास हुआ। यह प्रयास हिंसात्मक और सैनिक-प्रधान था। इस प्रकार की ज्वाला के पीछे सैकड़ों वर्षों की छिपी वेदना, शोषण, अनैतिक अत्याचार और स्वतन्त्रता-अपहरण की दुखद स्मृतियाँ काम कर रही थीं। धीरे-धीरे आग सुलगती रही और समय पाकर सन् १८५७ ई० में वह एक विस्फोटक के रूप में प्रज्वलित हो उठी। वास्तव में इस विस्फोटक के पीछे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक एवं सैनिक कारण थे जो धीरे-धीरे इकट्ठे हो रहे थे।

राजनीतिक कारण—मुगल सम्राट की शक्ति कम होने पर भी भारत के सूबेदार, नवाब और अँग्रेज बहुत दिनों तक मुगल सम्राट को ही अपना स्वामी मानते रहे और उसे सब प्रकार से आदर सत्कार करते थे। सन् १८३५ ई० तक कम्पनी के सिक्कों में सम्राट शाह आलम का ही नाम ढलता था। गवर्नर जनरल भी सम्राट को अदब के साथ झुककर सलाम करता था और उसकी प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखता था। पर जब कम्पनी की सैनिक स्थिति बहुत दृढ़ हो गयी तो सम्राट को भेंट देने और आदर करने की प्रथा बन्द कर दी गई। सन् १८३५ ई० में कम्पनी के सिक्कों से मुगल सम्राट का नाम हटा दिया गया। इस प्रकार के कार्यों से भारतीय जनता असन्तुष्ट हुई क्योंकि इसे वह अपने बादशाह के प्रति अनादर और अवहेलना का प्रतीक समझती थी।

इसी प्रकार का दुर्व्यवहार अवध के नवाब, झाँसी की रानी और अन्य

भारतीय नरेशों के साथ कम्पनी की ओर से किया गया। पेशवा के साथ भी ऐसा ही दुर्व्यवहार हुआ और लार्ड डलहौजी ने अनेक निर्दोष और निरीह देशी राजाओं को अकारण तंग किया, अपमानित किया और उनके उचित अधिकारों से उन्हें वंचित किया। कम्पनी ने अपनी शक्तिशाली सेना के बल पर सब देशी राज्यों को ध्वस्त कर दिया और उसके साथ-साथ अपने स्वार्थ-साधन के लिए ओछी और नीची कूट नीति का सहारा लिया। इस प्रकार देश का राजनीतिक वातावरण असन्तोष से भरा हुआ था। सब अपने चिर-संचित अपमानों का बदला लेने की ताक में बैठे थे। उनकी गुलामी की व्यथा अवसर पाकर भीषण प्रतिशोध का रूप धारण करना चाहती थी। सभी राज्य-च्युत राजा और नवाब इस प्रतिशोध को मूर्त रूप देने के लिए तैयार बैठे थे।

आर्थिक कारण—अँग्रेजों को भारत-विजय के लिए लगातार एक सदी तक देश के विभिन्न भागों में देशी नरेशों से युद्ध करना पड़ा था। इन युद्धों के कारण देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ चुकी थी, उद्योग-धन्धे नष्ट हो चुके थे और लोग तबाह हो गये थे। अँग्रेजों की व्यापारिक नीति भी इस देश के लिए घातक थी। देश के समस्त आर्थिक साधनों पर उनका अधिकार हो गया था और भारतीयों को अंग्रेजों का मुँह ताकना पड़ता था। कम्पनी के शासकों के समक्ष इंगलैंड का लाभ सर्वोपरि था, अतः देश की आर्थिक स्थिति दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति से वहाँ अनेक कल-कारखानें स्थापित हो गये थे और उनके लिए भारत का शोषण किया जा रहा था। भारत से कच्चा माल मनमाने मूल्य पर इंलैण्ड भेजा जाता था और वहाँ की बनी चीजें इस देश में उसी प्रकार लाभ के साथ बेंची जाती थी। इस दोहरी मार से देश की जनता सन्तप्त हो गयी और उनकी आर्थिक दशा अति शोच-नीय हो गयी। देश में अच्छी-अच्छी नौकरियाँ केवल अंग्रेजों को दी जाती थीं और भारतीय उससे वंचित रह जाते थे। पुराने जमींदारों तथा ताल्लुकेदारों की जमीन छीन गयी थीं, अतः वे भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे। इन कारणों से भारतीय जनता, जमींदार और पढ़े लिखे लोग अंग्रेजों से घृणा करने लगे थे और उनसे मुक्त होने का अवसर देख रहे थे।

सामाजिक और धार्मिक कारण— हिन्दू समाज के अधिकांश व्यक्ति

अपने प्राचीन नियमों और पुरानी धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था को आसानी से छोड़ना नहीं चाहते थे। इस सम्बन्ध में उनकी प्रकृति अनुदार है। अंग्रेजों ने अपने कतिपय सुधारों से प्राचीन व्यवस्था को मिटाना चाहा और उसके विरुद्ध काम किया। उन्होंने उत्तराधिकार, विवाह, सम्पत्ति, सती आदि की प्रथा को पाश्चात्य दृष्टिकोण से देखा और समय-समय पर उन्हें सुधारने का प्रयास किया। कहीं-कहीं पादरियों ने धर्म परिवर्तन पर भी जोर दिया। ईसाई धर्म के प्रचार के लिए कम्पनी ने सरकारी तौर पर सहायता दी। ईसाई पादरियों को कम्पनी की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी। धर्म परिवर्तन करने वालों को ऊँचे-ऊँचे सरकारी पद दिये गये। ईसाई पादरियों को स्वतन्त्रतापूर्वक घूम-घूम कर अपने धर्मप्रचार की सुविधा दी गयी। प्रायः वे पादरी भारतीय धर्मों के लिए अवांच्छित और अपमान जनक शब्दों का प्रयोग करते थे। ऐसी बातों को सुन कर हिन्दू जनता विक्षुब्ध हो जाती थी। गोद न लेने वाला डलहौजी के आदेश ने अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों को अंग्रेजों का कट्टर दुश्मन बना दिया। इससे हिन्दुओं की भावना को मर्माहत चोट पहुँची और वे इसे अपने धर्म पर आघात समझते थे। भारत के अति साधारण व्यक्ति से लेकर अमीर और राजा महाराजा तक इस प्रकार की बातों से समान रूप में प्रभावित होते थे और अंग्रेजों के विरुद्ध दोषारोपण करते थे। साधारण भारतवासी न किसी दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप करना चाहता है और न उसे यह पसन्द है कि कोई दूसरा उनके सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करे।

सैनिक कारण—समय-समय पर कम्पनी के संचालक भारत में अंग्रेजी सेना बढ़ाते जा रहे थे। इस समय तक इस देश में काफी अंग्रेज सैनिक हो गये। पर अंग्रेज और भारतीय सैनिक के वेतन, सुविधा और अधिकार में आकाश-पाताल का अन्तर था। पुनः अंग्रेज अफसर भारतीय सैनिकों को हेय दृष्टि से देखते थे और उनके साथ बराबरी का बर्ताव नहीं करते थे। बंगाल की सेना में अधिकांश उच्च जाति के सैनिक थे। वे अंग्रेजों की नीति और उद्दण्डता से चिढ़े हुए थे। बाहर राजनीतिक क्षेत्र में जो अनीति और अत्याचार हो रहे थे, उनकी चर्चा प्रायः नित्य सैनिकों में हुआ करती थी, अतः उनमें असन्तोष का वातावरण पैदा हो गया था। फिर देशी राज्यों में

अंग्रेजी प्रभुता स्थापित होने के बाद वहाँ से अधिकांश सैनिक सेवा-मुक्त कर दिये जाते थे। ऐसे सैनिक भी अंग्रेजों के कट्टर शत्रु बन जाते थे।

धीरे-धीरे अंग्रेजों के छल, कपट और अविश्वास की नीति से सैनिक भी अवगत हो गये। उन्होंने यह समझना शुरू कर दिया कि पैसे का लोभ दिखा कर अंग्रेजों से उनसे देश के प्रति विश्वासघात कराया है। क्रमशः अंग्रेजों ने देशी सैनिकों के स्थान पर गोरखों और सिक्खों की भर्ती शुरू कर दी, इससे भी देशी सैनिक असन्तुष्ट थे।

लार्ड कैनिङ्ग ने सेना के लिये यह आदेश दिया कि प्रत्येक सैनिक को वादा करना पड़ेगा कि वह जहाँ कहीं भी आदेश मिलेगा, बिना किसी शर्त और हिचकिचाहट के जायगा। इस प्रकार विदेश-यात्रा के लिए भी उन्हें बाध्य किया जा सकता है। इस प्रकार के आदेश से हिन्दुओं को निराशा हुई क्योंकि उस समय विदेश यात्रा का मतलब था जाति-बहिष्कार। सैनिकों ने इसे भी अपने धर्म के ऊपर आघात समझा। दूसरे आदेश के अनुसार प्रत्येक सैनिक को अपने पत्रों पर टिकट लगाने के लिए पैसा देना आवश्यक हो गया। इसके पूर्व उन्हें चिट्ठी के लिए पैसा नहीं देना पड़ता था। तीसरी आज्ञा से यह सूचित किया गया कि जो सैनिक विदेश में वास नहीं कर सकेगा, उसकी नौकरी समाप्त कर दी जायगी। इस प्रकार के आदेशों से सैनिक क्षुब्ध हो उठे।

ऐसे सन्तोष के वातावरण में सन् १८५३ के लगभग सेना में नये कारतूस का प्रयोग होने लगा जिसके इस्तेमाल में चर्बी की आवश्यकता होती थी। इससे सैनिकों की धार्मिक भावना को गहरी चोट पहुँची और वे बौखला उठे।

दमदम की घटना (सन् १८५७)—जनवरी सन् १८५७ को एक व्यक्ति ने दमदम छावनी के निकट एक ब्राह्मण सिपाही से पानी पीने के लिए उसका लोटा माँगा, सिपाही ने छूत-अछूत के भय से उसे लोटा देने से इनकार कर दिया। इस पर उस व्यक्ति ने ताना मारते हुए कहा कि अब ब्राह्मणों को अपनी जाति और पवित्रता पर गर्व करने की जरूरत नहीं है। शीघ्र ही सेना में गाय और सूअर की चर्बी वाले कारतूस दिये जाने वाले हैं। इस बात से वह ब्राह्मण सैनिक सन्न हो गया और बैरेक में जाकर इस बात की चर्चा की। थोड़ी

ही देर में छावनी भर में इस बात की चर्चा होने लगी। अंग्रेज अफसरों ने लाख समझाया, पर फल कुछ नहीं निकला। काम बिगड़ते देर नहीं लगती। अन्त में मंगल पाण्डेय नामक एक ब्राह्मण सैनिक ने उस व्यापक असन्तोष में दियासलाई लगा दी और सैनिकों ने देखते-देखते विद्रोह कर दिया।

क्रान्ति का संगठन और प्रसार—अंग्रेजों को अपनी शक्ति पर भरोसा था। अतः उन्होंने व्यापक असन्तोष की लहर को नहीं पहचाना। उल्टा उन्होंने विद्रोही सैनिकों को कठोर दण्ड देना शुरू किया। फरवरी सन् १८५७ ई० में बहरामपुर की सेना ने जब नये कारतूस का प्रयोग करने से इनकार कर दिया तो अंग्रेजों ने पूरी सेना को भंग कर देने का निश्चय किया २६ मार्च को मंगल पाण्डेय सैनिक ने अंग्रेजों की ज्यादती की ओर खुले परेड में अपने सैनिक भाइयों का ध्यान आकर्षित किया। अंग्रेज अफसर ने सैनिकों को उसे गिरफ्तार करने का आदेश दिया, पर सैनिकों ने उस आदेश को मानने से इनकार कर दिया। मंगल पाण्डेय ने क्षुब्ध होकर अपने मेजर को गोली से उड़ा दिया। उसने दूसरी गोली से दूसरे अफसर को जो उसकी ओर आ रहा था, मार डाला। अन्त में अंग्रेजी सेना बुलायी गयी और मंगल पाण्डेय घायल होने के बाद कैदी बना। वहाँ की भारतीय सेना भंग कर दी गयी। यह खबर चिनगारी की तरह सर्वत्र फैल गयी और अचानक लखनऊ, मेरठ, अम्बाला आदि स्थानों के भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया।

मेरठ में भी ऐसी ही घटना घटी। वहाँ के सैनिकों ने भी नये कारतूस का प्रयोग करना अस्वीकार कर दिया। इस कारण कैद कर उनका कोर्ट मार्शल हुआ और उन्हें कठोर दण्ड दिया गया। उन्हें अपमानित भी किया गया। इससे सैनिकों में प्रतिहिंसा की भावना प्रज्वलित हो उठी। जब कुछ सैनिक नगर में घूम रहे थे तो कुछ लोगों ने उनकी अकर्मण्यता पर ताना कसा। इससे वे और मर्माहत हो उठे। उन्होंने छावनी में जाकर सैनिकों को संगठित किया और कुछ ही देर के बाद 'दीन-दीन' तथा 'हरहर महादेव' के नारों से सारी छावनी गूँज उठी। मेरठ में विद्रोह भड़क उठा और अंग्रेजों का बध शुरू हो गया। क्रान्तिकारी अपने अपमान का बदला ले उसी समय दिल्ली की ओर चल पड़े। ११ मई को उन्होंने दिल्ली में प्रवेश किया। और

मुगल सम्राट बहादुरशाह को अपना नेता बनाया। दिल्ली पर क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया।

इस सिपाही विद्रोह के साथ-साथ उत्तरी भारत के राजनैतिक वायुमण्डल में भी अंग्रेजों को अपदस्थ करने का कार्यक्रम बन रहा था। सब में असन्तोष की भावना समान रूप से व्याप्त थी और सब इस स्थिति से लाभ उठाने का प्रयास कर रहे थे। बाजीराव पेशवा का दत्तक पुत्र नानासाहब अंग्रेजों की अकृतज्ञता से बहुत रुष्ट था। उसने क्रान्ति की एक योजना का संगठन शुरू किया। उसने अपने वकील अजीमुल्ला को सतारा भेजा। वह वहाँ से विदेश भी गया और उसने विदेशों में अंग्रेजों के विरूद्ध होने वाली क्रान्ति के पक्ष में जनमत तैयार करने की कोशिश की। यह तय हुआ था कि सशस्त्र क्रान्ति दिल्ली सम्राट बहादुरशाह के नाम से ३१ मई सन् १८५७ को शुरू की जायगी और भारत से अंग्रेजों को निकाल उसे सम्राट बनाया जायगा। इसके लिए नाना साहब ने मुगल सम्राट से भेंट की और उसे इस बात के लिए राजी कर लिया था। अवध के पदच्युत नवाब वाजिदअली शाह ने भी इस योजना का समर्थन किया। इनके दूत स्थान-स्थान पर वेश बदल कर घूम रहे थे और गंगा तथा कुरान की कसम दे सबसे इसमें सहयोग करने का वादा कराते थे। "इस प्रकार चारों ओर का वातावरण भारतीय स्वतंत्रता के आगामी संग्राम के उत्साह से भर गया। पर यह काम एक ऐसे विचित्र ढंग से हुआ कि अंग्रेजों के कान में इसकी भनक तक नहीं पड़ी।" ऐसे ही उत्तेजित वातावरण में बंगाल और मेरठ के सैनिकों ने विस्फोट किया और अभाग्यवश निश्चित तिथि के पूर्व ही क्रान्ति का दौरा शुरू हो गया। इससे क्रान्ति के संगठन करने वालों को बड़ी असुविधा और परेशानी हुई और उन्हें बहुत नुकसान उठाना पड़ा।

पर दावाग्नि के शुरू होने पर उसे रोकना असम्भव ही होता है। दिल्ली पर अधिकार होते ही क्रान्ति की चिनगारी तुरन्त व्यापक होने लगी। २४ मई तक अलीगढ़ इटावा, मैनपुरी और दिल्ली के समीपस्थ सब स्थानों में क्रान्ति की ज्वाला दहकने लगी।

अंग्रेज इस तेजी से बढ़ती क्रान्ति को देखकर चकरा गये। उन्होंने इधर-उधर से सैनिकों को एकत्रित करना शुरू किया। भारतीय सैनिकों से हथियार

छीन लिये गये। लार्ड कैनिंग ने कूटनीति से भी काम लेना शुरू किया। कुछ देशी राजाओं को प्रलोभन देकर उसने उन्हें अपनी ओर मिला लिया। ऐसे राज्यों में हैदराबाद, ग्वालियर, पटियाला, नाभा, झींद और बड़ौदा प्रमुख थे। पंजाब और नेपाल शान्त रहा और वहाँ से अंग्रेजों को मदद भी मिली। पर की लहर क्रान्ति इलाहाबाद, झाँसी, कानपुर, लखनऊ, बनारस तथा शाहाबाद (बिहार) आदि स्थानों पर फैल गयी। इन स्थानों पर अंग्रेजी सत्ता मिटती जान पड़ने लगी। पर अंग्रेजों ने साहस और धैर्य नहीं छोड़ा।

दिल्ली में अंग्रेजों ने पंजाबी सैनिकों को साथ लेकर बहादुरशाह के साथ युद्ध आरम्भ कर दिया। पर बूढ़ा बहादुरशाह कुछ दिनों के बाद ढीला पड़ने लगा। वास्तव में पंजाब के सिक्खों में सिक्ख-मुसलमान विद्वेष का भाव कूट-कूट कर भर दिया गया था अतः वे मुगल सम्राट के विरुद्ध जी-जान से लड़ रहे थे।

दिल्ली में अभी घेरा चल ही रहा था कि उसी समय जनरल नील ने बनारस को रौंद में डाला। उसकी बर्बरता से सब आतंकित हो उठे। गाँव के गाँव जला दिये गये। निरीह स्त्री-पुरुष को गोली का शिकार बनाया गया। नगर में लगातार तीन महीने तक शव ही शव दीख पड़ते थे।

बनारस के बाद नील इलाहाबाद आया। जून सन् १८५७ ई० में अंग्रेजी सेना ने नगर में प्रवेश किया। नगर के चौक में पेड़ों पर लटकाकर क्रान्तिकारियों का अन्त किया गया।

अब कानपुर की बारी आयी। वहाँ नाना साहब का अधिकार था। नाना साहब ने अंग्रेजी सेना को परास्त कर सेनापति व्हीलर को कैदी बनाया। जब अंग्रेज नाव में बैठकर गंगापार कर रहे थे तो कुछ भारतीय सैनिकों ने उन पर आक्रमण किया। इस दुर्घटना में अनेक अंग्रेज डूब गये या मारे गये। इस प्रकार जून के अन्त में कानपुर नाना साहब के अधिकार में आ गया। झाँसी की रानी ने नाना साहब की मदद की और वह स्वयं अंग्रेजों की कट्टर दुश्मन हो गयी।

अंग्रेजों के लिए उत्तरी भारत में सबसे बड़ा मोर्चा कानपुर ही था। इसके लिए एक योग्य सेनापति हैवलाक नाना साहब को परास्त करने के लिए विशेष

रूप से भेजा गया। उसकी सेना ने नगर में आतंक फैला दिया। झुण्ड के झुण्ड लोग फाँसी पर लटका दिये गये। अन्य स्थानों से भी सेना बुलवायी गयी। नवम्बर में हैवलाक की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर दूसरे जनरल कानपुर की ओर रवाना किये गये। इस समय ताँत्या टोपे नाना साहब की मदद कर रहा था। १ दिसम्बर से ६ दिसम्बर (१८५७ ई०) तक कानपुर में भीषण युद्ध हुआ, अन्त में ताँत्या और नाना की हार हुई और कानपुर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

दिल्ली भी भीषण युद्ध के बाद अंग्रेजों के अधिकार में आ गयी। बहादुरशाह अपने एक सम्बन्धी के धोखा से पकड़ा गया। उसे नंगा कर दिल्ली में घुमाया गया और पुनः गोली से मार दिया गया। तीन दिन तक अंग्रेजी सेना ने दिल्ली को लूटा और अपनी बर्बरता से नादिरशाह को भी मात कर दिया गया।

नाना साहब कानपुर से परास्त हो कर शाहजहाँपुर और बरेली पहुँच गये। कुछ दिनों तक स्थान-स्थान पर युद्ध होता रहा। पुनः अवध की जनता को उभाड़कर उन्होंने अंग्रेजों को मात देनी चाही। पर शक्ति-सम्पन्न अंग्रेजी सेना के सामने उनका वश नहीं चला। हताश हो नाना साहब अपने कुछ साथियों सहित नैपाल की ओर भाग गये। पुनः स्वतंत्रता के इन पुजारियों का क्या हुआ, कोई नहीं जानता।

इसी प्रकार शाहाबाद निवासी कुँवर सिंह ने भी बड़ी वीरता से क्रान्ति को आगे बढ़ाया, पर साम्राज्यवादी सेना के सामने उनके पैर उखड़ गये।

झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई के अन्त तक अंग्रेजों के साथ लोहा लिया। उसके दमन के लिए मार्च सन् १८५८ ई० में सर ह्यूरोज एक बड़ी फौज के साथ झाँसी भेजा गया। रानी ने स्वयं उसके साथ युद्ध किया। आठ दिन के भीषण संग्राम के बाद वह पराजित हुई। अन्तिम युद्ध झाँसी के दुर्ग पर हुआ। कुछ विश्वासघाती लोगों ने युद्ध के समय नगर का फाटक चुपके से खोल दिया और अंग्रेजी सेना नगर में घुस पड़ी। लक्ष्मीबाई घायल सिंहनी की तरह शत्रु पर टूट पड़ी। शत्रु पक्ष की शक्ति से जब उसे मालूम हुआ कि वह अधिक समय तक टिक नहीं सकती तो वह दुश्मन के बीच से मारकाट

मचाती हुई निकल भागी। लगातार ४८ घंटे तक घोड़े की सवारी कर वह १०२ मील दूर कालपी पहुँची। वहाँ तात्या टोपे उससे आ मिला। लक्ष्मीबाई के प्रभाव से ग्वालियर की सेना उसकी ओर आ मिली और उसने ग्वालियर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। जब अंग्रेजी सेना ने उस पर आक्रमण किया तो उसने पहले तो दुश्मन के छक्के छुड़ा दिये। पर अन्त में वह घायल हो गयी और लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुई। रानी की वीरता की प्रशंसा सरह्यू रोज ने मुक्त कण्ठ से की है। इस वीरांगना ने अपने साहस से सदा के लिए अपने को अमर बना लिया है।

अब केवल तात्या टोपे ही एक प्रमुख व्यक्ति अंग्रेजों का दुश्मन बच रहा। वह भी थक चुका था। स्थान-स्थान पर भागने के कारण उसके पास सेना और धन की कमी हो गयी थी। वह घिर गया, पर सब को चकमा देकर अक्टूबर सन् १८५७ ई० में नागपुर पहुँच गया। वहाँ की जनता ने अंग्रेजों के आतंक से तात्या का साथ नहीं दिया। वह भागता हुआ अलवर पहुँचा और वहीं गिरफ्तार कर लिया गया। १८ अप्रैल को उसे फाँसी दे दी गयी। इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम प्रयास के अन्तिम नेता के जीवन का अवसान हुआ। मर कर भी वह सदा के लिए अमर हो गया। क्रान्ति की जो लहर दमदम और मेरठ से उठी थी, वह लगभग डेढ़ वर्ष के बाद शान्त हो गयी। अंग्रेजों का प्रभुत्व पुनः भारत पर स्थापित हो गया। भारतीय स्वतंत्रता की पहली सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास विफल रहा।

विफलता के कारण—इस प्रयास की विफलता के अनेक कारण थे। (१) क्रान्ति का टाइमटेबल ठीक नहीं बैठा और नाना साहब के निश्चित समय के पूर्व ही सेना में विद्रोह हो गया। इससे क्रान्तिकारियों की व्यवस्था बिगड़ गयी। (२) क्रान्तिकारियों को सम्पूर्ण भारत का सहयोग नहीं प्राप्त हो सका। पंजाब के सिक्खों ने, दक्षिण के राजाओं ने तथा नेपाली सैनिकों ने अंग्रेजों का साथ दिया। वे अपने निजी स्वार्थ के वशीभूत हो देश के व्यापक हित की बात को भुला दिया। क्षुद्र स्वार्थ और आपसी द्वेष ने क्रान्ति को अधूरा बना दिया। इस पारस्परिक असहयोग से तूफान की शक्ति क्षीण हो गयी। (३) क्रान्तिकारियों ने जमकर एक साथ सम्मिलित हो

अंग्रेजों को परास्त करने का प्रयास नहीं किया। कोई दिल्ली में घिरा था, किसी ने कानपुर को अपना केन्द्र बनाया और कुछ लखनऊ में ही सीमित रह गये। इससे क्रान्ति की पूरी शक्ति का सामना अंग्रेजों को नहीं करना पड़ा। यदि ऐसा सम्भव होता तो शायद भारत का इतिहास बदल जाता। (४) क्रान्ति पक्ष के सैनिक अंग्रेजों की अपेक्षा कम कुशल और संगठित थे। उनके हथियार भी अंग्रेजी सेना का मुकाबिला नहीं कर सकते थे। इस लाचारी से क्रान्तिकारी सदा कमजोर बने रहे। उनमें साहस था, देश प्रेम था, वे बलिदान होना जानते थे, पर उनको मदद देने के लिए अंग्रेजों जैसी सुसंगठित सेना और घातक प्रभावकारी हथियारों का अभाव था। (५) क्रान्तिकारियों की आर्थिक दशा भी अच्छी नहीं थी। वे अपने सैनिकों के लिए समय पर अन्न-वस्त्रका प्रबन्ध भी नहीं कर सकते थे। धनाभाव के कारण उनको हथियारों का भी अभाव हुआ। पर दूसरी ओर कम्पनी की दशा इनके मुकाबिले में बहुत दृढ़ थी। उन्हें पैसे के बल पर सिक्खों तथा गोरखों की शक्ति प्राप्त हो गयी थी। (६) पुनः क्रान्तिकारियों के पास एक निश्चित लक्ष्य नहीं था। बहादुर शाह को भी वे केवल एक नाममात्र का सम्राट समझते थे। वास्तव में सब अपने-अपने क्षेत्र में पुनः प्रभाव प्राप्त करने की धुन में थे। फिर बहादुर शाह की मृत्यु के बाद वह दिखाऊ लक्ष्य भी समाप्त हो गया। उनके पास कोई लम्बी तथा स्थायी योजना नहीं थी। अंग्रेज इस कमजोरी को समझते थे। अतः उन्होंने प्रारम्भ से ही विभाजन की नीति से काम लिया। उन्होंने बहादुर शाह के अधिनायकत्व में भारत का जो चित्र खींचा, वह औरंगजेब की धर्मान्धता का एक रूप था। इससे कतिपय हिन्दू और सिक्ख भड़क उठे। दूसरी ओर उन्होंने नाना साहब को संकेत कर मराठा-सत्ता की पुनः स्थापना की सम्भवना से मुसलमान को उभाड़ा। इस प्रकार इस कुत्सित प्रचार से जनता में भ्रम फैल गया और क्रांति का उद्देश्य उनकी आँखों से धूमिल हो गया। इन्हीं कारणों से भारतीय स्वतंत्रता का यह प्रथम संग्राम साहस, वीरता और उत्साह के होते हुए भी असफल रहा।

क्रान्ति का परिणाम—क्रान्तिकारियों के विफल होने पर भी क्रान्ति का प्रभाव गहरा हुआ। इंगलैण्ड की सरकार का ध्यान कम्पनी की अव्यवस्था और कुशासन की ओर खींच गया। अतः इंगलैण्ड की सरकार ने सन् १८५८

ई० में एक भारतीय ऐक्ट बनाया और उसके अनुसार भारत में कम्पनी की सत्ता को समाप्त कर दिया। उसके द्वारा घोषणा हुई कि भविष्य में भारत का शासन इंगलैण्ड की रानी विक्टोरिया के नाम से होगा। उसका उत्तरदायित्व सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया पर होगा। भारत की समस्त जल, थल सेना पर इंगलैण्ड के सम्राट का अधिकार हो गया। इंगलैण्ड की रानी ने यह घोषणा की कि अंग्रेजी शासन भारतीय जनता के कल्याण के लिए होगा। सरकार उनके धार्मिक और सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी, धर्म और जाति के आधार पर भारतीय प्रजा में भेद-भाव नहीं किया जायगा। देशी राजाओं को आश्वासन दिया गया कि ब्रिटिश सरकार उनके साथ अब तक की गयी सब संधियों को मान लेगी और उनके आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। देशी नरेशों को गोद लेने का अधिकार दिया गया।

अंग्रेजों ने समझ लिया कि भारत में पर्याप्त अंग्रेजी सेना नहीं है। अतः और अंग्रेज सैनिकों को रखने की व्यवस्था की गयी। क्रान्ति के कारण कम्पनी की आर्थिक दशा खराब हो गयी थी, अतः उसे सुधारने के लिए ५००) रु० से अधिक आय पर आय-कर, व्यापार तथा व्यवसाय पर लाइसेन्स कर आदि लगाये गये। आयात निर्यात पर भी नये कर लगाये गये।

क्रान्ति के बाद कम्पनी की सत्ता समाप्त हो गयी। अतः भारत का शासन इंगलैण्ड के सम्राट के हाथ में आ गया। उसने शासन की व्यवस्था के लिए गवर्नर जनरल को अपना प्रतिनिधि बनाया और इस प्रकार इस क्रान्ति के बाद भारत का प्रधान शासक गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय कहलाया।

तैंतालीसवाँ परिच्छेद

नया युग

सन् १८५८ ई० में भारत में ब्रिटिश सत्ता पुनः स्थापित हो गयी। उस समय इंगलैण्ड की रानी ने अपनी घोषणा में कहा था कि अंग्रेजी सरकार अब किसी देशी राज्य को अपने साम्राज्य में नहीं मिलायेगी। वास्तव में ब्रिटिश सरकार को अब इस बात की कोई आवश्यकता नहीं थी कि वह किसी देशी राजा को अपदस्थ कर उसका राज्य छीन ले। सभी देशी नरेश सरकार के चंगुल में थे और उनकी स्वतंत्र सत्ता केवल कागज पर थी। ब्रिटिश सरकार का अधिकार तथा प्रभुत्व सार्वभौम हो चुका था और १८५७ की क्रान्ति के बाद उस सत्ता को चुनौती देने वाला कोई नहीं था। अतः भारत के शासकों के लिए इसके बाद पहले-जैसी समस्याएँ नहीं थीं। उन्हें देश के भीतर किसी शक्ति से युद्ध करना शेष नहीं था। उन्हें राजनैतिक प्रभुता के लिए किसी से भय नहीं था और इस दृष्टि से सन् १८५८ के बाद का भारतीय इतिहास पहले के इतिहास से सर्वथा भिन्न रहा। अतः उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध ब्रिटिश शासन-काल का नया युग कहलाया जिसमें भारतीय शासन का रूप शनैः शनैः निखरता गया और देश के भौतिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्र में सुधार तथा परिवर्तन होते रहे। इस समय देश में उन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ जो यहाँ नवयुग तथा आधुनिकता लाने में समर्थ हुआ; उनमें से व्यावसायिक क्रान्ति, राजनीतिक जागरण, धार्मिक सुधार आदि प्रमुख थीं। इस नवीनता के लाने में अनेक कारण सहायक बने। यह बात सच है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस देश में अंग्रेजों के न रहने पर भी कभी न कभी आतीं। पर इससमय अंग्रेजी सत्ता से भी इस नये युग के आगमन में सहायता मिली। सर्व प्रथमयह बात विचारणीय है कि अंग्रेजी सत्ता के कारण भारत एक राजनैतिक इकाई बन गया। अंग्रेजों ने पूरे देश में एक दृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की और इससे पूरे देश में वैसी शान्ति तथा व्यवस्था कायम हो गयी जैसी इसके

पूर्व शायद कभी नहीं थी। इसके साथ ही भारत सन् १८५८ के बाद आन्तरिक युद्धों से बच गया। इस अवधि में न तो गृह युद्ध हुए और न किसी दूसरे देश के साथ भारत को लड़ना पड़ा। इस कारण भी भारत में नवीनता का प्रवेश हुआ। पूरे देश में प्रयोग में अंग्रेजी भाषा का आना भी इस नवीन युग के प्रादुर्भाव का कारण बना। अंग्रेजों के आधिपत्य से भारत का सम्पर्क अन्य देशों से अधिक होने लगा और नवीन विचारों का संसर्ग बढ़ गया। अतः इस नवीन युग के इतिहास में युद्धों के कारण और उनका वर्णन महत्व नहीं रखता। आगे के सौ वर्षों के भारतीय इतिहास के अध्ययन का विषय पहले से भिन्न हो गया। अतः हमें भारत की भौतिक उन्नति, शिक्षा-विषयक सुधार, राजनैतिक तथा धार्मिक चेतना का इतिहास जानना आवश्यक हो गया।

नई भौतिक उन्नति

"संसार के इतिहास में आधुनिक युग की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस काल में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसका उपयोग अपनी सुख-समृद्धि के लिए किया।" आधुनिक भारत में भी इस क्षेत्र में विशेष काम हुआ। यूरोप में काफी पहले औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। भारत में उस क्रान्ति की हवा कुछ बाद को आयी। विज्ञान के क्षेत्र में जो अन्वेषण एक देश में होते हैं, वे अधिक दिनों तक वहीं सीमित नहीं रक्खे जा सकते। हवा की तरह वे एक देश से दूसरे देशों को पहुँच जाते हैं। अस्तु, यूरोप से सम्पर्क बढ़ने पर विज्ञान की हर प्रकार की खोज का असर भारत पर हुआ। इस प्रकार की उन्नति तथा परिवर्तन के चिन्ह निम्नलिखित क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगे—

(१) रेलवे—भारत में पहले पहल रेल का निर्माण सन् १८५३ ई० में हुआ। सर्व प्रथम रेल की लाइन बम्बई में बनी। फिर कलकत्ता और मद्रास के समीपवर्ती प्रदेशों में उनका निर्माण हुआ। बाद में उनमें बहुत वृद्धि हुई। भारत के विभिन्न भागों में रेलवे के निर्माण के लिए इंगलैण्ड में कम्पनियाँ खोली गयीं जिन्हें सरकार की ओर से यह गारन्टी दी जाती थी कि यदि उनका लाभ ५ प्रतिशत से कम होगा तो उसे भारतीय सरकार पूरा करेगी। अतः कम्पनियों ने अपनी पूँजी के विषय में निश्चिन्त होकर अपना पैसा लगाया।

इस प्रकार देश में रेलों का विस्तार होने लगा। रेलवे के विस्तार में पहले बहुत बड़ी पूँजी लगती थी। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत में रेल की लाइनों का जाल बिछ गया। इस समय लगभग ३४३१६ मील रेल की लाइन इस देश में है। सन् १८५३ में पहली रेल की लाइन केवल २० मील की बनी थी। आज इसमें लगभग ९½ लाख व्यक्ति काम कर रहे हैं। प्रारम्भ में सब लाइनें प्राइवेट कम्पनियों के हाथ में थी। सरकार ने उनके साथ एक प्रकार का शर्तनामा किया था और उन्हें आश्वासन दिया था कि एक निश्चित तिथि तक रेलों का प्रबन्ध कम्पनियों के अधिकार से नहीं हस्तान्तरित किया जायेगा। उस शर्तनामें की अवधि पूरी होने पर सरकार ने रेलों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेना शुरू कर दिया। आज सब रेलें सरकारी हो गयी हैं और उनके प्रबन्ध का उत्तरदायित्व भारत सरकार के रेलवे मंत्री पर है। अब भी प्रतिवर्ष कुछ नई रेल की लाइनें बनती हैं। रेल के डब्बे, इंजिन तथ पटरी बनाने का काम भी भारत में शुरू हो गया है। रेल का सबसे बड़ा कारखाना आसनसोल के पास चितरंजन में खुला है। यह निर्विवाद है कि रेलवे के कारण भारत में यातायात की बहुत सुविधा हुई है और इससे देश के आन्तरिक और विदेशी व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला है। देश की एकता के संगठन में भी रेलवे से बहुत मदद मिली है। प्रशासन और देश की रक्षा के लिए भी रेलवे का महत्व प्रत्यक्ष है। रेलों के साथ-साथ डाक, तार, टेलीफोन की भी उन्नति हुई।

(२) सड़क-निर्माण—रेलवे के साथ-साथ अंग्रेजी शासन में पक्की सड़क के निर्माण पर भी विशेष ध्यान दिया गया। भारत में पहले भी सड़कें थीं पर जिस प्रकार के कंकड़ और तारकोल तथा सीमेन्ट की सड़कें इस युग में बनी, वैसी पहले नहीं थीं। ऐसी सड़कों के निर्माण का कार्य अब भी तेजी से चल रहा है। इनसे मोटर तथा अन्य सवारियों के यातायात में बड़ी सुविधा हो गयी है। इन्हीं के साथ-साथ जल मार्गों की भी उन्नति होती जा रही है। सर्व प्रथम नदियों में जहाज चलाने की योजना विलियम बैंटिङ्क के समय में शुरू हुई थी। अब गंगा, ब्रह्मपुत्र, सिंध तथा अन्य नदियों में दूर-दूर तक जहाजें चलती हैं।

(३) नहर निर्माण—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए नहरों की उपयोगिता स्पष्ट है। पहले भी सिंचाई के प्रबन्ध में राज्य की ओर से मदद की जाती थी। पर ब्रिटिश काल में इस दिशा में संगठित और सुनियोजित काम हुआ है। सन् १८७४ ई० में आगरा कैनाल का, सन् १८७८ में गंगा की नहर का, सन् १८८२ में पश्चिमी यमुना कैनाल का निर्माण हुआ। सन् १८९० ई० में चनाब से एक बड़ी नहर पंजाब से निकाली गयी। इससे बीस लाख एकड़ परती भूमि की सिंचाई का प्रबन्ध हुआ। कुछ ही दिनों में पंजाब में नहरों का जाल बिछ गया और सारा उजाड़ प्रदेश लहलहा उठा। इसके बाद नहरों की उपयोगिता स्पष्ट हो गयी। प्रायः प्रत्येक प्रदेश में बड़ी नहरें निकाली गयी। उत्तर प्रदेश में शारदा कैनाल सब से बड़ी नहर बनी। नहरों के निर्माण का कार्य अब भी जारी है। अब तो सिंचाई के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ तैयार हो चली हैं। स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े बाँध बनाकर बहुप्रयोजनात्मक योजनाएँ तैयार की जा रही हैं जिनसे भारत के अधिकांश भाग में सिंचाई की सुविधा हो जायगी। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर ट्यूबवेल का निर्माण किया जा रहा है। कृषि की उन्नति के अन्य साधनों की ओर भी सरकार का ध्यान गया है। खाद बनाने के बड़े-बड़े कारखाने खोले गये हैं। कृषि सम्बन्धी अनुसंधान के लिए एक अनुसंधान शाला दिल्ली में है। इसके अतिरिक्त राज्यों की सरकारें भी ऐसा विभाग खोल कृषि की उन्नति में योग दे रही हैं। कृषि और किसानों की उन्नति के लिए समय-समय पर अनुकूल कानून भी बनाये गये हैं। इन सब प्रयत्नों से इस सदी में कृषि की बहुत उन्नति हो रही है।

(४) व्यवसाय तथा व्यापार—अंग्रेजों के आने के पूर्व भी भारत में व्यवसाय तथा व्यापार की दशा अच्छी थी और यहाँ के व्यापारी विदेशों के साथ सदा व्यापार करते थे। अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंगलैण्ड में अनेक प्रकार के बड़े बड़े कारखाने स्थापित हो गये और पर्याप्त मात्रा में वहां विविध प्रकार का सामान तैयार होने लगा। अतः अंग्रेजों ने भारत को अपना सबसे अच्छा बाजार बनाया और वे अपने देश में निर्मित चीजों को यहाँ लाकर अच्छे मुनाफे पर

बेंचने लगे। उस समय उन्होंने यहाँ के व्यवसाय और व्यापारियों को बड़े घृणित ढंग से बर्बाद किया। धीरे-धीरे यहाँ के कारखाने नष्ट हो गये और भारतवासी हर चीज के लिए इंगलैण्ड के कारखानों पर निर्भर हो गये। अतः कुछ दिनों तक भारत में इस क्षेत्र में किसी प्रकार की उन्नति नहीं हो सकी। यही कारण था कि अंग्रेजी शासन की पहली एक सदी आर्थिक दृष्टि से इस देश के लिए बड़ी भयंकर थी। उन दिनों सरकार 'स्वतंत्र व्यापार' की नीति अपनाती थी ताकि भारतीय व्यापारी और व्यवसायी अँग्रेजों के समक्ष क्षण भर के लिए भी नहीं टिक सकें। इस नीति के कारण यहाँ के घरेलू उद्योग धन्धे भी बर्बाद हो गये और शिल्पियों का जीवन बोझ हो चला।

पर धीरे धीरे भारत में कुछ कपड़े की मिलें खुलने लगीं। कपड़े की पहली मिल इस देश में सन् १८१८ ई० में खुली थी। सन् १८५४ के लगभग बम्बई में कपड़े की मिलें खुलने लगीं। सन् १८७७ के बाद नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर तथा कानपुर में भी कपड़े की मिलें स्थापित हुई। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में 'स्वदेशी आन्दोलन' के प्रभाव से इन मिलों के कपड़े बिकने लगे और यह व्यवसाय उन्नति की ओर अग्रसर होने लगा। फिर भी लंकाशायर और लिवरपूल की बड़ी-बड़ी मिलों के समक्ष कपड़े की भारतीय मिलों का टिकना कठिन हो रहा था। उन विलायती मिलों का कपड़ा अच्छा और सस्ता होता था। सरकारी नीति भी देशी मिलों के हित के विरुद्ध थी और इस बात की सदा कोशिश की जाती थी कि भारत में यह व्यापार पनपने न पावे।

प्रथम महायुद्ध के समय विदेशों से माल आना बन्द हो गया। अंग्रेजी जहाजों को जर्मनी और इटली के विध्वंसक डूबाने के चक्कर में रहते थे, अतः वहाँ से भी बहुत कम माल भारत आता था। इस अवस्था में सन् १९१४ के बाद भारतीय व्यवसाय की उन्नति का अवसर आया। उस समय इंगलैण्ड ने अपने मित्र-राष्ट्रों के लिए भारत से कपड़े खरीदने का प्रबन्ध किया। कपड़े के अतिरिक्त अन्य सामान की भी जरूरत होने लगी। अतः इस अवसर से लाभ उठाकर लोहे, पाट, चमड़े तथा युद्ध सम्बन्धी अनेक चीजें भारत में बनने लगीं।

इनके लिए बड़े-बड़े कारखाने खुल गये। युद्ध के बाद चीजों का मूल्य बहुत बढ़ गया और इससे भी भारतीय व्यापार को बहुत लाभ हुआ। परिणाम यह हुआ कि सन् १६१६ ई० के बाद भारत की व्यावसायिक उन्नति बड़ी तेजी के साथ हुई। भारत में लोहे का सब से बड़ा कारखाना जमशेदपुर में खोला गया और वह एशिया का सब से बड़ा कारखाना हो गया। भारत की स्वतंत्रता के बाद लोहे के कारखानों की ओर सरकार का विशेष ध्यान गया। उड़ीसा और मध्य प्रदेश में दो बहुत बड़े लोहे के कारखानें सरकार की ओर से खोले जा रहे हैं। इसी समय समुद्री जहाज, वायुयान तथा औषधि बनाने के कारखाने भी भारत में खोले गये। स्वतंत्र भारत की सरकार ने ऐसे बड़े कारखनों को अपने अधिकार में रक्खा है। ब्रिटिश सरकार के समय में सब कल कारखाने निजी होते थे। पर अब इस क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण बन गया है और सरकार पानी से बिजली तैयार करने, सीमेण्ट तैयार करने तथा लोहे, खाद, औषधि की सामग्री तैयार करने के लिए अपने कारखाने स्थापित कर रही है। देश में सबसे अधिक कारखानें कपड़े, जूट, चीनी, शीशा और चमड़े के हैं। जो कारखाने सरकारी नहीं हैं, उन पर भी सरकारी नियंत्रण पर्याप्त है और आजकल सरकार मजदूरों के हित के लिए अनेक प्रकार के कानून बनाती रहती है। फैक्टरी ऐक्ट द्वारा कारखानों की कार्यपद्धति और प्रबन्ध पर भी सरकार अपना नियन्त्रण रखती है।

व्यापार के क्षेत्र में भारत की स्थिति अच्छी रही है। सन् १८६६ ई० में स्वेज नहर के बन जाने से भारत और यूरोप का व्यापार बढ़ गया और सम्पर्क अधिक हो गया। व्यापार के खर्चे में भी कमी हो गयी और समय की भी बचत हुई। इस कारण भारत का विदेशी व्यापार इसके बाद बड़ी तेजी से आगे बढ़ा और सन् १६०० तक उसकी मात्रा दो करोड़ रुपये वार्षिक तक पहुँच गयी। आजकल विदेशी व्यापार बढ़ कर कई सौ करोड़ तक पहुँच गया है। पहले केवल कच्चे माल का ही निर्यात भारत से विदेशों को होता था, पर अब हम तैयार माल भी बाहर भेजते हैं। आजकल भारत से कपड़ा, तिलहन, अन्न तथा चाय आदि बाहर भेजा जाता है। बाहर से मोटर, इंजिन, अस्त्र-शस्त्र तथा हवाई जहाज आदि का आयात भारत में होता है। समय दूर नहीं है कि हम व्यावसाय और व्यापार के क्षेत्र में संसार के उन्नतिशील देशों के

समकक्ष निकट भविष्य में आ जायँगे। हमने अपनी आवश्यकता की बहुत-सी चीजों को अपने देश में बनाना शुरू कर दिया। भारत पहले केवल कृषि पर ही निर्भर रहता था। आज वह एक व्यवसाय-प्रधान देश भी होता जा रहा है।

भारत की इस भौतिक उन्नति से यहाँ के निवासियों की रहन-सहन पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। उनके जीवन का स्तर ऊँचा उठ गया है। उनके मानसिक स्थिति में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन आ गये है। युवकों की विचार-धारा समाजवादी व्यवस्था की ओर अधिक झुक रही है। हमारी पुरानी रूढ़ियों, बद्धमूल धारणाओं, विश्वासों तथा परम्पराओं पर भी इस भौतिक उन्नति का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। हमारे व्यवसाय तथा व्यापार की तीन स्थितियाँ आधुनिक युग में रही हैं। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ में लगभग सौ वर्षों तक हम पंगु बनाये गये और हमारे व्यापार तथा व्यवसाय पर अंग्रेजों ने हर प्रकार से कुठाराघात किया। इससे हमें बहुत क्षति उठानी पड़ी और कुछ दिनों के लिए देश की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गयी। तत्पश्चात् बीसवीं सदी का समय आया और आवश्यकतावश हमारे देश में औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास तेजी के साथ आया। इस युग में भी सरकार हमारी सहायक नहीं थी, बल्कि परिस्थितियों ने हमें आगे बढ़ाया। हमारे औद्योगिक और व्यापारिक जीवन का तीसरा अंश भारत की स्वतंत्रता के साथ शुरू होता है। अभी अभी हमने इस क्षेत्र में कदम रक्खा है, पर औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्र में हमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। पंचवर्षीय योजनाओं के कारण इस क्षेत्र में हमारे विकास की गति बहुत तीव्र हो गयी है। आशा है निकट भविष्य में हम संसार के उन्नत देशों में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लेंगे।

ब्रिटिश शासन-काल में शिक्षा

अंग्रेजों के आने के पहले शिक्षा का काम राज्य द्वारा नहीं संचालित होता था। इसका प्रबन्ध निजी तौर पर कुछ उदार व्यक्तियों की दान शीलता द्वारा होता था। अंग्रेजी सत्ता के प्रारम्भिक दिनों में भी शिक्षा की ओर कम्पनी का ध्यान नहीं गया क्योंकि उसे अपनी राजसत्ता स्थापित करने के लिये निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहना पड़ता था। पर १८१३ ई० में सर्व प्रथम इंगलैंड

की सरकार ने कम्पनी को आदेश दिया कि वह अपनी आय का एक हिस्सा भारत की जनता की शिक्षा के लिए खर्च करे। प्रतिवर्ष १ लाख रुपये की रकम इस काम के लिये निश्चित की गयी। पर उस समय यह तय नहीं हो सका कि इस धन को किस प्रकार व्यय किया जाय। धीरे-धीरे कम्पनी के शासकों को यह महसूस होने लगा कि भारतीयों को एक विशेष प्रकार से शिक्षित बनाना और उनसे शासन के काम में मदद लेना आवश्यक है। लार्ड बैंटिङ्क के समय इस सम्बन्ध में राय निश्चित करने के लिए लार्ड मैकोले को नियुक्त किया गया। उसने एक मसविदा तैयार किया जिसमें उसने अंग्रेजी माध्यम से भारतीयों को शिक्षा देने की व्यवस्था का जोरदार समर्थन किया। उसने अपनी रिपोर्ट में भारतीय भाषाओं की 'दीनता' की खूब मखौल उड़ायी और अपने विचारों के पक्ष में अनेक प्रकार के कल्पित तर्क उपस्थित किये। पर उस समय अधिक समर्थन उसे ही प्राप्त हुआ अतः उसकी रिपोर्ट सरकार ने स्वीकार कर ली। मैकाले और अन्य अंग्रेज उस समय अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रयोजन अच्छी तरह समझते थे। वे भारत में शिक्षित लोगों को एक ऐसी श्रेणी पैदा करना चाहते थे जो "रंग में तो काली हों, पर भाषा, विचार, चिन्तन और वेश-भूषा वरहन-सहन की दृष्टि से अंग्रेजों के सदृश्य हों।" उन्हें इस उद्देश्य में सफलता भी मिली। वे यह भी चाहते थे कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग शासन के कार्य में सहायक होंगे और शासक वर्ग तथा जनता के बीच दुभाषिये का काम करेंगे। उनका विचार था कि ऐसी शिक्षा से निकले हुए भारतवासी राजभक्त भी होंगे। अतः सन् १८३५ ई० में सरकार ने मैकाले की सिफारिशें मान ली और भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। अब शिक्षा राज्य के अन्तर्गत एक प्रशासकीय विषय हो गया और शिक्षा का विषय राज्य के मातहत हो गया।

शिक्षा संबंधी विकास की सीढ़ियाँ—शिक्षा के विकास को अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम काल कम्पनी के प्रारम्भ से लेकर सन् १८३५ ई० तक है। इस काल में कम्पनी के शासकों और अन्य लोगों ने निजी तौर पर शिक्षा सम्बन्धी कार्यों को किया। उसी समय पादरियों ने भी इस क्षेत्र में विशेष रुचि दिखाई और स्थान-स्थान पर

उन्होंने एक विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर स्कूल खोले गये। इस युग में शिक्षा के दो मुख्य उद्देश्य थे : (१) प्रथम, पूर्वी भाषाओं और तत्संबंधी ज्ञान को बढ़ावा देना और द्वितीय बंगाल में कम्पनी के लिए हिन्दू-मुसलमान कर्मचारियों की प्राप्ति। राजा राममोहन राय ने सन् १८१८ ई० में कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना की। बम्बई में एलफिंस्टन कालेज भी इसी प्रकार निजी तौर पर व्यक्तिगत प्रयास के कारण स्थापित हुआ। सन् १८१८ ई० में श्री रामपुर के पादरियों ने पहला मिशनरी कालिज खोला। इसके पूर्व वारेन हेस्टिंग्ज ने १७८१ ई० में सबसे पहले एक स्कूल कायम किया था, इस स्कूल में अरबी और फारसी के उच्च अध्ययन का प्रबन्ध किया गया। सन् १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' की स्थापना की जिसका काम भारतीय भाषाओं का शोध-करना था। आज भी यह संस्था अच्छे ढंग से काम कर रही है और इसके तत्वावधान में अनेक प्रामाणिक तथा गहन ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १७६२ ई० में जानथन डंकन ने काशी में संस्कृत कालेज के स्थापनी की। यह संस्था भी आज तक फलफूल रही है और संस्कृत के अध्ययन का सबसे बड़ा केन्द्र है। इसके अतिरिक्त ईसाई पादरियों ने मद्रास और बंगाल में अनेक स्कूल खोले जहाँ वे प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से ईसाई धर्म की शिक्षा देने का काम करते थे। इस प्रकार इस प्रथम काल में भारत मे शिक्षा का काम हुआ, पर उस समय ब्रिटिश शासकों को इस बात की चिन्ता नहीं थी कि सरकार का काम जन साधारण को शिक्षित करना और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना है।

ब्रिटिश शासन-काल में शिक्षा के विकास की दूसरी सीढ़ी सन् १८३५ से प्रारम्भ हुई और सन् १८५४ तक चली। इस काल में भारत में शिक्षा का पाश्चात्यकरण हुआ। इसी समय यह निर्णय हुआ कि भारतीयों को शिक्षा दी जाय और इसकी व्यवस्था करना कम्पनी का कर्तव्य है। शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी हुई और पाश्चात्य ढङ्ग से नये विषयों की शिक्षा की प्रथा चल पड़ी। स्थान-स्थान पर स्कूल खोले गये और मैकाले की सिफारिशों के अनुसार काम होने लगा। पर इस युग में भी शिक्षा का प्रचार देहातों में न हो सका और

शिक्षा-संस्थाएँ कुछ इने-गिने लोगों तक ही सीमित रह गयीं। बम्बई, मद्रास और कलकत्ता जैसे नगरों तक ही शिक्षा का दायरा सीमित रहा।

तीसरा काल सन् १८५४ में शुरू हुआ। इस समय सर चार्ल्स वुड की योजना के अनुसार शिक्षा का क्षेत्र व्यापक बनाने की सिफारिशें सरकार ने मान ली। वुड-योजना के अनुसार यह तय हुआ कि (१) शिक्षा के लिए एक पृथक विभाग का सङ्गठन किया जाय, (२) प्रेसीडेन्सी शहरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाय, (३) अध्यापकों की ट्रेनिङ्ग के लिए संस्थाएँ खोली जाँय, (४) वर्तमान हाई स्कूलों की संख्या बढ़ायी जाय, (५) प्रारम्भिक स्कूलों में देशी भाषाओं की शिक्षा दी जाय, (६) स्कूलों को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जाय, (७) छात्रवृत्ति का प्रबन्ध किया जाय और (८) स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। वास्तव में भारत की आधुनिक शिक्षा-प्रणाली और व्यवस्था का सूत्रपात यहीं से होता है। शिक्षा के सम्पूर्ण ढाँचे का नक्शा वुड की रिपोर्ट में था और उसी के आधार पर आगे आने वाले वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में काम हुआ। इस योजना के अनुसार गैरसरकारी स्कूल खुलने लगे और उन्हें सरकार आर्थिक सहायता देने लगी। इससे शिक्षा के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। सन् १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालय खुले। उनमें शिक्षा का आधार इंगलैण्ड के विश्वविद्याल-प्रणाली को बनाया गया। इसके बाद सन् १८८२ में पंजाब और १८८७ ई० में प्रयाग में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। सन् १९०४ ई० में विश्वविद्यालय ऐक्ट द्वारा भारतीय विश्वविद्यालयों का पुनः सङ्गठन हुआ, इसके बाद बड़ी तेजी से विश्वविद्यालयों और स्कूलों की संख्या इस देश में बढ़ी। स्थान-स्थान पर टेकेनिकल और व्यावसायिक स्कूल भी खुले। सन् १९१९ ई० के भारतीय ऐक्ट के अनुसार शिक्षा का काम प्रान्तीय सरकारों को दिया गया। केन्द्रीय सरकार में भी शिक्षा का एक विभाग रहा, पर अधिक काम प्रान्तीय सरकारों के अधिकार में आ गया।

शिक्षा की समस्या पर विचार करने के लिए अँग्रेजी शासन-काल में और उसके बाद स्वतन्त्र भारत में भी कई बार आयोगों का संगठन हुआ। सन् १९३७ ई० में शिक्षा-विशेषज्ञों की सिफारिशों के आधार पर 'वर्धा शिक्षा-प्रणाली' का सूत्रपात हुआ और स्थान-स्थान पर बेसिक स्कूलों की भरमार हो गयी। इस

योजना के अन्तर्गत १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों को अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की सिफारिश की गयी। १९४४ ई० में भारत सरकार द्वारा पूरे देश की शिक्षा के संगठन की आवश्यकता पर विचार करने के लिए नियोजित सार्जेन्ट कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस कमेटी ने शिक्षा के क्षेत्र में कई नये सुझाव रक्खे और टेकेनिकनल तथा व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया। इसके बाद विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर विचार करने के लिए 'राधाकृष्णन कमेटी' नियुक्त की गई। उत्तर प्रदेश की सरकार ने युद्ध पूर्व ही प्रादेशिक शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिए 'नरेन्द्रदेव कमेटी' नियुक्त की। सन १९५३ ई० में माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं पर विचार और सुधार के सुझाव रखने के लिए "माध्यमिक शिक्षा-आयोग" की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा हुई। इस कमेटी की सिफारिशों के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में अनेक सुधार होने वाले हैं।

इस सम्बन्ध में यह समझ लेना आवश्यक है कि भारत की शिक्षा-पद्धति से भारतीय युवकों को कुछ लाभ अवश्य हुए, पर इतने दिनों में शिक्षा का प्रचार देश की आवश्यकता के अनुपात में बहुत कम हुआ। लगभग दो सौ वर्षों के अँग्रेजी शासन-काल में केवल १२ प्रतिशत भारतीय ही शिक्षित हो सके। शेष के लिए स्कूलों का कोई महत्व नहीं रहा। इसमें भी शिक्षितस्त्रियों का प्रतिशत ५ से भी कम है। ऐसी दशा में ब्रिटिश सरकार के प्रयास, के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी शिक्षा-नीति और तत्सम्बन्धी कार्य इस देश के लिए पर्याप्त थे। दूसरी यह बात विचारणीय है कि अँग्रेजों के समय में शिक्षा का उद्देश्य बहुत संकुचित था। सरकार शिक्षित लोगों को कुछ सरकारी पदों पर काम करने की योग्यता प्राप्त कराना चाहती थी। इससे अधिक उस प्रणाली का कोई उद्देश्य नहीं था। अतः ब्रिटिश काल की शिक्षा में चरित्र बल, औद्योगिक विकास और अनुसंधान के लिए बहुत कम स्थान था। टेकेनिकल शिक्षा की व्यवस्था अपूर्ण थी और शिक्षा के इतने सीमित प्रचार होने पर भी शिक्षित बेकारों की संख्या इस देश में अधिक हो गयी। इस युग की शिक्षा में पुस्तक-ज्ञान पर अधिक महत्व रहा और जीवन-पक्ष पर कम ध्यान दिया गया। फिर अँग्रेजी माध्यम के बन जाने से हमारे शिक्षित लोगों की दिमागी उन्नति उतनी

नहीं हो सकी, जितनी स्वाभाविक रूप से अपनी मातृभाषा के माध्यम द्वारा सम्भव थी। हमारे अधिकांश शिक्षित नव युवक अपने नये रहन-सहन, खान-पान तथा वेश-भूषा के कारण अपने ही समाज और देश में 'विदेशी' बन गये और उनसे आम-जनता का अच्छा सम्पर्क नहीं स्थापित हो सका। फिर भी यह बात माननी पड़ेगी कि इस शिक्षा-प्रणाली ने हमारे लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का दरवाजा खोल दिया और हमारे मस्तिष्क में आधुनिक युग की विशेष चिन्तन और विचार पद्धति का प्रवेश हो सका जिससे भारत में नवयुग और नव-जागरण का मार्ग प्रशस्त हो गया।

धार्मिक तथा सामाजिक सुधार

समाज की व्यवस्था पर धर्म की गहरी छाप है और इस देश में सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में अन्तर बताना शायद असम्भव सी बात होगी इसलिए यह कहा जाता है कि हमारा सामाजिक और धार्मिक जीवन एक दूसरे से मिला हुआ है और उनका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। धर्म का अभिप्राय लोगों के रहन-सहन को पवित्र रखना और मिथ्याचरण से बचाना है। धर्म मनुष्यता के पवित्र नियमों को लोगों के जीवन में कार्यान्वित करने की प्रेरणा देता है। इसका उद्देश्य है कि मनुष्य को इस लोक और परलोक में सुख और शान्ति प्राप्त हो और आदमी देवत्व की ओर बढ़े। इसी की प्रेरणा से लोग व्रत-त्योहार मनाते हैं। मन्दिर-मकबरा बनवाते हैं, यज्ञ और अनुष्ठान करते हैं। इस पवित्र उद्देश्य को लेकर चलने वाला धर्म भी समय-समय पर अपना रूप विकृत कर देता है और आडम्बर, पाखण्ड तथा अन्धविश्वास का रूप धारण कर लेता है।

कुछ इसी प्रकार की बुरी अवस्था शताब्दियों से हमारे देश में भी पैदा हो गयी थी। हमारी पराधीनता और परम्परावादिता और अशिक्षा इसके मुख्य कारण थे। पर अठारहवीं शताब्दी से इस दिशा में सुधार के प्रयास हो रहे हैं। विदेशियों के सम्पर्क से अँग्रेजी भाषा के माध्यम होने के कारण तथा पाश्चात्य देशों में भ्रमण की सुविधा मिलने के बाद देश के कुछ सुधारकों और समाज-सेवियों का ध्यान समाज की कमजोरियों की ओर गया। इस दिशा में लोगों का ध्यान आकर्षित होने का एक और भी कारण था। अँग्रेजों ने प्रारम्भ में अपने धर्म और समाज की अच्छाइयों को सामने रक्खा और साथ-साथ हिन्दू-धर्म और भारतीय

समाज की कटु आलोचना भी की। ईसाई-पादरी स्थान-स्थान पर भ्रमण कर हिन्दू अछूतों को धर्म परिवर्तन का लालच दिया करते थे और उन्हें इस कार्य में कुछ सफलता भी मिलती थी। इस बात से देश के कुछ लोग चिन्तित होने लगे और उन्होंने भारतीय समाज और धर्म की बुराइयों तथा कमजोरियों को दूर करने का संकल्प किया। सर्व प्रथम बङ्गाल में राजा राम मोहन राय ने इस दिशा में मार्ग दिखलाया।

ब्रह्म समाज—राजा राम मोहन राय (सन् १७७४-१८३२ ई०) बङ्गाली ब्राह्मण थे। आप बंगला, अँग्रेजी, फारसी और अरबी के विद्वान् थे। समाज की सेवा में उनकी विशेष रुचि थी। सती प्रथा को बन्द करने में आप ने लार्ड वैंटिङ्क को सहायता दी थी। अपनी मृत्यु के चार वर्ष पूर्व सन् १८२८ ई० में 'ब्राह्म समाज' नाम का एक संगठन स्थापित किया। इसमें वे सब लोग सम्मिलित हो सकते थे जो ईश्वर में विश्वास रखते हों और मूर्ति पूजा के विरोधी हों। इसके लिए कलकत्ता में एक भवन का निर्माण हुआ जिसके विषय में राजाराम मोहनराय ने लिखा था कि "नस्ल, जाति व धर्म का भेद-भाव रखे बिना सब प्रकार के लोग इस भवन में आकर एक ईश्वर की उपासना कर सकते हैं और इस उपासना के लिए किसी प्रतिमा, मूर्ति या कर्मकांड का प्रयोग नहीं किया जायगा।"

सन् १८३२ ई० में राजाराम मोहनराय की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के बाद इस समाज का काम देवेन्द्रनाथ टैगोर (रवीन्द्र नाथ टैगोर के पिता) ने आगे बढ़ाया। इसके सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उन्होंने 'तत्व-बोधिनी पत्रिका' का प्रकाशन किया और एक नई दीक्षा विधि का सूत्रपात किया। उसी के अनुसार ब्रह्म समाज के सदस्यों को दीक्षा दी जाती थी। देवेन्द्रनाथ टैगोर वेदों पर विश्वास रखते थे और उन्हें ही सब ज्ञान का स्रोत मानते थे। कुछ दिनों के बाद एक दल उस समाज में ऐसा आ गया जो वेदों के स्थान पर तर्क तथा बुद्धि को अधिक महत्व देने लगा। इस दल के नेता अक्षयकुमार-दत्त थे। इस दल के लोगों पर पाश्चात्य विचार श्रेणी का अधिक प्रभाव था। अतः इनके प्रभाव से ब्रह्म समाज धीरे-धीरे प्राचीन हिन्दू से दूर हटने लगा। सन् १८५७ ई० में इस नये दल ने अधिक जोर पकड़ा क्योंकि इसके नये

सदस्य केशवचन्द्र सेन बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। उन्होंने इसमें नवीन उत्साह और स्फूर्ति का संचार किया। इन लोगों के उत्साह से नव समाज का प्रचार खूब जोरों के साथ हुआ और भारत के विभिन्न प्रदेशों में ब्रह्म-समाज की ५४ शाखायें स्थापित हो गयीं। इस नवीन उत्साही दल से कुछ दिनों के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर का मतभेद तीव्र हो गया क्योंकि केशवचन्द्र सेन आदि अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि के पक्षपाती थे। वे यज्ञोपवीत धारण करना अनावश्यक समझते थे और प्राचीन ढंग के पंडितों को इसमें घुसने देना पसन्द नहीं करते थे। यह दल "आधुनिकता" का पक्षपाती था। चूँकि देवेन्द्रनाथ टैगोर इस बात से सहमत नहीं थे, और वे ब्रह्म समाज को हिन्दू धर्म के ही एक शाखा के रूप में रखना चाहते थे।

केशवचन्द्र सेन और देवेन्द्रनाथ टैगोर का मतभेद उग्रतर हो गया और ब्रह्म समाज दो दलों में विभक्त हो गया। देवेन्द्र नाथ टैगोर ने अपने अनुयायियों के साथ 'आदि ब्रह्म समाज' के नाम से अपनी पृथक संस्था बनायी [illegible] का ही अधिकार रहा। बाद में केशव चन्द्र का भी अपने साथियों से विरोध हो गया क्योंकि केशव चन्द्र सेन बहुत अधिक आधुनिकता के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सके। अतः उनके सहयोगियों ने एक नवीन सस्था "साधारण ब्रह्म समाज" के नाम से स्थापित की। यह नया संगठन 'आदि ब्रह्म समाज' और 'ब्रह्म समाज' दोनों से आगे बढ़ गया।

'साधारण ब्रह्म समाज' के सदस्य सामाजिक सुधार पर अत्यधिक बल देते थे। वे बाल-विवाह के पक्के विरोधी थे, विधवा-विवाह के समर्थक थे। स्त्रियों को पर्दा में रखना वे नहीं चाहते थे और उनके उच्च शिक्षा देने के पक्ष पाती थे। बहु विवाह को वे बहुत बुरा समझते थे। वे सब धर्मों का आदर करते थे और विश्व बन्धुत्व की भावना को पसन्द करते थे। विविध जातियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना और खानपान-विषयक संकीर्ण विचारों का विरोध करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। निसन्देह यह समाज बंगाल में हिन्दू-धर्म की पुरानी रूढ़ियों और कुरीतियों को दूर करने में बहुत सहायक हुआ। बंगाल के सनातनी हिन्दुओं ने इसका बहुत विरोध किया पर ब्रह्म-समाज के आन्दोलन से समाज सुधार की प्रक्रिया को बहुत बल

मिला। बंगाल के हिन्दू आज स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती हैं, बाल विवाह के विरोधी हैं, सामाजिक सुधार की बातों को स्वीकार करते हैं, पर वे अभी तक विविध देवी देवताओं की पूजा की परम्परा का त्याग नहीं कर सके हैं।

प्रार्थना समाज—राजा राम मोहन राय की तरह महाराष्ट्र में भी सुधारवादी लोगों ने आन्दोलन शुरू किया। सन् १८४६ ई० में महाराष्ट्र में "परमहंस सभा" की स्थापना हुई। सन् १८६७ ई० में वहाँ एक दूसरी संस्था स्थापित हुई जिसका नाम "प्रार्थना-समाज" पड़ा। इसी ने वहाँ सुधार का काम आगे बढ़ाया। महाराष्ट्र में हिन्दू धर्म के प्रति लोगों में पक्की आस्था थी अत वहाँ 'प्रार्थना-समाज' बहुत आधुनिकता की ओर न जा सका। पर वहाँ भी समाज को कमजोर करने वाली कुरीतियों को सुधारक दूर करना, चाहते थे। उनका ख्याल था कि अछूतोद्धार, जाति पाँति का भेद दूर करना स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि समाज को दृढ़ बनाने के लिए जरूरी हैं। अतः अछूतों की दशा सुधारने के लिए वहाँ 'दलितोद्धार मिशन' स्थापित किया गया। अनेक अनाथालय, विधवाश्रम, कन्यापाठशालाएँ खोली गयीं। इस समाज में महादेव गोविन्द रानाडे ने अत्यधिक काम किया। आपके विचार बहुत सुलझे हुए थे। वे जानते थे कि मनुष्य कभी अपनी पुरानी परम्पराओं को तोड़कर उससे बिलकुल पृथक नहीं हो सकता है। अतः उनका कहना था कि सुधारक को समाज के भूतकाल की बातों को ध्यान में रखते हुए तथा उनका आदर करते हुए समाज के परिष्कार की कोशिश करनी चाहिए।

आर्य समाज—"उन्नीसवीं सदी में हिन्दू समाज तथा धर्म ने नवजीवन का संचार करने और हिन्दू जाति की सामाजिक दशा में सुधार करने के लिए जिन विविध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, उसमें आर्य समाज का स्थान सब से अधिक महत्व का है।" इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३) काठियावाड़ के एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। आपका स्वभाव चिन्तनशील था और युवा अवस्था में ही आपने संसार से संन्यास ले लिया था। ईश्वर का क्या स्वरूप है, हिन्दू धर्म का वास्तविक रूप क्या है, और ईश्वर का ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति का साधन क्या है?—इन बातों की जिज्ञासा लेकर उन्होंने भारत के दूर-दूर भागों का भ्रमण किया, साधु-सन्तों का सत्संग किया और अनेक प्रकार

की तपस्या की। इस भ्रमण और अध्ययन में आप को अनुभव हुआ कि हिन्दू धर्म का वास्तविक रूप वेदों में पाया जाता है और वर्तमान हिन्दू समाज और धर्म उस वास्तविकता से बहुत दूर है। आश्चर्य की बात है कि स्वामी दयानन्द अंग्रेजी से बिलकुल अपरिचित थे, आप ईसाइयों के सम्पर्क में भी नहीं आये, पर वेदों के ही अध्ययन से आप को ज्ञान हुआ कि बाल-विवाह सर्वथा अनुचित है, विधवा-विवाह शास्त्र-सम्मत है, जाति और छूत छात का भेदभाव आर्य धर्म के विपरीत है। छूत अछूत और वर्तमान जाति-भेद प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप है। आप का विचार था कि शिक्षा में स्त्री-पुरुष को समान सुविधा मिलनी चाहिए। देश-विदेश की यात्रा धर्म के विपरीत नहीं है। ईश्वर एक है और उसी एक ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। मूर्ति-पूजा का उल्लेख वेदों में नहीं है और निराकार ईश्वर की प्रतिमा नहीं बनाई जानी चाहिए। ईश्वर नर रूप में कभी अवतरित नहीं होता। राम-कृष्ण केवल महापुरुष थे। उन्हें ईश्वर का अवतार नहीं मानना चाहिए। मृत्यु के बाद जीवात्मा पुनः जन्म लेता है, अतः श्राद्ध आदि निरर्थक है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द के हिन्दू-धर्म विषयक ये विचार अति क्रान्तिकारी थे। इस विचार-शैली के प्रतिपादन के लिए उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे। "सत्यार्थ-प्रकाश" उनका सबसे मुख्य ग्रन्थ है। उन्होंने वैदिक संहिताओं का हिन्दी भाषा में रूपान्तर किया, इस प्रकार "अपौरुषेय" और "अखिल धर्ममूल" वेदों का लोक भाषा में अनुवाद करने का यह पहला प्रयास था। आपने सब ग्रंथ हिन्दी में लिखे और हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप दिलाने में आप का विशेष हाथ रहा। अपने विचारों को ठोस रूप देने के लिए आपने सन् १८७८ ई० में "आर्य समाज" की स्थापना की जिसकी शाखाएँ शीघ्र ही उत्तरी भारत में सर्वत्र स्थापित हो गयीं। आपने अन्य धर्म-वालों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने का प्रयास किया। दयानन्द ने घोषित किया कि प्रत्येक मनुष्य को आर्य-समाज में प्रविष्ट होने का अवसर है। वे "शुद्धि" द्वारा किसी को हिन्दू बनाने के पक्ष में थे। हर प्रकार से दयानन्द के विचार मौलिक और क्रान्तिकारी थे। आपने देश को स्वतंत्र बनाने के लिए भी आवाज उठायी। इस प्रकार की चर्चा सर्वप्रथम दयानन्द ही ने की थी। आप प्रत्येक बालक को सात वर्ष की आयु होने पर गुरुकुल में भेजने

के पक्ष में थे। आप का विचार था कि गुरुकुल में तथा किसी भी विद्यालय में राजा-रंक सब के बच्चों को एक साथ समानरूप से रहना चाहिए। इन सब सुधार की बातों का समर्थन स्वामी दयानन्द ने वेदों के ही आधार पर किया। आपने स्थान-स्थानपर उपदेशक भेजे और बहुत-से विद्यालयों, कालेजों अनाथालयों, विधवाश्रमों, चिकित्सालयों की स्थापना की। आर्य-समाज के प्रचार के लिए उपदेश-मण्डलियाँ बनायीं गयीं जो स्थान-स्थान पर घूम कर वैदिक धर्म का सन्देश देती थीं, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करती थीं, और दूसरे धर्मवालों को "शुद्धि" द्वारा आर्य बनाने की कोशिश करती थीं। स्त्री-शिक्षा और अछूतोद्धार पर आप का विशेष जोर था। वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए 'गुरुकुलों' की स्थापना हुई।

"दयानन्द के बाद, आर्य समाज के काम को स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा, हंसराज और लाला लाजपत राय ने आगे बढ़ाया। श्रद्धानन्द गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्तक थे, हंसराज आधुनिक ढंग की शिक्षा-संस्थाओं के पोषक थे। स्थान-स्थान पर वैदिक कालेज खोले गये। गुरुकुलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी रक्खी गयी।

धर्म तथा सामाजिक सुधार के क्षेत्र में आर्य समाज ने जो कार्य किया, उसका भारत के नवजागरण में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। सदियों तक विदेशी तथा विधर्मी लोगों के शासन में रहने के कारण हिन्दू जनता में हीन भावना का विकास हो गया था। दयानन्द ने उसका ध्यान हिन्दू जाति और आर्य धर्म के प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट किया और उसमें नई स्फूर्ति का संचार किया। आपने उत्साहित किया कि एक बार पुनः भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करे। वेद संसार का सबसे प्राचीन धर्म ग्रंन्थ है, सब धर्मों का उद्भव आर्य-धर्म से ही हुआ है, आर्य जाति संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति अब भी संसार का मार्ग प्रदर्शित कर सकती है—इन विचारों से हिन्दुओं में अपूर्व उत्साह पैदा हुआ और वे अपनी कुरीतियों को दूर करने और उन्नति-पथ पर आरूढ़ होने के लिए उद्यत हो गये।" इसके अतिरिक्त

राज्य की कल्पना और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात सरकार हो गयी और उत्तरी भारत में जाग्रति की एक लहर सर्वत्र दौड़ पड़ी।

रामकृष्ण मिशन—दयानन्द के समकालीन एक महात्मा बंगाल में नव जीवन के संचार का प्रयत्न कर रहे थे। आपका नाम रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३४-१८८६) था। आप का प्रधान स्थान कलकत्ता के पास एक मन्दिर था जिसे आजकल 'बेलूर मठ' कहते हैं। आपने किसी नये धर्म या किसी नई संस्था को जन्म नहीं दिया। अपने अध्यात्म-चिन्तन, उच्च त्याग मय जीवन तथा पवित्र आदर्शों से सबको अपनी ओर खींचा। आपके एक शिष्य नरेन्द्रनाथ दत्त थे जो आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और अपने गुरू की शिक्षाओं को देश-विदेश में प्रसारित किया। "स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व अनुपम था, उनकी विद्वता अगाध थी, उनमें वह तेजस्विता विद्यमान थी जो अध्यात्म शक्ति के कारण उत्पन्न होती है। सन् १८६३ ई० में वे शिकागो की विश्व धर्म परिषद् (Parliameut of Religions) में शामिल हुए, और वहाँ भारतीय अध्यात्म ज्ञान पर उनका जो व्याख्यान हुआ, उसे सुन कर लोग चकित हो गये।" "रामकृष्ण मिशन द्वारा मानव मात्र की सेवा का कार्यक्रम बनाया गया और स्थान-स्थान पर उसकी शाखाएँ खोली गयीं। इससे पीड़ित जनता की सेवा की जाती है। इस संस्था के सदस्य देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और प्रतिमा पूजन को अध्यात्म शक्ति के विकास का साधन मानते हैं। रामकृष्ण परमहंस सब धर्मों की एकता और पवित्रता पर विश्वास रखते थे। आप का कहना था कि विविध धर्म एक ही ईश्वर तक पहुँचने के लिए विविध धर्म मार्ग हैं। ईश्वर एक है पर वह विविध रूपों में अपने को व्यक्त करता है।

रामकृष्ण मिशन ने हिन्दू जनता को बहुत प्रभावित किया और यहाँ की अशिक्षित, रोगग्रस्त, पददलित और पीड़ित जनता की सेवा करना इसका मुख्य उद्देश्य बन गया। उनका उद्देश्य था कि मनुष्य को अकृत्रिम और सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए क्योंकि भौतिकवाद अशान्ति को पैदा करता है और मनुष्य को सच्ची शान्ति से वंचित करता है।

थियासाफिकल सोसायटी—सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में सुधार करने वाली संस्थाओं में "थियासाफिकल सोसाइटी" का नाम भी प्रमुख है। पाश्चात्य लोगों के द्वारा इसकी स्थापना न्यूयार्क में सन् १८७५ ई० में हुई थी। इसकी भारतीय शाखा सन् १८७६ ई० में मद्रास के निकट स्थापित हुई। इस संस्था के सिद्धान्तों का प्रचार भारत में आयरलैंड की रहने वाली एक महिला श्रीमती एनीबिसेन्ट ने किया जिन्होंने भारत को हीअपनी मातृभूमि बना लिया था।

इस संस्था का मुख्य ध्येय पूरे मानव समाज को विकास और बन्धुत्व की ओर ले जाना था। इनका किसी धर्म से विरोध नहीं था। उनका विश्वास था कि प्रत्येक धर्म में कुछ न कुछ सत्य और पवित्रता है, अतः सबको अपने धर्म में निष्ठा रखनी चाहिये और अन्य सब धर्मों को पूरी सहानुभूति के साथ अध्ययन करना चाहिये। यही कारण था कि भारतवर्ष में भी इस संस्था का अच्छा प्रचार हुआ और स्थान-स्थान पर इस सोसाइटी की शाखाएँ स्थापित हुईं। इनके जलसों में, उपासना में, किसी भी जाति, धर्म, सम्प्रदाय और मत के लोग सम्मिलित हो सकते थे। ये लोग हिन्दू धर्म के एकेश्वरवाद और कर्म सिद्धान्त से प्रभावित होकर इसकी सत्यता में विश्वास करते थे।

सुधार आन्दोलन के प्रभाव—उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के इन प्रयासों का हमारे समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा—(१) जनता में शिक्षा तथा सुधार के पक्ष में एक नवीन दृष्टिकोण पैदा हुआ, (२) स्थान स्थान पर नये-नये स्कूल और कालेज की स्थापना हुई और उनसे निकलने वाले नवयुवकों को अपनी कमजोरी दूर करने का अवसर मिला, (३) सती-प्रथा, बालविवाह, बहु-विवाह जाति पांति की कठोरता, अस्पृश्यता, वैधव्य की कठोरता की ओर लोगों का ध्यान गया और स्थान-स्थान पर इनके विरोध की आवाज तेज होने लगी, (४) आर्य समाज ने हमारे प्राचीन राष्ट्रीय गौरव का ध्यान दिलाया और भारतीयों को अपने पैरों पर खड़ा होने का नियन्त्रण दिया। विवेकानन्द के व्याख्यानों से हमें अपने अतीत गौरव में विश्वास होने लगा और हमने दूसरे देश वालों के सामने अपना सिर ऊँचा करना सीखा। अपनी कमजोरियों से आँखें बन्द करना हमारे लिए घातक सिद्ध हुआ है—यह पाठ हमारी समझ में आ गया, (५) नयी खोज और वैज्ञानिक अनुसंधान के युग में हमें परम्परा-वादी होकर रहने से काम नहीं चलेगा—यह भी हमने समझा। इसीलिए कुछ

हद तक जाति-पाँति के बन्धन ढीले हुये, अस्पृश्यता का जोर कम हुआ, स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा में सुधार हुए, शिक्षा में नवीनता का प्रादुर्भाव हुआ और सामाजिक सेवा की प्रवृत्ति का प्रचार हुआ। (६) स्त्रियों को पुरुषों के समान सुविधा और अधिकार देने के लिए जनमत तैयार हुआ। भारतीय संविधान यह स्वीकृत भी हुआ है। (७) इन्हीं सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों के कारण भारतीय सुधारकों ने आगे चलकर हरिजन सुधार आन्दोलन को आगे बढ़ाया और महात्मा गाँधी की देख रेख तथा प्रेरणा से मन्दिर-प्रवेश और उनके सुधार का काम शुरू हुआ। उन्हीं के प्रभाव का कारण है कि हमारे नये संविधान में अस्पृश्यता को भीषण अपराध घोषित किया गया है। महात्मा जी की प्रेरणा से देश के भिन्न-भिन्न भागों में हरिजनों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए भी योजनाएँ बनायी गयीं। (८) बाल विवाह, विधवा विवाह, अन्तर्जातीय सम्बन्ध आदि के विषय में लोगों में नया दृष्टिकोण पैदा हुआ। स्त्री शिक्षा में भी लोगों की रुचि पैदा हुई। (९) महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज के आदर्श से प्रभावित होकर सन् १८८८ ई० में "दक्खन एजुकेशनल सोसायटी" की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य ऐसी शिक्षा-संस्थाओं को चलाना था जिससे निकले विद्यार्थी देश तथा समाज की सेवा-भावना से ओत-प्रोत हों। इसी सोसायटी ने पूना में फर्ग्युसन कालेज और सांगली में विलिंगडन कालेज की स्थापना की और उनमें नियुक्त अध्यापक जीवन-निर्वहन के लिए केवल ७५ रु० मासिक वेतन लिया करते थे। इसी प्रकार एक संस्था गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा स्थापित पूना की "सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी" भी है। सन् १९०५ ई० में इसकी स्थापना हुई थी। गोखले पहले २० वर्ष तक 'दक्खन एजुकेशन' सोसायटी में ७५ रु० मासिक वेतन पर काम करते थे। उनकी नयी संस्था के सदस्यों का व्रत देश-सेवा, और समाज-सेवा था।

मुसलमानों में जागृति—इस्लाम धर्म के अनुयायी कुछ अधिक कट्टर और अनुदार विचार के थे। वे कुरान के अतिरिक्त और किसी ज्ञान-विज्ञान के प्रचार के पक्ष में नहीं थे। प्रारम्भ में उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा की उपेक्षा की। पर अनुभव के आधार पर बाद को उन्हें गलती महसूस हुई और कुछ समझदार मुसलमानों ने अपने समाज में नयी जागृति पैदा करने की कोशिश की। सर सैयद खाँ ने सन् १८७५ ई० में अलीगढ़ में एक एंग्लो ओरिन्टियल कालेज

की स्थापना की जो आगे चल कर अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गया। बाद में अलीगढ़ मुस्लिम नव जागरण और इस्लामी संस्कृति का केन्द्र बन गया। मुसलमानों ने इस्लाम की प्राचीन संस्कृति और धर्म के अध्ययन के लिए कुछ संस्थाएँ खोलीं जिसमें देवबन्द (जिला सहारनपुर) का मदरसा बहुत प्रसिद्ध हुआ।

ब्रिटिश सरकार और सामाजिक सुधार—ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी कि सरकार को देश के धार्मिक और सामाजिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। अनुभव के आधार पर उन्होंने यह निश्चय किया था कि इस प्रकार के हस्तक्षेप से अंग्रेजों को नुकसान होगा। अतः उन्होंने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। पर उन्नसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही उनके समक्ष कुछ ऐसी कुरीतियाँ आयीं, जिनका निराकरण करना उन्होंने आवश्यक समझा ऐसी कुरीतियों की उपेक्षा करना किसी भी सभ्य सरकार के लिए उचित नहीं है। राजाराम मोहन राय जैसे हिन्दू सुधारकों ने तत्कालीन शासकों को इस सम्बन्ध में उचित कार्य करने के लिए जोर दिया। इसीलिए सन् १८२६ ई० में सती की प्रथा को सरकार ने अवैध घोषित किया और यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई व्यक्ति सती होने में सहायक हो, तो उसे दण्ड दिया जाय। इसी प्रकार सन्तान की बलि देने, पुत्री की हत्या करने की कुछ स्थानीय प्रथाओं को भी सरकार ने कानून बना कर रोका। फिर भी ब्रिटिश शासक इस बात के लिए सतर्क रहते थे कि वे किसी ऐसी बात में अपनी ओर से हस्तक्षेप न करें जो धार्मिक दृष्टि से भारतीयों को नापसन्द और अप्रिय हो। बीसवीं सदी में कुछ भारतीयों की प्रेरणा और आग्रह से सरकार ने इस प्रकारके नियम बनाये जिनसे अछूतों को कुछ मदद मिल सके और उनकी स्थिति में कुछ सुधार हो सके। स्त्री-शिक्षा के लिए सरकार ने आर्थिक मदद दी और स्थान-स्थान पर स्त्रियों के पढ़ाई के लिए शिक्षा संस्थाएँ भी खोली गयी। यह सच है कि धार्मिक तथा सामाजिक सुधार के कार्य में भारतीय सुधारकों को अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ा और जो कुछ भी काम इस दिशा में हुआ उसका अधिक श्रेय उन सुधारकों के उत्साह, लगन तथा सेवा-प्रवृत्ति को ही है। सरकार तो इन कामों में एक निष्क्रिय दर्शक के रूप में रही है।

चौवालीसवां परिच्छेद

भारत में राष्ट्रीयता का विकास और गाँधी जी की देन

राष्ट्रीयता का विकास—अठारहवीं शताब्दी में धर्म, समाज, शिक्षा, साहित्य सभी क्षेत्रों में भारतवासी अपने मन को खोकर कैसा चिन्तनीय जीवन व्यतीत कर रहे थे, और उन्नीसवीं शताब्दी में किस प्रकार यहाँ जागृति का कार्य आरम्भ हुआ, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं के संस्थापकों और सदस्यों ने विभिन्न क्षेत्रों में क्या क्या सुधार किया, यह हम पिछले परिच्छेदों में बता चुके हैं। यद्यपि इनके आन्दोलनों का प्रधान विषय राजनीति नहीं था, पर इस क्षेत्र में भी इनसे बहुत सहायता मिली। राजा राममोहनराय ने शिक्षा प्रचार के अतिरिक्त कई राजनैतिक सुधारों के लिए भी प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द जी ने अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में निर्भीकता-पूर्वक लिखा कि विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, अच्छा होता है। स्वामीजी के उपदेश से लोगों में स्वदेशी और स्वराज्य की भावना पुनः जागृत हुई। थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्षा ऐनी बिसेन्ट ने तो राजनैतिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रियात्मक भाग लिया, और इनके लिए वह हर्ष-पूर्वक जेल गयीं। श्री रामकृष्ण परमहंस और इनके शिष्य श्री० विवेकानन्दजी ने विदेशों में भारतवर्ष की महत्ता बतायी। इन विविध महानुभावों के परिश्रम से यहाँ के लोगों में स्वाभिमान उत्पन्न हुआ, और इस प्रकार राष्ट्रीयता के भावों के विकास में सहायता मिली।

राष्ट्रीयता के प्रचार के कारण—आधुनिक काल में यहाँ एकता और

राष्ट्रीयता के भावों का प्रचार करने में कई बातों ने योग दिया है। उसमें योरपियनों और विशेषतः अंगरेजों के संसर्ग का भी अच्छा स्थान है। भारतवासी उनके नये रहन-सहन और अनोखे रङ्ग ढङ्ग को देखकर चकित हुए। ईसाई पादरियों ने हमारे अवगुणों को खूब बढ़ा चढ़ा कर दिखाया और हमें विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि हमारेपूर्वज जंगली थे और भारतवर्ष अब भी असभ्य है। उनका जादू चल गया, और हम उनका अंधाधुन्ध अनुकरण करने लग गये। कुछ समय पश्चात् इसमें परिवर्तन होने लगा; परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह था कि संस्कृत साहित्य के कुछ अंशों का योरपीय भाषाओं में अनुवाद होने से, योरप वाले भारतीय उच्च विचार, ज्ञान और सभ्यता से परिचित होकर उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। योरपीय विद्वानों का मत अपने देश के विषय में अच्छा पाकर, भारतवासी भी अपना प्राचीन गौरव स्मरण करने लगे। अब पश्चिमी बातों में वैसी श्रद्धा न रही, विदेशी विचारों की छानबीन की जाने लगी और स्वदेशी भावों के प्रति आदर बढ़ने लगा।

शिक्षा और विज्ञान—ईस्ट-इंडिया-कम्पनी ने अपने व्यापार का काम चलाने के लिए क्लर्क पैदा करने के वास्ते लोगों को पढ़ाने-लिखाने का प्रयत्न किया। इससे देश के निम्न श्रेणी के भी कुछ आदमियों में शिक्षा का प्रचार होने से उनके विचारों में उथल पुथल होने लगी। साथ ही, धर्म ग्रंथों का कठिन संस्कृत से सुगम प्रचलित भाषाओं में अनुवाद होने और छापेखाने की सहायता से यह साहित्य देशी भाषाओं में बहुत सस्ता ही मिल जाने के कारण जन-साधारण को उसका ज्ञान सुलभ हो गया। उनमें सोचने विचारने की भावना बढ़ी; वे अपनी तथा देश की परिस्थिति समझने लगे। इसके अति-रिक्त, पाश्चात्य संसर्ग के साथ यहाँ भौतिक विज्ञान का भी प्रचार बढ़ा। देश में शिक्षा और वैज्ञानिक अविष्कारों तथा यंत्रों के प्रचार की वृद्धि होने से लोगों को विविध प्रकार की विचार- सामग्री मिली और जागृति तथा राष्ट्रीयता का मार्ग सुगम हुआ।

अन्य देशों की जागृति का प्रभाव—जापान ने अपनी मजबूत

राज्य-प्रणाली स्थापित की और पश्चिम के विशाल रूस देश को रण-क्षेत्र में परास्त किया। अरब, मिश्र, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशों ने भी अच्छी प्रगति कर दिखायी। चीन जैसे प्राचीन रूढ़ियों के समर्थक तथा स्वेच्छाचारी शासन वाले देश ने प्रजातंत्र राज्य-पद्धति का स्वागत किया। निदान, एक प्रकार से समस्त एशिया महाद्वीप में जागृति का सञ्चार हुआ। यह लहर भारत वर्ष में आये बिना कैसे रहती! आगे पीछे इसने भारतीय जागृति और राष्ट्रीयता को किसी न किसी रूप में सहायता प्रदान की है।

प्रवासी भारतीयों की दुरावस्था—समय समय पर भिन्न-भिन्न कारणों से कुछ भारतीय विदेशों में गये थे। उनका अपने देश में आदर न था, बाहर उन्हें क्या सम्मान मिलता? ब्रिटिश साम्राज्य में, दक्षिण अफ्रीका में भारतीय पुरुष-स्त्रियों को बहुत कष्ट-पूर्ण और अपमानजनक जीवन बिताना पड़ा। इससे नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को अनुभव हो गया कि पराधीन रहने के कारण, ब्रिटिश साम्राज्य में, हमारी कैसी बुरी अवस्था है; और इन कष्टों को दूर करने का रहस्य भारतवर्ष की स्वाधीनता में ही है। निदान, प्रवासी भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों ने इस देश से ब्रिटिश साम्राज्य का मोह हटाने में, और स्वतन्त्रराष्ट्र बनाने की भावना में भारी सहायता दी है। पुनः जिस सत्याग्रह और असहयोग को, शान्ति और अहिंसा को, यहाँ आन्दोलन का प्राण बनाया गया, उसका प्रथम प्रयोग भी दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। इससे स्पष्ट है कि प्रवासी भारतीयों की दुरावस्था का हमारी राष्ट्रीय-वृद्धि में महत्व-पूर्ण भाग है।

राष्ट्रीयता की परीक्षा—भारतवर्ष के हिन्दू मुसलमान सामन्तों और जागीरदारों आदि ने मिलकर सन् १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-युद्ध में भाग लिया। इससे विदित होता है कि भारतवर्ष में उस समय राष्ट्रीय भावों का प्रचार आरम्भ हो गया था? परन्तु उस युद्ध की असफलता से यह भी प्रमाणित होता है कि उस समय तक राष्ट्रीयता का विकास बहुत अपूर्ण और अपर्याप्त हो पाया था। राष्ट्रीय आन्दोलन ऊपर की सतह तक परिमित था, उसे सर्वसाधारण जनता ने नहीं अपनाया था। सन् १८५७ ई० की असफलता के बाद देश में कोई ऐसा संगठित दल न रहा जो विदेशी सत्ता का इस कार

सामना करे। तत्कालीन समाज-संगठन के अनुसार दो ही विचार-धाराएँ मुख्य थीं—(१) सशस्त्र युद्ध या (२) पराधीनता की स्वीकृति। युद्ध, राजाओं और सामन्तों के नेतृत्व में ही हो सकता था, इसलिए उनकी विफलता के बाद राजनैतिक अवस्था ऐसी हो गयी कि हमने विदेशी राज्य को स्वीकार कर लिया, और उसके अनुसार अपने को ढालने का कार्य आरम्भ कर दिया। हाँ, जब कभी कोई बात विशेष कष्टदायक या अपमानजनक प्रतीत हुई तो उसे सुधारने की सुविधाएँ प्राप्त करने का यत्न किया गया। इस प्रकार स्वातंत्र्य युद्ध की असफलता ने देश में विधानवाद और ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया के समर्थकों को नेतृत्व प्रदान किया। ऐसे ही विचारों के परिणाम-स्वरूप यहाँ अगले पच्चीस वर्ष में कई संस्थाएँ स्थापित होकर अन्ततः सन् १८८५ ई० में कांग्रेस या राष्ट्र-सभा का जन्म हुआ।

कांग्रेस की स्थापना—उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यहाँ सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्र-सभा अर्थात् कांग्रेस का जन्म हुआ। इसकी स्थापना में योग देने वाली शक्तियों के उद्देश्य अलग-अलग थे। उदाहरण के लिए, भारतीय परिस्थिति के अच्छे अनुभवी ह्यूम साहब ने, जो काँग्रेस की स्थापना करने वालों में से थे, इसलिए इसमें सहयोग किया था कि देश प्रेमी और शिक्षित भारतवासियों का असन्तोष उग्र रूप धारण न करे। उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड डफरिन तथा कुछ अन्य अधिकारियों को, इस काम के प्रति सहानुभूति दिखाने का उद्देश्य यह था कि सरकार प्रजा के भावों को तथा उसके बलाबल को जान सके, और परिस्थिति के अनुसार उसकी गतिविधि निश्चित कर सके। कुछ आदमी धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए ही काँग्रेस में सम्मिलित होना चाहते थे, वे इसे राजनैतिक संस्था बनाने के पक्ष में न थे; और पीछे जब यह संस्था राजनैतिक ही हो गयी, तो वे इससे अलग हो गए।

शुरू में लोगों को यह आशा रही कि पार्लियामेंट का व्यवहार ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अपेक्षा, जो एक व्यापारिक संस्था थी, अच्छा रहेगा। इस धारणा का कारण महारानी विक्टोरिया की घोषणा भी थी, जिसमें कई उदार प्रतिज्ञाएँ की गई थीं, और जिसे अधिकार पत्र माना गया था। लेकिन ब्रिटिश सरकार

ने समय-समय पर ऐसे कार्य किए कि यहाँ लोगों की आशा और विश्वास को गहरा धक्का पहुँचा।

मार्ले-मिन्टो-सुधार—सन् १९०९ में मार्ले मिन्टो-सुधार किए गए। भारतमन्त्री की इङ्गलैण्ड की सभा अर्थात् इण्डिया-कौंसिल में दो भारतीयों के रहने का नियम किया गया, परन्तु उनका निर्वाचन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा न होकर शासकों के अधीन रखा गया। विधान परिषदों में गैर-सरकारी मेम्बरों की संख्या बढ़ाई गई, लेकिन उनका चुनाव का अधिकार सरकारी अधिकारियों को ही रहा और राष्ट्रीयता नष्ट करनेवाले जातिगत या साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की भी स्थापना हुई। इन सुधारों से कुछ आदमियों को थोड़ा सन्तोष हुआ; शीघ्र ही उनमें से भी बहुतों का भ्रम दूर हो गया। भारतवासी जाग तो रहे ही थे, कि १९१४-१८ के योरपीय महायुद्ध ने उन्हें और भी सचेत कर दिया। मित्र राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों के मुँह से छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता, और 'आत्म-निर्णय के सिद्धान्त' आदि की बातें सुनकर, तथा आयर्लैंड को स्वराज्य पाते देखकर, भारतवासी भी अपने जन्म-सिद्ध अधिकार—स्वराज्य—पाने का निश्चय करने लगे।

मुस्लिम लीग—अधिकारियों की मेहरबानी वा सत्कार से लाभ उठाने के लिए सन् १९०६ में मुसलमानों ने मुस्लिम लीग नाम की एक अलग संस्था बनाई। उसने बङ्गाल के दो टुकड़े किये जाने की सराहना की। सन् १९०९ के शासन सुधारों में सरकार द्वारा मुसलमानों के लिए अलग चुनाव का सिद्धान्त मान लिए जाने पर लीग ने साम्प्रदायिकता का प्रचार खूब किया। क्रमशः कांग्रेस ने लीग से समझौता करना जरूरी समझा जिससे ब्रिटिश सरकार के सामने देश की सम्मिलित मांग रखी जा सके। सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस और लीग दोनों से मंजूर होने पर शासन-सुधार की जो योजना बनी उसे कांग्रेस योजना कहते हैं। इसके अनुसार कांग्रेस ने भी साम्प्रदायिक निर्वाचन स्वीकार कर लिया।

पार्लियामेंट की घोषणा—कांग्रेस-लीग-योजना के अलावा देश में और भी कई सुधार-योजनाएँ तैयार हुईं, और स्वराज्य की मांग हुई। अन्त में भारत-मन्त्री ने २० अगस्त १९१७ ई० को पार्लियामेंट में इस आशय की घोषणा

की:—'ब्रिटिश सरकार की नीति शासन के प्रत्येक भाग में अधिकाधिक भारतीयों को स्थान देने तथा क्रमशः स्वराज्यसंस्थाएँ बढ़ाने की है, जिससे भारतवर्षब्रिटिश साम्राज्य का अङ्ग रहता हुआ धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन प्राप्त कर सके। ब्रिटिश सरकार तथा भारत-सरकार पर ही भारतीय जनता के कल्याण और उन्नति का उत्तरदायित्व है, इसलिए वे ही प्रत्येक उन्नति-क्रम का निश्चय करेंगी।' इस नीति में, अधिकारियों की, सुधार-कार्य में फूँक-फूँक कर कदम बढ़ाने की भावना स्पष्ट थी।

रौलेट एक्ट और सत्याग्रह—इस अवसर पर सरकार ने जनता के प्रतिनिधियों के घोर-विरोध की कुछ परवाह न कर, एक दमनकारी कानून बना डाला, जो पीछे जनता में रालेट एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे नेताओं और अधिकारियों में तीव्र मतभेद हो गया। देश भर में इस कानून के विरुद्ध आन्दोलन जारी हुआ। महात्मा गाँधी ने जनता को सत्याग्रह का रास्ता दिखाकर इसे व्यापक रूप प्रदान किया। रविवार के दिन घर-घर व्रत रखना, बाजार का सब काम बन्द रहना, हड़ताल होना, नंगे पांव और नंगे सिर, असंख्य जनता का शहर-शहर में और अनेक कस्बों व गांवों तक में, शोक-सूचक जलूस निकालना, रालेट एक्ट के विरोध में स्थान-स्थान पर भाषण होना—इन बातों से छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सब में साहस स्वावलम्बन और त्याग की भावना बढ़ने लगी। हिन्दू मुसलमानों में भाईचारा हो चला।

यह आन्दोलन शान्तिमय था, तो भी अधिकारी इसे सहन न कर सके। उन्होंने इसे दबाने में खूब शक्ति लगाई। कई जगह निहत्थों जनता के लिए पुलिस के सोटे अथवा बन्दूक भी काफी न समझी जाकर मशीनगनों तक का व्यवहार किया गया। योरपीय महायुद्ध में रङ्गरूटों के रूप में सहायता देने वाले और अच्छे-अच्छे इनाम या पुरस्कारों की आशा रखने वाले पञ्जाब पर तो और भी बेढब बीती। मार्शल ला (फौजी कानून) और डायरशाही के भयङ्कर दृश्य देखने पड़े। जहाँ कोड़े मारने, पेट के बल चलाने और गोलियों की वर्षा करने के ही नहीं. हवाई जहाजों से बमबाजी-जैसे रोमांचकारी कार्य हुए, जो स्वयं कितने ही ब्रिटिश नेताओं के मत से सर्वथा अ-ब्रिटिश हैं, और ब्रिटिश शासन के इतिहास में कलक के टीका माना गया।

राष्ट्रीय सप्ताह और रचनात्मक कार्य—ता० १३ अप्रैल १९१९ को अमृतसर में सरकारी दमन की वह क्रूर घटना हुई थी जिसे आम बोलचाल में 'जलियांवाला-बाग-कांड' कहा जाता है। इसकी याद में हर वर्ष ६ से १३ अप्रेल तक 'राष्ट्रीय-सप्ताह' मनाया जाने लगा। इस सप्ताह में आगे लिखे रचनात्मक कामों की ओर खास ध्यान दिया जाता है—(१) साम्प्रदायिक एकता, (२) अस्पृश्यता-निवारण (३) नशाखोरी हटाना, (४) खादी-प्रचार, (५) ग्रामोद्योग, (६) गाँवों की सफाई, (७) बुनियादी शिक्षा (८) प्रौढ़ शिक्षा, (९) स्त्रियों की उन्नति, (१०) स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा, (११) राष्ट्रभाषा का प्रचार, (१२) अपनी भाषा में प्रेम, (१३) आर्थिक समानता, और (१४) किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का सङ्गठन।

मांट-फोर्ड सुधार—सन् १९१९ के शासन-सुधारों को भारत मन्त्री मॉंटेग्यू और गवर्नर-जनरल चेम्सफोर्ड के नाम पर, संक्षेप में मॉंट-फोर्ड-सुधार कहते हैं। उनसे उत्तरदायी शासन पद्धति केवल नौ प्रान्तों में, वह भी थोड़े से विषयों में, आरम्भ की गई। केन्द्रीय शासन में उसका सूत्रपात नहीं किया गया; भारत-सरकार ब्रिटिश पार्लियामेंट के ही प्रति उत्तरदायी रही, भारतीय जनता के प्रति नहीं हुई। भारतीय विधान-मण्डल के मेम्बरों की संख्या बढ़ाई गई और दो सदन बने—राज्यपरिषद और भारतीय व्यवस्थापक सभा। प्रान्तीय व्यावस्थापक परिषदों के लिए सदस्यों की संख्या, जनसंख्या के अनुसार निश्चित कीगई। इन परिषदों में ७० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने लगे। मताधिकार ब्रिटिश भारत की चौबीस करोड़ जनता में से केवल तीन फी सदी को दिया गया। सरकार ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अपना लिया; और उसे इन सुधारों में शामिल करके व्यवस्थापिका सभाओं में मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व तथा पृथक निर्वाचन का अधिकार दे दिया। अस्तु, सन् १९१९ ई० की कांग्रेस ने निश्चय किया कि उसकी राय में शासन सुधार का कानून अधूरा, असन्तोषप्रद और निराशाजनक है; वह चाहती है कि पार्लियामेंट भारत में शीघ्र उत्तरदायी शासन स्थापित करने का प्रबन्ध करे, कांग्रेस किसी तरह से पूर्ण उत्तरदायी शासन प्राप्त करने की कोशिश करेगी।

इन सुधारों के बाद—पञ्जाब हत्याकांड के सम्बन्ध में सरकार ने

कोई सन्तोषजनक कार्रवाई नहीं की। उलटा, उसने कुछ अफसरों को इनाम तक दिया। खिलाफत के मामले में यहाँ बड़ा असन्तोष रहा। टर्की का सुलतान भारतवर्ष के भी मुसलमानों का खलीफा या प्रधान धर्म-गुरु था; और इङ्गलैण्ड आदि मित्र-राष्ट्रों ने योरपीय महायुद्ध में भारतीय मुसलमानों की मदद पाने पर भी, जीत के बाद अपने स्वार्थ के लिए टर्की के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इस पर अनेक हिन्दू और मुसलमानों ने म० गांधी के आदेश के अनुसार असहयोग किया, अर्थात् सरकारी स्कूल, अदालतों, नौकरियों और कौंसिलों का बहिष्कार किया। सन् १९२० में कांग्रेस के उद्देश्य में से ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहने की बात निकाल दी गई। इसी वर्ष नये सुधारों के अनुसार व्यवस्थापिका सभाओं का पहला निर्वाचन हुआ। बहुत से योग्य आदमियों ने असहयोगी होने के कारण उसमें भाग न लिया।

सन् १९२२ में महात्मा गांधी के कैद किये जाने पर, कुछ असहयोगियों ने स्वराज्य दल बनाकर अन्य बहिष्कारों में श्रद्धा रखते हुए भी, कौंसिलों में जाना और थोथे सुधारों को नष्ट करना उचित समझा। इन्होंने विधान सभाओं के १९२३ ई० के चुनावों में भाग लिया। स्वराज्य दल के कारण सन् १९२३ से १९२६ तक बङ्गाल और मध्यप्रान्त में मन्त्रियों का वेतन ना मंजूर हुआ, या नाममात्र के लिये मंज़ूर हुआ और सरकार की बराबर हार हुई। तो भी मन्त्री अपने पद पर बने रहे। इससे शासन का लोकप्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी न होना स्पष्ट हो गया कांग्रेस का प्रचार हुआ।

साइमन कमीशन—सन् १९१९ ई० के अधिनियम में ऐसी व्यवस्था की गई थी कि दस वर्ष में एक कमीशन इस बात की जांच करे कि उस समय जो उत्तरदायी शासन प्रचलित हो, उसे कहाँ तक बढ़ाना, बदलना या घटाना ठीक है। यह कमीशन सन् १९२७ ई० में नियुक्त हुआ, और अपने सभापति के नाम से साइमन कमीशन कहलाया। इसके सातों सदस्य अँगरेज थे, वे भी अनुदार विचार वाले। अतः यहाँ के विविध राजनैतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया। कमीशन की रिपोर्ट सन् १९२९ में प्रकाशित हुई। पीछे सन् १९३०-३२ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों, और अंगरेजों की लन्दन में तीन बार गोलमेज-सभाएँ हुईं। इनमें से सिर्फ दूसरी में ही

कांग्रेस ने भाग लिया। उसकी तरफ से महात्मा गांधी वहाँ गए थे। इन्होंने जान लिया कि सरकार का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है, और वह भारतीय जनता को कुछ असली अधिकार देने को तैयार नहीं है। वे निराश होकर लौट आए।

कम-से-कम मांग, औपनिवेशिक स्वराज्य-योजना—इस बीच में यहाँ के विविध दलों के नेताओं ने भारतवर्ष की कम-से-कम माँग भी प्रकाशित कर दी। सन् १९२८ में पं० मोतीलालजी नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त हुई, इसकी रिपोर्ट 'नेहरू कमेटी रिपोर्ट' कहलाती है। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

ब्रिटिश साम्राज्य में भारतवर्ष का वही दर्जा होगा, जो कनेडा, आस्ट्रेलिया; न्यूजीलैंड; दक्षिणी अफ्रीका, और आयरिश फ्री-स्टेट नाम के स्वराज्य प्राप्त राष्ट्रों का है। भारतवर्ष में एक ऐसी पार्लियामेंट होगी, जो शान्ति तथा शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में कानून बना सकेगी। इसके साथ ही यहाँ एक ऐसा शासक मण्डल होगा जो भारतीय पार्लियामेंट के सामने जिम्मेवार ठहराया जा सकेगा। भारत का राष्ट्र 'भारतवर्ष का कामनवेल्थ' कहलायेगा। भारतवर्ष को अपने सैनिक प्रबन्ध, सर्वोच्च न्याय, कर निर्धारण और नियम-निर्माण आदि का पूर्ण अधिकार होगा। इक्कीस वर्ष या अधिक उम्र के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मताधिकार रहेगा। सारे देश की सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी होगी, जो उर्दू और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकेगी। अंगरेजी का उपयोग किया जा सकेगा। प्रान्तीय सरकार की वही भाषा होगी जो उस प्रान्त की प्रधान भाषा हो, पर हिन्दुस्तानी और अंगरेजी का उपयोग हो सकेगा।

स्वाधीनता का प्रस्ताव और प्रतिज्ञा—ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस योजना पर ध्यान न दिया। निर्धारित समय तक इन्तजार करने के बाद लाहौर में काँग्रेस ने ३१ दिसम्बर १९२९ को स्वाधीनता-प्रस्ताव पास किया। तब से हर वर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाने लगा। इस शुभ दिन स्वाधीनता प्राप्ति की प्रतिज्ञा दोहराई जाती थी, उस ध्येय के उपायों का विचार किया जाता था, जिससे स्वाधीनता आन्दोलन ढीला न होने पाए। इस प्रतिज्ञा का रूप समय-समय पर बदलता रहा है।

सन् १६३० में नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह शुरू किया गया। आन्दोलन धीरे धीरे बढ़ता गया। सरकार ने भी नये-नये आर्डिनेन्स वा फरमान निकालकर खूब जोर का दमन किया। बहुत से माई के लालों ने लाठी वर्षा या जेल की तकलीफें सहीं, और कितने ही तो गोलियों के शिकार होकर मातृभूमि के काम आए।

साम्प्रदायिक निर्णय, पूना का समझौता—गोलमेज सभाओं की बात पहिले कही गई है। दूसरी गोलमेज सभा में शासन सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार करने के लिए कुछ कमेटियाँ बनाई गई थीं। उस कमेटियों में से अल्पसंख्यक-कमेटी किसी ऐसे निर्णय पर न पहुँच सकी, जो सब को स्वीकार हो। अन्त में कुछ 'प्रतिनिधियों' के कहने पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने सब पक्षों के एकमत होने तक के लिए अपना निर्णय दिया; उसके अनुसार भारतीय मत-दाता कई अलग अलग श्रेणियों में बाँट दिये गए। इससे साम्प्रदायिक मुसल-मानों को छोड़, और सब असन्तुष्ट रहे। इस निर्णय ने 'दलित' जातियों को हिन्दुओं से अलग निर्वाचनाधिकार दे दिया। उस समय गांधी जी जेल में थे, हिंदुओं में फूट डालने का वह प्रयत्न उनसे न देखा जा सका। उन्होंने १८ अगस्त १६३२ को घोषणा करदी कि जबतक इस निर्णय में सुधार न होगा, तब तक मैं आमरण उपवास करूँगा। महात्मा जी के अनशन से देश भर में हलचल मच गई। सरकार ने नेताओं को उनसे मिलने की अनुमति दे दी। अन्त में निश्चय हुआ कि व्यवस्थापक सभाओं में; कुछ शर्तों के साथ दलितों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जायँ; और वे पृथक निर्वाचन की बात छोड़ दें। पूना के इस समझौते को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया।

कांग्रेस और असेम्बली का चुनाव—वहाँ की विधान सभाओं में कुछ विशेष तत्व न होने से कांग्रेस ने कई वर्ष उनमें असहयोग किया। पर सन् १६३४ ई० में 'असेम्बली' के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया किया गया। इसका एक कारण यह था कि पिछली भारतीय विधान सभा दमनकारी तथा व्यापार-घातक कानून बनाने में सहायक हुई थी, और सरकार को यह कहने का अवसर मिला था कि भारतीय 'प्रतिनिधि' उसकी नीति का समर्थन करते हैं। इसके अलावा चुनाव में भाग लेने के मुख्य दो कारण ये थे :—

(१) शासन-विधान के सरकारी-मसविदे (श्वेत-पत्र) को अस्वीकार करना, और (२) संविधान-सभा (कान्सटीच्यूएण्ट ऐसेम्बली) का आयोजन। कांग्रेस इस चुनाव में खूब सफल रही।

देशी राज्यों की जागृति—देशी राज्यों के निवासियों पर, 'ब्रिटिश भारत' में रहने वाले अपने पड़ोसियों के शासन-सुधार और आजादी के आन्दोलन का असर पड़े बिना न रहा। सत्याग्रह और विदेशी बहिष्कार आदि में उन्होंने भरसक भाग लिया। धीरे धीरे उनमें अधिकाधिक जागृति होती गई। कई रियासतों में अत्याचारों को हटाने के विविध आन्दोलन हुए, परन्तु अच्छे सङ्गठन वाली, एक अखिल भारतवर्षीय संस्था की आवश्यकता थी। अन्त में 'देशी राज्य लोक परिषद्' की स्थापना हुई, जिसका प्रथम अधिवेशन सन् १९२७ ई० में हुआ। इसका उद्देश्य देशी नरेशों के सुधार करने के लिए प्रेरित करना, तथा समय-समय पर सरकार के सामने प्रजा की माँग उपस्थित करना था।

लोक-परिषद् की ओर से सन् १९२७ ई० को मदरास-काँग्रेस में प्रतिनिधि-मण्डल गया, और उसके प्रयत्न से काँग्रेस ने देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की माँग स्वीकार की। नेहरू रिपोर्ट में इस बात का आश्वासन दिया गया कि भावी भारत-सरकार देशी राज्यों की जनता के अधिकारों की पूरी तौर से रक्षा करेगी। देशी राज्यों का ब्रिटिश सरकार से क्या सम्बन्ध रहे, तथा 'ब्रिटिश-भारत से आर्थिक सम्बन्ध कैसा हो, इस विषय का विचार करने के लिए सरकार ने दिसम्बर १९२७ ई० में 'इण्डियन स्टेट्स कमेटी' नियुक्त की जिसे उसके सभापति के नाम पर बटलर कमेटी कहते हैं। उसने देशी राज्यों में भारत सरकार के हस्तक्षेप-अधिकार को और भी दृढ़ किए जाने की सलाह दी। यह बात राजाओं को पसन्द नहीं आई। पर जनता के विचार से भी कमेटी की रिपोर्ट बहुत असन्तोषजनक रही। लोक-परिषद् ने अपना प्रतिनिधि-मण्डल इङ्गलैण्ड भेजकर उसका विरोध किया। परिषद् ने कई रियासतों में होनेवाले अत्याचारों की स्वतन्त्र रूप से जांच की, और पुस्तकों, समाचार पत्रों तथा भाषणों द्वारा अपना प्रचार-कार्य किया।

सन् १९३१ ई० में परिषद् ने सर्व-साधारण के सामने देशी राज्यों में ये

माँगें उपस्थित कीं :—१—देशी राज्यों के लोगों का सङ्घ राज्य की नागरिकता, और उनके मूल अधिकार सङ्घ शासन-विधान में दर्ज हों। २—देशी राज्यों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिये शासन-विधान में संघ राज्य के न्यायालय की व्यवस्था हो। ३—केन्द्रीय (भारतीय) विधान सभा में देशी राज्यों के लोगों को प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, और इसके लिए उन्हें भी 'ब्रिटिश भारत' में प्रचलित निर्वाचन-पद्धति और मताधिकार मिले। ४—भारतीय राज्यों के न्यायालयों का सम्बन्ध सङ्घ-राज्य के सुप्रीम कोर्ट से हो। धीरे-धीरे देशी राज्यों की जनता अपने अधिकार पाने के लिए आगे बढ़ती गई, पर कितने ही देशी नरेश इस जाग्रति को दबाने के लिए उस पर अत्याचार करने लगे। इस पर महात्मा जी ने सन् १९३८ ई० के अन्त में देशी नरेशों को चेतावनी देते हुए, 'हरिजन' में साफ-साफ कह दिया कि 'या वे अपना अस्तित्व बिलकुल मिटा देने के लिए तैयार हो जायँ या अपनी प्रजा को पूर्ण उत्तरदायी शासन के अधिकार दें और स्वय उसके संरक्षक होकर रहें तथा अपने परिश्रम के लिए पुरस्कार लें।' उस समय काँग्रेस भारतवर्ष की स्वाधीनता की लड़ाई चला रही थी; वह इस देश की एक तिहाई जनता के प्रति उदासीन नहीं रह सकती थी।

लीग की राजनीति—सन् १९१३ में लीग के मुख्य उद्देश्य ये थे :—मुसलमानों में ब्रिटिश साम्राज्य की वफादारी के ख्यालों का प्रचार, मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा, तथा इंगलैंड की अधीनता में स्वराज्य प्राप्त करना। समय-समय पर इसमें परिवर्त्तन हुआ। सन् १९२१ २२ में खिलाफत आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन का भाग बना लिए जाने से यह समय हिन्दू मुस्लिम एकता का रहा। सन् १९२८ में काँग्रेस और लीग दोनों ने साइमन-कमीशन का बहिष्कार किया। सन् १९२७ में जब सर मोहम्मद शफी आदि पृथक् निर्वाचन के पक्ष में थे तो श्री० जिन्ना और अली भाइयों ने कुछ शर्तों के साथ सम्मिलित चुनाव का पक्ष लिया था। लेकिन सन् १९२९ में लीग का अधिवेशन श्री० जिन्ना के सभापतित्व में हुआ; उसमें पृथक् चुनाव और लीग की १५ शर्तों की घोषणा की गई। सन् १९३० में सर मोहम्मद इकबाल ने

लीग के सभापति की हैसियत से दिए हुए भाषण में 'पाकिस्तान' की योजना रखी।

सन् १९३७ में लीग का लक्ष्य भारतवर्ष की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना। लीग प्रजातंत्र राज्य स्थापित करना चाहती थी, और पूर्ण स्वाधीन भारत के संविधान में मुसलमानों तथा दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के लिए संरक्षण चाहती थी। उसने अपने आपको काँग्रेस के मुकाबले संस्था बनाने की कोशिश की। इस वर्ष जो नए चुनाव हुए उनमें बंगाल और पंजाब की व्यवस्थापक सभाओं में मुसलमानों का बहुमत हो गया। लेकिन बंगाल में मुस्लिम लीग को सब मुसलिम सीटों की सिर्फ एक-चौथाई मिली, और पंजाब में यूनियन-पार्टी का ही बहुमत रहा; वहाँ के ८४ मुसलिम सदस्यों में से सिर्फ एक सदस्य मुसलिम लीग का चुना गया। हाँ, इन प्रान्तों के प्रधान-मन्त्री अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए पीछे लीग में शामिल हो गये। सिंध में लीग का एक भी सदस्य नहीं चुना गया। यही हाल पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त का हुआ, जो सबसे अधिक मुसलिम प्रान्त था। मुसलिम लीग की ऐसी हार देखकर श्री० जिन्ना ने काँग्रेस के साथ मिलकर संयुक्त मन्त्रि-मंडल बनाने का विचार किया, इसे काँग्रेस ने स्वीकार न किया। अब लीग ने यह झूठा प्रचार करना शुरू किया कि काँग्रेसी सरकार वाले प्रान्तों में मुसलमानों पर बहुत ज्यादतियाँ हुई हैं। जब सन् १९३९ में काग्रेस-मन्त्री-मन्डलों ने इस्तीफे दिए तो लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया।

पाकिस्तान—अब से श्री० जिन्ना प्रजातन्त्र शासन का विरोध करने लग गए। वे यह मानने लग गए कि भारतवर्ष में दो राष्ट्र हैं—हिन्दू राष्ट्र और मुसलिम राष्ट्र; इनके लिए अलग-अलग राज्य कायम किए जाने चाहिएँ। मुसलमानों के लिए पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त बिलोचिस्तान, पंजाब और सिंध में तथा बंगाल और आसाम में मुस्लिम राज्य हों; इसे 'पाकिस्तान' कहा जाय और शेष भारत में (मुसलिम राज्यों को छोड़कर) हिन्दू राज्य हों। सन् १९४० में लाहौर के अधिवेशन में लीग का मुख्य ध्येय पाकिस्तान ठहराया गया।

क्रिप्स योजना और पाकिस्तान—सन् १९४२ में जब कि योरपीय महायुद्ध खूब जोर से चल रहा था, और इस बात की बड़ी आशंका थी कि कहीं

जापान भारतवर्ष पर भी हमला न कर बैठे, ब्रिटिश युद्ध-मन्त्रिमंडल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारतवर्ष के भावी शासन की एक योजना लेकर यहाँ आए। उसे साधारण बोल-चाल में 'क्रिप्स योजना' कहते हैं। उसमें भारतवर्ष को युद्ध के बाद कुछ शर्तों के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात कही गई थी। पर यह साफ जाहिर था कि कम-से-कम युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को कोई खास अधिकार देना नहीं चाहती। कांग्रेस ने उस योजना को नामंजूर कर दिया। हिन्दू महासभा; मुस्लिम लीग आदि कोई भी मुख्य दल उस योजना से सन्तुष्ट न हुआ, यद्यपि उनके असन्तोष के कारण पृथक-पृथक थे।

उस योजना में प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग होने का अधिकार दिया गया था, परन्तु 'मुस्लिम प्रान्त'॰ का जिक्र नहीं किया गया था। फिर, श्री॰ जिन्ना की माँग यह थी कि ब्रिटिश सरकार लड़ाई के बाद पाकिस्तान कायम करने की गारंटी अभी से दे दे, और उसके सम्बन्ध में जनमत सिर्फ मुसलमानों का ही लिया जाय। यह माँग पूरी न होने से मुस्लिम लीग ने भी उस याजना को स्वीकार किया।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव—ब्रिटिश सरकार ने बार बार यह कि कहा भारतवासियों की कोई ऐसी शासन-योजना नहीं है, जिसे सब आदमी स्वीकार करते हों; यहाँ देशी राज्यों, मुसलमान आदि अल्प-संख्यकों और हरिजनों आदि की समस्याएँ हैं; इसलिए इन्हें पूरा शासन-अधिकार नहीं दिया जा सकता। पर समझ वाले अच्छी तरह जानते थे कि ये समस्याएँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद और कूटनीति की देन थी। और जब तक भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता मौजूद है, वह अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिकता या प्रतिक्रियावादी नेताओं और संस्थाओं की पीठ ठोकती रहती है, और उनकी अनुचित माँगों और दुराग्रह या हठ के कारण कोई उचित और सर्वसम्मत समझौता नहीं हो सकता। इसका खूब अनुभव करके कांग्रेस ने ८ अगस्त १९४२ को 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास किया। उसने निश्चय किया कि अब अँग्रेज भारतवर्ष को छोड़ दें, यहाँ शासक के रूप में न रहें, और भारतवर्ष को अपनी रक्षा स्वयं करने दें। सरकार को ऐसी बात कैसे अच्छी लगती! उसने अगले ही

दिन कांग्रेस के अनेक बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं को बिना मुकदमा चलाए ही कैद या नजरबन्द कर दिया।

करो या मरो—इस पर जनता में वह महान क्रान्ति हुई, जिसने सन् १९४२ को हमारी राजनैतिक जागृति में बहुत महत्वपूर्ण वर्ष बना दिया। लोगों के मन में 'करो या मरो' की भावना थी। जिसके दिल में देश के लिए जरा भी दर्द था, वह कुछ कर गुजरना चाहता था। आदमी बेचैन थे, उन्होंने जगह जगह तोड़-फोड़ आदि के ऐसे कार्य किए, जिनसे रेल, तार डाक आदि सरकारी कामों में बाधा पड़े। अनेक हिंसात्मक घटनाएँ भी हुईं।

सरकार ने जनता के असंतोष को दूर न करके घोर दमन से काम लिया। उसने इन घटनाओं के लिए कांग्रेस को दोषी ठहराया, और एक पुस्तक प्रकाशित की—"अगस्त १९४२ के दंगों के लिए कांग्रेस की जिम्मेवारी।" इसका खुलासा उत्तर देते हुये महात्मा गांधी ने लिखा कि मैंने किसी कांग्रेसी नेता ने हिंसा का कभी विचार नहीं किया, मैंने कभी जन-आन्दोलन आरम्भ नहीं किया; मेरा विचार सरकार से समझौते की बात चलाने का था। उपद्रव का कारण गिरफ्तारियाँ और दमन नीति ही थीं। अगर सरकार का मत इसके विपरीत है तो वह इस बात का एक निष्पक्ष अदालत से विचार कराए।' सरकार, इन बातों पर कोई ध्यान न देकर, अपना ही राग अलापती रही। उसने अमरीका आदि में कांग्रेस को बदनाम करने में लाखों रुपये खर्च किये, लेकिन भारतीय जनता का असन्तोष दूर करने के लिए राष्ट्रीय सरकार की स्थापना न की।

आजाद-हिन्द संगठन—जिस समय भारत भूमि में अनेक वीर वीरांगनाएँ 'करो या मरो' की दीक्षा के अनुसार जूझ रहे थे, उस समय दक्षिण पूर्वी एशिया में हमारे अनेक भाई बहिनें पूर्व की ओर से भारत पर आक्रमण करके उसे अँगरेजों की अधीनता से मुक्त करने के लिए जी जान से लगे हुए थे। उनका नेतृत्व करने वाले थे 'नेताजी' श्री सुभाषचन्द्र बोस। आपने किस प्रकार सन् १९४२ में जेल से मुक्ति पाई, और फिर ब्रिटिश नौकरशाही की आँखों में धूल डालकर आप यहाँ से काबुल और काबुल से जर्मनी गए और और फिर किस प्रकार योरपीय देशों के युद्ध का अवलोकन करने पर एक

१९४३ में जापान होते हुए सिंगापुर आए और वहाँ आज़ाद हिन्द फौज और आज़ाद हिन्द-सरकार का सङ्गठन किया—यह किसी कहानी से अधिक मनोरंजक और आश्चर्यजनक है। श्री नेता जी की अस्थायी सरकार का जर्मनी, जापान आदि ९ स्वतन्त्र-राष्ट्रों ने अस्तित्व स्वीकार किया था। दक्षिण पूर्वी एशिया के बीस लाख भारतीयों की भक्ति इसे प्राप्त थी। अक्टूबर १९४३ में इस सरकार ने इङ्गलैण्ड और अमरीका के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। जुलाई १९४४ को इसका प्रधान कार्यालय बर्मा में आ गया। मलाया, सिंगापुर, अन्डमन-निकोबार थाइलैण्ड आदि प्रदेशों का शासन रंगून से ही होने लगा। आज़ाद हिन्द सेना मार्च १९४४ में बर्मा भारत की सीमा को पार करके मणिपुर रियासत की राजधानी इम्फाल तक चढ़ आई। यह सेना आसाम को अङ्गरेज़ों की अधीनता से मुक्त करके अपना 'दिल्ली चलो' का कार्यक्रम पूरा करने वाली थी। परन्तु इसी समय वर्षा ऋतु के कारण रसद पहुँचाने की व्यवस्था न होने तथा हवाई सहायता न मिल सकने के कारण इसे पीछे हटाना पड़ा।

स्थूल दृष्टि से असफल रहने पर भी आज़ाद हिन्द-सरकार के 'जय-हिन्द' और 'चलो दिल्ली' के नारों ने भारतवर्ष में सैनिक क्रान्ति की अभूतपूर्व भावना का प्रसार किया। सरकार ने इसके वीर पदाधिकारियों पर मुकदमा चलाकर इस भावना को और भी प्रज्वलित होने का अवसर दिया।

वेवल योजना की असफलता—जो राजनैतिक गतिरोध सन् १९३९ से चल रहा था, उसे दूर करने के लिए गवर्नर-जनरल लार्ड वेवल ने ब्रिटिश अधिकारियों की सलाह से जून १९४५ में भारतीय नेताओं के सामने एक काम चलाऊ योजना रखी। इस पर विचार करने के लिए शिमले में भारतीय नेताओं की कान्फ्रेंस बुलाई गई। राष्ट्रीय दृष्टि से इस योजना में कई दोष होने पर भी कांग्रेस ने जनता के भोजन-वस्त्र आदि सम्बन्धी विविध संकटों को दूर करने तथा भारतवर्ष की आज़ादी का रास्ता साफ करने के विचार से इसे सफल करने के लिए कोशिश की। परन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा यह पैदा हुई कि श्री जिन्ना ने यह दावा किया कि नई केन्द्रीय सरकार के लिए सभी मुसलिम सदस्यों का चुनाव केवल मुसलिम लीग ही कर सकती है। अगर कांग्रेस यह मान लेती तो वह स्वयं अपने राष्ट्रीय संस्था होने के दावे का खंडन करती।

उधर पाँच करोड़ से अधिक मोमिन, शिया, अहरार, खाकसार और यूनियन दल वाले ऐसे थे, जो मुस्लिम लीग से बाहर थे। फिर, मुस्लिम बहुमत वाले पाँचों प्रान्तों में से एक में भी मुस्लिम लीग की स्वावलम्बी सरकार नहीं थी। पंजाब में यूनियन पार्टी सरकार की थी, बङ्गाल में लीग का मन्त्रिमण्डल योरोपियन दल के सहारे था, वह गिर गया था; सिंधु और आसाम के मन्त्रिमण्डल कांग्रेस की सहायता से ही बने हुए थे। वेवल-योजना पर विचार होते समय मौलाना अब्दुलकलाम आजाद कांग्रेस के सभापति थे, और उन्होंने इसी हैसियत से काँग्रेस की ओर से, नेताओं की कान्फ्रेंस में भाग लिया था। इन सब बातों के होते हुए भी मि० जिन्ना ने अपना ऊपर बताया हुआ दावा कायम रखा। इस पर लार्ड वेवल ने कान्फ्रेंस असफल होने की घोषणा कर दी। यह समझा जाता है कि इसमें ब्रिटिश सरकार का हाथ था।

जनता का संकट—अस्तु, राष्ट्रीय सरकार नहीं बन पाई। इससे यहाँ युद्ध-काल में लोगों को बेहद कष्ट रहा। रिश्वत, चोर बाजार और मुनाफेखोरों का खूब जोर रहा। खाने-पीने की चीजों पर सरकार का कड़ा कन्ट्रोल या नियन्त्रण जरूर रहा, लेकिन साधारण हैसियत के आदमियों को ये चीजें मिलने में कठिनाई हुई और बहुत से आदमियों की मामूली जरूरतें भी पूरी न हो पाईं। अकाल, मँहगाई और बीमारी ने जनता को भारी सङ्कट में डाल दिया। अकेले बङ्गाल प्रान्त में, सरकारी रिपोर्टों के अनुसार भी दस लाख आदमी अपने प्राण गँवा बैठे; गैर सरकारी अनुमान तो तीस लाख था। दूसरे प्रान्तों में भी लोगों को बहुत मुसीबतें रहीं। कपड़े न मिलने के कारण कितनी ही आत्म-हत्याएँ तक हुईं। पुनर्निमाण के लिए सरकारी और गैर-सरकारी कई योजनाएँ बताई गईं। लेकिन राष्ट्रीय-सरकार के न होने की हालत में वे सब बेकार रहीं। उसके बिना रचनात्मक कार्य में भी बहुत-सी बाधाएँ आती रहीं।

नौसैनिक संघर्ष—११ फरवरी १९४६ को बम्बई में 'तलवार' नाम के जहाज के कमाँडर किंग नामक गोरे ने कुछ भारतीय सैनिकों को अपशब्द कहे। उनके विचार से यह साधारण बात थी। उसे पता नहीं था कि भारतीय जनता में जो जागृति हो रही है, उसका सेना के अभेद्य दुर्ग में भी प्रभाव

पड़ा है। अस्तु, उसे अपने कुकृत्य पर कोई अफसोस नहीं था, और अन्य अधिकारियों ने भी काले आदमियों की शिकायतों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। १७ फरवरी को भारतीय नौ सैनिकों को जो नाश्ता दिया गया वह बहुत खराब था। इस पर ११०० सैनिकों ने हड़ताल कर दी और अन्यान्य बातों में यह भी माँग की —(१) गोरे-काले का भेद-भाव हटाकर दोनों प्रकार के सैनिकों को सामान वेतन दिया जाय, (२) सब राजनैतिक कैदी, जिनमें आजाद-हिन्द फौज के कैदी भी हैं, फौरन रिहा कर दिए जायँ।

हड़ताल बम्बई तक ही सीमित न रही। इसकी लहर करोँची, कोचीन, विजगापट्टम आदि स्थानों में भी पहुँची। गोरी फौज और भारतीय नौ-सैनिकों में लड़ाई हुई। भारतीय नौ सैनिकों को जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। लाखों मजदूरों ने हड़ताल की। आखिर, सरदार पटेल और अन्य भारतीय नेताओं ने बीच में पड़कर नौ सैनिकों को शान्त किया। इस घटना ने अंगरेजों की आँखें खोल दीं। भारत में हुकूमत करते हुए उन्हें यह पहली ही बार अनुभव करना पड़ा कि फौज भी हमारे हाथ से जा रही है, जो अब हमारे साम्राज्य का अन्तिम आधार है।

मंत्रि-मिशन योजना—दूसरे योरपीय महायुद्ध के बाद इङ्गलैंड के चुनाव में मजदूर-दल की विजय हुई। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, मजदूर-दल की परराष्ट्र-नीति और भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप इङ्गलैंड को अपनी भारत सम्बन्धी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। ब्रिटिश सरकार की ओर से इङ्गलैंड के तीन मन्त्री यहाँ आए और भारतीय नेताओं से विचार विनिमय करने के बाद उन्होंने १६ मई १९४६ को भावी संविधान बनने के लिए एक संविधान-सभा के संगठन की योजना बनाई। उसने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान सम्बन्धी माँग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करके भी भारत को तीन समूहों में बाँटने पर जोर दिया, जिनमें से पूर्वी और पश्चिमी समूहों में ऐसे प्रान्तों का समावेश किया गया, जिनमें कुल मिलकर मुस्लिम बहुमत था। संविधान सभा के 'ब्रिटिश-भारत' के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं द्वारा हुआ जो साम्प्रादायिक मताधिकार पर बनी हुई थीं। इन सदस्यों की संख्या २९२ निश्चित की गई; दस लाख पीछे

एक प्रतिनिधि के हिसाब से देशी राज्यों के सदस्यों की संख्या ९३ निश्चित की गई।

इस योजना में कई दोष थे। प्रान्तों के समूहीकरण, संविधान-सभा के के सदस्यों का निर्वाचन सम्प्रदायिक होना, और देशी राज्यों की ओर से लिए जाने वाले सदस्यों के सार्वजनिक निर्वाचन की व्यवस्था न होना। परन्तु, अन्त में पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की आशा से, कांग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। संविधान-सभा में प्रान्तों की ओर से लिये जाने वाले सदस्यों का चुनाव किया गया। मुस्लिम लीग ने भी चुनावों में भाग लिया, पर पीछे उसने संविधान सभा से असहयोग किया। संविधान-सभा की कार्रवाई ९ दिसम्बर १९४६ से आरम्भ हुई।

अस्थायी-सरकार—मंत्रिमिशन ने कांग्रेस और लीग से एक सम्मिलित सरकार बनाने को कहा, जो नया संविधान बनने तक काम करे। इन दोनों संस्थाओं द्वारा वैसी सरकार न बनाए जाने पर मिशन ने १६ जून १९४६ को १४ सदस्यों की अन्तर्कालीन सरकार बनाने की योजना उपस्थित की—६ कांग्रेस (५ सवर्ण हिन्दू और १ हरिजन) ५ लीगी; १ अकाली, १ पारसी और १ ईसाई। इस योजना में मुसलमानों के पांचों प्रतिनिधि लीग-सभापति श्री जिन्ना की मर्जी के रखे गए। अगस्त १९४६ के मध्य में वायसराय ने श्री जवाहरलाल नेहरू को अन्त-कालीन सरकार का सङ्गठन करने के लिए आमंत्रित किया। और, २ सितम्बर को प्रथम बार केन्द्रीय प्रबन्धकारिणी की जगह २२ सदस्यों का केन्द्रीय मंत्रि-मंडल या राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया गया। इसमें मुस्लिम लीग शामिल नहीं हुई थी।

प्रत्यक्ष संघर्ष—वास्तव में श्री० जिन्ना नहीं चाहते थे कि कांग्रेस राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करे। और, जब उनकी इच्छा के विपरीत कार्य हुआ तो उन्होंने विरोध-रूप में १६ अगस्त को 'प्रत्यक्ष-संघर्ष दिवस' मनाया। बंगाल में खासकर कलकत्ता और नोआखाली में मुसलमान गुण्डों और बद-माशों ने लोगों पर अमानुषिक अत्याचार किया। करोड़ों रुपयों का माल जला डाला। इसकी प्रतिक्रिया बिहार में हुई, यहाँ हिन्दू मुसलमानों से बदला लेने पर उतर आए। पर म० गांधी के अनशन की सूचना, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय

सरकार के जोरदार कदम उठाने और पुलिस तथा फौज की कार्रवाई से स्थिति तुरन्त सम्हाल ली गई।

संविधान योजना में परिवर्तन—अस्थायी सरकार बनने के कुछ समय बाद मुस्लिम लीग ने उसमें शामिल होना स्वीकार कर लिया। लीग केन्द्रीय सरकार में शामिल होकर शासन-कार्य में अड़ंगा लगाती रही, और पाकिस्तान के लिए आन्दोलन करती रही। २० फरवरी १९४७ की सरकारी घोषणा में निश्चयात्मक रूप से यह तो कहा गया कि भारत से विदेशी शासन का अन्त होगा और जून १९४८ तक शासन-सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपी जावेगी, परन्तु भारतवर्ष के खण्डित या अखण्डित रहने का विचार अस्पष्ट ही रहा। आखिर, लार्ड माउण्टबेटेन ने विविध नेताओं से मिलकर तथा ब्रिटिश मन्त्रि-मंडल की स्वीकृति से ३ जून ४७ को विधान सम्बन्धी नई योजना प्रकार की; इसे माउन्टबेटेन 'योजना' कहा जाता है।

दो औपनिवेशिक राज्य; भारतीय संघ और पाकिस्तान—इस योजना के अनुसार शासन की दृष्टि से भारतवर्ष के दो भाग किए गए:—भारतीय संघ और पाकिस्तान के पूर्वी भाग में पूर्वी बङ्गाल, और आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग रखा गया। पाकिस्तान के पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, तथा बिलोचिस्तान रखे गए और निश्चय किया गया कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की जनता का मत लिया जाय, कि वह भारतीय संघ में शामिल होना चाहती है या पाकिस्तान में, बात यह थी कि इस प्रान्त में कई वर्ष से कांग्रेस-दल का भारी बहुमत रहा था, वहां अधिकांश जनता पाकिस्तान-विरोधी थी। उसने अब अपने स्वतन्त्र पठानिस्तान की मांग की। लेकिन प्रस्तुत योजना में उसकी गुञ्जायश नहीं थी। इसलिए पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त वालों ने निर्वाचन का बहिष्कार किया। नतीजा यह हुआ कि पाकिस्तान के समर्थक लीगियों की विजय हुई, और सीमाप्रान्त वालों को कानून की दृष्टि से पाकिस्तान में मिलना पड़ा।

अस्तु, अब मंत्रि-मिशन की विधान सम्बन्धी योजना बदल गई। १५ अगस्त १९४७ से भारतवर्ष अखण्ड न रह कर उसके दो भाग हो गए, जिन्हें स्वराज्य प्राप्त उपनिवेश ('डोमिनियन') का पद प्राप्त हुआ। संविधान-सभा

पहिले एक थी और वह देहली में काम कर रही थी, अब पाकिस्तानी क्षेत्रों के सदस्यों की एक अलग संविधान-सभा बन गई, जो करांची में पाकिस्तान के लिए संविधान बनाने लगी।

भारत की संविधान-सभा ने तीन वर्ष के कड़े परिश्रम में भारत का संविधान तैयार किया और २६ नवम्बर १९४९ को यह संविधान-सभा द्वारा स्वीकृत भी हो गया। २६ जनवरी १९५० से देश का प्रशासन इसी संविधान के अनुसार हो रहा है। संविधान के अनुसार भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गण-राज्य हो गया है। आज हम पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं और किसी स्वतन्त्र राष्ट्र का नागरिक होना गौरव की बात है, पर कोरी नागरिकता से कुछ लाभ नहीं होता। नागरिकों की उन्नति और विकास के लिए सुअवसर, सुविधा और साधन की आवश्यकता होती है। भारत के लिये यह गौरव की बात है कि उसके संविधान में इस प्रकार के अधिकार राष्ट्र के नागरिकों को प्रदान किये गये हैं। उन अधिकारों को नागरिकों का मूल अधिकार कहा जाता है।

भारतीय संविधान में मूल अधिकार

भारतीय संविधान निर्माताओं ने यह प्रयत्न किया है कि मूल अधिकारों द्वारा जनता को लोकतन्त्र के यथेष्ट लाभ पहुँचाये जाँय; जनता को वे सारी स्वतन्त्रताएँ एवं सुविधाएँ प्रदान की जावें, जो उन्हें उच्च और नैतिक जीवन की ओर प्रवृत्त करें। इस प्रयोजन से संविधान में निम्नलिखित मूल अधिकार दिए गए—

(१) समानता का अधिकार—राज्य की ओर से धर्म, जाति, वर्ण, लिङ्ग के आधार पर नागरिकों में कोई भेद भाव नहीं किया जायगा। सबको समान समझा जायगा। धर्म, जाति, या वर्ण-विशेष का अनुयायी होने के कारण किसी नागरिक पर कोई अयोग्यता या बंधन नहीं लगाया जायगा। सार्वजनिक उपयोग के लिए जो होटल या जलपान-गृह या मनबहलाव के स्थान हैं, वहाँ सब बे रोक-टोक जा सकेंगे। इसी प्रकार वह सार्वजनिक कुएँ तालाब, सड़क, घाट, पार्क, आदि का इस्तेमाल भी कर सकेगा, राज्य की नौकरियों में अथवा राज्य की ओर से चलाए जाने वाले अन्य काम धंधों से लगने के लिए

सब को समान सुविधा रहेगी। केवल धर्म, जाति, वर्ण; लिङ्ग या जन्म-स्थान के आधार पर किसी सरकारी पद के अयोग्य नहीं समझा जायगा।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार—प्रत्येक राज्य में उसके नागरिकों के उत्कर्ष और उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को लेखन, भाषण विचार करने की स्वतन्त्रता हो, उन्हें पूर्ण आश्वासन हो कि उनके प्राण सुरक्षित हैं और राज्य अकारण ही उनकी दैहिक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता। जहाँ इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं होती, वहाँ नागरिक अन्ध-विश्वासी और अल्पज्ञ हो जाते हैं, उन्हें नई-नई विचारधाराओं, आविष्कारों आदि का ज्ञान नहीं होता और अपनी रीति-रस्मों तथा कार्य-प्रणाली आदि में आवश्यक सुधार या प्रगति नहीं कर पाते। इसलिए आधुनिक सभ्य देशों के संविधानों में स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारों को विशेष महत्व दिया जाता है।

भारतीय संविधान में स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार के अन्तर्गत निम्नलिखित स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं:—

(१) भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।

(२) शान्तिपूर्वक, बिना हथियार लिए सभा करने की स्वतन्त्रता।

(३) संस्था परिषद या संघ निर्माण करने की स्वतन्त्रता।

(४) भारत के राज्य-क्षेत्र में अबाध आने की स्वतन्त्रता।

(५) भारत के राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता।

(६) सम्पत्ति कमाने, रखने और व्यय करने की स्वतन्त्रता।

(७) कोई आजीविका व्यापार या कारबार करने की स्वतन्त्रता।

(८) अपराधों के लिए दोष-सिद्धि के विषय में संरक्षण।

(९) प्राण और शारीरिक स्वाधीनता का संरक्षण।

(१०) बन्दीकरण और निरोध से संरक्षण।

(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार—इस अधिकार द्वारा भारतीय समाज की दो बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है:—

(१) मनुष्यों का क्रय-विक्रय।

(२) बेगार और जबर्दस्ती काम लेना।

भविष्य में कोई भी व्यक्ति मनुष्यों का क्रय-विक्रय न कर सकेगा और बेगार तथा जबर्दस्ती से काम भी न ले सकेगा। यदि वह ऐसा करने का प्रयत्न करेगा तो दण्ड का भागी होगा। हाँ, इस सम्बन्ध में राज्य को सार्वजनिक कार्यों के लिए अनिवार्य सेवा लेने में कोई रुकावट उपस्थित न होगी।

चौदह वर्ष से कम अवस्था के बच्चों से किसी कारखाने या खदान में काम नहीं लिया जायगा और न उन्हें ऐसे कार्यों में लगाया जायगा, जिन्हें करने में खतरा हो।

(४) **धार्मिक स्वतन्त्रता**—संविधान के द्वारा भारत एक धर्म निर्पेक्ष ('सेक्यूलर') राज्य घोषित कर दिया गया है। राज्य में किसी भी धर्म को प्रधानता नहीं दी जावेगी, सब धर्म राज्य की दृष्टि में समान होंगे। किसी धर्म विशेप के अनुयायियों के प्रति विशेष उदारता अथवा कठोरता का व्यवहार नहीं किया जायगा। समस्त नागरिकों को सदाचार, स्वास्थ्य एवं सार्वजनिक शान्ति तथा राज्य के अन्य नियमों का पालन करते हुए किसी भी धर्म को मानने, प्रचार करने और उस पर आचरण करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। सिक्खों के लिए कृपाण धारण करना उनकी स्वतन्त्रता का ही एक अंग माना जायगा। इसलिए उसको धारण करने पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जावेगा। यदि किसी धार्मिक कृत्य के साथ आर्थिक, राजनैतिक अथवा राजस्व सम्बन्धी कोई कार्य शामिल होगा तो राज्य को अधिकार होगा कि विधि (कानून) बनाकर उस कार्य का नियमन करे या उस पर कोई रोक लगावे। राज्य को समाज के कल्याण और सुधार के लिए हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं को सब हिन्दुओं के लिए खोलने का अधिकार होगा। सिक्ख, जैन और बौद्ध लोगों पर भी वही नियम लागू होंगे, जो अन्य हिन्दुओं पर हैं। किसी भी धर्म या सम्प्रदाय को यह अधिकार होगा कि धार्मिक दान आदि सम्बन्धी, अथवा धार्मिक कार्यों के लिए, संस्थाएँ स्थापित करे और चलाए, धर्म सम्बन्धी सब मामलों का प्रबन्ध अपने हाथ से करें और चल या अचल सम्पत्ति प्राप्त करे और रखे। विधि (कानून) के अनुसार वह ऐसी सम्पत्ति का प्रबन्ध भी कर सकता है। किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष की उन्नति या हित के लिए लगाए हुए कर को देने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जायगा। सरकारी

स्कूल या कालेज में धार्मिक शिक्षा देने की व्यवस्था न की जावेगी; परन्तु यह व्यवस्था उस स्कूल या कालेज पर लागू न होगी, जिसका प्रबन्ध तो राज्य करता हो परन्तु वह किसी धार्मिक संस्था द्वारा स्थापित की गई हो। यदि ऐसी शिक्षा संस्था में जिन्हें सरकार की ओर से कुछ सहायता मिलती हो, धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था होगी तो किसी को उसमें भाग लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा। यदि किसी जाति या सम्प्रदाय की अपनी अलग संस्था है, तो संस्था के घण्टों के अतिरिक्त दूसरे समय में धार्मिक शिक्षा देने की व्यवस्था की जा सकती है।

(५) **संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार**—भारतीय संविधान-निर्माताओं ने यदि एक ओर भारतीय जनता की एकता को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया है तो दूसरी ओर वे लोक भारतीय जनता की विभिन्नताओं को भूले नहीं हैं। उन्होंने भारत के विविध भागों के निवासियों की प्रतिभा को विकसित होने का अवसर देने का भी ध्यान रखा। इस प्रकार कठोर एकता नहीं, वरन् मधुर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों की शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी हितों की रक्षा की व्यवस्था की गई है। यदि भारत के किसी भाग में नागरिकों का ऐसा वर्ग है जिसकी अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति है तो उसे अधिकार होगा कि उनकी रक्षा करे। दूसरे शब्दों में, उसकी भाषा व लिपि अथवा संस्कृति को मिटाने का प्रयत्न नहीं किया जायगा और न किसी को करने दिया जायगा। सभी अल्प-संख्यक वर्गों को यह अधिकार होगा कि वे अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित करें और उनका प्रबन्ध करें। शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देते समय ऐसे स्कूल कालेजों का भी राज्य की ओर से ध्यान रखा जायगा।

(६) **साम्पत्तिक अधिकार**—जीवन में सम्पत्ति की बड़ी आवश्यकता होती है। उसके बिना न तो कोई रोजगार-धंधा हो सकता है और न परिवार का पालन-पोषण ही किया जा सकता है। अतः संविधान ने सभी नागरिकों को समान रूप से यह अधिकार दिया है कि वे अपने पास सम्पत्ति रख सकें। उनकी सम्पत्ति की रक्षा की जिम्मेदारी राज्य पर होगी। कोई भी व्यक्ति कानून के अधिकार के बिना, अपनी सम्पत्ति से वञ्चित नहीं किया जायगा; अर्थात्

राज्य किसी की सम्पत्ति को मनमाने तौर से अपने अधिकार में न कर सकेगा। यदि राज्य कभी सार्वजनिक कार्य के लिए किसी की चल या अचल सम्पत्ति को कब्जे में करना चाहेगा तो वह ऐसा किसी विधि के अंतर्गत करेगा। सार्वजनिक उपयोग के लिए ली गई ऐसी सम्पत्ति तब तक किसी विधि के द्वारा अधिकार में न ली जा सकेगी जब तक कि वह विधि उस सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति यानी मुआवजे की व्यवस्था न करती हो। इस प्रकार की विधि मुआवजे की रकम निश्चित करेगी ही, वह उन सिद्धान्तों का भी निरूपण करेगी, जिनके आधार पर मुआवजा दिया जाने वाला है। यही नहीं, सम्पत्ति लेने का कानून उस समय तक प्रभावकारी नहीं होगा, जब तक उसे राष्ट्रपति की अनुमति न मिल जाय।

(७) संविधानिक उपचारों का अधिकार—संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों का यदि राज्य या नागरिक अतिक्रमण करें तो उनकी रक्षा की व्यवस्था कैसे हो? संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख मात्र से ही नागरिक उनका-उपयोग नहीं कर सकते। संविधान द्वारा इन अधिकारों की रक्षा के लिए व्यवस्था की जानी आवश्यक है। भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि उपयुक्त मूल अधिकार यथेष्ट रूप में सबको सुलभ हों। उच्चतम न्याया-लय ऐसी हिदायतें या आज्ञाएँ जारी करेगा कि मूल अधिकार ठीक-ठीक कार्या-न्वित किए जाँय। संविधान ने उच्चतम न्यायालय को हमारे मूल अधिकारों का संरक्षक बनाया है। यदि संसद का बनाया कोई कानून या सरकार का कोई नियम किसी मूल अधिकार के, या संविधान के किसी आदेश के विरुद्ध पड़ता हो तो उच्चतम न्यायालय को अधिकार है कि वह न्याय के हित में उसे अवैध घोषित कर दे।

संसद को यह अधिकार है कि वह उच्चतम न्यायालय के इस अधिकार को दूसरे स्थानीय न्यायालयों को भी दे दें, जिससे मूल अधिकारों पर आघात होने की दशा में सभी नागरिकों को उच्चतम न्यायालय जाने की आवश्यकता न रहे, वे अपनी सुविधानुसार स्थानीय न्यायालयों की सहायता ले सकें। मूल अधिकारों के उल्लंघन सम्बन्धी दंड-विधि की रचना करने का अधिकार संसद

को ही है, राज्यों के विधान-मंडलों को नहीं। संसद को यह भी अधिकार है कि मूल अधिकारों की रक्षा के लिए अन्य आवश्यक कानून बनाए।

अस्थायी रोक—मूल अधिकारों की व्यवस्था साधारण अर्थात् शाँति-काल के लिए है। युद्ध या विप्लव आदि की स्थिति में नागिरिकों को इन अधिकारों का उपयोग नहीं करने दिया जा सकता। ऐसे सङ्कट की स्थिति में, जिसकी घोषणा राष्ट्रपति करेगा; ये अधिकार देश या उसके किसी भाग में निर्धारित समय के लिए अमल में आने से रोक दिए जायँगे; पर सङ्कट दूर होते ही यह रोक हटा ली जायगी।

मूल अधिकारों पर नजर डालने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जहाँ एक ओर इनका निर्माण व्यापक दृष्टिकोण से किया है, दूसरी ओर उनके उपभोग के सम्बन्ध में काफी बन्धन भी सार्वजनिक हित के नाम पर लगा दी गई हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन और काँग्रेस—स्वतन्त्रता संग्राम के सम्पूर्ण इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीयता के विकास और स्वतन्त्रता संग्राम का सम्पूर्ण श्रेय कांग्रेस को है। परन्तु साथ ही साथ कांग्रेस के विचार धारा उद्देश्य और कार्य प्रणाली में समय-समय पर भारी परिवर्तन हुए हैं। आरम्भ में कांग्रेस मुट्ठी भर राजनीतिज्ञों की संस्था थी। जो शासन सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव पास करना और वैधानिक तरीके से अपनी माँग करना ही अपना ध्येय समझते थे। धीरे-धीरे कांग्रेस में उग्र विचार वालों का जोर बढ़ने लगा और सन् १९१६ में प्रथम बार स्वराज्य की माँग की गई। बंग-भंग से लोगों में और भी जोश फैला और स्वदेशी के प्रचार तथा विदेशी माल का वहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का कार्यक्रम कांग्रेस ने अपनाया। इसको दबाने के लिए सरकार ने दमन नीति अपनायी। कांग्रेस कभी दबी, कभी उभरी, परन्तु कांग्रेस के अनुयायी और कार्य-कर्त्ताओं की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गयी। १९१८ में जब कांग्रेस ने सत्याग्रह की नीति अपनायी तो इसके सदस्यों की संख्या लाखों और सहानुभूति रखने वालों की संख्या करोड़ों हो गई। सन १९२३ में कांग्रेस में स्वराज्य पार्टी का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य विधान मंडलों में प्रवेश करके सरकार के कार्य में अधिक से अधिक अड़ंगा लगाना

और अपने अंगों को उत्तरोत्तर बढ़ाकर स्वराज्य प्राप्ति तक पहुँचना था। सन् १६२७ में कांग्रेस ने अपना ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता स्थिर किया।

सन् १६२८ में उसने औपनिवेशिक स्वराज्य को ही पर्याप्त समझा और १६२६ में फिर पूर्ण स्वतन्त्रता सम्बन्धी प्रस्ताव पास करके अपने ध्येय को स्वराज्य प्राप्ति रखा।

इसके पश्चात् सन् १६३० का आन्दोलन हुआ जो गांधी इरविन पैक्ट होने पर समाप्त हुआ। उसके बाद सन् १६३५ का अधिनियम आया जिसके अनुसार कुछ प्रान्तों में कांग्रेस सरकार बनीं। सन्१६४२ का आन्दोलन स्वराज्य प्राप्ति का अन्तिम आन्दोलन था। उसके पश्चात् सन् १६४७ में स्वाधीनता देश के बँटवारे के साथ मिली। उस समय से देश का शासन इसी दल के हाथ में है।

कांग्रेस ने राष्ट्रीय आन्दोलन के संचालन के अतिरिक्त यहाँ राष्ट्र-निर्माण और रचनात्मक कार्यों को विलक्षण उत्तेजना दी है। पहले इसके कार्य-क्रम में (१) हिन्दू-मुसलिम एकता (२) अस्पृश्यता निवारण (३) मद्यपान निषेध और (४) खादी प्रचार मुख्य था। पीछे कांग्रेस ने (५) ग्राम उद्योग और (६) बुनियादी (बेसिक शिक्षा) का भी कार्य आरम्भ किया। अब तो (७) ग्राम सफाई (८) प्रौढ़ शिक्षा (९) स्त्री सेवा (१०) आरोग्य शिक्षा (११) राष्ट्रभाषा प्रचार (१२) मातृभाषा प्रेम (१६) आर्थिक समानता भी उसके कार्य-क्रम में सम्मिलित है।

गाँधी जी की देन

गत १५० वर्षों में अनेक महापुरुषों और समाज सुधारकों ने भारतीय समाज को सुधारने का और उसकी बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। उन सब में महात्मा गाँधी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गाँधी जी ने अपने को जनहित के कार्य में पूर्णरूप से लगा दिया था और उनका भारत के उद्धार और प्रगति के अतिरिक्त कोई और उद्देश्य नहीं था।

प्रथम महायुद्ध के समय गाँधी जी दक्षिण अफ्रिका से लौट कर भारत आये और यहाँ की स्थिति का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसके बाद यहाँ की राजनीति में सक्रिय भाग लेना शुरू किया। इस क्षेत्र में भी गाँधी जी ने नया

जीवन फूँक दिया और स्वतन्त्रता के आन्दोलन को जनता का आन्दोलन बना दिया। उसके रूप में भी उन्होंने नवीनता ला दी। "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" या "सत्याग्रह" उनकी एक अपनी विशेषता है और देश की राजनीति को अमर देना है।

राजनीतिक आन्दोलन के साथ साथ गाँधी जी ने समाज-सुधार का काम भी उसी लगन से अपनाया था। उनका विचार था कि कोरी राजनीति जिसका सम्बन्ध समाज-सुधार और धर्म से न हो, किसी मतलब की नहीं है। इसीलिये गाँधी जी ने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भी अनेक काम किये। स्त्रियों को इस काम में भाग लेने के लिए गाँधी जी ने पूरा प्रोत्साहन दिया। उनकी भीरुता इससे कम हुई, आभूषण प्रेम का मोह भी कम हुआ। उन्होंने स्त्रियों के लिए आर्थिक कार्य-क्रम भी बनाया और चर्खा का प्रचार उनमें किया। इस प्रकार भारतीय महिलाओं के समक्ष गाँधीजी ने साहस स्वावलम्बन, आर्थिक आत्म-निर्भयता और आत्म विश्वास का आदर्श रक्खा। गाँधी जी ने बाल विवाह की बुरी प्रथा के विरोध में जोरदार प्रचार किया और विधवाओं के लिए भी भारतीय संस्कृति के अनुकूल एक नया आदर्श रक्खा। इन प्रयासों के कारण श्रीमती सरोजनी नायडू, कस्तूरबा, विजय लक्ष्मी पण्डित, मीरा बेन और अमृत कौर सामाजिक क्षेत्र में काम करने के लिए अग्रसर हुईं। सन् १९१७ में 'भारतीय स्त्री संगठन' और १९२५ में "भारतीय स्त्रियों की राष्ट्रीय कौंसिल" नाम की संस्थाएँ स्थापित हुईं।

समाज सुधार सम्बन्धी दूसरा मुख्य काम अछूतपन दूर करने से सम्बन्धित है। गाँधी जी ने इस काम को उतना ही महत्व दिया था जितना भारत की गुलामी दूर करने को। उनके शब्द थे कि "जब हिन्दू जान बूझकर सच्चे हृदय से, नीति के रूप में नहीं, बल्कि आत्म शुद्धि की भावना से छूत-अछूत का विचार त्याग देंगे, तब उनका वह कार्य राष्ट्र को उचित कार्य करने की एक नयी शक्ति देगा और स्वराज्य प्राप्ति में सहायक होगा।" गाँधी जी का पूरा जीवन अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रचार करने में ही लगा। उनका विश्वास था कि उसके दूर हुए बिना हिन्दू-समाज का उद्धार नहीं हो सकेगा। अतः इसके लिए उन्होंने कई बार अपने जीवन की बाजी लगा दी थी। उनके लिए मन्दिर प्रवेश की

सुविधा देने का आन्दोलन किया, अन्य क्षेत्रों में धार्मिक अधिकार और समानता के लिए भी पूरी कोशिश की। समय-समय पर भारत का दौरा किया, चन्दा इकट्ठा किया, लोगों के विचार परिवर्तन करने की कोशिश की, उनकी शिक्षा के लिए पाठशालाओं का प्रबन्ध कराया; उनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिए विशेष प्रकार के उद्योग धन्धों को संगठित करने का काम भी किया। इसीलिए उनका नाम हरिजन बदल दिया, 'हरिजन', 'हरिजन-सेवक' नाम का समाचार-पत्र निकाला, 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। वे स्वयं उनके साथ रहने लगे, उनकी बस्ती साफ करायी, उनको अपने साथ भोजन कराया, उनसे बराबरी पर सामाजिक व्यवहार किया और उन्हें स्वय अपने जीवन स्तर को ऊँचा बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्हीं के प्रचार और प्रभाव से स्थान-स्थान पर हरिजनों को सुविधा देने के लिए सरकार ने कानून बनाया। उन्हीं के प्रयास का फल था कि भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को अवैध घोषित किया।

आर्थिक क्षेत्र में भी गाँधी जी की एक अपनी देन है। भारत की गरीबी उन्हें सदा खटकती थी। उन्होंने सदा अपने को एक गरीब की तरह रखने की कोशिश की। स्वदेशी प्रचार और प्रयोग में उनका विशेष हाथ था। उन्होंने घरेलू उद्योग-धन्धों को जीवित करने का संकल्प किया और स्थान-स्थान पर करघा, चर्खा और अन्य कार्यों के लिए केन्द्र स्थापित किया। जमींदारों और मिल मालिकों से उन्होंने सदा किसानों और मजदूरों को अपना हिस्सादार समझने को कहा। उनका विश्वास था कि भारत के लिए ऐसे कार्य केन्द्रों की आवश्यकता है जहाँ बिना मशीन की सहायता से अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को भारतवासी तैयार कर सकें। उनका कहना था कि मिलों में वही काम होने चाहिए जो आदमी स्वयं या दूसरों के सहयोग से न कर सके। गाँधी जी ने सदा श्रम की महत्ता को लोगों के सामने रक्खा और इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था को सुधारने में एक नया अध्याय जोड़ दिया। उन्हीं के प्रचार और प्रयास के कारण स्थान-स्थान पर हाथ से सूत कातने और बुनने के केन्द्र स्थापित हुए; शहद, दूध, मक्खन, टोकरी, खाद, दरी, कम्बल, कागज बनाने के लिए कुछ लोगों में रुचि पैदा हुई। गाँधी जी का विश्वास था इस प्रकार स्वयं काम

करने से बेकारी और गरीबी की समस्या भी हल होगी और साथ-साथ मनुष्य का नैतिक स्तर भी ऊँचा होगा। उनके कार्य-क्रम में सेवा और श्रम का विशेष महत्व था। खादी को वे इन्हीं दोनों गुणों का द्योतक मानते थे।

इस प्रकार गाँधी जी ने भारतीय जनता का सामाजिक और आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने का लगातार सफल प्रयास किया। भारत भविष्य में भी सदा इस देन के लिए उनका ऋणी रहेगा। हमारे लिए यह सर्वथा उचित है कि देश ने उन्हें "राष्ट्र-पिता" माना है।

स्वतंत्र भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना

स्वतंत्र भारत की सरकार ने इस देश को समृद्धशाली बनाने के लिए और यहाँ के नागरिकों की बहुमुखी उन्नति के लिए प्रारम्भ से ही सुनियोजित योजना के अनुसार काम करना शुरू किया। सैकड़ों वर्षों की गुलामी के कारण हमारी आर्थिक व्यवस्था अस्तव्यस्त हो चुकी थी। अतः देश के पुनः निर्माण की आवश्यकता राष्ट्र के संचालकों के समक्ष थी। इसके अभाव में राजनैतिक स्वतंत्रता अधूरी और खोखली रह जाती। अस्तु, सन् १९५० ई० में सरकार ने एक प्लानिंग कमीशन (योजना-आयोग) की नियुक्ति की घोषणा की। उसके अध्यक्ष स्वयं पण्डित जवाहरलाल नेहरू हुए। "आयोग के कार्य-क्षेत्र में देश की आर्थिक स्थिति, सामाजिक कार्यों की प्रगति, प्रत्येक राज्य तथा देश की आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करना, उपलब्ध एवं उपलब्ध हो सकने वाले सभी प्रकार के मानवीय भौतिक व आर्थिक साधनों को ध्यान में रखते हुए यह निर्दिष्ट करना था कि सम्पूर्ण देश के विकास के निमित्त उन साधनों का किस प्रकार तथा किस काम में उपयोग किया जावे।" आयोग ने २५ महीनों तक कठिन परिश्रम किया और सब प्रकार के साधनों की छानवीन कर सन् १९५१ ई० की जुलाई में एक योजना सरकार के सम्मुख रक्खा जिसमें भारत के बहुमुखी विकास के लिए २०६९ करोड़ रुपये की एक पंच वर्षीय योजना की रूप रेखा थी। इस योजना का कार्य-काल १ अप्रैल सन् १९५१ से ३१ मार्च सन् १९५६ है।

योजना के कार्य में राष्ट्र हित के लिये अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक कार्यों की क्रमशः प्राथमिकता दी गयी है। अतः सबसे अधिक महत्व इस योजना में

कृषि और उससे सम्बन्धित अन्य कार्यों को दिया गया है। चूँकि कृषि का सम्बन्ध इस देश में लगभग ८० प्रतिशत लोगों के जीवन से है अतः कृषि को ऐसी प्राथमिकता देना जरूरी है। कृषि से सम्बन्वित अन्य काम यातायात, सिंचाई, बिजली, खाद आदि हैं, अतः इन पर भी इस योजना में विशेष ध्यान दिया गया है। विभिन्न मदों के अनुसार पंच वर्षीय योजना में व्यय का व्यौरा इस प्रकार है—

	करोड़ रु०	कुल व्यय का प्रतिशत
कृषि तथा सामूहिक विकास	३६०.४३	१७.४
सिंचाई तथा विद्युत	५६१.४१	२७.२
यातायात संवहन	४९७.१०	२४.०
उद्योग धन्धे	१७३.०४	८.४
सामाजिक सेवाएँ	३३९.८१	१६.४
पुनः संस्थापन	८५.०९	४.१
अन्य	५१.९९	२.५
टोटल	२०६८.७८	१००.

पंचवर्षीय योजना के इस व्यय के प्रबन्ध के लिए केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारें प्रतिवर्ष अपने बजट में कटौती कर रुपये बचाने की कोशिश करती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य उपायों से भी रुपये प्राप्त करने की कोशिश हो रही है। आन्तरिक ऋण और विदेशों से ऋण लेकर इसके व्यय को पूरा करने की कोशिश हो रही है। विदेशी पूँजी केवल टेकनिकल सहायता और उद्योग-धन्धों के निमित्त खर्च होती है।

योजना के पूरा हो जाने पर आशा की गई है कि हमारा देश खाद्यान्नों के विषय में आत्म निर्भर हो जायगा। जूट और कपास के लिए हमें विदेशों पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जमीन को कृषि योग्य बनाना, अच्छी खाद और बीज की व्यवस्था करना, सिंचाई के वर्तमान साधनों को बढ़ाना, सिंचाई के नये साधनों की व्यवस्था करना, नये प्रकार के हल के प्रयोग की सुविधा प्राप्त करना, बंजर या परती जमीन को खेती योग्य बनाना आदि काम किये जायँगे। पशुओं की नस्ल सुधारना भी इसके अंतर्गत है।

इस दिशा में अनेक प्रकार के काम हाथ में लिए गये हैं जिनमें से कुछ मुख्य ये हैं—

सरकारी कृषि फार्म की व्यवस्था, सेन्ट्रल ट्रेक्टर संगठन संस्था का आयोजन, सिन्दरी के खाद-कारखाना, सामुदायिक विकास योजनाएँ, कुओं तथा तालाबों की मरम्मत, पशु-विकास केन्द्रों की स्थापना आदि काम। इन कार्यों की पूर्ति से सन् १९५६ तक अन्न में ७६ लाख टन, रुई में १२·५ लाख गाँठ, जूट, २०·६ लाख गाँठ, ७ लाख टन गुड़ पैदा करने भर को गन्ना, तिलहन ४ लाख की वृद्धि होगी। इस प्रकार वर्तमान उपज से अन्न में १४%, रुई में ४२%, जूट में ६३%, गन्ने में १२ प्रतिशत तथा तिलहन में ८ प्रतिशत की वृद्धि होगी।

सिंचाई के लिए नये नये कार्य किये जा रहे हैं। सिंचाई और बिजली के उत्पादन की वृद्धि के इस योजना के अन्तर्गत १०२ छोटी-बड़ी योजनाएँ हाथ में ली गयी है। इनमें से भाखरा-नांगल, दामोदर, हीराकुण्ड आदि योजनाएँ प्रमुख हैं। अनुमान है कि इन योजनाओं से योजना काल के अन्तिम वर्ष तक ८० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई सुविधा और ७० लाख किलोवाट अधिक बिजली प्राप्त होगी।

यातायात तथा संवहन विकास के लिए १५ करोड़ की लागत का चितरंजन कारखाना खोला गया है जिसका लक्ष्य प्रतिवर्ष १२० इंजन तथा ५० अतिरिक्त ब्यायलर तैयार करना है। रेल के डब्बों, रेलवे लाइन, समुद्री जहाज, नयी सड़कें, नये पुल, वायुयान, तार, डाक, टेलीफोन आदि की व्यवस्था इस योजना में है।

उद्योग धन्धों की वृद्धि के लिए उड़ीसा और मध्य प्रदेश में दो लोहे के बड़े कारखाने, सिन्द्री और चितरंजन का कारखाना, विशाखापट्टम के जहाज निर्माण का कारखाना, पेंनसिलिन और डी० डी० टी० के कारखाने, अखबारी कागज का कारखाना, सीमेन्ट के कारखाने आदि कुछ काम सरकार ने हाथ में ले लिये हैं। इसी प्रकार अन्य क्षेत्र में (सामाजिक सेवा, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा आदि) भी सरकार ने अपना लक्ष्य निर्धारित कर कार्य करना प्रारम्भ किया है।

यह पंचवर्षीय योजना हमारे देश में बहुमुखी उत्थान की ओर पहला प्रयास है। हो सकता है अनुभव हीनता के कारण इस प्रारम्भिक योजना में हमें कुछ कठिनाई होवे। इसकी सफलता का श्रेय सरकार की मुस्तैदी, जनता के सहयोग और कार्य कर्ताओं की ईमानदारी पर निर्भर है। पर निस्सन्देह हमारा यह प्रयास साहसिक और श्लाध्य है। योजना बनाने वालों ने अनुमान किया है कि अगले २५ वर्षों में औसत भारतीय की आय दुगनी हो जायगी। प्रथम योजना के पूरा होते ही अनाज, कपड़ा तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ उतनी मात्रा में मिलने लगेंगी जितनी द्वितीय महायुद्ध के पूर्व प्राप्त होती थी।

पैंतालीसवाँ परिच्छेद

आधुनिक दुनियाँ की प्रमुख घटनाएँ

नया साम्राज्यवाद

प्राचीन काल में भी साम्राज्यवादी राजा-महाराजा हुआ करते थे। प्राचीन ग्रीस में सिकन्दर ने एक बड़ा साम्राज्य अपने बाहुबल से स्थापित किया था। मैसोपोटामिया और मिश्र के राजाओं ने भी अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना की थी। रोमन साम्राज्य इन सबसे बड़ा और सुगठित साम्राज्य था। नये युग में भौगोलिक खोज और वैज्ञानिक अन्वेषण के साथ साथ यूरोप के कतिपय देशों में औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसी के साथ आधुनिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ। जब कभी कोई व्यक्ति या राज्य अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए तथा अपने स्वार्थ और लाभ के लिए दूसरे देशों को अपने अधिकार में करता है और उसकी पराधीनता से अनुचित लाभ उठाता है तो उस पद्धति को साम्राज्यवाद का नाम दिया जाता है। आधुनिक युग में साम्राज्यवादी पद्धति का सूत्रपात स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, इंगलैण्ड तथा फ्रांस में हुआ। तत्पश्चात जर्मनी और इटली ने इस दिशा में अपना कदम बढ़ाया। इस दौड़ में इंगलैण्ड और फ्रान्स ने और देशों को पछाड़ दिया, पर वे स्वयं आपस में लड़ते रहे। अनेक युद्धों के बाद इन दोनों देशों ने अपने-अपने अधिकार और प्रभुत्व के दायरे को निश्चित किया। भारत भूमि पर भी फ्रान्स तथा इंगलैण्ड की साम्राज्यवादी सेनाओं के बीच तीन बार भयंकर युद्ध हुए और सप्तवर्षीय युद्ध के बाद भारत से फ्रान्स के पैर उखड़ गये। पुर्तगाल और हालैण्ड तो पहले ही हार चुके थे। इसी साम्राज्यवादी नीति के कारण अमेरिका में अमेरिका निवासियों और अंग्रेजों में सन् १७७६ से १७८३ ई० तक युद्ध होता रहा

जिसमें इंगलैण्ड की हार हुई और अमेरिका एक शक्तिशाली स्वतंत्र राज्य बन गया।

१९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में साम्राज्यवादी शक्तियों में पुनः तेजी आ गयी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद फैक्टरी-प्रणाली की वृद्धि हुई, यूरोप के प्रत्येक देश में जनसंख्या बढ़ गयी, बेकारी बढ़ गयी और वेतन में कमी हो गयी। अतः लोग अधिक संख्या में प्रवासी हो गये और दूसरे देशों में जीविकोपार्जन के लिए जाकर बसने लगे। उन्हें यंत्रों के लिए कच्चे माल पैदा करने वाले देशों की जरूरत पड़ी, पुनः अपने कारखानों की बनी चीजें बेचने के के लिए अन्य देशों के बाजारों की आवश्यकता हुई। अतः यूरोप के राष्ट्र एशिया और अफ्रीका के पिछले और कमजोर देशों की ओर दौड़ पड़े और उन्हें अपने प्रभुत्व में लाने की कोशिश करने लगे। यूरोप का प्रत्येक देश इस दौड़ में दूसरे को मात देने की कोशिश करने लगा। इस प्रकार नये उपनिवेश बसाये गये और उन्हें चँगुल में रख कर उनका आर्थिक शोषण प्रारम्भ हुआ। १९ वीं सदी की इस धारा का नाम "नया साम्राज्यवाद" पड़ा। तरह तरह का बहाना बना यूरोप के देश कमजोर देशों को हड़पने लगे। कभी पिछड़ी जातियों को सभ्य बनाने के लिए, कभी उन्हें ईश्वर के सम्पर्क में लाने के लिए और कभी शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना के लिए वे अपने को दूसरों के सिर पर लाद देते थे। सन् १८७० ई० तक अमेरिका का दरवाजा यूरोप वालों के लिए बन्द हो चुका था, आस्ट्रेलिया पर अंग्रेजों का अधिकार हो चुका था। अतः उनकी महत्वाकांक्षा की तृप्ति और शोषण के प्रवृत्ति के लिए एशिया और अफ्रीका के देश उपयुक्त थे जहाँ राजनैतिक शक्ति कमजोर थी और औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव अभी तक नहीं हुआ था। अतः इस नये साम्राज्यवाद के क्रीड़ा-क्षेत्र ये ही दो महा प्रायद्वीप बने।

अफ्रीका—अफ्रीका का अधिकांश भाग जंगलों से घिरा हुआ है। उसके भीतरी भाग के विषय में यूरोप निवासियों को बहुत कम ज्ञान था, अतः इसका नाम अंध महादेश पड़ा था। पर आवश्यकतावश यूरोप निवासियों ने इसकी खोज शुरू की। पहले कुछ भौगोलिक खोज करने वाले, पुनः ईसाई पादरी और तत्पश्चात व्यापारी-वर्ग इस महाद्वीप में घुसा, अन्त में सैनिक आये और

इस महादेश के भिन्न भिन्न भागों में यूरोप निवासियों का आधिपत्य हो गया। सर्व प्रथम कांगो का राज्य बेलजियम के आधीन हुआ। कुछ ही दिनों बाद यूरोप के राष्ट्रों द्वारा अफ्रीका की नोच खसोट शुरू हुई।" इंगलैण्ड दक्षिण अफ्रीका में जड़ जमाना चाहता था, फ्रान्स ने उत्तरी अफ्रीका को अपने अधीन करना चाहा। जर्मनी भी पश्चिमी और मध्य अफ्रीका में घुस पड़ा। मिश्र और स्वेज भी धीरे-धीरे अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। इस प्रकार अफ्रीका के विभिन्न भागों को अपने नियंत्रण में रखने के लिए इन देशों में कई बार युद्ध हुए, अन्त में इंगलैण्ड को अफ्रीका का सब से अधिक भाग मिला। उसे उत्तमाशा प्रान्त, नेटाल, ट्रान्सवाल, रोडेशिया, मिस्र; सूडान, नाइजिरिया आदि भाग मिले। फ्रान्स को अलजीरिया, टयूनिस, फ्रेंच वेस्ट अफ्रीका, फ्रेंच कोंगो, फ्रेंच सोमाली लैण्ड, मोरक्को और मेडागास्कर मिला। इटली के हाथ में इटालियन सुमाली लैण्ड, लिबिया, और इरीटीया पड़ा। जर्मनी को कैमरूस, टोगो, लैंड दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका तथा पूर्वी अफ्रीका मिले। कुछ भाग पुर्तगाल और स्पेन के भी हाथ लगे। स्वतंत्र देशों में अबीसिनिया तथा लाइबेरिया ही बचे। इस प्रकार अफ्रीका की पिछड़ी दशा से लाभ उठाने के लिए यूरोप के इन देशों ने अच्छी तरह उसको चीरहरण किया। नये साम्राज्यवाद का क्रूर शिकार अफ्रीका को बनना पड़ा।

एशिया—यूरोपीय देशों की आँखें एशिया पर भी लगीं थीं। भारत में अंग्रेजों के पैर जम चुके थे। इसे हड़पने की कोशिश सब ने की, पर इंगलैण्ड ने यहाँ से सब के पैर उखाड़ दिये। सन् १९४७ के १५ अगस्त तक अंग्रेजों की सत्ता यहाँ अक्षुण्य रही। भारत में अंग्रेजों ने अपना साम्राज्यवादी पंजा अच्छी तरह दृढ़ किया, अंग्रेजी भाषा यहाँ की मुख्य भाषा बनायी गयी, रेल, तार, डाक और अन्य साधनों से देश को कसने की कोशिश की गयी। भारतीयों में मतभेद पैदा किया गया। यहाँ के उद्योग धन्धे नष्ट किये गये, इंगलैण्ड की मिलों के बने सामान को मनमाने लाभ पर यहाँ के बाजारों में बेंचा गया।

लंका भी भारत का एक पड़ोसी द्वीप है। इसे अपने अधिकार में करने के लिए क्रमशः पुर्तगाली, डच और अंग्रेजों ने प्रयास किया। सफलता अंग्रेजों को ही

मिली। सन् १८०२ ई० में इसे भारत से पृथक कर दिया गया और आज भी लंका ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बना हुआ है।

चीन भी साम्राज्यवादियों के चंगुल से नहीं बच सका। अपनी श्रेष्ठतर सैनिक शक्ति द्वारा अंग्रेजों ने चीन को अपने प्रवेश के लिए अनुमति देने पर बाध्य किया। इसके बाद पादरियों और व्यापारियों ने अपना काम किया। हाँग-कांग पर इंगलैण्ड का अधिकार हो गया। कई शक्तियों की होड़ के कारण चीन किसी एक के चंगुल में फँसने से बच गया। जापान सब से बाद में यूरोपवालों के सम्पर्क में आया और वहाँ साम्राज्यवादियों की दाल विशेष रूप से नहीं गल सकी।

हिन्द चीन (अनाम, कोचीन चीन, कम्बोडिया, टानकीन तथा लेवोस) फ्रान्स के अधिकार में आ गया। आज भी वह अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है। अफगानिस्तान पर भी यूरोप वालों के दाँत लगे हुए थे, पर भौगोलिक स्थिति के कारण वहाँ किसी का प्रवेश नहीं हो सका। पूर्वी द्वीप समूह में डच लोगों का अधिपत्य हो गया, सिंगापुर और मलाया में अंग्रेजों का अधिकार हुआ। जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों पर डचों का अधिकार हो गया।

इस प्रकार लगभग सारे अफ्रीका और एशिया पर यूरोप वालों ने साम्राज्यवाद का जाल बिछाया और उनका आर्थिक शोषण शुरू कर दिया। स्थान स्थान पर अपने स्वार्थ की रक्षा में इन देशों ने सैनिकवाद का नग्न नृत्य किया, मानव रक्त की होलियाँ खेली और उन देशों के नागरिकों को हर प्रकार के मानवीय तथा मूल अधिकारों से वंचित रखा। यह नया साम्राज्यवाद आधुनिक युग का राजरोग बन गया जिसका शिकार एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों को होना पड़ा।

इस प्रकार के साम्राज्यवाद का आधार शोषण है। इस शोषण के लिए साम्राज्यवाद शक्तियों को अन्याय, क्रूरता, स्वार्थ तथा अनैतिक उपायों का सहारा लेना पड़ता है। इनके कारण विभिन्न स्वार्थ वालों में संघर्ष होता है और इससे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिता और गुटबन्दी को प्रोत्साहन मिलता है। इसी के फल स्वरूप २० वीं सदी के पूर्वार्द्ध में दो विनाशकारी युद्ध हो चुके हैं और आज भी मनुष्य चैन की नींद नहीं सोने पा रहा है। जब कभी शोषित देश विरोध

का आवाज उठाते हैं तो उसका उत्तर बम, गोला बन्दूक से मिलता है। लेकिन हिंसा का उत्तर लोग प्रति हिंसा से देने को बाध्य होते हैं। इस प्रकार विश्व बन्धुत्व के मार्ग में सबसे बड़ी अड़चन यही साम्राज्यवाद सिद्ध हो रहा है।

दो विश्व-महायुद्ध

(१) प्रथम महायुद्ध—गत आधी सदी के भीतर विश्व ने दो महान् युद्ध की वीभिषिकाओं का कटु अनुभव किया है। प्रथम बार २६ जुलाई सन् १६१४ को विश्व को आक्रान्त करने वाली दावाग्नि का प्रारम्भ हुआ। ११ नवम्बर सन् १६१८ तक युद्ध चलता रहा। इसमें एक तरफ जर्मनी, आस्ट्रेलिया, हंगरी, बलगेरिया तथा टर्की थे और दूसरे पक्ष में इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस, बेल्जियम, सर्विया, यूनान, रूमानिया, चीन, जापान और अमेरिका थे। भारत भी इंगलैण्ड की ओर था। "अतीत की भाँति यह दो देशों या दो राजाओं का का युद्ध नहीं था। इसमें प्रत्येक पक्ष में अनेक राज्य शामिल थे। मानव संहार का ऐसा हृदय-विदारक चित्र पहले ऐसा कभी नहीं उपस्थित हुआ था। मनुष्य ने अपनी क्रूरता और पाशविकता का खूब नग्न प्रदर्शन किया।"

इस युद्ध का प्रमुख कारण साम्राज्यवाद था। साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी प्रतिद्वन्दिता में अंधी हो रही थी। प्रत्येक दूसरे को देखकर जलता था और स्वार्थ-साधन में उससे आगे बढ़ना चाहता था। इस दौड़ में इंगलैण्ड और फ्रांस यूरोप के अन्य देशों से आगे थे। जर्मनी इस स्थिति से चिढ़ता था और वह दूसरों के समकक्ष होना चाहता था। उसके पास साधन थे, उसके कारखाने अच्छा-से-अच्छा माल तैयार करते थे, उसके सैनिक अन्य देश के सैनिकों से अच्छे थे, पर नयी साम्राज्यवादी दौड़ में वह अंग्रेजों और फ्रांसिसियों से पीछे पड़ गया था। यह बात उसे चुभती थी। जर्मन बादशाह कैसर नैपोलियन की तरह महत्वाकांक्षी था। उसने अपने सैनिक संगठन को दृढ़ किया, बार्लिन से बगदाद तक रेल बनाने की योजना तैयार की गयी। तुर्की के सुल-

तान से उसने मैत्री की और एशिया तथा अफ्रीका के उपनिवेशों से लाभ उठाने का स्वप्न साकार करना चाहता था।

उधर दूसरे साम्राज्यवादी देश सशंकित हो रहे थे और आपस में गुप्त संधि द्वारा जर्मनी की योजनाओं को विफल करने की तैयारी कर रहे थे। दिन-दिन तनातनी बढ़ती जा रही थी।

इसी विषाक्त वातावरण में २८ जून सन् १९१४ को आस्ट्रेलिया के राजा और उसकी पत्नी की हत्या सेराजोवो में हुई। सेराजोवो सर्विया की राजधानी थी। आस्ट्रेलिया ने सर्विया के पास एक परिपत्र भेजकर उसे ४८ घंटे के भीतर अपने शर्तें स्वीकार करने की धमकी दी। सर्विया ने उसे अस्वीकार कर दिया। आस्ट्रेलिया ने २९ जुलाई को सर्विया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। योरप में आपसी 'प्रतिस्पर्धा के कारण बारूद पहले ही से मौजूद थी, इस घटना ने उसमें चिनगारी का काम कर दिया। रूस सर्विया की ओर से और जर्मनी आस्ट्रेलिया की ओर इस युद्ध में शामिल हो गये। फ्रांस और इंगलैण्ड के साथ बेलजियम की संधि थी और जब जर्मनी ने बेलजियम पर आक्रमण किया, तो इंगलैण्ड भी फ्रांस तथा रूस की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। सन् १९१७ ई० में अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल हुआ। इस प्रकार सारा विश्व दो युद्ध-कैम्पों में विभाजित हो गया। चार वर्षों तक अपार धन-जन का संहार हुआ और अन्त में जर्मनी की हार हुई। मित्र राष्ट्र विजयी हुए। जर्मनी को युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया और उसे कठोर सजाएँ भुगतनी पड़ी। उसके सब उपनिवेश छीन लिए गए। उसकी सैनिक शक्ति बहुत कम कर दी गयी और उसे युद्ध-क्षति की पूर्ति के लिए एक भारी रकम देने को बाध्य किया गया।

राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप के राज्यों की सीमा निर्धारित की गई। यूरोप के बाहर के जर्मन राज्य अन्य बड़े राज्यों को दे दिये गये। सिरिया फ्रांस को मिला, पूर्वी अफ्रीका स्टेट इंगलैण्ड ने लिया। पश्चिमी जर्मनी की खानें फ्रांस को दे दी गयीं। इस प्रकार वर्साई की संधि द्वारा युद्धोत्तर व्यवस्था की गई।

प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम—इस युद्ध में विजेता और विजित दोनों पक्षों के धन-जन की अपार क्षति हुई। लाखों आदमी मारे गये, करोड़ों की सम्पत्ति बर्बाद हुई। कहा जाता है कि इस युद्ध में ५८६३ हजार करोड़ रुपए खर्च हुए और लगभग १३ हजार करोड़ रुपये की सम्पत्ति नष्ट हुई। युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गयी। इसी विषम आर्थिक स्थिति के फलस्वरूप साम्यवाद का उदय हुआ।

राजनीतिक क्षेत्र में भी इस युद्ध का गहरा प्रभाव पड़ा। पुनः राष्ट्रीयता का जोर बढ़ने लगा। आस्ट्रिया, जर्मनी और टर्की जैसे राजतन्त्र समाप्त हो गये। कुछ देशों में जनतन्त्र के स्थान पर युद्ध जनित विषमताओं को दूर करने और शीघ्रता से पुनः निर्माण करने के हेतु अधिनायक तन्त्र का बोलबाला हो गया। विजित देशों में नागरिकों और शासकों में शंका, घृणा और द्वेष की भावना का प्राधान्य होने लगा और वे अपनी हार का बदला लेने का उपाय सोचने लगे। कुछ लोग विश्व में युद्ध रोकने के लिए चिन्तित हुए और इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना हुई।

सामाजिक क्षेत्र में भी इस युद्ध के प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे। इस युद्ध के समय यूरोप वालों ने "काले" लोगों की वीरता का परिचय पाया, अतः उन्होंने उन्हें हेय समझना कम किया। स्त्रियों ने युद्ध के समय अनेक प्रकार के कार्यों को सम्भाला था, अतः युद्ध के बाद समान अधिकार की चर्चा प्रबल हो उठी। महायुद्ध के समय कल कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का महत्व बढ़ गया। अतः उनके संगठन का जोर बढ़ा, सरकार का ध्यान भी उनके हित की ओर गया। इस प्रकार इस युद्ध ने मजदूरों में जागरण का मन्त्र भर दिया। युद्ध के दिनों में विज्ञान में भी अनेक प्रकार की नयी खोज हुईं, अतः वैज्ञानिक क्षेत्र में विशेष प्रगति और चहल-पहल दीख पड़ने लगी। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार हुए और उनसे जीवन के हर पहलू पर असर पड़ा।

(२) द्वितीय महायुद्ध—प्रथम युद्ध समाप्त होने के बीस वर्ष के भीतर ही द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो गया। सितम्बर १९३९ को यह युद्ध प्रारम्भ हुआ

और अगस्त सन् १९४५ को उसका अन्त हुआ। इस प्रकार लगभग ६ वर्षों तक यह युद्ध चला जिसमें नर-संहार और सम्पत्ति-नाश का लेखा-जोखा करना असम्भव-सा है। इतने दिनों के बाद मनुष्य ने दूसरी बार अपने पागलपन का लज्जास्पद प्रदर्शन किया। इस युद्ध के प्रारम्भ होने में कई कारण सहायक हुये। सर्व प्रथम कारण था संसार के बड़े राष्ट्रों में विश्वास तथा सहयोग की भावना का अभाव और स्वार्थ की प्रधानता (२)। प्रथम युद्ध के बाद विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने की होड़ लगा दी। सब यही समझते थे कि सैनिक बल की वृद्धि और हथियारों का संग्रह ही विश्व-शान्ति का उत्तम और पक्का मार्ग है। इस विडम्बना से संसार में सैनिक शक्ति के बढ़ाने में सब से अधिक बुद्धि और धन लगाया गया। (३) इस युद्ध के पूर्व एशिया में जापान ने साम्राज्यवादी रूप धारण कर लिया। उसने मंचूरिया पर अधिकार किया, सन् १९३६ में जर्मनी के साथ संधि की। इसके बाद इटली भी उसमें शामिल हो गया। (४) इटली ने मुसोलीनी के अधिनायकत्व में एक शक्तिशाली राज्य का संगठन किया था, उसने जर्मनी के अधिनायक हिटलर से सन् १९३६ ई० में संधि की। इस प्रकार बर्लिन-रोम टोकियो का निकटतम सम्बन्ध स्थापित हो गया और इन्होंने प्रथम युद्ध के विजेताओं के विरुद्ध अपनी शक्ति बढ़ाना शुरू कर दिया। (५) प्रथम युद्ध के बाद मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी को अपनी समझ में पंगु बना दिया था। सन् १९१९ से १९३३ तक जर्मनी की दशा अति शोचनीय रही। वर्साई की संधि के नीचे वह कराह रहा था। जनता का धैर्य टूट चुका था और वह किसी प्रकार मित्र राष्ट्रों के चंगुल से निकलना चाहती थी। उस भावना का लाभ हिटलर ने उठाया सन् १९३३ ई० में जर्मनी का शासन उसके हाथ में आ गया। उसने जर्मन राष्ट्र को अतीत गौरव की याद दिलाई और अपने देश वासियों को वर्साई की संधि की शर्तों से छुटकारा पाने के लिए बलिदान और त्याग के लिए आह्वान किया। उसे इस लक्ष्य में पूरी सफलता मिली। वह उस संधि की शर्तों को एक-एक कर तोड़ता रहा। अपने को राष्ट्र संघ से अलग कर लिया, जापान, रूस और इटली को अपनी ओर मिलाया, फिर यूरोप के एक-एक देश को हड़पना शुरू किया। आस्ट्रिया लिया और जेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लिया। इन्हीं बातों से

उत्साहित होकर १ सितम्बर १९३९ को हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया युद्ध का श्री गणेश हो गया। इंगलैण्ड और फ्रांस ने ३ सितम्बर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया, क्योंकि पोलैण्ड के साथ उनकी संधि थी।

यह युद्ध ६ वर्षों तक चलता रहा। एक तरफ इँगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका प्रधान थे, दूसरी तरफ जर्मनी, इटली और जापान। रूस कुछ दिनों तक तटस्थ रहा, पर अन्त में वह भी जर्मनी के विरुद्ध हो गया। प्रथम चार वर्षों में जर्मनी और जापान ने युद्ध में मित्र राष्ट्रों को हराया और अनेक स्थानों पर उनका अधिकार हो गया। जर्मनी ने बेलजियम, हालैण्ड, नार्वे, स्वीडन, फ्रान्स को रौंद डाला। जापान, सिंगापुर, बर्मा होता हुआ भारत की सीमा तक पहुँच गया। रूस में भी जर्मन सेना के साथ भीषण युद्ध हुआ। पर अन्तिम दिनों में मित्र राष्ट्रों का सितारा चमक उठा। अमेरिका ने सन् १९४५ में जापान के प्रसिद्ध नगर हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु-बम गिराया और उससे युद्ध का पासा पलट गया। जापानियों ने हथियार डाल दिये। उधर हिटलर भी अँग्रेजों, फ्रांसिसियों और अमेरिकी सेनाओं से घिर गया और रूसी सैनिकों का दबाव भी बढ़ने लगा अगस्त। सन् १९४५ को इस विश्व-व्यापी युद्ध का अन्त हुआ।

परिणाम—द्वितीय महायुद्ध के परिणाम प्रथम युद्ध से अधिक महत्वपूर्ण हुए। युद्ध के बाद दो विरोधी राजनीतिक विचारों में संघर्ष शुरू हो गया। एक विचारधारा पूँजीवादी थी और उसका प्रबल समर्थक संयुक्त राज्य अमेरिका था। दूसरी विचार धारा साम्यवादी थी और इसका पोषक रूस बना। इस युद्ध के बाद पुराना राष्ट्रीयता का रूप कुछ फीका पड़ गया और उसके स्थान पर लोगों का ध्यान साम्यवाद तथा लोकतन्त्र के बीच बँट गया। हर देश में दो प्रकार के लोग हो गये और प्रत्येक पक्ष ने इन दोनों विचार-धाराओं में से एक का समर्थन करना शुरू कर दिया। पहले लोगों का ध्यान और समर्थन अपने-अपने राष्ट्र के लिए होता था, अब उसका स्थान इन दो विचार-धाराओं ने ले लिया। इस युद्ध के समय अनेक प्रकार के प्रभावकारी यन्त्रों और हथियारों का निर्माण हुआ। विज्ञान की विशेष उन्नति हुई। अणु-शक्ति की खोज हो गयी और इससे दुनिया का रूप ही बदल जायगा—ऐसी आशा की जाती है। समय और दूरी की

अड़चन अब कम होती जा रही है। राजनैतिक क्षेत्र में भी भारी परिवर्तन हुए। संसार के नेतृत्व का केन्द्र यूरोप से हट कर अमेरिका चला गया। ब्रिटेन का महत्व कम हो गया। संसार की राजनीति रूस और अमेरिका के बीच सन्तुलित हो गयी। अनेक पराधीन राष्ट्र स्वतंत्र हो गये; भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया आदि इनमें प्रमुख थे। जापान की शक्ति का ह्रास हो गया और चीन एक शक्तिशाली साम्यवादी राज्य बन गया। एशिया में पाकिस्तान और इजरायल दो नये राज्य बन गये। विश्व की राजनीति में एशिया का महत्व बढ़ गया। पुनः विश्व शान्ति की स्थापना का प्रयास हुआ और उसी के फलस्वरूप 'संयुक्त राष्ट्र सङ्घ' की स्थापना हुई।

यूरोप में फ्रान्स की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति विशेष रूप से डबाडोल हो गयी। जर्मनी को चार भागों में विभाजित किया गया। एक-एक पर इंगलैण्ड, फ्रान्स, अमेरिका और रूस का अधिकार हो गया। बर्लिन शहर के भी चार भाग किये गये और प्रत्येक विजेता ने अपने प्रभुत्व का दायरा निश्चित किया। सन् १९५४ ई० में रूस के अतिरिक्त अन्य विजेताओं ने जर्मनी में लोकतंत्र की स्थापना का उपक्रम किया। पर रूस अपने हिस्से को आत्मसात् करना चाहता था। जापान पर अमेरिका की सैनिक सत्ता स्थापित हो गयी।

साम्यवादी रूस

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण घटनाओं में साम्यवादी रूस का जन्म और विकास एक विशिष्ट घटना है। रूस युद्ध के पूर्व निरंकुश राजतंत्र का एक गढ़ था। वहाँ के शासक ज़ार विशुद्ध निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। उनके मन में अपनी प्रजा के हित की भावना लेश मात्र भी नहीं थी। देश में किसानों की अधिकता थी, पर उनकी आर्थिक तथा सामाजिक दशा अति शोचनीय थी। वहाँ की जनता को पढ़ने लिखने की सुविधा नहीं थी। रूसी न्यायालय भ्रष्टाचार के केन्द्र थे। राजा अयोग्य और निकम्मे थे। कुछ दिनों से रूस अपने प्रतिद्वंदियों द्वारा अपमानित और पराजित होता आ रहा था। १८५३ में क्रीमियन युद्ध में और १९०४ में कोरियन युद्ध में रूस की हार हुई थी। अतः राज-शक्ति की ओर से लोगों की श्रद्धा हट चुकी थी। सन् १९०५

ई० में ज़ार की लगभग एक लाख दुखी और सन्तप्त जनता जुलूस बना कर अपने दुख की कहानी अपने सम्राट के समक्ष रखने गयी। उन्हें विश्वास था कि जार का हृदय पसीजेगा। पर उन्हें गोलियों का शिकार होना पड़ा। इससे जनता में अपने शासक के प्रति और अधिक घृणा के भाव भर गये। इस समय तक रूस में साम्यवादी सिद्धान्त का प्रचार हो रहा था। कार्य कर्ताओं का ख्याल था कि रूसी जनता का त्राण इसी पद्धति से होगा। उसे राजा से छुटकारा दिलाने और उनकी आर्थिक तथा सामाजिक दशा अच्छी करने का एक मात्र मार्ग यही होगा, ऐसा प्रचार जोर पड़कता जा रहा था।

ऐसे वातावरण में १९१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। रूस भी मित्रराष्ट्रों की ओर था, पर उसकी आन्तरिक दशा अच्छी नहीं थी। चारों ओर अव्यवस्था फैल गयी। इससे लाभ उठाकर साम्यवादी नेताओं ने असन्तुष्ट सैनिकों, मजदूरों और किसानों को अपनी ओर मिलाया। सर्वत्र विद्रोह के लक्षण दीख पड़ने लगे। अन्त में जार और उसके परिवार के सब सदस्य कैदी बनाये गये। उसी समय लेनिन नामक एक क्रान्तिकारी जो जोर के अत्याचार से छिपकर देश से बाहर रहता था, रंगमंच पर उपस्थित हुआ और उसने राजधानी पर अधिकार कर लिया। उसने युद्ध बन्द कर दिया, और जर्मनी से संधि की। सन् १९१८ ई० में जार और उसके परिवार के सब लोग तलवार के घाट उतार दिये गये क्योंकि वे राज्य शक्ति को प्राप्त करने के लिए बाहरी देशों से मदद की याचना कर रहे थे। इस प्रकार सन् १९१७ ई० में लेनिन के नेतृत्व में रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। विश्व के इतिहास में यह घटना अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। लेनिन की मृत्यु सन् १९२४ ई० में हुई। उसके बाद स्टालिन के हाथ में रूस की सत्ता आयी। वह वहाँ की साम्यवादी सरकार का प्रधान हुआ। स्टालिन ने रूस के संगठन में अद्भुत काम किया। आज का रूस उसी की प्रतिभा और बुद्धि का फल है। वह आधुनिक विश्व का योग्यतम राजनीतिज्ञ समझा जाता था। ६ मार्च सन् १९५३ ई० में उसका देहान्त हुआ।

शासन-व्यवस्था—रूस की सरकार का संगठन सर्व प्रथम १९१८ के संविधान द्वारा हुआ। उस संविधान को १९३६ से परिवर्तित किया गया। उस

परिवर्तन में स्तालिन का विशेष हाथ था। अतः उसे स्तालिन-संविधान भी कहा जाता है। इस संविधान में रूस को "यूनियन आफ सोवियत सोसलिस्ट रिपबलिक्स" कहा जाता है। इस राज्य की सभी शक्तियों का मूल स्रोत वहाँ का श्रमिक वर्ग है। सारे देश में क्रम से श्रमिकों की सोवियत हैं। इन्हीं सोवियतों द्वारा सिलसिले से निर्वाचन होता है। अन्त में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस का संगठन होता है। रूस कई गणतंत्र राज्यों का एक यूनियन है। रूसी यूनियन सरकार में दो सदन वाली धारा सभा है जिसमें से एक का चुनाव जनता करती है और दूसरी का संगठन सब गणतंत्र की सरकारों द्वारा होता है। दोनों सभाएँ अध्यक्ष को चुनती है। शासन संचालन के लिए एक मंत्रि-परिषद् है।

आर्थिक संगठन—रूस की सब से महत्वपूर्ण बात उसका निराला आर्थिक संगठन है। वहाँ निजी सम्पत्ति की प्रथा नहीं है। बड़े-बड़े उद्योग धन्धे सरकार के हाथ में है। सरकार बड़े-बड़े फार्मों में खेती भी कराती है। उत्पादन और वितरण के साधनों पर सरकार का पूरा नियंत्रण है। सन् १९२८ ई० के वहाँ देश की उन्नति के लिए पंचवर्षीय योजना लागू की गयी। इन योजनाओं के कारण रूस ने हर क्षेत्र में अद्भुत प्रगति की है। रूस अपनी आवश्यकता की सब चीजें स्वयं तैयार करता है। सारी आर्थिक व्यवस्था सुनियोजित है। उत्पादन और निर्माण में काम करने वालों का तथा देश के हित का सर्वोपरि ध्यान रक्खा जाता है।

महत्व—"रूस की साम्यवादी क्रान्ति संसार की प्रमुख घटनाओं में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। दुनियाँ के इतिहास में यह युगान्तरकारी घटना है।" रूसी क्रान्ति में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों पहलू साथ-साथ है। जीवन के तीनों क्षेत्रों में रूसी क्रांति का बराबर प्रभाव है। रूसी क्रान्ति ने सामाजिक विषमता को नष्ट करने का प्रथम सफल प्रयास किया है। आर्थिक क्षेत्र में उसकी देन निराली है। राज्य के संगठन में भी रूसी क्रान्ति ने एक नया दृष्टिकोण दुनियाँ के समक्ष रक्खा है। क्रान्ति के बाद रूस ने हर क्षेत्र में इतनी उन्नति की है कि वह आज संसार में प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में प्रमुख बन गया है। रूसी क्रान्ति का महत्व इससे और अधिक स्पष्ट होगा कि

दुनियाँ में साम्यवाद एक साधारण चर्चा का विषय बन गया है। मार्क्स ने संसार को एक नवीन विचार-धारा दी, रूसी क्रान्ति ने उस विचार-धारा का एक समर्थ और जीता जागता पोषक तथा रक्षक खड़ा कर दिया जो अपनी सफलता की छाप संसार पर डाल चुका है। साम्यवादी विचार-धारा आज अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय बन चुकी है।

पूँजीवादी अमेरिका

इन दो विश्व-महायुद्धों के कारण अमेरिका अपनी एकान्त और तटस्थ नीति को त्याग कर विश्व के रंग-मंच पर एक प्रभावशाली तथा शक्ति सम्पन्न राज्य के रूप में अवतरित हुआ है। १९ वीं सदी के अन्त तक अमेरिका ने विश्व की राजनीति से अपने को पृथक रक्खा था। बाद को उसने अपनी यह नीति बदल दी और इस प्रकार उसकी विलगाव की नीति का अन्त हुआ। इस परिवर्तन के कई कारण थे। (१) सयुक्त राज्य अमेरिका में वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास की गति बड़ी तेज हो गयी, यातायात के साधन प्रचुर हो गये। अतः अन्य देशों के साथ व्यापार की आवश्यकता पड़ी। इसीलिए अमेरिका को विदेशी व्यापार के लिए बाजार की जरूरत हुई। (२) यूरोप की राजनीति शक्ति-सन्चय और संघ-मैत्री के सिद्धान्त पर संगठित होने लगी। इससे अमेरिका चिन्तित हुआ और उसे भी मित्रों की आवश्यकता महसूस होने लगी। अतः उसका बहिर्मुखी होना आवश्यक हो गया। (३) वहाँ की सरकार की शक्ति अधिक बढ़ गयी, अतः उन्हें बाहरी देशों से सम्पर्क रखने में किसी प्रकार का खतरा नहीं रहा। (४) वहाँ के समाचार पत्रों, लेखकों और राजनीतिज्ञों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रचार हुआ। (५) जापान-जैसे राज्यों की साम्राज्य-वादी नीति से अमेरिका प्रभावित हुआ क्योंकि जापान की शक्ति के प्रसार से अमेरिका के व्यापार को धक्का पहुँचने की आशंका थी। अतः अमेरिका में साम्राज्यवादी मनोवृति पैदा हो गयी।

दोनों युद्धों में अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों का साथ दिया। इन युद्धों के पश्चात होने वाली संधियों में अमेरिका को विशेष लाभ हुआ, अमेरिका की अपेक्षाकृत क्षति कम हुई थी। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण युद्ध के दिनों में वह

खतरे से दूर रहा और युद्ध से सीधे प्रभावित देशों में अपना सामान, युद्ध-सामग्री तथा अन्य चीजें बेच कर खूब लाभ कमाया।

अमेरिका में ही संयुक्तराष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय है। उसके ५ स्थायी सदस्यों में अमेरिका भी एक है। वह जापान पर हावी है। कम्यूनिष्ट चीन का प्रधान विरोधी है। चांगकाई शेक के पीछे अमेरिका ही वास्तविक ताकत है। कोरिया के मसले का मुख्य नायक अमेरिका ही है। यूरोप और एशिया को आर्थिक सहायता देने में वह सबसे आगे है। सन् १९४७ की मार्शल-योजना के अनुसार अमेरिका यूरोप को ऋण से लाद चुका है। सन् १९४९ की योजना के अनुसार पिछड़े हुए देशों को आर्थिक सहायता देने का काम अमेरिका ही कर रहा है। उसी के इशारे पर उत्तरी अटलांटिक पैक्ट हुआ और दक्षिण-पूर्व-एशिया की रक्षा के लिए एक संगठन बनाया गया है। इन बातों से स्पष्ट है आधुनिक अमेरिका विश्व की राजनीति का प्रमुख केन्द्र बन गया है। "वह पूँजी और अणु दोनों का ही स्वामी है। संयुक्तराष्ट्र संघ में भी उसकी ही प्रधानता है।" साम्यवादी चीन को मान्यता न देने में सबसे अधिक हाथ अमेरिका ही का है। उसके पास पूँजी और सामान का बाहुल्य है, अतः वह इस युग में साम्राज्यवाद का प्रतीक बन गया है। फारमोसा और इण्डोचीन की विरोधी समस्या की कुन्जी उसी के हाथ में है। साम्यवादी राज्यों का प्रधान और प्रबल विरोधी अमेरिका है।

संयुक्तराज्य अमेरिका राज्यों का संघ है। उसमें ४८ राज्य हैं। यहाँ की शासन-प्रणाली संघात्मक है। संघ सरकार के हाथ में शासन के इने-गिने महत्वपूर्ण काम हैं। शेष काम राज्य की सरकारें करती हैं। संघ और राज्य की सरकार के बीच स्पष्ट अधिकार-विभाजन है। संघ सरकार का प्रमुख राष्ट्रपति है जो शासन का वास्तविक अधिकारी है। वह चार वर्ष के लिए अप्रत्यक्ष ढंग से चुना जाता है। वहाँ की संसद् को 'कांग्रेस' कहते हैं जिसमें दो सदन होते हैं। राज्य सरकार का प्रमुख गवर्नर होता है जो निर्वाचन द्वारा पद प्राप्त करता है।

एशिया की नवीन जागृति

ऊपर बताया जा चुका है कि यूरोपीय देशों की साम्राज्यवादी नीति का

शिकार एशिया के अधिकांश देशों को होना पड़ा। उस शिकंजे से भारत को किस प्रकार मुक्ति मिली, इसका परिचय पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में कतिपय कारणों से नवजागरण की लहर उठी और देश में राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव हुआ। लगभग ५० वर्षों के सक्रिय प्रयत्न के बाद भारत को अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मुक्ति मिली। इसी प्रकार से एशिया के अन्य देशों में भी राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात हुआ और एशिया के देश अमेरिका तथा यूरोप के शोषण से मुक्त होने की चेष्टा करने लगे। महायुद्धों ने एशिया में जनता की नसों में नये रक्त का संचार किया; मित्र राष्ट्रों ने युद्ध के समय जोर-जोर से स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के नाम पर अपने पक्ष का समर्थन किया था। अतः एशिया निवासियों ने उस मंत्र को कंठस्थ कर लिया और वे अपनी बेड़ियों को तोड़ने के लिए व्यग्र हो उठे। एशिया की इन नवीन जागृति में अनेक कारण सहायक बने—

(१) प्रकृति का नियम है कि रात के बाद दिन होता है। जिस एशिया ने राम, कृष्ण, बुद्ध, मुहम्मद को जन्म दिया था उसे एक बार अन्धकार-मय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ा। अब प्राकृतिक नियम के अनुसार उसके दिन बदले और एशिया के निवासी पुनः अपने पुराने गौरव के अनुरूप बनने की चेष्टा करने लगे। (२) वैज्ञानिक आविष्कारों का चमत्कार यूरोप से छन-छन कर एशियाई देशों में भी व्याप्त होने लगा। रेल, तार, डाक जहाज, बड़े-बड़े कल-कारखानों की व्यवस्था यहाँ भी होने लगी। इससे विचारों का आदान-प्रदान शुरू हुआ और अपने अनुकरणशील स्वभाव से एशियाई जनता ने पाश्चात्य स्वतंत्रता, समानता, राष्ट्रीयता के विचारों को समझना, और अपनाना शुरू कर दिया। (३) एशिया के अधिकांश देशों में यूरोप निवासियों के संसर्ग से पाश्चात्य भाषाओं की शिक्षा की सुविधा हो गयी। इससे उनके दर्शन, विज्ञान, इतिहास तथा राजनीति का ज्ञान एशिया वालों को भी सुलभ हो गया। पश्चिमी देशों के साहित्य के पठन-पाठन से यहाँ के लोगों को उनकी उन्नति और शक्ति का रहस्य मालूम हो गया और स्वभावतः यहाँ के लोगों ने भी उसी मार्ग का अनुसरण कर अपने को स्वतन्त्र बनाने का उपक्रम किया। (४) साम्राज्यवादी देशों की शोषण की नीति और अनैतिक कार्यों से भी

एशियावासी उत्तेजित हुए। वे समझ गये कि पश्चिमी राष्ट्र ऊँची-ऊँची बातें कर हमें चूसते हैं। हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति का उपयोग अपने स्वार्थ साधन के लिए करते हैं, न्याय की बातें ठुकरा देते हैं। अतः यहाँ के लोगों में उसके प्रतिकार की भावना जाग्रत होने लगी। (५) एशिया में सर्व प्रथम जापान में राष्ट्रीयता की भावना ने ठोस रूप धारण किया। उन पर साम्राज्यवाद का प्रभाव कम पड़ा था, उन्होंने सबसे पहले पश्चिमी विज्ञान की बातें सीख लीं और उसका उपयोग भी किया। अतः उनकी शक्ति मजबूत हो गयी। लोगों को भ्रम हो गया था कि पश्चिमी देश अजेय हैं। पर सन् १९०४ ई० में इस भ्रम का निराकरण हो गया। रूस जापान के बीच युद्ध हुआ, जापान ने रूस-जैसे बड़े देश को मात दिया। इससे एशिया वासियों में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हुआ, वे आत्महीनता के दलदल से बाहर निकले और यूरोप अजेय है, एशिया गुलामी के लिए है—इस धारणा का अन्त हो गया। एशिया के सब देशों ने जापान की विजय को अपनी विजय समझा और सर्वत्र खुशियाँ मनायी गयीं। (६) प्रथम युद्ध के बाद अमेरिका के प्रेसिडेन्ट विलसन ने आदर्शवादी उद्देश्यों की पवित्रता की घोषणा की और राष्ट्रों के आत्म निर्णय तथा स्वतन्त्र सत्ता की अधिकाधिक चर्चा हुई। एशिया ने भी उन सिद्धान्तों का व्यवहार अपने यहाँ देखना चाहा। (७) इन युद्धों ने यूरोपीय राष्ट्रों को कुछ शिथिल बना दिया। अतः एशिया वालों ने उस स्थिति से लाभ उठाने की तैयार की। (८) युद्ध के दिनों में एशिया के कतिपय देशों के सैनिक रणक्षेत्र में कुछ यूरोपीय देशों की सेना के साथ कंधा से कंधा मिलाकर लड़े। उन्हें कुछ बड़े बहादुर यूरोपीय सैनिकों के विरुद्ध भी युद्ध करना पड़ा। इस अनुभव से उन्हें ज्ञात हुआ कि एशियावासी सैनिक दृष्टि से भी यूरोपवालों से किसी प्रकार कम नहीं है। सुविधा और सामग्री पाकर वे अच्छे सैनिक सिद्ध हुए। इससे एशिया वासियों में आत्मविश्वास पैदा हो गया। यूरोपवासियों मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की। (९) युद्ध के दिनों में कतिपय एशियाई देशों में औद्योगिक विकास तेजी के साथ हुआ। युद्ध सामग्री तैयार करने के कारखाने भी स्थापित हो गये। उनके देश का व्यापार भी बढ़ गया, अतः उन्हें आगे बढ़ने का मार्ग दीख गया और वे पुनः उस लाभ से वंचित नहीं होना चाहते थे। इसके

लिए उन्हें अपनी सरकार चाहिए और वे स्वराज्य के लिए प्रयत्नशील हो उठे।

ईरान—इन्हीं कारणों से एशिया में २०वीं सदी के प्रारम्भ में ही जाग्रति की लहर दौड़ पड़ी। ईरान में प्रथम महायुद्ध के बाद रूस की क्रान्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा। आपसी खींचातानी में रूस और इंगलैण्ड दोनों ही फारस से अलग हो गये। वहाँ राजशक्ति रजा खाँ (रजाशाह पहलवी) के हाथ में आ गयी और उसने अपने उदारवादी शासन से फारस को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। आधुनिक ढंग से शिक्षा की व्यवस्था की गयी। रेल, तार, डाक का प्रबन्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध में रजाशाह अपने देश को तटस्थ रखना चाहता था। पर इंगलैंड और रूस के दबाव से १९४१ ई० में उसे पदच्युत होना पड़ा। उसका पुत्र मुहम्मद रजा बादशाह बनाया गया। युद्ध समाप्त होने पर यहाँ अमेरिका और इंगलैंड का प्रभाव पड़ा। ईरान के तैल कूप इस द्वन्द्व के कारण बने। पर इसी को लेकर इंगलैंड और वहाँ के प्रधान मन्त्री डा० मुसाद्दीक में मतभेद बढ़ा। ईरानी सरकार तैल व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करना चाहती थी। इंगलैंड इसका विरोध करने लगा पर उसे अपना अधिकार छोड़ने पर विवश होना पड़ा। ईरान इंगलैंड के चंगुल से तो मुक्त हो गया, पर अमेरिका बीच में कूद पड़ा। वहाँ के शाह ने अपने बचाव के लिए, अमेरिका से अपने देश के जनतान्त्रिक दल के विरुद्ध सहायता ली। अतः बना बनाया खेल कुछ दिनों के लिए बिगड़ गया।

भारत—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। राष्ट्रीयता के आन्दोलन में भारत किसी से पीछे नहीं था। गाँधी जी के नेतृत्व में द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल होने से १५ अगस्त सन् १९४७ को इस बड़े देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की। पर उसी समय उसके कुछ भाग में एक पृथक स्वतंत्र राज्य 'पाकिस्तान' के नाम से स्थापित हुआ। स्वतंत्र भारत इतने कम दिनों में हर प्रकार की उन्नति करता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसकी विदेशी नीति का बहुत आदर है। अपनी आन्तरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था से और ईमानदारी पूर्ण वैदेशिक नीति से सारे विश्व को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। उनसे एशिया के अन्य

देशों को भी स्वतंत्र बनने में नैतिक और भौतिक सहायता दी है। इसके लिए बर्मा, हिन्द चीन, इण्डोनेशिया उसके ऋणी हैं। भारत अब इस स्थिति में पहुँच गया है कि वह अन्य राष्ट्रों को स्वतंत्रता के लिए प्रेरणा दे सके उसकी एक परेशानी उसके पड़ोसी राज्य पाकिस्तानी नीति के कारण है। पाकिस्तान ने इधर कुछ वर्षों से विदेशी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ आर्थिक और सैनिक संधि कर ली है। एशियाई नव जागरण और राष्ट्रीयता के लिए ऐसी घटनाएँ प्रतिकूल होंगी।

अफगानिस्तान—प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १६१६ ई० में अफगानिस्तान में अमानुल्ला राजा बना। वह सुधारवादी व्यक्ति था। उसके पहले अफगानिस्तान में न तो कोई विधान था और न लोकसत्ता थी। अमानुल्ला ने एक विधान स्वीकार किया और उसी के अनुसार देश का शासन होने लगा। शिक्षा के लिए नये स्कूल खोले गये, सड़कें बनाई गयीं। सेना का संगठन हुआ। विद्यार्थी विदेश भेजे गये। उसने कतिपय राष्ट्रों से मैत्री पूर्ण संधियाँ की। उसके उदार और प्रगतिशील सुधारों से देश का एक वर्ग रुष्ट हो गया। अतः सन् १६२६ ई० में उसे गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। पर आज का अफगानिस्तान स्वतंत्र है और सुधार के पथ पर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा है। वह विश्व शान्ति का समर्थक है, भारत का मित्र है और अनावश्यक राजनीतिक गुटबन्दी से पृथक रहने का पक्षपाती है।

सीरिया—प्रथम महायुद्ध के बाद सीरिया एक स्वतंत्र राज्य बना। पर अवसर पाकर फ्रान्स ने उसे स्वतंत्रता से वंचित कर दिया। इस बात का विरोध वहाँ के अरब लोगों ने डट कर किया। यह विरोधात्मक आन्दोलन सन् १६२० से १६३६ तक चलता रहा। इस बीच में फ्रांस की सेना ने सीरिया को दबाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। नागरिकों को जेल में ठूँस दिया गया। गोलियाँ चलीं, सन् १६२५ में एक भयंकर विद्रोह हुआ। पर समझौता नहीं हो सका। १६३५ ई० में एक दीर्घकालीन हड़ताल हुई और सन् १६३६ में विवश होकर फ्रान्स को सीरिया की स्वतंत्रता स्वीकार करनी पड़ी। बाद को सीरिया में दो राज्य स्थापित हुए—(१) सीरिया जिसकी राजधानी दमिश्क और

(२) लबेनन जिसकी राजधानी बीरुट हुई। द्वितीय महायुद्ध के बाद सीरिया पूर्ण स्वतंत्र हो गया।

फिलिस्तीन और इजरायल—फिलिस्तीन प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र रहा है। वह प्राचीन काल में यहूदियों का निवास स्थान था। रोम वालों ने उन्हें वहाँ से बाहर निकाल दिया। रोम वालों की सत्ता समाप्त होने पर अरबों ने उसे जीता और वहीं आबाद हो गये। इस प्रकार फिलिस्तीन में यहूदी और अरब दो जातियों का स्वार्थ निहित हो गया। प्रथम महायुद्ध के समय यहूदियों ने मित्र राष्ट्रों की मदद की। इसके बदले में उन्हें फिलिस्तीन देने का वचन दिया गया। युद्ध समाप्त होने पर यहूदी वहाँ आकर बस गये। इस स्थिति से वहाँ के अरब निवासी घबड़ाये। दोनों में संघर्ष हो गया। अरबों ने हिंसात्मक आन्दोलन किया। झगड़े को शान्त करने के लिए बड़े राष्ट्रों द्वारा अनेक प्रयास किये गये। फिलिस्तीन को कई भागों में विभाजित करने का प्रस्ताव हुआ पर अरब निवासी उसे अस्वीकार करते रहे। सन् १९४७ ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इसे तीन राज्यों में विभाजित किया गया—(१) अरबों का भाग, यहूदियों का भाग और संयुक्त राष्ट्र संघ के अधीन जेरुसलम का राज्य। अरबों को यह विभाजन स्वीकार नहीं हुआ। पर इससे एक स्वतंत्र यहूदी राज्य "इजरायल" नाम से स्थापित हो गया।

इराक—प्राचीन मैसोपोटामिया को आजकल इराक कहते हैं। यहाँ तेल के कूप हैं। यह अंग्रेजों की प्रभुता में था। प्रथम महायुद्ध के बाद वहाँ भी राष्ट्रीयता की लहर दौड़ पड़ी। पर इंगलैंड ने उसे अपनी दमन नीति से दबाने की पूरी कोशिश की। इराक का महत्व सैनिक दृष्टि से भी है क्योंकि वह विश्व के हवाई मार्ग पर एक प्रमुख अड्डा है। अतः अंग्रेज उसे किसी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते। पर इराक निवासी अपनी स्वतंत्रता के लिए सतर्क हैं। इंगलैंड अब वहाँ प्रभुता-सम्पन्न मालिक के रूप में नहीं है।

सऊदी अरब और येमेन—युद्ध के बाद अरब में बड़ी उथल-पुथल हुई। प्रथम महायुद्ध के समय हुसेन ने अरब राज्य की स्थापना की। कुछ दिनों बाद पूर्वी अरब में इब्न सऊद ने एक पृथक राज्य स्थापित कर लिया।

उसकी शक्ति बढ़ती गयी और तत्पश्चात् उसके नेतृत्व में अरब का एकीकरण हुआ। इब्द सऊदी के इस राज्य का नाम सऊदी अरेबिया पड़ा। इसी के पास येमेन का एक छोटा स्वतंत्र राज्य है जहाँ इमाम शासन करता है।

इस प्रकार पश्चिमी एशिया में महायुद्धों के कारण स्वतंत्रता की लहर दौड़ गयी और वहाँ अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये। प्रथम महायुद्ध के बाद टर्की में भी कमाल अतातुर्क के नेतृत्व में आशातीत उन्नति हुई। उसके सफल शासन में टर्की एक उन्नतिशील राज्य बन गया।

हिन्देशिया—इसमें जावा सुमात्रा, बोर्नियो तथा अन्य द्वीप शामिल हैं। यहाँ की जनसंख्या ७ करोड़ है। रबड़, गन्ना और मिट्टी के तेल के लिए यह प्रसिद्ध है। इस भू-भाग पर डच (हालैंड निवासी) लोगों का अधिकार १७ वीं सदी के अन्त में हुआ। इस प्रकार इंडोनेशियाँ को साम्राज्यवादी शिकंजे में फँसना पड़ा। यह भूखण्ड हालैण्ड का बाजार बन गया।

सन् १९०६ ई० में राष्ट्रीयता का लहर वहाँ भी पहुँची। एक राष्ट्रीय दल की स्थापना हुई। सन् १९१७ ई० में इस दल ने स्वतंत्रता की माँग की। पर उन्हें सफलता नहीं मिली। सन् १९४० में द्वितीय में हालैण्ड आक्रान्त हो गया। इससे लाभ उठाकर इंडोनेशिया ने अपने को स्वतंत्र कर लिया। पर शीघ्र ही जापान ने वहाँ अपना अधिकार कर लिया। ४ वर्षों तक वह जापान के अधिकार में रहने के बाद पुनः १९४५ ई० में स्वतंत्र हो गया। युद्ध के बाद इंगलैण्ड और फ्रान्स की सहायता से हालैंड पुनः इंडोनेशिया में अपनी सत्ता स्थापित करने की कोशिश करने लगा। डच लोगों ने दमन और दंड की नीति अपनायी। भारत ने इंडोनेशिया का पक्ष लिया। इसी प्रश्न पर विचार करने के लिए सन् १९४९ ई० में एशियाई देशों की एक कान्फरेन्स दिल्ली में बुलाई गयी। सन् १९५० ई० में इंडोनेशिया की स्वतंत्र सत्ता मान ली गयी। डच साम्राज्यवाद का वहाँ से अन्त हो गया। वह गणतंत्र घोषित हुआ।

बर्मा—३१ मार्च सन् १९३७ तक बर्मा भारत का ही एक अङ्ग था, अतः अंग्रेजों के अधीन था उसके बाद वह भारत से पृथक कर दिया गया। भारत

की तरह सन् १९४७ ई० में वह स्वतंत्र हुआ और दूसरे वर्ष वहाँ गणतंत्र स्थापित हुआ। बर्मा में भारत की तरह ही ब्रिटिश सत्ता का अन्त हो गया।

लंका—भी भारत का एक अङ्ग था। सन् १८०२ ई० में उसे भारत से पृथक किया गया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात भारत का अनुकरण कर लंका निवासियों ने भी शासन-सुधार के लिए आन्दोलन किया। सन् १९४५ ई० में वह स्वतंत्र हो गया। वह राष्ट्र मण्डल का एक सदस्य है। इंगलैण्ड की डोमिनियन की भाँति वहाँ का शासन होता है।

फिलीपाइन द्वीप समूह—एशिया के पूर्व में कुछ ही दूरी पर प्रशान्त महासागर में सैकड़ों छोटे-छोटे द्वीपों का एक समूह है जो फिलीपाइन कहलाता है। इस पर पहले स्पेन का अधिकार था। सन् १८९८ ई० में स्पेन को हराकर अमेरिका ने इस पर अधिकार कर लिया। तब से सन् १९३५ तक यह अमेरिका द्वारा शासित होता रहा। सन् १९३५ में यहाँ एक जनतंत्र की स्थापना हुई सन् १९४६ ई० इसने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की। अमेरिका ने इस मांग को स्वीकार किया। पर आज भी इन द्वीप समूहों में अमेरिका का पर्याप्त प्रभाव है। यहाँ के कुछ प्रमुख बन्दरगाहों पर अभी भी अमेरिका का अधिकार है।

मलाया—यहाँ युद्ध के पूर्व अंग्रेजों का अधिकार था। पुनः जापान के अधिकार में आया। जापान के पतन के बाद अंग्रेजों ने अपना सिक्का जमाया। मलाया निवासियों ने स्वतंत्रता की माँग की। अंग्रेजों ने वहाँ दमन करना प्रारम्भ किया और सन् १९४८ ई० में वहाँ संकट-काल की घोषणा कर दी गयी, पर मलाया निवासी डटे रहे। स्वतंत्रता के लिए उनके प्रयास की सफलता अवश्यम्भावी है।

स्याम—हिन्द चीन और बर्मा के बीच स्याम का देश है। इसे थाईलैण्ड भी कहते हैं। इस देश पर विदेशियों का अधिकार नहीं हुआ था। पर शासन-प्रणाली निरंकुश थी। सुधार के लिए आन्दोलन हुआ। अब यहाँ सीमित राजतंत्र है। राजा की मदद के लिए एक कौंसिल है। एक धारा सभा भी है। कौंसिल के सदस्य इसी धारा सभा के भी सदस्य होते हैं।

नैपाल—भारत के उत्तर में हिमालय की गोद में नैपाल एक स्वतंत्र राज्य है। १६ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में नैपाल के राजा के साथ अंग्रेजों का युद्ध हुआ। सन् १८१६ में सुगौली की संधि के अनुसार नैपाल ब्रिटिश प्रभाव में आ गया। पर नैपाल की स्वतंत्रता बनी रही। भारतीय स्वतंत्रता के बाद नैपाल को विदेशी प्रभाव से मुक्ति मिली। नैपाल में निरंकुश राजतंत्र था। वहाँ की प्रजा ने भारत से प्रेरणा से जनतंत्र शासन के लिए आन्दोलन किया। आन्दोलनकारियों ने सन् १६५० में राज महल को घेर लिया। राजा को भागकर भारतीय दूतावास में शरण लेनी पड़ी। भारत की मध्यस्थता से राजा ने वैधानिक शासक बनना स्वीकार किया। आजकल वहाँ वैधानिक राजतंत्र है, पर अभी तक शासन में स्थिरता नहीं आ सकी है।

हिन्द चीन—१६ वीं सदी में फ्रान्स ने इस भूभाग पर अधिकार कर लिया। तब से आज तक इसका शोषण होता आ रहा है। अन्य एशियाई देशों की तरह यहाँ भी स्वतंत्रता का आन्दोलन शुरू हुआ। पर फ्रान्स की दमन नीति चलती रही और यहाँ के निवासियों को सफलता नहीं मिली। द्वितीय महायुद्ध में जापानियों ने इस पर अधिकार कर लिया, पर उनके पतन के बाद हिन्द चीन की जनता को मौका मिला। उन्होंने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। सन् १६४५ के बाद फ्रान्स अपनी सत्ता पुनः स्थापित करने के लिए सक्रिय हो उठा। लगातार वर्षों तक युद्ध चलता रहा। अमेरिका की सहायता से फ्रान्स के सैनिक लड़ते रहे पर हिन्द चीन के निवासियों को स्वतंत्रता का रस मिल चुका था। उन्होंने डट कर साम्राज्यवादी सैनिकों का सामना किया। सन् १६४५ में ही हिन्द चीन वालों ने 'वियतनाम' नामक गणराज्य की स्थापना कर ली थी। आज देश का अधिकांश भाग इसी गणराज्य के अधिकार में है। हो-ची-मिन्ह इसके प्रथम अध्यक्ष हैं। देश के कुछ भाग पर आज भी फ्रान्स की सेना मौजूद है, पर यह निश्चित है हिन्द चीन से फ्रान्स के दिन लद चुके हैं।

चीन—एशिया के प्रारम्भिक जागरण में जिस प्रकार जापान का महत्त्व था; उसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध के बाद नवीन चीन के उत्थान का महत्त्व हो

गया है। इस नवीन चीन के पीछे ४०-५० साल के क्रान्तिकारी आन्दोलन की परम्परा है। सन् १९११ ई० में चीन में जनतांत्रिक क्रान्ति हुई। उसका नेता सनयात सेन थे जिन्होंने आजीवन देश को निरंकुश शासन से मुक्त करने का प्रयास किया। सन् १९११ ई० में उन्हें सफलता मिली और चीन में राजतन्त्र के स्थान पर जनतन्त्र की स्थापना हुई।

इसके कुछ दिनों बाद प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। चीन और जापान दोनों ही मित्र-राष्ट्रों की ओर से उस युद्ध में सम्मिलित हुए। चीन को युद्ध के बाद बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। इसी बीच जापान ने उसकी कमजोरी से लाभ उठाना चाहा। उस समय दूसरे राष्ट्रों के सुझाव से चीन बच गया। कुछ दिनों के लिए जापानी साम्राज्यवाद से चीन बचा रहा। पर उसकी वक्र-कुदृष्टि चीन पर लगी रही। सन् १९३१ ई० में जापान ने चीन के एक भाग मंचूरिया को हड़प लिया। सन् १९२५ ई० में क्रान्तिकारी नेता सनयात सेन की मृत्यु हो चुकी थी। वे राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के पक्के समर्थक थे। पर उनकी मृत्यु के बाद कुमिङ्गतांग पार्टी (राष्ट्रीय पार्टी) का संगठन ढीला पड़ने लगा। पार्टी का नेतृत्व नये नेता च्यांगकाईशेक के हाथ में आ गया। वे साम्राज्यवादी राज्यों के समर्थक और पक्षपाती थे। इसलिए कोमिन्तांग पार्टी में मतभेद पैदा हो गया। प्रगतिशील सदस्य पार्टी से पृथक हो गये। पर बहुमत च्यांगकाईशेक के पक्ष में था। सन् १९२७ ई० तक पार्टी ने सनयात-सेन के आदर्शों पर चलने का प्रयास किया। सनयात सेन का चीन में वही स्थान था जो रूस में लेनिन का और भारत में महात्मा गाँधी का था। इस बीच चीन की पूरी शक्ति उस देश में स्थापित साम्राज्यवादी प्रभाव को मिटाने का प्रयास कर रही थी। विदेशी चीजों का खूब सफल बहिष्कार हुआ और जान पड़ता था कि चीन का भविष्य उज्वल है।

गृह युद्ध—(सन् १९२८-३६)—सन् १२२७ तक चीन की कोमिन्तांग सेना ने च्यांगकाई शेक के नेतृत्व में अद्भुत सफलता प्राप्त की। लगभग पूरे चीन पर उसका अधिकार हो गया। उन्होंने उत्तर दक्षिण तक का सारा देश अपने अधीन कर लिया। शंघाई पर भी राष्ट्रवादी सेना का अधिकार हो गया। नानकिन पर उनका कब्जा हो गया। इस सफलता के बाद चीन की

राष्ट्रीय पार्टी के उग्र दल और नरमदल में तीव्र मतभेद हो गया। इसी उग्र मतभेद के साथ राष्ट्रीय क्रान्ति का प्रभाव और उत्साह समाप्त होने लगा और गृह कलह शुरू हो गया। उग्र दल के सदस्यों ने भाग कर रूस में शरण ली और रूस ने चीन की नयी सरकार से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इधर च्यांगकाई शेक का झुकाव साम्राज्यवादी राज्यों की ओर हुआ। साम्राज्यवादी राष्ट्र अवसर से लाभ उठा पुनः चीन में अपना प्रभाव स्थापित करने की कोशिश करने लगे। इससे जनता की आर्थिक दशा खराब हो गयी। घरेलू उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। अकाल और महामारी का प्रकोप बढ़ने लगा। च्यांगकाई शेक को कम्यूनिस्टों के विरुद्ध सफलता नहीं मिल सकी। रूसी सहायता के कारण उनकी शक्ति बढ़ती गयी और पाँच बार कोशिश करने पर भी च्यांगकाई शेक को कम्युनिष्टों के दबाने में सफलता नहीं मिली।

जापान का हमला—इस प्रकार जब च्यांगकाई एक गृह युद्ध में फँसाए था, तब जापान ने १९३७ ई० में उत्तर की ओर से चीन पर हमला कर दिया। ऐसी परिस्थिति में च्यांग और कम्युनिष्ट दल में संधि हो गयी और दोनों ने मिलकर जापान को खदेड़ने का काम शुरू किया। शासन का अध्यक्ष च्यांग बना रहा पर वास्तविक शक्ति कोमिन्तांग के उग्र दल के हाथ में आ गयी। जापान के साथ चीन का युद्ध आठ वर्ष तक चलता रहा। इसी बीच द्वितीय महायुद्ध भी प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में सन् १९४५ ई० में जापान की पराजय हुई और चीन-विजय का जापानी हौसला पूरा नहीं हो सका।

चीन में नयी सरकार की स्थापना—जापानी संघर्ष के दिनों में चीन में राष्ट्रीय सेना की संख्या बहुत बढ़ गयी थी। उसमें अधिकांश कम्यूनिष्ट दल के थे। युद्ध समाप्त होने पर अमेरिका के प्रभाव में आकर च्यांगकाई शेक ने उस सेना का विघटन करना चाहा। उस समय चीन गृह युद्ध से जर्जर हो गया था। पुनः चीन में च्यांगकाई शेक के साम्राज्यवादी मित्रों का बोलबाला हो रहा था। अमेरिका का आर्थिक जाल बढ़ता जा रहा था। राष्ट्रीय उद्योग-धन्धे ठप्प हो गये थे। कम्यूनिष्ट सेना और उग्रदल का नेता उस समय **माओत्सेतुंग** था। वह च्यांग की चालों से ऊब

गया था। उसने चीन के कुछ भूभाग पर अपना अधिकार कर लिया और च्यांग से सत्ता छीनने का प्रयास करने लगा। च्यांग को हार माननी पड़ी और उसने चीन छोड़ फारमूसा द्वीप में शरण ली। २१ नवम्बर सन् १९४९ को माओसेतुंग ने चीन में नयी सरकार की स्थापना की और चीनी जनतंत्र की घोषणा की। माओसेतुङ्ग इस नयी सरकार के अध्यक्ष हुए। इस प्रकार चीन में साम्यवादी जनतंत्र की सरकार स्थापित हुई।

अपने ६ वर्षों के शासन में इस नयी सरकार ने अद्भुत क्षमता के साथ काम किया है और चीनी जनता के जीवन के हर क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की है। इसने विदेशी पूँजीवाद का अन्त कर दिया, अपने उद्योग-धन्धों को सुसंगठित किया, भूमि सुधार का काम आश्चर्यजनक ढंग से पूरा किया, कृषि की पूरी उन्नति की और सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अनेक क्रान्तिकारी सुधारों को सफलतापूर्वक पूरा किया। सरकार का नया संगठन किया, जनवादी संविधान बनाया और पूरे देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित की। इस नयी सरकार का प्रबल विरोधी अमेरिका है। उसी के विरोध से चीन की नयी सरकार को संयुक्त राष्ट्र संघ में अभी तक स्थान नहीं मिल सका है और चीन के एक द्वीप फारमूसा पर च्यांगकाई शेक का अधिकार बना हुआ है। च्याँगकाई शेक अमेरिका के हाथ में 'शिखंडी' की तरह है और उसी के बल पर आज तक अपना अस्तित्व जीवित रख सका है। पर चीन की नयी सरकार अपने देश में दृढ़ता के साथ काम कर रही है। उसे भारत जैसे न्याय-प्रिय और नैतिक आदर्शों के पोषक राष्ट्र का सहयोग और रूस जैसे सबल राष्ट्र की मैत्री प्राप्त है। "चीनी जनतंत्र की स्थापना एशिया के इतिहास में एक नवीन तथा गौरव पूर्ण अध्याय है।" पचास करोड़ जनता के इस विशाल देश का भविष्य उज्वल है। एशिया के नव जागरण का यह सबल प्रतीक है और समस्त प्रगतिशील देशों के लिए यह आशा का केन्द्र है।

———

छियालिसवाँ परिच्छेद

संयुक्त राष्ट्र सङ्घ और तत्सम्बन्धी मूल बातें

राष्ट्र सङ्घ का निर्माण विशेषतया इस उद्देश्य से हुआ था कि वह युद्धों से होने वाली मानव जाति की भयङ्कर हानि को रोके। किसी देश की स्वतन्त्रता अपहरण होती हो तो उसकी रक्षा करे और राष्ट्रों की सैनिक शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाये। सङ्घ इस विषय में नितान्त असफल रहा। उसकी स्थापना को २२ वर्ष पूरे भी न हो पाये थे कि द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया।

६ जनवरी सन् १९४१ को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कांग्रेस को भेजे गये अपने वार्षिक सन्देश में संसार के लिए 'चार स्वतन्त्रताए' प्राप्त कराने के ध्येय को प्रकाशित किया। ये स्वतन्त्रताएँ थीं—संसार में सर्वत्र भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, आत्मा एवं धर्म की स्वतन्त्रता, आर्थिक स्वतन्त्रता और भय से मुक्ति। इसके पश्चात् १४ अगस्त १९४१ को रूजवेल्ट और इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने एटलांटिक चार्टर की घोषणा की। इस चार्टर द्वारा आठ सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए थे, जिनका मूल उद्देश्य संसार में शान्ति की स्थापना और प्रत्येक देश के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता प्रदान करना था। सन् १९४३ के अक्टूबर मास में रूस अमरीका इंगलैण्ड आदि देशों के वैदेशिक-विभाग के सेक्रेटरियों का मास्को में सम्मेलन हुआ और उन्होंने एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने की आवश्यकता पर जोर दिया। सन् १९४४ में डम्बर्टन ओकस में मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें इंगलैण्ड अमरीका और रूस के प्रतिनिधियों ने अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सङ्गठन बनाने की योजना बनाई जिसके फल स्वरूप २५ अप्रैल १९४५ को सेन फ्रान्सिसको में कई राष्ट्रों की कान्फरेन्स हुई जिसमें संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के लिए चार्टर तैयार किया गया। प्रारम्भ में इस चार्टर पर ५१ राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये और इस प्रकार २४ अक्टूबर १९४५ को संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की नींव पड़ी।

उद्देश्य—इस संस्था के उद्देश्य ये हैं :—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, जनता के समान अधिकारों और आत्मनिर्णय के आधार पर राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना, शान्ति व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य उपाय करना, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से मानव-अधिकारों तथा जाति, भाषा, धर्म अथवा स्त्री-पुरुष के भेदभाव से रहित सब के मूल अधिकारों के प्रति सम्मान उत्पन्न करना, और इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु राष्ट्रों के कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक केन्द्र रूप से कार्य करना।

संयुक्त-राष्ट्र की नींव इन सिद्धान्तों पर रखी गई :—

सब राष्ट्र-सदस्य सार्वभौम-शक्ति-सम्पन्न और समान हैं।

सब राष्ट्र चार्टर के अनुसार अपने कर्तव्यों का सद्भावना से पालन करने के लिए वचन-बद्ध हैं।

सब राष्ट्र अपने झगड़ों का शान्तिमय तरीके से इस प्रकार फैसला करने के लिए वचन-बद्ध हैं, जिनसे किसी प्रकार शान्ति सुरक्षा और न्याय के भङ्ग होने का भय न हो।

अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में कोई राष्ट्र-सदस्य किसी प्रदेश या किसी देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध न शक्ति का प्रयोग करेगा और न उसको धमकी देगा और न ऐसा आचरण करेगा जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों से विपरीत होगा।

जब चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र कोई कार्य करेगा तो सब राष्ट्र-सदस्य उसे सब प्रकार की सहायता देने के लिए वचन-बद्ध हैं। और वे किसी ऐसे देश को सहायता नहीं देंगे, जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई काम कर रहा हो।

शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए जहाँ तक आवश्यक होगा, यह संस्था व्यवस्था करेगी कि जो देश सदस्य नहीं हैं, वे भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करें।

शान्ति रक्षा के लिए जब तक आवश्यक न होगा संयुक्त-राष्ट्र उन मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, जो किसी देश के आन्तरिक कार्यक्षेत्र में आते हैं।

संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य सभी शान्तिप्रिय देश के हो सकते हैं, जो चार्टर द्वारा द्वारा निर्धारित कर्तव्यों को स्वीकार करते हैं और जिनको यह संस्था इन कर्तव्यों के पालन करने के उपयुक्त समझती है।

संयुक्त-राष्ट्र का कार्य-क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र में समान रूप से विस्तृत हैं। इसलिए इसकी व्यवस्था विभिन्न विभागों के रूप में हैं। चार्टर ने संयुक्त-राष्ट्र के छः प्रमुख विभाग बनाए:—

१—साधारण सभा, (जनरल असेम्बली)
२—सुरक्षा-परिषद्, (सिक्यूरिटी कौंसिल)
३—आर्थिक और सामाजिक परिषद्
(शोशल एण्ड इकनामिक कौंसिल)
४—संरक्षण-परिषद् (ट्रस्टीशिप कौंसिल)
५—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, (इन्टरनेशनल कोर्ट आफ जस्टिस)
६—सचिवालय, (सेक्रेटेरियट)

साधारण-सभा—संयुक्त-राष्ट्र का प्रमुख विचारणीय अंग साधारण सभा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की यह संस्था मानव पार्लियामेंट के समान है। इसका अधिवेशन साल में एक बार होता है और चार्टर के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत सभी वषयों पर विचार करने का अधिकार है। इसे संयुक्त राष्ट्र के दूसरे विभागों के अधिकार और कर्तव्य के सम्बन्ध में भी विचार करने का अधिकार है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शिक्षा तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से या सभा स्वयं कार्यारम्भ कर सकती है अथवा संयुक्त राष्ट्र के दूसरे विभागों तथा सदस्य राष्ट्रों के पास अपनी सिफारिशें भेज सकती है।

साधारण-सभा में सभी राष्ट्र-सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और प्रत्येक राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार है। यद्यपि वह साधारण-सभा के अधिवेशनों में ५ प्रतिनिधि तक भेज सकता है। सामान्य विषयों में साधारणतः सभा का निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से लिया जाता है और महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए दो तिहाई मतों की आवश्यकता होती है। ये निर्णय

संयुक्त-राष्ट्र के दूसरे विभागों तथा सदस्य राष्ट्रों के पास सिफारिशों के रूप में भेजे जाते हैं।

सुरक्षा-परिषद् के विचाराधीन विषय या विवाद पर साधारण सभा बहस तो कर सकती है परन्तु अपना मत उस समय तक नहीं प्रकट कर सकती जब तक कि उसकी माँग सुरक्षा-परिषद् न करे।

दूसरे विभागों के कार्यों और कर्तव्यों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण साधारण सभा का संयुक्त राष्ट्र में महत्वपूर्ण स्थान है। सुरक्षा-परिषद् सहित संयुक्त राष्ट्र के सभी विभाग अपनी वार्षिक और विशेष रिपोर्ट साधारण सभा को देते हैं। सभा इन रिपोर्टों पर विचार करती है। सुरक्षा-परिषद् के ६ अस्थायी सदस्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ सदस्यों और संरक्षण परिषद् के आवश्यक सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा करती है।

सुरक्षा-परिषद् और साधारण सभा अलग-अलग मत निर्णय करके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती हैं। सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर सभा नये सदस्यों को ग्रहण करती है और प्रधान सचिव (सेक्रेटरी जनरल) की नियुक्त करती है, जो सचिवालय (सेक्रेटेरियेट) का प्रबन्ध करता है।

संयुक्त राष्ट्र का आर्थिक नियन्त्रण साधारण सभा के हाथ में है क्योंकि यह बजट को स्वीकार करती है और सदस्य-राष्ट्रों में व्यय को बाँटती है। संयुक्त-राष्ट्र का व्यय सदस्य-राष्ट्रों के चन्दे से चलता है।

सुरक्षा-परिषद्—सुरक्षा-परिषद् के ११ सदस्यों में से ५ स्थायी सदस्य हैं और शेष साधारण सभा द्वारा निर्वाचित होते हैं। सदस्य-राष्ट्रों ने शान्ति और सुरक्षा-व्यवस्था का कार्यभार इस परिषद् पर डाला है और यह कर्तव्य पालन में सुरक्षा-परिषद् सदस्य-राष्ट्रों की ओर से कार्य करती है।

पाँच स्थायी सदस्य ये हैं :—चीन, फ्रांस, रूस, इंगलैंड, संयुक्तराज्य अमेरिका। अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए साधारण सभा द्वारा चुने जाते हैं। उनका तुरन्त ही पुनः निर्वाचन नहीं हो सकता।

सुरक्षा-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। कार्य क्रम सम्बन्धी

विषयों का निर्णय ११ सदस्यों में से ७ सदस्यों के बहुमत से हो सकता है। मूल विषयों के सम्बन्ध में भी निर्णय के लिए ७ मतों की ही आवश्यकता होती है। लेकिन इनमें से ५ मत स्थायी सदस्यों के होने जरूरी हैं। इस प्रकार यदि एक भी स्थायी सदस्य किसी विषय में असहमत हो तो उसका निर्णय नहीं हो सकता, इसे आम तौर पर निषेधाधिकार या 'वीटो' कहा जाता है। जब परिषद् किसी विवाद में शान्तिपूर्ण समझौते की कोशिश करती है तो कोई सम्बन्धित देश उसमें मत नहीं दे सकता।

शान्ति व्यवस्था के लिए लगातार सावधानी रखना जरूरी है और इस सिलसिले में सुरक्षा-परिषद् को कभी तुरन्त ही कोई निर्णय करना पड़े, इसलिये इसका अधिवेशन स्थायी होता है। इसकी बैठक पखवाड़े में कम से कम एक बार अवश्य होती है, यदि परिषद् चाहे तो इसकी बैठकें मुख्य कार्यालय के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी हो सकती है।

सुरक्षा-परिषद् किसी ऐसे विवाद या स्थिति की जाँच कर सकती है जिससे दो या अधिक देशों के बीच आपसी संघर्ष बढ़ने की सम्भावना हो। ऐसे विवाद या स्थिति की सूचना परिषद् को इसके सदस्य, सदस्य राष्ट्र, साधारण-सभा अथवा प्रधान सचिव (सेक्रेटरी जनरल) दे सकते है और कुछ हालतों में वे राष्ट्र भी दे सकते हैं, जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं है।

सुरक्षा-परिषद् शान्तिमय तरीके से समझौते की सिफारिश कर सकती है और कुछ हालतों में तो समझौते की शर्तें भी निर्धारित कर सकती है।

जब शान्ति भंग होने की आशंका हो अथवा भंग हो गई हो अथवा जब आक्रमण हुआ हो तो सुरक्षा परिषद् सुरक्षा और शांति की पुनः स्थापना के लिए जरूरी कारवाई कर सकती है। इसके अंतर्गत यातायात, आर्थिक और कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है और यदि आवश्यकता हो तो वायु, जल तथा स्थल सेनाओं का प्रयोग भी किया जा सकता हैं।

सुरक्षा परिषद् की माँग पर और विशेष समझौतों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखने के लिए सैन्यबल तथा अन्य आवश्यक सुविधाओं को देने के लिए चार्टर द्वारा वचनबद्ध है।

सुरक्षा-परिषद् के अधीन एक सैन्यदल-समिति (मिलिटरी स्टाफ कमेटी)

है, जिसमें पाँचों स्थायी सदस्यों के चीफ आफ दी स्टाफ या उनके प्रतिनिधि रहते हैं। ये परिषद् को सैनिक विषयों के सम्बन्ध में परामर्श और सहायता देते हैं।

आर्थिक और सामाजिक परिषद्—साधारण सभा के अधीन आर्थिक और सामाजिक परिषद् हैं। इसका उद्देश्य संसार को अधिक समृद्धिशाली स्थायी और न्यायपरायण बनाना है। यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ, समाज, संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों तथा मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रता का अध्ययन करती है और इन पर अपनी रिपोर्ट और सिफारिशें प्रस्तुत करती है। साधारण-सभा के लिए यह परिषद् इन विषयों के सम्बन्ध में नियमों के मसविदे तैयार करती हैं। जब आवश्यकता होती है यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को भी बुलाती है। आवश्यकतानुसार सुरक्षा परिषद् को यह सूचना तथा सहायता भी देती है। साधारण सभा की अनुमति से यह अपने अधिकार-क्षेत्र में सदस्य राष्ट्रों के लिए सेवा-कार्य की व्यवस्था भी करती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ सदस्यों का निर्वाचन साधारण-सभा द्वारा किया जाता है और कार्य के अनुसार समय-समय पर इसके अधिवेशन बुलाए जा सकते हैं। परिषद् में निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होते हैं।

संयुक्त-राष्ट्र की स्थापना से पूर्व विशेष समस्या-सम्बन्धी कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कर रही थी। इनमें से कुछ तो कितने सालों से काम कर रही हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-सङ्घ जिसकी स्थापना १९१९ में की गई थी और दूसरी संयुक्त-राष्ट्रीय खाद्य और कृषि-संस्था जिसकी स्थापना द्वितीय महायुद्ध के बाद हुई थी। आर्थिक और सामाजिक-परिषद् का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि इन विशेष संस्थाओं का सम्बन्ध संयुक्त राष्ट्र से नियमानुकुल स्थापित किया जाय और इनके कार्यों में समीकरण उत्पन्न किया जाय।

विशेष समस्याओं तथा विषयों के लिए नई-नई संस्थाओं की आवश्यकता हो सकती है। ऐसी दशा में आर्थिक और सामाजिक परिषद् इनकी स्थापना के लिए प्रारम्भिक कार्य करती है।

अपने कार्य संचालन में आर्थिक और सामाजिक परिषद् विशेष कार्यों के लिए कमीशन भी नियुक्त कर सकती है। विशेष विषयों-सम्बन्धी ये छोटे-छोटे कमीशन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विशेषज्ञ के समान हैं और अपनी सम्मति परिषद् को देते हैं। आवश्यकतानुसार परिषद् नए कमीशन की नियुक्त कर सकती है।

विशेष संस्थाओं के प्रतिनिधि आर्थिक और सामाजिक परिषद् की बैठकों में भाग ले सकते हैं, परन्तु इन्हें मताधिकार प्राप्त नहीं हैं। परिषद् गैर-सरकारी संस्थाओं से परामर्श प्राप्त करने की व्यवस्था भी कर सकती है।

संरक्षण-परिषद्—जो देश अभी तक स्वाधीन नहीं हुए थे उनके सम्बन्ध में चार्टर की एक धारा के अनुसार दो सिद्धान्तों की घोषणा की गई है। इनमें कहा गया है कि इन प्रदेशों के निवासियों के हित सर्वोपरि हैं। जो सदस्य-राष्ट्र इन देशों का शासन-प्रबन्ध करते हैं वे इन प्रदेशों के सम्बन्धों में कुछ विशेष कर्तव्य स्वीकार करते हैं। ये कर्तव्य हैं—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षण प्रगति के लिए व्यवस्था करना, अच्छा व्यवहार करना, स्वायत्त शासन का विकास करना, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति को सुदृढ़ बनाना और क्रियात्मक कार्यों को प्रोत्साहन देना।

इस घोषणा के अनुसार राष्ट्र सदस्य जो गैर स्वाधीन प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध करते हैं, वे प्रधान सचिव (सेक्रेटरी जनरल) को इन प्रदेशों की स्थिति के सम्बन्ध में रिपोर्ट देंगे। विश्लेषण के बाद ये रिपोर्टें साधारण-सभा तथा अन्य विभागों के सामने विचारार्थ प्रस्तुत की जाती हैं, ताकि संसार को इन प्रदेशों की प्रगति के सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त होती रहे।

चार्टर ने इन प्रदेशों की निगरानी और शासन-प्रबन्ध के लिए संरक्षण-प्रणाली की व्यवस्था की है। जब कोई राष्ट्र-सदस्य किसी प्रदेश को इस प्रणाली के अन्तर्गत देना चाहता है, तो उसे संरक्षण सम्बन्धी समझौते द्वारा उस राष्ट्र-सदस्य, किसी अन्य राष्ट्र-सदस्य अथवा संयुक्त-राष्ट्र को उस प्रदेश का शासनभार सौंपा जा सकता है। जिन देशों पर इसका असर पड़ता है, उन्हें समझौतें की

शर्तें स्वीकार होनी चाहिए और साधारण सभा की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। सामरिक प्रदेशों के सम्बन्ध में सुरक्षा-परिषद् की अनुमति लेनी चाहिए।

संरक्षण-परिषद् अपना कार्य साधारण सभा की अधीनता में करती है, इसमें वे सदस्य-राष्ट्र होते हैं :— जो संरक्षित प्रदेशों का प्रबन्ध करते हैं, (२) सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य जो संरक्षित प्रदेशों का प्रबन्ध नहीं करते; और (३) इतने निर्वाचित सदस्य जिनसे पहले दो प्रकार के सदस्यों में समानता रहे, ये सदस्य तीन साल के लिए साधारण सभा द्वारा चुने जाते हैं।

संरक्षण परिषद् उन रिपोर्टों पर विचार करती है, जो शासन प्रबन्ध करने वाले राष्ट्र पेश करते हैं। यह परिषद् संरक्षित प्रदेशों सम्बन्धी प्रार्थना पत्रों पर विचार करती है; और समय-समय पर इन प्रदेशों के निरीक्षण के लिए व्यवस्था करती है, तथा संरक्षण समझौते के अनुसार अन्य कार्य भी करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में १५ न्यायाधीश हैं। न्यायाधीश पृथक देशों के हैं और उन्हें सुरक्षा परिषद् तथा बड़ी असेम्बली चुनती है। न्यायालय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों में एक यह भी है कि वह बड़ी असेम्बली तथा सुरक्षा परिषद् को माँगे जाने विषय पर परामर्श दे। इसकी बैठकें हालैंड के हेग शहर में होती है।

इस न्यायालय का कार्य कानून द्वारा संचालित होता है, जो संयुक्त-राष्ट्र की घोषणा का एक अङ्ग है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य की पहुँच इस न्यायालय तक है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र यदि वह वादी अथवा प्रतिवादी है तो न्यायालय के निर्णयों को मानने के लिए वचनबद्ध है।

सचिवालय—संयुक्त-राष्ट्र का विशाल प्रबन्ध कार्य एक सचिवालय द्वारा संचालित होता रहता है। इसका काम दूसरे विभागों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्यक्रम की व्यवस्था करना है। सचिवालय का प्रमुख कर्मचारी प्रधान सचिव है, जिसे सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर असेम्बली नियुक्त करती है। सचिवालय का कार्य आठ विभागों में विभक्त है। ये क्रमशः (१) सुरक्षा परिषद् (२) आर्थिक सामाजिक, (३) संरक्षण, तथा अधीन देशों की जानकारी, (४)

कानून (५) सार्वजनिक जानकारी, (६) सम्मेलन, (७) सामान्य सेवाओं और प्रबन्ध तथा (८) अर्थ सम्बन्धी कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। सचिवालय के कर्तव्य पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय हैं। इसका प्रत्येक सदस्य चाहे वह किसी भी राष्ट्र का हो, अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी है।

संयुक्तराष्ट्र की एजेंसियाँ—संयुक्तराष्ट्र ने विविध क्षेत्रों में काम करने के लिए कुछ संस्थाओं से समझौता कर रखा है। इनका क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय होता है, और ये खास खास विषयों का निश्चित कार्य करती है। इनमें से कुछ के बारे में मुख्य-मुख्य बातें आगे दी जाती हैं।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संस्था—इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कदम उठा कर मजदूरों की अवस्था सुधारना, उनके जीवन के धरातल को ऊँचा करना तथा उन्हें आर्थिक और सामाजिक स्थिरता प्रदान करना है। इसकी स्थापना ११ अप्रैल १६१६ को हुई थी, जब इसका संविधान वार्साई की सन्धि के रूप में स्वीकार किया गया था। इसका सबसे बड़ा अधिकारसम्पन्न अंग अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कान्फ्रेंस है। इसकी बैठक वार्षिक होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय मजदूरों सम्बन्धी सूचनाओं को इकट्ठा करता तथा उन्हें प्रचारित करता है। यह सरकारों को मजदूर-कानून बनाने में मदद करता है। इसका कार्यालय केनेडा के मांटरियल शहर में है।

(ख) खाद्य और कृषि संस्था—इस संस्था का उद्देश्य संसार में ऐसी शान्ति स्थापित करना है कि सब देशों के लोगों को अभाव से दूर रहते हुए स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन बिताने का आश्वासन प्राप्त हो। इसके कार्य ये हैं; समस्त खाद्य और कृषि सम्बन्धी पदार्थों की पैदावार और बटवारे की उन्नति कर इसमें सुधार करना तथा देहाती लोगों की अवस्था उन्नत करना। यह संस्था १६ अक्टूबर १६४५ को स्थापित की गई थी। इसका मुख्य कार्यालय वाशिंगटन में है।

(ग) शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति संस्था—इसका उद्देश्य राष्ट्रों में सहयोग पैदा कर शान्ति और सुरक्षा के कार्य में हिस्सा बटाना है ताकि

लोगों में न्यायानुसार शासन के लिए भावना तथा मानवीय अधिकारों के और बुनियादी स्वतन्त्रताओं के लिए प्रेम पैदा हो सके। इसकी स्थापना १६ नवम्बर १९४५ को हुई, जबकि लन्दन में तैंतालीस राष्ट्रों की एक कान्फ्रेंस ने इसका संविधान स्वीकार किया। इस संस्था का कार्य यह है:---संसार के सब देशों में आपस की जानकारी बढ़ाने के कार्यों में सहयोग देना, लोकप्रिय शिक्षा और संस्कृति के प्रचार के लिए लोगों को प्रोत्साहन देना और ज्ञान को बनाए रखना बढ़ाना, और प्रसार करना। इसका मुख्य कार्यालय पेरिस (फ्रांस) में है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था—इसका उद्देश्य नागरिक उड्डयन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन, तथा इस विषय के नियमों और धरातलों की स्थापना करना है। यह संस्था अप्रैल १९४६ में स्थापित की गई थी। उस समय तक अट्ठाइस राष्ट्र ७ दिसम्बर १९४४ को शिकागो की नागरिक हवाई कान्फ्रेंस में तैयार की हुई अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन सम्बन्धी प्रथाओं को स्वीकार कर चुके थे। इसका प्रधान कार्यालय मॉन्टरियल (कनेडा) में है।

(ङ) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—इसका उद्देश्य समस्त देशों के क्षेत्रों के पुनर्निर्माण और विकास में सहायता देना है। इस कार्य के लिए उत्पादक कार्यों में लम्बी अवधि के लिए पूँजी लगाने की सुविधाएँ दी जाती हैं। इस बैंक का एक उद्देश्य यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संतुलित ढङ्ग पर हो, लेन देन की विषमता दूर हो। यह बैंक २७ दिसम्बर १९४५ को कायम हुआ, जब कि जुलाई १९४४ में हुई ब्रिटेन वुड्स कान्फ्रेंस में तैयार किए गए नियमों और समझौतों को २८ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने स्वीकार किया। इस का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है।

(च) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष—इस कोष का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग चालू रखना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करना, विनिमय को स्थिर रखना और उसके प्रतिस्पर्द्धा भरे उतार-चढ़ाव को रोकना है। यह कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ २७ दिसम्बर १९४५ को स्थापित किया गया था।

(छ) विश्व स्वास्थ्य संघ—इसका उद्देश्य संसार भर के लोगों

के स्वास्थ्य को ऊँचे से ऊँचे धरातल पर पहुँचाना है। इसका संविधान २२ जुलाई १९४६ को अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कान्फ्रेंस द्वारा स्वीकृति किया गया था, जिसे आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने न्यूयार्क में बुलाया गया था। इस संस्था का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है।

(ज) विश्व-डाक-यूनियन—इस संस्था का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय डाक-यातायात की अनिश्चितता, गड़बड़ और बहुत अधिक महँगाई को दूर करना है। यह संस्था ९ अक्टूबर १८७४ को बर्न (स्विटजरलैण्ड) में हुई एक डाक कन्वेन्शन में स्थापित की गई थी। इसका प्रधान कार्यालय वहाँ ही है।

(झ) अन्तर्राष्ट्रीय तार-सम्वाद यूनियन—इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तार, टेलीफोन और रेडियो की अनिश्चितता और बहुत अधिक महँगाई को दूर करना है। यह संस्था ९ दिसम्बर १९३२ को अन्तर्राष्ट्रीय तार-संवाद कन्वेन्शन की मेड्रिड में होने वाली कान्फ्रेंन्स में स्थापित की गई थी। इसका प्रधान कार्यालय बर्न (स्विटजरलैंड) में है।

भारतवर्ष और संयुक्त राष्ट्र-संघ—भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है। इसके अलावा भारत कुछ ऐसे संगठनों का भी सदस्य है, जो विविध सरकारों के आपसी समझौते द्वारा बनाए गए हैं। ये संगठन निम्नलिखित हैं।

१—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ, २—खाद्य और कृषि संस्था, ३—शिक्षा विज्ञान और संस्कृति संघ, ४—अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था, ५—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, ६—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ७—विश्व डाक यूनियन, ८—अन्तर्राष्ट्रीय तार संवाद यूनियन, ९—विश्व स्वास्थ्य संस्था, १०—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन, ११—अन्तर्राष्ट्रीय अंतरिक्ष सङ्गठन, १२—अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री परामर्श सङ्गठन, १३—आर्थिक और सामाजिक परिषद्, १४—सुरक्षा परिषद्

भरात इन कमीशनों का भी सदस्य है :—

(क) आर्थिक और नियोजन कमीशन (ख) मानव अधिकार कमीशन (ग) अल्प-संख्यक संरक्षण तथा भेद-भाव निरोधक उप कमीशन (घ) मादक वस्तु कमीशन (च) यातायात और संवाद वाहन कमीशन (छ) महिला स्थिति कमीशन (ज) एशिया तथा सुदूर पूर्व आर्थिक कमीशन।

स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व भारत की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक पराधीन देश की थी। उसका प्रतिनिधित्व उसका न होकर ब्रिटेन का होता था। स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारत का स्थान स्वतन्त्र राष्ट्र सा हो गया। उसकी मर्यादा और सम्मान अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बढ़ा है और उसका स्थान शीघ्र ही प्रमुख शक्तियों में होगा। एशिया में यह प्रथम कोटि का राष्ट्र है। संसार के समस्त प्रमुख राष्ट्रों में हमारे दूतावास हैं और उन देशों के राजदूत हमारे यहाँ हैं। इससे आपसी सम्बन्ध दिनों दिन बढ़ते जा रहे हैं।

राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ के भी अधिकांश राष्ट्र दो दलों में बँट गये हैं, अमेरिकन और रूसी। प्रत्येक दल अपने स्वार्थों और हितों की रक्षा करना चाहता है। ईर्ष्या, द्वेष, पारस्परिक स्वार्थों के कारण युद्ध का वातावरण तैयार होता जा रहा है। स्थिति ऐसी है कि अधिकांश देश किसी न किसी गुट्ट में हैं। परन्तु इस प्रकार की गुटबन्दी और युद्ध की तैयारियों से संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इस तथ्य को भारत भली भाँति जानता है और इसी कारण उसने अपनी वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में स्पष्टतया घोषित कर दिया है कि वह संसार में शान्ति चाहता है और युद्ध सम्बन्धी समस्त प्रयत्नों का घोर विरोधी है। उसने किसी भी गुट्ट में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया है और जहाँ तक संभव होगा तटस्थ रहने का ही प्रयत्न करेगा। आज तो कुछ राष्ट्र इस निष्पक्षता को अच्छा नहीं समझते परन्तु भविष्य में उन्हें इसका महत्व विदित होगा। भारत ऐसे देशों का नेता और पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा जो संसार में शान्ति चाहते हैं और निष्पक्ष रहना चाहते हैं।

साम्राज्यवाद ही युद्धों का मूल है इस कारण भारत साम्राज्यवाद का घोर विरोधी है। इंडोनेशिया के मामले में भारत अपने स्वतन्त्र मत को प्रगट करने में नहीं चूका और इंडोनेशिया की स्वतन्त्रता की प्राप्ति का बहुत श्रेय भारत को ही है। ट्रस्टी-शिप परिषद् में भी भारत इस मत को सदैव प्रगट करता रहा है।

संसार में मानवता की रक्षा और समानता की स्थापना के लिए भारत पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है। इसी आधार पर दक्षिणी अफ्रीका में काले गोरे के भेद भाव को समाप्त करने का भारत पूर्ण प्रयत्न कर रहा है। साम्यवादी चीन और कोरिया युद्ध के मामले में भी उसने अपने निष्पक्ष विचारों का पूर्ण परिचय दिया है।

वह दिन दूर नहीं जब भारत संसार की एक महान शक्ति और संसार में शान्ति का संस्थापक एवं रक्षक होगा। पीड़ित शोषित और दबाए हुए राष्ट्रों के लिए भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जिससे वे कुछ आशा कर सकते हैं क्योंकि भारत के कहने; सोचने और करने में अन्तर नहीं है वह संसार में पूर्ण शान्ति और मानवता की रक्षा में विश्वास करता है। भारत ने इधर संसार में शान्ति-क्षेत्र बढ़ाने का अथक तथा सफल प्रयास किया है। 'पंचशील' सिद्धांतों का प्रचार इस बात ठोस प्रमाण है।